॥ श्रीहरिः ॥

571

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

विशिष्ट संस्करण

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(विशिष्ट संस्करण)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

571 Sri Krishnalila Ka Ch

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजलीलाएँ इतनी मधुर और चित्ताकर्षक हैं कि भगवान् वेदव्याससे लेकर अबतक न जाने कितने कवियों और लेखकोंने अपनी ललित एवं हृदयग्राही भाषामें उनका सजीव चित्रण करके अपनी वाणी एवं लेखनीको कृतार्थ किया है, जिसका अनुशीलन करके आज भी हमलोग भाव-विभोर हो जाते हैं। आजसे लगभग पचीस वर्ष पूर्व मेरे एक अत्यन्त निकटस्थ साधुने मेरे प्रेमपूर्ण अनुरोधपर प्रतिमास इन्हीं लीलाओंका एक छोटा-सा शब्दचित्र प्रस्तुत कर देना स्वीकार किया था और प्रायः दस वर्षतक यह क्रम अनवरतरूपसे चलता रहा। वे शब्दचित्र 'श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन' शीर्षकसे धारावाहिकरूपसे 'कल्याण' में छपते रहे। कहना न होगा कि वे 'कल्याण'-के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको इतने पसंद आये कि तबसे लेकर अबतक इनको पुस्तकाकारमें प्रकाशित करनेका आग्रह बना ही रहा। परंतु इच्छा रहते हुए भी कई कारणोंसे ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका था। भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे अब यह सुयोग प्राप्त हुआ और आज हमें इस संग्रहको श्रीकृष्णप्रेमी पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करनेमें अत्यधिक प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। लेखकके साथ आत्मीयताका सम्बन्ध होनेके कारण इन झाँकियोंकी प्रशंसामें कुछ भी लिखना आत्मप्रशंसामें ही परिगणित होगा। केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि लीलाओंका क्रम श्रीमद्भागवतके अनुसार रखा गया है और भगवान्‌के जन्मसे लेकर उनकी बाललीलाओं तथा पौगण्डलीलाओंका ही वर्णन इसमें है। पाठकोंको इससे श्रीकृष्णकी दिव्य मनोहारिणी लीलाओंका अनुशीलन करनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी, इसी आशासे लगभग ५०० पृष्ठोंका यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

महाशिवरात्रि,
श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६

हनुमानप्रसाद पोद्दार
'कल्याण'—सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥श्रीहरि:॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

जन्म-महोत्सव

व्रजेन्द्रगेहिनी यशोदा नेत्र निमीलित किये मणिमय दीवालके सहारे चुपचाप निस्पन्द बैठी हैं। श्रीरोहिणीजीकी आँखें भी बंद हैं। अन्य समस्त परिचारिकाएँ भी निद्राभिभूत होकर बाह्यज्ञानशून्य हो रही हैं। इसलिये दिव्य नराकृति परब्रह्मको सूतिकागारमें पदार्पण करते तो किसीने नहीं देखा, पर उनके आते ही समस्त सूतिकागार एक अभिनव चिन्मय रससे प्लावित हो गया, वहाँका अणु-अणु उस रसमें निमग्न हो गया। व्रजमहिषीकी लीलाप्रेरित प्रसव-वेदनाजन्य मूर्च्छा, रोहिणी तथा परिचारिकाओंकी योगमायाप्रेरित तन्द्रा एवं निद्रा भी उस रसके स्पर्शसे चिन्मय भावसमाधि बन गयी।

यशोदाके क्रोडसे संलग्न सच्चिदानन्दकन्द श्रीहरि शिशुरूपमें अवस्थित हैं। कदाचित् अनन्त सौभाग्यवश कोई कवि दिव्यातिदिव्य नेत्र पाकर उस क्षणकी शोभाका अनुभव करता, अनुभवको वाणीसे व्यक्त करनेकी शक्ति पाता, तो वह इतना ही कह सकता—मानो चिदानन्द-सुधा-रस-सरोवरमें अभी-अभी एक अद्भुत अपूर्व नवीनतम नीलपद्म प्रस्फुटित हुआ हो—वह अभूतपूर्व अरविन्द, जिसका आघ्राण मधुगन्धलुब्ध भ्रमरोंने आजतक नहीं पाया था, जिसके सौरभका अपहरण करके कृतार्थ होनेका अवसर अनिलको आजतक नहीं प्राप्त हुआ था, जल जिस अरविन्दको उत्पन्न ही न कर सका था, जलके वक्ष:स्थलपर खेलनेवाली चञ्चल तरङ्गें जिस पद्मको प्रकम्पित करनेका गर्व न कर सकी थीं, जिस कमलको आजतक कहीं किसीने भी नहीं देखा था!

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥*

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे सर्वप्रथम रोहिणी माताकी आँखें खुलती हैं। वे जान पाती हैं—यशोदाने पुत्र प्रसव किया है। परिचारिकाएँ भी जाग उठती हैं। पर उस इन्द्रनीलद्युति शिशुका सौन्दर्य कुछ इतना निराला है कि सभी निर्निमेष नयनोंसे देखती ही रह जाती हैं, किसीको भी समयोचित कर्तव्यका ज्ञान नहीं होता। वे सद्योजात शिशुका मधुर अस्फुट क्रन्दन सुन पा रही हैं; पर काष्ठपुत्तलिकाकी भाँति सभी ज्यों-की-त्यों, जहाँ-की-तहाँ खड़ी हैं। आनन्दातिरेकसे सबके शरीर सर्वथा अवश हो गये हैं। अवश्य ही सर्वान्तर्यामी विभु अवश शरीरमें भी सजग हैं। अत: वे ही मानो विलम्ब होते देखकर श्रीरोहिणीजीके मुखसे बोल पड़े—'री! तुम सब क्या देखती ही रहोगी? कोई दौड़कर व्रजेश्वरको सूचना तो दे दो।' सचमुच

---

*भाव यह है—अप्रतिम अनिन्द्यसुन्दर श्रीकृष्णरूपका जो माधुर्य है, वैसा इससे पूर्वके अवतारोंमें भक्तों (भृङ्गैः)-ने भी अनुभव नहीं किया। कवीश्वरों (अनिलैः)-ने भी भगवल्लीलाका वर्णन करते हुए ऐसी अतुलनीय रूपमाधुरीका विस्तार आजतक नहीं किया; भगवान् ऐसे अतुलनीय सुन्दर मधुर मनोहररूपसे प्रापञ्चिक जगत् (नीरेषु)-में कभी प्रकट ही नहीं हुए। यह रूप त्रिगुणों (ऊर्मीकणभरैः)-से सर्वथा परेका है।

अन्तर्यामी यदि न बोलते तो पता नहीं, शिशुरूप श्रीहरिको वात्सल्य-रस-पानके लिये कितनी देर और रोना पड़ता; क्योंकि रोहिणीजी तो आनन्दमें बेसुध हैं, उनमें समयोचित आदेश देनेकी शक्ति सर्वथा लुप्त हो चुकी है! अस्तु,

इस आदेशने परिचारिकाओंके अन्तर्हृदयमें बहते हुए आनन्दस्रोतको तरङ्गित कर दिया। फिर क्या था, दूसरे ही क्षण सूतिकागार आनन्द-कोलाहलसे मुखरित हो उठा। साथ ही जो करना था, उसमें सभी जुट पड़ीं। एक व्रजेश्वरको सूचना देने गोष्ठकी ओर दौड़ी, एक दाईको बुलाने गयी, एक उपनन्द-पत्नीको परम शुभ समाचार देकर क्षणोंमें ही लौट आयी, एक सहनाईवालेके घर जा पहुँची, और एक बावली-सी विविध अनर्गल आनन्दध्वनि करती हुई समस्त व्रजपुरमें सूचना देती हुई दौड़ने लगी। यह सब हो रहा है, पर सूतिकागारमें व्रजेश्वरी तो अभी भी किसी अनिर्वचनीय भावसमाधिमें निमग्न हैं।

उपनन्द-पत्नी आयीं, पश्चात् निकटवर्ती पुरमहिलाओंका दल नन्दप्राङ्गणमें एकत्र होने लगा। तुमुल आनन्दध्वनिसे प्रसूतिगृह ही नहीं, समस्त प्रासाद निनादित हो उठा। व्रजरानीकी भावसमाधि शिथिल हुई, धीरे-धीरे आँखें खोलकर वे देखने लगीं। कुछ क्षण निहारते रहकर समझ पायीं—गर्भस्थ शिशु भूमिष्ठ हो गया है। पर यह क्या? जननीके मुखमण्डलपर आश्चर्य एवं भय छा जाता है। वे देखती हैं—'शिशुके श्याम अङ्गोंमें मेरा मुख प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह भी भला सम्भव है?' वात्सल्य-प्रेमवती माताका हृदय अनिष्ट-आशङ्कासे काँप उठता है। वे सोचने लगती हैं—'निश्चय ही, मैं जब मूर्च्छित थी, तब कोई बालापहारिणी योगिनी मायासे मेरा वेष धारणकर यहाँ आ गयी है और वह अन्तरिक्षमें अवस्थित है; यह उसीकी प्रतिच्छाया है। हाय! हाय! नृसिंह! जय नृसिंह! रक्षा करो। भयहारी नृसिंह-नामके प्रभावसे योगिनी नष्ट हो जाय। नृसिंह! नृसिंह! डाकिनी, चली जा। अन्यथा तू नष्ट हो जायगी।' व्रजमहिषी एक साथ ही आकुल कण्ठसे बहुत कुछ बोल गयीं। इस व्याकुलताने दृष्टिकी एकाग्रता नष्ट कर दी। बस, प्रतिबिम्ब तिरोहित हो गया। उसी क्षण वात्सल्यरसघनविग्रह यशोदाका हृदय-संचित स्नेह-रस उमड़ा, आँखोंमें आया तथा सामने कोई भी व्यवधान न पाकर अश्रुबिन्दुओंके रूपमें झरने लग गया। भावाभिभूत नन्दरानी कभी अपने सिरको अत्यन्त नीचे झुकाकर, कभी बायीं ओर टेढ़ा करके, कभी दाहिनी ओर घुमाकर और कभी ऊँचा उठाकर पुत्रके सौन्दर्यका सुख ले रही हैं। इससे अश्रुबिन्दु भी ढलककर मालाकार बन गये। मानो माताने एक निर्मल मुक्ताहारकी प्रथम भेंट दी हो! यह भेंट सर्वथा उपयुक्त ही है; क्योंकि देवाराधनका नियम ही है—पहले माला समर्पित होती है, तब नैवेद्य-अर्पण होता है। यहाँ भी तो प्रेमदेवकी आराधना ही हो रही है। सर्वोत्कृष्ट रागमयी आराधनाके उपकरण कुछ भी हों, पर नियमका व्यतिक्रम क्यों हो। इसीलिये मानो जननी यशोदा भी वात्सल्य-रस-सार स्तनदुग्धका नैवेद्य चढ़ानेके पूर्व अश्रुबिन्दुओंकी मनोहर माला अर्पण कर रही हैं—

ज्ञात्वा जातमपत्यमीक्षितुमथ न्यञ्चत्तनूस्तत्तना-
वालोक्य प्रतिबिम्बितां निजतनूमन्येति शङ्काकुला।
गच्छारादिति तन्निरासनपरा पश्यन्त्यमुष्याननं
मुक्ताहारमिवोपढौकितवती स्नेहाश्रुणो विन्दुभिः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इधर गोदोहनमें संलग्न व्रजराज नन्दजीके पास सूचना देने परिचारिका आयी। प्रतिदिनका नियम है—व्रजेन्द्र आधी रात ढलते ही स्वयं गोष्ठमें चले आते हैं, गायोंकी सँभाल करते हैं। आज भी आये थे। अपने इष्टदेव नारायणका स्मरण करते हुए एक गायके समीप खड़े थे। परिचारिकाने कहा—'महाभाग! आपको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई है।' व्रजराजको प्रतीत हुआ मानो हठात् किसीने कानोंमें अमृत उँडेल दिया—नहीं, नहीं, उनके चारों ओर अमृतका महासागर

लहराने लगा। वे उसमें निमग्न हो गये; इतना ही नहीं, आनन्दमन्दाकिनीकी प्रबल धारासे उस महासागरमें एक आवर्त (भँवर) बन गया है। व्रजराज उस आवर्तमें फँसकर चक्कर लगा रहे हैं। आनन्दमन्दाकिनी व्रजराजको अपने भुजपाशमें लपेटकर घुमा रही है—

प्रविष्ट इव अमृतमहार्णवेषु आलिङ्गित इवानन्दमन्दाकिन्या। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजेन्द्र नन्दबाबा बाह्यज्ञान खोकर अन्तश्चेतनाके जगत्में जा पहुँचे। एक अतीत दृश्य सामने आ गया—व्रजराज व्रजरानीसे कह रहे हैं—'प्रिये! स्पष्ट जानता हूँ, मेरे द्वारा सम्पादित इन पुत्रेष्टि आदि अनेक यज्ञानुष्ठानोंकी सफलता असम्भव-सी है; फिर भी परिजनों, गोपबन्धुजनोंका आग्रह देखकर आयोजन स्वीकार कर लेता हूँ, संकल्पके अनुरूप ही तो परिणाम होगा। असम्भव वस्तुके लिये किये गये संकल्पकी सफलता कैसे सम्भव है? अनुष्ठान आरम्भ करते हुए जब मैं संकल्प करने बैठता हूँ तो चित्त एक अनोखे पुत्रकी कल्पना कर बैठता है। तू ही बता, भला, मेरे इष्टदेव नारायणसे अधिक सुन्दर त्रिलोकमें त्रिकालमें भी कोई सम्भव है क्या? असम्भव! सर्वथा असम्भव! पर चित्तभूमिकामें ठीक संकल्पके क्षण ऐसे ही एक, इष्टदेव नारायणकी अपेक्षा भी अधिक अनिर्वचनीय अनन्त असीम सुन्दर, बालककी मूर्ति अङ्कित हो जाती है। ओह! उस क्षण मैं स्पष्ट देखता हूँ—वह बालक तुम्हारी गोदमें तुम्हारे दुग्धस्रावी स्तनोंपर बैठकर खेल रहा है। उसके श्याम अङ्गोंको, चञ्चल सुन्दर दीर्घ नेत्रोंको देखकर मैं सर्वथा मुग्ध हो जाता हूँ। मुझे भ्रम हो जाता है कि यह स्वप्न है या जाग्रत्। यह सचमुच क्या है, मैं निर्णय ही नहीं कर पाता। मनमें आया, एक बार तुमसे पूछूँ कि तुम्हारे हृदयमें भी ऐसी ही अनुभूति उस समय होती है क्या।'

श्यामश्चञ्चलचारुदीर्घनयनो बालस्तवाङ्कस्थले
दुग्धोद्गारिपयोधरे स्फुटमसौ क्रीडन्मयाऽऽलोक्यते।
स्वप्नस्तत्? किमु जागरः? किमथवेत्येतन्न निश्चीयते
सत्यं ब्रूहि सधर्मिणि! स्फुरति किं सोऽयं तवाप्यन्तरे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

व्रजरानी बोली—स्वामिन्! ठीक ऐसी ही कल्पना मुझे भी उस समय होती है। लज्जावश अबतक आपसे न कह सकी।

बाह्यज्ञानशून्य व्रजराज एक ही क्षणमें इस दृश्यको देख गये। परिचारिका खड़ी रहकर इनकी दशा देख रही थी। उसे क्या पता, व्रजराज क्या देख रहे हैं। वह अन्य गोपोंको लक्ष्यकर बोली—'तुमलोग सभी चलो, गोवत्सोंको छोड़ दो, दूध पी लेने दो, एक बार चलकर उस अद्भुत बालकको तो देखो। नेत्र शीतल हो जायँगे। आजतक.........' कहते-कहते परिचारिका वहीं बैठ गयी। नन्दरायको बुलाने आयी है, यह बात वह भूल-सी गयी। उसकी आँखोंके सामने प्रसूतिगृह आ गया, वहीं बैठी-बैठी वह सौन्दर्यनिधि शिशुको देखने लग गयी।

व्रजराजका मन अभीतक उसी भावस्रोतका रस ले रहा है। वे देख रहे हैं—हमलोगोंने एक वर्षतक श्रीनारायणकी उपासना की है। श्रीनारायण स्वप्नमें दर्शन देकर कह रहे हैं—'गोपवर! वह सचमुच तुम्हारा अनादिसिद्ध पुत्र है, तुम्हारा संकल्प शीघ्र ही सत्य होगा।' इस घटनाके बाद कुछ दिन बीत गये हैं। आज माघकृष्णा प्रतिपदा है, आजकी रजनी एक विचित्र शोभासे सम्पन्न-सी प्रतीत हो रही है। हठात् व्रजरानी तन्द्रासे जागकर कहती है—'नाथ! अभी-अभी मैंने स्पष्ट देखा है—ठीक वही बालक तुम्हारे हृदयसे निकलकर मेरे हृदयमें आ बैठा है। एक आश्चर्यकी बात और है। उसके सुन्दर श्याम शरीरके ऊपर एक ज्योतिर्मयी दिव्यकुमारीका मानो आवरण पड़ा हुआ है। पहली दृष्टिमें वह ज्योतिर्मयी बालिका-सा दीखता है, पर किंचित् गम्भीरतासे देखनेपर उसका अप्रतिम सुन्दर श्याम कलेवर स्पष्ट दीखने लग जाता है।' सुनकर व्रजराज आनन्दमुग्ध हो

गये हैं। वे स्वयं भी ऐसी अनुभूति कर चुके हैं।

उपर्युक्त घटनावलीका दृश्य व्रजराजके मनोराज्यकी कल्पना नहीं है। वह सर्वथा इसी रूपमें घटित हो चुकी है। परिचारिकाके शब्दोंने तो अतीतकी स्मृतिको उद्बुद्धमात्र कर दिया, जिससे वह घटना मानो वर्तमानमें अभी-अभी हो रही है, इस रूपमें व्रजराजको वह दीखने लगी। जो हो, किसी अज्ञात प्रेरणासे नन्दरायके कानोंमें अब वह शब्दावली पुनः गूँज उठी—'महाभाग! आपको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई है।' नन्दरायने आँखें खोल दीं तथा वे अविलम्ब प्रासादकी ओर दौड़ पड़े। पीछे-पीछे परिचारिका भी दौड़ी। पथमें जाते हुए नन्दराय सोचते जा रहे हैं—क्या सचमुच वही, वही श्यामबालक उत्पन्न हुआ है? पर हृदयके उमड़ते हुए आनन्द-प्रवाहमें विवेक लुप्त हो गया है; विचारशक्ति आनन्द-तरङ्गोंसे तरङ्गित हो रही है, चञ्चल बन गयी है। फिर निर्णय कौन करे? व्रजेन्द्र निर्णय नहीं कर सके—

आह्लादेन समं जज्ञे बालः किं किं स एव सः।
एवं विवेक्तुं नन्दस्य नासीन्मतिमती मतिः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

व्रजराज आकर प्रसूतिगृहके सामने आँगनमें खड़े हो जाते हैं। प्राणोंकी उत्कण्ठा लेकर आये हैं कि पुत्रका मुख देखूँगा, पर देख नहीं पाते। प्रसूतिगृहके कपाट खुले हैं; पर उपनन्द-संनन्दका परिवार, पड़ोसकी गोपियोंकी भीड़ कपाटकी अपेक्षा अधिक सुदृढ़ व्यवधान बन गये हैं। इससे पूर्व व्रजेन्द्र जब कभी अन्तःपुरमें आते तो गोपियाँ घूँघटकी ओट कर लेतीं, किनारे हो जातीं; पर आज तो आह्लादवश वे जानतक नहीं पायीं कि व्रजेश्वर खड़े हैं, पथ पानेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। नन्दरायके प्राण व्याकुल हो उठे। तत्क्षण ही उन दर्शक गोपियोंके अन्तरालसे कुछ क्षणके लिये एक क्षुद्र छिद्र बन गया, व्रजेशको अपने पुत्रकी एक स्पष्ट झाँकी प्राप्त हो गयी। अहा! वही है, वही है! सचमुच वही शिशु आया है! इतनेमें छिद्रके सामने एक गोपी आ गयी, छिद्र बंद हो गया, व्रजराजकी आँखें भी बंद हो गयीं। पर आश्चर्य है, अब मानो कोई व्यवधान नहीं। गोपेश स्पष्ट देख पा रहे हैं, प्रसूति-पर्यङ्कपर उत्तानशायी होकर शिशु अवस्थित है। शिशु क्या है, मानो अनन्तजन्मार्जित पुण्यराशिरूप कल्पतरु-उद्यानका प्रफुल्ल कुसुम हो, नहीं, नहीं, समस्त उपनिषद्रूप कल्पलता-श्रेणीका मधुर फल हो—

कुसुममिव चिरतरसमयसमुत्पन्नकल्पमहीरुहारामस्य।
फलमिव सकलोपनिषत्कल्पलतावितते:।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उपनन्दजी नन्दके आनेसे पूर्व ही आ गये थे। वे समयोचित व्यवस्थामें लगे हैं। ब्राह्मणोंको बुलानेके लिये दूत भेज चुके हैं। अब तोरणद्वारके पास नगारेवालोंको समस्त व्रजमें घोषणा करनेकी बात समझा रहे हैं। गद्गद कण्ठसे कह रहे हैं—

नैन भरि देखौ नंदकुमार।
जसुमति-कूख चंद्रमा प्रगट्यौ या ब्रज कौ उजियार॥
बन जिन जाउ आजु कोऊ गोसुत अरु गाय गुवार।
अपनें अपनें भेष सबै मिलि लावौ बिबिध सिंगार॥
हरद-दूब-अच्छत-दधि-कुंकुम मंडित करौ दुवार।
पूरौ चौक बिबिध मुक्ताफल, गावौ मंगलचार॥

सहनाईवाले सदलबल आ पहुँचे हैं। नगारेवालोंने पहला डंका लगाया। दूसरे ही क्षण सहनाईवालोंने भी मधुरातिमधुर रागिनीकी तान छेड़ दी। नन्दप्रासादकी मणिमय भित्ति, आच्छादन (छत) और स्तम्भोंको निनादित करती हुई वह सुरीली ध्वनि समस्त व्रजपुरमें फैलने लगी। इससे पहले भी व्रजमें अनेकों बार सहनाई बजी थी, पर आजकी तान तो आज ही बजी है।

अब ब्राह्मण आ गये हैं। व्रजेश स्नान करके अलंकृत होकर ब्राह्मणोंको प्रणाम करते हैं। मातृकापूजन, नान्दीमुख-श्राद्ध सम्पन्न करके ब्राह्मणोंको साथ लिये हुए वे सूतिकागारमें आते हैं। विधिवत् जातकर्म-संस्कार आरम्भ होता है। यह नित्य अजन्माका

जातकर्म है। जिनके एक-एक रोमकूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रह्मा जिनके नियन्त्रणमें सृजनका कार्य वहन करते हैं, आज उन्हींका ब्रह्ममुखनि:सृत वेदमन्त्रोंसे संस्कार हो रहा है। यह कैसी विडम्बना है! लीलाविहारिन्! तुम्हारी मुनि-मन-मोहनकारिणी लीलाको धन्य है! अस्तु, **'भूस्त्वयि'** इत्यादि मन्त्रोंका पाठ करके शिशुके बिम्बविडम्बित अधरोष्ठको किञ्चित् खोलकर सुवर्णसंयुक्त अनामिका अँगुलीसे घृतका एक कण चटाया गया। आयुष्यक्रिया करते समय ब्राह्मण देवता शिशुके दक्षिण कर्णमें **'अग्निरायुष्मान्'** इत्यादि जपनेके लिये मुख निकट ले गये। उन्हें प्रतीत हुआ मानो यह कर्ण नहीं, किसी अनिर्वचनीय श्यामल तेजोलतिकाका नवोन्मिषित पल्लव है। जपते समय ब्राह्मणके सारे शरीरमें कम्प होने लगा। ब्राह्मण आश्चर्यमें थे कि सारे अङ्ग काँपने क्यों लगे, आजतक तो ऐसी घटना नहीं हुई! पश्चात् **'दिवस्परि'** इत्यादि मन्त्रसे बालकका स्पर्श किया गया। फिर भूमि अभिमन्त्रित की गयी। एक बार बालकका अङ्ग पुन: पोंछ दिया गया। आगेकी अन्य क्रियाएँ सम्पन्न की गयीं। अन्तमें शिशुके कुञ्चितकेशकलापमण्डित मस्तकसे सटाकर **'आपो देवेषु'** इत्यादि मन्त्रसे एक जलपात्र सूतिका-पर्यङ्कके नीचे रखा गया। इस तरह जातकर्म-संस्कार सम्पन्न हुआ—

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै।
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा॥

(श्रीमद्भा० १०। ५। २)

अब दाई नालछेदन करती है। किसकी नाल?

जाकें नार आदि ब्रह्मादिक सकल बिस्व-आधार।
सूरदास-प्रभु गोकुल प्रगटे मेटन कौं भूभार॥

× × ×

जाकें नार भए ब्रह्मादिक सकल, जोग-ब्रत साध्यौ।
ताकौ नार छीनि ब्रजजुबती बाँटि तगा सौं बाँध्यौ॥

नेग पानेका इतना सुन्दरतम अवसर धात्रीके जीवनमें कभी नहीं आया था। इस विचित्र सुन्दर शिशुको देखकर ही वह सब कुछ पा चुकी थी, निहाल हो चुकी थी; पर व्रजरानीसे प्रणय-झगड़ा करके नेग लेनेका सुदुर्लभ आनन्द वह क्यों छोड़ने लगी। लेना ही चाहिये, व्रजेश-कुलकी धात्री जो ठहरी—

औरन के हैं सकल गोप, मेरें एक भवन तुम्हारौ।
मिटि जो गयौ संताप जनम कौ, देख्यौ नंद-दुलारौ॥
बहुत दिनन की आसा लागी, झगरिन झगरौ कीनौ।

तथा व्रजेश्वरी भी कब चूकनेवाली थीं—

मन में बिहँसत हैं नँदरानी, हार हिये कौ दीनौ॥

नन्दरानीके गलेको सुशोभित करनेवाला मणिमुक्ताका मनोहर मूल्यवान् हार सौभाग्यमयी दाईके गलेमें झूलने लगा। धात्रीने उत्फुल्ल नेत्रोंसे एक बार व्रजेश्वरीकी ओर देखा, फिर शिशुकी ओर; तथा क्षणोंमें ही नालछेदन सम्पन्न हो गया। अबतक शीलवती व्रजरानीके चित्तमें शास्त्रमर्यादाका विचार था; स्तनदानके पूर्व ही जातकर्म-संस्कार हो जाना चाहिये—यह मर्यादा मानो व्रजेन्द्रगेहिनीके हृदयमें बाँध-सी बनी थी, इस बाँधसे वात्सल्यरसकी धाराएँ रुकी हुई थीं। अब मर्यादा पूरी हो चुकी। व्रजरानी बड़ी ललकसे हाथ बढ़ाती हैं, अपने हृदय-धनको उठाकर छातीसे लगा लेती हैं। द्विदल जवापुष्पकी कलिकासदृश अधरोष्ठको खोलकर उसमें अपना स्तनाग्र दे देती हैं। वात्सल्यरस-सुधा-साररूप दूध झर रहा है और अलौकिक नराकृति परब्रह्म बड़े प्रेमसे और उत्कण्ठासे उसका पान कर रहे हैं।

इधर व्रजेश्वर ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे रहे हैं। व्रजराजने उस दिन बीस लाख गायें ब्राह्मणोंको दीं। गायोंके सींग सुवर्णपत्रोंसे, खुर रजतपत्रोंसे मढ़े हैं; प्रत्येकके कण्ठ-देशमें बहुमूल्य मणियोंकी माला है। सभी नवप्रसूता हैं। व्रजेशकी आज्ञासे अविलम्ब तिलके सात पर्वत निर्मित हुए, उन पर्वतोंपर सघन पत्रावलीकी तरह रत्न बिछा दिये गये, फिर पर्वतोंको सुनहले वस्त्रोंसे सर्वत्र ढक दिया गया। ये पर्वत भी ब्राह्मणोंके लिये ही बने थे, उन्हें

दान कर दिया गया। व्रजराज जिस समय इस पर्वतदानका संकल्प पढ़ने लगे, उस समय आश्चर्यमें भरे हुए ब्राह्मण कुछ क्षण अवाक् रह गये।

अब समस्त व्रज सजाया जा रहा है। व्रजका प्रत्येक प्रासाद, प्रासादका प्रत्येक गृह, द्वार, प्राङ्गण, गृहद्वार-प्राङ्गणका कोना-कोनातक पहले झाड़ दिया गया, पश्चात् चन्दन-वारिसे धो दिया गया। फिर सर्वत्र पुष्प-रस-सार (इत्र) छिड़क दिया गया। रंग-बिरंगे वस्त्र एवं सुकोमलतम पल्लवोंके बंदनवार बाँधे गये। चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाएँ यथास्थान फहरा रही हैं। पुष्पमालाकी लड़ियों मणिमय स्तम्भों एवं गवाक्ष-रन्ध्रोंसे बाँध दी गयी हैं। प्रत्येक द्वारपर आम्रपल्लवसमन्वित जलपूर्ण मङ्गलघट है। हरिद्रा, दूब, अक्षत, दधि और कुङ्कुमसे प्रत्येक द्वारदेश चित्रित है। स्थान-स्थानपर मोतियोंके चौक पूरे गये हैं।

व्रजेशके ऐसे सजे हुए तोरण-द्वारपर एक ओर ऊँचे आसनपर विराजमान ब्राह्मण आशीर्वादात्मक मङ्गलवचनोंका पाठ कर रहे हैं। उनसे कुछ दूरपर सूत पुराणका पारायण कर रहे हैं। उनसे कुछ हटकर मागध व्रजेश-वंशावलीका कीर्तन कर रहे हैं। उनसे सटी हुई बंदीजनोंकी पंक्तियाँ हैं, वे मधुर स्वरमें व्रजेशकी स्तुति गा रहे हैं। ब्राह्मणोंके ठीक सामने दूसरी ओर संगीतज्ञोंका दल है, वे वीणाके स्वरमें स्वर मिलाकर सुमधुर रागिनी अलाप रहे हैं। उनसे कुछ दूरपर भेरी बजानेवालोंका दल है। इनसे कुछ हटकर दुन्दुभियाँ बज रही हैं। इनसे कुछ दूरपर बंदीजनोंके ठीक सामने सहनाईवाले मधुर तान छेड़ते हुए रसकी वर्षा कर रहे हैं। बीचमें राजपथ है, जिसपर गौओं, गोपों और गोपाङ्गनाओंकी भीड़ उमड़ी चली आ रही है।

गौ, गोवत्स आदिको हल्दी-तेलसे रँगकर, गैरिक आदि धातुओंसे चित्रितकर, मयूरपिच्छ एवं पुष्परचित माला पहनाकर, सुवर्णशृङ्खलासे मण्डित करके तथा स्वयं बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण, अँगरखे, पगड़ीसे विभूषित होकर हाथोंमें, काँवरोंमें, सिरपर घी, दही, नवनीत, आमिक्षासे पूर्ण घड़े लिये व्रजके समस्त गोप नन्दभवनकी ओर आ रहे हैं। उनके पीछे दौड़ती हुई गोपाङ्गनाएँ आ रही हैं—

सुनि धाईं सब ब्रज-नारि सहज सिंगार किऐं।
तन पहिरें नौतन चीर, काजर नैन दिऐं॥
कसि कंचुकि, तिलक लिलार, सोभित हार हिऐं।
कर कंकन, कंचन-थार मंगल-साज लिऐं॥
वे अपने-अपने मेल निकसीं भाँति भली।
मानों लाल मुनिन की पाँति पिंजरन चूर चली॥
वे गावैं मंगलगीत मिलि दस-पाँच अलीं।
मानों भोर भयौ रबि देखि फूलीं कमलकलीं॥
उर अंचल उड़त न जान्यौ सारी सुरँग सुहीं।
मुख माँडयौ रोरी-रंग सेंदुर माँग छुहीं॥
स्त्रम श्रवनन तरल तरौना, बेनी सिथिल गुहीं।
सिर बरखत कुसुम सुदेस मानों मेघ-फुहीं॥

गोपाङ्गनाएँ गोपोंसे थीं पीछे, पर पहुँचीं पहले—

पिय पहले पहुँचीं जाय अति आनंद भरी।

गोपाङ्गनाओंका स्वागत रोहिणी एवं उपनन्द-पत्नीने किया। पश्चात् वे सब क्रमशः सूतिकागारमें गयीं। शिशुका श्रीमुख देखकर अनुभव करने लगीं कि स्त्रष्टाने नेत्रोंकी सृष्टि इस नन्दपुत्रको निहारनेके लिये ही की है, आज वह नेत्र-निर्माणका फल प्राप्त हो गया—

अनन्तरं प्रविश्य सूतिकाभवनमालोक्य च तमभिनवं नवं नयननिर्माणस्य फलमिव। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गोपाङ्गनाएँ नन्दनन्दनको आशीर्वाद देने लगीं—

चिर जीयौ जसुदानंद, पूरन-काम करीं।
धन-धन्य दिवस, धन रात, धन यह पहर-घरी॥
धन-धन्य महरिजु की कूखि भाग-सुहाग भरी।
जिन जायौ ऐसौ पूत, सब सुख फलन फरी॥
थिर थाप्यौ सब परिवार, मन की सूल हरी॥

पाहि चिरं व्रजराजकुमार!

अस्मानत्र शिशो! सुकुमार! (श्रीगोपालचम्पूः)

रे सुकुमार बालक! रे व्रजराजकुमार! तू बड़ा होकर चिरकालतक हमलोगोंकी रक्षा कर।

बाहर समस्त व्रजगोपोंकी मण्डली गायोंसहित आ पहुँची है—

सुनि ग्वालनि गाय बहोरि बालक बोलि लए।
गुहि गुंजा, घसि बन धातु, अँग-अँग चित्र ठए॥
सिर दधि माखन के माट, गावत गीत नए।
सँग झाँझ-मृदंग बजावत सब नँदभवन गए॥

नन्दजी सबसे यथायोग्य मिलते हैं। आनन्दमें उन्मत्त-से हुए गोप हल्दी-दही छींटते हुए विविध भाव-भङ्गिमाओंका प्रदर्शन कर रहे हैं—

एक नाचत, करत कुलाहल, छिरकत हरद-दही।
मानों बरखत भादौं मास नदी घृत-दूध बही॥
जाकौ जहाँ-जहाँ चित जाय, कौतुक तहीं-तहीं।
रस आनँद मगन गुवाल काहू बदत नहीं॥
एक धाइ नंद पै जाय पुनि-पुनि पाय परैं।
एक आपु-आपुही माँझ हँसि-हँसि अंक भरैं॥
एक अंबर-सबहि उतारि देत निःसंक खरे।
एक दधि-रोचन अरु दूब सबनि के सीस धरैं॥

गोपोंका आनन्दोन्माद उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। बूढ़े व्रजेन्द्रको भी उन सबने अपने बीचमें ले लिया है और इतना दूध, दही, घृत और नवनीत ढरकाया है कि नदी-सी बह चली है। दूध-दहीके अनेकों गम्भीर गर्त बन गये हैं। उनमें लोटते हुए गोपोंका शरीर सर्वथा उज्ज्वल दीखने लगा है, मानो ये गोप दुग्धसागरकी चञ्चल तरङ्गें हों।

व्रजेन्द्र कभी तो इस दूध-दहीकी नदीमें स्नान करने आते हैं, कभी रत्नराशि लुटानेके लिये द्वारदेशपर खड़े हो जाते हैं। याचनाकी आवश्यकता नहीं, कोई भी विद्योपजीवी आकर खड़ा हुआ कि नन्दराज रत्नोंकी झोली, वस्त्रोंकी गठरी और गोधनकी टोली लेकर उसके पास जा पहुँचे; सदाके लिये उसका मँगतापन मिटा दिया। व्रजेश-कुलके सूत, मागध, बंदीजन आज अयाची बन गये—इसमें तो कहना ही क्या है।

व्रजेन्द्र जो इतनी सम्पत्ति लुटा रहे हैं, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। उनका भंडार ही अब अनन्त, असीम बन गया है; क्योंकि सारे विश्वकी समस्त सम्पत्ति जिनकी चरणसेविका लक्ष्मीजीकी आंशिक विभूति है, वे स्वयं आज पुत्रके रूपमें व्रजेशके घर पधारे हैं। प्राकृत भंडारकी सीमा होती है, उसमेंसे कुछ निकालनेपर उतना अंश कम हो जाता है, उतने अंशकी पूर्णता अपेक्षित होती है। पर व्रजेशका भंडार प्राकृत नहीं; वह ऐसा है कि उसमेंसे जितना वे निकालेंगे, उतना ही बचा रह जायगा। अपनी जानमें सम्पूर्ण निकाल लेंगे तो भी उसमें सम्पूर्ण बचा रहेगा। इसीलिये उनके देनेमें आज विराम नहीं, हिसाब नहीं; देते ही चले जा रहे हैं। हाँ, देते समय व्रजेशके वात्सल्य-प्रेमपरिभावित मनमें निरन्तर केवल एक भावना है—

अनेन प्रीयतां विष्णुस्तेन स्तान्मे सुते शिवम्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

इस दानसे मेरे इष्टदेव नारायण प्रसन्न हों, उनकी प्रसन्नतासे मेरे पुत्रका कल्याण हो।

भीतर, अन्तःपुरमें हरिद्रा-तैलकी कीच मची है। गोपाङ्गनाएँ परस्पर एक-दूसरेपर हल्दी-तेल छिड़क रही हैं। छिड़कती हुई बाहर आती हैं। व्रजेन्द्रकी, गोपोंकी दशा देखकर आनन्दमें निमग्न होकर गाने लगती हैं—

पश्य सखीकुल गोकुलराजं
पुत्रोत्सवमनु खेलाभाजम्।
उदधिप्रभदधिसम्प्लवदेशं
परितोघूर्णितमन्दरवेशम् ॥
मध्यधटीफणिराजे कृष्टं
हृद्यसुहृद्भिरतीव च हृष्टम्।
मध्ये मध्ये दुर्लभदानं
ददतं दधतं विस्मयभानम्॥
एकं पुनरलमभवदपूर्वं
अजनि विधुर्बत यदितः पूर्वम्॥*

(श्रीगोपालचम्पूः)

आज व्रजेश्वरने सबसे अधिक सम्मान श्रीरोहिणीजीका

* सखियो! गोकुलेश्वर नन्दजीको तो देखो। पुत्रोत्सवके आनन्दमें निमग्न होकर आज वे कितने चञ्चल, कितने

किया है। आजका सम्मान रोहिणीने स्वीकार भी कर लिया है। इससे पूर्व रोहिणीने कभी नन्द-घरके सुन्दर वस्त्र, सुन्दर आभूषणोंकी ओर ताकातक नहीं था। वे सदा पतिवियोग, पति-बन्धनसे मन-ही-मन खिन्न रहती थीं। पर आज यशोदानन्दनका मुख देखते ही रोहिणीका रोम-रोम आनन्दमें निमग्न हो गया। इसीसे वे नन्दप्रदत्त दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर पुरमहिलाओंके सत्कारमें लगी हुई हैं।

दिन बीत चुका है। पर गोप-गोपाङ्गनाओंका उत्साह शिथिल नहीं हुआ। अभी भी उसी नृत्य, उसी आनन्द-कोलाहलसे नन्दप्रासाद मुखरित हो रहा है। एक वृद्ध बन्दी भी दिनभरसे अतिशय सुमधुर कण्ठसे गाता रहा है। दिनभर उसके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहती रही है। अब सूर्य अस्ताचलको जा रहे हैं, पर वह अब भी पीली पगड़ी बाँधे सहनाईवालेके स्वरमें स्वर मिलाकर गा रहा है—

आज कहूँ ते या गोकुल में अद्भुत बरषा आई।
मनिगन-हेम-हीर-धारा की ब्रजपति अति झरि लाई॥
बानी बेद पढ़त द्विज-दादुर हिऐं हरषि हरियारे।
दधि-घृत-नीर-छीर-नाना रँग बहि चले खार-पनारे॥
पटह-निसान-भेरि-सहनाई महा गरज की घोरें।
मागध-सूत बदत चातक-पिक, बोलत बंदी-मोरें॥
भूषन-बसन अमोल नंदजू नर-नारिन पहराए।
साखा-फल-दल-फूलन मानों उपबन झालर लाए॥
आनँद भरि नाचत ब्रजनारी पहिरें रँग-रँग सारी।
बरन-बरन बादरन लपेटी विद्युत न्यार-न्यारी॥
दरिद्र-दवानल बुझे सबन के जाचक-सरबर पूरे।
बाढ़ी सुभग सुजस की सरिता, दुरित-तीरतरु चूरे॥
ऊल्ह्यौ ललित तमाल बाल एक, भई सबन मन फूल।
छाया हित अकुलाय गदाधर तक्यौ चरन कौ मूल॥

कौतुकपरायण हो रहे हैं। बहनो! यह सामनेका दृश्य देखकर मुझे तो सागर-मन्थनकी स्मृति हो रही है। देखो तो सही, दहीसे भरा हुआ यह व्रज सागर-जैसा हो गया है और उसमें मन्दर पर्वत-से होकर नन्दजी सर्वत्र घूम रहे हैं। उनकी कमरमें लपेटा हुआ वस्त्र घृत-दधिसे चिकना होकर, फूलकर ठीक वासुकि नाग-जैसा बन गया है। उसे पकड़कर उनके प्रिय सुहृद्जन उन्हें इधर-उधर खींच ले जा रहे हैं और वे अतिशय प्रसन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं, जैसे समुद्र-मन्थनके समय अनेकों रत्न निकल रहे थे, मन्दर-पर्वत सागरके रत्नोंको निकाल-निकालकर फेंक रहा था, वैसे ही ये नन्दजी बीच-बीचमें रत्नराशि लुटाने लग जाते हैं। अहा! आज इनकी कैसी आश्चर्यमयी शोभा है। पर बहनो! क्या बताऊँ, आश्चर्यकी कोई सीमा नहीं, इस सागरमन्थनमें तो एक अपूर्व बात हुई है। सर्वत्र प्रसिद्ध है—चन्द्रमा मन्थन प्रारम्भ होनेपर—सागर मथे जानेपर निकले थे; पर नन्दका यह शिशु-चन्द्र तो मन्थन प्रारम्भ होनेके पूर्व ही प्रकट हो गया।

मथुरासे श्रीवसुदेवका संदेश लेकर दूतका आगमन और नन्दजीके द्वारा उसका सत्कार

यमुनाकी चञ्चल लहरियोंको भुजाओंसे चीरता हुआ श्रीवसुदेवका दूत व्रजपुरकी ओर अग्रसर हो रहा है। उसकी दृष्टि नन्दप्रासादके उत्तुङ्ग स्वर्णिम गुम्बजपर केन्द्रित है। वह स्पष्ट देख पा रहा है—इस घनतमसाच्छन्न रात्रिको दिन-सा बनाता हुआ एक मणिमय मङ्गलदीप प्रासादके शिखर-कलशपर सुशोभित है। दीपकी शीतल किरणें सर्वत्र फैल रही हैं, मानो व्रजेशके वंशदीप (नवजात पुत्र)-की स्निग्ध ज्योतिसे प्राणान्वित होकर वह मणिदीप भी आज अतिशय उत्फुल्ल हो रहा हो, हँस रहा हो!

दूत किनारे लगा। जिस घाटपर व्रजेश प्रतिदिन स्नान करने आते हैं, वहीं धारासे ऊपर उठ आया, तटपर खड़ा हो गया। पुनः एक बार उसने उमड़ी हुई यमुनाकी ओर देखा। उसे अत्यन्त आश्चर्य है—ऐसी प्रखर धारामें अँधेरी रातके समय तैरकर वह सकुशल इस पार अनायास कैसे आ गया। उसने अञ्जलि बाँध ली, घुटने टेक दिये तथा सिरसे पृथ्वीको छूकर इस अप्रत्याशित रक्षाके लिये विश्वपतिकी अभिवन्दना की। दूतको यह पता नहीं कि जिनके अव्यक्त पादपङ्कजमें वह अपना सिर लुटा रहा है, वे विश्वेश्वर ही व्रजेश्वरके घर पधारे हैं। अपनी मधुर चरितावलीसे आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंको भी भक्तिपथका पथिक बनानेकी अभिसंधि लेकर, लीला-रस-सुधाकी शत-सहस्र मन्दाकिनीधाराओंमें अपने भक्तोंको बहाते हुए सदाके लिये आनन्दसिन्धुमें निमग्न कर देनेका संकल्प करके, दैत्यसेनाके गुरुतर भारको सहनेमें असमर्थ धरणीका भार उतारनेके उद्देश्यसे वे स्वयं विश्वपति ही व्रजमें पधारे हैं और ऐसे पधारे हैं, मानो सर्वथा प्राकृत शिशु ही हों—

आत्मारामान्मधुरचरितैर्भक्तियोगे विधास्यन्
नानालीलारसरचनयाऽऽनन्दयिष्यन् स्वभक्तान्।
दैत्यानीकैर्भुवमतिभरां वीतभारां करिष्यन्
मूर्तानन्दो व्रजपतिगृहे जातवत् प्रादुरासीत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उन गीले वस्त्रोंको निचोड़े बिना ही दूत चल पड़ा; क्योंकि पता नहीं, इतनेमें ही कोई घाटपर आ जाय, पूछ बैठे—कौन हो? कैसे आये? कहाँ जाओगे? पर आज व्रजमें किसीने भी उसे नहीं टोका। टोकता ही कौन! भेरी-दुन्दुभि आदि वाद्योंकी तुमुल ध्वनिमें, नृत्य-गीतके राग-रङ्गमें व्रजपुरवासी आत्मविस्मृत हो रहे हैं, उनमें किसी आगन्तुकका अनुसंधान रखनेकी शक्ति ही कहाँ है। दूत निर्बाध व्रजपुरकी अनुपम शोभा निहारता हुआ आगे बढ़ रहा है। पुरका प्राचीर इन्द्रनीलमणिनिर्मित है, मरकतमणिरचित गृहावली है, आच्छादन (छत) सुवर्णमय हैं, स्तम्भोंका निर्माण प्रवालसे हुआ है, द्वारसमूह पद्मरागमणिके हैं। सर्वत्र मणिदीपोंकी पंक्तियाँ जगमग-जगमग कर रही हैं। कोटि-कोटि गोराशि विभिन्न आभूषणोंसे विभूषित होकर गोष्ठमें खड़ी है; कोटि-कोटि गोवत्स-समूह व्रजके आनन्दकलरवसे प्रभावित होकर उछल रहे हैं; विविध शृङ्गारसे सजे हुए गोपोंके, अद्भुत अलंकारोंसे आभूषित व्रजाङ्गनाओंके दल-के-दल नृत्य-गीतमें संलग्न हैं। दूत देखकर चकित रह गया। इससे पूर्व कितनी बार संदेश लेकर वह व्रजमें आया है, पर आजकी अनुपम शोभा देखकर तो वह एक क्षणके लिये भ्रमित हो गया—क्या नन्दव्रजमें दिव्य गोलोककी सम्पदाका विकास तो नहीं हो गया है? दूतके पैरोंमें चलनेकी शक्ति नहीं रही, वह स्तब्ध खड़ा रह गया। वास्तवमें तो बड़भागी दूतका यह भ्रम नहीं है, उसने परम सत्यका ही अनुभव किया है; सचमुच गोलोकका ही अवतरण हुआ है।

किसी अचिन्त्यशक्तिने दूतमें समयोपयोगी शक्तिका

संचार किया। वह नन्दद्वारपर जा पहुँचा। फिर द्वारपालको साथ लेकर वहाँ चला गया, जहाँ व्रजेन्द्र अर्द्धनिमीलित नेत्रोंसे अपने इष्टदेवकी उपासना कर रहे हैं, श्रीमन्नारायणका ध्यान कर रहे हैं। दिनभर बन्धु-बान्धवोंका स्वागत-सत्कार करके, उनके आनन्दनृत्यमें सहयोग देकर, अपरिमित रत्नराशि, अन्नराशि लुटाकर, असंख्यात गोदान करके अब डेढ़ पहर रात बीतनेपर वे एकान्त उपासनाके लिये अवकाश पा सके हैं। पर आजका ध्यान उनके लिये एक पहेली-सा बन गया है। व्रजेश अपनी सम्पूर्ण वृत्तियाँ एकत्र करके चाहते हैं—श्रीमन्नारायणके मकरकुण्डल-ज्योतिसे उद्भासित अमल कपोलोंका, सुघड़ नासापुटोंका, सुन्दर नेत्रोंका, घनकृष्ण कुञ्चित केशराशिका ध्यान करें; पर यह ध्यान न होकर ध्यान होता है साढ़े छः पहर पूर्व भूमिष्ठ हुए अपने शिशुका। व्रजेशके मानसपटपर शिशुके गण्डयुगल, उसके नासापुट, उसके नेत्र, उसकी कुटिल कुन्तलराशि नाचने लगती है। गण्डयुगल तो मानो द्रवीभूत नीलकान्तमणिके जलमें दो बृहद् बुद्‌बुद उठे हों, नासापुट मानो कालिन्दीनीरके दो बुद्‌बुद हों, नेत्र मानो दो मुकुलित नीलोत्पल हों; कुन्तलराशिकी शोभा तो निराली ही है, मानो भ्रमरोंका दल प्रचुर परिमाणमें नवमकरन्दराशिका पान कर, अतिशय मत्त होकर, उड़नेकी सामर्थ्य खोकर निश्चल अवस्थित हो—

सद्योमकरन्दसंदोहातिपानमदातिशयेन भ्रमणा-समर्थतया निश्चलं मधुकरनिकरमिव कुटिलकचकलापम् × × × मुकुलितनीलोत्पले इव लोचने। द्रुततर-नीलमणिजलमहाबुद्‌बुदायमानं गण्डयुगलम् × × तरणितनयातनुबुद्‌बुदायमानं नासापुटकम्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजेशके जीवनमें यह पहला अवसर है कि उपासनाके समय उनका मन नारायणमें तन्मय नहीं हुआ। उन्होंने अथक चेष्टा की, बार-बार वृत्तियोंको तन्मय करना चाहा; पर आज तो वह शिशु हृद्देशपर अधिकार किये बैठा है। व्रजेशकी दृष्टिमें यह महान् अपराध हो रहा है, इष्टदेवकी उपासनाके समय पुत्रका चिन्तन होना कदापि ग्राह्य नहीं; पर वश नहीं चलता। व्रजेश हारकर आँखें खोलकर 'श्रीनारायण, नारायण' करने लगे। इसी समय दूतने चरणोंमें सिर रखा। देखते ही व्रजेन्द्र जान गये—भाई वसुदेवका गुप्त संदेशवाहक है, मेरा पूर्वपरिचित है।

अतिशय उत्कण्ठित होकर व्रजराजने कुशल पूछी। दूत बोला—

जीवति नृशंसे कंसे किमिव निरङ्कुशं कुशलम्? तच्च मम वेशेनैव वितर्क्यताम्। यदस्माकं तरण्या तरणं तरणौ च सति कुत्रापि प्रस्थानं न सम्भवतीति बाहुभ्यामेव संतरणात्तीर्णतरणिजः सार्द्रवस्त्रः प्रदोषे समागतोऽस्मि॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'महाराज! नृशंस कंसके जीते-जी निर्बाध कुशल कहाँ! मेरा यह वेश देखकर ही आप अनुमान कर लें। दिनके समय हमलोग नावसे पार नहीं हो सकते, कहीं भी नहीं जा सकते। इसीसे रातमें यमुना तैरकर इस पार आया हूँ, गीले वस्त्रोंसे ही सेवामें उपस्थित हुआ हूँ।'

श्रीवसुदेवका समाचार देते हुए दूतने कहा—"श्रीमन्! लगभग सात पहर पूर्वकी बात है। कंस-कारागारमें हमारी महाराज्ञी श्रीदेवकीजीने एक कन्याको जन्म दिया। उसी क्षण प्रहरीने कंसको सूचना दी। वह दुष्ट दौड़ा आ पहुँचा। आह! महाराज्ञी उस सद्योजात कन्याको अपने फटे आँचलमें लपेटे हृदयसे चिपकाये बैठी थीं। कंसको देखकर रो पड़ीं। दुःखसे अतिशय कातर होकर कंसका अनुनय-विनय करती हुई बोलीं—'मेरे भाई! एक बार मेरे मुखकी ओर देख लो, मैं तुम्हारी छोटी बहन हूँ न? मैं तुमसे भीख माँग रही हूँ। यह मेरी अन्तिम संतान है, इसके जीवनकी भीख दे दो; हाय! यह तो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है, इसे मत मारो। तुमने मेरे बहुत-से बच्चे मार डाले, पर उनके लिये मैं कुछ नहीं कहती। तुम्हारा दोष नहीं, मेरा भाग्य ही ऐसा था। अब इस बार दया कर दो, मुझ मन्दभागिनीका सहारा मत छीनो, इस अबलाको जीवनदान दो।' रोती हुई देवकीने कंसके चरणोंपर अपना सिरतक रख दिया। पर उस पाषाणहृदयमें दया

कहाँ! आँखें तरेरकर देवकीको भर्त्सना करता हुआ वह लपका, देवकीकी गोदसे उसने बालिकाको छीन लिया, उस कुसुमसुकुमार सद्योजात बालिकाके चरणोंको पकड़कर पासके पत्थरपर पटक ही दिया।''

यह सुनते ही व्रजेन्द्रकी आँखोंसे झर-झर करता हुआ अश्रुप्रवाह निकल पड़ता है। पर दूतने अतिशय शीघ्रतासे कहा—''देव! आगेकी बात सुनें, अद्भुत आश्चर्यमयी घटना है। बालिका कंसके हाथसे छूटते ही आकाशमें उड़ गयी। दूसरे ही क्षण बालिकाका रूप बदला। यह अष्टभुजादेवीके रूपमें परिणत हो गयी। वास्तवमें वे देवी ही थीं। ओह! दिव्य माला, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन एवं दिव्य मणिमय आभूषणोंसे सुसज्जित देवीका वह रूप देखने ही योग्य था। आठों भुजाओंमें आठ आयुध—धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, खड्ग, शङ्ख, चक्र, गदा सुशोभित थे। इतना ही नहीं, उनके चारों ओर सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराएँ, किंनर, नाग भेंट अर्पण कर रहे थे, अञ्जलि बाँधकर स्तुति कर रहे थे। देवीने कहा—

'मूर्ख! मुझे मारकर क्या लेगा? तेरा जीवन समाप्त करनेवाला, तेरे पूर्वजन्मका वैरी तो कहीं आ चुका, प्रकट हो चुका। निर्दोष बालकोंको अब मत मारना।'

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत्।
यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा॥

(श्रीमद्भा० १०। ४। १२)

व्रजेश्वर अतिशय आश्चर्यमें भरकर सुन रहे हैं। दूत कहता जा रहा है—''देवीके वचनोंने कंसके स्वभावमें कुछ क्षणोंके लिये एक विलक्षण परिवर्तन ला दिया। वह सचमुच पश्चात्तापकी आगमें जल उठा। मेरे महाराज वसुदेवके एवं महारानी श्रीदेवकीके चरणोंमें लुट पड़ा। उस समय उसकी आर्ति सचमुच हृदयको पिघला देनेवाली थी। महाराज एवं महाराज्ञीका दयार्द्र हृदय विगलित हो उठा। ऐसे नृशंसको भी उन दोनोंने क्षमादान दे ही दिया। वे दोनों कारागारसे बाहर आये। कंस अपने प्रासादमें गया। पर वहाँ जाकर उस असुराधमने जो विचार स्थिर किया, जो कार्यक्रम निर्धारित किया, उसे सुनकर तो श्रीमान् भी काँप उठेंगे। आह! राक्षसमन्त्रिमण्डलके परामर्शसे उसने यह स्थिर किया है कि नगरोंमें, ग्रामोंमें, व्रजपुरोंमें, अन्य स्थानोंमें जितनी नव संतति हैं, जितने बच्चोंने जन्म धारण किया है, दस दिनसे अधिक आयुके हों या कमके, सभी मार दिये जायँ। इतना ही नहीं, संहार प्रारम्भ भी हो चुका है। मेरे महाराज श्रीवसुदेवजीने इस सारे वृत्तान्तकी श्रीमान्‌को सूचना देनेकी मुझे आज्ञा दी है। साथ ही अपनी ओरसे विशेष परामर्श यह दिया है कि प्रचुर परिमाणमें भेंट अर्पण कर, राज्य-कर चुकाकर इस नरपालरूप राक्षस कंसकी संतुष्टि प्राप्त करें, जिससे उसकी कराल दृष्टि नन्दव्रजपर न पड़े, एवं कर चुकानेके बाद मुझसे अवश्य मिलें''—

शीघ्रमेवास्मै राजव्याजराक्षसाय संगत्य वलिर्वलयितव्यो मिलितव्यश्चाहमिति। (श्रीगोपालचम्पूः)

दूतका आना सुनकर उपनन्द आ गये थे। उन्होंने भी सारी घटना सुनी है। उन्होंने श्रीवसुदेवजीकी सम्मतिका पूर्ण समर्थन किया। यह निश्चित हुआ—पाँच दिन बाद, सूतिका-षष्ठीकी पूजा करके स्वयं व्रजेन्द्र असंख्यात रत्नराशि, दधि, दुग्ध, घृत-मधुसे पूर्ण अगणित स्वर्णभाण्ड लेकर मथुरा जायँ, कंसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करें। अस्तु!

व्रजेन्द्र अब अपने हाथों दूतके गीले वस्त्रोंको उतारते हैं। सूखे वस्त्र पहनाते हैं। पीली धोतीकी फेंट दूतने कसतक नहीं पायी थी कि व्रजराज स्वर्णताराओंसे चित्रित अपनी रेशमी अचकन उसे पहनाने लगे। अचकनके बंद कसनेके पूर्व ही जरकसी बँधी-बँधायी पाग उसके सिरपर रख दी। स्वयं दौड़कर गये, एक सुन्दर मणिखचित कलँगी ले आये, उसे पागपर बाँध दिया। कलँगीके साथ ही बगलमें छिपाकर एक मणिमय बहुमूल्य हार भी ले आये थे, उसे गलेमें पहना दिया। व्रजेश्वरके कंधेपर लटकती हुई चादरमें पीठकी तरफ एक पोट-सी बँधी है। उन्होंने अपनी वह चादर उतारी, अतिशय शीघ्रतासे पोटको

छिपाते हुए उसे दूतकी कमरमें लपेटने लगे; तीन-चार तहकी लपेट आ जानेपर भी उसके अन्तरालसे रत्नराशि चमक ही उठी, मानो वह झाँककर अपने ग्रहीता स्वामीका मुख देख रही हो। अन्तमें व्रजेन्द्रने अपनी हीरक-मुद्रिका उतारकर दूतकी अँगुलीमें पहनाकर, फिर उसे हृदयसे लगाकर बोले—'चलो, भोजनागारमें चलकर भोजन कर लो।' भोजनके पश्चात् उसे विश्राम कराकर स्वयं सूतिकागारके पार्श्ववर्ती गृहमें एक पर्यङ्कपर आ विराजते हैं। पर आँखोंमें निद्रा नहीं! और तो क्या, आठ पहरसे दौड़ते रहनेपर भी शरीरमें थकानका लेशमात्रतक नहीं है। हो कैसे! उनके अन्तर्हृदयमें अपने नवजात शिशुके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी, उसके मधुरातिमधुर मुखमण्डलकी क्रम-क्रमसे स्मृति हो रही है। प्रत्येक स्मृति अपने साथ एक चिन्मय अमृतरसस्रोत लिये आती है; प्रत्येक स्रोत व्रजेशके मन, इन्द्रिय एवं प्राणोंमें नवीन स्फूर्तिका संचार कर देता है। वे, भला, थकें तो कैसे थकें!

सूतिकागारमें भी किसीकी आँखोंमें नींद नहीं। अबसे तीस घड़ी पूर्व शिशु भूमिष्ठ हुआ है। तबसे व्रजरानी निरन्तर उसके वदनारविन्दका मधुपान कर रही हैं। पर न तो नेत्र थके, न तृप्त ही हुए; बल्कि जितना देखती हैं, उतना ही दर्शनकी प्यास उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अङ्गोंकी ओर देखती हैं तो प्रतीत होता है, मानो समस्त अङ्ग नीलमणिसे ही निर्मित हों; अधरोंकी ओर दृष्टि ले जाती हैं तो दीखता है मानो इनका निर्माण रक्तरागमणिसे ही हुआ हो; करतल, चरणतल निहारती हैं तो अनुभव होता है, मानो ये पद्मरागमणिसे बने हों। नखावलीका दर्शन करनेपर यह भान होता है, मानो पक्व दाडिमबीजकी आभावाले माणिक्यसे ही इन नखोंकी रचना हुई हो। देखते-देखते व्रजेन्द्रगेहिनी कल्पनाके सुमधुर राज्यमें भ्रमित-सी हो जाती हैं। सोचने लगती हैं, तो क्या यह बालक मणिमय है? न, यह तो सम्भव नहीं; मणि तो कठोर होती है, शिशु तो अत्यन्त मृदु—अत्यन्त सुकुमार है। तब क्या विधाताने या किसीने पुष्पोंसे इसकी रचना की है? ओह! मानो नीलपद्मोंसे समस्त अवयवोंका, बन्धूकपुष्पोंसे अधरोष्ठका, जपाकुसुमोंसे कर-चरण-तलका, मल्लिकाकोरकोंसे ही नखराशिका निर्माण हुआ हो—

नीलमणिनेव सकलावयवानां कुरुविन्देनेव बिम्बाधरस्य कमलरागेणेव पाणिपादस्य शिखर-मणिनेव नखरनिकरस्य निर्माणमिति मत्वा कदाचिन्मणिमयोऽयमिति वा, इन्दीवरेणेव सकला-वयवस्य बन्धूकेनेव बिम्बाधरोष्ठस्य जपाकुसुमेनेव पाणिपादस्य मल्लीकोरकेणेव नखरनिकरस्येति कदाचिदयं कुसुममयो वा केनापि निरमायि।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस प्रकार व्रजेश्वरी शिशुके सौन्दर्यकी उपमा ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हार जाती हैं।

गोपाङ्गनाओंकी अभ्यर्थना सम्पन्नकर श्रीरोहिणी भी अब व्रजरानीके पास आ गयी हैं, उनके नेत्रोंमें भी आलस्यकी छायातक नहीं है। धात्री भी नींदको मानो सर्वथा भूल गयी है। केवल नन्दपुत्र अपनी जननी यशोदाके वक्षःस्थलपर आँखें बंद किये सो रहे हैं। उनकी एवं व्रजरानीकी ओर देखती हुई धात्री धीमे-धीमे, पर अतिशय मधुर कण्ठसे गा रही है—

**धन्य जसोदा भाग तिहारौ, जिन ऐसौ सुत जायौ हो।
जाके दरस-परस सुख उपजत, कुल कौ तिमिर नसायौ हो॥**

षष्ठी देवीका पूजन

व्रजेन्द्रनन्दनके अभिनव सुन्दर मुखकमलका प्रत्यक्ष दर्शन करके गोपाङ्गनाएँ, गोपकुमारिकाएँ कृतार्थ हो चुकी हैं, निहाल हो गयी हैं। पर अभीतक व्रजपुरके गोपोंको यह परम सौभाग्य नहीं मिला है। वे तो अपनी पत्नियोंके, पुत्रियोंके मुखसे नन्दशिशुके अद्भुत सौन्दर्यका वर्णन सुनते हैं, सुननेमात्रसे ही परमानन्दसिन्धुमें निमग्न होकर अपनी-अपनी धारणाके अनुसार अपने हृत्पटपर शिशुका चित्राङ्कन करने लग जाते हैं। उनके भावकी तूलिका क्षणमात्रमें ही एक अनन्त असीम अनिर्वचनीय सुन्दर मूर्तिका निर्माण कर देती है तथा उसे देखकर वे इतना तन्मय हो जाते हैं कि कुछ समयके लिये उनका बाह्य ज्ञान सर्वथा लुप्त-सा हो जाता है। गोपबालाएँ अपना अनुभव सुनाती हुई गद्गद कण्ठसे कहती हैं—ओहो! शिशुके अङ्ग इतने स्वच्छ हैं, मानो उत्कृष्ट नवनीलकान्तमणिके अङ्कुर हों; इतने मृदु हैं, मानो तमालतरु-पल्लव हों; इतने स्निग्ध हैं, मानो वर्षणोन्मुख नवजलधरके नवाङ्कुर हों; इतने सुरभित हैं, मानो त्रैलोक्य-लक्ष्मीके भालपर कस्तूरी-तिलक हों; तथा इतने सुचिक्कण, इतने आकर्षणशील हैं, मानो सौभाग्यश्रीके नेत्रोंमें लगा हुआ सिद्धाञ्जन ही अङ्गोंके रूपमें मूर्त हो गया हो—

अङ्कुरमिव नवनीलमणीन्द्रस्य पल्लवमिव तमालस्य कन्दलमिव नवाम्भोदस्य कस्तूरिकातिलकमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्याः सिद्धाञ्जनमिव सौभाग्यसम्पदः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गोपाङ्गनाओंका यह वर्णन मानो सजीव शिशु बनकर गोपोंके हृदय-मन्दिरमें प्रवेश करता है और वे एक अभूतपूर्व आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो जाते हैं। पर साथ ही प्रत्यक्ष दर्शनकी उत्कण्ठा उन्हें क्षण-क्षणमें उत्तरोत्तर चञ्चल बनाती जा रही है। अब तो वे व्याकुल हो गये हैं कि ऐसे विलक्षण, अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व शिशुको शीघ्र-से-शीघ्र प्रत्यक्ष कैसे देखें। आज उनकी उत्कण्ठा चरम सीमाको पहुँच गयी है। इसीलिये आज ज्यों ही, 'व्रजेश्वरीका सूतिकास्नान सानन्द सम्पन्न हो चुका है', यह समाचार व्रजमें प्रसरित हुआ कि—बस, उसी क्षण समस्त गोपमण्डली पुनः नन्दभवनकी ओर दौड़ पड़ी। देखते-ही-देखते व्रजपुरके समस्त गोपोंकी तुमुल आनन्दध्वनिसे नन्दप्रासाद निनादित होने लग गया।

व्रजेन्द्रके मनमें समस्त गोपोंके प्रति समान ममत्व, समान प्रेम है। आजतक जितने समारोह, जितने उत्सव व्रजेशके घर हुए, सबमें व्रजपुरके समस्त गोपोंको उन्होंने समान भावसे सूचना दी। पर आज जब कुलरीतिका अनुसरण करते हुए अपने पुत्रका मुख देखनेके लिये पुरवासियोंके निमन्त्रणका प्रश्न आया तो व्रजेन्द्रने केवल प्रमुख गोपोंको ही निमन्त्रित किया। इस भेदभावमें हेतु था अपने नवजात शिशुकी अनिष्ट-आशङ्का। व्रजराज दूतके मुखसे कंसके पैशाचिक निश्चयको सुन चुके हैं। तबसे उनका चित्त सशङ्कित है—क्या पता, कंस-प्रेरित कोई राक्षस यहाँ आ जाय, गोपोंकी भीड़में मैं उसे पहचान न सकूँ और वह शिशुका अनिष्ट कर दे। इसलिये व्रजेन्द्रने यही उचित समझा कि आज अधिक भीड़ न होने पाये; नारायणकी कृपासे कुछ दिन सानन्द बीत जानेपर समयानुसार समस्त पुरवासियोंको बुलाकर पुत्रका मुख दिखा दिया जायगा, आज केवल प्रमुख गोपबन्धुओंको ही निमन्त्रितकर कुल-मर्यादाका पालन कर लिया जाय। इसी विचारसे विशिष्ट गोप ही निमन्त्रित हुए थे। किंतु ऐसा होनेपर भी, सबको निमन्त्रण न मिलनेपर भी सारा व्रजमण्डल उमड़ ही पड़ा। सचमुच अब निमन्त्रणकी आवश्यकता भी नहीं रही थी, अनिमन्त्रित ही सबका आना अनिवार्य था। भला, सरोवर अपने वक्षःस्थलपर पद्मश्रेणीका विकास हो जानेपर, उन विकसित पद्म-कुसुमोंकी पङ्क्तिसे

गौरवान्वित होनेपर कहीं मधुलुब्ध भ्रमरोंको निमन्त्रित—आह्वान करने जाता है? भ्रमरावली तो बिना बुलाये अपने-आप ही आती है, वह आयेगी ही। नन्दकुल-सरोवरमें भी अनुपम सौरभशाली नील पद्मका विकास हुआ है; उसे अब रसलोभी अलिकुल (गोपकुल)-को आह्वान करनेकी आवश्यकता नहीं है, अलिकुल स्वयं आयेगा—

श्रीमद्गोपनृपेण नूतनतनूजातस्य वीक्षाकृते
प्राग्र्या एव निमन्त्रिता व्रजजनाः सर्वे तु तत्रcraft:।

यर्ह्यम्भोजवनाकरः स्वकुसुमव्रातप्रकाशप्रथा-
व्याप्तः स्यात् किमु तर्हि षट्पदगणानाकारयत्यात्मना॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

नन्दनन्दनको अपनी गोदमें लेकर वृद्धा उपनन्दपत्नी मणिस्तम्भके सहारे बैठी हैं। उनकी दाहिनी ओर घूँघट निकाले व्रजरानी विराजमान हैं। व्रजरानीके अत्यन्त निकट श्रीरोहिणीजी सुशोभित हैं तथा इन्हें तीन ओरसे घेरे हुए व्रजपुरकी कतिपय मान्य वयोवृद्धा गोपिकाएँ बैठी मङ्गल-गान कर रही हैं। अपनी पत्नीके बायें पार्श्वमें उपनन्दजी अतिशय विनम्र मुद्रामें खड़े हैं तथा उनकी बायीं ओर व्रजेन्द्र अञ्जलि बाँधे खड़े अपने बन्धु-बान्धवोंका स्वागत-सत्कार कर रहे हैं। इन सबके सामने, इस स्थानसे लेकर तोरण-द्वारतक ही नहीं, विस्तीर्ण राजपथतक दर्शनार्थी गोपोंकी अपार भीड़ खड़ी है। आगेकी पंक्ति जब दर्शन कर लेती है, किनारे होकर पथ दे देती है, तब पीछेकी पंक्ति आगे बढ़ पाती है। शिशुके अङ्गोंपर जहाँ एक बार गोपोंकी दृष्टि गयी कि वह वहीं स्थिर हो जाती है—हटती नहीं, हटना चाहती ही नहीं। पर पासमें खड़े हुए उपनन्दजी दर्शकके प्रति हाथोंसे पीछेकी अपार भीड़की ओर संकेत कर देते हैं तथा वह अपनी ही तरह अतिशय उत्कण्ठित अन्य दर्शनार्थीको अवकाश देनेके लिये शीलवश बाध्य होकर किनारे हट जाता है। उसने नन्दसुवनको देख लिया, किनारे हटते-हटते बार-बार दृष्टि घुमा-घुमाकर उस सलोने शिशुको देखा; पर आह! तृप्ति बिलकुल ही नहीं हुई, इतनी देर दर्शन करके भी आँखें तो दर्शनकी प्यासी ही लौट आयीं।

लौटते हुए उन दर्शकोंसे पीछेकी पंक्तिवाले कहते हैं—'दादा! तुमने देख लिया? मेरे आगे तो अभी अपार भीड़ खड़ी है। पता नहीं, कबतक मेरी बारी आयेगी। बताओ तो, शिशु कैसा सुन्दर है?' इनके उत्तरमें वे कुछ कहना चाहते हैं; पर उनका कण्ठ भर जाता है, वाणी रुद्ध हो जाती है, वे कुछ भी बोल नहीं पाते। उनकी आँखें भी भर आती हैं। छलकती हुई आँखें मानो संकेतमें उत्तर दे रही हों—'मेरे स्वामीके सखाओ! देखनेवाली तो मैं हूँ, उस अप्रतिम सौन्दर्यको मैंने अवश्य देखा है; पर विधाताने मुझमें बोलनेकी शक्ति नहीं दी, अपनी इसी दीनतापर रोती हुई तुमसे क्षमा चाहती हूँ। वाणीसे सुनकर उस रूपको यथार्थ हृदयङ्गम करनेकी आशा छोड़ दो; वाणीमें तो देखनेकी शक्ति ही नहीं है, वह बेचारी यथार्थ वर्णन कर ही नहीं सकती। जब तुम्हारे दर्शन-गोलकोंकी ओटसे मेरी ही स्वरूपभूता तुम्हारी आँखें देखेंगी, तभी तुम यथार्थमें अनुभव कर सकोगे कि यह नन्दनन्दन कितना सुन्दर है, कितना मधुर, मनोहर है।' गोपगण दर्शनके उपरान्त वस्त्र-आभूषणादि विविध उपहार शिशुके लिये दे रहे हैं। व्रजेन्द्र, भला, इस प्रेमपूर्ण उपहारकी उपेक्षा भी कैसे करते! उन्हें यह उपहारकी वस्तु नहीं प्रतीत हो रही है। वे तो इन वस्तुओंके एक-एक अणुको व्रजवासियोंके मङ्गलमय आशीर्वादसे भरा देख रहे हैं। उन्हें विश्वास है, इन बन्धु-बान्धवोंका आशीर्वाद अव्यर्थ होगा तथा मेरा लाल फूलेगा-फलेगा। इसी भावनासे वे प्रत्येक गोपका उपहार स्वीकार कर ले रहे हैं; इतना ही नहीं, अपनेको उनका चिरऋणी समझ रहे हैं।

मुख देखनेकी लालसासे आये हुए व्रजगोपोंका मनोरथ पूर्ण हुआ। वे गोप घर लौटे। अभी-अभी शिशुका मुख देखकर आये हैं; पर ऐसा अनुभव हो रहा है, मानो उस मधुर-मनोहर मुखको देखे हुए

कितने ही दिन व्यतीत हो गये हैं, फिर चलें, फिर देखें—

आगता निजगृहं यदाप्यमू-
र्नन्दबालमवलोक्य लोभनम्।
हन्त तर्ह्यपि दिनानि कानिचि-
न्मेनिरे दृशि गतं व्रजप्रजाः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

अब सायंकाल हो चुका है। इस समय तपस्विनी भगवती पौर्णमासी यशोदानन्दनको आशीर्वाद देने पधारी हैं। इनके साथ वह परम हँसमुख मधुमङ्गल नामक ब्राह्मणकुमार भी है। देवीका व्रजमें बड़ा आदर है, यद्यपि इनके एवं कुमारके जीवनके सम्बन्धमें व्रजवासियोंको बहुत ही कम परिचय प्राप्त हो सका है; जिस दिन ये व्रजमें पधारीं, उस दिन पूछनेपर इन्हींके मुखसे पुरवासियोंने केवल इतना सुना है—

पौर्णमासीनाम्नी, कात्यायनी च कुमारश्रमणा च पारिकाङ्क्षिणी चेक्षिणिका चास्मि। अयं च मधुमङ्गलनामा स्नातकः श्रीनारदप्रकृतिः। आवां च विद्याविशेषेणैतद्वयस्कावेव सदा विद्यावहे।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरा नाम पौर्णमासी है, मैं सदा काषाय वस्त्र धारण करती हूँ, बालब्रह्मचारिणी तपस्विनी हूँ तथा ज्योतिष जाननेवाली हूँ।* और यह बालक स्नातक है, इसका नाम मधुमङ्गल है, इसकी प्रकृति देवर्षि नारदके समान है। एक विशेष विद्याके प्रभावसे हम दोनोंकी आयु सदा एक-सी—इतनी ही बनी रहती है।' इससे अधिक व्रजवासी इनके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जान सके हैं, फिर भी सबका इनपर जन्मदात्री माताकी तरह विश्वास हो गया है। इन्होंने ही सर्वप्रथम व्रजवासियोंके सामने भविष्यवाणी की थी—

भवतां प्राणकन्दस्य श्रीमन्नन्दस्य जगदानन्दः स खलु नन्दनः सम्भविता। (श्रीगोपालचम्पूः)

'आपके प्राणाधार श्रीमान् नन्दको एक पुत्र होगा तथा वह निश्चय ही जगदानन्दरूप होगा।'

तबसे व्रजवासी इनपर न्योछावर हो गये हैं। इनके लिये गोपोंने कालिन्दी-तटपर एक पर्णकुटीका निर्माण कर दिया है। ये उसीमें निवास करती हैं।

दिनभर अपार दर्शनार्थियोंका अभिनन्दन समाप्त कर व्रजरानी अपने हृदयधनको वक्षःस्थलसे सटाकर स्तन्यपान करा रही थीं, किंतु भगवती पौर्णमासीपर दृष्टि पड़ते ही वे शीघ्रतासे उठकर खड़ी हो गयीं। अपनी अशुचि-अवस्थाकी स्मृति हो जानेसे तपस्विनीका स्पर्श करनेमें एक बार तो झिझकीं, पर देवीकी अतिशय सौम्य मुद्रा उन्हें बरबस खींच लेती है। व्रजेश्वरी अपना मस्तक झुकाकर उनके चरणोंका स्पर्श करती हैं। इसके पश्चात् सहारेसे धीरे-धीरे अपने उस इन्द्रनीलद्युति शिशुको छातीसे उठाकर चरणोंमें रख देती हैं। देवी वहीं बैठ जाती हैं और अपना दाहिना हाथ यशोदानन्दनके सिरपर रखकर नेत्र बंद कर लेती हैं। इसी समय पासमें खड़ा हुआ मधुमङ्गल पुकार उठता है—'जननि यशोदे! ऊपर देखो, ऊपर। हंस, वृषभ, मयूर, हाथी, रथ, हरिण आदि विविध वाहनोंपर सवार चित्र-विचित्र आकृतिवाले कितने लोग तुम्हारे पुत्रका मुख देख रहे हैं! ये एक बार पहले भी आये थे। व्रजके आकाशमें उड़ते हुए मैं कल भी इन्हें देख चुका हूँ।'

ब्राह्मणकुमारकी बातसे आश्चर्य और भयसे युक्त होकर व्रजरानी तथा अन्य गोपिकाएँ ऊपरकी ओर देखने लगीं। पर उन्हें कुछ भी नहीं दीखा। भगवती पौर्णमासी आँखें खोलकर मुसकराने लगीं तथा भयभीत नन्दरानीको आश्वासन देकर बोलीं—'भयकी कोई बात नहीं है। अन्तरिक्षमें देवताओंका निवास रहता ही है।

---

* अनन्तशक्तिमान् भगवान्की अघटघटनापटीयसी योगमाया शक्ति ही देवी पौर्णमासीके रूपमें मूर्त होकर व्रजमें निवास करती हैं।

हठात् दिव्यदृष्टिका उन्मेष हो जानेसे मधुमङ्गलने उन्हें देख लिया है।' यह कहकर आशीर्वाद देती हुई देवी पौर्णमासी अपनी पर्णकुटीकी ओर चल पड़ीं।

व्रजमें आज भी रातभर उत्सव होता रहा। अब व्रजेन्द्रनन्दनके जन्मका तृतीय उत्सवमय प्रभात हुआ। फिर चार पहर बाद नृत्य-गीतमयी तृतीय संध्या आयी। इसी तरह व्रजवासियोंके आनन्द-कोलाहलपर अपनी प्रफुल्ल किरणोंकी वर्षा करने भगवान् अंशुमाली चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ दिवस भी आये और चले गये। अब छठी रात्रिमें व्रजेन्द्र अपने पुत्रकी मङ्गलकामनासे सूतिका-षष्ठीकी पूजा करने बैठे हैं।

षष्ठी देवीकी अतिशय सुन्दर, गोमयकी प्रतिमा बनायी गयी। शुक्लतन्दुलमयी वेदिकापर प्रतिमाको पधराकर विधिपूर्वक कलशस्थापनादि करके षोडशोपचारसे व्रजेन्द्रने पूजा की। फिर कुलप्रथाके अनुसार व्रजरानीने अपने लालकी छठी पूजी—

गोद लिऐं गोपाल जसोदा पूजत छठी मुदित मन प्यारी।
बड़रे बार-सनेह चुचाते चूँबत मुख दै-दै चुचुकारी॥

× × ×

पूजत छठी जु कान्ह कुँवर की थापे पीत लगाई।
कंचर-थार लिएँ ब्रजबनिता रोचन देत सुहाई॥

× × ×

आँजति आँखि जु सबहि सुवासिन, माँगत नैन भराए।
सूरदास-प्रभु तुम चिरजीयौ, घर-घर मंगल गाए॥

व्रजरानी छठी पूजकर मोतियोंके चौकसे अभी उठ भी नहीं पायी थीं कि उनके पुत्रकी छठी पूजनेवालोंका ताँता बँध गया—

फिरि-फिरि ग्वाल-गोप सब पूजत, अरु पूजत ब्रजनारी।
श्रीबिट्ठल गिरिधर चिरजीवौ, माँगत ओलि पसारी॥

रात्रि-जागरणका तो आज शास्त्रीय विधान ही है। नहीं भी होता तो भी व्रजराजको तो जगना ही है। आज ही नहीं, छः दिन हो गये, उन्हें एक क्षणके लिये भी निद्रा नहीं आयी। यह बात नहीं कि अवसर ही नहीं मिला। दो पहर रात बीतनेपर तो व्रजरानीका, उपनन्द आदिका अतिशय आग्रह होनेके कारण उन्हें विश्रामागारमें जाना ही पड़ता। सूतिकागारके एक पार्श्ववर्ती गृहमें दुग्धधवल सुकोमल शय्यापर वे जाकर लेट जाते। पर लेटते ही मणिमय भित्तिका व्यवधान बीचसे अन्तर्हित हो जाता; व्रजराज वहीं लेटे-लेटे देखने लगते—व्रजरानीके वक्षःस्थलपर नीलद्युति शिशु विश्राम कर रहा है। ओह! व्रजेश्वरीका शरीर तो मानो अपराजिता लता हो और शिशु उसका सुन्दरतम विकसित प्रसून। व्रजराजकी वृत्ति उस चिन्मय प्रसूनमें ही लय हो जाती, माया (निद्रा)-में नहीं।

व्रजेशकी मथुरा-यात्रा

अभी रात्रि दो घड़ी अवशिष्ट है, पर अभीसे व्रजेन्द्रके मथुरागमनकी तैयारी प्रारम्भ हो गयी है। व्रजेन्द्रकी भी अनिच्छा है, व्रजरानी भी नहीं चाहतीं; फिर भी जाना आवश्यक है, राक्षस कंसको संतुष्ट जो करना है। अतः कंसके लिये उपहार-सम्भार, रत्नराशि शकटों (छकड़ों)-में भरी जा रही है; भर जानेपर शकटोंको खींच-खींचकर गोप राजपथपर एक पंक्तिमें सजा रहे हैं। व्रजेश्वर अतिशय बलिष्ठ गोपोंको बुलाते हैं। अपने हाथोंसे सबकी पीठ ठोककर उनके हाथोंमें शस्त्र देते हैं तथा समय एवं स्थानका निर्देश करते हैं कि अमुक गोप इस समयसे इस समयतक अमुक स्थानपर सावधान होकर पहरा देता रहे। बड़ी तत्परतासे प्रत्येक गोपको अलग-अलग कुछ गुप्त परामर्श देते हैं। इतनी तत्परता इसीलिये है कि उनकी अनुपस्थितिमें कंसप्रेरित कोई विपत्ति उनके पुत्रपर न आ जाय। इस आशङ्कासे ही व्रजेश्वरको समस्त गोकुलकी पूर्ण रक्षाकी पूरी व्यवस्था करके तब कंसका वार्षिक कर चुकाने मथुरा जाना है—

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह॥

(श्रीमद्भा० १०। ५। १९)

एक पहर दिन चढ़नेतक कहीं सारी तैयारी हो सकी। पर जानेके पूर्व व्रजराज कुछ चिन्तित हो गये—'अत्यन्त नृशंस कंसके समक्ष जा रहा हूँ; पता नहीं क्या परिणाम होगा। मैं अपने इस शिशुका मुख देखने लौट सकूँगा कि नहीं·········! जो हो, जी भरकर इसे देख तो लूँ, यह पाथेय तो साथ ले लूँ।'

व्रजराज दौड़कर सूतिकागारमें जा पहुँचते हैं। व्रजरानी शिशुको उनकी गोदमें रख देती हैं। वे बार-बार शिशुके चन्द्रमुखकी ओर देखने लगे, बड़ी देरतक दर्शन-सुख लेते रहे; फिर सिरसे कपोलतक बार-बार चूमकर शिशुके श्याम कलेवरको हृदयसे सटा लिया! व्रजेश आये थे तृप्त होने, पर व्याकुलता तो और बढ़ गयी!

पासमें धात्री खड़ी थी। पिताकी गोदमें विराजित शिशुकी ओर लक्ष्य करके वह बोली—'मेरे वत्स! मेरे साँवरे! देख, तेरे पिता मथुरा जानेके लिये तेरी आज्ञा चाहते हैं। तू आज्ञा दे दे।' धात्रीका यह कहना था कि एक अतिशय आश्चर्यमय अनुपम बाल्यभङ्गिमा श्याम शिशुके मुखपर नाच उठी तथा उस भङ्गिमाके आवेशसे ही उसके अरुणिम होठोंपर एक मन्द मुसकान छा गयी। गोपेशने उसे स्पष्ट देखा। ओह! इस मुसकानने तो उनकी चिरस्थिर बुद्धिको भी चञ्चल बना डाला! पुनः स्थिर करनेका अवकाश भी नहीं, स्थिर होनेकी आशा भी नहीं, वे इस चञ्चलताको लिये ही मथुराकी ओर चल पड़े—

वत्स! श्याम! पिता तवायमयितुं राज्ञः पुरं त्वत्कृता-
नुज्ञां प्रार्थयते ततो वितरतादित्येष धात्रीरितः।
आश्चर्यातुलबालभाववलनाद्वभ्रे स्मितं तेन च
श्रीमान् गोपजनाधिपः प्रचितधीः प्रस्थानमासेदिवान्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

गोपमण्डली शकटसमूहके संचालनमें लगी है। पर व्रजेन्द्रका ध्यान इस ओर सर्वथा नहीं है। उनकी आँखें तो श्याम शिशुको देख रही हैं तथा कान अन्य ग्रामसे आयी हुई, दही बेचकर लौटती हुई कुछ गोपियोंकी चर्चा सुन रहे हैं। एक गोपी कह रही है—

सोभा-सिंधु न अनत रही री।
नंदभवन भरपूरि उमगि चलि, ब्रज की बीथनि फिरति बही री॥
देखी जाइ आज गोकुल में घर-घर बेचत फिरत दही री।
कहँ लगि कहौं बनाय बहुत बिधि, कहत न मुख सेसहु निबही री॥
जसुमति उदर अगाध उदधि तें उपजी ऐसी सबन कही री।
सूरदास-प्रभु इंद्रनील-मनि ब्रजबनिता उर लाइ गुही री॥

पूतना-मोक्ष तथा पूतनाके अतीत जन्मकी कथा

आश्लेषा नक्षत्र है, विषघटिकाकी वेला आ गयी, मृत्युयोगका भी संयोग हो गया। इतनेमें ही असुरबलवर्द्धिनी निशा भी आ पहुँची। इसीसे निशाचरी पूतनाको यह अनुभव हुआ मानो उसकी भुजाओंमें शत-सहस्र गिरिशृङ्गोंको तोड़कर, एक साथ लेकर उड़ जानेकी शक्ति संचारित हो गयी हो। वह इस आवेशमें ही उड़ चली, उड़कर व्रजपुरके तरु-वल्लरी-सुशोभित उपवनमें जा पहुँची।

राक्षसीने एक बार विस्फारित नेत्रोंसे व्रजेन्द्रकी पुरीको, अगणित मणिदीपोंके उज्ज्वल निर्मल प्रकाशमें चम-चम करते हुए धवल आवासगृहोंको देखा। उसे अतिशय आश्चर्य है कि आज सात दिनतक यह नन्दव्रज उसकी कराल दृष्टिसे बचा कैसे रह गया। अबतक वह नगर-ग्राम-गोष्ठोंमें घूमती हुई अपने विषमय स्तनका पान कराकर सहस्रों शिशुओंका प्राण अपहरण कर चुकी है, यह प्राणहरणका खेल खेलती हुई प्रतिदिन ही अनेकों बार इस उपवनकी सीमातक आ पहुँची है; पर एक बार भी नन्दव्रजकी ओर उसका ध्यान क्यों नहीं आकर्षित हुआ? इतना ही नहीं, वह सुन भी चुकी है कि जिस क्षण आकाशचारिणी उन अष्टभुजा देवीने कंसको सावधान किया, उससे कुछ ही पूर्व, उसी रात्रिमें व्रजराज नन्दको एक अतिशय सुन्दर पुत्र हुआ है; और तो क्या, इस पुत्रका प्राण हरण करनेके लिये कंसने विशेषरूपसे आज्ञा भी दी थी। पर इन बातोंको निरन्तर सात दिनतक वह भूली क्यों रही? एक बार भी तो ये बातें उसके स्मृतिपथमें नहीं आयीं। ऐसा हुआ ही क्यों? इन बातोंकी मीमांसा करनेमें राक्षसीने बड़ा प्रयास किया; पर सभी निष्फल, सभी व्यर्थ! वह कारण ढूँढ़ न सकी, ढूँढ़ सकती भी नहीं; क्योंकि शिशुरूपधारी गोलोकविहारी नराकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌की अचिन्त्यलीलामहाशक्तिके प्रभावसे ही ये बातें घटित हुई हैं। राक्षसीकी दृष्टि महामहिम भगवान्‌की, उनकी लीलाशक्तिकी योजनाका वास्तविक अनुसन्धान पा ही कैसे सकती है। अबतक उसने अगणित बालकोंकी हत्या अवश्य की है, पर किन बालकोंकी? केवल उन्हींकी, जो नरके आवरणमें क्रूर राक्षस थे, राक्षसकुलकी वृद्धि करने, धराका भार बढ़ानेके लिये कंसपक्षीय राक्षसकुलोंमें उत्पन्न हुए थे। वह अबतक एक भी ऐसे शिशुको स्पर्शतक नहीं कर सकी है, जो भगवदाश्रित कुलमें भक्तकुलकी परम्परा-वृद्धि करने आया है। लीलाशक्तिकी प्रेरणासे '**कण्टकेनैव कण्टकम्**' की तरह उसके द्वारा तो धराका भार ही हलका हुआ है; किंतु इस रहस्यको वह नहीं जान सकती। तथा अभी वह पूतना यह समझ ही नहीं सकती कि उसी लीलाशक्तिके संचालनमें ही वह आज नन्दगोकुलकी चिन्मय भूमिको स्पर्श करनेमें, उसमें प्रवेश पानेमें समर्थ हो सकी है! अन्यथा, यह नियम है कि असुरोंका—आसुरीशक्तिका प्रवेश तो वहीं सम्भव है, जहाँ भक्तजनपालक श्रीहरिके समस्त विघ्न-बाधाहारी परम मङ्गलमय नामों एवं गुणोंके श्रवण-कीर्तन आदि नहीं होते; हरिनामगुणपरिपूरित देशमें तो आसुरी छायातक नहीं पड़ सकती। यह तो है उनके नाम-गुण आदिकी महिमा। यहाँ इस नन्दगोकुलमें तो वे स्वयं पधारे हुए हैं। गोकुलका अणु-अणु तद्रूप हो चुका है। ऐसे गोकुलमें राक्षसी पूतना आ ही कैसे सकती—

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि॥

(श्रीमद्भा० १०। ६। ३)

पर अब विलम्बका अवसर नहीं। नन्दप्रासाद

मानो पूतनाको अपनी ओर खींच रहा है। वह यातुधानी नन्दनन्दनके प्राणहरणके लिये आतुर हो उठी। उसने व्रजपुरके बहिर्द्वार (नगरफाटक)-की ओर दृष्टि डाली। दीख पड़ा—अत्यन्त बलिष्ठ बहुत-से गोप धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाये, बाण हाथमें लिये प्रहरीका कार्य कर रहे हैं। वे अतिशय सजग हैं। उनके मुखपर एक अद्भुत तेज है। ऐसे विलक्षण मानवी तेजका दर्शन राक्षसीने पहली बार किया; वह आज जीवनमें प्रथम बार ही हतप्रभ हुई, मानो एक ही क्षणमें उसके विकराल विशाल अवयवोंकी शक्ति किसीने हर ली हो। वह विचारमें पड़ जाती है—ऐसे भयंकर शरीरको लिये हुए इन प्रहरियोंके बीचसे सकुशल व्रजप्रवेश कदापि सम्भव नहीं, दृष्टिपथमें आते ही उनके तीक्ष्ण बाण उसे धराशायिनी बना ही देंगे। अन्तरिक्षके पथसे भी जाना सम्भव नहीं। यहाँतक तो आ गयी, पर आगे इस पथसे भी बढ़ना अत्यन्त भयावह है; क्योंकि आज एक नयी आश्चर्यमयी बात हो रही है। अन्तरिक्षमें रहनेपर भी उसके शरीरकी भयंकर आकृति व्रजपुरके निर्मल भूभागपर सर्वथा स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो जाती है तथा इस छायाके सहारे ही मन्त्रपूत बाणोंसे उसका विद्ध हो जाना अनिवार्य है। इस उधेड़-बुनमें पथ न पाकर मायाविनीने मायाधिष्ठात्रीका स्मरण किया। बस, स्मरण करते ही उद्देश्य सिद्ध हो गया; क्योंकि मायाधिष्ठात्री व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीलामहाशक्ति योगमायाकी एक आवरिका शक्ति हैं। यातुधानीने प्रकारान्तरसे लीला-शक्तिका ही आवाहन कर लिया।

मायाविनीकी माया जाग्रत् हो उठी। दूसरे ही क्षण उसके भयानक अवयव एक अतिशय मनोहर सुन्दर षोडशवर्षीया रमणीके रूपमें परिणत हो गये, शरीरसे सौन्दर्यका स्रोत झरने लगा। मानो उर्वशी, अलम्बुषा, रम्भा, घृताची, मेनका, प्रम्लोचा, चित्रलेखा, तिलोत्तमा—इन सुरपुरवासिनी अप्सराओंका समस्त सौन्दर्य एकत्र होकर पूतनाके इस शरीरमें आ गया हो, इतना निराला सुन्दर रूप प्रकाशित हुआ! ऐसे मोहन रूपसे सुसज्जित होकर वह पुरके बहिर्द्वारपर आ जाती है। गोपप्रहरीगण चित्रलिखे-से शान्त-स्थिर देखते ही रह जाते हैं और वह नन्दभवनकी ओर चल पड़ती है। वे प्रहरी कल्पना-राज्यमें जाकर सोचने लगते हैं—

किमियं मूर्तेव व्रजपुरदेवता, किमियं त्रैलोक्यलक्ष्मीः, किमियमनम्बुधरा तडिन्मञ्जरी, किमियं निष्कुमुदबान्धवा कौमुदीति। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'क्या यह रमणी दुष्प्रधर्ष व्रजपुर-देवताका ही मूर्त्तरूप है? अथवा स्वयं शोभामयी त्रैलोक्यलक्ष्मी ही हैं? जलधरविहीन गौरवर्णा विद्युल्लताएँ ही घन होकर इस रूपमें आयी हैं क्या? किंवा चन्द्रविरहित सुशीतल चन्द्रिका ही रमणी बनकर आ गयी है?'

नन्दभवनकी ओर जाती हुई पूतनाको गोपाङ्गनाओंने भी देखा—उसकी लहराती हुई सुन्दर वेणीमें मल्लिकापुष्प गुम्फित हैं, बृहत् नितम्बभार एवं वक्षःस्थलके कारण रमणी कृशोदरी है, सुन्दर वस्त्रसे उसके समस्त अङ्ग आच्छादित हैं, हिलते हुए कर्णकुण्डलोंकी आभासे केशराशि दमक रही है, ऐसी दमकती हुई कुन्तलराशिसे उसका मुख अलंकृत है; होठोंपर रम्य मन्द मुसकान है, स्मितसमन्वित वक्र कटाक्षविक्षेपसे व्रजवासियोंका मन हरण-सा करती हुई एक हाथसे कमलपुष्प घुमाती हुई वह मन्थर गतिसे चली जा रही है। गोपियोंने समझा—आश्रय ढूँढ़ती हुई सम्पदधिष्ठात्री श्री स्वयं आयी हैं; व्रजेशतनयको सर्वोत्तम आश्रय (पति—रक्षक) जानकर उन्हें देखने आयी हैं, वरण करने आयी हैं—

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां
बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम्।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषण-
त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम्॥
वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै-
र्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं
गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ६। ५-६)

इस प्रकार सभी विमुग्ध हो गये; किसीने उसे

नहीं रोका। निर्बाध वह वहाँ जा पहुँचती है, जहाँ व्रजरानी शिशुको लाड़ लड़ा रही हैं—

बैठी हुती जसोदा मंदिर, हुलरावति सुत स्याम कन्हाई।
प्रगट भई तहँ आइ पूतना, प्रेरित काल, अवधि नियराई॥

आज दिनमें व्रजरानीने अपने शिशुका पलना-झूलन उत्सव किया था—

कनक रतन मनि पालनौ गढ़्यौ काम-सुतहार।
बिबिध खिलौना भाँति के, गजमुक्ता चहुँ धार॥
जननि उबटि अन्हवाय कैं, अति क्रम सौं लए गोद।
पौढ़ाए पटपालने सिसु निरखि-निरखि मन मोद॥
अति कोमल दिन सात के, अधर-चरन-कर लाल।
सूर स्याम छबि अरुनता निरखि हरष ब्रजबाल॥

तथा अभी भी वे रोहिणी एवं अन्य गोपियोंके साथ बैठी हुई शिशुको उसी पालनेपर लिटाकर मुख चूम-चूमकर गीत गा रही हैं। राक्षसी उनसे कुछ दूरपर खड़ी हो जाती है। किसी अज्ञात प्रेरणासे नन्दरानीकी दृष्टि उस ओर आकर्षित होती है। हठात् एक अतिशय सुन्दरी दिव्य रमणीको देखकर वे चौंक पड़ती हैं, बरबस उठ पड़ती हैं, अभ्यर्थना करने लग जाती हैं—

आवति पीठ बैठनौ दीनौ, कुसल पूँछि अति निकट बुलाई।

पूतनाके मुखपर एक पैशाचिक उल्लास छा जाता है तथा वह मधुमिश्रित स्वरमें अपना परिचय देने लगती है—

मथुरावासिनी गोप्यः साम्प्रतं विप्रकामिनी।
श्रुतं वाचिकवक्त्रेण तत्त्वं मङ्गलसूचकम्॥
बभूव स्थविरे काले नन्दपुत्रो महानिति।
श्रुत्वाऽऽगताहं तं द्रष्टुमाशिषं कर्तुमीप्सिताम्॥

(ब्रह्म० वै० कृष्णजन्मखण्ड अ० १०)

''गोपिकाओ! मैं मथुरावासिनी ब्राह्मण-पत्नी हूँ। अभी संदेशवाहकोंके मुखसे परम मङ्गल-सूचक समाचार सुन पायी कि नन्दरायको इस वृद्ध वयस्में सर्वसुलक्षणसम्पन्न पुत्र हुआ है; बस, यह सुनते ही मैं उसे देखने और अभिलषित आशीर्वाद करने चली आयी।''

व्रजेन्द्रगेहिनी एकटक उसकी ओर देखती रहती हैं। वह कहती ही चली जाती है—'व्रजरानी! सुनो, एक और भी रहस्यकी बात है। मेरे इन सर्वमङ्गलदायी स्तनोंसे निरन्तर अमृत झरता है, जिसके पीनेसे तुम्हारे शिशुका शरीर अमर हो जायगा। अतः मैं तुम्हारे बच्चेकी सर्वसुखदायिनी धाय बनकर यह अमृतमय दूध भी उसे पिला दूँगी—

मम च स्तनौ सर्वश्रेयस्तननौ नित्यममृतं क्षरतः, येन पीतेन सोऽयं निस्संदेहसिद्धदेहः स्यात्। तस्मादहमस्य सर्वसुखविधात्री धात्री च भविष्यामि। (श्रीगोपालचम्पूः)

निशाचरी यशोदानन्दनकी ओर बढ़ने लगी। वे निमीलित-नेत्र होकर पालनेपर पड़े हैं। उनके नेत्र तो उसी क्षण बंद हो चुके थे, जिस क्षण राक्षसीने नन्दालयमें पाँव रखे। नेत्र बंद क्यों हुए? परब्रह्मकी यह योगीन्द्र-मुनीन्द्र-मनोहारिणी लीला देखते हुए अन्तरिक्षमें अवस्थित ऐश्वर्यप्रवण भावुक भक्त भावनाके राज्यमें जाकर इसकी कल्पना करने लगते हैं— सम्भवतः बाल्यलीलाधारी श्रीहरिने शिशुसुलभ भङ्गिमाका अनुकरण करते हुए ही ऐसा किया है; अथवा ऐसी दुष्टाका मुख देखना उन्हें अभिप्रेत न हुआ, इसीसे उनके नेत्रकमल सम्पुटित हो गये। यह भी कारण हो सकता है कि अनन्त अप्राकृत सद्गुण-निकेतन व्रजेन्द्रनन्दन अतिशय लज्जाका अनुभव कर रहे हैं। उन्हें संकोच हो रहा है—'आह! इसके प्राण हरण करने पड़ेंगे।' लीलाशक्ति कह रही हैं—'स्वामिन्! समय आ गया है, इसका कलेवर बदल दो।' सर्वज्ञताशक्ति कह रही हैं—'नाथ! संकोच क्यों? तुम तो इसका बीभत्स आवरण उतारकर, परम सुन्दर अचिन्त्य अप्राकृत चिन्मय मातृदेह इसे दे रहे हो, अनन्त हित कर रहे हो।' पर व्रजेन्द्रनन्दनमें तो धृष्टताका अत्यन्त अभाव है, परम हितके लिये भी प्राणहनन-जैसे कठोर कर्ममें उनकी अभिरुचि क्यों होने लगी। वे सोच रहे हैं— तारा, पर मारकर ही तो! इस ग्लानिसे ही मानो श्यामसुन्दरकी श्याम पुतली पलकोंकी ओटमें जा छिपी। अथवा गोलोकविहारीने निश्चय तो कर लिया— इसे अपनी जननी बनाऊँगा; प्राणघातिनी बनकर आयी

है, पर मैं इसे प्राणधारिणी बना लूँगा; क्योंकि मेरे पास आयी है। पर आह! इसकी देह बदलते समय तो इसे अतिशय पीड़ा होगी ही। मरणकालीन यन्त्रणासे छटपट करती हुई इसकी विकल दशा मैं नेत्रोंसे देखूँ? नहीं, कभी नहीं देखूँगा। मानो इस कोमल भावनाने ही उनके नेत्र बंद कर दिये। यह भी सम्भव है कि पूतनाका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये ही उन्होंने आँखें मूँद ली हैं। यह स्तन्यपान करानेकी इच्छासे आयी है, बीभत्स अङ्गोंको इतने मनोहर कलेवरमें मायासे छिपाकर सामने हुई है। यदि यशोदानन्दनके नेत्र खुले रहते तो मायाविनीकी माया तत्क्षण नष्ट हो जाती; उसका विकराल शरीर नन्दरानीको उसी समय दीख जाता। वे अपने हृदयधनको छातीमें छिपाकर उसी समय मूर्छित हो जातीं। धनुर्धर गोपों एवं राक्षसीमें युद्ध छिड़ जाता। सारी व्यवस्था बदल जाती। स्तन्यपान करानेका मनोरथ अपूर्ण रह जाता। इसीलिये नेत्रोंको उन्होंने आच्छादित कर लिया है। अथवा सर्वथा दूसरा ही कारण है—ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रभु इधरसे—पूतनाकी ओरसे दृष्टि समेटकर अन्तरकी ओर चले गये हैं। सर्वज्ञ स्वामीने अपने उदरमें अवस्थित अनन्त लोकोंकी आकुलता जान ली है। दीनबन्धुने देखा, इस क्षण मेरे उदरमें स्थित सभी प्राणी व्याकुल हैं। प्राणी सोच रहे हैं—'यह राक्षसी स्तन्यपान करानेके बहाने हालाहल कालकूट विष पिलाने आयी है, इस मलिन गूढ़ अभिसंधिको लेकर ही यह सामने खड़ी है; और यदि प्रभुने भी विषपान कर लिया, विषको उदरस्थ कर लिया, तो उस दुस्सह विषके सम्पर्कसे हमलोगोंकी क्या दशा होगी? हमलोगोंका तो सर्वनाश हो जायगा।' इस विचारसे वे अतिशय व्यथित हैं। इसीलिये मानो सर्वेश्वर, सर्वलोकमहेश्वरने उन व्याकुल प्राणियोंको अभय प्रदान करने, अन्तर्देशमें जाकर, 'डरो मत, विषसे निर्भय रहो; मैं पीऊँगा, फिर भी विषकी ज्वाला तुम्हें स्पर्शतक न कर सकेगी' इस प्रकार अभयवाणी सुनानेके लिये ही अपने नेत्र बंद कर लिये हैं—इधरसे दृष्टि हटा ली है—

दातुं स्तन्यमिषाद् विषं किल धृतोद्योगेयमास्ते यतः
पीतं चेत् प्रभुणा पुरो बत गतिः का वास्मदीया भवेत्।
इत्थं व्याकुलितान् निजोदरगतानालोक्य लोकान् प्रभु-
र्वक्तुं भात्यभयप्रदानवचनं चक्रेऽक्षिसम्मीलनम्॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

कुछ भी कारण हो, व्रजेन्द्रनन्दनके अञ्जन-अञ्जित निमीलित नेत्रोंकी शोभा तो देखते ही बनती है—मानो नीलकमल-कोरकोंकी सम्पुटित अग्रिम पंखुड़ीपर दो मधुमत्त भ्रमर विश्राम कर रहे हों।

व्रजरानी, रोहिणी एवं अन्य गोपियोंके देखते-ही-देखते वह राक्षसी यशोदानन्दनको गोदमें उठा लेती है तथा अतिशय वात्सल्यपूर्ण प्रेमपूरित हावभावका प्रदर्शन करके कञ्चुकीको अपसारित करती हुई उनके लाल-लाल होठोंपर दुर्जर विषसंसिक्त स्तनाग्र रख देती है। शिशु यशोदानन्दन चुक्-चुक् शब्द करते हुए दूध पीना आरम्भ करते हैं। पर वे केवल दूध ही नहीं पीते, दूधके साथ-साथ यातुधानीके मलिन प्राणोंको भी पीने लग जाते हैं। दो-ही-चार क्षणोंमें पूतनाके समस्त मर्मस्थानोंमें अतिशय पीड़ा होने लगती है। वह 'छोड़, अरे! छोड़-छोड़' कहती हुई बालकको वक्षःस्थलसे उठाकर अलग दूर फेंक देना चाहती है; पर उसने तो स्तनोंको हाथोंसे अत्यन्त दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है। राक्षसीने अपना सारा बल लगा दिया, तो भी हाथ तो छूटते नहीं! इधर प्राणधमनी प्राणशून्य होती जा रही है। अब तो मर्मान्तक व्यथासे वह हाथ-पैर पटकने लगती है, बार-बार भयंकर चीत्कार करने लगती है; पर यशोदानन्दन तो दूध पीना नहीं ही छोड़ते। इतनी ललकसे पी रहे हैं, मानो दूध नहीं—अमृतकी धारा हो। वास्तवमें ही अब वह विषमय दुग्ध-धारा नहीं रही है, उनके बन्धूकपुष्पकी कलिकासदृश अरुणिम अधरपुटोंका संस्पर्श पाकर अमृत-धारा बन चुकी है। सुरसरि गङ्गाका पावन प्रवाह जैसे सुकृतनाशिनी कर्मनाशाकी जलधाराको खींच लेता है, खींचकर अपनेमें मिलाकर अपना रूप दे देता है, ऐसी मलिन धारा भी पवित्रतम बन जाती है, वैसे ही यह

पूतनास्तननिर्गत विषधारा भी अत्यन्त पूत, पीयूषमयी बन गयी है—

कृष्णेन पूतनास्तन्यपानमित्थं विरोचते।
यथा गङ्गाप्रवाहेण कर्मनाशाजलाहृतिः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

यशोदानन्दनको वक्षःस्थलपर लटकाये पूतना विद्युत्-गतिसे आँगनमें चली आती है। सारे अङ्ग पसीनेसे भींग गये, अब आँखें भी उलट गयी हैं। इसी अवस्थामें, मानो किसीने हाथसे उठाकर उसे ऊँचे आकाशमें फेंक दिया हो, इस तरह वह मायाविनी ऊपर उड़ने लगती है। असह्य वेदनाके कारण ज्ञान खो बैठती है, माया भूल जाती है। बस, वह मोहन सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। उसके स्थानपर अत्यन्त विकराल, विशाल उलूकी-शरीर प्रकट हो जाता है। भयंकर गर्जना करती हुई वह मथुराकी ओर उड़ चली। आह! जिस क्षण नन्दनन्दनको अपने हृदयपर रखकर वह राक्षसी उड़ी, उसी क्षण रोहिणी एवं नन्दगेहिनीके प्राण भी मानो उनके फटे हुए हृदयकमलसे निकलकर उसकी अपेक्षा भी द्रुतगतिसे उड़ चले—

उड्डिड्ये सपदि यदा तु पक्षिणी सा
तं बालं हृदि परिगृह्य लम्बमानम्।
उड्डीना द्रुततरमेव मातृयुग्म-
प्राणाश्च स्फुटितहृदम्बुजादिवासन्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

मर्मान्तक पीड़ासे व्यथित होकर जिस समय पूतना भयंकर चीत्कार करने लगी, उस समय अगणित भूधरोंके साथ पृथ्वी कम्पित हो उठी, ग्रहचक्रके सहित अन्तरिक्ष स्पन्दित हो गया, ससपाताल एवं दिशाएँ निनादित हो उठीं, बहुत-से प्राणी वज्रपातकी आशङ्कासे पृथ्वीपर गिर पड़े। ऐसा यह दिग्दिगन्तव्यापी गर्जन था। अब उड़ते समय भी ऐसी ध्वनि हो रही है, मानो व्रजपुरका आकाश अतिशय प्रबल झंझावातसे आक्रान्त हो गया हो। पूतना क्षणोंमें ही गोपप्रासादोंकी सीमा पार कर जाती है, उपवनको भी लाँघ जाती है। अब आगे कंसराजका छः कोसतक फैला हुआ एक अतिशय सुरम्य उद्यान है, जहाँ आम्र-पनस आदिके अगणित वृक्ष शोभासे गर्वित हुए सिर उठाये खड़े हैं। इससे पूर्व राक्षसी बहुत ऊँचेपर उड़ रही थी; पर जैसे ही इस उद्यानका आकाश आया कि उसका विशाल शरीर भी नीचे उतर आया। नहीं-नहीं, व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्य लीलाशक्तिने उसे नीचे ढकेल दिया। अबतक वे उसे ऊपर उठाये हुए थीं, अब नीचे गिरा देती हैं। अब वह वृक्षोंको छूती हुई उड़ने लगती है। एक तो अतिशय विशालकाया है, दूसरे विशाल पक्षोंको विस्तारित कर फट्-फट् करती हुई वह उड़ रही है। तीसरे प्राणान्तकालीन वेदनासे तड़पती रहनेके कारण उड़नेका वेग अत्यन्त प्रबल हो उठा है। इसीलिये परिणाम यह होता है कि मनोरम उद्यानकी सारी वृक्षावली उसकी पाँखोंके आघातसे समूल उखड़कर टुकड़े-टुकड़े होने लगती है। छः कोसकी सीमा पार करनेमें राक्षसीको कुछ ही क्षण लगे, पर इतनी ही देरमें उसके पक्षसंचालनकी चोटसे कंसोद्यानका एक-एक वृक्ष चूर्ण-विचूर्ण हो गया। छः कोसके विस्तारका वह उद्यान सहसा वृक्षशून्य हो गया।

राक्षसी व्रजकी तो किसी एक लता-वल्लरीका भी एक पत्रतक नष्ट न कर सकी, पर उसीके द्वारा कंसकी विशाल वाटिका उजड़ गयी! ऐसा इसीलिये हुआ कि वाटिका असुर कंसकी थी, वाटिकाके वृक्ष भी असुर-भावापन्न थे। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। वृक्ष, वृक्ष-शाखा, पुष्प, फल आदिके भी दो विभाग होते हैं। एक वृक्ष वे हैं, जिनकी छायामें ऋषि-आश्रमोंकी, संतकुटीरोंकी प्रतिष्ठा होती है, जिनके आलवाल (गड्ढे)-पर बैठकर भावमत्त भक्तमण्डली भगवद्गुणगानका रस लेती है; और दूसरे वे हैं, जिनकी छायामें विषयीकी भोगशालाकी, पापरत धनदुर्मदान्धके विश्रामागारकी रचना होती है, जिनकी वेदीपर बैठकर लम्पटोंकी टोली मदपान करती है। एक वृक्षकी शाखामें भगवान्‌के श्रीविग्रहका हिंडोला डाला जाता है। शाखा सूखनेपर उससे भगवत्-मन्दिरोंके कपाट, पीठ आदिका निर्माण होता है। वह शाखा भगवान्‌के

भोगकी पाकशालामें जलकर भगवद्भोग प्रस्तुत करती है। तथा दूसरी वृक्ष-शाखा वह है, जिसपर वारवनिताएँ झूला झूलती हैं। सूखनेपर वारविलासिनीकी शय्याका निर्माण होता है। वह काष्ठ चाण्डालके घर मांसरन्धनके समय जलता है। एक पुष्प-फल वे हैं, जिनसे भगवत्पूजा सम्पन्न होती है। दूसरे वे हैं, जिनसे विषयीकी इन्द्रिय-तृप्ति होती है। कंसके उद्यानके वृक्ष इस दूसरी कोटिके थे। इनकी छायामें किसी संतने कभी विश्राम नहीं किया, इनके नीचे तो कंसके अनुचर ही सोते थे। वृक्ष-शाखाओंसे कभी भी कोई भी सात्त्विक कार्य सम्पन्न नहीं हुआ, कंसपक्षीय राक्षस ही इनके सूखे काष्ठका उपयोग करते रहे। इस उद्यानका एक फल, एक पुष्प भी कभी भगवत्-सेवामें अर्पित नहीं हुआ। इनके पुष्प तो सदा कंसके गलेकी ही माला बने, कंसपत्नियोंकी वेणीमें पिरोये गये तथा फल उस असुरके तामसी भोजन-थालकी ही शोभा बढ़ाते रहे। अत: उद्यानके वृक्ष सदा पुष्प-फलसमन्वित रहकर भी वस्तुत: अपुष्प, निष्फल ही रहे। इनका अन्त हो जाना ही श्रेयस्कर था; क्योंकि ये असुरसेवी थे। व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने सोचा—इनके कल्याणका इससे सुन्दर अवसर और नहीं आयेगा; क्योंकि इनका विनाश करनेवाली पूतनाके वक्ष:स्थलपर मेरे स्वामी स्वयं नन्दनन्दन विराजित हैं। प्रकारान्तरसे इनका ही स्पर्श ये वृक्ष करेंगे, स्पर्श करके कृतार्थ हो जायँगे। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है; वह यह कि इस राक्षसीके शवसंस्कारके लिये अत्यधिक काष्ठकी आवश्यकता होगी। इतनी शीघ्रतासे इस विशाल शरीरके लिये व्रजवासी पर्याप्त काष्ठ कहाँ पायेंगे? अत: पहलेसे ही काष्ठकी व्यवस्था भी हो जाय—एक पंथ, दो काजकी सिद्धि होगी। इसी संकल्पसे लीलाशक्तिने उसके विशाल शरीरको उद्यानके वृक्षोंपर फेंका तथा पृथ्वीपर 'अब गिरी, तब गिरी' करती हुई राक्षसीने छ: कोसतक फैले हुए वृक्षोंको खण्ड-खण्ड करके धराशायी बना डाला। अस्तु,

पर अब तो उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी है। साथ ही कंसोद्यानकी दूसरी सीमा भी समाप्त हो गयी है। पूतनाका शरीर निष्प्राण होकर गिर पड़ता है। वहाँ गिरता है, जहाँ निर्जन वनके बीच एक निर्वृक्ष समतल भूमिखण्ड है। यह भूमिखण्ड व्रजेन्द्रके अधीन है। प्रतिदिन प्रात:काल व्रजकी समस्त गायें इस स्थानपर एकत्र होती हैं। गोप उन्हें दुहते हैं। इस समयके अतिरिक्त वहाँ कोई भी नहीं रहता, कोई भी कार्य नहीं होता। प्रात:कालके सिवा वहाँ कोई जातातक नहीं, केवल शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुकी लहरियाँ वनकी ओरसे नाचती हुई उस भूमिखण्डमें बार-बार आती हैं तथा वहाँ किसीको न देखकर सिस्-सिस् शब्द करती हुई दूसरे वनमें चली जाती हैं। पूतनाके प्रकाण्ड मृतशरीरको धारण करनेयोग्य यही स्थान है—लीलाशक्तिने ही पहलेसे ही इसकी भी व्यवस्था की है। अन्यथा वह राक्षसी व्रजपुरमें जहाँ कहीं भी पड़ती, वहाँ व्रजपुरवासियोंका अपार अनिष्ट होता ही। इसीलिये वह यहाँ गिरी है। शरीर इतना भयानक, आकृति इतनी बीभत्स है कि देखते ही प्राण सूख जाते हैं; पर यशोदानन्दन तो अभी भी सर्वथा निर्भय रहकर सरल नेत्रोंसे देखते हुए उसके वक्ष:स्थलपर खेल रहे हैं।

राक्षसीका शरीर ज्यों ही आकाशसे पृथ्वीपर गिरता है, गोपाङ्गनाएँ वहाँ पहुँच जाती हैं। मानो वे भी यातुधानीके साथ ही उड़कर आयी हों। सचमुच उड़ी-सी ही आयी हैं। पूतनाको उड़ते देखकर ये गोपियाँ दौड़ीं। वह ऊपर उड़ रही थी, ये नीचे दौड़ रही थीं। इनके नेत्र तो लगे थे राक्षसीके वक्ष:स्थलपर अवलम्बित व्रजेन्द्रनन्दनकी ओर; फिर भी चरण किसी अचिन्त्यशक्तिसे आविष्ट होकर मणिमय मन्दिरोंके स्तम्भ, भित्ति, आच्छादन एवं कलशोंका, उपवनके विभिन्न वृक्ष-शाखा-वल्लरियोंका अतिक्रमण करते जा रहे थे। गोपाङ्गनाएँ ऐसी निर्बाध बढ़ रही थीं जैसे मार्गमें उपर्युक्त मन्दिर-वृक्ष आदिका सर्वथा अस्तित्व ही न हो—यह एक विस्तीर्ण समतल भूमिखण्ड हो। ऐसा होना ही चाहिये; क्योंकि यह नियम है, जिनके

नेत्र व्रजेन्द्रनन्दनकी ओर केन्द्रित हैं, उनके मार्गके समस्त विघ्न—व्यवधान विलीन हो जाते हैं। अस्तु!

गोपाङ्गनाओंने देखा, जिसे वे सम्पदधिदेवी समझ रही थीं, जिसका सौन्दर्य अभी-अभी इन्द्राणी-वरुणानीको लज्जित कर रहा था, उसका वास्तविक रूप यह है—उलूकी-जैसी आकृति है, हलके समान उग्र दाढ़ोंसे युक्त मुख है; नासाविवर ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो गिरिकन्दरा (गुफा); पर्वतकी दो बृहत् चट्टानोंकी तरह स्तन हैं; आँखें क्या हैं जैसे गम्भीर अन्ध-कूप हों; नितम्बदेश किसी नदीके भीषण पुलिन-से दीख रहे हैं; भुजा, ऊरुदेश (जङ्घा), चरण ऐसे लगते हैं मानो नदीमें पुल निर्मित हुए हों; उदर जलशून्य सरोवर-सा दीखता है। पर धन्य भाग नन्दरानीका, नन्दका। उनका यह साँवरा तो इसके चंगुलसे सर्वथा अक्षत—जीवित ही बच निकला!

गोपाङ्गनाओंने यशोदानन्दनको तुरंत उठाकर छातीसे लगा लिया। उन्हें लेकर वे क्षणोंमें ही वहाँ जा पहुँचती हैं, जहाँ नन्दरानी एवं रोहिणी मूर्च्छित पड़ी हैं। इन माताओंकी मूर्च्छा तभी टूटी, जब इन्हें नन्दनन्दनका स्पर्श प्राप्त हुआ। झर-झर बहती हुई अश्रुधारासे पुत्रका अभिषेक करती हुई, सिर, कपोल एवं होठोंका चुम्बन करती हुई प्रेमावेशसे नन्दरानी पुनः मूर्च्छित हो जाती हैं। पर इस बारकी मूर्च्छामें नन्दरानीका प्रत्येक रोम आनन्दसे बार-बार पुलकित हो रहा है।

इतनी देर नन्दनन्दन निशाचरीके वक्षःस्थलपर रहे हैं, मलिनस्पर्शजनित कोई अनिष्ट उन्हें न हो जाय—इस आशङ्कासे उनके रक्षाविधानकी व्यवस्थामें सभी गोपाङ्गनाएँ अविलम्ब जुट पड़ती हैं। कपिला गाय लायी गयी। उपनन्दपत्नी उसकी पूँछ पकड़कर उसे तीन बार यशोदानन्दनके अङ्गोंके चारों ओर घुमाती हैं। फिर गायके अङ्गोंसे उनका स्पर्श कराती हैं। पश्चात् काले सरसोंके दानोंको श्याम कलेवरपर औंछकर अग्निमें डाल देती हैं। एक गोपी दौड़कर सूप उठा लाती है, उसके कोनेसे उनके सिर एवं उदरदेशको बहुत ही धीरेसे छूकर सूपको अलग रख देती है। इतनेमें गोमूत्र लिये हुए स्वयं उपनन्द आ पहुँचते हैं, उससे तुरंत यशोदानन्दनको स्नान कराया जाता है। गोमूत्रसे आर्द्र हुए शरीरमें अत्यन्त चिकनी गोरज लगा दी जाती है; फिर व्रजाङ्गनाएँ क्रमशः उनके ललाट, उदर, वक्षःस्थल, कण्ठ, दक्षिणकुक्षि, दक्षिणबाहु, दक्षिणस्कन्ध, वामकुक्षि, वामबाहु, वामस्कन्ध, पृष्ठदेश एवं कटि—इन बारह अङ्गोंपर—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ एवं दामोदर—इन बारह भगवन्नामोंका उच्चारण करती हुई गोबरका तिलक लगाकर रक्षा करती हैं। तदनन्तर गोपिकाएँ स्वयं आचमन करती हैं तथा पहले अपने शरीरका अज आदि एकादश बीजमन्त्रोंसे अङ्गन्यास-करन्यास करके यशोदानन्दनके अङ्गोंमें बीजन्यास करती हैं। **'अं नमोऽजस्तवाङ्घ्री अव्यात्' 'मं नमो मणिमांस्तव जानुनी अव्यात्'** आदिका मन-ही-मन उच्चारण करती हुई गोपसुन्दरियाँ नन्दनन्दनके उन-उन अङ्गोंका स्पर्श कर रही हैं, रक्षा कर रही हैं। वे यह नहीं जानतीं कि जिन अङ्गोंका रक्षण हो रहा है, उन्हींके एक-एक रोमविवरमें अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड रक्षित हैं। आगे भी वे इस बातको जान नहीं सकेंगी; क्योंकि उनके चिन्मय वात्सल्यरससुधासागरके अतल-तलमें यह ज्ञान अनादिकालसे डूबा हुआ है और अनन्तकालतक डूबा ही रहेगा। जो हो, इन बाह्य अङ्गोंकी रक्षा सम्पादन करके फिर दिक्-रक्षा आदि अन्यान्य शेष रक्षाकृत्योंको विधिवत् पूर्ण करती हुई व्रजसुन्दरियाँ पुत्रको जननी यशोदाकी गोदमें रख देती हैं।

व्रजरानी पुत्रको छातीसे लगाये गद्गद कण्ठसे कहती हैं—'बहनो! व्रजेश्वर सदासे उपराम थे; पुत्र हो, न हो—दोनोंमें उनकी समान वृत्ति थी। मैं उनकी दासी हूँ, सर्वांशमें उनका अनुगमन मेरा धर्म है; इसीलिये मैं भी उपराम हो चुकी थी। हम दोनोंने निश्चय कर लिया था—अपुत्र रहकर ही जीवनयात्रा समाप्त करनी है। पर तुम सबकी अभिलाषाने हमारी
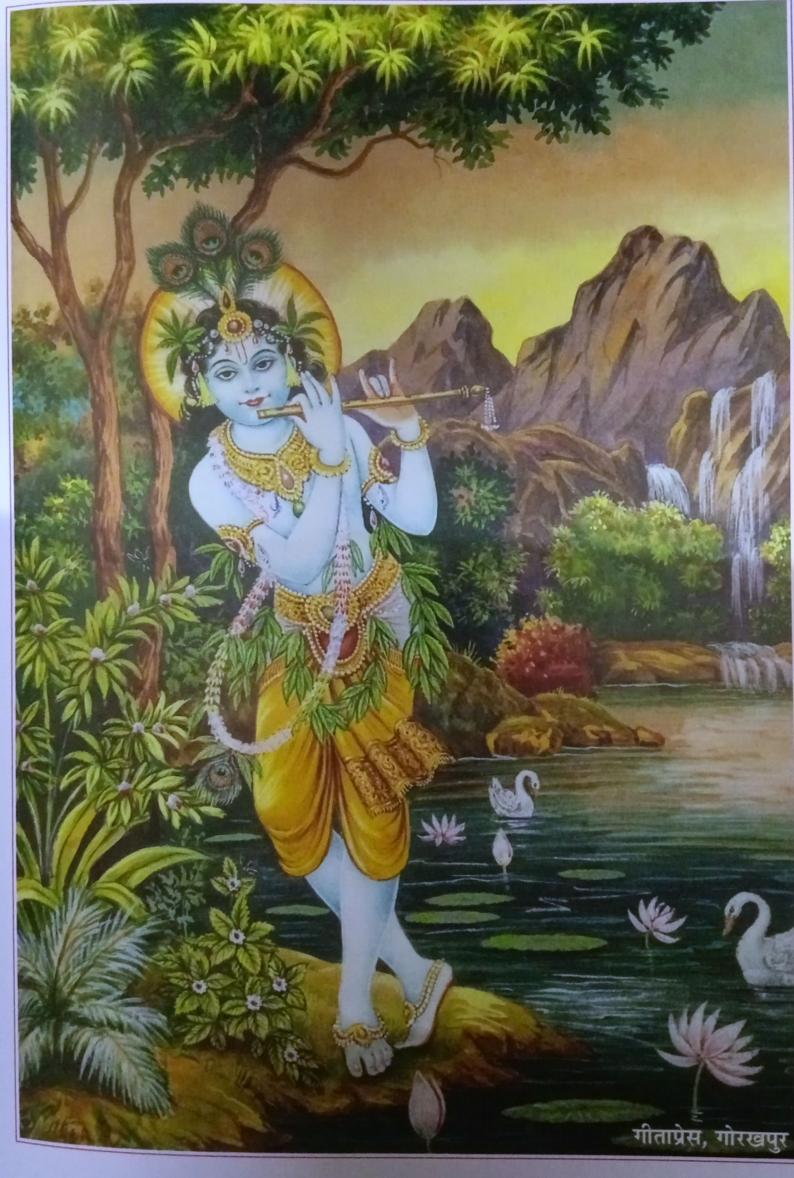
विश्वविमोहन श्रीकृष्ण

काकासुरका पराभव

दुलारा लाल
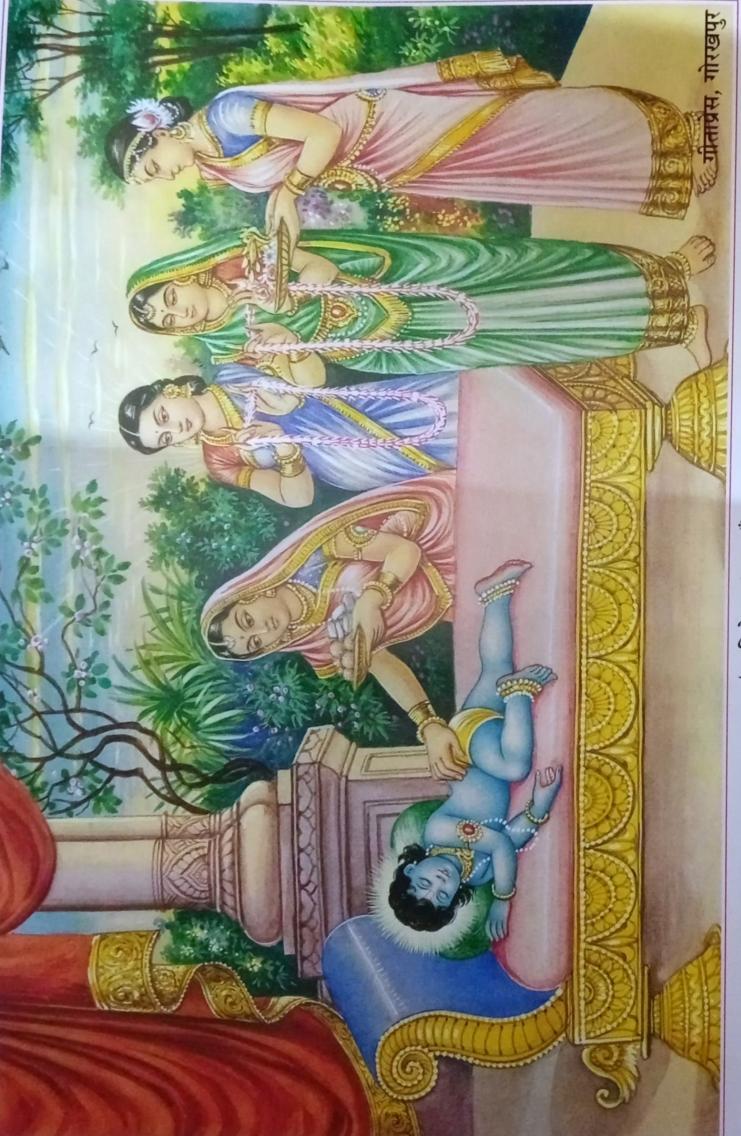
'जागिये, ब्रजराज कुँवर!'
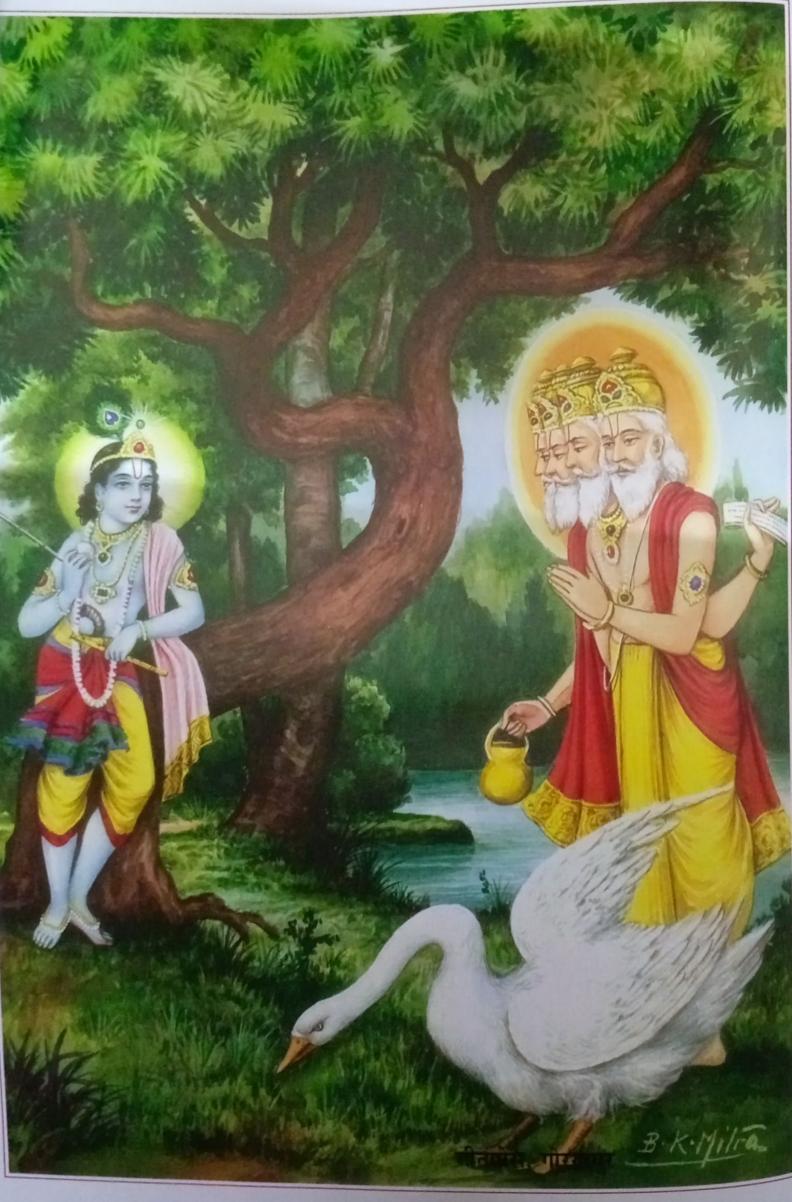
अहो ईड्य! नव घन तन स्याम। तडिदिव पीत बसन अभिराम॥
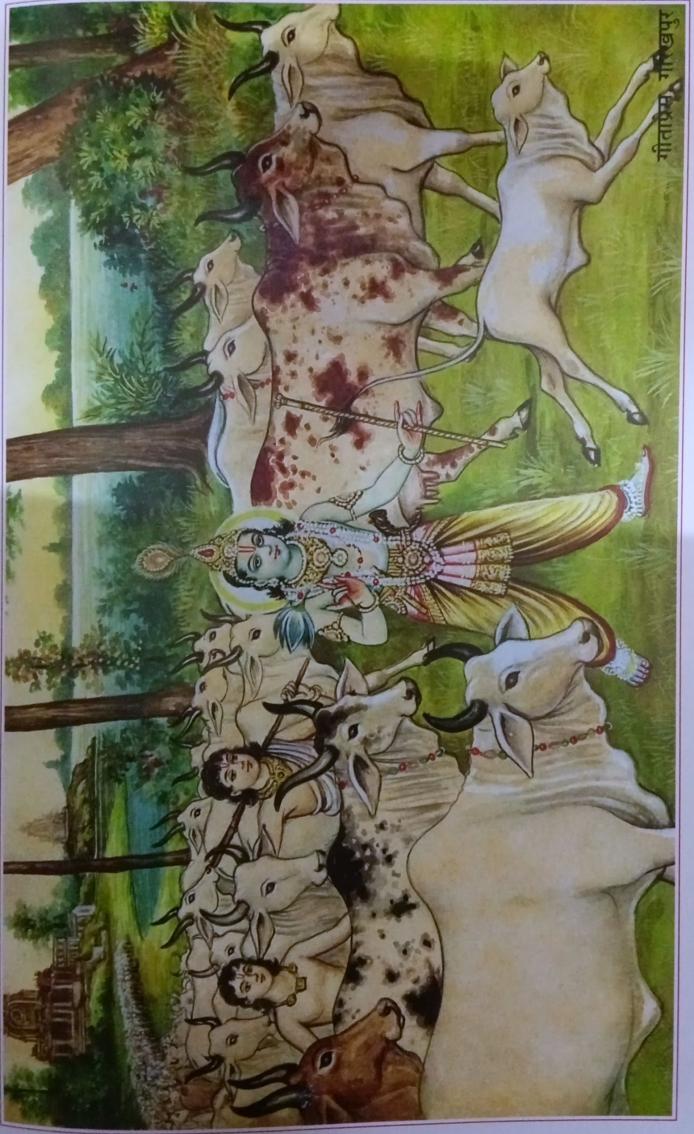
निज गोधन लै भ्रात समेता। सखन संग नृप! कृपा-निकेता॥
बन-बन धेनु चराइ प्रबीने। बृंदाबन भू पावन कीने॥
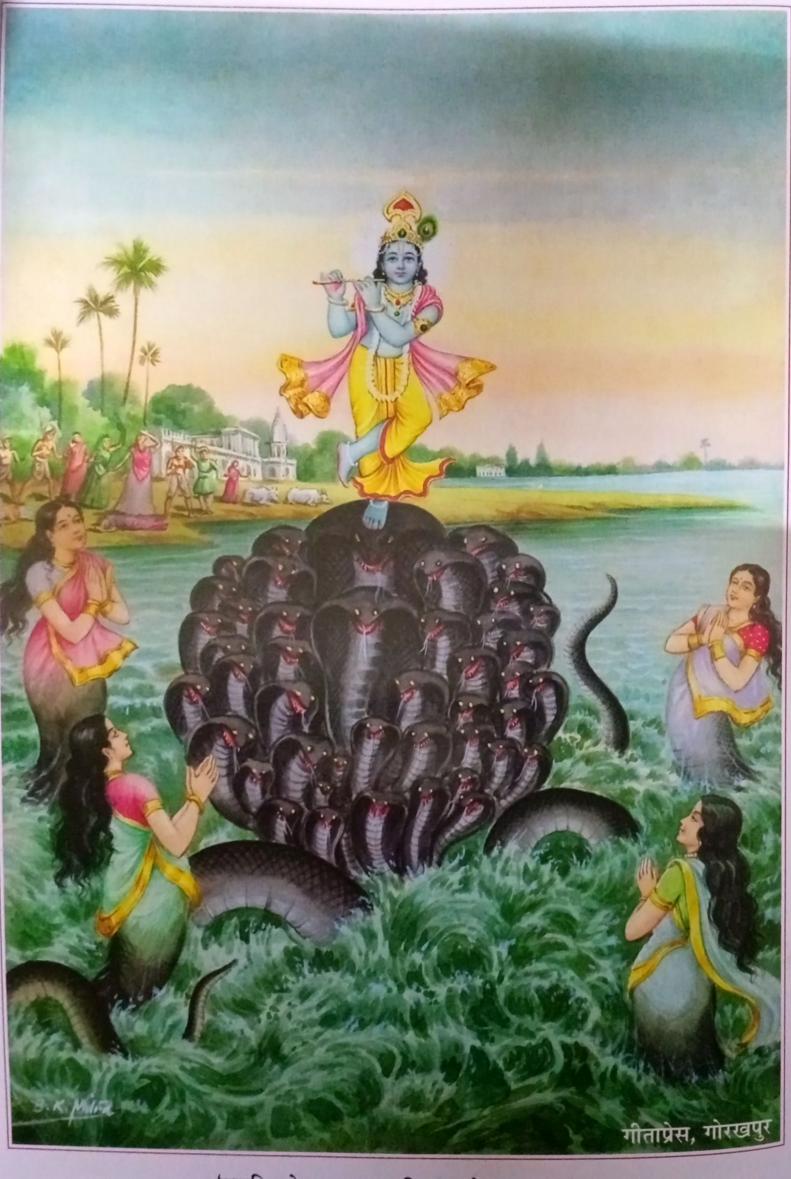
'कालियके फनन उपर निरतत गोपाल लाल'

जीवनधारा पलट दी। तुम सबके प्रबल आग्रहसे ही विविध अनुष्ठान हुए, समस्त व्रजकी उत्कट इच्छा देखकर ही व्रजेश्वरने यज्ञादिके अनुष्ठानका आयोजन स्वीकार किया। इष्टदेव नारायणकी कृपा हुई, व्रजेश्वरको तभीसे इस बालककी झाँकी होने लगी; मुझे भी यह दीखने लगा। इसे देख-देखकर व्रजेश्वर मुग्ध होने लगे, उनकी सारी उपरामता नष्ट होने लग गयी; फिर तो इसे पुत्ररूपमें पानेके लिये वे व्याकुल हो उठे। भक्तकी व्याकुलतासे द्रवित होकर श्रीनारायणने भी इसे भेज ही दिया। पर बहनो! यह सब तुम्हारी अभिलाषाका परिणाम है। तुम सब न होतीं तो मैं इसे कहाँ देख पाती; मैं वास्तवमें इसकी जननी होनेयोग्य हूँ भी नहीं। इसीसे यह मुझे छोड़कर चला गया था। तुमने फिरसे लाकर मेरी गोद भर दी। पर यह तो तुम्हारी वस्तु है, इसे अब मैं तुम सबके चरणोंमें ही अर्पण कर रही हूँ; इसकी रक्षा तुम्हीं कर सकोगी······।' यह कहती हुई व्रजरानी पुत्रको व्रजसुन्दरियोंके चरणोंमें रख देती हैं तब सुबुक-सुबुककर रोने लग जाती हैं!!

व्रजरानीका यह करुणभाव देखकर गोपाङ्गनाओंका भी धैर्य छूट जाता है। वे यशोदानन्दनको अतिशय शीघ्रतासे गोदमें उठाकर अश्रुपूरित कण्ठसे कहने लगती हैं—

अस्माकं यदखिलमस्ति पुण्यजातं
यद्वास्मत्पितृजननीकुलानुयातम्।
तेनासौ बत भवतादहो यशोदे
पुत्रस्ते निरवधिमङ्गलप्रमोदे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजरानी यशोदे! हम सबकी जो समस्त पुण्यराशि है अथवा हमारे पितृकुल-मातृकुलका अनादिकालसे संचित जो समस्त पुण्यपुञ्ज है, उसका, बस, यही फल हो कि तुम्हारा यह पुत्र असीम मङ्गल, असीम आनन्दमें रहे।'

हठात् इसी समय व्रजपुरका आकाश अत्यन्त उज्ज्वल हो उठा—इतना प्रकाश, जैसे सहस्र सूर्योंका एक साथ उदय हुआ हो; साथ ही वह प्रकाश इतना शीतल है कि सहस्र चन्द्रोंकी ज्योत्स्ना भी उसके सामने नगण्य है। व्रजवासी जो जहाँ थे, वहींसे देखने लगे, अनुभव करने लगे—पूतना एक अतिशय दिव्य चिन्मय सूक्ष्मशरीरमें प्रविष्ट हो गयी है, एक रत्नसारनिर्मित विमान आया है, विमान दिव्यातिदिव्य एवं मनोहर भगवत्पार्षदोंसे घिरा है, एक लक्ष श्वेत चामरोंसे तथा जड़े हुए एक लक्ष दर्पणोंसे अत्यन्त सुशोभित है, उसमें अग्निसे दग्ध न होनेवाले सुन्दर सूक्ष्म वस्त्रोंके पर्दे लगे हैं, अनेकों चित्र-विचित्र सुन्दर रत्नकलश हैं, सौ सुन्दर रत्नमय पहियोंका विमान है, रत्नोंकी ज्योतिसे पहिये चमचम कर रहे हैं। पूतना इसी विमानपर दौड़कर चढ़ने चली; भगवत्पार्षद उसे चढ़ाकर गोलोकधामकी ओर चल पड़े। गोपोंके, गोपिकाओंके विस्मयकी सीमा नहीं रहती—

स्थूलदेहं परित्यज्य सूक्ष्मदेहं विवेश सा।
आरुरोह रथं शीघ्रं रत्नसारविनिर्मितम्॥
पार्षदप्रवरैर्दिव्यैर्वेष्टितं सुमनोहरैः।
श्वेतचामरलक्षेण शोभितं लक्षदर्पणैः॥
वह्निशौचेन वस्त्रेण सूक्ष्मेण भूषितं वरम्।
नानाचित्रविचित्रैश्च सद्रत्नकलशैर्युतम्॥
सुन्दरं शतचक्रं च ज्वलितं रत्नतेजसा।
पार्षदास्तां रथे कृत्वा जग्मुर्गोलोकमुत्तमम्।
दृष्ट्वा तमद्भुतं लोका गोपिकाश्चातिविस्मिताः॥

(ब्रह्म० वै० कृष्ण० ख० अ० १०)

पूतनाके अतीत जन्मका नाम रत्नमाला है। वह बलि राजाकी कन्या थी। जिस समय भगवान् वामन राक्षसराज बलिके यज्ञमें पधारे, उस समय वामनके सुन्दर खर्व कलेवरको देखकर रत्नमालाका अन्तर्हृदय वात्सल्यसे भर गया। अभिलाषा हुई—'इस वटुको मैं पुत्रके समान अपने वक्षःस्थलपर धारण करती, यह मेरा स्तनपान करता।' अभिलाषा वामनके हृदयमें प्रतिबिम्बित हो गयी—नहीं, नहीं, सदाके लिये अङ्कित हो गयी। उन्होंने तत्क्षण ही मूक 'एवमस्तु' कह दिया। पर रत्नमाला इसे सुन न सकी, बल्कि कुछ

ही क्षणोंमें अपना यह मनोरथ भी भूल गयी। इतना ही नहीं, वामनने जब बलिका सर्वस्व हरण कर लिया, उस समय रत्नमाला क्रोधसे जल उठी। वटुका प्राण लेनेके लिये व्याकुल हो उठी। पर बलिने निषेध कर दिया। पिताकी आज्ञा टाल नहीं सकती थी, खिन्न होकर चुप रह गयी। इस तरह यह संकल्प भी अपूर्ण ही रह गया। रत्नमाला कालक्रमसे इस बातको भूल गयी, पर वामन कैसे भूलते! वे तो रत्नमालासे वात्सल्यभावका ऋण ले आये हैं, बदलेमें 'एवमस्तु' बन्धक रख आये हैं। वामनके इसी ऋणका परिशोध तो व्रजेन्द्रनन्दनने किया है। इतने दिन बाद जब दैत्यकुलके संस्कार रहनेसे रत्नमाला पूतना बन गयी, तब उसके परिशोधका समुचित अवसर आया तथा व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं पधारे हुए हैं ही, इसलिये उन्होंने ही परिशोध किया है। अस्तु!

उपनन्दने पूतनाके उस राक्षसी शरीरको खण्ड-खण्ड कर देनेकी आज्ञा दी। आज्ञाकी देर थी, नन्दव्रजमें बसी हुई चर्मकार जाति आबालवृद्ध इस काममें लग गयी, उसके अवयवोंको छिन्न-भिन्न करके अनेकों शवस्तूप उन लोगोंने बना दिये। फिर जहाँ पूतनाका शरीर गिरा था, वहाँसे भी दूर अलग अनेकों काष्ठचिताओंका निर्माण किया गया, अवयव-स्तूपोंको ले जाकर उन चिताओंपर रख दिया गया।

धक्-धक् करती हुई सैकड़ों चिताएँ एक साथ जल उठती हैं। पूतनाके जलते हुए शरीरसे निर्गत धूम्रराशि आकाशमें ऊपर उठने लगती है। वह इतनी सुन्दर, सुरभित है, जैसे उसके कण-कणमें निस्संदेह अगुरु-सौरभ भरा हो। पवन इसका विस्तार करता हुआ मथुराकी ओर प्रवाहित होने लगता है, मानो उधरसे आते हुए व्रजेन्द्रसे कहने जा रहा हो— 'व्रजपुर-अधीश्वर! यह वास्तवमें अगुरु-सौरभ नहीं, तुम्हारे पुत्रका अद्भुत यश:सौरभ है; पूतना उसे मारने गयी थी, पर उसे तो उसने माता बना लिया। साथ ही उसके शरीरकी भी सारी मलिनता दूध पीते-पीते ही पी ली और बदलेमें उसमें यह सौरभ भर दिया। पर गोपेश! मुझसे भी एक अपराध बन गया है। मैं लोभ-संवरण नहीं कर सका, सबसे बड़ा दानी बननेके लोभसे तुम्हारी आज्ञा बिना ही तुम्हारे नन्हे-से पुत्रका यश:सौरभ एकत्र कर लाया हूँ। तुम मुझे यह ले जाने दो। इसे मैं अपने दुकूलमें अनन्तकालतक छिपाये रखूँगा। जो तुम्हारे पुत्रको प्यार करेंगे, उनके प्राणोंमें मिलकर गीतके रूपमें इसे जगत्‌में वितरण करूँगा—

ऐसी कौन प्रभु की रीति?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ॥

कंसके भेजे हुए श्रीधर नामक ब्राह्मणका व्रजमें आगमन और व्रजरानीके द्वारा उसका सत्कार

सिरपर कलसी रखकर व्रजरानी यमुनातटकी ओर चल पड़ीं। दासियोंने पैर पकड़ लिये, सभी अनुनय-विनय करने लगीं, पर नन्दमहिषीने किसीकी नहीं सुनी। श्रीरोहिणीने एक हाथ बढ़ाकर कलसी थाम ली एवं दूसरेसे श्रीयशोदाकी ठोड़ी छूकर बड़े प्यारसे कहा—'बहन! तू रहने दे, मैं जल भरकर ला देती हूँ।' किंतु व्रजेन्द्रगेहिनीने आज श्रीरोहिणीकी बात भी टाल दी, उनका निवारण भी न माना। मानतीं कैसे? वे तो सोच रही हैं—'सच्ची सेवा वह है, जो स्वयं की जाय; इस जलसे इन अभ्यागत ब्राह्मणकी सेवा होगी, भूदेव इससे भोजन बनायेंगे; भोजन पाकर जब तृप्त हो जायँगे, तब मैं अपने इस साँवरे शिशुको इनके चरणोंमें रख दूँगी; मेरी सेवासे प्रसन्न होकर ये मेरे लालको अमोघ आशीर्वाद देंगे, मेरा साँवरा चिरजीवी हो जायगा।' अतः सबको समझा-बुझाकर अपने हाथों जल लाने वे चली ही गयीं। सरलहृदया जननी यशोदा किंचिन्मात्र भी अनुसंधान न पा सकीं कि रक्षकके रूपमें यह भक्षक उपस्थित हुआ है; यह जगत्पूज्य ब्राह्मण नहीं, कंसपूज्य नाममात्रका ब्राह्मण श्रीधर है; केवल कलेवरमात्र ब्राह्मणका है, इसके सारे कर्म तो राक्षसके हैं; कंसका भेजा हुआ यह यहाँ आया है और आया है यशोदानन्दनका प्राण-हरण करनेकी पैशाचिक नीच अभिसंधि लेकर!

श्रीयशोदाके पीछे-पीछे द्वारदेशतक रोहिणीजी भी चली आयी थीं। नन्दरानीके महावर लगे हुए सुकोमल चरणोंकी ओर देखती हुई वे चिन्ता कर रही थीं—प्रसव हुए कल तीसवाँ दिन था; नन्दरानी कल द्वितीय बार यमुना-पूजन करने गयी थीं, इस थोड़े-से परिश्रमसे ही लौटते समय वे थक गयी थीं; फिर आज जलसे भरी कलसी कैसे उठाकर लायेंगी? इस विचारसे रोहिणीका करुण हृदय एक बार धड़क उठा। मनमें आया, मैं पीछे-पीछे जा पहुँचूँ। पर ऐसा करनेसे दोनों शिशु घरमें अकेले रह जाते हैं। साथ ही श्रीनारायणदेवकी भोगसामग्री प्रस्तुत करनेकी भी त्वरा है; क्योंकि आज पहलेसे ही श्रीधर ब्राह्मणकी अभ्यर्थनामें लग जानेसे पर्याप्त विलम्ब हो चुका है। इसलिये रोहिणी मैया पुनः आँगनमें लौट आयीं। उन्होंने दृष्टि घुमाकर हिंडोलेपर सोये हुए शिशुकी ओर देखा तथा एक बार सारी व्यवस्था ठीक कर आनेके उद्देश्यसे पाकशालामें चली गयीं।

भाग्यक्रमसे व्रजेन्द्र भी आज गोष्ठमें चले गये थे। मथुरासे लौटकर जब व्रजराजने पूतनाघटित उत्पातकी सारी गाथा सुनी, तबसे उन्होंने गोष्ठकी ओर जाना, अथवा कहीं भी दूर जाना सर्वथा स्थगित कर रखा था। उनका हृदय अत्यन्त सशङ्कित हो गया था। वे प्रायः सोचा करते—भाई वसुदेवकी बात अक्षरशः सत्य निकली, भाईने तो वहीं सावधान किया था—

नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ५। ३१)

'तुम्हें बहुत कालतक यहाँ नहीं ठहरना चाहिये, गोकुलमें उत्पात हो रहे हैं।'

इसीलिये गोकुलसे बाहर जाना तो दूर रहा, व्रजेन्द्र प्रासादसे भी अलग नहीं होते थे। बार-बार अन्तःपुरमें आते एवं शिशुको सकुशल देखकर आनन्दमग्न हो जाते। व्रजेन्द्रकी उपासनाका ध्यान तो उसी क्षण परिवर्तित हो चुका था, जिस क्षण उन्होंने इस शिशुका मुख देखा। पर वाणी इष्टमन्त्रका जप करती रहती थी। किंतु जब मथुरासे लौटे, पूतनाके भीषण चंगुलसे अक्षत रक्षित पुत्रको गोदमें लिया एवं उसका मुख देखा तो उस क्षणसे मानो मन्त्र भी बदल गया। तबसे

इष्टमन्त्रका जप करते-करते व्रजेन्द्र भूलकर यह जपने लग जाते—

यदि नारायणेन त्वं दत्तोऽसि कृपणाय मे।
तेनैव सर्वं निर्वोढा सोढा च मम दुर्नयः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'यदि श्रीनारायणने मेरे-जैसे कृपणके हाथमें तुम्हें दिया है तो वे ही आगे भी सारी व्यवस्था करेंगे, सब कुछ निर्वाह करेंगे, वे अवश्य तुम्हारी रक्षा करेंगे; मेरे अपराधोंको वे सहते आये हैं, आगे भी सहेंगे।'

व्रजराजके सामने शिशुका मुखमण्डल निरन्तर वर्तमान रहता तथा जब भावावेश बढ़ जाता तो वे 'निर्वोढा, निर्वोढा' (निर्वाह करेंगे, निर्वाह करेंगे) कहते हुए पुत्रके पास दौड़ पड़ते एवं हृदयसे लगाकर आत्मविस्मृत हो जाते। पर जब तेईस दिन सकुशल बीत गये, व्रजपुरपर कोई विपत्ति नहीं आयी, व्रजवासियोंके प्रतिदिन होनेवाले उमंगभरे उत्सवोंमें कोई व्याघात नहीं आया, तब व्रजेन्द्रके मनमें पुत्रकी अनिष्ट-आशङ्का कुछ शिथिल पड़ गयी। इसीसे वे आज गोष्ठकी ओर जानेका साहस कर सके, व्रजरानीको सावधान करके गोष्ठकी ओर चले गये थे। उनके पीछे यह राक्षसहृदय ब्राह्मण आया। ब्राह्मण प्रतिदिन ही आते थे। व्रजेन्द्र उनकी इतनी सेवा करते कि ब्राह्मण आशीर्वाद देते-देते गद्गद हो जाते। किंतु वे आज अनुपस्थित थे। अतः जैसे ही श्रीधर आया कि व्रजरानी स्वयं उसकी सेवामें जुट पड़ीं।

अचिन्त्य-लीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे दासियोंने तो यह समझ लिया कि यशोदानन्दनके पास माता रोहिणी चली गयी हैं, एवं पाकशालामें बैठी हुई रोहिणीने यह अनुमान कर लिया कि 'दासियाँ पुत्रके पास आ गयी हैं, ब्राह्मणदेव वहाँ विराजमान हैं ही। फिर चिन्ता किस बातकी?' पर वास्तवमें वहाँ हैं केवल व्रजेन्द्रनन्दन तथा घातमें बैठा हुआ नीचबुद्धि श्रीधर। श्रीधर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा है—बड़ा अच्छा अवसर है, सभी अपने-आप चले गये!

श्रीधरने दृष्टि उठाकर यशोदानन्दनकी ओर देखा। पर वह देखकर भी वस्तुतः न देख सका। वे इस समय एक छोटे-से पालनेपर पड़े हैं। जाते समय जननी यशोदाने पालनेकी डोरी ढीली करके उसे पृथ्वीसे सटा दिया है—इस भयसे कि 'मेरे पीछेसे शिशुको कहीं कोई वेगसे झुलाने न लगे।' निकट ही एक सूप पड़ा है। उसका कोना पालनेसे सटा दिया गया है—इसलिये कि किसीका दृष्टिदोष पुत्रका स्पर्श न कर सके। भला, जिसके भयसे पवन संचारित होता है, सूर्य प्रतिदिन पूर्व क्षितिजपर प्रकाशित होकर, चार पहर ताप देकर पश्चिम क्षितिजमें विलीन हो जाता है; सुरराज जिसके भयसे वर्षाकी धारा दान करते हैं, अगणित तारिकाराशि चमकती रहती है; जिससे भयभीत होकर असंख्य तरु-वल्लरियाँ, वनस्पतियाँ पुष्पित होती हैं, फलभार वहन करती हुई जगत्को मधुर फल वितरण करती हैं; जिसके डरसे सरिताएँ प्रवाहित होती हैं और सागर अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता; जिससे भयभीत अग्नि प्रज्वलित होती है और भूधरोंको वक्षःस्थलपर धारण करनेवाली पृथ्वी जलमें निमग्न नहीं होती; जिसका शासन मानकर आकाश जीवित प्राणियोंको श्वास-प्रश्वासके लिये अवकाश देता है और त्रिदेव सृजन-पालन-संहारमें तत्पर रहते हैं, उस 'काल' के भी स्रष्टा एवं स्वामी व्रजेन्द्रनन्दनको दृष्टिदोषके भयसे बचानेके लिये व्यग्रताके साथ उद्योग किया जाय—यह कितनी अद्भुत, आश्चर्यमयी घटना है! अनन्त विश्व जिनके उदरमें अवस्थित हो, वे व्रजेन्द्रनन्दन क्षुद्र दृष्टिदोषसे रक्षा पानेके लिये सूपके कोनेमें पड़े हों, इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा—

देखौ अदभुत अबिगत की गति, कैसौ रूप धर्‌यौ है हो।
तीन लोक जाके उदर बसत, सो सूप के कोने पर्‌यौ है हो॥

इसीलिये श्रीधर भी व्रजेन्द्रनन्दनको पहचान नहीं पाता। ऐसी अद्भुत विचित्र पहेलीको समझनेकी शक्ति भी श्रीधरकी मलिन बुद्धिमें नहीं है। वह यह समझने आया भी नहीं है। वह तो आया है अपने यजमान क्रूर कंसका कण्टक दूर करने! पर उसकी इच्छा न रहनेपर भी व्रजेन्द्रनन्दनने उसे कुछ समझा देना चाहा।

उनकी वह निर्मल चाह ही श्रीधरके मलिन अन्त:करणमें प्रतिबिम्बित हुई, पर हुई पात्रके अनुरूप ही। वह सोचने लगता है—व्रजेन्द्रगेहिनीके लौट आनेके पूर्व ही इस बालकको समाप्त कर दूँ!

अब व्रजेन्द्रनन्दनके सामने एक नयी समस्या उपस्थित होती है। पूतनाने तो ब्राह्मणीका छद्म ही किया था, पर श्रीधर तो ब्राह्मणकुलोत्पन्न है! ब्राह्मणका वध कैसे किया जाय? ब्राह्मण तो मेरा भी नित्य आराध्य है, यह मैं घोषित कर चुका हूँ।' मानो लीला-शक्ति व्रजेन्द्रनन्दनके समक्ष यह दृश्य रख देती हैं—

वैकुण्ठधामका नै:श्रेयस नामक वन है; कल्पतरुओंकी पंक्तियाँ हैं; वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, शीत, शिशिर—इन छहों ऋतुओंकी समस्त शोभासे वृक्षावली नित्य अलंकृत है; सरोवरोंका निर्मल जल फूली हुई माधवीलतासे परिव्याप्त है, उनपर प्रस्फुटित कुसुमसमूहोंसे मकरन्द झर रहा है, उनके मधुगन्धको अपने दुकूलमें धारण किये मन्द समीर प्रवाहित हो रहा है; गुन-गुन करती हुई भ्रमरावली विचरण कर रही है; किसी भ्रमरका गुञ्जन इतना उच्च—पर इतना मधुर है मानो वह ललित उच्चकण्ठसे हरि-गुण-गान कर रहा हो; उसका गुञ्जन श्रवणकर कुछ क्षणके लिये पारावत, कोकिल, सारस, चक्रवाक, चातक, हंस, शुक, तीतर, मयूरोंका कोलाहल शान्त हो जाता है, मानो ये पक्षी भ्रमरके द्वारा किये हुए हरि-कीर्तनका आनन्द पाकर आत्मविस्मृत हो गये हों; तुलसीकी पंक्तियोंसे वन सर्वत्र सुशोभित है। मन्दार, कुन्द, कुरबक (तिलकवृक्ष), उत्पल (रात्रिमें विकसित होनेवाले कमल), चम्पक, अर्ण, पुंनाग, नाग, बकुल (मौलसिरी), अम्बुज (दिनमें विकसित होनेवाले कमल) एवं पारिजात आदि सभी पुष्प अतिशय सौरभशाली होनेपर भी गर्वरहित होकर तुलसीकी वन्दना कर रहे हैं; क्योंकि ये पुष्प जानते हैं—श्रीहरिको सबसे अधिक प्रिय तुलसीपत्र ही है। तुलसीके समान तपस्विनी और कौन है, जिन्हें श्रीहरि अपने श्रीअङ्गके आभूषणोंमें स्थान दें। नै:श्रेयस वनका आकाश वैदूर्य, मरकत, सुवर्णरचित असंख्य विमानोंसे पूर्ण है, ऐसे शोभासम्पन्न वनकी सप्तमकक्षा (सातवीं ड्योढ़ी)-पर अनलप्रभ नित्यकुमार सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमार ऋषि अवस्थित हैं। उनके निकट हतप्रभ जय-विजय खड़े हैं। उन ब्रह्मकुमारोंसे नारायणरूपमें मैं यह कह रहा हूँ—

यस्यामृतामलयश:श्रवणावगाह:
सद्य: पुनाति जगदा श्वपचाद्विकुण्ठ:।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि व: प्रतिकूलवृत्तिम्॥
यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्य:क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम्।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्या:
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति॥
नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकै:॥
येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरज: किरीटै:।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भ:
सद्य: पुनाति सहचन्द्रललामलोकान्॥
ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतु:॥
ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृद: स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्रा:।
वाण्यानुरागकलयाऽऽत्मजवद् गृणन्त:
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तै: ॥

(श्रीमद्भा० ३। १६। ६—११)

"मुनिगण! मुझे लोग 'विकुण्ठ' कहते हैं, इसलिये कि मेरी निर्मल सुयशसुधामें अवगाहन करके चण्डालपर्यन्त समस्त जगत् तत्क्षण पवित्र हो जाता है। किंतु यह पवित्र कीर्ति मुझे मिली कहाँसे? आप ब्राह्मणोंने ही तो दी है। फिर आपलोग मुझे प्रिय हों,

इसमें आश्चर्य ही क्या है! मैं तो सचमुच ब्राह्मणकुलके प्रतिकूल आचरण करनेवाली यदि मेरी भुजा भी हो तो उसे काटकर फेंक दूँ। मेरी चरणरज इतनी पवित्र बन गयी है कि इसके संसर्गमें आते ही चर-अचर, जड-चेतन—समस्त भूतोंके समस्त पाप सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं। पर यह पवित्रता भी कहाँसे आयी? यह भी तो ब्राह्मण-कुलकी सेवाका ही परिणाम है। और तो क्या, आपकी सेवासे ही मुझे ऐसा सुन्दर स्वभाव प्राप्त हुआ है कि जिन लक्ष्मीके लवमात्र कृपाकटाक्षके लिये देवतागण संयम-नियमका पालन करते रहते हैं, वे लक्ष्मी भी मेरे उदासीन रहनेपर भी मुझे परित्याग नहीं करतीं! एक ओर अनेक यज्ञसम्भार एकत्र कर अग्निमें मेरे निमित्त विधिवत् आहुति दी जा रही हो तथा दूसरी ओर उन ब्राह्मणोंको, जो अपना समस्त कर्मफल मुझमें समर्पण कर संतुष्ट हो चुके हैं, घृतसिक्त पायसान्न, विविध मिष्टान्न आदि भोजन कराया जा रहा हो, वे ब्राह्मण प्रत्येक ग्रासपर तृप्त हो रहे हों—इन दोनोंके मुखसे यद्यपि मैं ही ग्रहण करता हूँ, पर जितनी तृप्ति ब्राह्मणके मुखसे मुझे होती है, उतनी अग्निके मुखसे नहीं। योगमायाके अखण्ड, असीम ऐश्वर्यका तो मैं स्वामी हूँ। मेरे चरणोंसे निस्सृत गङ्गा चन्द्रचूड भगवान् शंकरको, त्रिभुवनको निरन्तर पावन करती हैं। ऐसा परम पवित्र एवं परमेश्वर होनेपर भी मैं ब्राह्मणकी पवित्र चरणरजको मुकुटपर धारण करता हूँ। ऐसे ब्राह्मणकी समस्त चेष्टाओंके आगे कौन अपना सिर नहीं झुका देगा! श्रेष्ठ द्विज, पयस्विनी गौएँ और अनाथ प्राणी—ये तीनों मेरे शरीर हैं। जो प्राणी पापाचारसे विवेकभ्रष्ट होकर इनमें भेद मानते हैं, उनकी बड़ी दुर्गति होती है। वे नरकगामी होते हैं। यमराजके दूत गृध्र बनकर उनके सामने आते हैं, सर्पोंके समान क्रुद्ध होकर उनके अङ्गोंको नोच डालते हैं। ब्रह्मकुमारो! कटुभाषी ब्राह्मणोंमें भी जो मेरी भावना करते हैं, होठोंपर मुसकानका अमृत भरकर विकसित मुखमुद्रासे, प्रसन्न हृदयसे उनका आदर करते हैं, अनुरागपूरित वचनोंसे प्रार्थना करते हुए उन्हें शान्त करते हैं—जैसे रूठे हुए पिताको पुत्र मनाता है एवं जैसे मैं इस समय आपकी मनुहार कर रहा हूँ, वैसे उस ब्राह्मणका जो सम्मान करते हैं, वे प्राणी मुझे अपने अधीन कर लेते हैं।''

शिशुरूपधारी व्रजेन्द्रनन्दनको मानो अपने नारायणरूपसे की गयी इसी घोषणाकी स्मृति हो आयी और वे सोचने लगे—

बाँभन मारें नहीं भलाई। (सूरदास)

किंतु बढ़े हुए व्रण (फोड़े) की शुद्धि भी तो नितान्त आवश्यक है, चाहे वह सिरका व्रण ही क्यों न हो। इसीलिये व्रजेन्द्रनन्दनने निश्चय कर लिया—

अँग याकौ मैं देउँ नसाई। (सूरदास)

यशोदानन्दनकी समस्या सुलझ गयी, पर वह सुलझी श्रीधरको उलझानेके लिये। श्रीधर ज्यों ही लपककर पालनेके पास आया कि अघट-घटना-पटीयसी योगमायाकी लीला आरम्भ हो गयी। वह समझ नहीं सका कि क्या रहस्य है; क्योंकि शिशुका कलेवर ज्यों-का-त्यों रहा, हाथ भी जैसे थे वैसे ही रहे, फिर भी श्रीधरका हाथ शिशुके हाथमें आ गया। दूसरे ही क्षण एक जोरका झटका लगा और श्रीधर पृथ्वीपर गिर पड़ा। अब उसे प्रतीत हुआ कि मानो इस बालकने दोनों चरणतलोंके आरपार धरतीमें घुसेड़ते हुए दो मोटी कीलें जड़ दी हों। कील ठोकनेकी वेदनाका अनुभव नहीं हुआ, पर पैर धरतीसे ऐसे चिपक गये कि टस-से-मस नहीं हो सकते। इसके पश्चात् उसे अनुभव हुआ, शिशुने मेरी जीभ पकड़कर ऐंठ दी है। बस, अब बोलनेकी शक्ति भी सर्वथा लुप्त हो गयी। श्रीधर भयभीत नेत्रोंसे बालककी ओर देखने लगा। उसे दीखा—बालक उठा, निकटस्थ अन्तर्गृहमें जा पहुँचा 'वहाँ बहुत-से दधिपूर्ण भाण्ड सुरक्षित रखे हुए हैं। उनमेंसे कुछ भाण्डोंको इसने फोड़ डाला तथा वहाँसे कुछ दही लाकर उसने उसके (श्रीधरके) मुखपर चुपड़ दिया। ब्राह्मणको अतिशय आश्चर्य है, दहीका एक कण भी बालककी अँगुलियोंमें नहीं लगा। यह सब करके वह पूर्ववत् पालनेपर सो जाता

है एवं सोकर रोने लगता है।' यह देखकर श्रीधर तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

यशोदानन्दनकी क्रन्दनध्वनि पाकशालामें जा पहुँचती है। मैया रोहिणी दौड़ पड़ीं, पर उनके आनेके पूर्व जननी यशोदा भरी कलसी लिये आ पहुँचती हैं। बालकको रोता देखकर गोदमें उठा लेती हैं। उसे हृदयसे लगाये जननी बार-बार फूटे भाण्ड, बिखरे दही एवं दहीसे चुपड़े हुए ब्राह्मणके मुखकी ओर देखती हैं। वे सोचती हैं—ब्राह्मणने यह कुकृत्य क्यों किया? नहीं, नहीं यह ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मणके द्वारा ऐसे कर्म कदापि सम्भव नहीं। यह निश्चय ही कोई राक्षस है। फिर भी संदेह मिटानेके लिये ब्राह्मणसे पूछती हैं, बार-बार सत्य-सत्य बतानेके लिये आग्रह करती हैं; किंतु—

बाँभनके मुख बात न आवै, जीभ होइ तौ कहि समुझावै।

देखते-ही-देखते गोपाङ्गनाओंकी भीड़ नन्दप्राङ्गणमें एकत्र हो जाती है। इतनेमें व्रजेन्द्र भी गोष्ठसे आ पहुँचते हैं। सारी बात जानकर उपनन्दसे परामर्श करते हैं। यह निश्चय होता है—कोई भी हो, इसे घरसे बाहर हटा देनेमें ही मङ्गल है। तदनुसार गूँगे श्रीधरको गोपगण व्रजपुरकी सीमाके बाहर छोड़ आते हैं।

व्रजेन्द्रनन्दनके एकहस्त-परिमित श्याम शरीरमें अभी-अभी कुछ क्षण पहले श्रीधरको शिक्षा देनेके लिये जो ऐश्वर्यका प्रकाश हुआ है, इसकी गन्धतक व्रजवासी न पा सके। व्रजरानी तो पातीं ही कैसे! उनके वात्सल्यपूरित हृदयमें तो ऐसे ऐश्वर्यकी छायातकके प्रविष्ट होनेका अवकाश नहीं है। वे क्षणोंमें ही इस घटनातकको भूल गयीं। भूलकर पुत्रसे लाड़ लड़ानेमें संलग्न हो गयीं। कभी स्तनपान कराती हैं तो कभी घन-घन मुख-चुम्बनका दान देकर शिशुरूपधारी गोलोक-विहारीके वात्सल्य-रसास्वादकी चिरवर्धनशील लालसामें नूतन रंग घोल देती हैं। कभी कुञ्चित-घनकृष्ण-केशमण्डित मुखको निहारती रह जाती हैं, तो कभी पुत्रके समस्त अङ्गोंसे निस्सृत अद्भुत अनुपम सौरभका आघ्राण पाकर आत्मविस्मृत हो जाती हैं। प्रत्येक दो घड़ीपर शय्याके आच्छादन-वस्त्रको, शिशुके अङ्गावरक वस्त्रको बदल देती हैं। इस क्रियामें लीलाविहारी किंचित् रोने लग जाते हैं। पर यह क्रन्दन भी इतना मधुर होता है, मानो किसी अभिनव वीणाकी मधुरातिमधुर स्वरझंकृति हो; यशोदाके कर्णपुटोंमें अमृत-निर्झर झरने लग जाता है। देखते-देखते आजका दिन समाप्त हो जाता है, संध्या आ जाती है। प्रतिदिनकी तरह आज भी व्रजरानी स्तन-पानसे तृप्त हुए पुत्रको पालनेमें लिटाकर मन्द-मन्द झुलाती हुई लोरी देने लग जाती हैं—

जसोदा हरि पालनें झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोई कछु गावै॥
मेरे लालको आउ निंदरिया, काहें न आनि सुवावै।
तू काहें न बेगि-सी आवै, तोकौं कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कें, रहि करि-करि सैन बतावै॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरें गावै।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुर्लभ, सो नँदभामिनि पावै॥

काकासुरका पराभव, औत्थानिक (करवट बदलनेका) उत्सव, जन्म-नक्षत्रका उत्सव, शकटासुर-उद्धार

अन्तरिक्षमें वायुकी-सी भीषण सन्-सन् ध्वनि हुई। कंससहित सभी राक्षस-सामन्त शङ्कित होकर ऊपरकी ओर देखने लगे। पर भयका कोई कारण न था। सबने तुरंत जान लिया कि यह तो उन्हींका मित्र वातदेहधारी उत्कच दैत्य है, जो काकासुरकी बात सुनकर उपेक्षाकी हँसी हँस रहा है।

आजकी घटना है—कंसप्रेरित काकासुर गोपकुलाधिपति नन्दके नवजात शिशुका प्राणहरण करने गोकुल गया था। इस जघन्य अभिसंधिको लिये हुए वह कागरूपमें उड़ता हुआ नन्दप्राङ्गणमें जा पहुँचा। शिशुको उसने देखा और शिशुने इस काले कौवेको! दूसरे ही क्षण मानो वह पक्षी लोहपिण्ड हो और शिशुकी बँधी हुई बायीं मुट्ठीमें चमकती हुई नखराशि हो अयस्कान्तमणि-शलाका (चुंबककी नली)—इस प्रकार अविलम्ब उसके तीक्ष्ण चंगुल बालककी मुट्ठीमें जा गिरे तथा व्रजेन्द्रनन्दनने भी देखते-ही-देखते एक विचित्र खेल खेल दिया—

कंठ चाँपि बहु बार फिरायौ, गहि पटक्यौ, नृप पास पर्‍यौ।

संज्ञाशून्य काकासुर कंसके सभामण्डपमें ठीक कंसके सामने जा गिरा। एक पहरतक अथक उपचार होनेपर कहीं उसमें बोलनेकी शक्ति आयी। उसने कहा—

सुनहु, कंस! तब आइ सर्‍यौ।
धरि अवतार महाबल कोऊ एकहिं कर मेरौ गर्ब हर्‍यौ॥
सूरदास-प्रभु कंस-निकंदन भक्त हेत अवतार धर्‍यौ॥

काकासुरके इन शब्दोंको सुनकर ही बलमदान्ध उत्कच हँस रहा था, काकासुरको अत्यन्त भीरु और निर्बल मानकर कंसपर अपनी शक्तिका प्रदर्शन कर रहा था। यह उत्कच हिरण्याक्ष दैत्यका पुत्र है। चाक्षुष-मन्वन्तरसे भी पूर्वकी बात है—एक दिन उत्कच मुनिवर लोमशके आश्रममें जा पहुँचा। तपोवनकी शोभा इस असुरके लिये असह्य हो उठी। अपने प्रकाण्ड स्थूल शरीरके घर्षणसे उसने आश्रमकी अगणित वृक्ष-पंक्तियोंको चूर्ण-विचूर्ण कर डाला। मूक वृक्षोंपर यह अत्याचार कोमलहृदय मुनि कबतक देखते रहते। अन्तर्यामीकी प्रेरणासे वे बोल उठे—

विदेहो भव दुर्मते। (गर्गसंहिता गोलोकखण्ड)

'नीच! तू इस देहसे रहित हो जा।'

वाक्य समाप्त होते-न-होते उत्कचकी वह स्थूल काया सर्पकञ्चुकीकी भाँति झड़कर गिर पड़ी। समस्त बल विलुप्त हो गया। अब उसने मुनिवरकी महिमा जानी। फिर तो चरणप्रान्तमें पड़कर वह कृपाकी याचना करने लगा, अनुनय-विनय करते हुए पुनः देह-दानकी प्रार्थना करने लगा। त्रिगुणोंसे पार पहुँचे हुए ऋषिके प्रसन्न होनेमें देर ही क्या थी। वे तो पहले भी प्रसन्न ही थे। शापदानलीलाके अन्तरालमें तो छिपी थी मुनिकी अद्भुत अनुकम्पा, दैत्यके उद्धारकी सुन्दर योजना। मुनिने कहा—जाओ, चाक्षुष-मन्वन्तरमें तुम्हें वायुका शरीर प्राप्त होगा तथा वैवस्वत-मन्वन्तरमें भगवच्चरणारविन्दका स्पर्श पाकर तुम त्रिगुणपाशसे सदाके लिये मुक्त हो जाओगे। कालके प्रवाहमें बहते हुए उत्कचको आज इस घटनाकी स्मृति सर्वथा नहीं रही है, किंतु अनन्त महिमामयी भगवान्की लीलाशक्तिको सब कुछ स्मरण है। इन्हीं लीलाशक्तिके नियन्त्रणमें अनादिकालसे सब कुछ नियमित रूपसे यथायोग्य यथासमय होता आया है एवं अनन्तकालतक होता रहेगा। इन्हींके नियन्त्रणमें कंस एवं उत्कचकी मित्रता हुई थी और इन्हींके द्वारा आज अब अवतीर्ण हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनसे मिलानेका उपक्रम भी हो रहा है, अस्तु।

उत्कचको हँसते देखकर कंसके आतङ्कभरे म्लान मुखपर आशाकी एक किरण चमक उठी। समस्त सभासदोंको लक्ष्य करते हुए वह बोला—

ब्रज भीतर उपज्यौ मेरौ रिपु, मैं जानी यह बात।
दिनहीं दिन वह बढ़त जात है, मोकौं करिहै घात॥

दनुज-सुता पूतना पठाई, छिनकहिं माँझ सँहारी।
घींचि मरोरि, दियौ कागासुर मेरें ढिग फटकारी॥

× × ×

ऐसौ कौन, मारिहै ताकौं, मोहि कहै सो आइ।
वाकौं मारि अपुनपौ राखै, सूर ब्रजहिं सो जाइ॥

प्रज्वलित अग्निमें मानो घृताहुति पड़ गयी। कंसके वचनसे उत्कचका गर्व प्रदीप्त हो उठा। अन्य राक्षस-सेनापतियोंके मुखसे हुंकारकी बयार बह चली। अत: गर्वकी लपट बिखेरते हुए उत्कच अपने स्थानसे उठा एवं कंसके सामने हाथ जोड़कर बोला—

दोउ कर जोरि भयौ उठि ठाढ़ौ, प्रभु-आयसु मैं पाऊँ।
ह्याँ तैं जाइ तुरतहीं मारौं, कहौ तौ जीवत ल्याऊँ॥

कंसके हर्षकी सीमा नहीं रही। वह आसनसे उठ खड़ा हुआ तथा उत्कचकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए व्रजेन्द्रनन्दनके प्राणहरणका बीड़ा देकर उसे विदा किया। दैत्य भी उसी क्षण व्रजपुरकी ओर चल पड़ा। किंतु अभी व्रजेन्द्रनन्दनके योगीद्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ चरणारविन्दके स्पर्शका सुयोग आनेमें सात पहरका विलम्ब था। अत: चलकर भी असुर पथभ्रान्त हो गया; व्रजपुरका, व्रजेन्द्रगृहका संकेत न पा सका। इससे पूर्व इसी व्रजपुरकी सीमापर बारंबार उड़कर आनेवाली पूतना सात दिन भटक चुकी है। उत्कचको तो केवल सात पहर ही भटकना है। जो हो, पथ भूला हुआ उत्कच व्रजपुरका अनुसंधान पानेके उद्देश्यसे व्रजकी परिक्रमा कर रहा है एवं व्रजेन्द्रनन्दनकी लीलाशक्ति तदनुरूप रंगमञ्चके निर्माणमें लगी है।

शरद्-हेमन्तकी संधिका प्रभात हुआ है। मानो निशा-सुन्दरी व्रजेन्द्रनन्दनका दर्शन करने आयी थीं, चार पहर दर्शनामृतका पान करती रहीं; और भी करतीं, पर अब तो सूर्यदेव यशोदानन्दनको देखने आ रहे थे। इसीसे वे लज्जावश अन्तरिक्षमें जा छिपीं; किंतु अदर्शनके दु:खसे खिन्न होकर जाते समय छाती पीटती जा रही थीं, इससे उनके गलेका मुक्ताहार टूट पड़ा और मुक्ताके दाने सर्वत्र बिखर गये—इस तरह मोती-जैसे ओसकण सर्वत्र पड़े चमक रहे हैं। क्रमशः सूर्योदय होता है। व्रजके वनप्रान्तरकी ओटसे छन-छनकर आती हुई किरणोंके आलोकसे नन्दभवन उद्भासित होने लगता है। विकसित कुरण्टक एवं कुरबक पुष्पोंका पराग लेकर मन्द समीर प्रवाहित हो रहा है। इस समय उल्लासमें भरे व्रजेन्द्र तोरणद्वारपर खड़े हैं, ब्राह्मणोंको निमन्त्रण भेज रहे हैं। आज नन्दनन्दनका जन्मनक्षत्र है। नाक्षत्र मासकी गणनासे नन्दनन्दन इस समय तीन मासके हो चुके हैं।

व्रजेन्द्रगेहिनी जन्मनक्षत्र-उत्सवकी व्यवस्थामें लगी हैं। ब्राह्मण आयेंगे, पुत्रका अभिषेक होगा, विराट् ब्राह्मण-भोजन होगा, फिर गोप-बन्धु-बान्धवोंकी गोष्ठी होगी, उनका सत्कार होगा—इसकी सामग्री एकत्र करनेमें रोहिणीजीसहित वे स्वयं जुटी हुई हैं। पर यह करते हुए भी नन्दरानीका मन तो अपने पुत्रके पास है। इसीलिये एक वस्तुका निरीक्षण समाप्त होते ही दौड़कर वे पुत्रके पास पहुँच जाती हैं, पुत्रको देखकर भंडारमें चली जाती हैं, फिर कुछ देर बाद लौट आती हैं तथा अपने हृदयधनको सुप्रसन्न निहारकर पुन: रोहिणीजीकी सहायता करने चल पड़ती हैं। यशोदानन्दनकी रक्षापर इस समय धात्रियाँ हैं, जो उनकी शय्याको चारों ओरसे घेरकर बैठी हैं।

शय्यापर उत्तानशायी होकर नन्दनन्दन किलक रहे हैं; धात्रीगण गीत गा-गाकर, झुनझुने बजा-बजाकर उन्हें किलका रही हैं। हठात् किलकते हुए नन्दनन्दनने अपने-आप दाहिनी ओर करवट ले ली। फिर तो कहना ही क्या है, अपने-आप सुकुमार नन्दकुमारको करवटके बल सोये देखकर धात्रियोंके हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ पड़ा। एक ही साथ धात्रियाँ हर्षकी तुमुल ध्वनिसे प्राङ्गणको निनादित करके नाच उठीं। कुछ व्रजरानीके पास दौड़ीं, उन्हें यह परम शुभ संवाद सुनाया। सुनते ही नन्दरानीका रोम-रोम भी नाच उठा। वे दौड़ी आयीं। पुत्रको उठाकर हृदयसे लगा लिया। उसका मुख-चुम्बन करके सुख-समुद्रमें डूब गयीं, भावकी तरंगोंमें बह चलीं। इतनेमें यह शुभ समाचार सुनकर नन्दराय भी

वहीं आ पहुँचे। उन्हें देखते ही अन्तर्हृदयमें वर्तमान पुत्रमङ्गलकी चिरवर्द्धनशील लालसा मानो व्रजरानीके होठोंपर आ गयी। व्रजरानीने इस औत्थानिक (करवट बदलनेके) उत्सवपर महान् आयोजन करनेका मनोरथ प्रकट किया। व्रजेन्द्र भला असम्मत क्योंकर होते? बस, व्रजरानीने तुरंत व्रजपुरकी समस्त गोपाङ्गनाओंको निमन्त्रित करनेका आदेश दे डाला। जन्मनक्षत्रका उत्सव महामहोत्सवके रूपमें परिणत हो गया।

शयनं पार्श्वेनोपपीडं शयानममुं सुकुमार-कुमारापीडमकस्माद्विलोक्य तद्वृत्ते धात्रीभिर्मात्रे निवेदितमात्रे सातिमात्रानन्दकन्दलिता निजनन्दन-मङ्गलातिशयस्पृहिणी श्रीमन्नन्दक्षितीशगृहिणी भर्तुराज्ञां सुज्ञातां सम्भूय भूयः सर्वाः समाहूय तमेव महोत्सवं महामहोत्सवं चकार।

(श्रीगोपालचम्पूः)

नन्दद्वारपर शङ्खध्वनि होने लगी। भेरी, वेणु, वीणा, मृदङ्ग बज उठे। मङ्गल-गान करती हुई व्रजाङ्गनाएँ नन्दप्रासादमें एकत्र होने लगीं। धान्य, दूर्वा, हरिद्रा, चन्दन आदि माङ्गलिक द्रव्य हाथमें लिये गोपोंका दल उमड़ पड़ा। वेदज्ञ ब्राह्मण भी आ पहुँचे। व्रजेन्द्रने उन ब्राह्मणोंका चरणप्रक्षालन किया। फिर काञ्चनपात्रोंमें प्रचुर अन्नराशि, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, बहुमूल्य रत्नाभूषण, मणिमालाएँ एवं प्रत्येक ब्राह्मणकी रुचिके अनुरूप अगणित गोदान अर्पण करते हुए उनकी पूजा की। व्रजेन्द्रकी पूजासे संतुष्ट ब्राह्मण कलशस्थापन आदि करते हुए यथाविधि देवपूजन-हवनमें प्रवृत्त हुए।

इधर गीत गाती हुई पुरमहिलाओंसे वेष्टित व्रजरानी अपने पुत्रको स्नान करा रही हैं। पुत्रके नील कलेवरको पहले हल्दी-तेलसे उबटती हैं, फिर किंचित् उष्ण वारिसे सर्वाङ्ग-स्नान कराती हैं। अपने सुकोमल आँचलसे ही अङ्ग सम्मार्जन करती हैं। पश्चात् गोदमें लेकर शिशुके प्रशस्त भालपर गोरोचनसे तिलक लगाती हैं। तदनन्तर अपनी अनामिकाका अच्छी तरह जलसे प्रक्षालन करके, पोंछकर उसीसे काजल उठाकर अभी-अभी विकसित हुए नीलोत्पल-जैसे नेत्रोंको आँज देती हैं। आँजते समय यशोदानन्दन रोने लगते हैं, जननी उत्फुल्ल नेत्रोंसे एक बार निहारकर मुखमें स्तनाग्र दे देती हैं। उस समय नन्दनन्दनके दलित-नीलकान्त-मणिविनिन्दित अङ्गोंकी शोभा देख-देखकर गोपाङ्गनाएँ सुखातिरेकसे आत्मविस्मृत-सी होने लगती हैं।

ब्राह्मण आते हैं। हाथोंमें कुशपुञ्ज लेकर, उसे शान्तिकुम्भ-जलसे आर्द्र बना-बनाकर मन्त्रोच्चारण करते हुए यशोदानन्दनके अङ्गोंका जलविन्दुसे प्रोक्षण करते हैं। प्रोक्षणके समय ही नन्दनन्दनके नेत्रोंमें निद्राका संचार होने लगता है, उनके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। वे दोनों हाथोंसे जननीका स्तन धारण किये हुए दुग्ध—वात्सल्य-प्रेमपीयूष पान करने लगते हैं। पर कुछ ही क्षणोंमें हाथ शिथिल एवं अङ्ग अवश हो जाते हैं। माताकी गोदमें रहते हुए ही नन्दकुमारको निद्रादेवी अपनी गोदमें ले लेती हैं। मानो निद्रासुन्दरीने विचार किया—श्रीनाथके इस औत्थानिक मङ्गल-समारोहमें सभी गोपसुन्दरियाँ आयी हैं, सुख लूट रही हैं; फिर उस सुखका उपयोग मैं भी क्यों न कर लूँ? यह सोचकर वे धीरे-धीरे आयीं और नन्दकुमारके नेत्रोंका स्पर्शसुख लेती हुई उन्होंने उनको अपनी गोदमें उठा लिया—

श्रीनायकौत्थानिकमङ्गलेऽस्मिन् प्राप्ताः समग्रा अपि गोपवध्वः।
ग्राह्यं सुखं तन्न कथं मयेति निद्रा शनैरीशदृशं किमागात्॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

प्राङ्गणके एक भागमें एक अत्यन्त बृहदाकार शकट है। उसके नीचे शकटस्तम्भोंसे सम्बद्ध एक अतिशय सुन्दर दोलिकामञ्च (पलना) टँगा है। उसके पाये प्रवालनिर्मित हैं, पट्टियाँ मरकतमणि-रचित हैं, उसमें अरुण क्षौम (लाल रेशम)-की डोरी एवं फीते हैं, तूलपुष्ट आस्तरण (रूईभरी तोषक) है, चारों ओर तूलनिर्मित उपधान (तकिया) लगे हैं। इसी पलनेपर जननी यशोदा पुत्रको धीरेसे जाकर सुला देती हैं। जननी जब इस ओर आ रही थीं, तब उनके पीछे-पीछे अतिशय कौतूहलवश कौमार-वयके कतिपय

गोप-शिशु चले आये थे। वे सब पालनेको घेरकर खड़े हो जाते हैं। मैया आदेश करती हैं—'पुत्रो! तुम सब बैठ जाओ, धीरे-धीरे इसे झुलाना; पर जब मेरा यह नीलमणि जाग जाय तो मुझे बुला लाना, भला।' माताका यह आदेश कुमार शिशुओंको परम अभिलषित था। वे तो आये ही थे इसलिये कि किसी प्रकार इस साँवरेके पास बैठनेका उन्हें अवसर मिल जाय। वे सब-के-सब तोतली बोलीमें बोल-बोलकर माताको आश्वासन देते हैं—हाँ-हाँ, हमलोग ऐसा ही करेंगे।' उनकी बात सुनकर जननी हँसती हुई चल पड़ती हैं, पर उसी स्थानपर जाकर बैठती हैं, जहाँसे वे निरन्तर पलनेको देखती रह सकें।

अचिन्त्यलीलामहाशक्ति-नटीने पट-परिवर्तन किया। व्रजेन्द्रनन्दनकी आजकी लीलाका द्वितीय दृश्य आरम्भ हुआ। एक ही साथ चार कार्य हुए। व्रजेशमहिषीके मनपर तो समागत अतिथियोंकी सेवा-शुश्रूषा—स्वागत-सत्कारका रंग चढ़ने लगा। कुमार बालक यशोदानन्दनकी ओर दृष्टि रखनेपर भी बाल-सुलभ चापल्यवश शकटके नीचेसे बाहर निकल आये। यशोदानन्दनकी निद्रा भङ्ग हो गयी और पथभ्रान्त उत्कच दैत्य पथ पा गया। उसने देखा—सर्वथा सामने आनन्द-कोलाहलसे मुखरित नन्दप्रासाद ऊँचे आकाशमें सिर उठाये अवस्थित है। व्रजेन्द्रनन्दनके व्रजमें आनेके दिनसे अब तीन मास हो गये हैं; निरन्तर इन तीन मासोंमें नित्य नये-नये उत्सव, गोप-गोपियोंकी हर्षध्वनि एवं व्रजेश-पुत्रके दर्शनार्थी समागत समस्त पुरवासियोंके उत्कण्ठा-परमाणुओंसे अनुप्राणित प्रासादका अणु-अणु आनन्दकी किरणें बिखेर रहा है। फिर आज तो नन्दपुत्रके औत्थानिक एवं जन्मनक्षत्र-उत्सवका समारोह है। इस समय प्रासादकी शोभा, प्रासादके आनन्दका तो कहना ही क्या है।

वायुरूपसे ही उत्कच वहाँ जा पहुँचता है, जहाँ व्रजेन्द्रनन्दन शकटके नीचे एक अभिनव बालभङ्गिमाका प्रकाश करते हुए अपनी लीला-माधुरीका अपने-आप रस ले रहे हैं। उनकी निद्रा, आलस्य हट गया है। एकान्त एकाकी दोलिकापर्यङ्कपर विराजित हैं। पहले कुछ देर हस्त एवं चरणोंका मृदु-मृदु संचालन करते रहे, पर्यङ्ककी अरुणाभ पट्टडोरिकाकी ओर देख-देखकर किलकते रहे। फिर किलकते-किलकते अपनी मृदु सुकोमल अँगुलियोंसे चरणका अँगूठा पकड़ लेते हैं तथा धीरे-धीरे उसे अपने मुखमें रखकर चूसने लगते हैं। वे यहाँ इस समय सचमुच अकेले ही हैं। दूरपर यद्यपि कुमार शिशु खड़े रहकर उनकी ओर देख रहे हैं, फिर भी वास्तवमें इस अद्भुत बाल्यभावका रस वे स्वयं ही ग्रहण कर रहे हैं—

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनें अकेले, हरषि-हरषि अपनें रँग खेलत॥

मानो सर्वज्ञशिरोमणि पूर्णकाम महामहिम स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनमें अपने अङ्गुष्ठक्षरित रसकी महिमाका तत्त्व जाननेकी तीव्र इच्छा, उस रसके पानका अदम्य लोभ जाग्रत् हो उठा है और वे इसे पी-पीकर प्रसन्न हो रहे हैं—

जे चरनारबिंद श्री भूषन उर तैं नैंकु न टारति।
देखौं धौं का रस चरननि मैं, मुख मेलत करि आरति॥
जा चरनारबिंद के रस कौं सुर-मुनि करत विषाद।
सो रस है मोहू कौं दुरलभ, तातैं लेत सवाद॥

इसी समय सर्वथा सबसे अलक्षित वायुकी लहरके समान उत्कच नन्दप्राङ्गणमें जा पहुँचता है; शकटके नीचे किलकते हुए, अङ्गुष्ठ-रसपानमें संलग्न नन्दपुत्रको देखने लग जाता है। वह सोचता है—

स पूतनापोथकोऽयं पोतो विशङ्कटशकटाधस्तादास्ते साक्षान्मृत्युं विधातुं तु न कोऽपि जन्तुरमुष्य शक्यतीति लक्ष्यते। छद्मरूपसद्मतया च पूतना संस्थिता। तस्मादमूर्त एव सन्नत्र पूर्तये भवानीति। (श्रीगोपालचम्पूः)

'पूतनाका प्राण-हरण करनेवाला बालक यही है। इस महान् शकटके नीचे अवस्थित है। इसके नेत्रोंके सामने जाकर इसके प्राण ले ले, ऐसा तो किसी भी प्राणीके लिये सम्भव नहीं दीखता तथा छद्मरूप धारण करनेके कारण पूतना मर चुकी है, अतः छद्म भी मेरे लिये निरापद नहीं है। इसलिये इसी अव्यक्त

रूपमें ही रहकर मैं अपने उद्देश्यकी सिद्धि करूँ।'

इस विचारसे उत्कच किसी अन्य आसुरी मायाका विस्तार न करके चुपचाप अलक्षित रूपसे उस शकटमें ही आविष्ट हो गया। उसने निश्चय किया—'अपने विशाल शरीरभारसे धीरे-धीरे शकटको दबा दूँगा, भारसे दबकर शकट-चक्र (पहिये) पृथ्वीमें धँस जायँगे, शकटका पृष्ठ देश (गाड़ीके नीचेका हिस्सा) इस बालकको पीसता हुआ धरातलसे जा लगेगा।' उत्कचको यह पता नहीं है कि इसी बालकके एक क्षुद्र संकल्पसे अनन्त ब्रह्माण्ड एक क्षणमें पिस जाते हैं; ऐसे बालकको पीस डालनेकी कल्पना कितनी हास्यास्पद है?

इधर व्रजेन्द्रनन्दनको एकाकी किलकते, खेलते हुए बहुत समय हो चुका है। अब वे क्षुधार्त्त हो गये हैं, स्तनपानकी उन्हें अतिशय त्वरा है। पर जननी तो निकट हैं नहीं तथा रक्षापर नियुक्त कुमार बालकोंको भी यह विस्मृत हो चुका है कि नन्दनन्दनके जागते ही जननी यशोदाको बुला लाना था। वे तो दूर खड़े-खड़े नन्दनन्दनका किलकना देख रहे हैं, उन सबको बड़ा रस मिल रहा है, वे अपनी सारी चञ्चलता भूलकर निर्निमेष नयनोंसे नन्दनन्दनकी ओर देखते हुए मन्त्रमुग्ध-से खड़े हैं। और तो क्या, यशोदानन्दन क्षुधासे पीड़ित होकर, जननीको अनुपस्थित पाकर अब जब क्रन्दन प्रारम्भ करते हैं, तब भी उन कुमार बालकोंको समुचित कर्तव्यका ज्ञान नहीं हो पाता। बल्कि वे इस क्रन्दनकी मधुरिमासे और भी विमुग्ध हो जाते हैं। स्तनार्थी यशोदानन्दन रो रहे हैं, कुमार बालक इसे स्पष्ट सुन-जान भी रहे हैं; फिर भी एक अद्भुत परमानन्दकी अनुभूतिसे उनके अङ्ग अवश हो गये हैं। वे चुपचाप निष्पन्द देखते ही रह जाते हैं। अस्तु,

उत्कचने अब शीघ्रता की; क्योंकि शिशुका क्रन्दन सुनकर जननी एवं नन्दादि गोप कहीं आ न जायँ। वह तुरंत शकटपर अपना महान् भार डालना प्रारम्भ करता है। 'चरमर-चरमर' शब्द करता हुआ शकट कम्पित होने लगता है। किसीको इसके रहस्यका ज्ञान नहीं, पर व्रजेन्द्रनन्दन सब कुछ जानते हैं। अवश्य ही यह भी सत्य है कि जानकर भी वे इस समय अनजान बने हैं। वात्सल्यरस-आस्वादनकी उत्कट लालसासे अत्यन्त अभिभूत हो रहे हैं, पर उनकी चिरसङ्गिनी अघट-घटना-पटीयसी योगमाया नित्य ही सेवाकी बाट जोहती रहती है। अब अवसर उपस्थित हुआ है, व्रजेन्द्रनन्दनके वात्सल्यरस-आस्वादनमें व्याघात न हो, उनकी शिशूचित बाल्यमाधुरी अक्षुण्ण बनी रहे, किसी भी व्रजवासीकी किंचित् भी क्षति न हो और उत्कचका उद्धार हो जाय—ये चार सेवाएँ हैं। अतः उत्कचके शकटमें आविष्ट होते ही योगमाया भी इन सब सेवाओंका भार अपने ऊपर लेकर नन्दनन्दनके वाम मृदुलचरणमें व्यक्त हो जाती हैं। शकटके 'चरमर-चरमर' शब्दको सुनकर वे तो हँस रही हैं। पर वात्सल्यरसपानलोलुप व्रजेन्द्रनन्दन जननी यशोदाके स्तनपानके लिये रो रहे हैं!

क्षुधासे आतुर हुए यशोदानन्दन अब क्रन्दन करते हुए पैर पटकने लगते हैं। पर इस करुणाक्रन्दनका किसी ओरसे भी कोई उत्तर नहीं मिलता। जननी इसे सुनतक नहीं पातीं। आगत गोप-गोपाङ्गनाओंके स्वागतमें उनका मन इतना संलग्न हो गया है—नहीं-नहीं, किसी अचिन्त्य प्रेरणासे संलग्न कर दिया गया है कि वे पुत्रके करुणाक्रन्दनको सुन सकती ही नहीं। इसीलिये मानो स्वयं योगमाया ही व्रजेन्द्रनन्दनकी यह परम आर्ति देखकर, नन्दनन्दनकी व्याकुलता सहनेमें असमर्थ होकर, माताको सूचना देनेके उद्देश्यसे तथा इसी बहाने उत्कच दैत्यका उद्धार करनेके लिये नन्दनन्दनके चरणका शकटसे स्पर्श करा देती हैं। हठात् नन्दनन्दन चरण-संचालन करते हुए उसे ऊपरकी ओर उठा देते हैं और वह शकटसे छू जाता है। उनके वे मृदुलचरण बढ़ नहीं गये, उनका परिमाण ज्यों-का-त्यों रहा, कोई भी आश्चर्यजनक अद्भुत परिवर्तन नहीं हुआ; फिर भी शिशुओंने स्पष्ट देखा—नन्दनन्दनने चरण उछाला है और चरण शकटसे जा लगा है।

जैसे पूतना आकाशमें उछल पड़ी थी, वैसे ही नन्दनन्दनके नवपल्लव-सुकोमल शिशूचित नन्हे-से चरणके लगते ही शकट अकस्मात् आकाशमें उछला और अत्यन्त घोर शब्द करता हुआ उलटकर यशोदानन्दनसे कुछ ही दूर हटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। शकटपर दधि, दुग्ध, नवनीत आदिसे पूर्ण अनेकों बड़े-बड़े कांस्यपात्र रखे थे। वे सभी चूर्ण-विचूर्ण हो गये। और तो क्या, शकटके पहिये निकलकर दूर जा गिरे, धुरी अलग होकर पड़ गयी और जूआ टूटकर खण्ड-खण्ड हो गया—

अधःशयानस्य शिशोरनोऽल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। ७)

व्रजेन्द्र एवं उपनन्द दौड़ पड़े। उनके पीछे उत्सवमें आयी हुई गोपमण्डली 'अरे यह क्या हुआ। यह घोर शब्द कैसा? अँय! यह तो शकट उलट गया! आह, अकस्मात् यह कैसे? हाय-हाय, नन्दनन्दन उसके नीचे था, नारायण! नारायण! त्राहि, त्राहि, प्रभो! दयासिन्धो! करुणामय! जगत्पते! रक्षा करो, रक्षा करो।' इस प्रकार आर्तनाद करती हुई दौड़ पड़ी। गोपाङ्गनाएँ भी पुनः पूतना-जैसी राक्षसीकी आशङ्कासे 'दौड़ो-दौड़ो, यशोदानन्दनको उठा लो, राक्षसी उड़ने न पाये।' ऐसा चीत्कार करती हुई, जननी जहाँ पुत्रको सुला गयी थीं, उस ओर दौड़ने लगीं। सबसे प्रथम व्रजेन्द्र जा पहुँचे। लपककर, पैर पटक-पटककर रोते हुए पुत्रको उठा लिया। वे अतिशय व्याकुलताभरी दृष्टिसे उसके सारे अङ्गोंको देखने लगे—कहीं चोट तो नहीं आयी है? किंतु कहीं कोई भी क्षतिचिह्न नहीं मिला। व्रजेन्द्र गद्गद कण्ठसे '**नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते**' कहते हुए पुत्रको हृदयसे लगा लेते हैं। साथ ही व्रजेश्वरीकी गोदमें पुत्रको दे देनेके लिये चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं। पर व्रजेश्वरी तो वहाँ हैं ही नहीं, वे तो दो पग चलकर ही भग्नहृदय-सी होकर गिर पड़ी थीं। व्रजेश्वरको कुछ दूरपर खड़ी अत्यन्त उद्विग्ना रोहिणीजी दिखायी पड़ती हैं, श्रीरोहिणीके नेत्रोंसे अश्रुका निर्झर झर रहा है!

व्रजेन्द्रका मनोभाव श्रीरोहिणीजीपर प्रकट हो जाता है। वे दौड़कर व्रजरानीके पास जाती हैं। उनके मूर्छितप्राय शरीरको गोदमें लेकर बारंबार उनके कानमें कहती हैं—'बहिन! नीलमणि कुशलसे है, सर्वथा कुशल है; यह देखो, नीलमणिको गोदमें लिये व्रजेन्द्र आ रहे हैं।' अन्य व्रजाङ्गनाएँ भी तुमुल हर्षध्वनि करती हुई व्रजरानीको आश्वासन देती हैं। इन वाक्योंसे नन्दरानीमें चेतनाका संचार हो जाता है। वे नेत्र खोलकर देखती हैं। इसी समय व्रजेन्द्र पुत्रको गोदमें लिये आ पहुँचते हैं। जननी पुत्रको देख लेती हैं। फिर भी उनका हृदय दुःखसे इतना टूट-सा गया है कि शरीरमें उठनेतककी शक्ति नहीं रही है। हाँ, पुत्रको देखते ही नेत्रोंसे अश्रुका प्रवाह बह चलता है तथा फूट-फूटकर रोती हुई व्रजरानी कहने लगती हैं—

बालो मे नवनीततश्च मृदुलस्त्रैमासिकोऽस्यान्तिके
हा कष्टं शकटस्य भूमिपतनाद्भङ्गोऽयमाकस्मिकः।
तच्छ्रुत्वापि न मे गतं यदसुभिस्तेनास्मि वज्राधिका
धिङ् मे वत्सलतामहो सुविदितं मातेति नामैव मे॥
यन्निष्पातजवैर्मही विचलिता यस्यारवैः सर्वतः
सर्वेऽमी बधिरीकृता निपतिते तस्मिन् समीपे शिशुः।
लब्ध्वा भूरिभयं यदेष तदितः स्मृत्वापि जीवत्यहो!
मद्दुर्दैवफलं महद् व्रजपतेर्भाग्यैः कियद् वार्यताम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'हाय-रे-हाय! मेरा यह नीलमणि नवनीतसे भी अधिक सुकोमल है, केवल तीन महीनेका है और इसके निकट शकट हठात् भूमिपर गिरकर टूट गया। यह बात सुनकर भी मेरे प्राण न निकले, मैं उन्हीं प्राणोंको लेकर अभीतक जीवित हूँ; इससे तो यही प्रमाणित होता है कि मैं वज्रसे भी अधिक कठोर हूँ, मैं कहलानेमात्रको माता हूँ; मेरे ऐसे मातृत्वको, मातृवत्सलताको धिक्कार है। ओह! शकट-पतनका वह कितना घोर शब्द था। यहाँ जितने थे, सबके कान बहरे हो गये। पतनके वेगसे पृथ्वी काँप उठी तथा वह सर्वथा मेरे नीलमणिके समीप गिरा! आह! उसे

कितना अधिक भय लगा होगा। वह देखो, स्पष्ट उसका मुख कह रहा है, अभी भी शकट-पतनको याद करके वह डर रहा है, पर फिर भी जीवित है, यह कितना आश्चर्य है! निश्चय ही मेरे शिशुपर बार-बार जो ऐसी विपत्ति आ रही है, वह मेरे दुर्भाग्यका ही महान् फल सामने आ रहा है; इसकी जो कुछ भी रक्षा हो रही है, वह तो व्रजेशके भाग्यसे हो रही है।'

व्रजरानीका यह दैन्यभाव समस्त उपस्थित गोप-गोपियोंके नेत्रोंमें भी अश्रुसंचार कर देता है। व्रजेन्द्र तो पहलेसे ही रो रहे थे। रोते हुए ही वे पुत्रको नन्दरानीकी गोदमें रख देते हैं। नन्दरानी अपने नीलमणिको हृदयसे लगा लेती हैं। मानो यशोदानन्दनकी क्षुधा अपने तात नन्दरायका अनन्त-वात्सल्य-पूरित कर-स्पर्श पाकर कुछ शान्त हो गयी; इसीलिये नन्दनन्दनको पिताने जिस क्षण पलनेसे उठाया, उसी समय उनका क्रन्दन शिथिल पड़ गया था। अब जननीके हृदयसे लगनेपर तो वे चुप हो जाते हैं। फिर भी रह-रहकर रो उठते हैं, रो-रोकर अपने मृदु करपल्लवोंको नचा-नचाकर स्तनदान करनेका संकेत करते हैं। किंतु जननीको भय है—'निश्चय ही पुत्रमें किसी ग्रह, राक्षसका आवेश हुआ है; इसीसे वह रो उठता है। इतना कभी नहीं रोता था। शकटमें कोई आवेश तो था ही, अन्यथा अपने-आप उछलकर उलटा होकर वह कैसे गिर जाता?' इसीलिये जननी तुरंत स्तनदान नहीं करतीं। अभी दो घड़ी पूर्व जो ब्राह्मण जन्म-नक्षत्रका अभिषेक कर चुके हैं, जो दैवयोगसे अभी भी नन्दभवनमें ही हैं, उन्हें ही व्रजरानी बुलाती हैं। वे अतिशय शीघ्रतासे रक्षोघ्न मन्त्रोंका पाठ करते हुए स्वस्त्ययन करते हैं, रक्षाबन्धन करते हैं। इस तरह ग्रहशान्ति हो जानेपर जननी यशोदा पुत्रको स्तन्यपान कराने लगती हैं। पुत्रको प्रसन्नतापूर्वक स्तन्यपान करते देखकर जननीका रोम-रोम पुनः आनन्दसे पुलकित हो उठता है।

व्रजेन्द्र शकटकी ओर चले जाते हैं। इस प्रकार शकट अपने-आप उलटकर कैसे जा गिरा, इसपर उपनन्द आदि सभी प्रमुख गोपोंसे मिलकर विचार करते हैं, किंतु कोई भी युक्तिसंगत कारण ढूँढ़ नहीं पाते। वे कुमार शिशु अभी भी शकटके पास ही इधर-उधर घूम रहे थे। उपनन्द आदि इन्हें पहले भी शकटके पास खड़े देख चुके हैं। उन्होंने उन बालकोंसे पूछा। उत्तरमें सभी शिशुकुमारोंने नन्दनन्दनकी ओर अँगुलीसे संकेत कर दिया। एक किञ्चित् वयस्क अतिशय चञ्चल बालक सामने आया। उत्साह एवं त्वरावश उसकी वाणी अस्फुट हो गयी, फिर भी दाहिने हाथसे अपने वक्षःस्थलको बार-बार स्पर्श करता हुआ अतिशय उच्च कण्ठसे वह बोल उठा—

म म मम पापार्श्वतः श्रूयताम्।
य य य यदा च च चरणमुमुत्थापितवानयम्॥
त त त तदा ते तेन स्पृष्टमात्रो
डि डि डि डि डीन इवोद्वृत्तः सोऽयं श श शकटः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मुझसे सुन लो—जब नन्दनन्दनने चरण उठाया, तब शकटसे चरण छू गया। उससे छूते ही शकट उड़ा हुआ-सा होकर उलट गया।'*

इसके बोलनेपर फिर तो सभी बालक बोल उठे—

रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः।

(श्रीमद्भा० १०। ७। ९)

'इस रोते हुए बालकने पैरसे गाड़ी उलट दी है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।'

* बालककी वाणी रुक रही है। जब वह 'मम' (मेरे) कहना चाहता है तो 'म म मम' उच्चारण हो जाता है। जब 'पार्श्वतः' (पास) कहने जाता है तो 'पापार्श्वतः' बोल जाता है। 'यदा' जब बोलता है, तब 'य य य यदा' कह देता है। इसी प्रकार 'चरणमुत्थापितवान्' (चरण उठाया) का 'च च चरणमुमुत्थापितवान्', 'तदा' (तब) का 'त त त तदा', 'तेन' (उससे) का 'ते तेन', 'डीनः' (उड़ा हुआ)-का 'डि डि डि डि डीनः, एवं 'शकटः' (गाड़ी) का 'श श शकटः' उच्चारण हो रहा है।

किंतु बालकोंकी इन बातोंपर व्रजवासी सर्वथा विश्वास न कर सके। वे सोचते हैं—'यह तो सर्वथा असम्भव है। इन मृदुल शिशु-चरणोंकी चोटसे गाड़ी उलट जाय, यह भी विश्वास करनेयोग्य बात है?'

उपनन्दकी आज्ञासे शकटमें चक्र-युगंधर (पहिये-हरसा) आदि पुनः लगा दिये गये। उसे सब तरहसे ठीक करके अत्यन्त बलिष्ठ गोपोंने खींचकर पुनः पूर्ववत् स्थापित कर दिया। अन्य सामग्रियाँ भी उसपर रख दी गयीं। इससे निवृत्त होकर व्रजेन्द्रने अतिशय उल्लासपूर्वक पुनः वेदमन्त्रोंसे परिशुद्ध, पवित्र ओषधियोंसे युक्त जलसे ब्राह्मणोंद्वारा अपने पुत्रका अभिषेक कराया। पुनः शान्ति, स्वस्त्ययन-पाठ हुए, हवन हुए। पुनः सर्वगुणशालिनी, अतिशय पयस्विनी, क्षौमवस्त्र-हेममाला-पुष्पमालाओंसे विभूषित अगणित गायें व्रजेशने ब्राह्मणोंको दानमें दीं। व्रजेशकी सेवासे संतुष्ट हुए ब्राह्मण नन्दनन्दनपर आशीर्वादकी वर्षा करते हैं। आशीर्वाद सुन-सुनकर व्रजेशका हृदय हर्षसे नाच उठता है; क्योंकि उनके मनमें यह दृढ़ विश्वास है, वेदार्थतत्त्वज्ञ नारायण-चरणारविन्दानुरागी ब्राह्मणोंके मुखसे निस्सृत आशीर्वाद कभी निष्फल हो ही नहीं सकते, यह परम सत्य है—

विप्रा मंत्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाऽऽशिषः।
ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। १७)

विशुद्धप्रेम-परिभावित-चित्त गोपोंने, गोपाङ्गनाओंने यद्यपि शकटके पतनका, उत्कच दैत्यके इतिवृत्तका कोई अनुसंधान नहीं पाया, फिर भी अन्तरिक्षमें अवस्थित देवगण जय-जयकारकी ध्वनि करने लगे। बाललीलाधारी गोलोकविहारीका एक अद्भुत कृत्य देखकर वे नाच उठे; क्योंकि शकट गिरते ही उन्होंने तो स्पष्ट देख लिया—

चूर्णं गतेऽथ शकटे पतिते च दैत्ये त्यक्त्वा प्रभञ्जनतनुं विमलो बभूव।
नत्वा हरिं शतहयेन रथेन युक्तो गोलोकधाम निजलोकमलं जगाम॥

(गर्गसंहिता, गोलोकखण्ड)

'शकट गिर पड़ा। उसकी चोटसे उत्कच चूर्ण-विचूर्ण हो गया। वायु-देह छोड़कर सर्वथा निर्मल हो गया। दिव्य देहसे बालक्रीड़ासक्त गोलोकविहारी श्रीहरिको उसने प्रणाम किया। प्रणाम करके दिव्यातिदिव्य परमदिव्य चिदानन्दमय शत-अश्व-संयुक्त विमानपर आरूढ़ होकर व्रजेन्द्रके निजलोक गोलोकको चला गया।'

शकटासुर (उत्कच)-को ऐसी परम गति देकर भी व्रजेन्द्रनन्दन तो उस समय भी बाल्यलीलामाधुरीका रस लेते हुए पैर पटक-पटककर रो रहे थे। नन्दनन्दनको ऐसे ऐश्वर्यविहीन परम पावन लीलारसका वितरण करते देखकर देवगण विमुग्ध हो गये।

उस दिन फिर व्रजेश्वरीने अपने नीलमणिको क्षणभरके लिये भी गोदसे नहीं उतारा। गोदमें लिये हुए ही वे उत्सवका संचालन करती रहीं। केवल संध्या-समय आधी घड़ीके लिये रोहिणीजीकी गोदमें नीलमणिको लिटाकर व्रजेशकी संध्याकालीन पूजाकी, नारायणसेवाकी व्यवस्था करने गयीं और समाधान करके शीघ्र लौट आयीं। जब व्रजेन्द्रके नारायण-मन्दिरमें घण्टा-शङ्ख-ध्वनि होकर आरती समाप्त हो जाती है तब व्रजरानी पुत्रको लिये शयनागारमें चली जाती हैं, पुत्रको सुलाने लगती हैं—

जसुदा मदनगुपाल सोवावै।
देखि सयन-गति त्रिभुवन कंपै, ईस-बिरंचि भ्रमावै॥
असित-अरुन-सित आलस लोचन उभय पलक परि आवै।
जनु रबिगत संकुचित कमल जुग, निसि अलि उड़न न पावै॥
स्वास उदर उससित यौं, मानौ दुग्धसिंधु छबि पावै।
नाभि-सरोज प्रगट पदमासन उतरि नाल पछितावै॥
कर सिर तर करि स्याम मनोहर अलक अधिक सो भावै।
सूरदास मानौ पन्नगपति प्रभु ऊपर फन छावै॥

श्रीकृष्णका बलरामजी तथा गोपबालकोंके साथ मिलन-महोत्सव, श्रीगर्गाचार्यके द्वारा दोनों कुमारोंका नामकरण-संस्कार

नन्दप्रासादके अन्तर्गत ही श्रीरोहिणीका आवासगृह है, किंतु उस गृहकी रचना इतनी कौशलपूर्ण है कि किसी आगन्तुकके लिये हठात् उसके अन्तर्देशमें होनेवाली घटनाका संकेत पा लेना असम्भव नहीं तो अत्यन्त ही कठिन है। इसीलिये यद्यपि यशोदानन्दनके आविर्भावके पूर्व ही रोहिणीतनयका जन्म हो चुका है, फिर भी अन्तरङ्ग गोप-गोपाङ्गनाओंके अतिरिक्त अन्य सब व्रजवासियोंने उन्हें देखातक नहीं है। और तो क्या, जिस दिन रोहिणीतनय भूमिष्ठ हुए, उस दिन तो केवल नन्द-उपनन्द आदि गोप, यशोदा-उपनन्दपत्नी आदि गोपाङ्गनाएँ—निकटतम व्रजेन्द्रपरिवार तथा नालछेदन करनेवाली धात्री एवं जातकर्म-संस्कार करनेवाले ब्राह्मण ही जान पाये थे, देख पाये थे कि वसुदेवपत्नी रोहिणीजीने एक अतिशय सुन्दर शिशु प्रसव किया। उस समय उस शिशुकी शोभा देखते ही बनती थी—

शुभ्रांशुवक्त्रं तडिदालिलोचनं नवाब्दकेशं शरदभ्रविग्रहम्।
भानुप्रभावं तमसूत रोहिणी तत्तच्च युक्तं स हि दिव्यबालकः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

समुदित चन्द्रके समान तो उसका मुख है, विद्युत्-रेखा-जैसी शोभा नेत्रोंकी है, उसके सिरपर नव-जलधर-कृष्ण केश हैं, समस्त अङ्गोंकी आभा शारदीय शुभ्र मेघके समान है, वह सूर्यके समान दुष्प्रधर्ष तेजशाली है। ऐसे परम सुन्दर बालकको श्रीरोहिणीने जन्म दिया है। बालकका इस तरह शोभासम्पन्न होना सर्वथा उपयुक्त ही है; क्योंकि यह अस्थिमज्जामेदमांसनिर्मित प्राकृत शिशु नहीं है। यह तो परम दिव्यबालक है—बालक भी कथनमात्रका ही; वास्तवमें तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका ही अनन्त, शेष नामसे अभिहित रूप ही बालक बनकर आया है।

जिस समय रोहिणीतनयका जातकर्म-संस्कार होने लगा, उस समय व्रजेन्द्रगेहिनी मनचाहा उत्सव भी नहीं मना सकीं; क्योंकि श्रीवसुदेवने व्रजेन्द्रको अत्यधिक सावधान कर दिया था कि बालकके जन्मकी बात सर्वथा गुप्त रखी जाय, अन्यथा राक्षस कंसके द्वारा बालक एवं उसकी जननीके अनिष्टकी पर्याप्त आशङ्का थी। इसीलिये श्रीरोहिणीतनयके दर्शनका अवसर सबको नहीं मिला था; किंतु अधिकांश व्रजपुरवासी जानते अवश्य थे कि रोहिणीजी पुत्रवती हो चुकी हैं। इसके पश्चात् नन्दनन्दनका जन्म हुआ। तबसे तो व्रजवासी मानो यह भूल-से गये थे कि रोहिणीतनयको भी किसी दिन जाकर देख आना है। उनके नेत्र नन्दनन्दनकी छविसे ऐसे भर गये थे कि अब प्रायः अपने पुत्रके स्थानपर भी रह-रहकर उन्हें नन्दनन्दनकी स्फूर्ति होने लगती। किसी गोपविशेषकी बात नहीं, न्यूनाधिक सबकी ऐसी दशा होती जा रही थी। यहाँतक कि समस्त व्रजपुरमें दर्शन एवं श्रवणके एकमात्र विषय नन्दनन्दन ही हो गये थे। यह भी एक कारण था कि व्रजमें रहकर भी रोहिणीनन्दन गोप-साधारणके समक्ष अबतक नहीं आ सके।

अभीतक अग्रज (रोहिणीतनय) एवं अनुज (यशोदानन्दन)-का भी परस्पर मिलन नहीं हो सका था। व्रजेन्द्र अतिशय शुभ मुहूर्तकी प्रतीक्षा कर रहे थे तथा आज-कल करते-करते ही इतने दिन बीत गये। पर अब कार्यभारसे श्रीरोहिणी एवं यशोदा रानीको दबी देखकर—दोनोंको अत्यन्त व्यस्त पाकर व्रजेश्वरने विचार किया—

बालकयुगलमिदमपृथगालयालम्बनतामेव नितरामर्हति यतस्तदीयजनन्योः स्वयमेव तल्लालनाय

लालसाधन्ययोस्तत्र च परस्परतदासक्तयोर्नाना-स्पृहगृहकार्यपर्यापणव्यसनयोर्युगपत्तद्युगलस्य पृथगवकलनं दुर्बलम्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'इन दोनों बालकोंको अब अलग-अलग न रखकर एक घरमें ही सर्वथा साथ रखना चाहिये; क्योंकि इनकी माताएँ स्वयं ही दोनों पुत्रोंका लालन-पालन करना चाहती हैं। सचमुच ऐसी लालसा रखनेवाली ये माताएँ धन्य हैं। इन दोनोंकी परस्पर एक-दूसरेके पुत्रमें आसक्ति हो गयी है; रोहिणीजी यशोदानन्दनको एवं व्रजरानी रोहिणी-तनयको अतिशय प्यार करती हैं। पर साथ ही दोनोंमें ही यह व्यसन है कि आवश्यक गृहकार्यका सम्पादन भी वे स्वयं करना चाहती हैं। ऐसी अवस्थामें उन दोनोंके लिये दोनों बालकोंकी एक समयमें अलग-अलग देखभाल करना समुचित रूपसे सम्भव हो ही नहीं सकता।'

व्रजेन्द्रने अपना यह विचार ब्राह्मणोंपर प्रकट किया। फिर देर क्या थी। शुभ मुहूर्त निश्चित हो गया। बाजे बजने लगे। व्रजसुन्दरियाँ मङ्गलगीत गाने लगीं। ब्राह्मण स्वस्तिवाचन करने लगे। तुमुल जय-जय-ध्वनिके साथ रोहिणीनन्दन मणिपर्यङ्कपर विराजित यशोदानन्दनके पास पधारे। दोनों माताओंने दोनों भाइयोंका मिलन करवाया। उस अपूर्व सम्मेलनका दृश्य देखकर उस समय व्रजवासियोंके तो पलक पड़ने बंद हो गये। निर्निमेष नयनोंसे उन सबने देखा—

मिथो लग्ना दृष्टिः समजनि चिरं मूर्तिरचला
द्रवच्चित्तं नेत्रोदकमिषतयागादभिमुखम्।
इति भ्रात्रोर्बाल्येऽप्यसितसितयोः सा प्रसितता
नवे व्यत्यालोके कुतुकमिह किं वा न तनुते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

दोनों भ्राताओंकी आँखें मिलीं। दूसरे ही क्षण दोनोंके कलेवर प्रेमावेशसे निस्पन्द हो गये। बहुत देरतक उनकी वह कमनीय मूर्ति अचल, शान्त बनी रही। फिर दोनोंके नेत्रकोण अश्रुपूरित हो गये। वास्तवमें तो दोनोंका प्रेमविगलित चित्त ही अश्रुमिषसे सामने आया है। ओह! आश्चर्य! महान् आश्चर्य! इन श्यामल-गौर दोनों भाइयोंके शैशवका यह प्रथम दर्शन है! इस समयके, अत्यन्त अल्प बाल्यजीवनके प्रथम मिलनमें ऐसी प्रेमासक्ति, ऐसा अद्भुत प्रेमावेश है। ओह! सचमुच इनका प्रेमनिबन्धन कितना महान् आश्चर्यकारी है। यहाँका तो सब कुछ अत्यन्त आश्चर्यमय है!

यह तो भ्रातृमिलन हुआ। अब सखा-सुहृद्-मिलन भी होना ही चाहिये। इसीलिये अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे व्रजपुरवासियोंके मनमें एक परम सुन्दर भावका उन्मेष हुआ। सभी पुरवासियोंके मनमें इच्छा हुई—यशोदानन्दनके समवयस्क हमारी जो संतानें हैं, उनका भी ठीक ऐसे ही विधिवत् मिलन हो। विचार व्रजेन्द्रके सामने रखा गया। व्रजेद्र क्यों अस्वीकार करते? बस, उस दिनसे नन्द-भवनमें प्रतिदिन अगणित सखा-सम्मेलन-समारोह होने लगे। शत-सहस्र गोपाङ्गनाएँ शुभ मुहूर्तमें मङ्गलवाद्य, मङ्गलगीतके सहित अपने शिशुओंको लातीं तथा स्वस्तिवाचन कराकर यशोदानन्दनसे मिला देतीं। इन सबका मिलन भी सर्वथा ऐसा होता जैसे ये शिशु एवं यशोदानन्दन चिर-परिचित हों।

× × ×

व्रजवासी यशोदानन्दनको साँवरा, श्याम, नीलमणि, नन्दनन्दन आदि नामोंसे पुकारने लगे हैं; किंतु अभीतक शास्त्रीय विधिसे नामकरण-संस्कार नहीं हुआ है। अग्रजका भी यह संस्कार नहीं हो सका है। रोहिणीतनयका नामकरण-संस्कार करानेके सम्बन्धमें व्रजेन्द्रने अपने भाई श्रीवसुदेवको सूचना भी दी थी; किंतु वहाँसे कोई तिथि निश्चित होकर नहीं आयी। केवल यह उत्तर आया कि यथासमय व्यवस्था कर दी जायगी। इसके बाद देखते-ही-देखते रोहिणीनन्दनकी आयुका शततम वासर (सौंवा दिन) व्यतीत हो

गया; पर कुछ भी आदेश या कोई ब्राह्मणदेव श्रीवसुदेवकी ओरसे व्रजेन्द्रके पास नहीं आये। व्रजेन्द्रने सोचा—परिस्थितिवश ही भाई वसुदेवने इसे अभी स्थगित रखना चाहा है; अस्तु। किंतु यशोदानन्दनका नामकरण-संस्कार तो ठीक उसी दिन हुआ, जिस दिन होना चाहिये।

व्रजेन्द्र नहीं जानते, व्रजरानी नहीं जानतीं, व्रजवासियोंको भी पता नहीं, कोई आयोजन भी नहीं हुआ है; पर नन्दनन्दनका संस्कार आज ही होनेवाला है। आज उनकी आयु सौ दिनकी हो चुकी है। अबतक उनकी अतिशय मधुर शैशव-चेष्टाओंसे व्रजमें नित्य आनन्द-मन्दाकिनी प्रवाहित होती रही है, व्रजजन उसमें अवगाहन करके कृतार्थ होते रहे हैं। वे स्वयं भी अपने आनन्द-वितरणका आस्वादन लेते हुए उत्तरोत्तर उल्लसित हो रहे हैं। अपने भाईके इस परमानन्द-वितरणमें हाथ बँटानेके लिये ही मानो रोहिणीतनय भी साथ हो गये हैं। दोनोंकी मुग्धबालकोचित भङ्गिमाओंको देखनेके लिये व्रजसुन्दरियोंकी भीड़ लगी रहती है। अब ये दोनों अपनी माताओंको तो अच्छी तरह पहचान गये हैं; यत्किञ्चित् पिता व्रजेन्द्रसे भी परिचय हो गया है; बाहरसे आये हुए आगन्तुकके प्रति यह घरका है कि नहीं, ऐसे ज्ञानका भी उनमें उन्मेष हो चुका है। इस तरह जैसे-जैसे शैशवकी गति बढ़ रही है, वैसे-वैसे ही तदनुरूप भावोंका भी प्रकाश होता जा रहा है। साथ ही दोनों भाइयोंकी शोभा भी निखरती जा रही है। इस शोभाकी इयत्ता भी नहीं है। यह तो एक अनन्त असीम पारावाररहित सुधासिन्धुके समान है, जिसमें उत्ताल तरङ्गें उठ रही हैं। तरङ्गें नाचती हुई आती हैं और यशोदानन्दन एवं रोहिणीनन्दनको अपनी अञ्चलमें छिपा लेती हैं। फिर वहाँसे उन्मादिनीकी तरह हँस-हँसकर सभी दिशाओंमें फैल जाती हैं तथा सारे व्रजपुरको, समस्त विश्वको प्लावित कर देती हैं—

सम्यङ्मातुः परिचितिरभूद् यत्र किञ्चित् पितुश्च
प्राप्तः सोऽयं स्वसदनजनः किं नवेत्थं मतिश्च।
तस्मिन् बाल्ये वलयति तयोः कापि शोभासुधाब्धि-
प्रख्या गोष्ठं भुवनमपि सा वीचिभिः सिञ्चति स्म॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

इन्हीं तरङ्गोंसे सिक्त हृदयमें अपने पुत्रके स्पष्ट प्रतिबिम्बित चन्द्रमुखको निहारते हुए व्रजेन्द्र इस समय गोष्ठमें अवस्थित हैं। आज एक पहरसे अधिक रात अवशिष्ट थी, तभी वे गोष्ठमें चले आये थे। चलते समय यह स्मृति अवश्य आयी थी कि आज मेरे पुत्रके जन्मका शततम वासर है। शास्त्रीय नियमके अनुसार आज नामकरण-संस्कार सम्भव है, किंतु अबतक रोहिणीनन्दनका ही नामकरण-संस्कार नहीं हुआ है; इसलिये व्रजेश्वरने सोचा—किसी अन्य पुण्यतर अवसरपर दोनों बालकोंके नामकरण एक साथ ही हो जायँगे। यह सोचकर वे गोष्ठ चले आये हैं। यहाँ प्रातःकाल होते ही विशाल गोराशि वनकी ओर चली गयी। उनके साथ गोरक्षक गोप भी चले गये। गोष्ठमें रहे केवल अगणित गोवत्स एवं गोष्ठ-परिष्कार करनेवाले, गो-आभूषण सँभालनेवाले सेवक। व्रजेन्द्र इनका निरीक्षण करते हुए घूम रहे थे। साथमें केवल एक सेवक था। निरीक्षण समाप्त होते ही वे वहीं, स्नानादिसे निवृत्त होकर, गोष्ठके एक अतिशय निभृत एकान्त भूभागमें शालग्रामशिलारूपमें विराजित अपने इष्टदेव श्रीमल्लक्ष्मीनारायणकी अर्चनामें संलग्न हो गये। अब एक पहर दिन चढ़ चुका है। व्रजेन्द्र पूजा समाप्त कर गोष्ठ-प्राङ्गणकी ओर देखने लगते हैं। प्राङ्गणमें कुछ गोवत्स हैं, जो कान उठाये द्वारकी ओर देख रहे हैं। व्रजेन्द्र गो-शावकोंकी इस चेष्टासे समझ जाते हैं कि द्वारके पास किसी नवीन आगन्तुकका आगमन हुआ है। उन्होंने भी दृष्टि घुमाकर उस ओर देखा। दीख पड़ा—यदुकुलाचार्य ज्योतिषाचार्यवर्य महामहिम तपोधन गर्गजी पधारे हैं।

व्रजेश्वरके आनन्दकी सीमा नहीं। अमृत पीकर आनन्दोन्मत्त हुए प्राणीकी भाँति व्रजेश्वर आसनसे उठ पड़े। भक्तिके प्रबल आवेशसे शरीर चञ्चल हो उठा। अञ्जलि बाँधकर, अतिशय विनम्र होकर आगे बढ़े, तपोधनके चरणोंमें दण्डवत् गिर पड़े। व्रजेशके मनमें रञ्चकमात्र भी संदेह नहीं, वे सर्वथा असंदिग्ध चित्तसे ऐसा अनुभव कर रहे हैं—साक्षात् इष्टदेव श्रीमन्नारायण ही तपोधन गर्गाचार्यके रूपमें पधारे हैं। इस भावनासे परिभावित हुए, भावकी तरङ्गोंमें डूबते-उतराते, नाना मनोरथोंकी मधुमयी कल्पना करते हुए महाराज नन्द ऋषिकी पूजा करने लग जाते हैं।

यह नियम है—अन्तर्हृदयका तरलभाव जब बाह्य क्रियाके रूपमें मूर्त होने लगता है, तब भावका प्रवाह शिथिल पड़ जाता है। उस समय भाव रूपान्तरित भी होता है। यही हुआ। पूजा समाप्त होते ही भगवद्भाव शिथिल हुआ तथा गर्गाचार्यका महापुरुषत्व व्रजेशके सामने आ गया। वे कहने लगते हैं—देव! आप-जैसे पूर्ण-पुरुषकी भला मैं क्या सेवा करूँ? अवश्य ही यह मेरा परम सौभाग्य है, जो आप पधारे हैं; क्योंकि—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। ४)

गृह, पुत्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव, धन-धान्यमें अत्यन्त आसक्त तथा उनके संरक्षण-संवर्द्धनमें अतिशय व्याकुलचित्त मनुष्योंका परममङ्गल करनेके लिये ही आप-जैसे महापुरुषोंका गमनागमन होता है। अन्यथा वे तो कहीं भी जाते ही नहीं।

यह कहते-कहते ही हठात् श्रीव्रजेशके अन्तर्हृदयमें नित्य विराजित अपने पुत्रका मुख स्फुरित होने लगता है। इसीके साथ अन्तर्मनके दूसरे छिद्रसे सजातीय विचारधारा भी फूट पड़ती है—ओह! आज ही तो मेरे पुत्रका शततम वासर है, रोहिणीनन्दनका संस्कार भी आज ही हो तो कितना सुन्दर है। ये यदुकुलाचार्य हैं, ज्योतिषशास्त्रके प्रणेता हैं, ब्रह्मज्ञशिरोमणि हैं, पुत्रोंके संस्कारका इससे अधिक सुन्दर अवसर और क्या होगा? अग्रजका संस्कार तो इन्हें करना ही चाहिये, कर ही देंगे, उस कुलसे तो इनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। मेरे पुत्रका भी प्रार्थना करनेसे क्यों नहीं करेंगे? ये ब्राह्मण हैं, जन्मसे ही मनुष्यमात्रके गुरु हैं; इनको आपत्ति ही क्या होगी? ओह! इनके द्वारा संस्कृत होकर मेरे दोनों पुत्र कृतार्थ हो जायँगे। अवश्य ही नारायणने ही कृपा करके ठीक अवसरपर इन्हें भेजा है।

मनोरथके प्रवाहमें बहते हुए ही व्रजराजने कार्यक्रम भी निर्धारित कर लिया। उसीका उपक्रम करते हुए वे ऋषिके चरणोंमें निवेदन करते हैं—

बालो यो मम जातस्तस्मादधिकश्च वासुदेवो यः।
निजदृक्सुधया तं तं शीकितुमास्तां भवान् करुणः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

देव! मुझे जो एक पुत्र हुआ है तथा उससे बड़ा जो मेरे भाई वसुदेवका एक पुत्र है, उन दोनोंको भी अपनी दृष्टिसुधासे सिक्त कर दें। आप करुणामय हैं, करुणा करें।

नन्दरायजीकी इस स्नेहपरिपूरित प्रार्थनासे ऋषि तो गद्गद हो गये। आन्तरिक प्रसन्नतासे इसका अभिनन्दन करते हुए तपोधनने अनुमति दे दी। पासमें ही परिचारक खड़ा है। व्रजेश्वर उसके कानमें सारी बातें समझाते हैं। सुनकर वह तो प्रासादकी ओर चल पड़ता है तथा मुनि एवं व्रजेन्द्र वहीं श्रीवसुदेवकी विपत्तिके सम्बन्धमें चर्चा करते हुए दोनों पुत्रोंकी प्रतीक्षा करते हैं।

एक घड़ी भी बीतने नहीं पायी कि आगे-आगे पुत्रोंको गोदमें लिये व्रजरानी एवं श्रीरोहिणी तथा उनके पीछे हाथोंमें गन्ध-पुष्प-धूप-दीप, जलपात्र आदि लिये परिचारक आ पहुँचता है। आचार्य गर्गने दूरसे ही रोहिणीनन्दन एवं यशोदानन्दनको देख लिया। देखते ही, मानो किसी विद्युल्लहरीने मुनिको

स्पर्श कर लिया हो, इस तरह चञ्चल होकर वे आसनसे उठ पड़े। बस, खड़े ही हो सके। इसके बाद तो शरीर जडवत् हो गया। नेत्र स्थिर हो गये। पर अन्तरमें पूर्ण चेतना है। आचार्य स्पष्ट सब कुछ अनुभव कर रहे हैं, स्पष्ट देख रहे हैं—दो माताएँ हैं, उनकी गोदमें उनके अनन्त स्नेहसे सिक्त श्याम एवं गौर दो बालक हैं। देखते-ही-देखते आचार्यको अनुभव हुआ, बरबस मेरे नेत्र अश्रुपूरित हो गये हैं। ओह! अश्रुबिन्दु बाहर ढलकने चले! गर्गने अपनी समस्त इच्छाशक्ति बटोरकर प्रयास किया—किसी तरह स्थिर नेत्र एक बार चञ्चल हो जायँ, एक बार ऊपर-नीचे टँगी हुई पलकें परस्पर मिल जायँ, अश्रुबिन्दु रुद्ध हो जायँ, बाहर न निकलें। किंतु न तो नेत्र हिले, न पलकें पड़ीं। अश्रुवारिधारा बाहरकी ओर बह चली। तपोधन उन्हें रोक न सके—

मातृयुग्मललिताङ्कलालितौ वीक्ष्य कृष्णधवलौ स बालकौ।
निर्निमेषदर्शया दृशोर्जलं रोद्धुमैष्ट नितरां न तापसः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

ब्रह्मवित्-शिरोमणि गर्गके नित्य प्रकाशित अन्तरात्मामें उस समय एक अभिनव प्रकाशका उदय हुआ। उस प्रकाशसे आलोकित आचार्यका मन नन्दनन्दनको देखता हुआ उद्भावना करने लगा—

हन्तायं किमनादिमोहतमसः सद्रत्नदीपाङ्कुरः
किं न्वीशप्रतिपादकोपनिषदां प्रामाण्यमात्तं वपुः।
किं नः सौभगकल्पभूरुहवनस्याद्यः प्रसूनोदयः
सान्द्रानन्दसुधाम्बुधेः किमथवा सा कापि जन्मस्थली॥
यं ब्रह्मेति वदन्ति केचन जगत्कर्तेति केचित् परे
त्वात्मेति प्रतिपादयन्ति भगवानित्येव केऽप्युत्तमाः।
नो देशान्न च कालतो बत परिच्छेदोऽस्ति यस्यौजसो
देवः सोऽयमवाप नन्ददयितोत्सङ्गे परिच्छिन्नताम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

"ओह! यह क्या देख रहा हूँ? क्या यह अनादि मोहान्धकारको सर्वथा नष्ट कर देनेवाला विशुद्ध ब्रह्मरूप रत्नप्रदीपका अङ्कुर है? अथवा ईश्वरप्रतिपादक समस्त उपनिषदोंका प्रामाण्य ही शरीर ग्रहणकर मूर्त हो गया है? या यह हमारे सौभाग्यरूप कल्पतरुकाननका मूलभूत पुष्प प्रस्फुटित हुआ है? अथवा वह शास्त्रप्रसिद्ध संतोद्घोषित निबिड़ आनन्दसुधासागरका उद्गमस्थल ही मूर्त हो गया है? अहा! यह तो वह है! जान गया! जिसे कुछ लोग 'ब्रह्म' कहते हैं, कुछ मनीषी जिसका 'जगत्कर्ता' कहकर परिचय देते हैं, कुछ प्राणी जिसे 'परमात्मा' बतलाते हैं, कुछ श्रेष्ठ पुरुष जिसे 'भगवान्' कहकर प्रतिपादन करते हैं, जिसका प्रभाव देशकालसे परिच्छिन्न नहीं है, देशकालकी सीमामें बद्ध नहीं है, वही देव नन्दमहिषीकी गोदमें परिच्छिन्न, सीमाबद्ध बना हुआ दीख रहा है। ओह! यह कितना आश्चर्य है!"

आचार्य गर्गके हृदयमें कभी तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका महान् ऐश्वर्य उदय होता है और कभी उनके रूप-माधुर्यकी शतसहस्र सुधाधाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं। ऐश्वर्योन्मेषके समय आचार्य नन्दनन्दनके चरणोंमें लुट पड़ना चाहते हैं और जिस क्षण माधुर्यका विकास होता है, उस समय यशोदानन्दनके महामरकतद्युति कलेवरको हृदयसे लगानेका मनोरथ करने लगते हैं, किंतु व्रजेन्द्रनन्दनकी लीलाशक्ति दोनोंमेंसे एक भी करने नहीं देतीं। उन्हें लीलाक्रमकी रक्षा जो करनी है। आचार्य सोचने लगते हैं—

पादौ दधामि यदि मां वदिता जनोऽय-
मुन्मत्तमेव बत वक्षसि चेत् करोमि।
तच्चातिचापलमहो न करोमि वा चे-
दौत्कण्ठ्यमेव हि लविष्यति धैर्यबन्धम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

"यदि मैं नन्दनन्दनके चरण-युगलको धारण करता हूँ तो ये लोग मुझे उन्मत्त बतायेंगे। यदि इन्हें हृदयसे लगा लूँ तो यह मेरी अतिशय चञ्चलता सिद्ध होगी। यदि वह भी न करूँ, यह भी न करूँ, कुछ

भी नहीं करूँ तो भी मेरी यह उत्कण्ठा मेरे धैर्य-बन्धनको काट डालेगी।''

इस धैर्यबन्धन-छेदनका भय एक क्षणके लिये आचार्यके मनमें आया तो अवश्य, पर तुरंत ही विलीन हो गया। उनके प्रफुल्ल अन्तःकरणने निर्णय दे दिया—धैर्य नष्ट हो, सब कुछ नष्ट हो, मैं तो निहाल हो चुका—

जन्माद्य साधु सफलं सफले च नेत्रे
विद्या तपः कुलमहो सफलं समस्तम्।
आचार्यता भगवती हि यदोः कुलस्य
मामद्य हन्त नितरामकरोत् कृतार्थम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

''आज मेरा जन्मधारण सफल हो गया। मेरे नेत्र सफल हो गये। मेरी विद्या, मेरा तप, मेरा कुल—सब सफल हो गये। मैं कृतार्थ हो गया—अपने पुरुषार्थसे नहीं, मुझे तो कृतार्थ किया है यदुकुलकी आचार्यतारूप भगवतीने। मैंने यदुकुलकी आचार्यताका आश्रय लिया था, इस आचार्यताने ही मुझपर अतिशय अनुकम्पा करके मुझे सर्वथा कृतार्थ बना डाला।''

व्रजेन्द्र तपोधनकी ओर आश्चर्यभरी दृष्टिसे देख रहे हैं; किंतु अब मुनि प्रकृतिस्थ होने लगते हैं। उन्हें प्रकृतिस्थ होना ही था। जिस लिये लीला-शक्ति उन्हें व्रजपुरमें ले आयी हैं, वही इस समय उन्हें करना है। अस्तु, आचार्य व्रजेन्द्रकी ओर देखने लग जाते हैं। इसी समय व्रजेन्द्रगेहिनी एवं श्रीरोहिणीजी मुनिवरको प्रणाम करती हैं, फिर दोनों पुत्रोंको तपोधनके चरणोंमें रख देती हैं। मुनिवर आशीर्वाद देते हैं। इसके पश्चात् उनकी आज्ञा पाकर उनसे कुछ दूरपर दोनों माताएँ पुत्रोंको गोदमें लेकर बैठ जाती हैं।

अब अतिशय विनम्र शब्दोंमें विनयपूर्वक व्रजेन्द्र आचार्यसे दोनों पुत्रोंके नामकरण-संस्कार कर देनेकी प्रार्थना करते हैं, किंतु मुनिवर स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि यह संस्कार अपने कुलगुरुसे करा लेना चाहिये। हाथ जोड़कर व्रजेन्द्रने आचार्यके सामने '**जन्मना ब्राह्मणो गुरुः**' (जन्मसे ही ब्राह्मण सबके गुरु हैं) की युक्ति रख दी। इसपर भी तपोधनने स्वीकृति नहीं दी। हाँ, इस बार स्वयं संस्कार न करनेमें हेतु उन्होंने अत्यन्त प्रबल एवं युक्तिसंगत बतलाया। वे बोले—''व्रजेन्द्र! सुनो, सारा विश्व जानता है कि मैं यदुकुलका आचार्य हूँ। यदि मैं तुम्हारे पुत्रका नामकरण-संस्कार करता हूँ तो कंसकी यह धारणा हो सकती है कि यह देवकीका अष्टम-गर्भजात बालक है। पापमति कंससे तुम्हारे एवं वसुदेवके बीचका सम्बन्ध अज्ञात नहीं, वह तुम दोनोंको ही जानता है। साथ ही उस दिन आकाशमें उड़कर देवीरूपमें परिणता वसुदेव-पुत्रीके वचनोंको स्मरण करता हुआ वह निरन्तर ऐसी धारणा कर रहा है कि देवकीके अष्टम गर्भकी संतान कदापि कन्या हो ही नहीं सकती। सम्प्रति मेरे द्वारा तुम्हारे पुत्रका संस्कार सुनकर यदि कहीं उसकी यह मान्यता हो जाय कि यह नन्दपुत्र वास्तवमें वसुदेवका ही अष्टम पुत्र है तथा वह तुम्हारे पुत्रका प्राणनाश करने स्वयं व्रजपुरमें आ धमके, प्राणहरण कर ले तो तुम्हीं बताओ, कितना बड़ा अमङ्गल, कितना भीषण अनर्थ हो जायगा?''

व्रजेन्द्र आचार्यके इस कथनका प्रतिवाद न कर सके। क्षणभरके लिये उनका मुख म्लान-सा हो गया। मनमें प्रबल उत्कण्ठा थी कि दोनों पुत्रोंको ऐसे श्रेष्ठतम आचार्यके द्वारा सुसंस्कृत देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे, किंतु मुनिवरकी इस युक्तिका उनके पास कोई उत्तर नहीं था। निराश व्रजेन्द्रने भोली आँखोंसे उनकी ही ओर देखते हुए पुत्रकी ओर दृष्टि डाली। मानो उन नेत्रोंमें ही मुनिवरके शङ्का-समाधानका कोई संकेत हो, इस तरह दृष्टि मिलते ही व्रजेन्द्रके मनमें समयोचित व्यवस्थाका स्फुरण हो गया। व्रजेश्वरने सोचा—इन महामहिम मुनिराजके द्वारा यदि स्वस्तिवाचन ही हो जाय तो फिर तो सभी मङ्गल होगा ही।

इस विचारसे पुनः हाथ जोड़कर वे आचार्यसे प्रार्थना करने लगे—गुरुदेव! आपका सङ्ग ही अनन्त मङ्गलमय है। इसलिये—

अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे।
कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। १०)

"इस निर्जन गोष्ठमें मेरे अन्तरङ्ग गोपबन्धुओंसे भी सर्वथा अलक्षित केवल स्वस्तिवाचनपूर्वक मेरे इन दोनों पुत्रोंका द्विजाति-संस्कार—रोहिणीनन्दनका क्षत्रियोचित, मेरे पुत्रका वैश्योचित नामकरण-संस्कार कर दें।"

यह कहते हुए व्रजेन्द्रने तपोधनके चरण पकड़ लिये। इस बार व्रजेन्द्रकी विजय हुई। वास्तवमें तो आचार्य गर्ग आये ही थे नामकरण-संस्कार करने तथा प्रबल उत्कण्ठासे ही अवसरकी प्रतीक्षा भी कर रहे थे। यह चर्चा तो उन्होंने इसलिये की है कि यह संस्कार सर्वथा गुप्त रहे, किसीपर भी प्रकट न हो। जो हो, आचार्य प्रसन्नचित्तसे प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं।

अनादिकालसे अपने क्षुद्रसंकल्पसे जो अपने भीतर ही नामरूपात्मक अनन्त विश्वब्रह्माण्डके सृजन-पालन-संहारकी क्रीड़ा कर रहे हैं, एकमें ही जो अनन्त नामोंकी सृष्टि करके खेलते हैं तथा खेलते हुए ही उन नामोंको पुनः विलुप्त कर देते हैं, उनका नामकरण-संस्कार है तो परम दर्शनीय; पर उसे उस समय देख सके केवल व्रजेन्द्र, व्रजरानी, रोहिणी, गर्गाचार्य, वह बड़भागी नन्दपरिचारक एवं अन्तरिक्षमें अवस्थित देवगण! स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी यही इच्छा है। अस्तु, आचार्य स्वस्तिवाचन समाप्त कर प्रथम रोहिणीनन्दनका नामोल्लेख करते हुए कहते हैं—व्रजेश्वर! यह रोहिणीनन्दन अपनी अपरिसीम सद्गुणराशिसे समस्त सुहृद्वर्गका प्रीति-सम्पादन करेगा। इसलिये इसका एक नाम 'राम' प्रसिद्ध होगा। और सुनो, यह अत्यन्त बलशाली होगा, इसलिये लोग इसे 'बल' भी कहेंगे। इसका एक नाम 'संकर्षण' होगा—यह नाम इसलिये कि यदुकुल एवं व्रजकुल दोनोंके प्रति इसके मनमें समान बुद्धि होगी, यदुवंशी वसुदेवका पुत्र होकर भी यह तुम्हें भी अपना पिता समझेगा, दोनों कुलोंका आकर्षण करते हुए इसके मनमें एक समान सम्बन्धकी भावना जाग्रत् रहेगी। ये तो हुए रोहिणीनन्दनके नाम। अब यशोदानन्दनके नाम सुनो; देखो, यह तुम्हारा बालक सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चारों युगोंमें ही प्रकट हुआ करता है। इससे पूर्व यह शुक्ल, रक्त, पीत रूपोंमें अवतीर्ण हो चुका है। किंतु इस बार कृष्ण (काले) वर्णमें आया है। इसलिये इसका एक नाम 'कृष्ण' होगा। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा, पर है सर्वथा सत्य कि यह बालक तुम्हारे यहाँ जन्म लेनेके पूर्व कभी वसुदेवका पुत्र भी हो चुका है। इसलिये जो इस रहस्यको जानते हैं, वे इसे 'वासुदेव' कहकर अभिहित करेंगे। व्रजेन्द्र! वास्तवमें तो तुम्हारे इस पुत्रके गुणानुरूप, कर्मानुरूप असंख्य नाम, असंख्य रूप हैं। उन्हें मैं जानता हूँ, अन्य जन नहीं जानते, जान सकते ही नहीं। उन अनन्त नामोंमेंसे मैंने तुम्हारे पुत्रके ये दो नाम बताये।"

आचार्य यह कहते-कहते पुनः गद्गद हो गये। उनकी आँखें निमीलित हो गयीं। वे कुछ क्षणके लिये समाधिस्थ-से हो गये। इधर व्रजेश, व्रजरानी, रोहिणीजीका प्रत्येक रोम आनन्दातिरेकसे पुलकित हो रहा है, नेत्र छल-छल कर रहे हैं। कुछ देर बाद आचार्यने नेत्र खोलकर व्रजेन्द्रकी ओर देखा। देखते ही व्रजेन्द्रकी एक अन्य इच्छाका प्रतिचित्र सर्वज्ञ तपोधनके अन्तःकरणमें अङ्कित हो गया। वे शान्त-गम्भीर पर अतिशय प्रफुल्ल मुद्रामें बोल उठे—पुत्रका जातक-फल सुनना चाहते हो, व्रजेन्द्र! अच्छा, सुनो—

संबत सरस विभावन, भादौं आठैं तिथि, बुधवार।
कृष्न पच्छ, रोहिनी, अर्ध निसि, हर्षन जोग उदार॥
बृष है लग्न, उच्च के निसिपति, तनहिं बहुत सुख पैहैं।
चौथें सिंघ रासिके दिनकर, जीति सकल महि लैहैं॥

पचएें बुध कन्या कौ जो है, पुत्रनि बहुत बढ़ैहैं।
छठएें सुक्र तुलाके सनिजुत, सत्रु रहन नहिं पैहैं॥
ऊँच नीच जुबती बहु करिहैं, सतएें राहु परे हैं।
भाग्य-भवन में मकर-महीसुत बहु ऐश्वर्य बढ़ैहैं॥
लाभ-भवन में मीन-बृहस्पति, नवनिधि घर में ऐहैं।
कर्म-भवनके ईस सनीचर, स्याम बरन तन ह्वैहैं॥

इस बार 'श्याम' नामका उच्चारण होते ही आचार्यमें आवेश-सा हो जाता है। वे उच्च कण्ठसे कहने लगते हैं—"व्रजेश्वर! और भी अद्भुत फल सुनो—तुम्हारा यह पुत्र गोपोंको, समस्त गोकुलवासियोंको परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर देगा। यह कृष्ण तुम सब लोगोंका ऐहिक-आमुष्मिक (लोक-परलोक-सम्बन्धी) मङ्गल, परम मङ्गल सम्पादन करेगा। कृष्णका अवलम्बन करके तुम सभी अनायास ही समस्त विपत्तियोंको पार कर लोगे। व्रजेश्वर! इसके पूर्व जन्मोंसे सम्बद्ध एक बात तुम्हें सुनाता हूँ। उस समय सुरराज पदच्युत हो चुके थे। नन्दनकाननपर दैत्योंका साम्राज्य स्थापित हो चुका था। दैत्य-विदलित देवगण 'त्राहि-त्राहि' पुकार रहे थे। उस समय तुम्हारे इस पुत्रने ही देववृन्दकी रक्षा की थी। इससे रक्षित होकर, इसके बलसे ही बलान्वित होकर दैत्योंपर देवोंने पुन: विजय पायी थी। व्रजराज! इस पुत्रमें यह भी एक स्वभावसिद्ध गुण है कि जो मनुष्य इसे प्यार करते हैं, उसपर किसी प्रकारके भी शत्रुकी विजय नहीं हो सकती; जिस प्रकार भगवच्चरणारविन्दाश्रित प्राणीका असुर पराभव नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार इसमें प्रीति करनेवालेका शत्रु पराभव नहीं कर सकते। नन्दराय! अधिक क्या कहूँ, तुम्हारा यह पुत्र सद्गुण, सम्पदा, कीर्ति एवं प्रभावकी दृष्टिसे नारायणतुल्य है। सावधान रहकर तुम इसका पालन करो।"

ऋषिवर गर्ग इतना कहकर चुप, शान्त हो जाते हैं। अञ्जलि बाँधकर, मन-ही-मन श्रीकृष्णके चारु चरणोंमें नत होकर मूक भाषामें ही वे कहने लगते हैं—"गोलोकविहारिन्! तुम्हारी जय हो! जय हो! व्रजेन्द्रके अनन्त-वात्सल्यपरिभावित मसृण चित्तमें तुम्हारे ऐश्वर्य-कीर्तनका सैकतकण न बिखेरते हुए, साथ ही पूर्ण सत्यकी रक्षा करते हुए मेरे द्वारा तुम्हारे नामकरण-संस्कारकी सेवा सम्पन्न हो सकी, यह सर्वथा तुम्हारी अनुकम्पासे ही हुआ है। अनन्त करुणार्णव! करुणाका एक बिन्दु देकर मेरे लिये इतना ही विधान कर दो—अनन्त कालतक जहाँ कहीं भी तुम यदुकुलमें अवतीर्ण होओ, वहाँ-वहाँ ही मैं यदुकुलाचार्य बनकर तुम्हारे नामकरण-संस्कारकी सेवा करता रहूँ।"

इस प्रकार नामकरण-संस्कार समाप्त हुआ। आचार्य अतिशय लोलुप दृष्टिसे बारम्बार राम-श्यामकी ओर निहारते हुए बिदा लेने लगे। व्रजेन्द्रने भी अपने अश्रुजलबिन्दुओंसे एक माला बनाकर, उसे आचार्यके चरणोंमें भेंट देकर विदाई दे दी। अपार धन-सम्पत्तिके दानको तो आचार्यने स्वीकार ही नहीं किया। यही अश्रु-भेंट लेकर वे चल पड़े। उनकी ओर देखते हुए व्रजेन्द्र इस समय अनुभव कर रहे हैं—मेरी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं, मेरे समान सुखी और कोई है ही नहीं!

सुखसागरमें निमग्न होकर, सुखमय तरङ्गोंमें बहती हुई-सी श्रीरोहिणी एवं व्रजेन्द्रगेहिनी भी राम-कृष्णको गोदमें लिये गृहकी ओर चल पड़ती हैं। व्रजकी रानी यशोदा इस समय किस सुखका अनुभव कर रही हैं, इसे वे ही जानती हैं। वास्तवमें ही व्रजका सुख सर्वथा स्वसंवेद्य एवं अत्यन्त अनोखा सुख है—

जो सुख ब्रज में एक घरी।
सो सुख तीनि लोक में नाहीं, धनि यह घोष-पुरी॥
अष्टसिद्धि-नवनिधि कर जोरें, द्वारें रहति खरी।
सिव-सनकादि-सुकादि-अगोचर, ते अवतरे हरी॥
धन्य-धन्य बड़भागिनि जसुमति, निगमनि सही परी।
ऐसे सूरदास के प्रभु कौं, लीन्हौ अंक भरी॥

शिशु श्रीकृष्णका अन्नप्राशन-महोत्सव, कुबेरके द्वारा गोकुलमें स्वर्णवृष्टि

शिशिरका ब्राह्ममुहूर्त है। दो घड़ी पश्चात् माघशुक्ला चतुर्दशीका प्रभात होगा। इसीके साथ व्रजेन्द्रनन्दनके अन्नप्राशनका उत्सव-समारोह भी आरम्भ होगा, मानो इसकी सूचना प्रात:समीरको भी मिल चुकी है। इसीलिये वह गवाक्षरन्ध्रोंके पथसे आया; आकर प्रथम पर्यङ्कशायिनी व्रजेन्द्रमहिषीके, फिर उनके वक्ष:स्थलपर विराजित निद्रित व्रजेन्द्रनन्दन कृष्णचन्द्रके पादारविन्द उसने स्पर्श किये। स्पर्शसे कृतार्थ होकर राशि-राशि कुन्दपुष्पोंसे संचित परिमल अपने दुकूलसे निकालकर शयनागारमें सर्वत्र बिखेर दिया। उत्सवके उपलक्षमें अपनी क्षुद्र भेंट चढ़ा दी तथा फिर अतिशय शीघ्रतासे आनन्दातिरेकवश चञ्चल होकर 'झुर-झुर' शब्द करता हुआ अन्य व्रजवासियोंको जगाने चला गया।

व्रजरानी तो जागी हुई ही हैं। वे सारी रात क्षणभरके लिये भी सो नहीं सकी हैं। फिर भी रात्रि कब कैसे समाप्त हो गयी, यह उन्होंने नहीं जाना। जानतीं कैसे? वे तो अनेक सुखमय मनोरथोंकी कल्पनामें विभोर थीं, नीलमणिका भावी अन्नप्राशन प्रत्यक्ष वर्तमान-सा बनकर नेत्रोंमें भरा था। वे उस दृश्यमें, अपने नीलमणिमें तन्मय हो रही थीं। किंतु प्रात:समीरके स्पर्शसे जननीके प्रशान्त वात्सल्यसिन्धुमें एक कम्पन हुआ। उसमें एक लहर उठ आयी। जननीके कृष्णमय मन-प्राण इस लहरीसे सिक्त हो गये एवं तत्क्षण उनमें स्फुरणा हुई—कहीं मेरे नीलमणिके अङ्ग अनावृत हों, शिशिरकी शीतल वायुसे उनमें ठंढ लग गयी तो? बस, व्रजरानी तुरंत उठ बैठीं एवं वस्त्र सँभालने लगीं। वास्तवमें ही यशोदानन्दनके श्रीअङ्गोंसे कहीं-कहीं वस्त्र हट गये थे। जननी उन्हें गोदमें लेकर वस्त्रोंसे ढँकने लगीं। इसी समय उनका ध्यान नीलमणिके वक्ष:स्थलकी ओर गया, वक्ष:स्थलपरका श्रीवत्सचिह्न मणिदीपके प्रकाशमें स्पष्ट चम-चम कर रहा था; किंतु जननीको पुन: भ्रम हो ही गया। इससे पूर्व भी जननी कई बार भ्रमित हो चुकी हैं। इस भ्रमका प्रारम्भ तो प्रथम स्तनदानके समय हुआ था। उस समय जातकर्मके पश्चात् जननी स्तन्यपान करा रही थीं। पुत्रके प्रत्येक अङ्गका सौन्दर्य निरखती हुई जननीने हृदयकी ओर देखा था। हृदयके दक्षिण भागमें रोमावलीका अनादिसिद्ध श्रीवत्सनामक चिह्न अङ्कित था ही। उसकी शोभा भी अद्भुत ही थी, मानो मृणालतन्तुओंका चूर्ण एकत्र हो गया हो! वैसा ही सुन्दर, वैसा ही सुस्निग्ध! किंतु श्रीवत्सको देखकर जननीने तो यह समझा था—मैं शिशुको स्तन्य पिला रही हूँ, मेरे स्तनक्षरित दुग्धकण ही पुत्रके कपोलपर होते हुए वक्ष:स्थलपर आ ढलके हैं; उन दुग्धकणोंसे ही यह चिह्न निर्मित हो गया है। इतना ही नहीं, जननी सुकोमलतम सूक्ष्म वस्त्राञ्चलसे धीरे-धीरे उसे पोंछ देनेका प्रयत्न करने लगी थीं। किंतु चिह्न मिटता न था। जब वस्त्रसे उस चिह्नका मार्जन न कर सकीं, तब वे सोचने लगी थीं कि सम्भवत: यह किसी महापुरुषका लक्षण हो—

वक्षसि दक्षिणभागे मृणालतन्तुक्षोदसोदर-सुभगसुस्निग्धश्रीवत्साख्यरोमराजिलक्ष्म लक्षयित्वा स्तन्यकणरसनिपातविन्यासविशेषोऽयमिति पुनरपि मृदुतरचीनसिचयाञ्चलेनापसारयन्ती यदा तन्नापसरति तदा किमपीदं महापुरुषलक्षणमिति चिन्तयन्ती।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू:)

इसी तरह आज पुन: पूर्वकी भाँति जननीको एक क्षणके लिये भ्रम हो जाता है कि निद्रित नीलमणिके अधरोंसे क्षरित दुग्धकण ही यहाँ आकर इस रूपमें परिणत हो गये हैं। अवश्य ही इस बार वे मार्जन करने नहीं जातीं; क्योंकि तुरंत ही अन्तर्वृत्ति सचेत कर देती है। जननी अपनी भूलपर मन्द-मन्द मुसकराती हुई वस्त्रोंसे शीत-निवारणकी उचित व्यवस्था करके पुत्रको हृदयसे लगा लेती हैं।

सूर्योदयमें अभी विलम्ब है, किंतु गोपसुन्दरियोंके दल-के-दल नन्द-प्राङ्गणमें एकत्र होने लगे। घड़ीभर दिन चढ़ते-चढ़ते तो नन्दभवन गोप-वनिताओंसे सर्वत्र परिपूर्ण हो गया। नन्दभवनमें पुरमहिलाओंके लिये समय-असमयकी रोक-थाम तो है नहीं तथा व्रजपुरमें नन्दनन्दनके अन्नप्राशनमुहूर्तकी सूचना फैल चुकी है। इसलिये आज यमुना-स्नान करके कितनी ही गोपसुन्दरियाँ तो घर भी नहीं गयीं, सीधे नन्दभवनमें ही चली आयीं। जिनके अतिशय अल्पवयस्क पुत्र हैं, उन्हें ही आनेमें कुछ विलम्ब हुआ; पर आयीं सब। छोटे शिशुओंको गोदमें लिये, किञ्चित् वयस्क पुत्रोंकी अँगुली पकड़े, मङ्गलगीत गाते आती हुई गोपसुन्दरियोंकी मधुर कण्ठध्वनिसे सुमधुर झन्-झन्, झिन्-झिन्, रुन-झुन, रुन-झुन, कङ्कण-किङ्किणी-नूपुरध्वनिसे राजपथ तथा राजपथके दोनों ओर स्थित उत्तुङ्ग प्रासाद प्रतिशब्दित होने लगे। उन गोपाङ्गनाओंकी प्रत्येक भावभङ्गीसे एक अद्भुत वात्सल्य, अप्रतिम मातृभावका निर्झर झरता जा रहा है।

उपनन्दजीने आदेश दे रखा है कि आज मध्याह्नतक गोचारण स्थगित रहे। व्रजेन्द्रनन्दनके अन्नप्राशनके पश्चात् समय रहनेपर गायें निकटवर्ती वनमें कुछ समय घुमा ली जायँ। अतः गोपमण्डली भी शीघ्रतासे गायोंको दुहकर, उनके सामने प्रचुर हरित-तृण डालकर तथा स्वयं स्नान आदि समाप्त कर, विविध वेषभूषासे अलंकृत होकर नन्दभवनकी ओर उमड़ पड़ती है। उनकी पत्नियाँ, माताएँ तो पहले ही चली गयी हैं। गायोंकी व्यवस्था करनेके लिये ये रुके थे। उनकी व्यवस्था तो इन्होंने कर भी दी। किंतु शीघ्र-से-शीघ्र नन्दभवन पहुँचनेकी, नेत्रोंसे नन्दनन्दनको जी भरकर निहारनेकी प्रबल उत्कण्ठावश दूधकी उचित व्यवस्था ये नहीं ही कर सके। दुहे हुए दूधसे पूर्ण भाण्डोंको घर पहुँचानेतकका भी धैर्य इनमें न रहा। कुछ ही भाण्ड घर आये, अधिकांश गोष्ठमें ही रह गये। और तो क्या, बहुत-सी गायें बिना दुहे ही रह गयीं। गोवत्सोंको यों ही उन्मुक्त कर दिया गया। चौकड़ी भरते हुए बछड़े अपनी माताओंसे जा मिले। इसी अवस्थामें उन्हें छोड़कर गोप द्रुतगतिसे नन्दालयकी ओर चल पड़े।

यथासमय व्रजरानी नित्यकर्मसे निवृत्त होकर पुत्रको गोदमें लिये आँगनमें चली आती हैं। गोपाङ्गनाओंकी अपार भीड़ उन्हें चारों ओरसे घेर लेती है। निकटतम कुटुम्बियोंको नन्दरानीने दासी भेजकर निमन्त्रित किया है। वे सब आ गयी हैं। व्रजरानी एक बार भंडारकी ओर जाती हैं। वहाँ पुत्रको गोदमें लिये श्रीरोहिणीजी सारी व्यवस्था कर रही हैं—

आजु कान्ह करिहैं अनप्रासन।
मनि-कंचन के थार भराए, भाँति भाँतिके बासन॥

श्रीरोहिणीजीका यह परिश्रम देखकर व्रजरानीकी आँखोंमें स्नेह-जल भर आता है। सजल नेत्रोंसे वे कुछ क्षण रोहिणीजीकी ओर देखकर फिर उन निमन्त्रित कुटुम्बी व्रजवधुओंकी ओर देखने लगती हैं। इतना संकेत पर्याप्त है। वे शतशः व्रजवधुएँ तुरंत ही पकवान बनानेमें जुट पड़ती हैं।

नंदघरनि ब्रजबधू बुलाईं, जे सब अपनी पाँति।
कोउ ज्योंनार करति, कोउ घृत-पक, षटरस के बहु भाँति॥
बहुत प्रकार किए सब ब्यंजन, अमित बरन मिष्टान्न।
अति उज्ज्वल कोमल सुठि सुंदर, देखि महरि मन मान॥

व्रजेन्द्रका उत्साह तो देखने योग्य ही है। उनकी योजना ऐसी है कि उनके पुत्रका अन्नप्राशन-उत्सव अतीत एवं भविष्यके इतिहासमें अद्वितीय बन जाय। नन्दप्रासादसे संलग्न, कालिन्दीतीरपर्यन्त विस्तीर्ण सुमनोहर नन्दोद्यानमें व्रजेन्द्रने एक नयी सृष्टि-सी रच दी है। उस सुरम्य उद्यानमें नौ छोटी-छोटी नदियोंका निर्माण हुआ है। जलकी नदियाँ नहीं, विभिन्न भोज्यरसोंकी। पहली नदी दधिकी है, उसमें दधिकी धवल धारा बह रही है, दोनों तट दधिसे भरपूर हैं। दूसरी गोदुग्धकी नदी है, निर्मल उज्ज्वल शीतल दुग्ध प्रवाहित हो रहा है। तीसरी नदी घृतकी है, पीतवर्णा यह घृत-नदी मन्दगतिसे प्रवाहित हो रही है, दोनों किनारे घृतसिक्त हो गये हैं। चौथी गुड़की नदी है, पीताभ गुड़की यह पयस्विनी अत्यन्त स्थिर-सी है। मानो सचमुच ही किसी नदीकी पीताभ जलधारा हिमके संयोगसे जम

गयी हो, ऐसी इस गुडकुल्या (गुड़की नदी)-की शोभा है। पाँचवीं तैलनदी प्रवाहित हो रही है, मन्द— मन्थरगतिसे धीरे-धीरे यमुनाकी ओर इसकी गति है। छठी नदी अत्यन्त विस्तीर्ण है, यह मधुकुल्या है, इसमें मधुधारा बह रही है। सातवीं नवनीतनदी है, उज्ज्वल हिमपिण्डकी भाँति नवनीतखण्ड जम-से गये हैं। अत्यन्त शान्त-सी प्रतीत हो रही है। इसका प्रवाह परिलक्षित नहीं होता। इन सातके अतिरिक्त तक्रनदियाँ भी हैं। ये कई हैं तथा द्रुत गतिसे झर्-झर् करती हुई यमुनाकी ओर भागी जा रही हैं। कुछ शर्करोदक नदियाँ हैं, इनकी शर्करामिश्रित मिष्ट जलधारा अत्यन्त प्रखर गतिसे उद्यानकी परिक्रमा कर रही है।

इन नदियोंके मध्यवर्ती देशमें उज्ज्वल प्रस्तरखण्डोंसे पटी हुई भूमिपर व्रजेन्द्रने शालितण्डुलोंके एक शत एवं पृथक् तण्डुलों (चिउरों)-के एक शत पर्वत बनवाये हैं। वहीं सात लवण-पर्वतोंका भी निर्माण करवाया है। इसी तरह शर्कराके सात एवं लड्डूके सात पर्वत निर्मित हुए हैं। परिपक्व सुमधुर फलोंके सोलह पर्वत रचे गये हैं। यवचूर्ण (जौके आटे) तथा गोधूमचूर्ण (गेहूँके आटे)-के भी अनेक पर्वत बने हैं। मोदकोंका पर्वत निर्मित हुआ है। विशेष कौशलसे निर्मित, अत्यन्त सुस्वादु, एक प्रकारकी पूरियोंके अनेक पर्वत खड़े किये गये हैं। इन पूरियोंके पर्वतोंपर राशि-राशि सुसंस्कृत लड्डू रख दिये गये हैं। इनसे कुछ हटकर व्रजेन्द्रने सात कौड़ियोंके पर्वत बनवाये हैं। वहींपर सुवासित जलयुक्त, कर्पूरादिमिश्रित, चन्दन-अगुरु-कस्तूरी-कुङ्कुम-समन्वित ताम्बूलोंका अत्यन्त विस्तृत, पर द्वारहीन एक मन्दिर निर्माण करवाया है। विभिन्न जातिकी रत्नराशि एवं सुवर्ण, सुरम्य मुक्ताफल तथा प्रवालपुञ्ज ढेर-के-ढेर यथास्थान रख दिये गये हैं। रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्र एवं सुन्दर आभूषणोंके स्तूप लग गये हैं—

दधिकुल्यां दुग्धकुल्यां घृतकुल्यां प्रपूरिताम्।
गुडकुल्यां तैलकुल्यां मधुकुल्यां च विस्तृताम्॥
नवनीतकुल्यां पूर्णां च तक्रकुल्यां यदृच्छया।
शर्करोदककुल्यां च परिपूर्णां च लीलया॥
तण्डुलानां च शालीनामुच्चैश्च शतपर्वतान्।
पृथुकानां शैलशतं लवणानां च सप्त च॥
सप्त शैलाञ्छर्कराणां लड्डुकानां च सप्त च॥
परिपक्वफलानां च तत्र षोडश पर्वतान्।
यवगोधूमचूर्णानां पक्वलड्डुकपिण्डकान्॥
मोदकानां च शैलं च स्वस्तिकानां च पर्वतान्।
कपर्दकानामत्युच्चैः शैलान् सप्त च नारद॥
कर्पूरादिकयुक्तानां ताम्बूलानां च मन्दिरम्।
विस्तृतं द्वारहीनं च वासितोदकसंयुतम्॥
चन्दनागुरुकस्तूरीकुङ्कुमेन समन्वितम्।
नानाविधानि रत्नानि स्वर्णानि विविधानि च॥
मुक्ताफलानि रम्याणि प्रवालानि मुदान्वितः।
नानाविधानि चारूणि वासांसि भूषणानि च॥
पुत्रान्नप्राशने नन्दः कारयामास कौतुकात्।

(ब्रह्मवैवर्तपु० कृष्णखण्ड, अ० १३)

जिस आँगनमें श्रीकृष्णचन्द्र अन्नप्राशन करेंगे, उसे भी व्रजेन्द्रने स्वयं उपस्थित रहकर सजाया है। सुमार्जित, चन्दनवारिसे सर्वत्र सिक्त विशाल सुन्दर प्राङ्गणमें चारों ओरसे ऊँचे-ऊँचे सघन कदलीस्तम्भ खड़े कर दिये गये हैं। कदलीस्तम्भोंपर यथास्थान सूक्ष्म वस्त्रोंमें ग्रथित आम्र-नवपल्लव टँगे हैं। स्थान-स्थानपर फल-पल्लवसमन्वित, चन्दन-अगुरु-कस्तूरी-पुष्पपरिशोभित अनेक मङ्गल कलश रखे हैं। कलशके समीप पुष्प-समूहोंके, चित्र-विचित्र वस्त्रोंके ढेर लगे हैं। ब्राह्मणोंके विराजनेके लिये यथास्थान आसन एवं उनकी पूजाके लिये मधुपर्कपूरित अनेक पात्र रखे हैं। शत-शत स्वर्णसिंहासन दानके लिये सजा-सजाकर रखे हुए हैं।

यह सारी व्यवस्था व्रजेन्द्रने केवल तीन पहरमें की है। असंख्य गोपसेवकोंको लेकर आधी रातके समय व्रजेश्वरने कार्य प्रारम्भ किया था। पहर दिन चढ़ते-चढ़ते सारी व्यवस्था पूर्ण हो गयी है। अब इधर रेवती नक्षत्र भी प्रारम्भ हो चुका। शुभ योग भी आ गया है। आज चन्द्र तो मीन लग्नमें अवस्थित हैं ही। ब्राह्मण भी कदलीमण्डपमें पधार गये हैं। अतः अविलम्ब क्रिया आरम्भ हो जाती है।

शास्त्रविधिका अनुसरण करते हुए व्रजेन्द्र, व्रजरानी दोनों ही पुनः मङ्गल-स्नान करते हैं। स्वयं निवृत्त होकर फिर व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रको स्नान कराती हैं। पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर आसनपर नन्ददम्पति विराजते हैं। उस समय व्रजरानीकी गोदमें श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर व्रजेन्द्र कुछ क्षणके लिये तो सब कुछ भूल जाते हैं। याजक भूदेवोंकी भी यही दशा होती है। मङ्गलगान करती हुई व्रजाङ्गनाएँ भी श्रीकृष्णचन्द्रकी वह दिव्य छबि देखकर विमुग्ध हो जाती हैं। ब्राह्मण कुछ देर बाद प्रकृतिस्थ होकर आचमन, स्वस्तिवाचन, दीपप्रज्वालन, अर्घ्यस्थापन आदि सम्पन्न कराते हैं; पर उनकी मुद्रा ऐसी हो गयी है मानो किसी गाढ़ समाधिसे अभी-अभी उठे हों। व्रजेन्द्र भी नान्दीश्राद्ध आदि सभी कर्मोंका समाधान करते जा रहे हैं—किंतु इस तरह, जैसे उनके हाथोंसे कोई अचिन्त्य शक्ति क्रिया करवा दे रही हो, स्वयं वे इस शरीरसे कहीं अलग चले गये हों।

शास्त्रीय कर्मकाण्ड पूरा होते ही एक साथ दुन्दुभि, ढक्का, पटह, मृदङ्ग, मुरज, आनक, वंशी, संनहनी, कांस्य आदि वाद्य बजने लगते हैं। उमंगमें भरे वन्दीजन वाद्य-स्वरमें अपना स्वर मिलाकर गाने लगते हैं। व्रजाङ्गनाएँ तो सुमधुर कण्ठसे पहलेसे ही गा रही हैं। इनके अतिरिक्त इसी समय आकाशपथमें विद्याधरियाँ नृत्य करने लगती हैं और गन्धर्व गान करने लगते हैं। विशुद्ध-प्रेमरस-भावितचित्त व्रजवासी आश्चर्यसे आकाशकी ओर देखते हैं, नृत्य-गानका अनुभव करते हैं, पर किसीको देख नहीं पाते। वे सोचते हैं—सम्भव है, हमारे ही नृत्यगानकी प्रतिध्वनि हो अथवा अभी-अभी व्रजेन्द्रनन्दनके अन्नप्राशनसंस्कार-सम्बन्धी दी हुई आहुतिको ग्रहण करनेके लिये अन्तरिक्षमें जो देववृन्द पधारे थे, उन्हींका नर्तन-गायन हो। अस्तु,

अब तुमुल आनन्द-कोलाहलसे पुलकित होते हुए व्रजेन्द्र अपने पुत्रके अधरसे अन्नका स्पर्श कराते हैं—

घरी जानि सुत-मुख जुठरावन नँद बैठे लै गोद।
महर बोलि, बैठारि मंडली, आनँद करत बिनोद॥
कनक-थार भरि खीर धरी लै, तापर घृत-मधु नाइ।
नँद लै-लै हरि मुख जुठरावत, नारि उठीं सब गाइ॥
षटरस के परकार जहाँ लगि, लै लै अधर छुवावत।
बिस्वंभर जगदीस जगत-गुरु, परसत मुख करुवावत॥

जिस समय व्रजेन्द्र तीक्ष्ण, कटु, अम्ल, लवण रसोंका कृष्णचन्द्रके अधरोंसे स्पर्श कराते हैं, उस समय वे अभिनव बाल्यमाधुरीका प्रकाश करते हुए अपने होठ सिकोड़ने लगते हैं। ओह! जो अपने एक क्षुद्र अंशमें स्थित अनन्त ब्रह्माण्डको क्षणभरमें चूर्ण-विचूर्णकर विलीन कर लेते हैं, ऐसे अनन्त महाप्रलय, महाभोजनके समय भी जिनमें विकृति नहीं आती, उनका कणिकामात्र तीक्ष्ण, कटु आदि रसोंसे मुख करुआना—मुख विकृत करना कितना आश्चर्यमय है, यह कितना मोहक लीलाविलास है!

व्रजेन्द्रको भी ऐसा प्रतीत हुआ कि ऐसे सुकोमलतम पाटलदलसदृश अधरोंपर तीक्ष्ण, कटु रस रखना अत्याचार है, महान् क्रूरता, अत्यन्त नृशंसता है। इसलिये उन्होंने अतिशय शीघ्रतासे जल लेकर श्रीकृष्णके अधरोंको पोंछ दिया, पोंछकर व्रजरानीकी गोदमें उन्हें रख दिया।

तनक-तनक जल अधर पौंछि कै, जसुमति पै पहुँचाए।

व्रजरानी गोदमें लेकर चाहती हैं कि इसे छोड़ूँ ही नहीं, हृदयसे लगाये ही रहूँ। पर अन्य व्रजाङ्गनाओंकी व्याकुलता देखकर वे द्रवित हो जाती हैं। पासमें खड़ी, यशोदानन्दनको हृदयपर धारण करनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित एक गोपीकी गोदमें वे पुत्रको रख देती हैं। फिर तो क्रमशः गोदमें ले-लेकर मुख चूम-चूमकर गोपसुन्दरियाँ कृतार्थ हो जाती हैं—

हरषवंत जुबतीं सब लै-लै, मुख चूमतिं उर लाएं।

इन सब कामोंसे निवृत्त होकर व्रजेन्द्र अगणित ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं। दक्षिणाका तो कहना ही क्या है। इतनी प्रचुर दक्षिणा प्रत्येक ब्राह्मणको मिली है कि वे ढो नहीं सकते। इनके अतिरिक्त कितना दान हुआ, इसकी इयत्ता करना सम्भव नहीं। वे सब अन्नादिके पर्वत भी वितरण कर दिये गये। दधि-दुग्धकी नदियोंके लिये तो कोई प्रतिबन्ध ही नहीं है।

जो चाहे, जितना चाहे, उसमेंसे ले सकता है। बहुतोंने लिये भी, पर वह तो नदी है, चतुर्थांश भी रिक्त न हो सकी। इसलिये वह आनन्दोन्मत्त हुए गोपोंकी, गोपबालकोंकी क्रीड़ास्थली बन गयी। उसमें कूद-कूदकर वे स्नान करने लगे। व्रजेन्द्रने सोच-समझकर ही इनका निर्माण कराया था। व्रजेन्द्रनन्दनके जन्मोत्सवके उपलक्षमें दूध-दही बिखेरकर गोपोंने दधि-दुग्धकी धारा बहा दी थी, गर्त बना दिये थे। आज व्रजेन्द्रने उनका आनन्द-वर्द्धन करनेके लिये अपनी ओरसे दधि-दुग्ध आदिकी नदियाँ बहा दीं।

ब्राह्मण-भोजन, अतिथिसत्कार समाप्त कर गोपकुलके साथ व्रजेन्द्र भोजन करने बैठते हैं—

महर गोप सब ही मिलि बैठे, पनवारे परसाए।
भोजन करत अधिक रुचि उपजी, जो जाकें मन भाए॥

व्रजेन्द्र भोजन करके उठे ही थे कि कुछ गोपबालकोंने आकर कहा—'बाबा! हमलोग तो यहाँ थे, उत्सवमें विभोर थे, पीछेसे किसीने आकाशसे समस्त गोकुलमें स्वर्णकी वृष्टि की है।' वास्तवमें ही वृष्टि हुई थी। कुबेर दर्शनकर कृतार्थ होनेकी आशासे श्रीकृष्णचन्द्रका अन्न-प्राशन देखने आये थे। मनमें आया—अपने स्वामी व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रको मैं क्या भेंट चढ़ाऊँ? मेरे पास है ही क्या? सब वस्तु तो उनकी ही है, पर उनकी वस्तु ही उन्हें अर्पण कर देनेपर वे प्रसन्न हो जाते हैं; फिर संकोच क्या है। लो नाथ! मेरा यह क्षुद्र उपहार तुम्हारी प्रीतिका कारण हो। यह सोचकर कुबेरने तीन मुहूर्ततक स्वर्ण-वृष्टि करके गोकुलको परिपूर्ण कर दिया था—

त्रिमुहूर्तं कुबेरश्च श्रीकृष्णप्रीतये मुदा।
चकार स्वर्णवृष्ट्या च परिपूर्णं च गोकुलम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपु०, कृष्णखण्ड, अ० १३)

गोप इस स्वर्ण-वृष्टिसे चकित अवश्य हुए, पर यह उनके आदरकी वस्तु नहीं बन सकी। कैसे बने? जिन व्रजवासियोंके सामने व्रजेन्द्रनन्दन हैं, उनके लिये इस तुच्छातितुच्छ स्वर्णराशिका मूल्य ही क्या है? ऐश्वर्यज्ञानविहीन विशुद्ध प्रेमके आस्वादनमें ये व्रजगोप, गोपसुन्दरियाँ तो तन्मय हैं। उनके लिये, व्रजेन्द्रनन्दन तत्त्वतः क्या हैं, इसके अनुसंधानकी आवश्यकता नहीं। पर वस्तुस्थिति तो अनुसंधानकी अपेक्षा नहीं रखती। वह तो जो है, वह रहेगी ही। ये व्रजेन्द्रनन्दन ही तो आत्माके आत्मा हैं, प्रियोंके भी प्रियतम हैं; इन्हींके लिये देहादि भी प्रिय हैं, इनसे प्रेम करनेमें ही जीवनकी परम सार्थकता है—शेषशायी पुरुषके रूपमें व्रजेन्द्रनन्दनने ही तो यह कहा है—

अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः॥

(श्रीमद्भा० ३। ९। ४२)

ऐसे इन स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनको पाकर इनके प्रति अपना मनःप्राण न्योछावर कर देनेवाले व्रजपुरवासियोंके लिये तो कुबेरका वैभव अत्यन्त नगण्य है। वे, भला, इस तुच्छ वस्तुको क्या आदर दें?

इस तरह व्रजेन्द्रनन्दनका अन्नप्राशन-संस्कार समाप्त हुआ। उस दिनकी संध्या आयी, रात्रि आयी, फिर नूतन प्रभात आया। जननी यशोदा एवं व्रजवासियोंके लिये ये आठ पहर क्षणके समान बीत गये। जननी तो आठों पहर श्रीकृष्णचन्द्रका मुख ही देखती रही हैं। एक दिनसे नहीं, पाँच महीने इक्कीस दिन हो गये हैं। इतने दिनसे वे निरन्तर पुत्रकी छबि देखती आयी हैं और बलिहार जाती रही हैं—

जननी देखि छबि, बलि जाति।
जैसैं निधनी धनहि पाऐं, हरष दिन अरु राति॥
बाल-लीला निरखि हरषति, धन्य-धनि ब्रजनारि।
निरखि जननी-बदन किलकत, त्रिदस-पति दै तारि॥
धन्य नँद, धनि-धन्य गोपी, धन्य ब्रज कौ बास।
धन्य धरनी करन पावन जन्म सूरजदास॥

व्रजमें क्रमशः छहों ऋतुओंका आगमन और श्रीकृष्णकी वर्षगाँठ

व्रजपुरको अलङ्कृत करने वर्षा-ऋतु आयी हुई थी। वह श्यामघटाका विस्तार करके रिम्‌झिम्-रिम्‌झिम् करती हुई बूँदोंके रूपमें नन्दप्राङ्गणमें झरा करती। एक दिन झरते समय हठात् उसने यशोदाके क्रोडमें अवस्थित श्यामवर्ण नवजात नन्दनन्दनको देखा। देखते ही मानो उसे प्रतीत हुआ—मेरे निर्माणसे पूर्व किसी विश्वातीत विचित्र स्रष्टाने इस श्यामशिशुका निर्माण किया था, निर्माणके पश्चात् उसने अपने श्याम-रङ्ग-रञ्जित हाथोंको सागरमें धोया था, वह हस्त-प्रक्षालित श्यामवारि जमकर घन हो गया, उसीको उपादान बनाकर विधाताने मेरे नवजलधर-रूपमें व्यक्त होनेवाले अङ्गोंकी रचना की थी। आज वर्षाको नन्दनन्दनका रूप देखकर अपने रूपके उद्गमका ज्ञान हुआ। इतना सुन्दर मूल देखकर वह फूली न समाती थी। अतृप्त नयनोंसे वह नन्दनन्दनका सौन्दर्य निहारती हुई व्रजके आकाशमें नाच रही थी। नाचते-नाचते मनमें आया—एक बार सर्वथा नन्दनन्दनमें मिल जाऊँ, निकटतम स्पर्श पाकर कृतार्थ हो जाऊँ, साथ ही इनकी श्यामताकी एक पुट मेरे अङ्गोंपर और लग जाय, कदाचित् नन्दनन्दनके अतुल श्यामल अङ्गोंकी यत्किञ्चित् तुलनाकी सामग्री मेरे अङ्ग भी बन जायँ। वर्षाने मानो इसी उद्देश्यसे अपने अङ्गों (मेघ)-को समेटा तथा देखते-ही-देखते वह इस बार—आकाशमें नहीं—व्रजेन्द्रनन्दनके श्याम अङ्गोंमें विलीन हो गयी।

इसके पश्चात् शरत्-सुन्दरी आयी। राशि-राशि विकसित पद्मोंकी ओटसे झाँक-झाँककर मानो वह देख रही थी कि इस बार व्रजपुर कैसा सजा। नन्दप्रासादके दक्षिण पार्श्ववर्ती सुरम्य सरोवरके प्रस्फुटित कमलोंमें छिपकर बैठी हुई वह एक दिन नन्दभवनकी शोभा परख रही थी। हठात् प्रिय पुत्रको गोदमें लिये व्रजरानी गवाक्षरन्ध्रोंके समीप आ गयीं तथा शरत्-सुन्दरीने नन्दनन्दनको देख लिया। उसने मानो अनुभव किया—ओह! नन्दनन्दनका मुख तो एक पूर्ण प्रस्फुटित अरविन्द है, दोनों नेत्र दो उत्फुल्ल कमल हैं, दोनों हाथ विकासोन्मुख दो अम्बुजकोरक हैं; नाभि? नाभि नहीं है, यह तो एक अरुणाम्भोजकोष (लाल कमलकी कली) है तथा ये दोनों चरण तो पूर्ण विकसित पङ्कज हैं। इन अष्टकमलोंकी शोभा भी विलक्षण ही थी। स्वप्नमें भी शरद्ने अबतक ऐसे सुन्दर कमलकी कल्पना नहीं की थी। उसने अपने अञ्चलमें भरे हुए अनन्त पद्मोंका सौन्दर्य एकत्रित किया तथा इस ढेरमें अपने कोषकी समस्त संचित श्री मिला दी। फिर भी देखा—इन आठमेंसे एक कमलके कणमात्र सौन्दर्यकी भी तुलना इस ढेरसे असम्भव है। स्तब्ध होकर वह नन्दनन्दनकी ओर देखने लगी। अवधि आनेतक वह अपलक नेत्रोंसे नन्दनन्दनको ही निहारती रही। जब जाने लगी, तब उनके प्रति प्रबल आकर्षणवश सारी शोभा बटोरकर उसे हृदयमें छिपाये इस बार वह भी मानो नीले निर्मल आकाशमें नहीं, बल्कि नन्दनन्दनके नेत्रकमलोंमें जा मिली।

अब हिमाचलकी ओरसे हेमन्त आया। धूएँका वितान तानकर वह व्रजपुरमें निवास करने लगा।* उसका आगमन देखकर कहीं मेरे नीलमणिको हेमन्तकी दृष्टि न लग जाय, मेरा बालक रुग्ण न हो जाय, इस भयसे जननी यशोदा प्रायः नीलमणिको वस्त्रोंमें छिपाये रहतीं। दिनमें जब सूर्य ऊपर उठ आते तो उस समय मैया उनके अङ्गोंपरसे वस्त्र हटातीं, अङ्गोंमें तेल लगाकर उष्णवारिसे प्रक्षालित कर उन्हें पोंछतीं। इसी समय एक दिन दूर खड़े हुए हेमन्तने अपनी शीतल आँखोंसे नन्दनन्दनके दर्शन किये। जबतक सूर्य अस्ताचलगामी न हुए, तबतक वह खड़ा-खड़ा देखता रहा। पर सूर्यके छिपते ही जननीने भी नीलमणिको अपने आँचलमें छिपा लिया। इस अदर्शन-दुःखसे ही मानो हेमन्त सारी रात रोता रहा; प्रातःकाल राशि-राशि ओसकणके रूपमें हेमन्तके नेत्रोंसे झरे हुए अश्रुबिन्दु सर्वत्र बिखरे दिखायी दिये। दो मास वह रहा। इतने समय दिनमें नन्दनन्दनकी झाँकी पाकर

* हेमन्त-ऋतुमें सर्वत्र, विशेषतः जलाशयोंके समीप प्रायः धुआँ-सा छाया रहता है।

अतिशय प्रफुल्लित रहता, पर रात्रिमें खिन्न हो जाता—'हाय! मैं इतना शीतल क्यों हुआ, मेरी शीतलताके भयसे ही तो मैया अपने पुत्रको छिपा लेती हैं। किंतु अकस्मात् उसे एक बार अनुभव हुआ—नन्दनन्दनके चरणतलमें एक अभिनव शीतलता भरी है; उनके चरण अत्यन्त शीतल हैं, पर अत्यन्त सुखद हैं; उनका वह शैत्य तो किसीके लिये कष्टद नहीं होता, सभी उसका अभिनन्दन करते हैं। उसने सोचा—फिर क्यों नहीं मैं भी इन चरणोंमें ही मिल जाऊँ? इनके संसर्गसे मेरी कटुता भी दूर हो जायगी, व्रजवासी फिर मुझे अतिशय प्यार करने लगेंगे।' बस, इस भावनासे ही मानो हेमन्त नन्दनन्दनके चरणोंमें लीन हो गया।

ठीक यही दशा इसका अनुसरण करनेवाले इसके बन्धु शिशिरकी भी हुई। उतने ही दिन वह भी व्रजेन्द्रपुरीमें रहा। हेमन्तकी भाँति ही वह भी दिनमें व्रजेन्द्रनन्दनको निहारकर अत्यन्त प्रसन्न होता, पर रात्रिमें खिन्न हो जाता। अन्तर इतना ही था कि कभी-कभी उसे रात्रिमें यशोदानन्दनके अदर्शनसे मानो हेमन्तकी अपेक्षा भी अत्यधिक दु:ख होता था, दु:खसे उसके हृदयकी गति स्थगित हो जाती, उसका हृदय जम जाता था; शिशिरका जमा हुआ हृदय ही मानो हिमपिण्डोंके रूपमें प्रात:काल व्रजवासियोंको दीख पड़ता था। अस्तु, अन्तमें वह भी हेमन्तकी तरह भावित होकर नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके परम शीतल शंतम चरणोंमें मिल गया।

शिशिरका अवसान होनेपर आम्रमञ्जरियोंके अन्तरालसे अपने कर-पल्लवपर कोकिल बैठाये वसन्त निकला। दुकूलसे शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनका सञ्चार करता हुआ नन्दभवनमें जा पहुँचा। जाते ही उसने देखा—मणिमय प्राङ्गणमें श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये धात्री बैठी है। उसकी ओर मुख किये, रोहिणीनन्दन बलरामको गोदमें लिये वासन्ती परिधानसे विभूषित व्रजरानी बैठी हैं। उनकी पीठकी ओर श्रीरोहिणीजी खड़ी हैं तथा उनके पीछे गोपिकाओंका एक दल है। दूसरी ओर कुछ हटकर व्रजगोपोंके सहित व्रजेन्द्र खड़े हैं। सबकी दृष्टि श्रीकृष्णकी ओर है पर श्रीकृष्ण रामको एवं राम श्रीकृष्णको देख रहे हैं। अब धात्रीने श्रीबलरामकी ओर लक्ष्य करके कहा—"बेटा राम! कलकी तरह तू बोल दे, एक बार 'मा मा ता ता' कह दे।" राम धात्रीका आदेश पाकर मधुरस्वरमें 'मा मा ता ता' कह उठे। बस, उसी क्षण अपने समस्त अङ्गोंको कम्पित कर वेगसे किलकते हुए, करकमलोंको नचाते हुए, रामकी ओर झुककर श्रीकृष्ण भी बोल उठे—'मा मा ता ता, मा मा ता ता।' ओह! इस ध्वनिने तो आनन्दकी सरिता बहा दी; उसमें व्रजरानी, गोपिकाएँ, गोप, गोपेन्द्र—सब डूब गये—

मा मा ता ता इति वचः पठन्नन्दतनूजनुः।
आनन्दार्थमभूत्पित्रोर्व्रजस्य निखिलस्य च॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

उसी समय 'कुहू-कुहू' करती हुई कोकिल पुकार उठी; किंतु किसीने भी यह 'कुहू-कुहू' नहीं सुना। सबके कर्णरन्ध्रोंमें गूँज रहा था—'मा मा ता ता, मा मा ता ता।' वसन्तके कानोंमें भी केवल 'मा मा ता ता' झङ्कृत हो रहा था। वसन्तने अनुभव किया—मेरे अधिकृत कोकिलकण्ठमें ऐसी मधुधारा बहानेकी शक्ति नहीं। वह यह सोच ही रहा था कि श्रीकृष्ण-अङ्गोंको छूकर आये हुए पवनने उसके नासापुटोंमें एक विलक्षण सुरभि भर दी। फिर तो वसन्त आनन्दमत्त हो गया। आनन्दमत्त हुआ वह श्रीकृष्णकी, श्रीकृष्णकी व्रजपुरीकी परिक्रमा करने लगा। यद्यपि श्रीकृष्णाङ्ग-सौरभकी तुलनामें समस्त वसन्तश्री अत्यन्त तुच्छ नगण्य बन चुकी थी, फिर भी वह (वसन्त) माधवी, बकुल आदि पुष्पोंका पराग पवनको देता एवं कह देता—ले जाओ; इन्हें श्रीकृष्णके अङ्गोंसे छुला देना, इनका अस्तित्व सफल हो जायगा। एक दिन प्रातः समीरके हाथ चम्पकपरागकी भेंट चढ़ाकर वह श्रीकृष्णको देखने गया था। उस समय उनकी एक नयी लीला उसने देखी—तुमुल हर्षध्वनिसे समग्र नन्दप्राङ्गण निनादित है, गोपिकाएँ ताली पीट रही हैं, श्रीकृष्ण किलकते हुए आँगनमें घुटरूँ चल रहे हैं, कुछ

व्रजसुन्दरियाँ व्रजरानीसे कह रही हैं—

तुम जो मनावत, सोइ दिन आयौ।
अपनौ बोल करौ किन जसुमति, लाल घुटरुवन धायौ॥

तबसे वसन्त प्रतिदिन ही श्रीकृष्णकी इस लीलाका दर्शन करता। किंतु अब उसका अधिकार समाप्त हो रहा था। द्वारपर ग्रीष्म प्रतीक्षा कर रहा था। उदास होकर वसन्तने सोचा—आह! पुनः मेरा अधिकार आनेपर भी श्रीकृष्णकी यह रिङ्गणलीला कहाँ देखनेको मिलेगी? ठीक इसी समय श्रीकृष्णके मुखकमलपर मन्द मुसकान छा गयी। बस, वसन्तको मानो उपाय सूझ गया और वह अपनी समस्त सम्पत्ति लिये हुए ही उस मुसकानमें मिलकर तन्मय हो गया।

अब शिरीष-पुष्पोंका मुकुट धारण किये एवं मल्लिका-कुसुमोंकी माला पहने ग्रीष्म आया। परंतु फिर भी उसके अङ्ग जल रहे थे। न जाने कितने कालसे ग्रीष्म जलता ही आया है। इसीलिये उसकी जलन दूसरोंपर भी प्रभाव डालती है। वह जहाँ जाता है, वहीं तापका विस्तार करता है। किंतु इस बार ग्रीष्मने आश्चर्यमें भरकर यह देखा कि व्रज उसके प्रभावसे झुलसा नहीं। उसने अनुभव किया—व्रजपुरकी लता-वल्लरियोंने आज जब मैं आया, तब मेरा स्वागत तो किया, मेरा अधिकार भी माना, पर वे म्लान नहीं हुईं; सरोवरोंने मेरा उचित आतिथ्य किया, पर वे शुष्क नहीं हुए। वह सोचने लगा—ऐसी विलक्षण सरसता व्रजमें कहाँसे आयी? व्रजपुरके सिवा तो अन्य सभी मेरे अधिकृत देश जल रहे हैं; मथुरेश कंसके मधुवनपर भी इस समय मेरा ही अबाध अधिकार है—वह भी जल रहा है; फिर नन्दव्रजमें ही यह परिवर्तन क्यों है? यह सोचते हुए ही दैवक्रमसे वह नन्दभवनमें जा पहुँचा तथा वहाँ उसने एक विचित्र दृश्य देखा—पाटलपुष्पनिर्मित अवतंस धारण किये कुछ व्रजसुन्दरियाँ मणिस्तम्भोंकी ओटमें छिपकर खड़ी हैं, शान्त रहकर श्रीकृष्णकी चेष्टा देख रही हैं; श्रीकृष्ण घुटुरूँ चलकर द्वारके पास आ गये हैं, पर आगे नहीं जा पा रहे हैं; क्योंकि पद्मरागमणिनिर्मित द्वारकी चौखट धरातलसे एक हाथ ऊँची है, उनका पथ रोके खड़ी है। शिशु श्रीकृष्ण हाथोंसे चेष्टा करते हैं कि चौखटपर चढ़ जाऊँ, चढ़कर उसे पार कर जाऊँ, पर चढ़ नहीं पाते; सारा बल लगाकर चौखट लाँघना चाहते हैं, पर लाँघ सकते नहीं, हारकर वहीं हाथोंको नचा-नचाकर खेलने लग जाते हैं। ओह! कैसी मुनिमनमोहन लीला है! जिन्होंने एक दिन दानमें प्राप्त हुई तीन पद भूमि नापने जाकर दो पदसे ही सारी त्रिलोकी नाप ली थी, तीसरे पदके लिये भूमि नहीं बची थी—इतने बड़े जिनके पद हैं, वे ही आज शिशुका साज साजे द्वारलङ्घनमें असमर्थ दीख पड़ रहे हैं—

छिति नापी त्रिपाद करुनामय, बलि छल दियौ पतार।
देहरी उलँघ सकत नहिं सो प्रभु; खेलत नंद-दुवार॥

ग्रीष्मने व्रजपुरकी सरसताका रहस्य जान लिया। इसके बाद उसने श्रीकृष्णकी अनेकों सरस सुन्दर लीलाएँ और देखीं। कभी देखा—

आनँद प्रेम उमंगि जसोदा, खरी गुपाल खिलावै।
कबहुँक हिलकै-किलकै जननी, मन सुख-सिंधु बढ़ावै॥
दै करताल बजावति गावति, राग अनूप मल्हावै।
कबहुँक पल्लव पानि गहावै, आँगन माँझ रिंगावै॥
सिव-सनकादि, सुकादि, ब्रह्मादिक खोजत अंत न पावै।
गोद लिऐं ताकौं हलरावै, तोतरे बैन बुलावै॥
मोहे सुर, नर, किंनर, मुनिजन, रबि रथ नाहिं चलावै।
मोहि रहीं ब्रजकी जुवतीं सब, सूरदास जस गावै॥

कभी देखता—तोरणद्वारके पास व्रजरानीने श्रीकृष्णको लाकर बैठा दिया है। स्वयं कुछ दूरपर गोपिकाओंके साथ खड़ी रहकर उनकी चेष्टा देख रही हैं। वहाँ रत्नघटित अलिन्द (बरामदेके चबूतरे)-पर बकैयाँ चलते हुए श्रीकृष्ण खेल रहे हैं। वहीं उड़ते हुए कपोतोंका एक झुंड आया तथा अलिन्दकी छतसे लगे हुए मणिदण्डोंपर बैठ गया। चबूतरेपर उन पक्षियोंकी स्पष्ट प्रतिच्छाया पड़ने लगी। श्रीकृष्ण उन प्रतिबिम्बोंकी ओर ध्यानसे देखने लगते हैं, मानो सोच रहे हों कि यह क्या वस्तु है। फिर धीरे-धीरे दोनों हाथ एवं जानुओंके बल उनकी ओर चल पड़ते हैं। वहाँ

पहुँचकर दक्षिण हस्तकी अरुण-मृदुल अङ्गुलियोंसे प्रतिबिम्बको पकड़नेकी चेष्टा करते हैं। यह देखते ही व्रज-पुरन्ध्रियोंमें आनन्दका प्रवाह बह जाता है।

कराभ्यां जानुभ्यां लघु लघु चलन् रत्नघटिते
प्रघाणे तत्प्रान्तावरणमणिदण्डेषु वसताम्।
प्रतिच्छायां वीनामरुणमृदुलैरङ्गुलिदलैः
कृतारम्भो धर्त्तुं व्रजपुरपुरन्ध्रीः सुखयति॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

एक दिन उसने देखा—श्रीकृष्ण एवं रामके समस्त अङ्ग आँगनकी धूलिसे सने हैं। इन धूलि-धूसरित अङ्गोंकी अद्भुत शोभा हो रही है। घुटुरूँ चलते हुए वे दोनों बड़ी देरसे खेल रहे हैं। अचानक आगन्तुक गोपिकाओंको देखकर वे डर-से गये; दौड़कर दोनों जननीके पास जा पहुँचे। श्रीरोहिणी एवं व्रजरानी कर्दमलिप्ताङ्ग पुत्रोंको अपने भुजपाशमें बाँधकर हृदयसे लगा लेती हैं; पुत्रवात्सल्यके प्रबल आवेगवश उनके स्तनोंसे अविरल दुग्धधारा क्षरित होने लगती है; दोनों जननियाँ अविलम्ब अपने दोनों पुत्रोंके मुखोंमें स्तन दे देती हैं। मुखमें स्तन लेते समय उनके नये निकले हुए छोटे-छोटे दो-चार दाँत चमक उठते हैं तथा जननीके स्तनामृतका स्पर्श पानेसे मुखपर मन्दहास्य छा जाता है। इस मुग्धस्मित एवं अल्पदशनोंसे समन्वित मुखका सौन्दर्य निहारकर दोनों जननियाँ परमानन्द-सागरमें निमग्न हो जाती हैं—

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २३)

भला, जो अपने श्रीमुखसे उद्घोषित कर चुके हैं—

मृत्युश्चरति मद्भयात् (श्रीमद्भा० ३। २५। ४३)
'महाभयावह मृत्यु मेरे भयसे ही कार्य करता है।'

—उनका कतिपय आगन्तुक गोपवनिताओंसे भयभीत होकर जननीकी गोदमें आश्रय लेना कितना मोहक है! अनन्तैश्वर्यशालिन्! गोलोकविहारिन्! भक्तानुग्रहविग्रह श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हारी ऐसी ऐश्वर्यशून्य लीलाकी बलिहारी है! तुम्हारा यह दुग्धपान धन्य है!

अनुदिन स्त्रवत सुधारस पंचम चिंतामनि-सी धेनु।
सो तजि जसुमति कौ पय पीवत भक्तनि कौं सुख देनु॥

एक-से-एक बढ़कर सरस एवं आश्चर्यमें भर देनेवाली लीलाएँ ग्रीष्मके सामने प्रकट हो रही थीं तथा वह देख-देखकर मुग्ध हो रहा था। अब उसने देखा कि यशोदारानी श्रीकृष्णको खड़ा होना सिखला रही हैं—

धनि जसुमति बड़भागिनी, लिएँ कान्ह खिलावै।
तनक तनक भुज पकरि कैं, ठाढ़ौ होन सिखावै॥

किंतु आश्चर्य है, अनन्तशक्ति श्रीकृष्णमें अभी यह शक्ति नहीं है कि वे अपने पैरोंपर खड़े हो सकें। अस्तु, उनकी असमर्थता एवं जननी यशोदाकी लालसा देखकर पासमें खड़ी व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णको प्रोत्साहन देने जाती हैं, श्रीकृष्णकी भुजा पकड़कर खड़ा होनेको कहती हैं। कैसी भुजा पकड़कर?

जिहिं भुजबल प्रहलाद उबार्‌यौ, हिरनकसिप उर फारे हो!
सो भुज पकरि कहति ब्रजनारी, ठाढ़े होहु लला रे हो!

इसके दो दिन बाद ही ग्रीष्मने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र खड़े होने लगे हैं तथा मैया अब उन्हें चलना सिखला रही हैं—

झुनक स्याम की पैजनियाँ।
जसुमति सुत कौं चलन सिखावति, अँगुरी गहि गहि दोउ जनियाँ॥
स्याम बरन पर पीत झँगुलिया, सीस कुलहिया चौतनियाँ।
जाकौ ब्रह्मा पार न पावत, ताहि खिलावति ग्वालिनियाँ॥

पास खड़े आनन्द-मुग्ध व्रजेश्वर पुत्रकी ओर देख रहे हैं। मैयाकी चेष्टा जब सफल नहीं होती, तब पुत्रको स्पर्श करनेके लोभसे वे स्वयं शिक्षा देने आते हैं—

गहें अँगुरिया ललन की, नँद चलन सिखावत।
अरबराइ गिरि परत हैं, कर टेकि उठावत॥

पर दो दिन बाद ही मानो जननीकी लालसाने ही उनके पैरोंमें चलनेकी शक्ति भर दी। श्रीकृष्ण जननीकी अँगुली पकड़कर आँगनमें सर्वत्र चलने लगे। अवश्य ही द्वार लाँघनेमें श्रीकृष्णको अत्यन्त कठिनता होती—

भीतर तैं बाहर लौं आवत।
घर-आँगन अति चलत सुगम भए, देहरि पै अँटकावत।
गिरि-गिरि परत, जात नहिं उलँघी, अति स्त्रम होत नघावत॥

एक दिनके अन्तरसे ही अँगुली छोड़कर स्वतन्त्र भी चलने लगे। पर देहली-लङ्घनका प्रश्न अभी भी उतना ही कठिन है। आगे-आगे श्रीकृष्ण चलते, पीछे-पीछे व्रजरानी आतीं। किंतु जहाँ द्वार आया कि खड़े हो गये। मुसका-मुसकाकर, जननीका अञ्चल पकड़कर पार कर देनेके लिये मधुर अस्फुट तोतली बोलीमें बार-बार कहते। पर जननी बल लगाकर चढ़नेके लिये आदेश देतीं। श्रीकृष्ण भी अपना पूरा बल लगाते, पर नहीं ही चढ़ पाते; द्वारके इस पार ही रह जाते। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त बल पता नहीं इस समय कहाँ चला जाता—

सो बल कहा भयौ भगवान?
जिहिं बल मीन-रूप जल थाह्यौ, लियौ निगम, हति असुर-परान॥
जिहिं बल कमठ-पीठि पै गिरि धरि, सजल सिंधु मथि कियौ बिमान।
जिहिं बल रूप बराह दसन पर, राखी पुहुमी पुहुप समान॥
जिहिं बल हिरनकसिप उर फार्‌यौ, भए भगत कौं कृपानिधान।
जिहिं बल बलि बंधन करि पठयौ, बसुधा त्रैपद करी प्रमान॥
जिहिं बल बिप्र तिलक दै थाप्यौ, रच्छा करी आप बिदमान।
जिहिं बल रावनके सिर काटे, कियौ बिभीषन नृपति निदान॥
जिहिं बल जामवंत-मद मेट्यौ, जिहिं बल भू-बिनती सुनी कान।
सूरदास अब धाम-देहरी चढ़ि न सकत प्रभु खरे अजान॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी उन विविध रसमयी लीलाओंके दर्शनसे ग्रीष्मकी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती तथा अब तो वह रससागर श्रीकृष्णसे नित्य जुड़े रहनेके लिये तड़पने लगा; क्योंकि उसकी अवधि भी सीमित थी। ज्यों-ज्यों जानेका समय निकट आ रहा था, उसकी जलन बढ़ रही थी। सहसा एक दिन उसे श्रीकृष्णके सुचिक्कण कपोलोंपर प्रस्वेदकण दीख पड़े। बस, उसकी मनोरथ-पूर्तिका उसे सुन्दरतम अवसर मिल गया। वह अविलम्ब मानो श्रीकृष्णके कपोलोंपर झलकते हुए स्वेदबिन्दुओंमें ही विलीन हो गया।

इस प्रकार व्रजपुरमें छः ऋतुएँ आयीं तथा श्रीकृष्णचन्द्रके असीम सुन्दर रूप, गुण, लीलाका अनुभव कर उन्हींमें विलीन हो गयीं। अब समाधिसे जागी हुई-सी वर्षा पुनः आयी तथा आज पुनः भाद्रकृष्णा अष्टमीका दिन आया। इसी ऋतुचक्र एवं इस दिनसे जुड़ी हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी आयु भी एक वर्षकी हो गयी। आज अतिशय उमंगसे श्रीकृष्णकी वर्षगाँठ मनायी गयी है—

बरसगाँठि गिरिधरनलाल की गोपिन न्यौति बुलाए।
जसुमति मुदित सबन बोलन कौं घर-घर नंद पठाए॥
गाम-गाम प्रति पौरि-पौरि प्रति घर-घर नंद पधारे।
आदर दै बड़रे गोपन कौं एक आसन बैठारे॥
गाम-गाम तें सकट जोरि कैं नंद महर घर आए।
सुनि ब्रजरानी ब्रजबासिन मिलि सनमुख कलस पठाए॥
घर-घर धूप-दिपावलि करि कें निज मंदिर पधराए।
आदर दै बड़रे गोपन कौं जोरि सभा बैठाए॥
प्रेम-मुदित गावत व्रजनारीं जसुमति मंदिर आईं।
कंचन-थार बधाए सजि-सजि न्यौतो टीको लाईं॥
चंदन-अगर-कपूर-सुवासित आँगन-भौन लिपाए।
बंदनमाला सथिये द्वारें, मोतिन चौक पुराए॥
कनकपीठि तापर जुग धरि कैं दच्छिन चीर बिछाए।
महर महरि गिरिधरन गोद ले मुदित तहाँ बैठाए॥
अन्वाचार्य मुनि गर्ग-परासर कुस आसन पधराए।
बड़रे देव पुजाय लाल कौं बहुबिधि दान दिवाए॥
बंदीजन सब द्वारें गावैं, घुरे निसान-नगारे।
देव दुंदुभी गगन बजावत, ब्रज कौतूहल भारे॥
दै असीस द्वारें तहाँ जाचक भए सबन मन भाए।
मुँह माँगे सबहिन कौं नखसिख पट-भूषन पहराए॥
राई-लौन उतारि आरती प्रमुदित मंगल गाए।
अति उछाह भरि-भरि लालन कौं सब की गोद दिवाए॥
बरन-बरन आभूषन सारी ब्रजतरुनीं पहराईं।
प्रमुदित बहुरि चली निज गृह कौं मनहुँ रंक निधि पाईं॥
नंदराय बड़रे गोपन कौं चरनन सीस नवाए।
जोरि उभय कर करत बीनती, कृपा पुन्य फल पाए॥
गोपबृंद ऋषिबृंद बिदा ह्वै देत चले आसीसा।
ब्रजपति-ब्रजरानी, हरि-हलधर जीवौ कोटि बरीसा॥

तृणावर्त-उद्धार

चक्रवाकी ऊँचे आकाशमें उड़ती जा रही है। उसके पीछे चक्रवाक उड़ रहा है। उनके ठीक नीचे मणिमय वेदिकापर जननीकी गोदमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्र कौतूहलभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख रहे हैं। नन्ही-सी सुकोमलतम दक्षिण तर्जनीको अपने अरुण अधरोंसे सटाये, दृष्टिको बिहङ्गम-दम्पतिकी ओर केन्द्रितकर वे सोच रहे हैं—ये पक्षी इतने ऊँचे कैसे उड़ रहे हैं, मैं भी ऐसे उड़ सकता हूँ क्या?

मानो किसीने उनके कानोंमें मन्त्रणा दे दी हो—बाल्यलीलारसमत्त यशोदानन्दन! तुम्हें उड़ना ही चाहिये, तुम अभी-अभी उड़ोगे ही। इस प्रकार प्रोत्साहित-से होकर वे अकस्मात् समस्त अङ्गोंको नचाते हुए वहीं गोदमें खड़े हो जाते हैं, जननी उन्हें भुजपाशमें बाँध लेती है; किंतु यशोदाके नीलमणि इस समय दूसरी धुनमें हैं। उन्हें तो इस समय आकाशका खेल खेलना है। इसीलिये जननीका चिबुक स्पर्श करते हुए तोतली बोलीमें वे कह उठते हैं—'री मैया! मैं भी ऊपर उड़ूँगा।'

व्रजमहिषी पुत्रके सुचिक्कण कपोलपर शत-शत चुम्बन अङ्कित कर आनन्दगद्गद कण्ठसे कहती हैं—'मेरे लाल! आकाशमें तो पक्षी उड़ते हैं; तू तो व्रजेन्द्रतनय है, तेरे भण्डारमें शत-सहस्र रत्नजटित रथ हैं; उन रथोंपर चल, तुझे चढ़ा दूँ।' किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र तो आज मचल गये हैं—वे तो आकाशमें ही उड़ेंगे और आज ही उड़ेंगे। इसी समय मानो नन्दनन्दनकी यह अद्भुत वाञ्छा पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही कंसप्रेरित तृणावर्त दैत्य अलक्षितरूपसे वहीं ऊपर आकाशमें आ पहुँचता है, आकर उनकी इस परम मनोहर बाल्यभङ्गिमाको देख रहा है। अपने नीलमणिको भुलानेके प्रयासमें लगी हुई नन्दगेहिनीने उसे नहीं देखा, आनन्दमें निमग्न यूथ-की-यूथ एकत्रित गोपाङ्गनाएँ भी उसे न देख सकीं—यह देखकर तृणावर्तके हर्षका पार नहीं। पर मूढ़ तृणावर्त यह नहीं देख सका कि श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्ति अघटघटनापटीयसी योगमाया उसे देख रही है—आजसे नहीं, उस दिनसे देख रही है, जिस दिन पाण्ड्यनरेश सहस्राक्षने पुष्पभद्राके तटपर प्रज्वलित अग्निकुण्डमें प्रवेशकर अपने प्राण विसर्जन किये थे, उन्हींका अनुगमन उनकी सहस्र प्रेयसियोंने भी किया था, अग्नि-प्रवेशसे पूर्व सहस्राक्ष पश्चात्तापकी ज्वालामें जल रहे थे, क्रन्दन कर रहे थे—'हाय! मैं कामान्ध था, ऋषि दुर्वासाकी अभ्यर्थना न कर सका और इसीलिये ऋषिने शाप दे दिया—

असुरो भव पापिष्ठ योगाद् भ्रष्टो भुवं व्रज॥
भारते लक्षवर्षं च स्थातव्यं ते नराधम।
ततो हरिपदस्पर्शाद् गोलोकं यास्यसि ध्रुवम्॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्)

'रे पापिष्ठ! जा, तू असुर हो जा! अरे! तू योगीन्द्र था; पर अब जा, योगभ्रष्ट होकर इस गन्धमादन पर्वतसे दूर पृथ्वीतलपर चला जा। नराधम! तुझे वहाँ भारतवर्षमें एक लाख वर्षतक निवास करना पड़ेगा। तब तुझे श्रीहरिके चरणारविन्दका स्पर्श प्राप्त होगा और तू निश्चय ही गोलोकधाममें चला जायगा।'

ऋषिकी अवज्ञाका परिणाम सहस्राक्षके सामने था; वे अतिशय विकल हो रहे थे। पर हृदयमें एक परम आश्वासनकी अनुभूति भी हो रही थी—ऋषिका यह शाप ही वरदान बनेगा, मेरा वह असुर-शरीर ही योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ श्रीकृष्णपदपङ्कजका संस्पर्शलाभ करेगा; ओह! मैं तो कृतार्थ हो जाऊँगा। इस भावनासे भावित हुए सहस्राक्ष हरिपादाम्भोजका स्मरण कर जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर गये थे—

स्मृत्वा हरिपदाम्भोजं ज्वलदग्नौ विवेश ह।

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्)

उन्हीं सहस्राक्षको तृणावर्त दैत्यके रूपमें परिणत होकर जन्म धारण करते भी लीलामहाशक्तिने देखा है। तबसे लाख वर्ष बीत गये हैं, किंतु तृणावर्तकी प्रतिक्षणमें होनेवाली सूक्ष्मतम चेष्टातक लीलाशक्तिके

हृत्पटपर आज भी ज्यों-की-त्यों अङ्कित है। वे तो तृणावर्तको निरन्तर देखती आ रही हैं। फिर आज कैसे न देखतीं? अस्तु।

जब व्रजरानीका पुत्रको समझानेका सारा प्रयास विफल हो गया, श्रीकृष्णचन्द्रने उड़नेकी हठ न छोड़ी, तब जननी भी एक नवीन युक्तिका आश्रय लेती हैं। वे बोलीं—'मेरे हृदयधन! अच्छा ले, तू पहले उड़ना सीख तो ले।' यह कहकर उन्होंने नीलमणिको अपने दोनों हाथोंके सहारे ऊपर आकाशकी ओर उठाया। पर यह क्या? सहसा ऐसे कैसे हो गया? नीलमणिके श्याम शरीरमें इतना भार कहाँसे आ गया? ओह! जननीकी भुजाएँ नमित हो गयीं। किसी प्रकार वे अपने वक्षःस्थलपर पुत्रको ले आयीं। पर वक्षःस्थल भी भारसे दब गया। मैया खड़ी न रह सकीं, बोझसे दबकर बैठ गयीं। किंतु अब तो बैठकर भी पुत्रको अपनी गोदमें थामनेकी सामर्थ्य जननीमें नहीं है! जननी धीरेसे नीलमणिको भूमिपर बैठा देती हैं, नहीं, नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रका नवघनश्याम कलेवर अत्यन्त गुरु भारके कारण व्रजरानीके हाथ एवं घुटनोंके लिये सर्वथा असह्य बनकर स्वयं मणिमय धरातलपर खिसक पड़ता है। इस आकस्मिक परिवर्तनसे व्रजमहिषीके मनमें किसी आगन्तुक अनिष्टकी सम्भावना होने लगती है। वे अतिशय भयभीत होकर जगत्के अन्तर्यामी नारायणदेवका ध्यान करने लगती हैं—

ध्यातवती च जगतामन्तर्यामिपूरुषम्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र अकस्मात् वास्तवमें इतने भारी क्यों हो गये, जननी इसका रहस्य न जान सकीं। जानतीं कैसे? वे ऊपर बैठे हुए तृणावर्तको, उसकी जघन्य अभिसंधिको जो नहीं जानतीं! वे जिस क्षण पुत्रको विशुद्ध वात्सल्यका दान दे रही थीं, अपने हाथोंपर उठाकर उड़ना सिखाने जा रही थीं, उस क्षण तृणावर्त दूरसे ही सोच रहा था—

सोऽयमेव तोयदवर्णः पृथुकः पृथुगृहालिन्दं विन्दमानाया मातुरङ्के वर्त्तत इति शङ्के। तदेनमधुना सर्वं धुनानः साम्बालमेव बालं सुरवर्त्मनि वर्त्तयानि।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाँ, प्रतीत तो हो रहा है, यह जलधरवर्ण शिशु वही है; विस्तृत गृहालिन्दपर अवस्थित जननीके क्रोडमें वही है। तब तो विलम्ब क्यों करूँ? बस, अब समस्त व्रजको प्रकम्पित करते हुए इस शिशुको माताके सहित आकाशमें उड़ा ले जाऊँ।'

जननीने यह नहीं देखा, नहीं जाना। किंतु जननीसहित नीलमणिको उड़ा ले जानेकी तृणावर्तकी उपर्युक्त कल्पना नीलमणिमें तत्क्षण प्रतिबिम्बित हो गयी। शिशु नीलमणि यशोदाके वात्सल्यपूरित नेत्रोंमें भले ही अबोध बालक हैं, पर उनका अनन्त ऐश्वर्य भी तो श्याम कलेवरमें छिपा हुआ नित्य जाग्रत् है। उसने ही तो वात्सल्यरसास्वादनमें विभोर श्रीकृष्णचन्द्रको जगा दिया। जागते ही संकल्प उदय हुआ—आह! मेरी जननीको इस तृणावर्तके द्वारा क्लेश क्यों मिले। फिर क्या था, ऐश्वर्य-शक्तिको अनुमति मिल गयी; वे बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके शरीरमें प्रकट हो गयीं। शिशु श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंमें कोई भी, तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ; पर शरीर गिरिशृङ्गकी भाँति अत्यन्त दुर्वह हो गया, जननी उसे वहन न कर सकीं—

मत्कृते मम कथं जनयित्री वात्यया परिभवं समुपैतु।
इत्थमङ्कगत एव स तादृक् स्तोक एव बहुदुर्वह आसीत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

नित्यसिद्धा विशुद्धवात्सल्यरसभावितमति नन्दरानीके हृदयमें इस रहस्यज्ञानके लिये स्थान भी कहाँ है। कदाचित् वे तृणावर्तका आगमन, उसके पापमय संकल्पको जान भी लेतीं, तो भी इस गुरुभारका हेतु मेरे ही नीलमणिकी इच्छा है, यह कल्पना उनके मनमें होनेकी ही नहीं है। उनके नीलमणि अनन्त-ऐश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् हैं, यह कल्पना व्रजेन्द्रगेहिनीने न कभी की है, न करेंगी। अस्तु,

अभी तो निर्धारित दृश्यका मङ्गलाचरणमात्र हुआ है। अभिनयका आरम्भ तो अब होगा। उसमें कुछ

समयके लिये जननीका पुत्रके समीपसे हट जाना आवश्यक है। इसीलिये योगमायाके अञ्चलकी छाया अब व्रजमहिषीपर भी पड़ने लगती है। एकाएक उनका मनोराज्य बदल जाता है, एक अभिनव अविवेकसे चित्त आच्छन्न हो जाता है। वे अनुभव करती हैं—नहीं, भयका कोई कारण नहीं; भगवान् श्रीनारायणदेवकी निर्मल इच्छासे ही, उनके किसी मङ्गलमय विधानसे ही मेरे नीलमणिका शरीर इतना भारी बन गया है। इस तरह सोचती हुई जननी यन्त्रचालितकी भाँति अन्तर्गृहकी ओर चल पड़ती हैं। पुत्रको वहीं रत्नघटित वेदिकापर छोड़े जा रही हैं, पर मनमें तनिक भी चिन्ता नहीं है। आह! जननी यह नहीं जानतीं कि कितना भीषण समय उपस्थित है। इतना ही नहीं, लीलाशक्तिके प्रभावसे भ्रान्त हुई जननी अनुभव कर रही हैं कि मैं तो जीवनधन नीलमणिको अपने साथ लिये आयी हूँ। अनन्त-अपरिसीम-प्रभावनिकेतन नीलमणि इस समय ऐश्वर्यके आवेशसे देदीप्यमान होकर वास्तवमें वेदिकापर विराजित हैं, पर जननीको भान हो रहा है कि मेरा वह नीलमणि तो मेरे साथ है। वे तो सर्वथा निश्चिन्त हैं। इसलिये चिन्तारहित हुई वे गृहमें प्रवेश कर जाती हैं, अन्य कार्योंमें संलग्न हो जाती हैं—

अथ भगवदिच्छयाच्छयाच्छुरितमानसा मानसार-तयाविवेकेनैव नैव चिन्तयित्वा विहायापि तं हा यापितं तं समयमविदती विदती च सहानीतमिति मितिहीनप्रभावं प्रभावन्तं गृहमध्ये प्रविश्य यदा कार्यान्तरनियुक्ता तस्थुषी। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णमायाके प्रभावसे ही भ्रमित होकर गोपाङ्गनाएँ भी, जो न जाने कितनी देरसे व्रजमहिषीका पुत्रसंलालन देख रही थीं, सब-की-सब अपने घरकी ओर चल पड़ीं। वह रत्न-अलिन्द भी श्रीकृष्णचन्द्रको अपने हृदयपर धारणकर परमानन्दका अनुभव करते हुए मानो मौन हो गया, समाधिस्थ हो गया। वहाँ एक अद्भुत शान्ति छा गयी। पर ऊपर बैठा हुआ तृणावर्त तो अब और भी चञ्चल हो उठा है। कुछ ही क्षण पहले वह आया था, श्रीकृष्णको देखकर जननीसहित उन्हें नष्ट कर देनेकी बात उसने सोची थी; पर संकल्प उदय होते ही उसने देखा, क्षणभर भी न लगा, व्रजमहिषी बालकको भूमिपर रखकर अन्तःपुरमें चली गयीं, अगणित गोपसुन्दरियाँ भी मानो वहाँसे अदृश्य हो गयीं। कहीं यह नवनीरदवर्ण शिशु भी अदृश्य न हो जाय, इस आशङ्कासे ही तृणावर्त व्यग्र हो उठता है तथा एक क्षणका भी विलम्ब न कर वह अपने चक्रवात (बवंडर)-स्वरूपमें प्रकट हो जाता है।

सहसा शत-सहस्र वज्रपातसे भी अधिक कर्णकटु महाघोर रवसे दिशाएँ प्रतिनादित और प्रकम्पित हो उठती हैं। समस्त व्रजपुरपर धूलका अंबार छा जाता है। धूल एवं अन्धकारसे सारा व्रज समाच्छन्न हो जाता है। व्रजपुरवासियोंके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। अत्यन्त भयावह प्रलयंकर दृश्य उपस्थित हो जाता है—

ऊर्ध्वोर्ध्वावर्तनृत्यत्प्रचुरतृणरजःशर्करापूरदूर-
भ्रंशैरभ्रंलिहाग्रो ग्लपितजनतनुः कोऽपि वात्याविवर्तः।
कल्पान्ते प्रज्वलिष्यत्फणिपतिवदनव्यूहवह्नेरुदीर्णैः
क्षोणीं निर्भिद्य धूमैरिव भुवनजनानन्धयन्नाविरासीत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अत्यन्त ऊपर वायुके आवर्तमें तृणराशि, धूलि-समूह, प्रचुर प्रस्तरखण्ड—सभी ढेर-के-ढेर नाच-से रहे हैं, नाचकर भूमिपर गिर रहे हैं। इनके सम्पर्कमें आकर पुरवासियोंके शरीरको अत्यन्त क्लेश हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है—मानो कल्पान्तका समय हो, भगवान् अनन्तदेवके सहस्रमुखोंसे प्रज्वलित अग्नि निकली हो, उस अग्निसे निर्गत धूम्रराशि पृथ्वी भेदकर ऊपर उठ आयी हो, वैसे धूमपटलकी भाँति यह प्रचण्ड चक्रवात भुवनस्थ प्राणियोंका दृष्टिरोध करता हुआ प्रकट हुआ है।'

झंझावातके इस घोर अन्धकारमें तृणावर्त नीचे उतरता है तथा अतिशय शीघ्रतासे श्रीकृष्णको उठाकर ऊपर उड़ जाता है। इसी समय मानो योगमाया भी श्रीयशोदापर डाले हुए आवरणको समेटकर श्रीकृष्णके

साथ ही उड़ गयी हों, इस प्रकार जननीका मन अब निरावरण हो गया है। जननीके मनमें अब स्फुरण होता है—'हैं! मेरा नीलमणि कहाँ है? हाय, हाय! मैं तो उसे वेदिकापर ही छोड़ आयी थी।' जननी उस घोर अन्धकारको चीरती हुई सर्वथा पथ न दीखनेपर भी हाथोंसे टटोलती हुई—यह प्राङ्गणका स्तम्भ, यह द्वार, यह तोरणद्वार, यह अलिन्द, ऐसे करती—वेदिकापर जा पहुँचती हैं; घन अन्धकारसे व्याप्त वेदिकाके उस अंशपर हाथ डालती हैं जहाँ उन्होंने नीलमणिको अपनी गोदसे उतारकर रखा था। पर आह! नीलमणि अब यहाँ कहाँ! जननी कटे वृक्षकी भाँति मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं; किंतु मूर्च्छाके लिये भी इस समय व्रजमहिषीके प्राणोंकी पीड़ा असह्य है। इसलिये वह भी उन्हें परित्याग कर अलग खड़ी हो जाती है। व्रजमहिषी पुनः चैतन्य हो जाती हैं। प्राणोंकी वेदनासे कराहती हुई एक बार वे पुनः वेदिकाका प्रत्येक अंश छान डालती हैं, पर नीलमणि नहीं मिले। हताश होकर मृतवत्सा गौकी भाँति वे वहीं पृथ्वीपर लोट जाती हैं। 'हाय रे मेरा नीलमणि! तू कहाँ गया? मैं अबला तुझे कहाँ पाऊँगी?'—यह चीत्कार कर उठती हैं। चारों ओर धूलिकी, प्रस्तरखण्डकी वर्षा हो रही है तथा जननी काष्ठपाषाणवज्रविदारक करुण स्वरमें पुत्रके लिये हाहाकार कर रही हैं—

इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद् भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। २४)

एक मुहूर्त समाप्त होते-न-होते बवंडरका वेग तो प्रशमित हो गया। पर शान्त होते ही गोपाङ्गनाएँ व्रजरानीका क्रन्दन सुनती हैं। जो जिस अवस्थामें है, वैसे ही दौड़ पड़ती है। यहाँ आकर देखती हैं—हाय! नन्दनन्दन नहीं हैं; उन्हें चक्रवात उड़ा ले गया। गोपियोंपर पुनः वज्रपात हो गया, हृदय चूर-चूर हो गया। कुछ तो मूर्च्छित हो गयीं, कुछ अत्यन्त करुण आर्त्तनाद करती हुई विलाप करने लगीं एवं कुछ नेत्रोंसे अश्रुधारा बहाती श्रीकृष्णको इधर-उधर ढूँढ़ने लगीं—कदाचित् श्रीकृष्ण मिल ही जायँ।

इधर तृणावर्तकी अत्यन्त दयनीय दशा है। बड़े उल्लाससे वह नन्दनन्दनको ऊर्ध्व आकाशमें उड़ाकर ले तो गया; पर अब उड़ानेकी बात दूर, उनका भार वहन करनेमें भी वह सर्वथा अक्षम हो गया है। उसे प्रतीत हो रहा है कि इस अद्भुत बालकमें पर्वतसदृश भार है, इसे लेकर अग्रसर होना असम्भव है। इतना ही नहीं, वह अब चाहता है—इस शिशुको अपनेसे अलग दूर फेंक दूँ। पर यह भी सम्भव नहीं है; श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे दैत्यके कण्ठको अत्यन्त दृढ़तासे धारण जो कर रखा है—धारणमात्र ही नहीं, वे शनैः-शनैः अपनी भुजामें अत्यधिक बलका संचार करके दैत्यके कण्ठको पीड़ित कर रहे हैं। कण्ठ संकुचित होता जा रहा है, श्वास रुद्ध होते जा रहे हैं। उसका तो अन्तिम क्षण उपस्थित है।

इस बार श्रीकृष्णकी कृपाशक्तिने पहलेसे ही उन्हें द्रवित कर दिया है। नन्दनन्दन सोच रहे हैं—जब पूतना मरी थी, उस समय उसके अत्यन्त भीषण घोर रवसे मेरे प्रिय व्रजपुरवासी अतिशय भयभीत हो गये थे। इस बार पामर तृणावर्तको मैं घोर चीत्कार करने ही न दूँगा। यही हुआ भी। देखते-देखते दैत्य निश्चेष्ट हो गया, दोनों नेत्र बाहर निकल आये, मौन आर्तनाद करता हुआ, निष्प्राण होता हुआ वह धीरे-धीरे नीचे गिरने लगा। उसके वक्षःस्थलपर विराजित, उसके कण्ठको वेष्टित किये हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी व्रजभूमिकी ओर आने लगे। प्रतीत हो रहा है, मानो तृणावर्तरूप सोपानका अवलम्बन कर सुखपूर्वक वे स्वर्गसे अवतरण कर रहे हों।

तृणावर्तके शरीरसे एक ज्योति निकली। तथा—

तज्ज्योतिः श्रीघनश्यामे लीनं सौदामनी यथा।

(गर्गसंहिता)

जैसे विद्युत् श्याम मेघराशिमें विलीन हो जाती है, वैसे ही उसकी वह ज्योति नवजलधरवर्ण श्रीकृष्णमें विलीन हो गयी। प्राणशून्य शरीर नन्दालयके अत्यन्त निकट एक शिलाबद्ध भूभागपर जा गिरा, जहाँ नन्दरानी

अपने नीलमणिको दूध पिलानेके लिये कतिपय गायोंका स्वयं दोहन करती हैं। पूतना दूरकी वनस्थलीमें गिरी थी; तृणावर्त अत्यन्त निकट गिरा। यह इसीलिये कि श्रीकृष्णके अतिशय प्रिय व्रजवासी उन्हें शीघ्रातिशीघ्र सुगमतासे ढूँढ़ निकालें; क्योंकि इस बार वे यह नहीं जानते कि श्रीकृष्ण किस ओर गये हैं। पूतनाको तो ले जाते देखा था, उसके पीछे प्राणोंकी ममता छोड़कर गोपसुन्दरियाँ दौड़ी जो थीं। अस्तु।

तृणावर्तके शिलापर गिरते ही महान् शब्द हुआ तथा उसका प्रत्येक अवयव चूर्ण-विचूर्ण हो गया। अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्र सर्वथा अक्षत हैं। शब्द सुनकर गोपसुन्दरियाँ दौड़ पड़ती हैं, दैत्यके विशीर्ण अवयवोंपर अवस्थित प्रसन्नवदन श्रीकृष्णचन्द्रको पा लेती हैं। अभी-अभी व्रजपुरके वक्षःस्थलपर शोककी जो तुमुल तरंगें नाच रही थीं, वे विलीन हो गयीं—नहीं-नहीं, उनके अन्तरालसे आनन्दकी सरिता प्रवाहित होने लग गयी। ओह! इस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा भी निराली ही है। मानो महाकण्टक-समाकीर्ण अरण्यमें एक उत्फुल्ल अपराजित कुसुम हो, तृण आदिसे आच्छन्न हुए किसी जीर्ण सरोवरपर ऊर्ध्वमृणालदण्डसमन्वित एक नीलोत्पल विकसित हुआ हो, मरुभूमिमें सुरतरुका अङ्कुर हो, परम दुःखरूप वृक्षके शिखरपर निबिड आनन्दकुसुम प्रस्फुटित हुआ हो—ऐसा सौन्दर्य उनके श्याम श्रीअङ्गोंसे निखर रहा है।

गोपसुन्दरियाँ श्रीकृष्णचन्द्रको हृदयसे लगाकर तत्क्षण नन्दरानीके पास दौड़ पड़ती हैं। किंतु वे तो बाह्यज्ञानशून्य हो गयी हैं। बीचमें कभी-कभी चेतना आनेपर कह उठती हैं—

स यथैव निशाचरीविषस्तनपानाच्छकटस्य पाततः।
अवितः किल येन वेधसा स इदानीमपि तं सदावतु॥
अधुना परमेश्वरेण चेदवितोऽसौ यदि लभ्यते सुतः।
न कदापि तदाङ्कमध्यतो बत भूमौ विजहामि हा पुनः॥
त्वरितं परितोऽवलोक्यतां क्व नु नीतः क्व नु पातितोऽर्भकः।
मम यावदपैति जीवितं न बहिस्तावदमुं समानय॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'आह! जिन विधाताने जैसे पूतनाके विषमय स्तन्यपानसे एवं शकटपतनसे रक्षा की थी, वे ही इस समय भी मेरे उस पुत्रकी सदा रक्षा करें। ओह! यदि परमेश्वरके द्वारा रक्षित हुआ वह मेरा पुत्र मुझे अब मिल जाय तो मैं फिर कदापि उसे अपनी गोदसे उतारकर भूमिपर न छोड़ूँगी। हाय! बहनो! शीघ्र तुम सब चारों ओर देखो—पता नहीं बवंडर उसे कहाँ उठा ले गया है, वह कहाँ गिर पड़ा है। हाय! हाय! शीघ्रता करो, जबतक मेरे प्राण बाहर प्रयाण नहीं कर रहे हैं, तभीतक समय है, तभीतक उसे मेरे समीप ले आओ। अब अधिक विलम्ब नहीं है।'

श्रीकृष्णजननीकी मूर्च्छा भङ्ग करनेके सारे प्रयत्न विफल हो चुके थे। अब प्राण जा रहे थे, पर जैसे ही एक गोपाङ्गनाने आकर यह कहा—

उबर्‌यौ स्याम, महरि बड़भागी।
बहुत दूरि तैं आइ पर्‌यौ घर, धौं कहुँ चोट न लागी॥

—उसका यह कहना था कि एक तडिल्लहरी-सी जननीके प्राणोंमें दौड़ गयी। उनके नेत्र खुल गये। खुलते ही गोपीकी गोदमें नीलमणिके दर्शन हुए। ओह! जननीके उस संदर्शनकी तुलना करनेकी सामर्थ्य किसमें है? देवी सरस्वती इतना ही कह सकती हैं—

शिशुमुपसद्य यशोदा दनुजहृतं द्राक् चिचेत लीनापि।
वर्षाजलमुपलभ्य प्राणिति जातिर्यथेन्द्रगोपाणाम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'दैत्यके द्वारा अपहृत शिशुको पाकर महाप्रयाण (मृत्यु)-में लीन होनेपर भी यशोदा उसी क्षण वैसे ही चैतन्य हो गयीं, जैसे वर्षाका जल पाकर इन्द्रगोप (वीरबहूटी) कीटकी जाति जीवित हो जाती है।'

इसके पश्चात् व्रजेन्द्र आ पहुँचते हैं। उनके साथ समस्त गोपकुल उमड़ पड़ता है। व्रजेन्द्र घटना सुनकर कुछ क्षण तो जडपुत्तलिका-सी बन जाते हैं। फिर भावावेग शिथिल होनेपर श्रीकृष्णको गोदमें धारण करना चाहते हैं। पर हाथोंमें इतना कम्पन हो रहा है कि मानो वे हाथ वातव्याधिसे पीड़ित हों। नेत्रोंसे देखना चाहते हैं तो अनर्गल अश्रुधारा

बह चलती है। पुत्रको वे न तो हाथोंसे थाम सकते हैं, न नेत्रोंसे जी भरकर देख पाते हैं। व्रजेन्द्रकी इस प्रेमभावित असमर्थताकी ओषधि धात्री जानती हैं। इसलिये जब व्रजराज वहीं भूमिपर बैठ जाते हैं, तब वह श्रीकृष्णको जननीकी गोदसे उठाकर उनकी गोदमें दे देती है। वे अपने लालको हृदयसे लगाकर बेसुध हो जाते हैं।

और तो क्या, दूरसे इस प्रचण्ड झंझावातको देखकर श्रीवृषभानुजी सदलबल आ पहुँचे हैं। विपत्तिगाथा सुनकर तो नेत्रोंमें जल भरा है, पर श्रीकृष्णको सुरक्षित देखकर रोम-रोम आनन्दसे पुलकित हो रहा है। अब वे प्रमुख गोपोंकी सभामें बैठकर परस्पर चर्चा कर रहे हैं—

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते॥
किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम्।
यत् सम्परेतः पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। ३१-३२)

'अहो! क्या ही आश्चर्य है। यह बालक राक्षसके द्वारा मृत्युपथमें उपनीत होकर भी हमारे समीप लौट आया। सत्य है, हिंस्रप्रकृति दुष्ट प्राणी अपने पापोंसे ही विनष्ट हो जाते हैं और साधुपुरुष अपनी साधूचित समताके कारण समस्त विपज्जालसे मुक्त हो जाते हैं। अथवा भाइयो! यह भी सम्भव है—हमलोगोंके भाग्यसे ही इसकी रक्षा हुई है। ओह! न जाने हमलोगोंने कितनी तपस्याएँ की हैं, कितने दान दिये हैं, कैसे-कैसे कितने इष्ट (पञ्चमहायज्ञ, होम आदि), पूर्त (वापी-कूप-तडागादि-निर्माण), सर्वभूतहिताचरण किये हैं, न जाने अधोक्षजभगवान्‌की कितनी अर्चना की है, जिसके फलस्वरूप हमारे सौभाग्यसे भी बन्धुओंको जीवनदान देते हुए मृत्युकवलित होकर भी यह बालक हमलोगोंके समक्ष पुनः उपस्थित है।'

ब्राह्मणोंको बुलाकर व्रजेन्द्र विधिवत् स्वस्त्ययन कराते हैं। उन्हें एक लक्ष गोदान, एक लक्ष सुन्दर वसन, दस लक्ष स्वर्णमुद्रा, सहस्र नवरत्न भेंट करते हैं। पुनः व्रजपुर आनन्दमुखरित हो उठता है।

जिस ग्वालिनने श्रीकृष्णचन्द्रको तृणावर्तके समीपसे लाकर जननी यशोदाकी गोदमें रखा था, वह अभी भी यहीं है, एक निमेषके लिये भी वह नन्दभवनसे बाहर नहीं गयी है। नीलमणि परिश्रान्त-से हुए आज गोधूलिके पूर्व ही सो गये हैं। व्रजरानी उस ग्वालिनपर ही रक्षाका भार देकर दो-चार क्षणके लिये नारायणसेवाकी सामग्री एकत्रित करने जाना चाहती हैं, पर यह सुनते ही वह क्रोधमें भर जाती है। वह पहले भी व्रजमहिषीको उपालम्भ दे चुकी थी, इस समय तो और भी खीझ गयी है—

भली नहीं यह प्रकृति जसोदा, छाँड़ि अकेलौ जाति।
गृह कौ काज इनहुँ तैं प्यारौ, नैकहुँ नाहिं डराति॥
भली भई अब कैं हरि बाँचे, अब तो सुरति सम्हारि।
सूरदास खिझि कहति ग्वालिनी, मन में महरि बिचारि॥

श्रीकृष्णकी मनोहर बाललीलाएँ

निर्मल चन्द्रज्योत्स्नासे उद्भासित नन्दप्राङ्गणमें व्रजपुरन्ध्रियोंके तालबन्धपर श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य कर रहे हैं—

निर्मञ्छनं तव भजाम कुलेशलाल्य बाल्यातिमोहन बलानुज नृत्य नृत्य।
इत्यङ्गनाभिरुदितस्ति-थिथितिथि-थीति क्लृप्तेन तालवलयेन हरिर्ननर्त॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजेशदुलारे! अपनी बाल्यचेष्टासे विमोहित करनेवाले! हम सब तेरी बलिहार जायँ। तू नाच दे! नाच दे! बलराम-अनुज! यह ले—थेई थेई थेई तत्त थेई'—इस प्रकार मनुहार करती हुई व्रजसुन्दरियाँ ताल देने लगीं एवं श्रीकृष्णचन्द्र नाचने लगे।

आजसे पंद्रह दिवस पूर्व, अशोक-आलवाल (थाल्हे) में अर्घ्य समर्पण करते हुए, वृक्षशाखाकी ओटसे व्रजेन्द्रमहिषीने अपने नीलमणिका सर्वप्रथम नृत्य देखा था—

हरि अपनें आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उठाइ काजरी-धौरी गैयन टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर में आवत॥
माखन तनक आपनें कर लै, तनक-बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिएँ खवावत॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित नित-नितही देखत भावत॥

जननी अशोक-पूजन भूल गयीं। अर्घ्यपात्र हाथोंमें ही रह गया। निर्निमेष नयनोंसे नीलमणिका अद्भुत अस्फुट गायन, रुनझुन-रुनझुन तालसमन्वित नर्तन देखती हुई न जाने कितने समयके लिये वे आत्मविस्मृत हो गयीं।

इसके दूसरे दिन प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये व्रजेन्द्र आये। पुत्रका वह मनोहर नृत्य उन्होंने देखना चाहा। किंतु पिताको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र किञ्चित् संकुचित होने लगे। जननीने उन्हें गोदमें उठा लिया, कपोलोंको बारम्बार चूमकर वात्सल्यकी धारामें स्नान कराने लगीं। जब इस रसधारामें वह संकोच बह चला, तब जननी उन्हें पुनः मणिभूमिपर खड़ा करके प्रोत्साहन देने लगीं—

बलि बलि जाउँ मधुर सुर गावहु।
अब कि बार मेरे कुँवर कन्हैया, नंदहि नाचि दिखावहु॥
तारी देहु आपने कर की, परम प्रीति उपजावहु।
आन जंतु धुनि सुनि कत डरपत, मो भुज कंठ लगावहु॥
जनि संका जिय करौ लाल मेरे, काहे कौं भरमावहु।
बाँह उचाइ काल्हि की नाईं धौरी धेनु बुलावहु॥
नाचहु नैकु, जाउँ बलि तेरी, मेरी साध पुरावहु।
रतन जटित किंकिनि पग नूपुर, अपनें रंग बजावहु॥
कनक खंभ प्रतिबिंबित सिसु इक, लवनी ताहि खवावहु।
सूर स्याम मेरे उर तैं कहुँ टारे नैकु न भावहु॥

बस, जननीका प्रेमनिर्बन्ध और पिताके प्राणोंकी लालसा—दोनोंने श्रीकृष्णचन्द्रको नचा ही तो दिया। नूपुरकी रुनझुन-रुनझुन तालपर करताली देते हुए वे नाचने लगे। उनके साथ व्रजेन्द्रका मन भी नाचने लगा। इतना ही नहीं, शरीरसे सर्वथा निकलकर व्रजेन्द्रका मन उस नूपुरध्वनिमें ही मानो विलीन हो गया। मनशून्य व्रजेन्द्र प्रवालस्तम्भपर अपने शरीरका भार दिये, अपलक नेत्रोंमें उस छविको भरे एक पहरके लिये अन्य सब कुछ भूल गये।

अब तो व्रजपुरमें यह लहर-सी दौड़ गयी। दल-की-दल व्रजवनिताएँ श्रीकृष्णचन्द्रका यह नृत्य देखने आने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी मुक्तहस्त होकर अपनी यह मधुरिमा वितरण कर रहे थे। केवल इतना ही नहीं, वे इसपर अनेकों अन्य बाल्यसुलभ चेष्टाओंकी पुट भी लगा देते थे। मानो श्रीकृष्णचन्द्रकी शैशवधारा क्रमशः गम्भीर होती जा रही थी—पहले बुद्बुदे उठे, फिर धारा फेनिल हो उठी, फिर उसके वक्षःस्थलपर तरङ्गें नृत्य करने लगीं और फिर उसमें आवर्त (भँवर) बन गये। इस प्रकार पहले उनके मुखारविन्दसे अस्फुट स्खलित शब्द निस्सरित हुए। पश्चात् उज्ज्वल

हास्यरञ्जित तोतली वाणी निकली; फिर मधुर गायन-नर्तन आरम्भ हुआ और फिर ये नृत्यगीत अत्यन्त मनोहर बाल्यभङ्गिमाओंसे सम्पुटित होने लगे। एक अद्‌भुत लीलामृतधारा व्रजपुरमें प्रवाहित हो रही थी। इस धाराका, इसके एक कणका आस्वाद इन्दिरा तो स्वप्नमें भी न पा सकीं, किंतु व्रजवनिताएँ अञ्जलि भरकर पान कर रही थीं, इसमें अवगाहन कर रही थीं। निगम इसके स्वरूपनिर्धारणमें संलग्न थे; महेश सोच रहे थे; शेषकी समस्त युक्तियाँ समाप्त हो गयी थीं; पर किसीने भी पार नहीं पाया कि यह लीलासुधाधारा क्या, कैसी, कितनी अद्‌भुत है। ओह! रूपयौवनभारसे दबी किन्नरियाँ जिन्हें कभी न देख पायीं, वीणाकी झंकारसे विश्वको विमोहित करनेकी सामर्थ्य रखनेवाली गन्धर्वाङ्गनाओंके दृष्टिपथमें जो कभी न आये, पातालके सुरदुर्लभ वैभवकी अधिकारिणी नागतरुणियाँ जिनका कभी अनुसंधान न पा सकीं, उन श्रीकृष्णचन्द्रको गोबर पाथनेवाली आभीरबालाएँ करताली दे-देकर सूत्रबद्ध कपिकी भाँति नचा रही थीं; श्रीकृष्णचन्द्र भी सर्वथा उनके भावका अनुसरण करते हुए नाच रहे थे। नृत्यमात्र नहीं, उनके प्रत्येक मनोरथकी पूर्ति, प्रत्येक आज्ञाका पालन कर रहे थे। एक गोपी कहती—'मेरे लाल! वह पाँवड़ी उठाकर मेरे हाथोंमें दे तो दे।' यह सुनते ही श्रीकृष्णचन्द्र जाते, अरुणनवकिसलय हाथोंमें व्रजेन्द्रकी वह काष्ठनिर्मित पाँवड़ी (पादुका) उठा लाते, गोपीके हाथोंमें रख देते। दूसरी गोपी कहती—'मेरे प्राणधन! शक्ति लगाकर उस पीढ़ेको तो उठा ला!' यशोदानन्दन जाकर पीढ़ेको क्रमशः अपने घुटनोंपर, फिर उदरपर रखते, फिर मन्द-मन्द गतिसे चलते हुए ग्वालिनके सम्मुख जाकर उसे रख देते। तीसरी नन्दनन्दनको पीठ-वहनके श्रमसे श्रमित-सा देखकर कहती—'मेरे हृदयधन! सोहनी (झाड़ू) किसे कहते हैं? तू जानता है? उसे तू मेरे हाथमें दे दे तो जानूँ।' नन्दनन्दन पद्मरागनिर्मित चौखटकी आड़में पड़ी सोहनीकी ओर सलोनी चितवनसे देखते, फिर उसे उठा लाते, गोपाङ्गनाके हाथोंपर रख देते। चौथी पूछती—'नन्दलाल! सीढ़ीपर चढ़ तो भला।' श्रीकृष्ण वैदूर्यरचित गृहचूड़ासे संलग्न स्फटिक-निःश्रेणीकी ओर दौड़ पड़ते, चढ़ने लग जाते; आनन्दसे विवश होकर अश्रुपूरितनेत्र हुई वह ग्वालिन शीघ्रतासे पकड़ लेती, प्राङ्गणमें लाकर खड़ा कर देती। एक आभीरबाला संकेत करती—'वह देख, नीलमणि! मयूरका नृत्य देख! अहा! कितना सुन्दर नृत्य है। तू भी इसकी तरह नाच तो सही।' ग्वालिनके मनोरथकी पूर्तिके लिये नीलमणि अपनी दोनों भुजाओंको पीठकी ओर ले जाकर फैला देते, कमर झुका देते, पीठ बङ्किम बना लेते, ग्रीवा ऊपर उठा देते तथा रुनझुन-रुनझुन ध्वनि करते हुए आभीरबालाकी परिक्रमा करने लगते; नन्दप्राङ्गण गोपाङ्गनाओंकी तुमुल हर्षध्वनिसे निनादित होने लगता। कोई गोपबाला प्रश्न करती—'बता, मेरे लाल! भ्रमरका गुञ्जारव कैसे होता है?' उसकी बात सुनकर श्रीकृष्ण कुछ क्षण उद्यानसे उड़-उड़कर आते हुए मधुमत्त भ्रमरकी ओर देखते; फिर उसीका अनुकरण करते हुए—'गूँ ऊँ ऊँ ऊँ.........' ध्वनि करते। गोपिकाएँ अट्टहास करने लगतीं, श्रीकृष्ण भी उनके स्वरमें मानो स्वर मिलाकर हँसने लगते। कोई ग्वालिन द्वारदेशतक दौड़नेकी आज्ञा देती, नीलमणि दौड़ पड़ते। द्वारतक पहुँचनेके पूर्व ग्वालिन अपनी ग्रीवासे हीरक-हार निकाल लेती, चौखटपर फेंक देती। ग्वालिनके प्राणोंमें स्पन्दन होने लगता—'आह! अब इस हीरक-हारसे क्या प्रयोजन? यशोदाके नीलमणिको ही वक्षःस्थलका हार बनाऊँगी।' इस प्रकार व्रजवधुएँ जो-जो आदेश करतीं, वही-वही श्रीकृष्णचन्द्र करते; करनेके पश्चात् तोतली बोलीमें पूछते भी कि 'री चतुर हूँ न?' अवश्य ही जब किसीका निर्देश पाकर वे उन्मान (बाट) आदि भारी वस्तु उठाने जाते और वह न उठता तो रोने भी लग जाते। पर रोते ही जननी दौड़ पड़तीं, हृदयसे लगाकर अरुण अधरोंका चुम्बन करने लग जातीं। इतनी छोटी आयुमें ही वे अनेक बातें सीख गये थे, उन्हें तोतले शब्दोंमें शिशुसुलभ मुद्रामें व्रजसुन्दरियोंको सुनाते, सुनाकर उनकी ओर प्रत्याशाभरी दृष्टि डालते

तथा फिर हँसन लग जाते। व्रजसुन्दरियाँ भी उत्तरके बदले उन्हें भुजपाशमें बाँध लेतीं। उनके (गोपसुन्दरियोंके) आनन्दका पार नहीं रहता। वे तो अपना समस्त गृहकार्य, सभी सेवा-शुश्रूषा भूल चुकी थीं; जागनेसे सोनेतक छायाकी तरह श्रीकृष्ण एवं बलरामका अनुगमन कर रही थीं। क्षुधा-पिपासासे भी वे ऊपर उठने लगी थीं। श्रीकृष्णके इन मधुमय चरित्रोंसे निरन्तर मधुका निर्झर झरता था। वे उसे पी-पीकर मत्त होती जा रही थीं। श्रीकृष्णलीलारसपानसे छकी इन व्रजाङ्गनाओंके लिये अन्य समस्त अमृतराशि निस्सार हो चुकी थी। अन्य तुच्छातितुच्छ वैषयिक सुखकी वासना उनमें जाग्रत् होनेकी बात तो अत्यन्त दूर, योगीन्द्रमुनीन्द्रवाञ्छित मुक्तिसुख भी इस परमानन्दकी तुलनामें उन्हें नमक-जैसा कटु प्रतीत हो रहा था—

बनी सहज यह लूट हरिकेलि गोपीन कें,
सुपनें यह कृपा कमला न पावै।
निगम निरधार, त्रिपुरारहू बिचार रह्यौ,
पचि रह्यौ सेस, नहिं पार पावै॥
किंनरी बहुर अरु बहुर गंधरबनी,
पंनगनी चितवन नहिं माँझ पावैं।
देत करताल वे लाल गोपाल सौं,
पकर ब्रजबाल कपि ज्यौं नचावैं॥
कोऊ कहै ललन पकराव मोहि पाँवरी,
कोऊ कहै लाल बल लाऔ पीढ़ी।
कोऊ कहै ललन गहाव मोहि सोहनी,
कोऊ कहै लाल चढ़ि जाउ सीढ़ी॥
कोऊ कहै ललन देखौ मोर कैसें नचैं,
कोऊ कहै भ्रमर कैसें गुंजारैं।
कोऊ कहै पौर लगि दौर आऔ लाल,
रीझ मोतीन के हार वारैं॥
जो कछु कहैं व्रजबधू सोइ सोइ करत,
तोतरे बैन बोलन सुहावैं।
रोय परत बस्तु जब भारी न उठै तबै,
चूम मुख जननी उर सौं लगावैं॥
बैन कहि लोनी पुनि चाहि रहत बदन हँस,
स्वभुज बीच लै लै कलोलैं।
धाम के काम ब्रजबाम सब भूल रहीं,
कान्ह बलराम के संग डोलैं॥
सूर गिरिधरन मधु चरित मधु पान कै,
और अमृत कछू आन लागै।
और सुख रंक की कौन इच्छा करै,
मुक्तिहू लौन सी खारी लागै॥

कभी स्वजनोंका आनन्दवर्द्धन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र बाहुक्षेप करते—ताल ठोंकते। उस समय गोपिकाएँ कदाचित् कह बैठतीं—'नीलमणि! तेरी अपेक्षा तो राममें बल अधिक है।' यह सुनकर श्रीकृष्ण अपने चूर्णकुन्तलमण्डित सिरको हिला-हिलाकर असम्मति प्रकट करते। रोहिणीनन्दन राम भी अपने अनुजकी ओर देखकर हँसने लगते। गोपाङ्गनाएँ दोनोंको पुचकारकर पास खड़ा कर देतीं। स्वयं दो मण्डलोंमें विभक्त हो जातीं। एक मण्डली श्रीकृष्णको अधिक बलवान् बताती, दूसरी रोहिणीतनय रामका पक्ष समर्थन करती। फिर तो—

बलेन सममन्योन्यं प्राबल्यं दर्शयन्निव।
ऊर्द्ध्वाधोभावमासाद्य सर्वा हासयति स्म सः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीबलदाऊके साथ श्रीकृष्णचन्द्र नन्ही-सी भुजा फैलाकर लिपट पड़ते। दोनों परस्पर एक-दूसरेके प्रति अपना प्राबल्य दिखाते हुए-से—कभी श्रीकृष्ण ऊपर तो राम नीचे, राम ऊपर तो श्रीकृष्ण नीचे—इस प्रकार एक परम मनोहारी अभिनव मल्ल-क्रीड़ाकी रचना करते। अपनी इस बाल्यमाधुरीसे व्रजसुन्दरियोंको हँसा-हँसाकर लोट-पोट कर देते। दोनों भाइयोंकी शोभा भी—वे जब कभी भी एकत्र होते—अद्भुत ही होती। ओह! स्वच्छता तो ऐसी मानो स्फटिकमणिके पार्श्वमें महामरकत हो। स्निग्धता वह, मानो पूर्णचन्द्रमण्डित जलधर-अङ्कुर हो। सौरम्य, सौकुमार्य ऐसे मानो पुण्डरीक (उज्ज्वल कमल)-के सहित नीलोत्पल विकसित हुआ हो। सुखमयी चेष्टा ऐसी मानो हंसवलित यमुनालहरी हो। श्रीअङ्गकान्ति ऐसी मानो ज्योत्स्नाखण्डसमन्वित तिमिर-अङ्कुर हो।

तदा स्फटिकमणिनेव महामरकतः। चन्द्रमसेव जलदाङ्कुरः। पुण्डरीकेणेव नीलोत्पलम्। हंसेनेव यमुनातरङ्गः। ज्योत्स्नाशकलेनेव तिमिरकडम्बः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु! तबसे आज एक पक्ष पूर्ण हो रहा है। श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्यदर्शन, गानश्रवण, क्रीड़ावलोकन ही व्रजसुन्दरियोंकी अविच्छिन्न दिनचर्या है। अब इस समय कोजागरी (आश्विन पूर्णिमाकी) रजनीमें जागरण करनेके मिससे वे नन्दालयमें एकत्र हुई हैं तथा महान् आश्चर्य है, आज अभीतक श्रीकृष्णचन्द्र भी निद्रित नहीं हुए। हों कैसे? उन्हें तो जगत्‌के समक्ष, जगत्‌के अनन्त योगीन्द्रमुनीन्द्रोंके सामने अपनी अप्रतिम भक्ताधीनता प्रकाशित करनी है। अपनी अतुल भृत्यवश्यताको प्रकट करते हुए ही तो वे प्रतिक्षण व्रजरामाओंके संकेतपर नित्यनूतन बाल्यचेष्टाका विकास करते थे, व्रजको आनन्दमें निमग्न कर देते थे—

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ६)

—फिर आज जब शत-सहस्र गोपसुन्दरियाँ अन्तर्हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रकी कोई नयी-सी चेष्टा देखनेकी लालसा छिपाये आ रही हैं, उस समय वे सो जायँ—यह कभी सम्भव है? वे तो उनकी वासनाकी छाया लेकर उनकी कल्पनासे भी सर्वथा परेकी एक अतिशय कमनीय बाल्यभङ्गिमा ग्रहण करने जा रहे हैं; योगमायाके सजाये हुए रङ्गमञ्चपर अवस्थित होकर वे तो प्रतीक्षा कर रहे हैं कि गोपसुन्दरियाँ आयें और अभिनय आरम्भ हो। उनके नेत्रोंमें आज निद्रा कहाँ? इसीलिये गोपसुन्दरियाँ श्रीकृष्णचन्द्रको जागे हुए ही पाती हैं, दिनकी भाँति ही उन्हें सर्वथा निरालस्य एवं चञ्चल देखकर नचाने लग जाती हैं; श्रीकृष्णचन्द्र भी 'थेइ थेइ थेइ तत्त थेई' तालपर पदसंचालन करते हुए नाच रहे हैं।

व्रजरानी समागत गोपरामाओंकी समुचित अभ्यर्थना इस समय नहीं कर पा रही हैं, पर उन्हें देखकर उनके आनन्दका पार नहीं; क्योंकि नन्दरानी सोच रही हैं—ये जागरण रखकर श्रीनारायणका नामोच्चारण करेंगी, उतने समयतक मेरे नीलमणिको कोई विपत्ति स्पर्शतक नहीं कर सकेगी। तृणावर्तनिधनके दिनसे जननी अत्यन्त सावधान जो रहती हैं। और तो क्या, समीरके झोंकोंसे तरुपत्र प्रकम्पित होते देखकर चञ्चल पत्रोंकी ध्वनिमात्र सुनकर वे पुत्रको गोदमें उठा लेती हैं। केवल व्रजरानी ही नहीं, व्रजेन्द्र भी अतिशय सजग हैं। उन्होंने अपनी महती सभामें सर्वसम्मतिसे उसी दिन यह निश्चय कर लिया है—नियम बना दिया है—

गोष्ठमिदं दुष्टानामधिष्ठानं वृत्तम्। तस्माद् गृह एव गोपनीयमिदं बालयुगलमिति॥ (श्रीगोपालचम्पूः)

—'यह गोष्ठ तो दुष्टोंका आवास बन गया है। इसलिये दोनों बालकोंको अन्तर्गृहमें ही छिपाये रखना चाहिये।' इसीलिये उस दिनसे श्रीकृष्णचन्द्र तोरणद्वारसे उस पार न जा सके। विशाल मणिमय प्राङ्गण ही तबसे उनका लीलामञ्च बना हुआ है। उसी मञ्चपर इस समय नूपुरकी स्वरलहरी झंकृत हो रही है, व्रजतरुणियाँ श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य देखकर तन-मन-प्राण न्योछावर कर रही हैं। अस्तु,

अचानक नृत्यका विराम करके श्रीकृष्णचन्द्र हँसने लगते हैं तथा समीपवर्ती मन्थन-गगरीकी ओर देखते हैं। गगरीमें गगनस्थ चन्द्र प्रतिबिम्बित है। इस प्रतिबिम्बने ही श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान आकर्षित किया है। अतः वे और भी समीप जाकर उसे देखते हैं। सोचते हैं—यह ऐसी सुन्दर वस्तु क्या है? फिर कुछ क्षण बाद जननीसे पूछते हैं—'री मैया! गगरीमें यह अत्यन्त उज्ज्वल क्या समाया हुआ है?' जननी पुत्रकी भोली बात सुनकर केवल उनके मुखकमलकी ओर देखती हैं, कोई उत्तर नहीं देतीं। उत्तर न पाकर श्रीकृष्ण किञ्चित् दूर खड़ी हुई जननीके पास जाकर, अञ्चल पकड़कर फिर प्रश्न करते हैं। इस बार जननी हँसकर कहती हैं—'मेरे लाल! यह चन्द्रप्रतिबिम्ब है।' श्रीकृष्ण विस्फारितनेत्र होकर आश्चर्यमें भरकर बोले—'यह चन्द्र है?' उत्तरमें जननीके मुखसे निकल पड़ा—'हाँ, मेरे प्राणधन! यह चन्द्र है।' फिर तो

श्रीकृष्णके उल्लासकी सीमा न रही। हाथोंको नचाकर ताली पीटकर वे बोले—'मेरी मैया! तू इसे गगरीसे निकालकर मेरे हाथोंपर रख दे।'

नन्दरानी हँसने लगती हैं, व्रजसुन्दरियाँ हँस-हँसकर लोट-पोट हो जाती हैं। किंतु श्रीकृष्ण जननीके अञ्चलका छोर पकड़े बारंबार कह रहे हैं—'री! उसे निकाल दे, शीघ्र निकालकर मेरे हाथोंमें दे दे।' जननी पुत्रको अन्य बातोंमें भुलाना चाहती हैं; पर वे तो भूलते ही नहीं, बल्कि रोना आरम्भ करते हैं। इसी समय समीप अवस्थित प्रभावती (उपनन्दपत्नी)- को एक सुन्दर बुद्धि उपज आती है। वे नन्दरानीको धीरेसे कानमें संकेत कर देती हैं। संकेत करके स्वयं भंडारमें चली जाती हैं, एक विशाल नवनीतखण्ड पीठकी ओर छिपाकर ले आती हैं तथा श्रीकृष्णकी दृष्टि बचाकर मन्थन-गगरीमें डाल देती हैं। यह हो जानेपर अञ्चलसे पुत्रकी आँखें पोंछती हुई जननी बोलीं—'अच्छा, चल, मैं तेरे हाथपर रख देती हूँ।' जननी आती हैं, गगरीके पास आकर उसमें हाथ डालकर उज्ज्वल नवनीतखण्ड निकाल लेती हैं तथा नीलमणिके हाथोंपर रख देती हैं। ओह! श्रीकृष्णचन्द्रके आनन्दका पार नहीं,—जैसे सचमुच चन्द्र ही उनके हाथमें आ गया हो! आनन्दमें निमग्न हुए नीलमणि गगरीकी ओर देखते हैं। गोपिकाओंके निकट खड़े हो जानेसे प्रतिबिम्ब विलुप्त हो गया है। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र यह सोच रहे हैं कि चन्द्र गगरीसे निकलकर मेरे हाथोंपर आ गया है—

रुदन्तमिन्दवे मन्थगगर्यां प्रतिरूपिणे।
पिण्डेन नावनीतेन वृद्धागर्द्धयतार्भकम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

नवनीतपिण्ड लेकर वे आँगनमें दौड़े। उनके पीछे नन्दरानी एवं गोपिकाएँ भी दौड़ीं। पर बाहर जानेका द्वार तो गोपिकाओंकी भीड़से रुद्ध है। वे बाहर जा ही कैसे सकते हैं? इसीलिये पुनः मन्थन-गगरीके ही समीप आ जाते हैं। अब भी चन्द्र गगरीमें प्रतिभासित हो रहा है। नीलमणिकी दृष्टि भी उसपर पड़ ही जाती है। बस।·······नीलमणिने समझ लिया—जननीने मेरी वञ्चना की है, चन्द्र तो अभी भी गगरीमें ही है। उनके पङ्कजनयनोंमें रोष-मानव्यथा भर जाती है। वे वहीं भूमिपर लोट जाते हैं, हाथ-पैर पटक-पटककर करुणक्रन्दन प्रारम्भ करते हैं।

रूठे हुए श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी गोदमें भी नहीं उठना चाहते। किसी प्रकार जननी उन्हें वक्षःस्थलपर उठा लेती हैं। समझाती हैं—मेरे लाल! चन्द्र तो गगनमें है, गगरीमें नहीं। वह देख—

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपने हरिहि लिएँ चंदा दिखरावत।
रोवत कत बलि जाउँ तुम्हारी, देखौ धौं भरि नैन जुड़ावत॥

श्रीकृष्णचन्द्र गगनस्थ चन्द्रको देखकर चुप हो जाते हैं। वे कभी आकाशचन्द्रकी ओर तो कभी गगरीमें प्रतिबिम्बित चन्द्रकी ओर देखने लगते हैं। उन्हें प्रतीत हो रहा है—दो चन्द्र हैं; एक गगरीमें एक आकाशमें। जननी पुत्रका मनोभाव जान लेती हैं। समझाती हैं—'मेरे प्राणधन! देख, चन्द्र तेरा मुख देखने आता है; जब तू गगरीकी ओर देखता है, तब चन्द्र गगरीमें आ जाता है; तू आकाशकी ओर देखता है, तब आकाशमें चला जाता है।' जननीके इस उत्तरसे नीलमणिका यह समाधान तो हो जाता है कि चन्द्र एक है; पर इससे क्या हुआ? उन्हें तो चन्द्र जो चाहिये। उसे पानेके लिये वे उपाय सोचते हैं एवं चन्द्रको ला देनेके लिये जननीके सामने पुनः मचल जाते हैं—

मनहीं मन हरि बुद्धि करत हैं, माता सौं कहि ताहि मँगावत।
लागी भूख चंद मैं खैहौं, देहि देहि रिस करि बिरुझावत॥

हठीले पुत्रको जननी बार-बार समझा रही हैं—

आछे मेरे लाल हो, ऐसी आरि न कीजै।
मधु मेवा पकवान मिठाई, जोइ भावै सोइ लीजै॥
सद माखन घृत दह्यौ सजायौ, अरु मीठौ पय पीजै।
पा लागौं, हठ अधिक करौ, जनि, अति रिस तैं तन छीजै॥

—किंतु श्रीकृष्ण मानते नहीं। जननी समझ नहीं पातीं कि कैसे समझाऊँ। वे सोच रही हैं—गगनस्थ चन्द्रको दिखाकर मैंने भूल की—

किहि बिधि करि कान्हहि समुझैहौं?
मैं ही भूलि चंद दिखरायौ, ताहि कहत मैं खैहौं!

कुछ देर सोचती रहकर फिर जननी बोलीं—

अनहोनी कहुँ भई कन्हैया, देखी सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सब कौ, खान कहत तिहि तात?

'अच्छी बात है। खिलौना ही सही। तू इसे ला तो दे। मैं खाऊँगा नहीं, इससे खेलूँगा। मैं इस खिलौनेको लूँगा ही—श्रीकृष्णचन्द्र पहलेकी अपेक्षा भी और अधिक हठ कर बैठे—

मैया, मैं तो चंद खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं॥

अब व्रजसुन्दरियाँ एक नयी युक्ति करती हैं। निर्मल पात्रमें जल भर देती हैं। उस जलपात्रमें जननी चन्द्रका आवाहन कर रही हैं—

बार बार जसुमति सुत बोधति, आउ चंद, तोहि लाल बुलावै।
मधु मेवा पकवान मिठाई आपुन खैहै, तोहि खवावै॥
हाथहि पर तोहि लीन्हें खेलै, नैकु नहीं धरनी बैठावै।
जल बासन कर लै जु उठावति, याही मैं तू तन धरि आवै॥

—कुछ देर इस भाँति चन्द्रको आनेके लिये बार-बार निमन्त्रितकर जननी जलपात्रको भूमिपर स्थापित कर देती हैं एवं उल्लासभरे स्वरमें कहती हैं—

लै लै मोहन, चंदा लै।
कमलनैन बलि जाउँ, सुचित ह्वै, नीचैं नैकु चितै॥
जा कारन तैं सुनि सुत सुंदर, कीन्ही इती अरै।
सोइ सुधाकर देखि कन्हैया, भाजन माहिं परै॥
नभ तैं निकट आनि राख्यौ है, जल-पुट जतन जुगै।
लै अपने कर काढ़ि चंद कौं जो भावै सो कै॥
गगन-मँडल तैं गहि आन्यौ है, पंछी एक पठै।
सूरदास प्रभु इती बात कौं, कत मेरौ लाल हठै॥

इस बार श्रीकृष्णचन्द्रका मनोरथ मानो पूर्ण हो गया, वे आनन्दमें भर जाते हैं; क्योंकि जलपात्रमें उन्हें चन्द्रके स्पष्ट दर्शन हो रहे हैं। वे गोदसे उतरकर चन्द्रको पकड़नेके उद्देश्यसे अपने दोनों हस्तकमल जलपात्रमें डाल देते हैं। झलमल-झलमल करती हुई चन्द्र-परछाईं विलीन हो जाती है। ठीक उसी समय योगमायाप्रेरित एक शुभ्र मेघखण्ड आकाशचन्द्रको आच्छादित कर लेता है। श्रीकृष्णचन्द्र दृष्टि फिराकर आकाशकी ओर देखते हैं—वहाँ भी चन्द्र नहीं है। जननीसे पूछते हैं—'री मैया! चन्द्र कहाँ चला गया?' मैया उत्तर देती हैं—'मेरे लाल! तू उसे हाथोंसे पकड़ना चाहता था, तुझसे डरकर वह पातालमें भाग गया।' 'पाताल क्या है?'—श्रीकृष्णने अतिशय आश्चर्यमें भरकर बड़ी उतावलीसे पूछा। जननीको अब कहीं पुत्रको भुलानेका सूत्र प्राप्त हुआ। वे बोलीं—'मेरे नीलमणि! पातालकी बड़ी सुन्दर कथा है; चल, तुझे पातालकी कथा सुनाऊँ।'

—यह कहती हुई नन्दरानी नीलमणिको हृदयसे लगाकर शय्या-मन्दिरकी ओर चल पड़ती हैं।

व्रजसुन्दरियाँ, हम कोजागरीका जागरण करने आयी हैं—यह कहकर आयी थीं। अत: वे व्रजेन्द्रके नारायणमन्दिरकी ओर चली जाती हैं। वहाँ जाकर वे जागरण कर भी रही हैं, पर उनके नयन-मन-प्राणोंमें तो श्रीकृष्णचन्द्र छाये हुए हैं। इसलिये वे नारायणका नामोच्चारण तो भूल गयी हैं, उसके बदले परस्पर एक-दूसरीको अपने चित्तकी दशा सुना रही हैं। एक गोपसुन्दरी अपनी दशा बता रही है—

मैं देख्यौ जसुदा कौ नंदन खेलत आँगन बारौ री।
ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री॥
देखत आनि सँच्यौ उर अंतर, दै पलकनि कौ तारौ री।
मोहि भ्रम भयौ, सखी, उर अपनैं चहुँ दिसि भयौ उज्यारौ री॥
जौ गुंजा सम तुलत सुमेरहिं, ताहू तैं अति भारौ री।
जैसैं बूँद परत बारिधि मैं, त्यौं गुन ग्यान हमारौ री॥
हौं उन माहँ कि वे मोहि महियाँ, परत न देह सँभारौ री।
तरु में बीज कि बीज माहँ तरु, दुहुँ मैं एक न न्यारौ री॥
जल-थल-नभ-कानन-घर भीतर, जहँ लौं दृष्टि पसारौ री।
तितही-तित मेरे नैननि आगैं निरतत नंदु-दुलारौ री॥

माँ यशोदाका शिशु श्रीकृष्णके मुखमें विश्वब्रह्माण्डको देखना तथा श्रीरामकथाको सुनकर श्रीकृष्णमें श्रीरामका आवेश

प्रबोधिनी (एकादशी)-का निशीथ है। कुमुद, कल्हार, कुन्द एवं मन्दार-पुष्पोंसे सुरभित बयार व्रजपुरके प्रत्येक मन्दिरपर बँधे हुए बन्दनवारको नचा-नचाकर स्वयं नृत्य कर रही है। इस समय व्रजपुरका प्रत्येक नारायण-मन्दिर घण्टानाद, शङ्ख-मृदङ्गध्वनि, हरिकीर्तन, गायन, नर्तनसे मुखरित है। व्रजेन्द्रके विष्णुमन्दिरका तो कहना ही क्या है!

व्रजेन्द्रने विविध उपचारोंसे अपने इष्टदेव नारायणकी पूजा की। फिर समुज्ज्वल घृतवर्तिका प्रज्वलित कर नीराजन किया। पश्चात् शारदीय कुसुमोंकी पुष्पाञ्जलि समर्पित की। तदनन्तर दो प्रसाद-पुष्प हाथमें लिये, राम-कृष्णके मस्तकपर इन निर्माल्य पुष्पोंको रखनेके उद्देश्यसे वे पार्श्ववर्ती कक्षमें चले गये। कक्षमें कर्पूरधवल शय्यापर श्रीराम एवं श्रीकृष्ण सो रहे हैं। जननी यशोदा एकाकिनी शय्याके समीप बैठी हैं। श्रीरोहिणी तो अतिथियोंकी अभ्यर्थनामें, प्रबोधिनी-उत्सवके आयोजनमें लगी हैं।

आज व्रजेश्वरी विमना-सी हो रही हैं, यह व्रजेश्वरने सायंकाल गोष्ठसे लौटते ही अनुभव किया है। किंतु समागत गोपबन्धुओंके स्वागत एवं नारायण-सेवामें तुरंत लग जानेके कारण वे अवकाश न पा सके थे कि व्रजमहिषीसे इसका कारण पूछें। अब अवसर आया है। वे राम-कृष्णके कुन्तलमण्डित गौर-श्याम भालपर पुष्पोंको रखकर, कुछ क्षण अतृप्त नयनोंसे वह शोभा निहारकर व्रजरानीकी ओर देखने लगते हैं। व्रजरानी इस समय विमना ही नहीं, अतिशय चञ्चल, विस्मित एवं उद्विग्न-सी हो रही हैं। अन्तरका विक्षोभ मुखपर स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, रह-रहकर उनका मुख म्लान हो जा रहा है। व्रजेश्वर जानते हैं—राम-कृष्णकी अनिष्ट-आशङ्काके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारणसे व्रजरानी विक्षुब्ध होतीं ही नहीं। इसलिये वे बोल उठे—

मया यदनिष्टभयाद्बालरोधनमुपदिष्टं तत् किं निर्वहति?

(श्रीगो० च०)

'व्रजरानी! बालकोंका अनिष्ट होनेके भयसे मैंने जो इन्हें सर्वथा अन्तर्गृहमें ही रोक रखनेका परामर्श दिया था, उसका परिपालन हो रहा है तो?'

विषण्णस्वरमें व्रजरानीने उत्तर दिया—

निर्वहत्येव किन्तु वृथेति लक्ष्यते। (श्रीगो० च०)

'पालन तो हो ही रहा है; परंतु ऐसा प्रतीत हो रहा है, यह उपाय भी व्यर्थ है।'

सुनते ही गोपेन्द्रके मुखपर प्रस्वेद-कण झल-झल करने लगते हैं। अविलम्ब भग्न स्वरमें वे पुकार उठते हैं—

हन्त कथमिव? (श्रीगो० च०)

'हैं! यह किस प्रकार?'

अब व्रजरानीके नेत्र छल-छल करने लगते हैं और वे किञ्चित् अस्फुट स्वरमें कहने लगती हैं—'नाथ! प्रात:कालकी बात है, नीलमणि तबतक सोया हुआ था; मैं उसे दूरसे देख रही थी, साथ ही गृहकार्यका समाधान भी करती जा रही थी। अकस्मात् स्नेहावेशमें मेरे स्तन झरने लगे। मैं दौड़ी, नीलमणिको गोदमें उठा लिया, उसे स्तनपान कराने लगी। उसे भी क्षुधा थी, बड़ी ललकसे वह दूध पी रहा था। प्रायः उसकी तृप्ति भी हो चली थी। पर सहसा उसने स्तनाग्रको मुखसे निकालकर अँगड़ाई ली। मैं उसका स्वभाव जानती हूँ, वह अभी भी किञ्चित् क्षुधित था। इसलिये मैं बार-बार कपोलोंका चुम्बन कर पुनः स्तन्यपानके लिये प्रोत्साहित करने लगी। इतनेमें उसने जम्हाई ली। ओह! उस समय, नारायण! नारायण!! मैंने उसके उस छोटे-से मुख-विवरमें निश्चय ही सम्पूर्ण जगत्को अवस्थित देखा!!!'

व्रजरानीकी श्वासगति अत्यन्त तीव्र हो गयी। सारा शरीर थर-थर काँपने लगा। पर वे बोलती ही गयीं—'ओह! मैंने स्पष्ट देखा है, नीलमणिके छोटे-से मुख-विवरमें झाँककर देखा—वहाँ नीला अनन्त आकाश—महाकाश है, स्वर्ग है, पृथ्वी है, ज्योतिश्चक्र है, दिशाएँ हैं, सूर्य है, चन्द्र है, अग्नि है, वायु है, समुद्र हैं, दीपपुञ्ज हैं, पर्वतमालिकाएँ हैं, नद-नदीसमूह हैं, अरण्यश्रेणियाँ हैं, चराचर अनन्त प्राणी हैं; अरे! नीलमणिके छोटे-से मुखमें सम्पूर्ण विश्वको मैंने देखा है—'

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजंगमानि॥

(श्रीमद्भा० १०। ७। ३६)

यशोदा रानीने व्रजेश्वरके हाथोंको अपने हाथोंमें ले लिया और कुछ क्षणके लिये सर्वथा मौन हो गयीं। नेत्र निमीलित हो गये। व्रजेश्वर भी अर्द्धनिमीलित-नेत्र हुए यह घटना सुन रहे थे।

अब पुनः व्रजरानी कहने लग जाती हैं—'सुनो! और भी बात है। दिनभर मैं चिन्तामें निमग्न रही। मेरे विस्मयका, भयका पारावार न था। मनमें इच्छा होती—सूचना देकर गोष्ठसे तुम्हें तुरंत बुला लूँ, सारा समाचार कहूँ; पर उसी समय नीलमणि हँसता हुआ मेरी गोदमें आ जाता और उतने समयके लिये मैं इस घटनाको भूल जाती। इसी तरह संध्या हो गयी। प्रबोधिनी-उत्सवकी रङ्गशालामें नटोंकी लीला आरम्भ होने जा रही थी। राम-कृष्णको लेकर मैं वहाँ चली गयी; किंतु रह-रहकर मुझे उस दृश्यका स्मरण हो आता था और मैं उत्सवसे विमना हो जाती। इतनेमें नटोंने रामलीलाका अभिनय प्रारम्भ किया। सामने भगवान् श्रीसीतारामकी सुन्दर झाँकी आयी। मैंने देखा—मेरे नीलमणिके नेत्रकमल सीता बनी हुई नटीकी ओर केन्द्रित हैं और उसका सारा शरीर काँप रहा है। मैं अत्यन्त डर गयी, अविलम्ब राम-श्यामको लिये शयनागारमें चली आयी। यहाँ आते ही नीलमणि स्वस्थ तो हो गया, पर उसकी आँखोंमें नींद नहीं। अतः मैं उसे सुलानेके उद्देश्यसे तथा अपने व्रतका निर्वाह करनेके लिये* श्रीरामचरित्रकी कथा नीलमणिको सुनाने लगी। वह भी आनन्दमें निमग्न होकर सुनने लगा—

सुनि सुत, एक कथा कहौं प्यारी।
कमल-नैन मन आनँद उपज्यौ, चतुर-सिरोमनि देत हुंकारी॥

मैंने कथा आरम्भ की—

दसरथ नृपति हुतौ रघुबंसी, ताकें प्रगट भये सुत चारी।
तिन में मुख्य राम जो कहियत, जनक-सुता ताकी बर नारी॥
तात-बचन लगि राज तज्यौ तिन, अनुज-घरनि सँग भये बनचारी।
धावत कनक-मृगा के पाछें, राजिव-लोचन परम उदारी॥

—किंतु जैसे ही मैंने सीताहरणका प्रसङ्ग सुनाया कि मेरे नीलमणिमें एक आवेश उत्पन्न हुआ, उसकी तन्द्रा जाती रही; वह 'लक्ष्मण! धनुष दो, धनुष दो' कहकर उठ खड़ा हुआ—'

रावन हरन सिया कौ कीन्हौ, सुनि नँद-नंदन नींद निवारी।
चाप-चाप करि उठे सूर-प्रभु, लछिमन देहु जननि भ्रम भारी॥

यह कहते-कहते व्रजरानी व्रजेशके हाथोंपर सिर रखकर रोने लग गयीं। पुत्रकी अनिष्ट-आशङ्कासे वे अतिशय व्याकुल हो गयी हैं।

व्रजेश्वर अतिशय मनोयोगसे यशोदा रानीकी बात सुनते रहे हैं। पर उनमें इस बार भयका संचार नहीं हुआ, प्रत्युत हर्षजन्य सात्त्विक विकार शरीरपर व्यक्त होने लगे। वे कुछ देरके लिये समाधिस्थ-से हो गये। फिर गद्गद कण्ठसे बोल उठे—'नहीं-नहीं, यह कदापि राक्षसी माया नहीं, असुरावेशके द्वारा यह असम्भव है; यह तो सर्वथा मेरे नाथ, जगन्नाथ श्रीनारायणकी माया है। मेरे पुत्रमें समय-समयपर निश्चय ही मेरे इष्टदेवका आवेश होता है, उनका वैभव

* यह शास्त्रीय विधान है कि प्रबोधिनी-व्रतीको भगवत्-चरित्र आदिका कीर्तन करते हुए उस दिन नित्य-जाग्रत् भगवान्को भी जगाना चाहिये।

प्रकाशित हो जाता है; ओह! वे निरन्तर मेरे पुत्रकी रक्षा कर रहे हैं। नहीं, अब अन्य उपायकी आवश्यकता नहीं। व्रजरानी! दोनों बालकोंपरसे सारा प्रतिबन्ध हटा दो, इन्हें व्रजमें स्वच्छन्द विचरने दो; विश्वपति स्वयं इनकी रक्षा कर रहे हैं। अनिष्टकी चिन्ता छोड़ दो, भयका कोई कारण नहीं है।' गोपेन्द्रकी अत्यन्त दृढ़, गम्भीर, ओजभरी इस वाणीने क्षणभरमें श्रीयशोदाका सारा संताप हर लिया। साथ ही योगमायाकी योजना भी सफल हो गयी। श्रीकृष्णचन्द्रकी इस अघटघटनापटीयसी योगमायाशक्तिने ही तो उनके इस वैभवका विस्तार किया था; क्योंकि वे अनुभव करने लगी थीं—'मेरे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र—अग्रज रामके सहित नन्दप्रासादकी सीमामें अवरुद्ध हैं, तोरणद्वारका उल्लङ्घन नहीं कर सकते; परंतु अब वे व्रजपुरमें विहार करनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हैं, इसी समय उनकी इस इच्छाके अनुकूल रङ्गमञ्चकी रचना अनिवार्य है; मैं करूँगी ही। यह लो! देखो, कर चुकी—

तदेवं सरामस्य तस्य निरोधे विधीयमाने बहिर्विजिहीर्षिते चातीव तदुपजीवनतामासन्ने योगमाया तदानुकूल्याय किञ्चित् प्रपञ्चितवती।

इस प्रकार प्रबोधिनी-निशाका अवसान होनेके साथ ही श्रीकृष्णचन्द्रपर लगे हुए प्रतिबन्धका भी अवसान हो गया। दूसरे दिन जिस समय व्रजेन्द्र प्रबोधिनीकी पारणा करनेसे पूर्व वेदज्ञ ब्राह्मणोंको चन्दनचर्चित रत्नसंवलित, जलपूर्ण स्वर्णकलश, स्वर्णमयी नारायणप्रतिमा, राशि-राशि मणि-माणिक्य, वस्त्रपुञ्ज एवं अन्नकूटका दान कर रहे हैं उस समय राम एवं श्रीकृष्ण तोरणद्वारके उस पार गोवत्सोंके मध्यमें खड़े उनसे खेल रहे हैं। अवश्य ही जननी यशोदा भी सारा गृहकार्य, समस्त दान-धर्म भूलकर पीछे-पीछे आयी हैं—निकट ही खड़ी हैं, इस भयसे कि कदाचित् कोई गोवत्स नीलमणिके सुकोमलतम श्याम कलेवरमें चोट न लगा दे। किंतु चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्रमें भयका लेश भी नहीं। सर्वथा निर्भीक रहकर वे बछड़ोंका स्पर्श कर रहे हैं, उन्हें छूते हुए क्रमशः नन्दप्रासादसे संलग्न गोशालाप्राङ्गणमें जा पहुँचते हैं। वहाँ अचानक एक कूदता हुआ बछड़ा उनके समीप आ जाता है। जननी दौड़ पड़ती हैं। पर उनके आनेसे पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र उस बछड़ेको पकड़ लेते हैं। उनके कर-कमलका स्पर्श पाते ही बछड़ा भी सर्वथा शान्त होकर खड़ा हो जाता है। आनन्दमें भरकर पहले वे स्वयं बैठ जाते हैं, फिर बछड़ेको अपनी ओर खींचने लगते हैं। वह भी, मानो हिमनिर्मित गोवत्सप्रतिकृति हो, इस प्रकार धीरे-धीरे श्रीकृष्णके द्वारा आकर्षित होकर बैठ जाता है, अपना सिर श्रीकृष्णकी गोदमें गिरा देता है। अब तो श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासकी सीमा नहीं। वे अपनी दोनों भुजाओंसे गोवत्सका मुख धारण कर लेते हैं। पश्चात् अरुण पङ्कजदलसदृश अपने अधरोंको उसपर रख देते हैं, गोवत्सके मुखका चुम्बन करने लगते हैं। ओह! यह दृश्य कितना मनोरम है; किंतु इसे देखकर जननीके हृदयमें तो एक साथ ही भय एवं कौतुकके दो स्रोत बह चलते हैं—

गोशालचत्वरतले विचरन् द्रवन्तं
वत्सं विधृत्य विनिपात्य निजाङ्कमूले।
दोर्भ्यां निगृह्य मुखमस्य मुखाम्बुजेन
चुम्बन् भियं च कुतुकं च तनोति मातुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

यह मनोहर दृश्य दूर खड़ी हुई श्रीरोहिणी भी देख रही हैं। उनके नयनोंमें भी भय भरा है, कहीं गोवत्स सहसा पुनः उछल पड़े और नीलमणि उसकी चपेटमें आ जाय! वे तो अधिक देरतक इस कौतुकका आनन्द ले भी न सकीं। श्रीकृष्णचन्द्रके पास जाकर उन्हें अपनी गोदमें उठा ही लिया। श्रीकृष्ण भयभीत जननी-युगलकी ओर देखने लगते हैं। उनके अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकान है। दूरपर खड़े श्रीराम भी हँस रहे हैं। इन दोनोंको साथ लेकर दोनों जननियाँ प्रासादकी ओर चल पड़ती हैं। दोनों ही चिन्तामें निमग्न हैं,

सोचती जा रही हैं कि 'ये दोनों बालक जबसे घुटरूँ चलने लगे हैं, तभीसे अतिशय चञ्चल हैं। अब तो इनके पैर हो आये हैं, ये दौड़ने लगे हैं; अब इनकी रक्षाकी क्या व्यवस्था करें?'

राम-कृष्णकी समस्त चेष्टाओंके सुन्दर चित्र दोनों जननियोंके स्मृतिपटपर नित्य अङ्कित रहते हैं। सजातीय प्रसङ्ग उपस्थित होते ही वे सजीव-से बनकर नेत्रोंके समक्ष आ जाते हैं। इसलिये यद्यपि पुत्रको गोदमें लिये वे नन्दभवनकी ओर बढ़ रही हैं; पर नेत्रोंके सामने राम-कृष्णकी, छः मास पूर्वकी चञ्चलतापूर्ण बाल्यभङ्गिमा नाच रही है। वे स्पष्ट एक-एक चेष्टा देखती आ रही हैं—'एक महिषके पृष्ठ-देशपर श्रीकृष्ण चढ़नेकी चेष्टा कर रहे हैं, राम उसकी पूँछ पकड़कर खींच रहे हैं। × × × × सामने प्रज्वलित अग्नि है, उस अग्निशिखाके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर दोनों उसे पकड़ना चाहते हैं। × × × एक श्वान गृहालिन्दके पास खड़ा है, उसे देखते ही राम-कृष्ण उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं; परमानन्दमें निमग्न होकर वह श्वान पुच्छसंचालन करने लगता है, श्रीकृष्णके सामने सिर झुका देता है; राम उसकी ग्रीवामें अपनी भुजा डाल देते हैं; श्रीकृष्ण उसके विस्फारित मुखमें अपना हाथ डालकर उसकी अरुण जिह्वा पकड़ लेते हैं; पकड़कर खींचते हैं। × × × एक कृष्णसर्प आया है, दोनों उसके निकट जा पहुँचे हैं; पहले रामने उसकी पूँछ खींची, सर्प अपने फणका विस्तार कर खड़ा हो गया; श्रीकृष्णने उसके फणपर हाथ रख दिया; बस, तुरंत फण समेटकर वह पृथ्वीपर शान्त लोट गया; पासमें अवस्थित छोटे बच्चे ताली पीट रहे हैं। × × × नन्दोद्यानके गम्भीर कूपके समीप दोनों जा पहुँचे हैं; दोनोंने मिलकर, पूरा बल लगाकर रस्सीमें बँधी हुई कलसीको कूपमें फेंक दिया, फिर कलसीको खींचना चाहते हैं; किंतु जलपूर्ण कलसी दोनोंके बलकी अपेक्षा अधिक भारी हो गयी है, अपनी असमर्थता अनुभव कर दोनों 'माँ-माँ' पुकार उठते हैं। × × × नन्दप्राङ्गणमें आनन्दमत्त मयूर नृत्य कर रहा है; दोनों निर्निमेष नयनोंसे यह नृत्य देखते हैं, फिर धीरेसे जाकर मयूरके चित्रित छत्रको पकड़ लेते हैं; मयूर अपनी ग्रीवा एवं चञ्चुको नचा-नचाकर अधिकाधिक आनन्दका अनुभव कर रहा है। × × × उद्यानमें राम-कृष्ण खेल रहे हैं; उन्होंने सहसा देखा—कण्टक-आवरणके अन्तरालमें एक हरित लता फैली है, उसपर अतिशय सुन्दर पीताभ कुसुम प्रस्फुटित हो रहे हैं; उन्हें तोड़नेके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने कण्टक-आवरण (बाड़)-में अपना सिर डाला है, राम पेटके बल प्रवेश करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

इस तरह अतीतकी स्मृति भी व्रजरानी एवं रोहिणीके समक्ष तात्कालिक-सी बनकर आयी है और वे परस्पर निश्चय कर रही हैं—'बहन! पुत्रोंकी रक्षा तब होगी, जब हम दोनों गृहकार्यका सर्वथा परित्याग कर दें; इन चञ्चल बालकोंकी रक्षा एवं गृहकार्यका समाधान दोनों एक साथ सम्भव नहीं, हमसे हो सकते ही नहीं। आह! यदि महिष अपने शृङ्गोंसे दोनों बालकोंपर आघात कर देता, अग्निशिखा जला देती, वह कुक्कुर काट खाता, सर्प डँस लेता, वे दोनों कूपमें जा गिरते, मयूर चोंचसे नोंच खाता, तीखी बाड़के काँटे राम-श्यामके शरीरमें बिंध जाते तो फिर हम अभागिनोंकी क्या दशा होती?' यह सोचते-सोचते व्रजरानी एवं रोहिणीका मन पुनः अतिशय चञ्चल हो उठा—

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २५)

उपर्युक्त भावनामें बहती हुई व्रजरानी एवं रोहिणी वहाँ जा पहुँचती हैं, जहाँ व्रजेन्द्र इस समय भी वन्दीजनोंको रत्नराशि लुटा रहे हैं। प्रबोधिनीकी पारणा भी अभीतक उन्होंने नहीं की है। पर अब वे दान देना

भूलकर रोहिणी एवं यशोदाकी गोदमें अवस्थित राम-श्यामकी ओर देखने लगते हैं। व्रजेश्वरको अपनी ओर ताकते देखकर श्रीकृष्ण बोल उठते हैं—'बाबा! मैं गोवत्सोंके साथ खेलने गया था, मैया मुझे उठा ले आयी है।' ओह! मानो ये शब्द नहीं, एक अमृत-स्रोत फूट निकला, कर्णरन्ध्रोंके पथसे; वह व्रजेश्वर, व्रजरानी, श्रीरोहिणीके अन्तस्तलमें जा पहुँचा; उनके प्राण सिक्त हो गये। तीनोंके प्रबोधिनीव्रतकी वास्तविक पारणा हो गयी। साथ ही इस अमृतधारामें व्रजेश्वरीके, श्रीरोहिणीके पुत्ररक्षणकी चिन्ता भी विलीन हो गयी। व्रजेश्वरके स्मृतिपथमें इस समय है एकमात्र श्रीकृष्णका मुखारविन्द! व्रजरानीकी समस्त वृत्तियाँ तन्मय हो रही हैं केवल श्रीकृष्णके मुखकमलमें!! श्रीरोहिणीको और सब कुछ विस्मृत होकर स्मरण है बस, एकमात्र श्रीकृष्णवदनाम्भोज!!!

उसके एक दिन बाद त्रयोदशीके प्रातःकाल श्रीकृष्णचन्द्रको अद्भुत शृङ्गारसे विभूषित कर व्रजरानीने उन्हें विस्तृत प्राङ्गणमें खेलनेके लिये छोड़ दिया। गीत गा-गाकर मणिस्तम्भोंकी परिक्रमा करते हुए वे खेलने लगे। इसी समय व्रजपुरकी एक नववधू नन्दोद्यानमें केतकी-पुष्प चयन करने आयी। पुष्पचयनके पश्चात् उत्सुकतावश पार्श्ववर्ती गोशालामें चली गयी। वहाँसे बरबस आकर्षित-सी हुई नन्दभवनमें जा पहुँची और उसने श्रीकृष्णचन्द्रको देख लिया। बस! देखते ही मोहित हो गयी। यह भूल गयी कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ। कहीं तीसरे पहर बाह्यज्ञान हुआ और घर पहुँची। विलम्बका कारण पूछनेपर गद्गद कण्ठसे वह बोल रही है—

आजु गई हौं नंद-भवन में, कहा कहौं गृह-चैन री।
चहूँ ओर चतुरंग लच्छमी, कोटिक दुहियत धैन री॥
घूमि रहीं जित-तित दधि-मथनीं, सुनत मेघ-धुनि लाजै री।
बरनौं कहा सदन की सोभा, बैकुंठहु तैं राजै री॥
बोलि लई नवबधू जानि, जहँ खेलत कुँवर कन्हाई री।
मुख देखत मोहिनी-सी लागी, रूप न बरन्यौ जाई री॥
लटकन लटकि रहे भ्रू-ऊपर, रँग-रँग मनि-गन पोहे री।
मानहुँ गुरु-सनि-सुक्र एक ह्वै, लाल भाल पर सोहे री॥
गोरोचन कौ तिलक, निकटहीं काजर-बिंदुका लाग्यौ री।
मनौ कमल कौ पी पराग, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥
बिधु-आनन पर दीरघ लोचन, नासा लटकत मोती री।
मानौ सोम संग करि लीने, जानि आपने गोती री॥
सीपज-माल स्याम-उर सोहै, बिच बघ-नहँ छबि पावै री।
मनौ द्वैज-ससि नखत सहित है, उपमा कहत न आवै री॥
सोभा-सिंधु अंग-अंगनि प्रति, बरनत नाहिंन और री।
जित देखौं मन भयौ तितहिं कौ, मनौ भरे कौ चोर री॥
बरनौं कहा अंग-अँग-सोभा, भरी भाव-जल-रास री।
लाल गोपाल बाल-छबि बरनत, कबि-कुल करिहै हास री॥
जो मेरी अँखियनि रसना होती, कहती रूप बनाइ री।
चिरजीवहु जसुदा कौ ढोटा, सूरदास बलि जाइ री॥

श्रीकृष्णकी मृद्भक्षण-लीला तथा माँ यशोदाका पुनः उनके मुखमें असंख्य विश्वब्रह्माण्डोंको देखना

स्वर्णकलशीसे अञ्जलिभर जल लेकर जननी यशोदाने श्रीकृष्णचन्द्रके चूर्णकुन्तलमण्डित सिरपर बिखेर दिया। वारिधारा भाल, नेत्र, कपोल, स्कन्ध एवं उदरका अभिषेक करती हुई चरणोंको सिक्त करने लगी। श्रीकृष्णचन्द्रका स्नान हो गया। एक दिन था, ये श्रीकृष्णचन्द्र ही तो थे, रसातल-निमग्ना धराका उद्धार करने गये थे, उद्धार कर लौट रहे थे। इनके विशाल वाराहविग्रहके दंष्ट्राग्रपर पर्वतादि-मण्डित धरा सुशोभित थी तथा चारों ओर अपरिसीम सागर हिलोरें ले रहा था। उस दिन सागरकी यह अनन्त अम्बुराशि इनके एक रोमविवरको भी भर देनेमें समर्थ न हो सकी थी। पर आज जननीकी अञ्जलिका जल ही पर्याप्त हो गया, उतने जलसे ही जननीने अरविन्दनेत्र श्रीकृष्णचन्द्रको नहला दिया—

यद्रोमरन्ध्रपरिपूर्तिविधावदक्षा वाराहजन्मनि बभूवुरमी समुद्राः।
तं नाम नाथमरविन्ददृशं यशोदा पाणिद्वयान्तरजलैः स्नपयाम्बभूव॥

(श्रीलीलाशुकस्य)

स्नानके उपरान्त व्रजरानी पुत्रका अङ्गमार्जन एवं शृङ्गार करती हैं—

अति सरस बसन तन पोंछे। लै कर मुख-कमल अँगोछे॥
अंजन दोउ दृग भरि दीन्हौ। भ्रुव चारु चखौड़ा कीन्हौ॥
आभूषन अँग जे बनाये। लालहि क्रम-क्रम पहिराये॥

अब यशोदारानी श्रीकृष्णका हाथ पकड़े भोजनागारकी ओर जा रही हैं। नीलमणिकी भोजनमें रुचि हो, इस उद्देश्यसे विविध पक्वान्नका वर्णन भी पुत्रको सुना रही हैं। विश्वपति विश्वम्भरको मिष्टान्नका नाम सुना-सुनाकर प्रलोभित करनेका यह प्रयास कितना आश्चर्यमय है—

अति प्यौसर सरस बनाई। तिहिं सोंठ-मिरिच रुचि नाई॥
दधि दूध बरा दहिरौरी। सो खात अमृत यक कौरी॥
सुठि सरस जलेबी बोरी। जिहिं जेंवत रुचि नहिं थोरी॥
अरु खुरमा सरस सँवारे। ते परसि धरे हैं न्यारे॥
सक्करपारे सद-पागे। ते जेंवत परम सभागे॥
सेव लाडू रुचिर सँवारे। जे मुख मेलत सुकुमारे॥
सुठि मोती लाडू मीठे। वे खात न कबहुँ उबीठे॥
खिर-लाडु लवंगनि नाये। ते करि बहु जतन बनाये॥
गूझा बहु पूरन पूरे। भरि-भरि कपूर रस चूरे॥
अरु तैसियै दाल मसूरी। जो खातहिं मुख-दुख दूरी॥
अरु हेसमि सरस सँवारी। अति स्वाद परम सुखकारी॥
बाबर बरने नहिं जाई। जिहिं देखत अति सुख पाई॥
मृदु मालपुआ मधु साने। जे तुरत तपत करि आने॥
सुंदर अति सरस अँदरसे। ते घृत-दधि-मधु मिलि सरसे॥
घेवर अति घिरत-चभोरे। लै खाँड़ सरस रस बोरे॥
मधुरी अति सरस खजूरी। सद परसि धरी घृत-पूरी॥

इतना ही नहीं, वास्तवमें अनन्त-ऐश्वर्य-निकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी इस मिष्टान्नचर्चासे प्रलोभित हो जाते हैं। भले ही वे—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥
ॐ नारायणाय नमः। नैवेद्यं निवेदयामि।*

—इस पुरुषसूक्तके मन्त्रसे सविधि अर्पित नैवेद्य-सम्भारकी ओर दृष्टिपाततक न करें, किंतु जननीकी यह मिष्टान्नवर्णना उनके कर्णरन्ध्रोंमें सुधाधारा बहा देती है, नित्यतृप्त निर्विकार श्रीकृष्णचन्द्रमें चाहका—लोलुपताका संचार कर देती है, नित्यनिरीहको चञ्चल बना देती है। घृतसिक्त पूरियोंका नाम सुनकर तो उनके हर्षका पार नहीं रहता—

---

* यज्ञपुरुषके मनसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति हुई, चक्षुसे सूर्य उत्पन्न हुए; मुखसे इद्र एवं अग्नि प्रकट हुए तथा प्राणसे वायुका प्रादुर्भाव हुआ। श्रीनारायणको नमस्कार है, मैं उन्हें नैवेद्य अर्पण कर रहा हूँ।

जब पूरी सुनि हरि हरष्यौ। तब भोजन पर मन करष्यौ॥

श्रीकृष्णचन्द्रको यशोदारानी भोजनगृहमें एक सुन्दर पीताभ आसनपर बैठा देती हैं। श्रीरोहिणीके हाथोंसे एक-एक वस्तु लेकर अपने नीलमणिके सामने रखती हैं। नीलमणि अग्रज बलरामको पुकारने लगते हैं। उनके बिना वे कभी भी भोजन जो नहीं करते। श्रीबलरामको भी श्रीकृष्णके बिना भोजन भाता ही नहीं। वे इस समय कुछ दूर खड़े रहकर श्रीकृष्णकी ओर देख रहे हैं। अनुजका आह्वान सुनते ही आ पहुँचते हैं और तब क्रमशः भोजन एवं अँचवन आदि होता है—

बलदाऊ टेरि बुलाये। यह सुनि हलधर तहँ आये॥
षटरस परकार मँगाये। जे बरनि जसोदा गाये॥
मनमोहन हलधर बीरा। जेंवत रुचि राख्यौ सीरा॥
सीतल जल लियौ मँगाई। भरि झारी जसुमति ल्याई॥
अँचवत तब नैन जुड़ाने। दोउ हरषि-हरषि मुसुकाने॥
हँसि जननी चुरू भराये। तब कछु-कछु मुख पँखराये॥
तब बीरि तनक मुख नायौ। अति लाल अधर ह्वै आयौ॥
छबि सूरदास बलिहारी। माँगत कछु जूठनि थारी॥

अब श्रीकृष्णचन्द्र बाहर खेलने जा रहे हैं— अकेले नहीं, अग्रज एवं श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम आदि सखाओंके साथ। बाहर न जानेका प्रतिबन्ध तो व्रजेश्वरने प्रबोधिनीके दिन ही हटा दिया था। उस दिनसे श्रीकृष्णचन्द्र परम स्वच्छन्द होकर विचरते हैं; किंतु नन्ददम्पतिके वात्सल्य-परिभावित चित्तमें अकारण ही पुनः अनिष्ट-आशङ्काकी छाया उदय हुई और दोनोंने यह परामर्श किया—

उभयोरेव नैकाकिविहारित्वं समीचीनमतः खेलासहचराः परिचरणचतुराः परिचारकाश्च कल्पनीयाः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

राम, कृष्ण—दोनोंके लिये ही एकाकी विचरण करना उचित नहीं। अतः खेलके संगी मित्रोंकी तथा सेवाकार्यमें कुशल बालपरिचरोंकी व्यवस्था करनी चाहिये।

व्रजेश्वरके संकेतमात्रका विलम्ब था। फिर तो व्रजपुरके प्रमुख गोप अपने-अपने पुत्रोंको प्रतिदिन श्रीकृष्णचन्द्रके समीप भेजने लगे। गोपबालक तो पहले भी आते ही थे! सम्मेलन-समारोहके दिन ही इन बालकोंका श्रीकृष्णचन्द्रसे गठबन्धन हो चुका था। पर अब तो उन्हें व्रजेश्वरकी ओरसे एवं पिताओंकी ओरसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। अब उन्हें यह आशङ्का नहीं कि खेलनेके बीचसे ही कभी घरके अभिभावक हमें उठा ले जायँगे। उनके उल्लासकी सीमा नहीं। प्रतिदिन नवीन उमंगें लेकर वे बालक श्रीकृष्णके समीप आते हैं। आज भी उनका उत्साह देखने योग्य ही है। उनसे आवृत होकर बलरामके नायकत्वमें श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकोलाहल करते हुए नन्दोद्यानमें प्रवेश कर रहे हैं।

उद्यानके सुरम्य सरोवर-तटपर यह सखागोष्ठी जा पहुँचती है। गोपबालक अलग-अलग प्रचुर परिमाणमें धूलि एकत्र करते हैं। श्रीकृष्ण भी अपनी छोटी-सी अञ्जलि भर-भरकर धूलिस्तूप निर्माण करते हैं। फिर उस स्तूपको यथायोग्य बिखेरकर प्राचीर, पुर, गृह आदिकी रचना करते हैं। श्रीदामने भी श्रीकृष्णका अनुकरण करते हुए वैसे ही सुन्दर प्राचीर, उतना ही बड़ा पुर, उतने ही ऊँचे गृह बनाये और विजयोल्लासमें भरकर वह श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखने लगा। श्रीकृष्ण हँसते हुए अतिशय शीघ्रतासे उठे; उन्होंने श्रीदाम-निर्मित प्राचीर, पुर, गृहपर अपना हाथ फेरकर उन्हें गिरा दिया। बस, अविलम्ब ही श्रीदामने भी लपककर श्रीकृष्णकी रचना मिटा दी। अन्य बालक हँसते हुए ताली पीटने लगे। श्रीकृष्णके मुखपर लज्जा छा गयी तथा श्रीदामके मुखपर भर गया विजयगर्व। श्रीकृष्ण अत्यन्त तत्परतासे पुनः धूलिराशि बटोरकर गृहनिर्माणमें लगे; किंतु इस बार आर्द्रधूलि किञ्चित् शुष्क हो जानेके कारण टिक नहीं रही है, प्राचीर बन नहीं पा रहा है। अत्यन्त परिश्रम करनेपर किसी प्रकार टेढ़ा-मेढ़ा प्राचीर तो बन भी गया, किंतु पुरकी रचना नहीं ही

हो सकी। इसी बीचमें अन्य गोपबालकोंके अपनी-अपनी रुचिके अनुरूप घरौंदे बन चुके हैं, केवल श्रीकृष्णचन्द्र ही असफल हो रहे हैं। उनके मनके अनुरूप पुर, गृह इस धूलिस्तूपमें मूर्त्त हो नहीं रहा है। वे बनाते हैं और ढाह देते हैं; फिर गढ़ते हैं और फिर तोड़ देते हैं। इस पुनर्निर्माणके उद्यममें उन्हें अत्यन्त परिश्रम हो रहा है। श्यामकलेवर घर्माक्त हो चुका है; प्रस्वेद-कण भालपर, कपोलोंपर झल-झल करने लगे हैं। इस अभूतपूर्व लीला-कौतुकका दर्शन कर स्वर्गनिवासी देवगणके आनन्दकी, आश्चर्यकी सीमा नहीं है! वे सोच रहे हैं—

यदीयो भ्रूभङ्गः कति न जगदण्डानि शतशः
प्रसूते सम्पाति क्षपयति न तत्र प्रयतते।
स एवायं धूलीपुरगृहविनिर्माणरभसे
भृशं श्रान्तः स्विन्नस्तदपि न विरामं रचयति॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

ओह! जिन्हें स्वयं प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जिनका भ्रूभङ्गमात्र ही न जाने कितने शत-शत विश्वब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करता है, रक्षा करता है और पुनः उनका संहार कर डालता है, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र आज धूलिके द्वारा पुर, गृह-निर्माण करने जाकर अत्यन्त परिश्रान्त हो रहे हैं, उनका समस्त शरीर प्रस्वेदसे लथपथ हो रहा है तथा उसपर भी वे अपनी चेष्टाका विराम जो नहीं कर रहे हैं! अस्तु!

श्रीकृष्ण चिन्तित-से हो गये; क्योंकि पुनर्निर्माणकी बारंबार चेष्टा अबतक विफल जो हो रही है, अन्य गोपबालक हँस जो रहे हैं। इसलिये अब अपनी लज्जाका निवारण करनेके लिये, इस प्रसङ्गको बदलनेके उद्देश्यसे उन्होंने एक नवीन युक्तिकी अवतारणा की। वे एक मृत्तिकाखण्ड उठा लेते हैं तथा उठाकर मुखमें रख लेते हैं। उनका यह करना था कि गोपबालकोंके मनोभाव बदल गये। उनकी कौतुकमयी वृत्ति कुछ समयके लिये तिरोहित हो गयी। वे परस्पर चर्चा करते हुए बोले—"भैयाओ! श्रीकृष्णने तो मिट्टी खा ली है। तुम्हें स्मरण होगा, अरे, उसी दिनकी तो बात है, श्रीकृष्णने इसी उद्यानमें उस वनफलको तोड़कर अपने मुखमें रख लिया था, मैयाने देख लिया था; वे दौड़ी आयीं; मुखसे वह फल बाहर निकाल फेंका तथा हम सबसे कह गयीं कि 'पुत्रो! श्रीकृष्णको मेरी आज्ञा बिना कोई नवीन वस्तु खाने मत देना; और यदि वह खा ले तो अविलम्ब मुझे सूचना देना।' तो इसने तो अभी हमारे देखते-देखते मुखमें एक मिट्टीका ढेला रख लिया है; पता नहीं, क्या परिणाम हो। मैयाको बुला लाओ, कम-से-कम सूचना तो दे ही दो।" इस प्रकार परामर्श करके चार गोप-बालक तो व्रजेन्द्रगेहिनीके समीप दौड़ गये, श्रीदाम उनका नेता बनकर गया। आज सर्वप्रथम उसीके धूलि-घरौंदेको श्रीकृष्णने छिन्न-भिन्न किया था, उसी समय श्रीकृष्णका उससे किंचित् विवाद भी हो चुका था; इसीलिये वह दौड़ा गया। इधर अग्रज बलरामने जाकर श्रीकृष्णके हाथ पकड़ लिये। सम्पुटित अधरोंके अन्तरालमें अभी भी वह मृत्तिकाखण्ड है, यह श्रीबलरामको अनुभव हो रहा था। इसीसे वे उसे उगल देनेका आग्रह करने लगे। किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने आज अग्रजकी भी उपेक्षा कर दी। नेत्रोंमें रोष भरकर श्रीबलरामने धमकाया भी, पर वे तो आज उस मिट्टीको उदरस्थ करनेपर तुले हुए दीखते हैं। मानो विश्वनिवास श्रीकृष्णचन्द्रको अपनेमें अवस्थित प्राणिसमुदायकी स्मृति हो आयी हो, अपने उदरमें अवस्थित निजजनोंके परम प्रिय मनोरथकी उन्हें सुधि हो आयी हो, अपनी ही कुक्षिमें निवास करनेवाले अनन्य-निर्भर प्राणियोंकी यह चिरंतन प्रार्थना श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणोंमें आज पुनः झंकृत हो उठी हो—'मेरे नाथ! तुम्हारे चरणारविन्दका मकरन्द पान करके भी एक अभिलाषा और अवशिष्ट रही है। वह यह कि प्रभो! इस व्रजपुरकी गोखुरक्षुरित रजका, इन व्रज-सुन्दरियोंकी चरणरजका एक कण कदाचित् हमें भी प्राप्त हो जाय! ओह! व्रजपुरके नीले आकाशमें उड़ती हुई रजका दर्शन करके सुरेन्द्र,—सुरवृन्दके

प्राण उत्कण्ठित हो जाते हैं कि एक बार किसी एक रज-कणिकासे हमारे मस्तकका अभिषेक हो जाय! आह! असत् पुरुषोंके लिये तो यह सर्वथा अलभ्य है, स्वप्नमें भी इस रजकी छायातक उनके मनमें उदय नहीं हो सकती। दयामय! हे करुणार्णव! सनक-सनन्दन आदि महान् योगीश्वरोंकी भी निरन्तर परम ध्येय वस्तु—उनके ध्यानमें नित्य विराजित इस गोरजका, गोप-सुन्दरियोंकी पादरजका स्पर्श एक बार हमें भी मिल जाय!' मानो इस प्रार्थनाने ही इस समय श्रीकृष्णचन्द्रके कृपासागरको तरङ्गित कर दिया हो; इस परम पवित्र शुभ अभिलाषासे ही करुणा-समुद्र लहराने लगा हो, दयासागरकी एक कृपालहरी ही उस मृत्तिकाखण्डको बहा लायी हो, लाकर श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलोंपर रख गयी हो और वे उन अन्तर्वर्ती आश्रितजनोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये ही किंचित् रज:कण खा गये हों, नहीं-नहीं, मुखकमलके पथसे गोपिकाचरणपराग उनके समीप प्रेषित कर रहे हों—

यत्स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसतां ध्येयं च यद्योगिनां
प्राप्तं स्यात् किमु तद्रजो व्रजगतं गोगोपिकापादगम्।
इत्थं भूरि निजोदरस्थजनसद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन्
मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

कुछ भी कारण हो, अनुजको अपनी अवज्ञा करते देखकर श्रीबलराम भी रोषमें भर गये; पर वश नहीं चलता था। करें तो क्या करें? मन्द-मन्द मुसकानसे समन्वित सम्पुटित अधरोंको वे जब खोलने जाते तो श्रीकृष्ण उनका हाथ पकड़ लेते और बलराम भी हाथ छुड़ा नहीं पाते! पता नहीं बलरामका बल भी आज क्या हो गया! अतः वे भी कुपित होकर जननीके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे। इधर गोपबालक भी जा ही पहुँचे। व्रजरानी अपने नीलमणिका परिधान-वस्त्र सहेज रही हैं। जाते ही प्रतिशोधकी भावनासे स्फुरिताधर हुआ श्रीदाम व्यङ्गभरे स्वरमें बोल उठा—

मो देखत जसुमति तेरें ढोटा अबहीं माटी खाई।

बस, व्रजरानी सुनते ही उठ खड़ी हुईं। आज प्रथम बार पुत्रके प्रति जननीके नेत्रोंमें किंचित् रोषका संचार हो जाता है। वे सोच रही हैं—'अरे! नीलमणि तो मिट्टी खाना सीख गया! नहीं-नहीं, अभी तुरंत शासन करना अनिवार्य है, जिससे मूलमें ही ऐसे दोषकी जड़ नष्ट हो जाय। मिट्टी खानेवाले शिशुओंको तो अनेक रोग हो जाते हैं, मिट्टी खाकर नीलमणि यदि रुग्ण हो गया तो? ....' अविलम्ब व्रजमहिषी उद्यानमें जा पहुँचती हैं, मल्लिका-लताकी एक छोटी-सी डाली शीघ्रतासे तोड़कर हाथमें ले लेती हैं, तथा दूसरे हाथसे श्रीकृष्णकी भुजा पकड़ लेती हैं।

व्रजरानीकी मुखमुद्रा एवं उनके हाथमें छड़ी देखकर श्रीकृष्ण सहसा अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। उनके भीतिविजड़ित नयनोंकी श्याम पुतलियाँ नाच उठती हैं। वास्तवमें तो इन घूर्णित नयनोंके रूपमें आदिपुरुषके नेत्रस्वरूप चन्द्र-सूर्य ही चञ्चल हो उठे हैं। सूर्य-चन्द्रको सम्भ्रमयुक्त चिन्ता हो रही है, वे सोच रहे हैं—'ओह! हमने दर्शन किये हैं, हम साक्षी हैं, प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने मृद्भक्षण किया अवश्य है; पर देखें, जननीके समक्ष वे क्या कहते हैं!' इस चिन्तासे ही चन्द्र-सूर्य भ्रमित हो रहे हैं—

भुक्त्वापि मृत्तिकां मातुरग्रे किं वा वदेदयम्।
इत्यक्षिरूपौ चन्द्रार्कौ साक्षिणौ भ्रेमतुस्तदा॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

श्रीकृष्णहितकाङ्क्षिणी यशोदारानी भर्त्सनाके स्वरमें बोलीं—

चपल! किमिदं दुश्चरितमाचरितम्?

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे चञ्चल! तुमने यह क्या अनुचित चेष्टा की है?'

श्रीकृष्णने अत्यन्त सावधान, पर अतिशय कातर स्वरमें उत्तर दिया—

मातर्न किमपि।

'मैया! मैंने तो कुछ नहीं किया है।'

जननीने इस बार किंचित् व्यङ्गभरी वाणीमें कहा—

मृत्तिकामत्ति स्म भवान्?

'अजी! आपने मिट्टी खायी है?'

श्रीकृष्ण सर्वथा त्वरापूर्ण स्वरमें बोल उठे—

क इदं वदति?

'यह कौन कहता है?'

माता—

सर्वे एव तव सवयसः।

'क्यों! सभी तुम्हारे साथी जो कह रहे हैं।'

श्रीकृष्ण—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।

(श्रीमद्भा०)

'मैया! मैंने तो मिट्टी नहीं खायी है, ये सभी मिथ्यावादी हैं।'

माता—

तवाप्यग्रजः सोऽयं व्यञ्जयति तत्र किं वदिष्यसि?

'और तेरा अग्रज बलराम जो कह रहा है सो? इसका तेरे पास क्या उत्तर है?'

श्रीकृष्ण—

यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्।

(श्रीमद्भा०)

'यदि मेरा विश्वास तू नहीं करती, इन्हें ही सत्यवादी मानती है तो मेरा मुख तो तेरे सामने है ही; तू स्वयं देख ले।'

'अच्छी बात है, यदि ऐसी ही बात है तो तू अपना मुख खोल, मैं देख लेती हूँ।' यह कहकर जननी यशोदा श्रीकृष्णचन्द्रके मुखकी परीक्षा करने चलीं। अनन्त ब्रह्माण्डपति श्रीकृष्णचन्द्रने भी जननीकी आज्ञाका पालन करते हुए किंचिन्मात्र भी विलम्ब न कर अपना सम्पूर्ण मुख खोल दिया तथा भयभीत विस्फारित नेत्रोंसे जननीकी ओर देखते रहे। व्रजमहिषीने अपने वाम हस्तपर श्रीकृष्णचन्द्रका चिबुक रखा तथा दक्षिण हस्तको समुन्नत ललाटपर रखकर उनके सिरको पीछेकी ओर झुका दिया; फिर मुखगह्वरके अन्तरालमें देखने लगीं—दन्तपार्श्वमें, जिह्वाके अधोभागमें, जिह्वाके मूल-देशमें क्रमशः मृत्तिकाचिह्न ढूँढ़ने लगीं।

इस समय स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटघटनापटीयसी योगमायाशक्तिके लिये अपने स्वामीकी सेवाका एक परम उपयुक्त अवसर उपस्थित हुआ। श्रीकृष्णचन्द्रमें नित्य प्रतिष्ठित रहकर योगमाया लीलारस-विस्तारकी, अघटघटनके द्वारा लीलाक्रम-समाधानकी सेवा करती हैं। वे सोच रही हैं—"जननी कुपित हैं; यदि जिह्वाके मूलमें मृत्तिका-भक्षणका अवशिष्ट चिह्न इन्होंने देख लिया तो कोप और बढ़ेगा; किंतु वर्तमान लीलाक्रममें इससे अधिक कोपके लिये स्थान है नहीं। अतः विस्मयरसमें जननीको निमग्न करके, इनके कोपको प्रशमित करते हुए भावान्तर उपस्थित कर देना तो मेरी प्रथम सेवा है। साथ ही, बाल्यलीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्रके मुख-कमलसे निस्सृत वाणीकी—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी है' इस उक्तिकी परम सत्यताको प्रत्यक्ष कर देना यह द्वितीय, आनुषङ्गिक सेवा भी मुझे अभी-अभी तुरंत कर देनी है। इसीलिये, इससे पूर्व कि जननी जिह्वामूलकी ओर दृष्टिपात करें, अविलम्ब योगमायाशक्ति श्रीकृष्णके श्याम शरीरमें प्रकट हो जाती हैं, पुत्रके मुखमें मृत्तिकाचिह्न ढूँढ़नेवाली जननीको उस मुखगह्वरमें ही अनन्त मृण्मयी पृथ्वियोंसे विभूषित असंख्य विश्वब्रह्माण्डोंके दर्शन करा देती हैं। योगमाया सेवाका थाल सजा रही हैं और सोच रही हैं—'श्रीकृष्णजननि! तुम अपने नीलमणिमें एक रज-कणचिह्न देखने आयी हो? अच्छा लो, देखो! एक रजःकण ही नहीं, निखिल रजोमयी सृष्टि यहाँ पहलेसे ही वर्तमान है। व्रजरानी! बाहरकी वस्तुको मुखमें लेनेका, उदरस्थ करनेका नाम भक्षण है; तुम प्रत्यक्ष देख लो—तुम्हारे पुत्रके मुखसे, उदरसे बाहर कोई वस्तु है क्या? ऐसी कोई भी वस्तु तुम्हें बाहर दीखती है क्या, जिसे तुम्हारा पुत्र नवीनक्रमसे उदरस्थ कर ले, खा ले? जिस मृत्तिकाखण्डके भक्षण करनेका, उदरस्थ करनेका आरोप तुम्हारे नीलमणिपर है, क्या वह

मृत्तिकाखण्ड पहलेसे ही नीलमणिके मुखमें, उदरमें वर्तमान नहीं है? फिर, मैया! 'मैंने मिट्टी नहीं खायी है' तुम्हारे नीलमणिका यह कथन परम सत्य है या नहीं? 'नीलमणिने मिट्टी खायी है, एक मृत्तिकाखण्ड उदरस्थ कर लिया है—यह प्रचार मिथ्या है या नहीं?'

इस प्रकार क्षण भी न लगा और योगमायाने यशोदारानीके परम स्निग्ध, ऐश्वर्यादिसे सर्वथा शून्य वात्सल्यरस-प्रवाहके सामने—अवश्य ही प्रवाहको और भी वेगान्वित करनेके उद्देश्यसे—अपने वैभवकी एक पर्वतमाला खड़ी कर दी। व्रजरानीने मुखपरीक्षणके लिये, मृत्तिका-चिह्नका अनुसंधान पानेके लिये तालुमूलकी ओर ताका ही था कि दृश्य बदला एवं अपने नीलमणिके मुखविवरमें जननी क्रमशः देखने लगीं—'ओह! सामने लक्षयोजन उत्तुङ्ग सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। मानो भूमण्डलपद्मकी यह कर्णिका हो, ऐसी इसकी शोभा है! × × × मेरुके आधारभूत हुए मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व, कुमुद—चार गिरिराज चार दिशाओंमें सुशोभित हैं! × × × मन्दरकी गोदसे अरुणोदा प्रवाहित हो रही है! × × × मेरुमन्दरके शृङ्गसे जम्बूनदी प्रसरित हो रही है। जम्बूतटपर राशि-राशि जाम्बूनद (स्वर्ण) बिखरा पड़ा है। × × × सुपार्श्वपर एक विशाल कदम्ब है। कदम्बके कोटरोंसे पाँच मधुधाराएँ निकल रही हैं! × × × ओह! यह सामने कुमुदगिरिपर अवस्थित शतवल्श नामक वटवृक्षकी कैसी शोभा है! वटस्कन्धसे अनेकों पयस्विनियाँ निर्गत होकर नीचेकी ओर भागती जा रही हैं। × × × यह देखो! मेरु-मूलमें अवस्थित कुरङ्ग, कुरर, कुसुम्भ, वैकङ्क आदि गिरिमालाएँ कितनी सुन्दर हैं, जैसे कर्णिका-केसर हो! × × × अब समझी! × × × मेरुको परिवेष्टित किये हुए यह समस्त जम्बूद्वीप है। जम्बूको आवृत किये हुए ये लवणोदधिकी लहरें हैं। × × × क्षार-समुद्र भी एक विशाल द्वीपसे परिवेष्टित है। अरे! यह तो प्लक्षद्वीप है! वह, वहाँ है सुवर्णमय प्लक्षतरु। × × × यह तो इक्षुरसका सागर लहरा रहा है! × × × यह शाल्मली! × × × फिर यह सुरोदधि! × × × आगे कुश है! × × घृतसमुद्र है! × × यह क्रौञ्च! × × × यह क्षीरोदधि! × × अब शाकद्वीप आया है! ओह! इतना विशाल दधिमण्डोद-सागर है! × × × पुष्करद्वीपका यही तो कनकपत्र-समन्वित बृहत् पुष्कर है! × × × यह रहा मिष्टोदक-समुद्र! × × मानसोत्तराचल! × × लोकालोक! × × × लोकालोकके ऊपर चारों दिशाएँ। ये हैं ऋषभ, पुष्करचूड़, वामन, अपराजित—चार द्विरदपति! × × × अरे! क्या ही आश्चर्य है! वायु-अग्नि-चन्द्र-तारक संनिवेशित, अतल-वितल-सुतल-तलातल-महातल-रसातल-पाताल-समन्वित भूर्लोक देख चुकी। फिर भुवर्लोक भी देख चुकी!! और अब स्वर्लोक देख रही हूँ!!! × × × निश्चय गन्धर्व-सिद्ध-किंनर-चारण-विद्याधर-मुनिगणमण्डित यह स्वर्ग ही तो मेरे नेत्रोंके समक्ष है! × × × ओह! जल है! तेज है! वायु है! आकाश है! इन्द्रियाँ हैं! मन है! पञ्चतन्मात्राएँ हैं! अहंकार है! महत्तत्त्व है! तम है! रज है। सत्त्व है! प्रत्येकको अधिष्ठात्री देवता भी है!! × × × जीव, काल, स्वभाव, कर्म एवं कर्मसंस्कारवश विचित्र नानादेहसमन्वित चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है! × × × × हैं! हैं! यह कालिन्दी प्रवाहित हो रही है! × × × ओह! यह व्रजपुर आया! × × ये व्रज-गो- गोप-गोपिकाएँ हैं! × × × यह तो व्रजेन्द्रप्रासाद है! × × × अरे! यह तो उद्यान है। × × हैं! यह मेरा नीलमणि है! × × × मैं उसका मुखविवर देख रही हूँ! × × × अरे! यह क्या × × × अनन्त ब्रह्माण्ड! × × × एक-से अनन्त व्रजपुर × × × ओह! एक-से अनन्त उद्यान। एक-से अनन्त नीलमणि!! एक-सी अनन्त यशोदाएँ नीलमणिका मुखविवर देख रही हैं!!! …………

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम्॥

ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः॥
एतद् विचित्रं सहजीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम्।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३७—३९)

व्रजमहिषीके हाथोंमें कम्प होने लगता है। छड़ी हाथसे गिर पड़ती है। वे श्रीकृष्णका हाथ छोड़कर व्याकुल हो जाती हैं—

कर ते साँटि गिरत नहिं जानी, भुजा छाँड़ि अकुलानी।

व्रजरानी 'नारायण! नारायण!!' उच्चारण करने लगती हैं। साथ ही सोचती जा रही हैं—'मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? या मेरे नारायणदेवकी यह माया है? अथवा मेरी बुद्धिमें ही कुछ विलक्षण मोह हो गया है? मेरे नीलमणिमें ही ऐसी कोई जन्मजात सिद्धि तो नहीं है? ओह! कुछ भी समझ नहीं पाती।'

श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें उठाकर जननी चल पड़ती हैं। अन्तर्हृदयमें झंझावात प्रवाहित हो रहा है। पर ऊपर किसीको इसका अनुमानतक नहीं। केवल इतना ही लक्षित हो रहा है कि जननी अन्यमनस्का-सी होकर पुत्रको लिये जा रही हैं।

योगमायाने जवनिका गिरा दी है, पर जननीका मन अभी भी उस दृश्यमें ही उलझा हुआ है। नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उठ रहे हैं। पर किससे कहें? व्रजेन्द्र तो गोष्ठ गये हुए हैं। मन विक्षिप्त होता जा रहा है; क्योंकि वे अनुभव कर रही हैं, मैं इच्छा करते ही अपनी अँगुलियोंसे नीलमणिका मुख ढँकनेमें समर्थ हो रही हूँ। पर साथ ही अभी-अभी इतने छोटे मुखविवरमें ही मैंने अनन्त ब्रह्माण्ड देखे हैं। कभी-कभी यह मनमें आ रहा है कि कदाचित् आसुरी माया ही तो यह नहीं है। तथा इसीलिये मैयाने अनेकों उपचार भी आरम्भ करवा दिये हैं, स्वयं रक्षोघ्नमन्त्रोंसे जल अभिमन्त्रितकर श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें डाल रही हैं—

देखौ री जसुमति बौरानी।
घर-घर हाथ दिखावति डोलति, गोद लियें गोपाल बिनानी॥
जानता नाहिं जगतगुरु माधौ, इहिं आये आपदा नसानी।
जाकौ नाउँ, सक्ति पुनि जाकी, ताकौं देत मंत्र पढ़ि पानी॥
अखिल ब्रह्मंड उदरगत जाकें, जाकी जोति जल-थलहिं समानी।
सूर सकल साँची मोहि लागति, जो कुछ कही गर्ग मुख बानी॥

कठिनता यह है कि व्रजसुन्दरियोंको पूरा-पूरा अनुमान भी नहीं हो रहा है कि जननीने क्या देखा है। वे व्रजरानीका प्रत्येक आदेश तो पालन कर रही हैं, पर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखनेपर किसी भी गम्भीर परिस्थितिकी कल्पना वे कर नहीं पा रही हैं। जो हो, व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको लिये नारायण-मन्दिरमें चली जाती हैं। पुत्रको मन्दिरद्वारपर बिठाकर स्वयं माथा टेक देती हैं। अश्रुपूरित नेत्रोंसे प्रार्थना करने लगती हैं—'देव! मैं तुम्हें भूल गयी हूँ, इसीलिये यह सारा अनर्थ है। तुमने ही मुझे नीलमणिका दान दिया है, नीलमणि वास्तवमें तुम्हारी ही वस्तु है; किंतु मैं उसे अपना मान बैठी। यह यशोदा मैं हूँ, ये व्रजेन्द्र मेरे पति हैं, यह नीलमणि मेरा पुत्र है, व्रजेन्द्रकी समस्त सम्पत्तिकी मैं स्वामिनी हूँ, उनकी मैं धर्मपत्नी हूँ, ये गोपियाँ मेरी हैं, ये गोप मेरे हैं, यह अपार गोधन मेरा है—इस प्रकार अहंता-ममतासे युक्त होकर मैं तुम्हें भूल गयी, अहंता-ममतारूपी कुमतिसे आच्छादित हो गयी। नाथ! तुम्हारी मायासे मोहित होनेपर ही ऐसी कुमति घेर लेती है। इसलिये हे मायापति! तुम्हीं मेरे शरण्य हो। नीलमणिकी रक्षा तुम्हीं करना।'

इस प्रार्थनाके समाप्त होते-न-होते श्रीकृष्णचन्द्रके बन्धूकसदृश अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है। उस मुसकानके अन्तरालसे पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी मायाका प्रादुर्भाव होता है, वे अपने अञ्चलकी बयारसे व्रजमहिषीका अश्रुमार्जन करती हैं। योगमायाने अपने वैभवको तो कभीका छिपा लिया था। रूपान्तरित होनेसे पूर्व वे व्रजरानीके स्मृतिपटपर अङ्कित इस विश्वदर्शनके संस्मरणको भी पोंछ डालती हैं। व्रजेन्द्रगेहिनीको इस विचित्र घटनाकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है, उनकी वात्सल्यधाराके सामने आया हुआ ऐश्वर्य-पर्वत सहसा

विलुप्त हो जाता है; वात्सल्यपयस्विनी सागर बन जाती है, उसमें लहरें उठने लगती हैं; एक लहरी श्रीकृष्णचन्द्रको उठाकर जननीकी गोदमें रख देती है और दूसरीके प्रवाहमें व्रजमहिषी श्रीकृष्णचन्द्रको लिये बह जाती हैं—

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः॥
सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम्।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽऽसीद् यथा पुरा॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। ४३-४४)

इस घटनाके अनन्तर आज व्रजरानीका श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति एवं श्रीकृष्णका जननीके प्रति इतना अधिक आकर्षण बढ़ गया है कि व्रजसुन्दरियाँ चिन्ता करने लगती हैं—कहीं यशोदारानी पगली तो नहीं होती जा रही हैं। स्वयं रोहिणी एवं व्रजेन्द्र भी किञ्चित् सशङ्कित हो उठे हैं। अतिशय आश्चर्यकी बात यह हुई है कि व्रजरानीके एक चिररक्षित नियममें भी आज व्यतिक्रम हो गया। उनकी यह दिनचर्या थी कि व्रजेन्द्रकी नारायणपूजाका उपचार वे स्वयं अपने हाथों एकत्र करतीं; किंतु आज इस कार्यकी भी उन्हें विस्मृति हो गयी। तबसे निरन्तर एकमात्र पुत्रका ही लाड़ लड़ाती रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्रसे भी गोपसखाओंने अत्यन्त आग्रह किया कि 'खेलने चलो, पर वे भी आज जननीकी गोद छोड़कर कहीं नहीं गये। कब दिन समाप्त हुआ, कब संध्या हुई, कब रात्रि आयी—यह भी जननीने नहीं जाना। रोहिणी, अग्रज एवं श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त वे किसी औरको पहचान भी नहीं पाती थीं। अब दूसरे दिन जब उषा व्रजपुरके वनप्रान्तरपर अपने कोषका समस्त सौन्दर्य बिखेर दे रही है, उस समय यशोदारानी प्रकृतिस्थ हुई हैं, भावसमाधिसे जागकर श्रीकृष्णचन्द्रको जगा रही हैं—

जागिये गोपाल लाल, आनँद-निधि नंद-बाल,
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयौ प्यारे।
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल,
मदन ललित बदन उपर कोटि बारि डारे॥
उगत अरुन बिगत सर्बरी, ससांक किरन-हीन,
दीपक सु-मलीन, छीन-दुति समूह तारे।
मनौ ज्ञान-घन-प्रकास, बीते सब भव-बिलास,
आस-त्रास-तिमिर, तोष-तरनि-तेज जारे॥
बोलत खग-निकर मुखर, मधुर, होइ प्रतीति सुनौ,
परम प्रान-जीवन-धन मेरे तुम बारे।
मनौ बेद बंदीजन सूत-बृंद मागध-गन,
बिरद बदत जै जै जै जैति कैटभारे॥
बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक,
गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे।
मानौ बैराग पाइ, सकल सोक-गृह बिहाइ,
प्रेम-मत्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे॥
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल-जाल, दुख-कदंब टारे।
त्यागे भ्रम-फंद-द्वंद निरखि कै मुखारबिंद,
सूरदास अति अनंद, मेटे मद भारे॥

फल-विक्रयिणीपर कृपा

कदली-बदरी-पीलू-नारङ्ग आदि विविध फलोंसे परिपूरित टोकरीको फल-विक्रयिणीने अपने सिरसे उतारा, उतारकर भूमिपर रख दिया तथा वहीं अश्वत्थकी शीतल छायामें वह विश्राम करने लगी। एक तो वृद्ध शरीर, दूसरे बोझल टोकरीका भार—वृद्धा अत्यन्त श्रान्त हो गयी है। हेमन्तके शीतमें भी उसके ललाटपर प्रस्वेदकण झलक रहे हैं। वह अपने बिखरे हुए रजत-धवल केशोंको समेटकर, उनमें एक गाँठ लगा देती है तथा फटे आँचलकी छोरसे स्वेदमार्जन करती है। वह जहाँ बैठी है, उसके ठीक सामने प्रासादसे संलग्न व्रजेशकी क्षेत्रवाटिका (खलिहान) है। नवधान्यके अंबार लगे हैं। फल-विक्रयिणी इन्हीं अगणित विशाल धान्यस्तूपोंकी ओर देखने लग जाती है।

अब तो मध्याह्न हो चुका है। जिस समय अरुणोदय ही हुआ था, ओसबिन्दु सर्वत्र बिखरे पड़े थे, उस समय फल-विक्रयिणी अपने घरसे चली थी। तबसे वह 'फल ले लो जी, फल' यह पुकार लगाती हुई व्रजपुरकी वीथियोंमें घूमती रही है। राजपथके दोनों पार्श्वोंमें अवस्थित श्रेणीबद्ध उत्तुङ्ग मणिमय भवनोंके द्वारपर जा-जाकर उसने अनेकों बार गोपशिशुओंका ध्यान आकर्षित करनेकी चेष्टा की। पर दैवकी लीला! आज किसी ग्राहकका दर्शन नहीं हुआ, किसी गोपशिशुने उसके आह्वानका उत्तरतक न दिया; कोई भी व्रजपुरन्ध्री फलका सौदा करने नहीं आयी, किसी भी चञ्चल गोपबालकने मोलतोल करनेका खेलतक नहीं किया। अभीतक बोहनी ही नहीं हुई है। फल-विक्रयिणीके मुखपर निराशा छा जाती है। वह सोचने लगती है—क्या आजका दिन ऐसे ही समाप्त होगा? पता नहीं, किसका मुख देखकर उठी थी! इसी समय अश्वत्थपत्र चञ्चल हो उठते हैं, मानो संकेत कर रहे हों—"नहीं, नहीं, फल-विक्रयिणी! निराश मत हो। अरे! आज तो तेरे जीवन-सौभाग्यका परम पुनीत सर्वोत्तम समुज्ज्वल प्रभात है। ओह! जिनके सामने अनन्त विश्वब्रह्माण्डके प्राणी फलदानके लिये हाथ पसारते हैं, जो मुक्तहस्त होकर अनादिकालसे सबको फलदान कर रहे हैं, वे तुम्हारे सामने फल लेनेके लिये हाथ पसारेंगे, अखिल भुवन-फलदाताको तू आज फल-दान करेगी। ओह! अनादिकालसे कर्मफलका भार सिरपर उठाये तू घूम रही है, निरन्तर घूम रही है, आजतक किसीने भी तेरा फल लेकर तुझे इस भारसे निर्मुक्त नहीं किया; किंतु आज तुझे एक अनोखा ग्राहक मिलेगा, अप्रत्याशित अपरिसीम मूल्य चुकाकर तेरा सारा फल ले लेगा; इस अनादि फलभार-वहनसे तू आज सदाके लिये त्राण पा जायगी, परम कृतार्थ हो जायगी!" अस्तु।

क्षेत्रवाटिकाकी अपार धान्यराशिकी ओर देखकर वृद्धाने फिर सोचा—तो क्या इसका एक कण भी मेरे भाग्यमें आज नहीं है? बस, इसी क्षण मानो इसीके उत्तरमें, 'अरी! एक कण नहीं, आज तो इस समस्त धान्य-लक्ष्मीका स्वामी स्वयं तेरे भाग्यमें आ रहा है।' यह इङ्गित करते हुए-से, धान्यस्तूपोंके समीप प्राङ्गणमें बैठे हुए श्रीकृष्णचन्द्रने अभी-अभी अपने हाथों बनाये हुए धान्य-घरौंदोंको मिटा दिया तथा इधर-उधर अञ्जलि भर-भरकर धान बिखेरने लग गये। वृद्धा जब अश्वत्थकी छायामें आयी भी न थी, उसके पूर्व ही श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनके उत्तरद्वारसे निकलकर धान्यस्तूपोंके समीप आ गये हैं और धान्यक्रीड़ा कर रहे हैं। इस समय वे एकाकी आये हैं; अवश्य ही दूरपर व्रजरानीके द्वारा नियुक्त परिचारिकाएँ छिपकर उनकी यह परम मनोहर बाल्यचेष्टा देख रही हैं।

फल-विक्रयिणी अपने चिर-अभ्यस्त, आकर्षणभरे स्वरविशेषके साथ पुनः पुकार उठी—'फल ले लो जी, फल।' श्रीकृष्णचन्द्रने भी यह पुकार सुन ही ली। धान बिखेरना छोड़कर चञ्चल नेत्रोंसे, जिधरसे यह

पुकार आयी है, उसी ओर वे देखने लगते हैं। इतनेमें फिर वही पुकार सुनायी पड़ती है—'कोई फल ले लो, फल।' इस बार वे अतिशय शीघ्रतासे धान्यके स्तूपसे कूदकर उसी दिशामें दौड़ पड़ते हैं। वे सोचते जा रहे हैं—'फल क्या होता है? चलें, लेकर देखें तो सही?'

प्रत्युत्तर पानेकी प्रतीक्षामें फलवाली नन्दभवनकी ओर ही देख रही है। सहसा उसने देखा—वाटिका-प्राचीरके क्षुद्र द्वारपर एक बालक खड़ा है; बालक नव नीरदवर्ण है, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे शोभाका निर्झर झर रहा है—

बिथुरि अलकैं रहीं मुख पर बिनहिं बयन सुभाइ।
देखि कंजनि चंद के बस मधुप करत सहाइ॥
सजल लोचन चारु नासा परम रुचिर बनाइ।
जुगल खंजन करत अबिनति बिच कियौ बनराइ॥
अरुन अधरनि दसन झाईं कहौं उपमा थोरि।
नील पुट बिच मनौ मोती धरे बंदन बोरि॥
सुभग बाल-मुकुंद की छबि बरनि कापै जाइ।
भृकुटि पर मसि-बिंदु सोहै, सकै सूर न गाइ॥

छबि देखकर फलवालीके नेत्र निमेषशून्य हो गये। कुछ क्षणके लिये वह सब कुछ भूल गयी। जब बाह्यज्ञान हुआ तो देखा—हृदय अत्यन्त वेगसे स्पन्दित हो रहा है; पर अन्य अवयव चैतन्यविहीन-से हो गये हैं, सर्वथा जड बन गये हैं। और वह बालक······वह तो अभी भी ज्यों-का-त्यों वहीं द्वारपर खड़ा है तथा अपनी दक्षिण भुजा उठाकर, अङ्गुलियोंको हिला-हिलाकर मुझे ठहरनेके लिये संकेत कर रहा है।

वृद्धाने पुलिन्दनिवासस्थलीमें—अपने ग्राममें व्रजेशपुत्रके अतुल सौन्दर्यकी चर्चा सुनी है, पर अबतक देख न सकी थी। दर्शनका यह प्रथम अवसर है; किंतु देखते ही वह अविलम्ब जान गयी कि ये ही नन्दपुत्र हैं। अतृप्त नयनोंसे वह उनकी ओर देखती रहती है। उसके प्राणोंमें कम्पन हो रहा है, नेत्रोंमें जल भरता जा रहा है; वह चाहती है कि एक बार पुकारकर कहूँ—'नन्दलाड़िले! इधर आओ।' पर कण्ठ सर्वथा रुद्ध-सा हो गया है, वाक्-शक्ति लुप्त हो गयी है। निरुपाय, विवश, व्याकुल हुई वह वहीं चित्रलिखी-सी रह जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्र द्वार लाँघकर उसकी ओर चल पड़ते हैं। पगके नूपुर 'रुनझुन-रुनझुन' करने लगते हैं। कदाचित् यह 'रुनझुन' कोई सुन तो नहीं रहा है, मेरा बाहर जाना जननीके द्वारा नियुक्त दासियोंने जान तो नहीं लिया है—इस आशङ्कासे श्रीकृष्णचन्द्र अपने चञ्चल नेत्रोंको चारों ओर घुमा-घुमाकर देखते जा रहे हैं। शीघ्र ही अलिन्दको पार करके वे फलवालीके समीप जा पहुँचते हैं। उनको अपने निकट आया देखकर फलवालीके रोम पुलकित हो उठते हैं। उसका आनन्द-विगलित हृदय आँसू बनकर नेत्रोंके पथसे बह चलता है। श्रीकृष्णचन्द्र आश्चर्यमें भरकर सोचने लगते हैं—यह रोने क्यों लगी?

भावतरङ्गिणीके बढ़ते हुए वेगको किसी अचिन्त्यशक्तिने उद्देश्यविशेषसे कुछ क्षणके लिये मानो सहसा रोक-सा दिया हो, इस प्रकार फल-विक्रयिणीको कुछ धैर्य हो आता है। वाणीकी शक्ति भी जाग उठती है। फिर भी भीतर-ही-भीतर आँसू तो उमड़े ही आ रहे हैं। अश्रुपूरित कण्ठसे ही वह बोली—'फल लोगे?' तथा उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रने अपने घनकृष्ण-कुञ्चित-कुन्तलराशि-मण्डित सिरको स्वीकृतिकी मुद्रामें हिलामात्र दिया। इस मस्तकसंचालनने तो मानो पुनः फल-विक्रयिणीके हृदयको मथ डाला। वह इस अप्रतिम बाल्यभङ्गिमाको देखकर पुनः अधीर हो उठी। भाव-संवरण न कर सकनेके कारण उन्मत्त-सी हो उठी। फलकी टोकरीको सिरपर उठा लिया। अबतक बैठी थी, पर अब उठ खड़ी हो जाती है। क्या करने जा रही है, यह स्वयं नहीं जानती। फलकी टोकरी सिरपर लिये वह खड़ी है, नेत्रोंसे अश्रुके प्रवाह बह रहे हैं, कुछ भी बोल नहीं रही है—एक विचित्र-सी मुद्रा धारण किये, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दृष्टि लगाये कभी-कभी कुछ संकेत-सा कर

देती है। क्या कहना चाहती है, यह कौन जाने?

किंतु फल-विक्रयिणीकी इस मुद्रासे बाल्यलीला-रस-मत्त श्रीकृष्णचन्द्रको संदेह होने लगता है कि कहीं यह फल लेकर जा तो नहीं रही है। पीले केले, पीले बेर, सरस पीलू, अरुण नारङ्गको टोकरीमें सजा देखकर फल क्या वस्तु है, यह तो वे जान ही गये हैं; साथ ही इन्हें लेनेके लिये उनका मन पहलेसे भी अधिक लोलुप हो गया है। पर यह यदि चली गयी तो फिर फल कैसे मिलेंगे? इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय अधीर कण्ठसे तुरंत पुकार उठते हैं—'री! मैं फल लूँगा, फल!'

जैसे किसीने कर्णपुटोंमें अमृत उँड़ेल दिया हो, प्राणोंमें दिव्यातिदिव्य मधुकी धारा बहा दी हो—इस प्रकार अनुभव करती हुई फल-विक्रयिणीने श्रीकृष्णचन्द्रकी यह सुमधुर वीणाविनिन्दित ध्वनि सुनी, उसके अन्तस्तलमें प्रवाहित भाव-स्रोतस्विनीका इस मधुधारासे संगम हो गया। यह मधुधारा सामान्य नहीं, अत्यन्त गम्भीर है। इसने भाव-स्रोतस्विनीको, स्रोतस्विनीकी चञ्चल तरङ्गोंको आत्मसात् कर लिया। अभी-अभी जो कल्लोलिनी हिलोरें ले रही थी, उसमें आवर्त उठ रहे थे—वे सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे निस्सृत इस मधु-सुधा-धारामें विलीन हो गये, तद्रूप हो गये। फल-विक्रयिणी प्रकृतिस्थ हो गयी। समाधिसे जागी हुई-सी उसने सिरसे फलकी टोकरी उतारकर श्रीकृष्णचन्द्रके समीप रख दी। अभी भी उसके कानोंमें गूँज रहा है—'री, मैं फल लूँगा।'

श्रीकृष्णचन्द्र पुनः उसी वीणाविनिन्दित स्वरमें बोल उठे —'री! सुनती नहीं? फल दे, मैं फल लूँगा।' इस बार फलवालीमें भी उत्तर देनेकी शक्ति लीलाशक्तिने ही भर दी। वह बोली—'नन्दपुत्र! तुम फल लोगे? अच्छी बात है। फल लो, मैं तुम्हें फल अवश्य दूँगी। पर यह बताओ, फलके मूल्यमें मुझे क्या दोगे?' यह कहते-कहते ही फलवालीका कण्ठ पुनः भर आता है। श्रीकृष्णचन्द्र भी चकित-से होकर उसकी ओर देखने लगते हैं; क्योंकि 'मूल्य' क्या वस्तु है, यह वे समझ नहीं पाते। ओह! '**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**'—श्रुतिसे निर्दिष्ट किये जानेवाले परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रका यह बाल्यावेश, यह बाल्यलीला-रसमत्तता कितनी मोहक है!

श्रीकृष्णचन्द्रने इस बार अत्यन्त उतावलीभरे स्वरमें कहा—'मूल्य! मूल्य क्या होता है? यह तो मैं जानता ही नहीं। तू फल तो मुझे दे।' उत्तरमें फलवाली भी उतनी ही शीघ्रतासे बोल गयी—'नन्दलाड़िले! कोई वस्तु लेनेपर उसके बदलेमें कुछ देना होता है; ली हुई वस्तुके बदलेमें जो दी जाती है, उसीको मूल्य कहते हैं।' फलवालीने यह कहा ही था कि श्रीकृष्णचन्द्र तुरंत बोल उठे—'री, तू कैसी बावली है! मेरी मैया मुझे प्रतिदिन विविध मिष्टान्न, नवनीत एवं अनेक क्रीड़ासामग्री देती है; गोपियाँ भी मुझे अनेकों वस्तु देती हैं। पर मैं तो उसके बदले कभी भी कुछ भी उन्हें नहीं देता, वे माँगती भी नहीं।' इतना कहकर श्रीकृष्णचन्द्र आशाभरी मुद्रामें फलवालीकी ओर देखने लगते हैं। फलवालीके नेत्रोंमें आँसू छल-छल करने लगते हैं। एक बार अपना सारा धैर्य बटोरकर वह श्रीकृष्णचन्द्रसे पुनः कुछ कहना चाहती है, पर अब सामर्थ्य नहीं रही; हृदयका बाँध टूट गया है, अनर्गल अश्रुप्रवाह फल-विक्रयिणीके कपोल एवं वक्षःस्थलको आर्द्र बनाने लगता है।

बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र एक बार पुनः विचारमें पड़ गये। फलवालीकी इस अनर्गल अश्रुवारिका मर्म वे ढूँढ़ने लगे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्होंने तो यही मर्म निकाला कि सम्भवतः यह 'मूल्य' के लिये ही रो रही है। बस, फिर क्या था; यह विचार उदय होते ही वे क्षेत्रवाटिकाकी ओर दौड़े, संनिकटवर्ती धान्यस्तूपके पास जा पहुँचे। अङ्गुलियोंको जोड़कर उन्होंने अञ्जलि बनायी, उस अञ्जलिको धानसे भरा तथा पुनः उसी वेगसे फलवालीके समीप चल पड़े। उनकी दृष्टि फलविक्रयिणीपर ही केन्द्रित है और वे मानो अपने

सारे शरीरका बल लगाकर दौड़ रहे हैं। इसी बीचमें द्वारकी सीमा पार करनेसे पूर्व ही, बाल्य-चपलतावश अञ्जलि शिथिल पड़ जाती है, छोटी-छोटी सटी हुई अङ्गुलियाँ ढीली पड़ने लगती हैं, उनमें दो-चार छिद्र बन जाते हैं तथा क्रमशः धान गिरने लग जाता है। अलिन्दको पार करके जिस समय वे फलवालीके पास पहुँच पाते हैं, उस समय उनकी अञ्जलिमें केवल चार-पाँच धान ही बच रहते हैं। तथा जब वे उसकी टोकरीमें अपनी अञ्जलि खोलते हैं, तब केवल एक ही धान टोकरीमें गिरता है; क्योंकि अब एक दाना ही अवशिष्ट रहा है। किंतु नन्दनन्दनको यह पता नहीं, वे तो अपनी जानमें अञ्जलि भरकर धान ले आये हैं। इसीलिये उत्कण्ठापूरित स्वरमें बोल उठते हैं—'री! ले, मैं तेरे फलका मूल्य ले आया। यह धान लेकर मुझे अब फल दे दे, सारा फल दे दे; मैं सब ले लूँगा।'

इधर फलवालीकी विचित्र दशा है। जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र धान लाने भीतर गये, दृष्टिसे ओझल हुए, उस समय उसके प्राण निकलने-से लगे। आह! नन्दपुत्र चले गये, फल लिये बिना ही चले गये। मैं हतभागिनी उन्हें फल न दे सकी—इस वेदनासे उसका शरीर, मन, प्राण—सब कुछ एक साथ जल उठा। यदि क्षणभरका विलम्ब और होता तो उसके आकुल प्राण उत्तापदग्ध जर्जर कलेवरको छोड़कर उड़ गये होते; किंतु तुरंत ही श्रीकृष्ण पुनः दीख गये तथा उन्हें देखते ही बाहर निकलते हुए प्राण शरीरमें ही लौट आये। सचमुच फलवालीने नवजीवन पाया। अवश्य ही इस बार वह सहसा अत्यन्त गम्भीर हो गयी है। आकुल प्राण सर्वथा अन्तिम दशाको छूकर, शेष सीमाको स्पर्शकर लौटे हैं। अतः भावोंका आवेग भी शान्तप्राय हो चुका है। और तो क्या, अभी-अभी हुई वेदनाकी स्मृति भी वह खो बैठी है। श्रीकृष्णचन्द्रकी रिक्त अञ्जलिसे गिरे हुए उस एक धान्यकणको वह चटपट अपने हाथमें उठा लेती है तथा उसे उनके सामने रखकर किञ्चित् अस्फुट स्वरमें कहती है—'नन्दलाड़िले! मेरे इतने फलका मूल्य क्या धानका एक ही दाना है?'

श्रीकृष्णने अब समझा कि धान तो उनकी अञ्जलिसे कहीं पथमें ही गिर गये। बङ्किम नयनोंको घुमाकर पीछेकी ओर उन्होंने देखा—धान्यकी एक रेखा-सी बन गयी है। एक साथ ही आशा-निराशा, उत्कण्ठा-अवसादकी छाया श्रीकृष्णचन्द्रके मुख-कमलको छू-सी लेती है। पर वे साहस बटोरते हुए-से अविलम्ब बोल उठते हैं—'देख फलवाली! मैं धान ले अवश्य आया था, पूरी अञ्जलि भरकर ले आया था; पर दौड़ते समय वह गिर गया। अब मैं फिर लाने जाऊँ तो सम्भवतः मैया देख लेगी, वह अब आती ही होगी। इसलिये तू मुझे आज फल दे दे। फल देकर घर चली जा। फिर किसी दिन आ जाना, मैं अवश्य इसका मूल्य तुझे दे दूँगा।' यह कहकर आशाभरी मुद्रामें वे फलवालीकी ओर देखने लगते हैं। वह भी श्रीकृष्णचन्द्रकी अत्यन्त मधुर, सरलतासे ओतप्रोत इस उक्तिको सुनकर बोली—'नन्दनन्दन! मेरे जीवनमें दूसरा दिन होगा तब तो आऊँगी............।' कहते-कहते फलवालीके नेत्र पुनः भर आये, कण्ठ गद्‌गद हो गया और रुद्धकण्ठसे वह बोलती गयी—'नन्दलाड़िले! कर्मोंके फलस्वरूप विधाताने मुझे चाण्डालिनी बनाया; गोपियोंकी भाँति मेरा यह अधिकार नहीं कि तुम मेरी गोदमें आ सको, मुझे माँ कह सको; इस मलिनदेहसे यह अधिकार मिलनेकी आशा भी नहीं, कदाचित् इस जीवनके उस पार..........।' फलवाली बीचमें ही सुबुक-सुबुककर पुनः रोने लग गयी।

श्रीकृष्णचन्द्र फल-विक्रयिणीकी बातोंको अच्छी तरह समझ नहीं सके। चाण्डालिनी क्या होती है, अधिकार क्या वस्तु है—वे भला क्या जानें! पर इतना तो उन्होंने समझ ही लिया कि इसकी गोदमें चले जानेसे और 'माँ' कहनेसे यह प्रसन्न अवश्य हो जायगी—इसी तरहकी कुछ बात इसने कही है। इसलिये कुछ सोचकर वे तत्काल बोल उठे—

'अच्छा। री! सुनती है? यह बता, यदि मैं तेरी गोदमें चढ़ जाऊँ और तुम्हें 'माँ' कह दूँ तो क्या तू मुझे बिना मूल्य लिये ही फल दे देगी?' उत्तरमें बरबस फल-विक्रयिणीका सिर स्वीकृतिकी सूचना देता हुआ हिल गया, उसने जानकर हिलाया नहीं। अस्तु,

श्रीकृष्णचन्द्रने एक बार चारों ओर दृष्टि डालकर देखा और फिर भुजा उठाकर, लपककर फलवालीकी गोदमें जा चढ़े तथा उसकी ठोड़ीका स्पर्श करते हुए बोले—'माँ!.........अब फल दे दे!' ओह! अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र जन्म-जन्मान्तरव्यापी अथक प्रयास करके ध्यानमें भी जिनका स्पर्श नहीं पाते, श्रुतियाँ जिन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाती हैं, पर अन्त नहीं पातीं, वे ही स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र सर्वथा साधनहीना चाण्डालिनीकी गोदमें उठकर उसे 'माँ' कहकर फल माँग रहे हैं! अनन्तकरुणार्णव! तेरे इस कृपावैभवकी जय हो!! जय हो!!!

फल-विक्रयिणी तो अखण्ड अनन्तकालीन परमानन्दसमाधिमें विलीन हो गयी। इसके पश्चात् बाह्य दृष्टिमें उसके हाथ, पैर एवं मुखसे इतनी-सी और क्रिया सम्पन्न होते हुए आकाशपथमें अवस्थित देववृन्दोंने अवश्य देखा—'तुरंत ही श्रीकृष्णचन्द्र उसकी गोदसे उतरते हैं, उसके आगे अञ्जलि फैलाकर खड़े हैं—ठीक वैसी ही अञ्जलि है, जिससे सारे धान गिर गये थे। उसी अञ्जलिमें फल-विक्रयिणी दोनों हाथोंसे फल भरने लगती है, उस छोटी-सी अञ्जलिमें ही फल-विक्रयिणीकी टोकरीके सारे फल समा गये हैं। अबतक श्रीकृष्णचन्द्रकी रिक्त अञ्जलिसे गिरा हुआ वह धान्यकण फल-विक्रयिणीकी अङ्गुलियोंमें दबा था; अब वह टोकरीमें गिर जाता है, पर गिरते ही एक अमूल्य रत्नके रूपमें परिणत हो जाता है; दूसरे ही क्षण समस्त टोकरी नानाविध अनमोल रत्नोंसे परिपूर्ण हो जाती है—

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ११)

फल-विक्रयिणी उठी, रत्नपरिपूरित टोकरीको सिरपर रखा, हाथोंसे उसने श्रीकृष्णचन्द्रको संकेत किया। उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'नहीं-नहीं, तू चिन्तित मत हो; क्या मेरी अञ्जलिसे धान गिर गये, इसलिये फल भी गिर जायँगे? इन फलोंको तो मैं खाऊँगा।' वृद्धा उन्मत्त-सी हुई चल पड़ती है, एक सरोवरके तटपर टोकरी उतारकर रखती है, निमीलितनेत्र रहकर ही हाथोंसे रत्नोंको टटोलती-सी है, फिर रत्नसहित टोकरीको सरोवरके अगाध जलमें फेंक देती है, निकटवर्ती एक गहन वनमें प्रवेश कर जाती है;— बस, इससे आगे व्रजपुरमें, पुलिन्दावासमें कहीं भी, कभी भी किसीने उस फल-विक्रयिणीको नहीं देखा।

श्रीकृष्णचन्द्र फल लेकर क्षेत्रवाटिकाकी ओर अग्रसर हुए। व्रजमहिषीके द्वारा नियुक्त परिचारिकाएँ सारी लीला देख रही थीं। रुनझुन-रुनझुन नूपुरकी ध्वनि करते हुए जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र उत्तरद्वारसे व्रजेश-प्रासादमें प्रवेश करने लगे, उस समय दासियाँ हँसी न रोक सकीं, खिलखिलाकर हँस पड़ीं। चकित होकर नन्दनन्दन उनकी ओर देखने लगे। इसी समय यशोदारानी भी वहाँ आ पहुँचीं। पुत्रको अञ्जलिभरे फल लाते देखकर वे खड़ी हो गयीं। पास आनेपर जननीने अपने नीलमणिको गोदमें उठा लिया एवं मुख चूमकर बोलीं—

पुत्र कुत्र लब्धानि तानीमानि? (श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे लाल! तुमने इतने फल कहाँ पाये?' श्रीकृष्णचन्द्रने सरलता-सने किंचित् अस्फुट स्वरमें उत्तर दिया—

काचिदाचितफला धान्यानि मूल्यमादाय धन्या मयि चानुकूल्यमाधाय समर्पितवती॥ (श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरी मैया! एक फलवाली आयी थी, फलभारसे लदी हुई उसकी टोकरी थी; सचमुच मैया, वह बड़ी

अच्छी थी। धन्य है वह, मुझे तो वह अतिशय प्यार करने लगी; उसीने मूल्यमें धान्य लेकर ये सारे फल मुझे दे डाले हैं।'

दासियोंने हँसकर व्रजेश्वरीसे कहा—'नन्दरानी! श्रीकृष्णचन्द्रको छूना मत, भला! इसने चाण्डालिनीकी गोदमें जाकर उसे 'माँ' कहा है!' मैया बोली—'विधाता करे, मेरा नीलमणि जगत्‌की सारी स्त्रियोंको माँ कहे और उनका अमोघ आशीर्वाद पाकर चिरंजीवी हो!' कहते-कहते मैयाके नेत्रकोयोंसे दो बिन्दु अश्रु ढलककर श्रीकृष्णचन्द्रके मस्तकपर जा गिरे।

इसी समय कोलाहल करते हुए सखावृन्द आ पहुँचे। जननीको श्रीकृष्णचन्द्रने फल बाँटनेके लिये कहा। आनन्दमें निमग्न हुई जननीने भी स्वयं ही अपने सुकोमल सुन्दर हाथोंसे फलोंका संस्कार किया। आनन्दावेशसे उनके हाथोंमें प्रकम्पन होने लगता है। काँपते हुए हाथोंसे ही वे फल वितरण कर रही हैं। साथ ही उन्हें अत्यन्त आश्चर्य है कि इतनी देरसे वे बाँट रही हैं, किंतु इतने-से अल्प फल समाप्त जो नहीं हो रहे हैं—

माता चामन्देनानन्देन कृतस्पन्देन करद्वन्द्वेन तानि विभजन्ती तदन्तीकृतिं नाससाद॥ (श्रीगोपालचम्पूः)

इसके कई दिन बादतक भी जननी इन फलोंका अन्त न पाकर अतिशय विस्मय करती रहीं, आश्चर्यमें डूबी रहीं; तथा जिन-जिनने इन फलोंके स्वादका अनुभव किया था, वे तो चमत्कृत रह गये। वह अत्यन्त सुमधुर, विचित्र, अद्भुत स्वाद उन्हें भूलता न था—

दिनकतिपयं विस्मयवशा स्मयमाना वसति स्म तदास्वादकाराश्च लब्धचमत्कारा न विस्मरन्ति स्म॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

उस दिन जब नन्दरानी अपने नीलमणिको बीचमें बैठाकर ग्वालबन्धुओंमें फल वितरण कर रही थीं, उसी समय एक नववधू अपनी सासकी आज्ञासे मथानी माँगने नन्दभवन आयी। श्रीकृष्णचन्द्र तो गोपबन्धुओंके साथ फलवालीके फलोंका रस लेनेमें निमग्न थे, उन्होंने उस व्रजसुन्दरीकी ओर ताकातक नहीं; पर उसने उन्हें देखा और देखते ही वह अपने-आपको खो बैठी। मथानी लेकर वह यन्त्रकी भाँति घर तो लौट आयी, पर इतनी देरमें ही उसके सारे शरीरका रंग ही बदल गया। गृहके स्वजन-परिजन सभी वधूके इस आकस्मिक परिवर्तनसे चिन्तित हो गये हैं; पर किसीको असली कारणका ज्ञान नहीं हो रहा है। वह बोलती भी नहीं है—मौन हो गयी है, जैसे गूँगी हो। एक सप्ताहतक उसकी यही दशा रहती है। आज इतने दिन बाद वह यमुनातटपर स्नान करते समय एक समवयस्का सखीको अपने इस विचित्र परिवर्तनका रहस्य बता रही है—

अदभुत इक चितयौ हौं सजनी, नंदमहर कें आँगन री।
सो मैं निरखि अपुनपौ खोयौ, गई मथानी माँगन री॥
बाल-दसा मुख-कमल बिलोकत, कछु जननी सौं बोलै री।
प्रगटति हँसत दँतुलि, मनु सीपज दमकि दुरे दल ओलै री॥
सुंदर भाल तिलक गोरोचन, मिलि मसि-बिंदुका लाग्यौ री।
मनु मकरंद अँचै रुचि कै, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥
कुंडल लोल कपोलनि झलकत, मनु दरपन में झाईं री।
रही बिलोकि बिचारि चारु छबि, परिमिति कहूँ न पाई री॥
मंजुल तारनि की चपलाई, चित चतुराई करषै री।
मनौ सरासन धरें कर स्मर, भौंह चढ़ै सर बरषै री॥
जलधि थकित जनु काग पोत कौ कूल न कबहूँ आयौ री।
ना जानौं किहिं अंग मगन मन, चाहि रही नहिं पायौ री॥
कहँ लगि कहौं बनाइ बरनि छबि, निरखत मति-गति हारी री।
सूर स्याम के एक रोम पर देउँ प्रान बलिहारी री॥

दुर्वासाका मोह-भङ्ग

पद्मरागरचित पीढ़ेपर व्रजरानी बैठी हैं। उनके निकट ही अपने कमनीय अङ्गोंसे सौन्दर्य बिखेरते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम प्राङ्गणमें खेल रहे हैं। उनका यह खेल देखकर जननी और सब कुछ भूल गयी हैं—

बैठी जननी मनिनि पीढ़ा पर, निकट ललन तहँ खेलैं।
गुन-मंदिर सुंदर तन साँवर, अति आनँद मन मेलैं॥
सरद इंदु राकेस बिनिंदक बदन रूपनिधि सोहै।
कोटिन ओज मनोज मनोहर त्रिभुवन लखि छबि मोहै॥
चंचल चलत चारु रतनारे ललित दृगन की आभा।
मृग खंजन गंजन मन रंजन, कहै कंज की काभा॥
अलकैं छूटि रहीं मुख ऊपर मंजु मेच घुँघरारीं।
कल कपोल बोलनि मृदु खोलनि भ्रकुटी कुटिल पियारीं॥
यह छबि चितै बितै दिन अपनौ, चित्त में और न आवै।
जिनि दृग रूप अमीरस चाख्यौ, कहौ और क्यौं भावै॥

चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्रकी एवं बलरामकी तो अब दिनचर्या ही हो गयी है—निरन्तर खेलना; तथा जननी यशोदाका भी एक ही कार्यक्रम रहा है—सूत्रमें बँधी हुई-सी निरन्तर पुत्रोंके पीछे-पीछे घूमते रहना—

थिर न रहत, खेलत दोउ भाई, अमित खेल अति नाधैं।
उठत चलत बैठत भ्रमि धावत अति चंचल गति साधैं॥
जहँ-जहँ फिरत जुगल मृदु प्यारे बाल खेल मति काछैं।
तहँ-तहँ जननी दृष्टि मोहसों लगी फिरत हित पाछैं॥
बाल झलनमें ललन कबहुँ मिलि जात चौहटन आगैं।
अन्तर अम्बु परत तलफत ज्यों मीन दीन दृग लागैं॥
जननी उठि टेरैं नहिं हेरैं, फेरे फिरैं न आवैं।
स्त्रवत छीर धारा धावैं गहि मोहन कंठ लगावैं॥

श्रीदाम, सुबल, वसन्त, कडार, अर्जुन आदि समवयस्क सखाओंको साथ लिये कभी बहुत दूर—यमुनापुलिनतक चले जाते, वहाँ शुभ्र सैकतपर लोटते रहते। कभी सघन श्याम तमाल वृक्षोंसे आवृत कालिन्दी-उपवनमें विचरते रहते, कदम्बनिर्मित कुञ्जोंसे परिशोभित उपवनमें विविध क्रीड़ा करते रहते—

श्रीदामसुबलाद्यैश्च वयस्यैर्व्रजबालकैः।
यमुनासिकते शुभ्रे लुठन्तौ सकुतूहलौ॥
कालिन्द्युपवने श्यामैस्तमालैः सघनैर्वृते।
कदम्बकुञ्जशोभाढ्ये चेरतू रामकेशवौ॥

(गर्गसंहिता)

इसी प्रकार आज भी गोपबालकोंको साथ लिये कोलाहल करते हुए वे कालिन्दीपरिसरमें अवस्थित एक अत्यन्त सुन्दर सैकतमयी भूमिपर चले आये हैं, अञ्जलिमें शुभ्र बालुका भरकर परस्पर एक-दूसरेपर बिखेरते हुए दौड़ रहे हैं। अभी आधी घड़ी पूर्वतक जननी यशोदा साथ थीं, पर अचानक व्रजेशने किसी अत्यन्त आवश्यक कार्यसे उन्हें बुलाया और वे चली गयीं। नन्दरानीने बहुत चाहा कि समझा-बुझाकर राम-श्यामको भी साथ लेते चलें; किंतु श्रीकृष्ण बालूपर पैर पटक-पटककर रोने लगे, किसी प्रकार भी खेल छोड़कर घर जानेके लिये सहमत नहीं हुए। आखिर परिचारिकाओंपर ही रक्षाका भार सौंपकर जननीको जाना पड़ा। शीघ्रातिशीघ्र लौट आनेका विचार करके जननी अकेली ही चली तो गयीं; किंतु उनका मन इस सैकतपुलिनपर ही, अपने नीलमणिमें ही उलझा रह गया।

जननीका दृष्टिसे ओझल होना था कि बस, पञ्जरमुक्त विहंगमशावककी भाँति एक साथ ही गोपबालक इधर-उधर दौड़ने लगे। परिचारिकाओंकी कौन सुनता है। परिचारिकाएँ भी श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहर बालक्रीड़ा देखकर मुग्ध हो रही हैं। इसके अतिरिक्त अकारण ही हस्तक्षेप भी वे क्यों करें? छोटे बालक हैं, परस्पर धूलि बिखेरकर खेल रहे हैं। इसमें हानि ही क्या है? दूर जाने लगेंगे तो पकड़ लेंगी। इस प्रकारकी भावनासे निश्चिन्त-सी होकर वे इस क्रीड़ारसका पान कर रही हैं। अस्तु, उमंगमें भरे बालक अपना मनमाना कर रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने क्या किया कि अञ्जलिमें बालू भरी तथा दौड़कर श्रीदामके पीछेसे जाकर उसके सिरपर वह बालू उड़ेल दी। एक कणिका श्रीदामकी आँखमें चली गयी। वह अपनी आँख मलता हुआ श्रीकृष्णको पकड़ने चला। श्रीकृष्ण भाग चले। वह पीछे दौड़ा और थोड़ी दूरपर ही उसने उन्हें पकड़ लिया।

श्रीकृष्णचन्द्रने हाथसे अपनी आँखें बंद कर लीं और वहीं बालूपर लेट गये। श्रीदाम हँस-हँसकर श्रीकृष्णचन्द्रकी पीठपर बालू बिखेरने लगा। उसने आरम्भ ही किया था कि पीछेसे बलराम एवं अन्य गोप-शिशुओंने एक साथ ही बहुत-सी बालुका श्रीदामके सिरपर, पीठपर गिरा दी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर श्रीदाम इन गोप-शिशुओंसे जा भिड़ा। इतनेमें अवसर पाकर श्रीकृष्ण उठकर भाग गये। ठीक उसी समय अत्रिनन्दन महर्षि दुर्वासा उपवनके क्षीण पगदंडी-पथसे वहाँ आ पहुँचते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बाल्यभङ्गिमाको देख लेते हैं। मुनिवर आये ही हैं परात्पर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनोंकी अभिलाषा लेकर; किंतु परात्परको जिस वेषमें देखा, उसे देखकर तो वे विस्मित रह गये। ओह! ये तो धूलिमें लोट रहे हैं। यह देखो—

धूलिधूसरसर्वाङ्गं वक्रकेशं दिगम्बरम्।
धावन्तं बालकैः सार्द्धं हरिं वीक्ष्य स विस्मितः॥

(गर्गसंहिता)

समस्त अङ्ग धूलिधूसरित हो रहे हैं। केश टेढ़े-मेढ़े हो रहे हैं। श्रीअङ्गोंपर कोई वस्त्र नहीं, सर्वथा नग्न—दिगम्बर वेष है तथा बालकोंके साथ दौड़े जा रहे हैं। भला, परात्पर हरि इस रूपमें? मुनिवर आश्चर्यमें भर गये।

इतना ही नहीं, महर्षिके तपःपूत मनमें भी एक शङ्का आ गयी। भुवनमोहिनी मायाने अपने अञ्चलकी छाया डाल दी और मुनिवर भ्रान्त होकर सोचने लगे—

स ईश्वरोऽयं भगवान् कथं बालैर्लुठन् भुवि।
अयं तु नन्दपुत्रोऽस्ति न श्रीकृष्णः परात्परः॥

(गर्गसंहिता)

'क्या ये ईश्वर हैं? भगवान् हैं तो फिर प्राकृत बालककी भाँति बालकोंके साथ भूमिपर क्यों लोट रहे हैं? नहीं, ये परात्पर श्रीकृष्ण नहीं हैं। यह बालक नन्दका पुत्रमात्र है, ईश्वर नहीं! भगवान् नहीं!!'

इस प्रकार मुनिवर दुर्वासा संशयके झूलेमें झूलते हुए सत्यकी सीमाके उस पार अत्यन्त दूर जा गिरे। इधर ठीक उसी क्षण सहसा श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ासे उपरत हो गये। अनसूया-जैसी सतीके पुत्र, परमतपस्वी, तेजोमूर्ति महर्षि भ्रमित हो रहे हैं; इनका भ्रमनिवारण होना चाहिये, इनपर तो कृपा होनी ही चाहिये—यह बात मानो श्रीकृष्णचन्द्रकी सर्वज्ञताशक्तिने उनके कानोंमें कह दी हो, इस तरह प्रेरित हुए-से वे महर्षिकी ओर देखने लगते हैं। अन्य गोप-शिशुओंने भी मुनिकी ओर देखा। पिङ्गल जटाभार, मुखपर उद्दीप्त तेज—गोप-बालक एक बार तो सहम गये; किंतु इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र हँसते हुए बोल उठे—'श्रीदाम! अरे, तू तो हार गया; यदि तुझे विश्वास न हो तो चल, उन साधुबाबासे पूछ ले।' यह कहते-कहते वे वास्तवमें महर्षिकी ओर चल पड़े। सखामण्डली भी पीछे-पीछे चल पड़ी।

एक विशाल कदम्बकी छायामें महर्षि शान्त खड़े हैं। अतिशय गम्भीर मुद्रा है। तपका तेज अङ्गोंसे झर-सा रहा है, नेत्रोंमें एक विचित्र ज्योति है; किंतु जैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र समीप आये कि मुनिका सब कुछ बदल गया। शरीर काँपने लगा। मुद्रा चञ्चल हो गयी। अङ्गोंकी दीप्ति, नेत्रोंकी वह दिव्य ज्योति विलीन हो गयी—इस प्रकार जैसे श्रीकृष्ण-अङ्गोंकी महामरकतद्युतिमें वह मिल गयी हो। महर्षिकी तो एक अनिर्वचनीय अवस्था हो गयी है और इधर श्रीकृष्णचन्द्र अत्यन्त निकट जाकर उनसे पूछ रहे हैं—'साधुबाबा! तुमने तो मेरा खेल देखा है; तुम्हीं बताओ कि श्रीदाम मुझसे हार गया या नहीं।'

महर्षि विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते रह जाते हैं, कुछ उत्तर नहीं देते। श्रीकृष्ण किञ्चित् प्रतीक्षा करते हैं, पर महर्षि मौन हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है, उनमें अब खड़े रहनेकी सामर्थ्य भी जाती रही है। वे गिरते हुए-से पुलिनरेणुकापर बैठ जाते हैं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र अपनी नन्ही-नन्ही भुजाओंको उठाकर उनकी गोदमें चले जाते हैं। गोदमें जाकर पूछते हैं—'बाबा! क्यों, बताओगे नहीं? श्रीदाम हारा या नहीं?' पर इस बार भी श्रीकृष्णचन्द्रको कोई उत्तर नहीं मिला। महर्षिको न बोलते देखकर वे तुरंत उनकी गोदसे नीचे उतर आये और सखाओंसे कहने लगे—'भैयाओ! ये साधुबाबा तो बोलते ही

नहीं। चलो, हम सब पहलेकी भाँति खेलें।' कहते-कहते वे खिलखिलाकर हँस पड़े।

इस समय श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर आयी हुई यह हँसी वास्तवमें बाल्यलीलाविहारीकी शिशुस्वभावसुलभ हँसी नहीं है। यह तो उनकी अघटघटनापटीयसी योगमायाशक्तिकी हँसी है। अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका किञ्चित् मायावैभव मुनिराजको प्रत्यक्ष करानेके उद्देश्यसे इस समय योगमाया प्रकट हुई हैं और वे ही अधरोंके अन्तरालसे हँस रही हैं। हँसते-हँसते ही वे महर्षि दुर्वासाको अपनी ओर खींच लेती हैं, देखते-ही-देखते दुर्वासा श्रीकृष्णचन्द्रके उस छोटे-से मुखविवरमें प्रवेश कर जाते हैं।

योगमाया पीछेकी ओर कपाट लगा देती हैं तथा आगेका द्वार उन्मुक्त कर देती हैं। तपोधन दुर्वासा अनुभव करने लगते हैं—'मैं कहाँ हूँ? यह कौन-सा देश है? इतना विशाल लोक, पर सर्वथा जनशून्य! इन अरण्यश्रेणियोंमें भी कोई नहीं। वन-भ्रमण करते-करते श्रान्त हो गया, पर किसी भी प्राणीके दर्शन अबतक नहीं हुए। वह सामने क्या है? अरे, यह तो एक अत्यन्त विशाल अजगर है। ओह! यह तो मुझे अपना ग्रास बना रहा है। हरि-इच्छा! यह लो, अजगरके द्वारा निगले जानेपर भी मेरा शरीर अक्षत है, मैं जीवित हूँ। हाँ! यह तो एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। सप्तलोक! सप्तपाताल! सब कुछ यथायोग्य है। × × × ओह! कितने दिनोंसे इन द्वीपोंमें भ्रमण कर रहा हूँ। नहीं, अब तो इस अग्रवर्ती श्वेत-पर्वतपर तप करूँगा। × × × यहाँ मुझे तप करते कितने दिन बीते? शतकोटि वर्ष हो गये। अरे! अब तो नैमित्तिक प्रलयका समय उपस्थित है। सागरकी उत्ताल तरङ्गें समस्त धरातलको प्लावित कर रही हैं। स्थल रहा ही नहीं, सर्वत्र जल-ही-जल है। यह अनन्त अम्बुराशि मुझे कहाँ बहा ले जायगी? इसका अन्त हो, तब तो किनारे लगूँ। अरे! मैं अपने दिव्य ज्ञानसे यह जान रहा हूँ कि तबसे सहस्रयुगपरिमित समय हो चला, पर मैं तो इस जलराशिमें ही बह रहा हूँ। किंतु अब मैं डूब रहा हूँ, मेरी स्मृति विलुप्त हो रही है। × × × मैं समाधिमें अवस्थित हो गया था, अब व्युत्थान हुआ है। × × × सब कुछ जलमय है। नहीं, नहीं, यहाँ भी एक और ब्रह्माण्ड है। यह अण्डच्छिद्र है। प्रवेश करके देखूँ? हानि ही क्या है। × × × छिद्रके अन्तरालमें ऐसी दिव्य सृष्टि! × × × यह स्थान कौन-सा है? ये तो इसी ब्रह्माण्डके शिरोदेशमें अवस्थित लोक हैं। × × × कालमानसे एक ब्रह्माकी आयु पूर्ण हो चुकी, पर मैं तो अनवरत इन लोकोंमें ही घूम रहा हूँ। × × × यह एक पुनः अण्डच्छिद्र आया! नारायण! नारायण!! नारायण!!! मैं इस छिद्रमें प्रवेश कर रहा हूँ। × × × छिद्रको पारकर इस दूसरे छोरसे मैं बाहर निकल आया। अरे! यह अगाध अनन्त अपरिसीम जलराशि और इस जलमें संतरण करती हुई कोटि-कोटि अण्डराशि! × × × जय हो प्रभो! जय हो!! आज मुझे विरजा नदीके दर्शन हुए। × × × ओह! विरजा-तीरकी कैसी अनुपम शोभा है। कहीं दिव्य पद्मराग तो कहीं दिव्य इन्द्रनीलमणि, कहीं दिव्य मरकत और कहीं दिव्य स्यमन्तकमणि, कहीं दिव्य रुचक तो कहीं दिव्य कौस्तुभमणि—इन सबके स्तूप लगे हैं। कृष्ण, श्वेत, हरित एवं रक्तवर्ण विविध दिव्यातिदिव्य रत्नसमूहोंसे परिशोभित, मुक्ता-माणिक्य-स्पर्शमणिखचित, शुद्ध स्फटिकाभ सुविस्तीर्ण परम मनोहर इस सरित्तटके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया! × × × अच्छा, मैं तो विरजा पारकर शतशृङ्गसमन्वित गिरिराज गोवर्द्धनके परिसरमें आ पहुँचा हूँ। यह है पारिजातवनश्रेणी! यह है कल्पतरुओंकी पङ्क्ति! यह है विचरणशील कामधेनुसमूह! गिरिराज! मैं तुम्हें प्रणाम कर रहा हूँ। × × × वृन्दावन आ गया है। नवपल्लवोंसे परिशोभित, चन्दन-मन्दार-चम्पक आदि पुष्पोंके परागसे सुवासित, सुमधुर भ्रमर-रवसे गुञ्जित यह वृन्दाकानन कितना सुन्दर है! दिव्य-फलसमन्वित आम्र, नारङ्ग, पनस, ताल, नारिकेल, जम्बू, बदरी, खर्जूर, गुवाक, आम्रातक, जम्बीर, कदली, श्रीफल एवं दाडिम वृक्षोंकी पङ्क्तियाँ कितनी सुन्दर हैं! इन विशाल प्रियाल, साल, अश्वत्थ, निम्ब, शाल्मली,

तिन्तिड़ी तरुवरोंकी कैसी सघन शीतल छाया है! मल्लिका, मालती, कुन्द, केतकी, माधवी, यूथिकाका कितना मनोहर सुवास है! इस वृन्दावनको निहारकर मेरे नेत्र शीतल हो गये। × × × यह लो, मेरे सामने कालिन्दी कलकल ध्वनि करती हुई प्रवाहित हो रही है। × × × जय हो! जय हो!! मैं गोलोकधाममें आ गया! × × × इन दिव्यातिदिव्य सच्चिदानन्दमय मणिमन्दिरोंकी, कुञ्जकुटीरोंकी कैसी अतुल छवि है! × × × यह प्रथम द्वार हरिद्राभ, मणिमय, हीरकखचित कपाटोंसे विभूषित है। रत्नसिंहासनस्थित, रत्नभूषणभूषित, रत्नमुकुटविराजित, पीतपरिधानशोभित वीरभानु इस द्वारके रक्षक हैं। × × × यह द्वितीय द्वार है; सुन्दर शृङ्गारसुसज्जित, श्यामवर्ण, किशोरवयस्क चन्द्रभानु गोप द्वारकी रक्षा कर रहे हैं। × × × इस तृतीय द्वारपर मुरलीधर श्यामसुन्दर किशोरमूर्ति सूर्यभानु गोप हैं। × × × अब आया है चतुर्थ द्वार! वसुभानु द्वारी हैं। वसुभानुके पक्वबिम्बफलसदृश अधर ओष्ठका, सहास्यवदनकमलका सौन्दर्य देखते ही बनता है। × × × यह पञ्चम द्वार है। यह देवभानुसे संरक्षित है। अगुरु, चन्दन एवं कस्तूरी, कुङ्कुमके द्रवसे देवभानुके अङ्ग चर्चित हैं; कण्ठमें कदम्ब पुष्पोंकी माला झूल रही है। × × × षष्ठ द्वारपर पुष्पोंका तोरण है, उसपर विविध चित्र अङ्कित हैं। यहाँ शक्रभानुका संरक्षण है। शक्रभानुके कानोंमें रत्नकुण्डल हैं, ग्रीवामें श्रीखण्डपल्लवकी माला है। × × × सप्तम द्वारपर रत्नभानु गोप विराजित हैं। × × × अष्टम द्वारके दौवारिक सुपार्श्व गोप हैं। सुपार्श्वके अधरोंपर मन्द मुसकान है, ललाटपर श्रीखण्डतिलक सुशोभित है। × × × नवम द्वार सुबल गोपके शासनमें है। × × × दशमपर सुदामका आधिपत्य है। × × × एकादश द्वारका अधिष्ठाता श्रीदाम गोप है। वक्षःस्थलपर प्रफुल्लमालतीमाला झूल रही है। ओह! श्रीदामके अङ्ग कितने कमनीय हैं। × × × द्वादश! त्रयोदश! चतुर्दश! पञ्चदश! षोडश! इन प्रत्येकपर कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंका संरक्षण है। × × × हैं! यह क्या है? नेत्र ठहर नहीं रहे हैं— असंख्यकोटिमार्तण्डकी ज्योतिके समान एक ज्योतिर्मण्डल है। × × × ओह! जय हो, जय हो! इस ज्योतिर्बिम्बमें लक्षदलसमन्वित परम दिव्य एक पद्म है। × × × गोलोकविहारिन्! तुम्हारी जय हो! तुम स्वयं इस पद्मपर विराजित हो! नाथ! तुम्हारा यह अप्रतिम विश्वविमोहन सौन्दर्य! वाणीकी सामर्थ्य नहीं कि इसकी छाया भी छू ले। × × × हैं-हैं! सहसा यह विचित्र हँसी कैसी? अरुण अधरोंका स्पन्दन ठीक वैसा ही है। नहीं, हँसी नहीं—ज्योत्स्ना है। × × × किरणें मुझे लपेट रही हैं। यह लो, अनन्तब्रह्माण्डपति गोलोकपतिके मुखमें चला! पीछे द्वार रुद्ध हो गया! आगेके कपाट उन्मुक्त हो रहे हैं। पर मेरे नेत्र निमीलित हो रहे हैं……।'

इसी बीचमें महर्षि श्रीकृष्णके मुखविवरसे बाहर आ गये। एक क्षण बाद महर्षिने नेत्र खोलकर देखा—गोलोक नहीं, यह तो वही भरतखण्डका व्रजपुर है। कालिन्दीनिकटवर्ती वही सैकतपुलिन है। ठीक वही बालुकामयी क्रीडास्थली है। अभी भी श्रीकृष्ण सखाओंके साथ वैसे ही खेल रहे हैं! यहाँ मैं कुछ क्षण पहले भी आया था। संशय करने लगा था कि परात्पर श्रीकृष्णकी ऐसी चेष्टा क्यों। निश्चय कर चुका था कि ये परात्पर ईश्वर नहीं हैं। पर ठीक उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र आये, मुझसे कुछ बोले, मेरी गोदमें उठ आये, फिर उतरकर हँसने लगे, मैं इनके छोटे-से मुखविवरमें प्रवेश कर गया! फिर तो……!!

मुनिवरने अञ्जलि बाँध ली, सिर झुका लिया। उनकी बुद्धिमें तो श्रीकृष्णका अनन्त ऐश्वर्य प्रकाशित हो रहा है, किंतु मन एवं इन्द्रियाँ एक अभिनव रसमाधुरीसे परिप्लुत हो रही हैं। दृष्टिके सामने श्रीकृष्णचन्द्रका वही क्रीडामय रूप है। वे उसी रूपको देखते हुए गुन-गुन करने लगते हैं—

बालं नवीनशतपत्रविशालनेत्रं
बिम्बाधरं सजलमेघरुचिं मनोज्ञम्।
मन्दस्मितं मधुरसुन्दरमन्दयानं
श्रीनन्दनन्दनमहं मनसा नमामि॥
मञ्जीरनूपुररणन्नवरत्नकाञ्ची-
श्रीहारकेसरिनखप्रतियन्त्रसंघम्।

दृष्ट्यार्तिहारिमषिबिन्दुविराजमानं
वन्दे कलिन्दतनुजातटबालकेलिम्॥
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखोपरि कुञ्चिताग्राः
केशा नवीनघननीलनिभाः स्फुरन्तः।
राजन्त आनतशिरःकुमुदस्य यस्य
नन्दात्मजाय सबलाय नमो नमस्ते॥

''नवकमल-जैसी शोभा विशाल नेत्रोंकी है। बिम्बफलके सदृश अधर हैं। उनपर मन्द मुसकान छायी हुई है। सजल जलदकी-सी कान्ति अङ्गोंकी है। अत्यन्त सुन्दर बालवेष है। मधुर सुन्दर मन्दगतिसे वे चलते हैं। मैं इन नन्दनन्दनको मन-ही-मन प्रणाम कर रहा हूँ। चरणोंमें मञ्जीर एवं नूपुर सुशोभित हैं। कटिदेश नवरत्न-काञ्ची-विभूषित है। काञ्चीसे रुनझुन-रुनझुन शब्द हो रहा है। गलेमें सुन्दर हार है। हारमें व्याधिनिवारक यन्त्रप्रतीक व्याघ्रनख पिरोये हुए हैं। जननीने दृष्टिदोषनिवारणके उद्देश्यसे एक काला बिन्दु मुखपर लगा दिया है, इससे उनकी शोभा और भी बढ़ गयी है। कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुनाके तटपर विविध बालक्रीड़ा करनेवाले इन परम सुन्दर नन्दनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ। पूर्ण शशधर-जैसे सुन्दर मुखपर कुञ्चित केशकलाप सुशोभित है। यह कुन्तलराशि ऐसी प्रतीत होती है, जैसे नवीनघनकी नीलिमा हो। इन श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें जो सिर झुका देते हैं, उनके लिये ये कुमुदकी भाँति शीतल—शंतम बन जाते हैं। मैं बलरामसहित नन्दनन्दनको बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ।''

मुनिवरके नेत्रोंसे जल बहने लगा। वे उठ खड़े हुए तथा श्रीकृष्णके ध्यानमें निमग्न होकर 'कृष्ण-कृष्ण' रटते हुए बदरिकाश्रमकी ओर चल पड़े—तपश्चर्याके लिये नहीं, निर्बाध श्रीकृष्णका स्मरण करनेके लिये, श्रीकृष्णनामामृतपान करनेके लिये। अनन्तजन्मार्जित तपका परम फल तो महर्षिको प्राप्त हो चुका है; श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनका, स्पर्शका परमानन्द वे अनुभव कर चुके हैं; साथ ही अपना सर्वस्व समर्पितकर श्रीकृष्णदास बन चुके हैं; उनके लिये अब करनेको रहा ही क्या है।

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥

(श्रीमद्भा० ९। ५। १६)

'जिनके मङ्गलमय नामको सुन लेनेमात्रसे प्राणी निर्मल हो जाते हैं, उन भगवान्‌के चरणकमलके दास बन जानेवालोंके लिये कौन-सा कर्तव्य अवशिष्ट रहता है।'

जो हो, इतना हो गया; किंतु गोपशिशुओंकी दृष्टिमें, परिचारिकाओंके जानमें तो कुछ भी नहीं हुआ। केवल श्रीकृष्णचन्द्र तपोधन दुर्वासाकी गोदमें गये और उनके मौन रहनेपर उतर आये—उन सबने इतना ही जाना। उनके लिये यह क्षुद्र घटना है, उनपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं। गोपशिशु तो तुमुलनाद करते हुए पहलेकी भाँति ही पुलिनको मुखरित करने लग गये।

अब यशोदा रानी आ पहुँचती हैं। श्रीकृष्णचन्द्रको विविध खेलोंमें—रमणीय दृश्योंमें भुलाये रखकर उन्हें साथ लिये क्रमशः भवनकी ओर लौटती हुई पहले उपवनमें, फिर उपवनको लाँघकर नन्दोद्यानमें, फिर उद्यानसे राजपथपर चली आती हैं। वहाँसे व्रजसुन्दरियोंके भवनोंमें जा-जाकर उन्हें दर्शनसुख देकर श्रीकृष्णचन्द्र अपने भवनमें प्रवेश करते हैं और गोपशिशु अपने-अपने घर चले जाते हैं। उस समय संध्या व्रजपुरपर अपना अञ्चल फैलाने लगती है। जननी पुत्रोंको स्नान कराती हैं। वस्त्र-आभूषणोंसे सुसज्जित कर ब्यारू कराती हैं। पर क्रीडाश्रमसे श्रमित हुए राम-श्याम तो ब्यारूके बीचमें ही सोने लग जाते हैं। जननी किसी प्रकार उन्हें दूध पिलाती है, उनका मुख प्रक्षालन करती है, फिर गोदमें उठाकर शय्यापर सुला आती है—

बल-मोहन दोऊ अलसाने।
कछु-कछु खाइ दूध लै अँचयौ, मुख जम्हात जननी जिय जाने॥
'उठहु, लाल!' कहि मुख पखरायौ, तुम कौं लै पौढ़ाऊँ।
तुम सोवौ, मैं तुम्हैं सुवाऊँ, कछु मधुरे सुर गाऊँ॥
तुरत जाइ पौढ़े दोउ भैया, सोवत आई निंद।
सूरदास जसुमति सुख पावति पौढ़े बालगोबिंद॥

कण्व ब्राह्मणपर अद्भुत कृपा

मधुवनके उस शान्त आश्रमकी ओर किसीका भी ध्यान आकर्षित न होता था। सघन वनश्रेणी उसे अन्तर्हृदयमें छिपाये रखती थी। अभेद्य कण्टकजाल क्षीण पगडंडियोंके द्वार रोके सर्वत्र फैले हुए थे, किसीको भी सहसा प्रवेश नहीं करने देते थे। इसीलिये आश्रमके एकमात्र अधिवासी कण्व नामक ब्राह्मणकी तपस्यामें कोई विघ्न उपस्थित न हुआ। पाँच वर्षोंसे ब्राह्मणकी नारायण-अर्चना निर्बाध चल रही थी।

कण्व जब शिशु थे, उस समय भी उनकी शैशव-क्रीडामें नारायण सने हुए थे। जब गृहस्थभार सँभाला, तब वहाँ भी प्रत्येक चेष्टामें नारायण भरे थे; और अब तो अवस्था ढल गयी थी। एकमात्र नारायणका ही अवलम्बन किये हुए ब्राह्मणदेव सर्वथा एकान्तसेवी होकर नारायणमें लीन-से हो रहे थे। समीपका अरण्य जो कुछ भी कन्द-मूल-फल उन्हें देता, उसीको लेकर वे नारायणको अर्पित कर देते, अर्पित प्रसाद पाकर स्वयं भी तृप्त हो जाते। आश्रमसे दस हाथपर ही झर-झर करता हुआ एक जलस्रोत बहता था, वह कभी सूखता न था। अत: जलके लिये भी दूर जानेकी आवश्यकता न थी।

इससे पूर्व कण्व और तो कहीं नहीं, केवल व्रजेश्वर नन्दके घर जाया करते थे। व्रजराज एवं व्रजरानी—दोनोंकी ही कण्वके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। दोनों अपने हृदयकी बात कण्वको बताया करते। कण्वकी गृहस्थीका निर्वाह भी व्रजेश्वरके द्वारा दिये हुए अयाचित दानपर ही अवलम्बित था, किंतु पाँच वर्ष हो गये, भजनानन्दमें जगत्को भूले हुए कण्व व्रजेश्वरके घर भी न गये। इसीलिये नन्दनन्दनके प्रकट होनेकी बात भी कण्वको ज्ञात नहीं। आज द्वादशीके दिन इष्टदेवपूजनके निमित्त पुष्पचयन एवं कन्द-मूल आहरण करते हुए वे अचानक कालिन्दी-तटपर—गोकुलके घाटपर आ निकले। वहाँ कुछ ग्वालिनें व्रजपुरकी ओरसे आयी हुई थीं, मधुपुरी जा रही थीं, परस्पर श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहर बाल्यचेष्टाओंकी चर्चा कर रही थीं। ईशप्रेरित उनके कुछ शब्द कण्वके कानोंमें प्रवेश कर गये। वर्षोंसे कण्वने ग्राम्यचर्चा सर्वथा नहीं सुनी थी। ग्रामवासियोंके दर्शनतक उन्होंने इने-गिने बार ही किये थे। पर आज ग्वालिनोंके कण्ठसे निकली हुई वह स्फुट ध्वनि कर्णरन्ध्रोंमें बरबस चली गयी—नहीं-नहीं, प्राणोंके अन्तस्तलमें जाकर गूँजने लगी। कण्व अपनेको संवरण न कर सके। द्रुतगतिसे चलकर गोपसुन्दरियोंके समीप जा पहुँचे और जाकर पूछ ही बैठे—'माताओ! किसके पुत्रकी बात कर रही हो?' उत्तरमें अश्रुपूरित कण्ठसे गोपसुन्दरियोंने—

पुत्र भयौ री नन्दमहर कें बड़ी बैस बड़ भाग।

—यहाँसे आरम्भ कर आजतक श्रीकृष्णचन्द्रकी विविध सुमधुर लीलाओंको गा-गाकर सुना दिया। सुनते-सुनते ब्राह्मण समाधिस्थ-से हो गये। जब ग्वालिनें चली गयीं, तब कहीं उन्हें बाह्यज्ञान हुआ। पर वे अब और सब कुछ भूल-से गये थे। नन्दप्राङ्गणमें स्थित ग्वालिनी-वर्णित बालककी मूर्ति ही नेत्रोंके सामने नाच रही थी। कंद-मूलकी झोलीको, चयन किये हुए पुष्पसमूहको वहीं एक तमालके नीचे रखकर यन्त्रपरिचालित-से वे व्रजपुरकी ओर चल पड़े।

व्रजपुरकी सीमामें प्रवेश करते ही कण्वकी दृष्टि बदल गयी। वह आम्रपंक्ति, वह कदम्बश्रेणी—कण्वको प्रतीत हो रहा है, यह तो दिव्य कल्पतरुका वन है, उस पर्वतीय निर्झरसे तो अमृत झर रहा है, ये कूप-तड़ाग तो परम दिव्य सुधासे पूर्ण हैं; यह भूमि नहीं, यह तो चिन्तामणिका एक विशाल आस्तरण है। सामने गोपसुन्दरियाँ हैं—नहीं-नहीं, यह तो अगणित महालक्ष्मियोंका अवतरण हुआ है; यह देखो—इनकी वाणी संगीतमयी है, इनका गमन नृत्यमय है; आकाश चिन्मय, आकाशका सूर्य चिदानन्दमय, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ओह! व्रजपुरका तो सभी कुछ सच्चिदानन्दमय है! इस प्रकार कण्व एक अनिर्वचनीय अनुभूति करते हुए, विस्फारित नेत्रोंसे गगनचुम्बी मणिसद्मोंकी ओर निहारते हुए धीरे-धीरे चलकर राजसभाके सम्मुख खड़े हो गये। प्रहरीने कण्वको देखते ही पहचान लिया। वह चरणोंमें गिरकर

बोला—'देव! व्रजेश्वर इस समय अन्त:पुरमें हैं, आप वहीं पधारें।' कण्व अन्त:पुरमें प्रवेश कर गये।

सहसा अपने चिरपरिचित प्रिय ब्राह्मणको आया देखकर नन्ददम्पतिके आनन्दकी सीमा नहीं। दोनों उठ खड़े हुए, दौड़कर आँगनमें चले आये तथा कण्वके चरणोंमें लोट गये। फिर अञ्जलि बाँधे हुए आगे-आगे चलकर उन्हें भीतर ले गये। अतिशय उमंगसे व्रजेशने ब्राह्मणका चरणप्रक्षालन किया, रत्नसिंहासनपर उन्हें बैठाया, पश्चात् अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि समर्पित किये। इधर व्रजरानी दौड़ी गयीं, समीपमें ही खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको खेल छुड़ाकर ले आयीं; अञ्चलसे अपने नीलमणिका मुख पोंछकर, मुखपर बिखरी हुई अलकावलीको शीघ्रतासे ठीककर ब्राह्मणके चरणोंमें नीलमणिको डाल दिया। नीलमणि भोली चितवनसे देख रहे हैं कि यह क्या हो रहा है तथा ब्राह्मणको ऐसा लग रहा है कि मैं मानो स्वप्न देख रहा हूँ, स्वप्नमें ही मेरे यावज्जीवन ध्यानकी मूर्ति आज मूर्त होकर मुझे प्रत्यक्ष इस रूपमें दीख रही है।

व्रजेश्वरने कण्वकी कुशल पूछी। स्वप्नसे जागे हुए-से कण्वने अपनी कुशल बताकर यह कहा— 'नन्दराय! आज अचानक सुना कि तुम्हें पुत्र हुआ है; सुनते ही तुम्हारे पुत्रको देखने आया हूँ; आशीर्वाद देने आया हूँ।' ब्राह्मणकी यह बात सुनकर व्रजराजके, व्रजरानीके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु छल-छल करने लगे। पर श्रीकृष्ण उसी समय खिलखिलाकर हँस पड़े। ठीक उसी क्षण कण्वको मानो यह प्रतीत हुआ, मेरे हृदयमें अवस्थित मेरी इष्टमूर्ति बोल रही है—'कण्व! देखते हो! अरे! देखो, श्रीहरिके अधरोंपर आयी हुई इस हँसीको प्रत्यक्ष देख लो, इसमें लीन हो जाओ; ध्यान करते-करते अपनेको विलीन कर देनेका सर्वोत्तम स्थल यही तो है; ओह! इन अरुण अधरोष्ठकी अरुणिम कान्तिसे कुन्दपङ्क्तिसदृश दन्तावलिपर भी कैसी लालिमा-सी छायी हुई है। बाहर हँसते हुए श्रीहरिको देख रहे हो तो? वे ही अन्तर्हृदयमें भी विराजित हैं! इन्हींमें तन्मय हो जाओ। सुनो, मनको प्रेमरसमें डुबा दो, डुबा-डुबाकर मसृण कर लो; फिर इस मसृण मनको इन हास्यकिरणोंके सामने कर दो। बस, किरणें इसे आत्मसात् कर लेंगी। पर यह तभी सम्भव है, जब इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखनेकी वासना रहे ही नहीं'—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्॥

(श्रीमद्भा० ३। २८। ३३)

कण्वका अङ्ग-प्रत्यङ्ग नाच उठा। रत्नसिंहासनसे वे हठात् उठ खड़े हुए। व्रजेश एवं व्रजरानी ब्राह्मणकी मुखमुद्रा देखकर किञ्चित् आश्चर्यमें पड़ गये हैं; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दपर पुन: एक मुसकान छा जाती है तथा तत्क्षण ही ब्राह्मणका भाव बदल जाता है। वे पूर्ववत् आसनपर बैठ जाते हैं। यह नन्दपुत्र अप्रतिम सुन्दर है, यह वृत्ति तो अभी भी स्पन्दित हो रही है; पर इसके अतिरिक्त कण्वकी अन्य अनुभूतियोंपर मानो किसीने यवनिका गिरा दी।

'तो व्रजेश! अब चलता हूँ, मध्याह्न उपस्थित है; ओह! आज बड़ा ही अतिकाल हो गया' पुन: आसनसे उठते-उठते कण्वने कहा। किंतु व्रजरानीने चरण पकड़ लिये और बोलीं—'देव! आज द्वादशीका पारण यहीं करनेकी कृपा करनी पड़ेगी। इतने दिनोंके पश्चात् तो आप पधारे हैं और इतना विलम्ब हो गया है; आज तो मैं पारण किये बिना कदापि जाने न दूँगी।' यह कहकर व्रजरानीने कण्वके चरणोंमें अपना सिर रख दिया। ब्राह्मणने स्वयं आहरण किये हुए वन्य कंद-मूलोंसे उदरपूर्ति करनेका पाँच वर्षोंसे व्रत ले रखा था; पर विशुद्ध श्रद्धाकी ही जय हुई, उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

यशोदारानीने तुरंत अतिशय शीघ्रतासे पहले स्वयं स्नान किया, फिर नन्दोद्यानसे संलग्न एक गोशालामें गयीं। गोशालाके एक निर्वात अंशमें गोबरका चौका लगाया, चूल्हेका निर्माण किया, गोबरसे लीपकर चूल्हेका भी संस्कार किया; फिर सुवर्णकलशीमें यमुनाजल भर ले आयीं, नवीन पवित्र सुन्दर मृत्पात्रमें

पद्मगन्धिनी गायका दूध दुहकर रख दिया; स्वर्णथालमें शालितण्डुल, रत्नजटित हेम-कटोरेमें शर्करा, मणिनिर्मित कटोरीमें कर्पूर भरकर ले आयीं; घृत, एला, लवङ्ग, केसर, शुष्क सुगन्धित काष्ठ, करछी आदि समस्त रन्धनसामग्री वहाँ एकत्र कर दी। आधी घड़ी समाप्त होते-न-होते कण्वके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं और भोजन बनानेके लिये प्रार्थना करने लगीं।

कण्व व्रजरानीके पीछे-पीछे चलकर रन्धनशालामें चले आये। आ तो गये, पर मनकी विचित्र दशा है। जितनी देर व्रजेश्वरी रन्धनकी व्यवस्था कर रही थीं, उतनी देर वे निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य, उनकी मनोहर बाल्यभङ्गिमा निहारते रहे हैं। उनकी आँखोंमें नन्दनन्दनका अतुल सौन्दर्य सब ओरसे भर गया है। कण्वको रन्धनशाला नन्दनन्दनमयी प्रतीत हो रही है। उन्हें चूल्हा नहीं दीखता, चूल्हेके स्थानमें अधरोंपर मन्द मुसकान लिये नन्दनन्दन खड़े दीखते हैं। स्वर्णकलशी, सुवर्णथाल, दुग्धपात्रमें नन्दनन्दन भरे प्रतीत हो रहे हैं; गोशालाकी भित्तिमें अगणित नन्दनन्दन नाचते दीख रहे हैं, द्वारको रुद्ध किये नन्दनन्दन खड़े हैं, गवाक्षरन्ध्र शतसहस्र नन्दनन्दनसे परिपूरित है। कण्वके हृदयमें एक रसमय झंझावात चल पड़ता है। वे सोचने लगते हैं—'मेरी ऐसी दशा क्यों हो गयी? मेरी आँखोंमें क्या हो गया?'

जबतक श्रीकृष्णजननी रन्धनशालामें उपस्थित थीं, तबतक रह-रहकर वे तो दीख जाती थीं। किंतु मर्यादाकी रक्षाके लिये—ऐसे पवित्र ब्राह्मणके भोजनपर मेरी छाया न पड़े, इस भावनासे जब वे कण्वको प्रणाम कर चली गयीं, तब केवल नन्दनन्दनकी छबि ही बच रही। यहाँतक कि जब कण्व अपनी तलहथी उठाकर आँखोंके सामने करते तो तलहथीमें भी नन्दनन्दनकी छबि अङ्कित दीखती; अपने उत्तरीय एवं कटिवस्त्रमें भी नन्दनन्दनका सजीव प्रतिचित्र झलमल-झलमल कर रहा था। इसीलिये कुछ देरतक तो कण्व कर्तव्यविमूढ़-से हुए शान्त जडवत् बैठे रहे। पर उसी समय मानो हृदयकी इष्टमूर्ति एक बार पुनः बोल उठी—'कण्व! भोग अर्पण नहीं करोगे? अतिकाल हो रहा है, मुझे क्षुधा लग रही है।' इस प्रकार किसी अचिन्त्य प्रेरणासे जगाये हुए-से कण्वका यह आवेश किंचित् शिथिल हुआ और वे रन्धनमें लगे। अग्नि प्रज्वलित कर, उन्होंने उक्त द्रव्योंसे सुन्दर स्वादु खीर प्रस्तुत करके खीरको स्वर्णथालमें ढाल दिया। तालवृन्तकी बयार देकर वे उसे शीतल करने लगे। भोजनके योग्य शीतल होते ही उसपर तुलसीमञ्जरी रख दी तथा विधिपूर्वक इष्टदेवको भोग समर्पितकर, सामने वस्त्रका आवरण डालकर अपने नेत्र मूँद लिये—

घृत मिष्टान्न खीर मिस्त्रित करि परुसि कृष्ण-हित ध्यान लगायो।

(सूरदास)

किंतु मानसिक भावना समाप्त होनेपर जब कण्वने आँखें खोलीं और देखा तो वे अवाक् रह गये—

नैन उघारि विप्र जो देखै, खात कन्हैया देखन पायौ॥

(सूरदास)

कण्वने देखा—अपने इष्टदेवके लिये मैंने जिस आसनकी कल्पना की थी, उसपर नन्दनन्दन बैठे हैं। अपने वङ्किम नेत्रोंको इधर-उधर संचालित करते हुए हाथसे खीर उठा-उठाकर खा रहे हैं। इस झाँकीके सामने आनेपर कण्वके शरीरमें, शरीरके अणु-अणुमें एक बार तो अभिनव तडित्-लहरी-सी दौड़ गयी। उनके नेत्र छल-छल करने लगे। पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णचन्द्र भीतिविजडित नयनोंसे ब्राह्मणकी ओर देखते हुए, खीर आरोगना छोड़कर, आसनपर उठ खड़े हुए। बस, उनका उठना था कि कण्वका भाव बदल गया—'आह! इस चञ्चल नन्दपुत्रने तो मेरे इष्टदेवका भोग भ्रष्ट कर दिया।' ब्राह्मणके हृदयमें एक व्यथा-सी हुई, नेत्रोंमें भी किंचित् रोषका आभास-सा छा गया। गम्भीर स्वरमें उन्होंने पुकारा—'व्रजेश्वरि! इधर आओ।'

इधर, ब्राह्मणकी व्यवस्था करके व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रके पास चली गयी थीं। श्रीकृष्णचन्द्र तो खेलमें उन्मत्त हो रहे थे। अतः व्रजरानी—जैसा दान व्रजेशने पुत्रके जन्मोत्सवपर प्रति ब्राह्मणको दिया था, उससे अधिक कण्वको देनेका आदेश देने, उन-उन वस्तुओंको स्वयं अपने हाथों सहेजने चली गयीं।

यह कार्य करके वे पुनः श्रीकृष्णके समीप आयीं! पर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ न मिले। अतिशय शीघ्रतासे पूछकर गोशालाकी ओर अग्रसर हुईं; क्योंकि उसी ओर अभी-अभी कुछ क्षण पहले दासियोंने श्रीकृष्णचन्द्रको जाते देखा था। इधर वे द्वारपर आयीं और उधर कण्वने पुकारा। कण्वके रूक्ष स्वरको सुनते ही नन्दरानीका हृदय धक्-धक् करने लगा। दौड़कर भीतर प्रवेश कर गयीं। उनके आते ही कण्व ग्लानिपूर्ण स्वरमें बोल उठे—'यशोदारानी! तुम्हारे पुत्रने क्या किया है, देख लो।'

'नीलमणि! नीलमणि! मेरे लाल! तुमने यह क्या अनर्थ कर डाला'—घटनासे अत्यन्त व्यथित व्रजरानी इससे अधिक बोल न सकीं। पर श्रीकृष्णचन्द्र ऐसी सरल दृष्टिसे जननीकी ओर, ब्राह्मणकी ओर देख रहे हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस भोली चितवनसे कण्वका रोषाभास तो उड़ ही गया, बल्कि वे तो भय करने लगे कि कहीं इस सरलमति सुकुमार बालकको इस छोटी-सी बातके लिये व्रजरानी कुछ दण्ड न दे दें। इसलिये ही वे नीरवता भङ्ग करते हुए बोले—'नन्दगेहिनी! बालकका कोई दोष नहीं, अन्नके कण-कणपर ईशविधानकी छाप रहती है; तुम्हारा पुत्र तो निमित्तमात्र है। नहीं-नहीं, इसने तो मेरे व्रतकी रक्षा की है; आसक्तिवश मैं नीचे गिर रहा था, इसने मुझे गिरनेसे बचा लिया; ग्राम्यजीवनका परित्याग कर चुका था, कंदमूलाहारी होनेका व्रती था। पर तुम्हारे विशुद्ध आग्रहवश पुनः पीछे लौट रहा था, प्रभुने इस बालकके द्वारा मेरी रक्षा कर दी; मैं आशीर्वाद देता हूँ, यह बालक चिरंजीवी हो, तुम्हारी सुखसमृद्धि निरन्तर बढ़े·······पर, अब मैं चलता हूँ, बहुत ही अतिकाल हो गया है।' कण्व चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये।

व्रजेश्वरी रो पड़ीं। कण्वके समक्ष घुटने टेककर, हाथ जोड़कर रोती हुई बोलीं—'देव! इस बालकने जो अपराध किया है, उसका यत्किंचित् मार्जन तभी सम्भव है, जब आप पुनः खीर बनाकर मेरे घर पारण कर लें। अन्यथा मुझ अभागिनीके भाग्यमें न जाने क्या लिखा है······।' व्रजरानीके इस निष्कपट क्रन्दनके आगे परम भागवत कण्व पुनः झुक गये। पुनः रन्धनव्यवस्था कर देनेकी अनुमति कण्वसे नन्दरानीने ले ही ली।

व्रजेश्वरीने पुनः स्नान किया। पार्श्ववर्ती एक अन्य गोशालाका सम्मार्जन कर पुनः नवीन सुवर्णकलशीमें वे जल भर लायीं। फिरसे शालितण्डुल, स्वर्णथाल, दुग्ध, शर्करा, केसर, घृत आदि समस्त सामग्री एकत्रितकर ब्राह्मणको वहाँ ले गयीं। कण्व भी खीर प्रस्तुत करनेकी योजनामें लगे। पर उन्हें नन्दनन्दनका खीरसे सना मुखारविन्द भूल नहीं रहा था। कितनी बार कण्वने चेष्टा की कि इस ओरसे वृत्ति समेटकर इष्टचिन्तनमें तन्मय कर दें, पर मन इस झाँकीसे बँधा प्रतीत होता था। इसीलिये रन्धनकार्यमें भी व्यतिक्रम हो रहा था। तण्डुल-निक्षेपसे पूर्व उन्होंने दुग्धमें शर्करा डाल दी, फिर उसमें घृतपात्र उड़ेल दिया। अब स्मरण आया कि 'अरे! तण्डुल छोड़ना तो भूल ही गया, खीर बनेगी कैसे। यह सोचकर आवश्यकतासे अधिक तण्डुल डाल दिये। फिर भी जैसे-तैसे खीर बन ही गयी एवं जगन्नियन्ताकी इच्छासे परम सुन्दर—स्वादु ही बनी। खीरकी सुवाससे गोशाला सुवासित होने लगी। कण्वने पहलेकी ही भाँति विधिपूर्वक भोग धराया और भोग धरकर वे इष्टचिन्तनमें निमग्न हो गये।

इधर नीलमणिसे अतिशय शङ्कित होकर जननी यशोदा उन्हें गोशालासे बाहर ले आयी थीं, तोरणद्वारके समीप अलिन्दपर आम्रकी सुशीतल छायामें नीलमणिको गोदमें लिये बैठी थीं। निश्चय कर चुकी थीं कि जबतक ब्राह्मणका पारण न हो लेगा, तबतक इसे छोड़कर मैं कहीं जाऊँगी ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी जननीकी गोदमें शान्त होकर बैठे थे। सामने कुछ मयूर नृत्य कर रहे थे, उन्हींकी ओर वे देख रहे थे। एक-दो बार मयूरोंको पकड़नेके उद्देश्यसे उठ खड़े हुए, पर जननीने जाने न दिया। किंतु कुछ ही देर बाद शीतल वायुके स्पर्शसे वे अलसाङ्ग होने लगे। देखते-ही-देखते जननीकी गोदमें निद्रित हो गये।

नीलमणिको निद्रित देखकर जननी निश्चिन्त हो गयीं। मैयाने भी रात एकादशीका जागरण किया था; तथा अलिन्दपर झुर-झुर करता हुआ सुखद शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन प्रवाहित हो रहा था। अत: जननीके नेत्र भी निमीलित होने लगे। जिस क्षण कण्व गोशालामें भोग समर्पितकर इष्टचिन्तनमें निमग्न हुए, ठीक उसी क्षण जननी श्रीकृष्णचन्द्रको वक्ष:स्थलपर धारण किये तन्द्रामें—नहीं, नहीं, हृद्देशमें नित्य विराजित अपने नीलमणिमें—लीन हो गयीं।

विशेष नहीं, कुछ ही क्षणोंका अन्तर रहा। पर पहले जागे श्रीकृष्णचन्द्र। तथा जबतक जननीकी तन्द्रा टूटी, तबतक श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी दृष्टिसे उस पार गोशालामें—कण्वकी रन्धनशालामें पुन: प्रविष्ट हो चुके थे। अस्त-व्यस्त हुई जननी दौड़ी अवश्य, पर अब तो विलम्ब हो चुका था।

कण्वने अष्टोत्तरशत जप-संख्या पूर्ण होनेपर, इष्टदेवको मानसिक आचमनीय अर्पण करके आँखें खोलीं। खोलते ही पूर्वानुभूत दृश्य ही सामने दीख पड़ा, अवश्य ही इस बार शतगुणित माधुर्य लिये। ओह! अरुणाभ नयनाम्बुज हैं, पद्मरागनिबद्ध-व्याघ्रनखभूषित ग्रीवा है, मणिकिङ्किणीविभूषित कटिदेश है, नूपुर-शोभित चरणारविन्द हैं, प्रफुल्लनीलोत्पल-विनिन्दित अङ्गकान्तिसे रन्धनशालाको उद्भासित करते हुए नन्दनन्दन पहलेकी भाँति ही आसनपर विराजित होकर खीर खा रहे हैं। कण्व मौन रहकर इस शोभाराशिकी ओर देखते ही रह गये।

यशोदारानीने भी देखा। पर वे तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं। एक बार ब्राह्मण-कोपानलसे रक्षा हो गयी, बार-बार थोड़े ही होगी—जननीके नेत्रोंके सामने अन्धकार-सा छा गया। इतनेमें व्रजेश्वर वहाँ आ पहुँचे। पुत्रके प्रथम अपराधकी बात वे नन्दरानीसे सुन चुके थे। इसीलिये भर्त्सना करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर बढ़े। पर आगे बढ़कर कण्वने रोक दिया, साथ ही अत्यन्त मृदुल स्वरमें वे कहने लगे—'व्रजेश! इस बालकको कुछ भी कहनेसे मुझे मार्मिक पीड़ा होगी। सुनो! विश्वनियन्ताकी रुचि पूर्ण होने दो; वे नहीं चाहते कि तुम्हारे घर मेरा पारण हो। अब मुझे जाने दो, क्योंकि दिनका चतुर्थ प्रहर आरम्भ हो गया है; दिवाकर अस्ताचलगामी हों, इससे पूर्व आश्रममें मुझे पहुँच जाना चाहिये, अन्यथा आज अरण्यमें पथ पा लेना असम्भव हो जायगा। तुम जानते हो, मैं कभी असत्यभाषण नहीं करता; मैं किंचित् भी रुष्ट नहीं हूँ। मेरे कारण तुम्हारे पुत्रका कोई भी अमङ्गल न होगा, तुम विश्वास करो।'

कहाँ तो मेरे नीलमणिका इतना गुरु अपराध और कहाँ ब्राह्मणदेवकी इतनी उदार वृत्ति—व्रजमहिषीके हृदयमें एक साथ ही हर्ष एवं दु:खकी दो धाराएँ फूट निकलीं, वे सिसक-सिसककर रोने लगीं। उन्हें सिसकते देखकर कण्वने फिर कहा—'नन्दगेहिनी! मैं अन्तर्हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारे पुत्रका मङ्गल-ही-मङ्गल होगा और यदि तुम्हारे मनमें कहीं यह ग्लानि हो रही है कि ब्राह्मण बिना पारण किये जा रहे हैं, तो लाओ, दहीके किंचित् कण मेरे हाथपर रख दो; आचमन करके, प्रभुको निवेदन कर उसीसे मैं व्रतका पारण किये लेता हूँ।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर नन्दरानीके मनमें साहस आ गया। वे बोलीं—'देव! किस मुँहसे निवेदन करूँ, पर आप मेरे स्वभावसे परिचित हैं। मैं जीवनभर इस दु:खको भूल न सकूँगी कि आप बिना भोजन किये मेरे घरसे चले गये।' यह कहते-कहते व्रजरानीके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह चलता है। इसी समय कण्वकी दृष्टि मुखमें खीर लपेटे नन्दनन्दनकी ओर चली गयी। उन्हें प्रतीत हुआ—बालक जननीको रोते देखकर भयभीत हो रहा है। बस, कण्व तो व्याकुल हो उठे। आकुलकण्ठसे बोले—'नन्दरानी! शान्त होओ; देखो, तुम्हें रोते देखकर तुम्हारा पुत्र भयभीत हो रहा है। बोलो, क्या चाहती हो? संकोचरहित होकर बताओ, मैं तुम्हें दुखी करके यहाँसे जाना नहीं चाहता।'

व्रजरानीको आशा हो गयी कि अब ब्राह्मण मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे। वे बोलीं—'देव! बस, एक बार आप और रन्धनका परिश्रम स्वीकार करें। मैं तुरंत सभी वस्तुएँ लाती हूँ, दूसरे स्थानमें सारी व्यवस्था किये देती हूँ तथा फिर मैं इस चञ्चल बालकको लेकर अन्य व्रजगोपके घर चली जाऊँगी। इतना ही नहीं, गोशालामें

जितने द्वार हैं, सबपर एक-एक गोपको बैठा देती हूँ। एकपर स्वयं व्रजेश्वर रहेंगे। जबतक आपका पारण नहीं हो जायगा तबतक प्रत्येक द्वारपर प्रहरी रहेगा। देखती हूँ, यह कैसे आता है।' कण्वने एक बार नन्दनन्दनकी ओर देखा तथा फिर व्रजरानीको स्वीकृति दे दी।

तीसरी गोशालामें पुनः ज्यों-के-त्यों वे सारे उपकरण एकत्र हुए। साथ ही मुख्य द्वारपर स्वयं व्रजेश द्वारी बने। अन्य द्वारोंपर तथा प्रत्येक गवाक्षके समीप एक-एक गोप सजग होकर बैठे कि कहींसे भी श्रीकृष्णचन्द्र प्रवेश न कर सकें। यह प्रबन्ध करके व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर उपनन्दके घर चली गयीं। उपनन्दके घरके द्वार भी बंद कर लिये गये। कण्वने भी पायसका निर्माण किया। अर्पणकी विधि भी सम्पन्न हुई। पर ज्यों ही कण्वने भोजनकी भावना करना आरम्भ किया कि बस, श्रीकृष्णचन्द्र जननीसे हाथ छुड़ाकर भाग खड़े हुए। जननी सारी शक्ति बटोरकर पीछे दौड़ी पर न जाने कैसे उपनन्द-गृहका रुद्ध द्वार खुल गया और श्रीकृष्णचन्द्र बाहर निकल आये। जननीने कातर होकर पुकारा—'नारायण! नारायण!! रक्षा करो!!! प्रभो! प्रभो!! व्रजेश्वर या कोई भी गोप मेरे नीलमणिको गोशालाके द्वारपर ही रोक ले!!!' यह पुकार लगाती हुई जब वे गोशालाके द्वारपर पहुँचीं, तब देखा—व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड़ लिया है। फिर तो व्रजरानीके आनन्दकी सीमा नहीं रही। समीप जाकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनों हाथ पकड़ लिये और किंचित् रोषमें भरकर बोलीं—'नीलमणि! अरे, तू इतना दुष्ट कैसे हो गया; प्रातःकालसे एक ब्राह्मणको कष्ट दे रहा है—

वह अपने ठाकुरहि जिंवावै, तू ऐसैं उठि धावै।

(सूरदास)

किंतु नन्दनन्दन भी इस बार—भयभीत होना तो दूर—रोषमें भरकर अविलम्ब बोल उठे—

जननी! दोष देति कत मोकौं, बहु बिधान करि ध्यावै।
नैन मूँदि कर जोरि नाम लै बारहिं बार बुलावै॥

(सूरदास)

व्रजरानी समझ न सकीं कि नीलमणि क्या कह रहा है। उनकी वृत्ति इस समय केवलमात्र इतना ही ग्रहण कर रही है कि व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड़ लिया, अन्यथा यह रन्धनशालामें प्रवेश कर गया होता। व्रजरानी यह नहीं जानतीं कि व्रजेशके द्वारा रुद्ध हो जानेपर भी उनका नीलमणि तो रन्धनशालामें कभीका पहुँच चुका है, कण्वका भोग स्वीकार कर अपने योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ दर्शनसे उन्हें कृतार्थ कर रहा है। प्रेमरसभावितमति यशोदारानी यह जान भी नहीं सकतीं; क्योंकि उन्हें पता नहीं कि जो अजन्मा है, पुरुषोत्तम है, जो प्रत्येक कल्पमें स्वयं अपने-आपमें अपने-आपका ही सृजन करता है, पालन करता है और फिर संहार कर लेता है, जो मायालेशशून्य-विशुद्ध है, केवल ज्ञानस्वरूप है, अन्तरात्माके रूपमें एकरस अवस्थित है, जो त्रिकाल सत्य है, पूर्ण है, अनादि है, अनन्त है, निर्गुण है, नित्य है, अद्वय है—वह मेरा नीलमणि ही तो है। व्रजेन्द्रगेहिनी नहीं जानतीं कि मेरा नीलमणि ही विराट् पुरुष है, काल है, स्वभाव है, मन है, इन्द्रियाँ है, कार्य है, कारण है, पञ्चभूत है, अहंकार है, त्रिगुण है, ब्रह्माण्डशरीर है, ब्रह्माण्डशरीराभिमानी है, अनन्त स्थावर-जङ्गम जीव है, ब्रह्मा है, शंकर है, विष्णु है, दक्ष है, नारद है। व्रजरानी कल्पना ही नहीं कर सकतीं कि मेरा नन्हा-सा नीलमणि स्वर्लोकपाल है, खगलोकपाल है, नृलोकपाल है, अतल-वितल-सुतलपाल है, गन्धर्व-विद्याधर-चारण-अधिनायक है, यक्ष-राक्षस-सर्प-नागपति है। यशोदारानीके मनमें कभी यह उदय नहीं होता कि महर्षि, देवर्षि, पितृपति, दैत्येन्द्र, दानवेन्द्र, सिद्धेश्वर तथा प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग, विहंगम—सबके नायकके रूपमें मेरा नीलमणि ही है। व्रजेन्द्रमहिषी यह धारणा ही नहीं कर सकतीं कि जगत्की जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य-तेज-इन्द्रियबल-मनोबल-शरीरबलसे युक्त हैं, क्षमासे सम्पन्न हैं, सौन्दर्य-लज्जा-विभूतिसे समन्वित हैं, सुन्दर-असुन्दर अद्भुत वर्णवाली हैं—वे सब-की-सब मेरे नीलमणिके ही रूप हैं।* उन्हें यह भान ही

* स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च॥

नहीं होता कि मेरी गोदमें रहते हुए ही ठीक उसी क्षण मेरा यह नीलमणि इन अनन्त रूपोंमें भी अवस्थित है, क्रीड़ा कर रहा है। उनके वात्सल्यरस-सुधासागरके अतल तलमें डूबे हुए अपरिसीम ऐश्वर्यके रज:कण कभी ऊपर आते ही नहीं। आते होते तो भले वे जान पातीं कि व्रजेन्द्रके द्वारा यह निरोध व्यर्थ है, यहाँ निरुद्ध रहकर भी नीलमणि तो भीतर प्रकट है। वे तो सदा इस भावनासे ही भरी रहती हैं कि मेरा नीलमणि मेरा गर्भजात शिशु है, अबोध है। इसीलिये आज वे फूली नहीं समा रही हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें अभी-अभी व्रजेन्द्रने चञ्चल नीलमणिको रोक लिया और एक महान् अनर्थ होनेसे रक्षा हो गयी। अस्तु,

इधर इस बार जब कण्वके नेत्र खुले, तब दृश्य तो वही था—नन्दनन्दन भोग आरोग रहे हैं। पर इस बार कण्वके नेत्र, मन, बुद्धिपर लगा हुआ अनादि आवरण सर्वथा छिन्न-भिन्न हो चुका था। वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमें अब उन्हें संशय नहीं रहा। कण्व वहीं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें लोट गये। उनके नेत्रोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगा, इस निर्झरवारिसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरण युगल प्रक्षालित होने लगे।

मानो किसी परम दिव्य वीणाके तार झंकृत हो उठे हों, इतने मधुर कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'कण्व! तुम मुझे देखनेके लिये अनेक जन्मोंसे लालायित हो। इसीलिये इस बार जब मैं यहाँ प्रकट हुआ, तब तुम्हारा भी इसी ब्रह्माण्डमें—इस मधुपुरीमें जन्म हो गया। मेरी माता, मेरे पिता तुम्हारे दृष्टिपथमें आ गये, इसीलिये तुम मेरा यह बाल्यरूप, बाल्यलीला देख सके।' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्रकी वह कमनीय झाँकी अन्तर्हित हो गयी। उसके बाद भी कण्व न जाने कितनी देर स्वेद, कम्प, स्तम्भ, पुलक आदि दर्शनजन्य सात्त्विक भावोंके प्रवाहमें बहते रहे। भावावेश जब किंचित् शिथिल हुआ, तब कण्वने श्रीकृष्ण अधरामृतसिक्त उस खीर-प्रसादको पहले अपने सिरसे लगाया, फिर कुछ अंश मुखमें रखा। इसके पश्चात् सारे अङ्गोंमें उस खीरको चुपड़ लिया। फिर जो अवशिष्ट रहा, उसे अपने उत्तरीय वस्त्रमें बाँध लिया तथा द्वार खोलकर बाहर चले आये।

व्रजेशने देखा—ब्राह्मणके अणु-अणुसे आनन्द झर-सा रहा है। दिव्योन्मादके लक्षण भी उनमें प्रत्यक्ष परिलक्षित हो रहे हैं। हाथ जोड़कर व्रजेन्द्र पूछते हैं, 'देव! पारण हो गया?' कण्व गद्गद कण्ठसे कहते हैं—'हाँ व्रजेश! हो गया, मैं अनन्त कालके लिये परितृप्त हो गया।' यह कहकर फिर वे कुछ बड़-बड़ करने लगते हैं। नन्द-दम्पति कुछ नहीं समझ पाते कि ब्राह्मण क्या कह रहे हैं। हाँ, इतना तो वे जान गये हैं कि कण्वको प्रसाद अर्पण करते समय प्रेमावेश हो गया है; उन्होंने इसीलिये अर्पित खीर अङ्गोंमें चुपड़ ली है। जो हो, ब्राह्मणकी उन्मत्तता उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है। वे वहीं नन्दप्राङ्गणमें बारंबार लोट-लोटकर अस्फुट स्वरमें आवृत्ति करने लगते हैं—

सफल जन्म, प्रभु आजु भयौ।
धनि गोकुल, धनि नन्द-जसोदा, जाकैं हरि अवतार लयौ॥
प्रगट भयौ अब पुन्य-सुकृत-फल, दीनबंधु मोहिं दरस दयौ।
बारंबार नंद कें आँगन, लोटत द्विज आनंदमयौ॥
मैं अपराध कियौ बिनु जानें, को जानें किहिं भेष जयौ।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत-बस जसुमति-गृह आनंद लयौ॥

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम् । सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च । द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च । स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला नृलोकपालास्तललोकपालाः॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः । ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः॥
यत्किं च लोके भगवन्महस्वदोजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत् । श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥
(श्रीमद्भा० २। ६। ३८-३९, ४१—४४)

व्रजेश्वरको श्रीकृष्णके मुखमें अखिल विश्वका दर्शन

समस्त व्रजपुर अरुणोदयरागसे रञ्जित है। आम्रप्रशाखाओंमें छिपी कोकिल 'कुहू' 'कुहू' स्वर भर रही है। इतना मधुर स्वर, मानो कोकिल-कण्ठकी ओटमें रागजननी महामाया शैलेन्द्रनन्दिनी आज किसी सर्वथा नवीन, अत्यन्त रसमय रागका सृजन कर रही हों। अन्य विहंगमोंका कलरव, भौंरोंकी गुंजार, गोश्रेणीका हाम्बा-रव, गोपोंका 'हो-हो' आह्वान, गोपसुन्दरियोंका कलगान—इनसे व्रजेन्द्रकी पुरी मुखरित हो रही है। व्रजरानी भी इसी समय अपने नीलमणिकी नींद हटानेके उद्देश्यसे मधुर स्वरमें गा रही हैं—

जागिये, ब्रजराज कुँवर! कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-बृंद सकुचित भए, भृंग लता भूले॥
तमचुर खग रोर सुनहु बोलत बनराई।
राँभति गौ खरिकनि में, बछरा हित धाई॥
बिधु मलीन रबि प्रकास, गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ, अंबुजकरधारी॥

व्रजेश्वर आज कुछ कारणवश गोष्ठ नहीं गये। प्राय: प्रतिदिन ही मध्यरात्रिका अवसान होते ही वे गोष्ठ चले जाते थे, पर आज रुक गये। कालिन्दीमें स्नान करके, संध्यावन्दनसे निवृत्त होकर वे शालग्रामपूजन करने जा रहे थे, पर अन्तर्मनमें श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन होते रहनेके कारण नारायण-मन्दिरकी ओर न जाकर भूलसे शयनागारमें चले आये। वहाँ नीलमणिको जगानेमें तन्मय, आनन्द-निमग्न यशोदारानी उन्हें दीख पड़ती हैं और तब कहीं व्रजेशको अपनी भूलका भान होता है। ठीक इसी क्षण पुत्रके मुखपर डाले हुए उज्ज्वल दुकूलको व्रजरानी हटा देती हैं, एक अद्भुत आलोकमाला-सी सर्वत्र फैल जाती है, शयनागार उद्भासित हो उठता है, रविकिरणोंका स्पर्श पाकर विकसित हुए कमलोंकी भाँति नन्ददम्पतिका रोम-रोम हर्षसे खिल उठता है, हृदयमें आनन्दकी सरिता बह चलती है। व्रजेश निर्निमेष नयनोंसे पुत्रके मुखकी ओर देखने लगते हैं। उन्हें प्रतीत हो रहा है—ओह! मानो अभी-अभी सिन्धुमन्थन हुआ हो; यह धवल दुकूल नहीं, यह तो सागरके वक्ष:स्थलपर एकत्रित फेन था, व्रजरानीका हाथ नहीं, मन्थनदण्ड था; मन्थनके आवेगसे फेन फट गया, पूर्णचन्द्र दीखने लग गया। क्या यह मेरे पुत्रका मुख है? नहीं-नहीं, यह तो अभी-अभी सागर-मन्थनसे उद्भूत पूर्णचन्द्र है—

भोर भएँ निरखत हरि कौ मुख, प्रमुदित जसुमति, हरषित नंद।
दिनकर-किरन कमल ज्यौं विकसित, निरखत उर उपजत आनंद॥
बदन उघारि जगावति जननी, जागहु बलि गइ आनँदकंद।
मनहुँ मथत सुर सिंधु, फेन फटि, दयौ दिखाई पूरन चंद॥
जाकौं ईस-सेष-ब्रह्मादिक गावत नेति-नेति स्त्रुति-छंद।
सोइ गोपाल ब्रज मैं सुनि सूरज, प्रगटे पूरन परमानंद॥

जननीकी शत-शत मनुहार पाकर श्रीकृष्णचन्द्र आँखें खोलते हैं। शय्यासे उठाकर जननी उन्हें हृदयसे लगा लेती हैं। बारंबार मुख-चुम्बन करती हुई अस्त-व्यस्त केशोंको ठीक करने लगती हैं। फिर कनकझारीसे सुगन्धित जल लेकर मुखारविन्दका प्रक्षालन करती हैं। मुख धुलाकर, अपने सुकोमलतम क्षौम-आँचलसे पोंछकर नीलमणिको कलेवा करनेको कहती हैं तथा नीलमणि भी जननीकी लाड़भरी अभ्यर्थना स्वीकार कर कलेवा करते हैं—

कमल-नैन हरि करौ कलेवा।
माखन-रोटी, सद्य जम्यौ दधि, भाँति-भाँति के मेवा॥
खारिक, दाख, चिरौंजी, किसमिस, उज्ज्वल गरी, बदाम।
सफरी,* सेव, छुहारे, पिस्ता, जे तरबूजा नाम॥
अरु मेवा बहु भाँति-भाँति हैं षटरस के मिष्टान।
सूरदास प्रभु करत कलेवा, रीझे स्याम सुजान॥

कलेवा समाप्तकर मुख धुलाये बिना ही श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी गोदसे उछल पड़ते हैं। हँसती हुई जननी पकड़ने उठ पड़ती हैं, किंतु इतनेमें तो नीलमणि शयनागारके बाहर चले आते हैं। उस द्वारसे नहीं कि जिसके समीप

---

* अमरूद।

नन्दराय खड़े हैं, दूसरे द्वारसे; क्योंकि उन्हें भय है, कदाचित् बाबा पकड़ न लें; पकड़ लेंगे तो खेलमें विलम्ब हो जायगा। उन्हें कुछ ही दूरपर आते हुए अंश, श्रीदाम, सुबल, अर्जुन आदि सखा दीख पड़ते हैं। बस, फिर तो पूछना ही क्या है, वे उन्हींकी ओर दौड़ पड़ते हैं, बालमण्डलीमें जा मिलते हैं।

अब व्रजेश्वरको यह स्मृति होती है कि शालग्रामसेवामें घड़ीभरसे अधिक विलम्ब हो चुका है। इतनी देर तो वे पुत्रका जागरण, कलेवा-भोजन देखनेमें तल्लीन हो रहे थे। पुत्रासक्तिवश इष्टसेवाकी ऐसी उपेक्षा, मेरे द्वारा इतनी अनवधानता, ओह!—व्रजेश्वर उद्विग्न हो जाते हैं। द्रुतगतिसे नारायण-मन्दिरकी ओर चल पड़ते हैं। वहाँ जाकर पूजामें मनोनिवेश करते हैं—

पाइँ धोइ मंदिर पग धारे, प्रभु-पूजा जिय दीन्ह।
अस्थल लीपि, पात्र सब धोए काज देव के कीन्ह॥

हाथमें पुष्प लिये, अर्द्धनिमीलित-नेत्र-हुए व्रजेश प्रार्थना कर रहे हैं—'देव! पुत्रजन्मके पश्चात् एक दिन भी मैं तुममें तन्मय होकर तुम्हारा आराधन न कर सका। मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ, इस बालकके प्रति मेरी आसक्ति प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही है। एक दिन था जब मेरे हृत्सिंहासनपर तुम नित्य विराजित रहते थे। निरन्तर तुम्हारी अभिराम मूर्ति मेरे नेत्रोंके सामने रहती थी; किंतु अब तो तुम्हारी स्मृति भी मुझे कदाचित् ही होती है। जो होती है, वह भी केवलमात्र इसलिये कि इस बालकका अनिष्ट-निवारण होता रहे। मेरे नेत्रोंमें, मेरे कानोंमें, मेरे प्राणोंमें, मेरे मनमें, मेरी बुद्धिमें, मेरे आत्मामें तो यह बालक भर गया है। एक क्षणके लिये भी मैं इसे भूल नहीं पाता। चिरकालीन अभ्यासवश शरीरसे, वाणीसे अर्चन-विधिका निर्वाह तो हो जाता है, क्रिया सम्पन्न हो जाती है; पर नाथ! मेरे मनमें तो आराधनाके समय भी यह बालक ही समाया रहता है। उपासनाकी यह विडम्बना—मेरे स्वामिन्! किस मुखसे कहूँ कि तुम इसे स्वीकार करो; किंतु करुणानिधे! तुम मेरी इस भावहीन अर्चनाको भी स्वीकार करते ही हो, किया है, आगे भी अवश्य करोगे.........।' व्रजेशका कण्ठ भर आता है। वे पुष्पोंको शालग्रामदेवके सिंहासनपर रखकर पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे पूजा आरम्भ करते हैं—

'ॐ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥'
श्रीनारायणाय नमः, आसनं समर्पयामि।

"यह जो कुछ इस समय वर्तमान है, वह सब-का-सब परमपुरुष परमात्मा ही है। भूत एवं भविष्य जगत् भी परमात्मा ही है। इतना ही नहीं, वह परमात्मा मुक्तिका स्वामी है तथा ये जो अन्नसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं, उन समस्त जीवोंका शासक भी परमात्मा ही है। श्रीनारायणके लिये नमस्कार है। मैं उन्हें आसन समर्पण कर रहा हूँ।"

ठीक इसी समय खेलते हुए, अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकान लिये श्रीकृष्णचन्द्र नारायणमन्दिरमें आ जाते हैं तथा पिताकी शालग्राम-अर्चना देखने लगते हैं—

बैठे नंद करत हरिपूजा, बिधिवत औ बहु भाँति।
सूर स्याम खेलत तैं आए देखत पूजा न्याति॥

व्रजेशने क्रमशः पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय समर्पणकर शालग्रामदेवको पञ्चामृतमें स्नान कराया; फिर शुद्धोदक स्नान कराकर वस्त्र समर्पित किये। तत्पश्चात् यज्ञोपवीत, चन्दन, पुष्प, पुष्पमाला, तुलसीदल, रत्नाभूषणसे देवको विभूषितकर धूपका आघ्राण कराया, दीप दिखलाया। विविध नैवेद्य निवेदन करके आचमन कराया, ताम्बूल अर्पण किया, हीरक-हेम-मणि-मुक्ताकी दक्षिणा समर्पित की; फिर साष्टाङ्ग नमस्कार करके कर्पूरवर्तिकासे नीराजन करने लगे। श्रीकृष्णचन्द्र सर्वथा शान्त खड़े देख रहे हैं—

नंद करत पूजा हरि देखत।
घंट बजाइ देव अन्हवायौ, दल चंदन लै भेटत॥
पट अंतर दै भोग लगायौ, आरति करी बनाई।

—किंतु जैसे ही आरती समाप्त हुई कि वे अपने दोनों हाथोंको नचाकर बोल उठते हैं—'बाबा! तुमने तो इतने भोग धराये, पर देवताने तो कुछ भी नहीं खाया'—

कान्ह कहत—बाबा तुम अरप्यौ, देव नहीं कछु खाई॥
(सूरदास)

'नारायण! नारायण!! मेरे इस अबोध पुत्रके द्वारा

यह एक महान् सेवापराध हो रहा है—व्रजेश एक बार तो श्रीकृष्णचन्द्रकी बातसे सिहर उठते हैं। केवल वे ही नहीं, व्रजरानी भी भयभीत हो जाती हैं। वे तो आगे बढ़कर नीलमणिके अरुण अधरोंपर धीरेसे अपनी अँगुली रख देती हैं कि जिससे वे आगे और कुछ न बोल सकें। यशोदारानी, जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र कोलाहल करते हुए सखाओंके साथ नारायणमन्दिरकी ओर बढ़ने लगे थे, उसी क्षण पीछे-पीछे चली आयी थीं—इस आशङ्कासे कि कदाचित् मेरा चञ्चल नीलमणि जाकर व्रजेशकी देवपूजामें कोई विघ्न न उपस्थित कर दे। श्रीकृष्णचन्द्र पथमें अनेकों चञ्चल चेष्टाएँ करते भी आ रहे थे; किंतु मन्दिरके समीप आते ही वे शान्त हो गये, अन्य गोप-शिशु भी चुप हो गये। और बालक तो बाहरसे ही झाँककर देखने लगे, पर श्रीकृष्णचन्द्र भीतर चले गये। उन्हें मन्दिरमें प्रवेश करते देखकर जननी भी अविलम्ब भीतर चली आयी थीं। अवश्य ही भीतर आकर भी मैयाने इससे पूर्व कोई बाधा न दी थी; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र अबतक बड़ी संयत मुद्रामें खड़े होकर पूजा देख रहे थे। अस्तु, सहसा जननीका निवारण पाकर तथा पिताकी भाव-भङ्गीमें परिवर्तन देखकर श्रीकृष्णचन्द्र कुछ और बोलनेसे रुक भी गये; पर वे समझ नहीं पाये कि मैयाने उन्हें क्यों रोका, बाबा उनकी बात सुनकर कम्पित क्यों हो गये। नितान्त सरल दृष्टिसे वे जननीकी ओर, बाबाकी ओर देखने लगते हैं, मानो वे इसका रहस्य समझना चाहते हों। पुत्रके भोले मुखमण्डल, निश्चल दृष्टिकी ओर व्रजेशका ध्यान आकर्षित हो जाता है। बस, फिर तो उनके अन्तस्तलमें स्नेहक शतशः धाराएँ एक साथ फूट पड़ती हैं; व्रजराजका मन, प्राण, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ—सभी उस धारामें बह चलते हैं। नीराजन-पात्र हाथमें लिये ही वे कुछ क्षणके लिये आत्मविस्मृत हो जाते हैं। व्रजरानीकी भी यही दशा है—

जसुदा देखति है ढिग ठाढ़ी।
बालदसा अवलोकि स्याम की प्रेम मगन चित बाढ़ी॥

किसी प्रकार आत्मसंवरण करके व्रजेशने शालग्राम-देवकी प्रदक्षिणा की—

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते॥
ॐ नारायणाय नमः। प्रदक्षिणां समर्पयामि।

"पूर्वकालमें—व्यष्टि सृष्टिसे पूर्व ब्रह्माने जिसकी स्तुति की थी, इन्द्रने समस्त दिशाओंमें जिसे व्याप्त अनुभव किया था, उस परमात्माको जो इस प्रकार जानता है, वह इस जीवनमें ही अमृत (मुक्त) हो जाता है। मुक्ति—भगवत्प्राप्तिके लिये इससे अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है।' नारायणके लिये नमस्कार है। मैं उन्हें प्रदक्षिणा समर्पण कर रहा हूँ।"

प्रदक्षिणा समाप्त करके वे विविध कुसुमोंसे अपनी अञ्जलि पूरितकर पुष्पाञ्जलि भेंट करने चले। उनके नेत्र निमीलित हैं। भक्तिभावका उद्रेक होनेसे व्रजरानीके नेत्र भी बंद हो गये हैं। ठीक इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र धीरेसे आगे बढ़ जाते हैं, अतिशय शीघ्रतासे शालग्रामजीको सिंहासनसे उठाकर अपने मुँहमें रख लेते हैं तथा ऐसा करके फिर ज्यों-के-त्यों यथास्थान खड़े हो जाते हैं। जननीने सर्वथा नहीं जाना कि नीलमणिने ऐसी लीला रच दी है। व्रजेश्वर तो जानते ही कैसे; क्योंकि वे तो इस समय अपने इष्टदेवकी समाधिमें लीन हो रहे हैं। अभी-अभी नन्दरायजीने शालग्रामजीसे यह प्रार्थना की थी—'देव! इतनी-सी वासना है—अन्तस्तलमें इतनी-सी आकाङ्क्षा अवशिष्ट है, वह मिटती नहीं, बल्कि प्रतिक्षण तीव्रतर होती जा रही है। वह यह कि मेरा यह पुत्र चिरंजीवी हो, अनन्तकालतक सुखसे रहे, दुःखकी छाया भी इसे न छू सके। पर नाथ! यह तभी सम्भव है, जब मैं इसे तुम्हारे चरणोंमें समर्पण कर दूँ; अन्यथा यह अतिशय चञ्चल है, इससे अनेकों अपराध होते हैं। अभी-अभी इसने तुम्हारा अपराध किया है; दयामय! इसे क्षमा करना। भक्तवाञ्छाकल्पतरो! क्षणभरके लिये, पहलेकी भाँति तुम्हारी मूर्ति मेरे ध्यानमें उदय हो जाय; तुम्हारे पद्मदलायत नयनोंसे झरती हुई सुधा-धाराका एक कण पाकर मेरे अणु-अणु सिक्त हो जायँ तथा फिर तुम्हारे शीतल-शंतम चरणपङ्कजकी छायामें मैं अपने पुत्रको रख दूँ, रखकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाऊँ।' व्रजेशकी यह प्रार्थना समाप्त होते-न-होते उनके हृत्पद्मपर उनकी इष्टमूर्ति प्रकाशित हो गयी।

श्रीकृष्ण-जन्मसे पूर्व इसी रूपके अखण्ड चिन्तनमें नन्दराय निरन्तर निमग्न रहते थे। इसी रूपके साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन एक बार आनकदुन्दुभि श्रीवसुदेवने भी कंस-कारागारमें निशीथके समय किये थे। इस रूपकी छटा भी निराली ही है—

सिर पुरट मुकट छबि धृत उदंड।
मनि जटित जोति कोटिन प्रचंड॥
सो सुभाग्य भाल सोभा नरिंद।
मृगदान बिंदु निंदक मिलिंद॥
भ्रूभंग बाल अवलीन ऐन।
रहि अमल कमल दल नवल नैन॥
कच कुंच मेच चिकने अबंध।
जे सने दिब्य सौरभ सुगंध॥
मनिकिरन मकर कुंडल बिलोल।
छबि गिलत उगल गौरव कपोल॥
सुक तुंड मंडि नासा सुकोस।
झलझलत खुलत जनु जलज जोस॥
छबि अधर सधर रँग चुवत लाल।
बंधूक दूख बिंबा प्रबाल॥
दिबि दसन दीप्ति दमकत सुदेस।
जनु कुंद कुलिस कर निकर बेस॥
मृदु मंद हास हुलस्यौ हुलास।
सुख सिंधु सींव कीन्हौं प्रकास॥
ठोड़ी सुरूप द्रग ठहरि बाढ़ि।
मनु परिव गाढ़ि को सकहि काढ़ि॥
कल कंबु कंठ लावन्य चारु।
तहँ कौस्तुभ किरनोदय उदारु॥
सुभ बक्ष लक्ष भृगु पद रसाल।
मनि मुकुलि मल्लिका मुक्तमाल॥
भुज चारि चारु आबद्ध चारि।
दर पद्म गदा कर चक्र धारि॥
आजान बाहु मनि बाहुबंध।
उन्नत बिसाल बलि बंध कंध॥
कर कंज करज चितु लेत चोर।
छबि बनक कनक कंकननि जोर॥
लखि रोम रेख नाभी रसाल।
धसि अमिय कुंड कुंडलिय बाल॥
त्रिवलीन लीन मनु छोड़ि दंभ।
छबि होति जहाँ छन-छन अरंभ॥
जगमगति जोति जग्योपवीत।
लिय सघन घटा दामिनी जीत॥
पटु पीत, पीत धोती अनूप।
जिन जातरूप कीन्हौ बिरूप॥
मनिबद्ध किंकिनी मद्धदेस।
कलहंस बंस रव करि सुबेस॥
प्रन प्रभा पींडुरिन लयौ पीन।
मनु गुलफ सुलफ आधीन दीन॥
दुखहरन चरन पंकरुह कोस।
नख-चंद्र चंद्रिका वै अदोस॥
पगतलनि चिह्न चिह्नित सुदेस।
धुज-बज्र-गदादिक जव बिसेस॥
जिनि चरन कढ़ी सुरधुनी धार।
त्रैताप साप पातक बिदार॥
जे चरन सेस सनकादि बंदि।
श्रुति सारद नारद लखि अनंदि॥
जे चरन ल्याइ अज ईस ध्यान।
ते कहहिं कहा लघुमति 'गुमान'॥

सलोने सिरपर सुवर्णका विशाल मुकुट है; उसमें विविध मणियाँ विजड़ित हैं; इन मणियोंकी ज्योति ऐसी है, मानो कोटि-कोटि सूर्योंका प्रकाश पुञ्जीभूत हो गया हो। सुन्दर भालपर कस्तूरीविन्दु सुशोभित है; बिन्दुयुक्त भालकी यह शोभा कमलदलपर बैठे हुए भ्रमरकी शोभाको तुच्छ—नगण्य बना दे रही है। भौंहें क्या हैं, मानो भ्रमरशावकोंने पङ्क्तिबद्ध होकर अपने लिये गृहका निर्माण किया हो—गृह भी कहाँ ? नव विकसित शुभ्र कमलोंकी शोभा धारण करनेवाले नेत्रोंके समीप, नेत्र-कमलोंके कोरपर। सुचिक्कण काली, घुँघराली अलकें मुखारविन्दके दोनों ओर बिखरी हुई हैं; वे अलकें दिव्य सौरभ, दिव्य सुवाससे सनी हैं। कानोंमें मकराकृति मणिकुण्डल हैं, वे चञ्चल हो रहे हैं; इन चञ्चल कुण्डलोंका प्रतिबिम्ब गुलाबी कपोलोंपर नाच रहा है। प्रतिबिम्ब कभी प्रत्यक्ष होता है तो कभी विलुप्त,

मानो अरुण कपोल इस कुण्डलशोभाको कभी उगल देता है तो कभी निगल जाता है। नासापुट शुकचञ्चुके समान सुन्दर हैं, श्वास-प्रश्वासके कारण उनमें स्पन्दन हो रहा है; ओह! यह स्पन्दन नहीं, मानो बयारके आवेशसे कमल झलमल-झलमल कर रहा हो, कमलदल खुल जा रहे हों। अरुण वर्ण अधरोंसे शोभा झर रही है; इसे देखकर बन्धूक, बिम्बफल, प्रवाल वेदनामें भरकर सोच रहे हैं—'आह! मेरी लालिमा ऐसी नहीं हुई!' दिव्य दन्तपङ्क्ति बड़ी ही सुन्दर है, चमचम कर रही हैं; उनमें ऐसी दीप्ति है, मानो वे कुन्दपुष्प हों। नहीं-नहीं, इन्द्र-वज्रकी विद्युन्मयी किरणें एकत्र होकर दसनपङ्क्तिके रूपमें परिणत हो गयी हैं। मन्द मृदु हास तो आनन्दकी, उमंगकी लहरें हैं; मानो आनन्दसागर चरम सीमातक उमड़ आया हो। ओह! देखो, ठोड़ी कैसी सुन्दर है, अब नेत्र तो यहाँसे हटते नहीं; अरे! यहाँ भी सौन्दर्यकी बाढ़ आयी हुई है। यह लो! नेत्र इस बाढ़में जा धँसे, अत्यन्त गहरे जलमें डूब गये; अब किसकी सामर्थ्य कि इन्हें निकाले! शङ्खके समान सुन्दर कण्ठका लावण्य भी कितना रमणीय है। अरे! इसपर तो कौस्तुभकी विशद किरणें भी पड़ रही हैं। यह देखो, सुन्दर वक्षःस्थलपर शुभ भृगुपद-चिह्न स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है; मणियोंकी, मुकुलित मल्लिकाकी, मुक्ताकी मालाओंसे वक्षःस्थल भूषित हो रहा है। सुन्दर चार भुजाएँ हैं; उन चारोंमें क्रमशः शङ्ख, गदा, चक्र एवं कमल सुशोभित हैं। आजानुलम्बित बाहु भुजबन्ध (बाजूबन्द)-से विभूषित हैं। उन्नत विशाल कंधोंकी शोभापर तो बलिहार है! विकसित कमल-जैसी हथेली, कमलदल-जैसी नखश्रेणी—ये चित्तको चुरा ले रहे हैं। कनक-कङ्कणोंकी शोभा विचित्र ही है। यह सुन्दर नाभिकूप! उसपर रोमरेखा!! ओह! देखकर ठीक प्रतीत हो रहा है, मानो यह नाभि नहीं, अमृतकुण्ड है; यह रोमरेखा नहीं, पन्नगशावक (साँपका बच्चा) है; अमृतपान करनेके लिये अमृतकुण्डमें उतर पड़ा है। रे मन! श्रीहरिके उदरपर उदय हुए इस त्रिवलीका सौन्दर्य तो निहार! अरे! मन तो सारा कपट छोड़कर इन त्रिवलियोंमें ही विलीन हो गया! क्यों न हो, यहाँ तो क्षण-क्षणमें नव-नव शोभाका प्रसार जो हो रहा है। यज्ञोपवीतकी ज्योति जगमग कर रही है। ओह! श्रीहरिके नील कलेवरपर पीताभ यज्ञोपवीतकी शोभाने तो दामिनीसमन्वित सघन घटाको भी हरा दिया। पीताम्बर दुकूल, पीत धोती—इनकी किससे उपमा दें? सुवर्ण तो इनके सामने सर्वथा रूपहीन है। कटि-देशमें मणिजटित किङ्किणीकी लड़ियाँ झूल रही हैं; इनसे रुचिर शब्द हो रहा है, मानो मनोहर हंसश्रेणी कलरव कर रही हो। पीन पिंडलियोंने तो ज्योति बिखेरनेका प्रण ले रखा है और इन गुल्फों (एँड़ीके समीपकी गाँठ)-की गठन तो देखो! पतले हैं, अत्यन्त सुकोमल हैं; इनमें किञ्चित् कम्पन भी हो रहा है। अरे! ये तो जैसे अपनी अधीनता घोषित कर रहे हों! 'पिंडलियोंके नीचे हमारा निवास है, इसीलिये हम पतले हैं, कोमल हैं, कम्पित हो रहे हैं।' अब पङ्कजकोशकी शोभा धारण किये हुए, समस्त दुःखद्वन्द्व-हरणशील चरणोंकी ओर देखो! और ये दस चरणनख-अरे! ये तो दस चन्द्र हैं। देखते नहीं, निर्मल ज्योत्स्ना फैली हुई है। जय हो! ध्वज, वज्र, गदा, यव आदि चिह्नोंसे चिह्नित श्रीहरिके चरणतलकी जय हो!! जिनसे स्वर्मन्दाकिनीकी त्रितापनाशिनी, शापमोचनी, पातकविदारिणी धारा निर्गत हुई। जिन चरणोंकी शेष-सनकादि निरन्तर वन्दना करते हैं, जो श्रुति-सरस्वती देवर्षिके लिये आनन्दस्रोत हैं, अज-महेशके ध्यानधन हैं, उन हरि-चरणोंकी जय हो!!!

—व्रजेश्वर अपनी इसी उपर्युक्त इष्ट मूर्तिको आज अचानक ध्यान-पथमें पाकर पुलकित हो रहे हैं; किंतु ध्यान करते-करते ही उन्हें यह अनुभूति होने लगती है कि मेरी यह इष्ट मूर्ति ठीक वहाँ, उस स्थानपर है, जहाँ व्रजरानीके पार्श्व देशमें मेरा पुत्र अवस्थित है, नहीं-नहीं यह मूर्ति मानो मेरे पुत्रके अङ्गोंमें ही अङ्कित है। इसके साथ ही नन्दरायको ऐसा भान होने लगा कि मानो हृदयके अन्तस्तलमें मधुमय कण्ठसे, हँस-हँसकर कोई कह रहा हो—'गोपेन्द्र! तुम तो पुत्रको इष्टदेवके चरणोंमें निक्षेप करने आये थे; पर तुम्हारे पुत्रने तो इष्टदेवको ही अपने मुखमें निक्षिप्त कर रखा है, आँख खोलकर देखो तो सही!' बस, सचमुच उसी क्षण

व्रजेशकी आँखें खुल ही जाती हैं तथा वे सिंहासनकी ओर देखते हैं। उन्हें दीखा—इष्टदेव वहाँ नहीं हैं!!

'व्रजरानी! व्रजरानी!! इष्टदेव क्या हो गये?'—व्रजेश्वर जोरसे पुकार उठे। यशोदारानी नेत्र बंद किये शालग्रामजीसे नीलमणिके लिये कल्याण-भिक्षा माँग रही थीं। नन्दरायकी उद्विग्नताभरी पुकार सुनकर वे भी आँखें खोलकर इधर-उधर देखने लगती हैं। सहसा एक साथ ही नन्ददम्पतिकी दृष्टि श्रीकृष्णचन्द्रके उभरे हुए कपोलोंकी ओर आकर्षित हो जाती है। 'हैं! कहीं श्रीकृष्णने ही तो नहीं………।' कहते-कहते व्रजराज आसनसे उठ पड़ते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चले आते हैं। यशोदारानी भी शङ्कित-सी हुई सोच रही हैं कि कहीं मेरे नीलमणिने शालग्रामजीको उठाकर मुखमें तो नहीं रख लिया? फिर तो महान् अनर्थ हो गया………। जननी श्रीकृष्णचन्द्रका चिबुक अपने हाथपर लेकर, उसे किञ्चित् ऊँचा करके देखने लगती हैं। देखनेपर संदेह और भी दृढ़ हो जाता है। 'नीलमणि! मेरे लाल! तू अपना मुख खोलकर दिखा तो दे।'—जननीने चुचकारकर कहा। व्रजेशको तो सर्वथा निश्चय हो चुका था। अतः उन्होंने अपना दाहिना हाथ श्रीकृष्णचन्द्रके अधरोंके समीप लगा दिया—इस आशङ्कासे कि बालक कहीं भयभीत होकर शालग्रामजीको उगल दे तो वे पृथ्वीपर गिर जायँगे; हाथ सामने रहेगा तो वे मेरे हाथपर ही गिरेंगे। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र न तो उगलते हैं न कुछ बोलते हैं; केवल मात्र बाबाकी ओर देखते रहते हैं। अस्त-व्यस्त-से हुए व्रजेश प्रार्थना करते हैं—'जगन्नाथ! रक्षा करो, इस अबोध बालकके द्वारा अक्षम्य अपराध बन गया है; इस अपराधका प्रायश्चित्त मैं करूँगा। प्राणीके समस्त कर्मोंके साक्षीभूत तुम्हारे ही रूप—सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्र, संध्या, रात्रि, दिन, दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल एवं धर्म—

सूर्योऽग्निः खं मरुद्गावः सोमः संध्याहनी दिशः।
कं कुः कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः॥

(श्रीमद्भा० ६। १। ४२)

'इन देवोंके समक्ष मैं निश्चय कर कह रहा हूँ कि मेरे द्वारा अब तुम्हारा अखण्ड स्मरण ही होगा। इस स्मरणके फलस्वरूप मेरे इस पुत्रकी सभी अनिष्टोंसे रक्षा होती रहे, मैं इतना ही चाहता हूँ।' नन्दराय कातर होकर पुत्रके मुखकी ओर देखते हुए इसीकी बारंबार मन-ही-मन आवृत्ति करने लगे। ठीक इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र खिलखिलाकर हँस पड़े। मानो—

हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः॥

(श्रीमद्भा० २। १। ३१)

'श्रीहरिकी जगन्मोहिनी माया ही उनकी मुसकान है। यह अनन्त सृष्टि उसी मायाका ही कटाक्ष-विक्षेप है।'

—इस उक्तिका एक निदर्शन व्रजेशको दिखानेके लिये स्वयं अघटघटनापटीयसी योगमाया ही श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बाधरकी ओटसे हँस पड़ी हों, हँसकर कह रही हों—'व्रजेश! चिन्तित मत हो, तुम्हारे पुत्रका अनिष्ट करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं; कर्मसाक्षी सूर्य, वह्नि, वियत्, मरुत् आदि तो तुम्हारे पुत्रके मुखमें हैं!'

हुआ भी यही। हँसते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें शालग्रामजी व्रजेशको दीख जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र अपनी नन्हीं-नन्हीं अङ्गुलियोंसे शालग्रामजीको मुखसे निकालकर बाबाके हाथपर रख देते हैं। इधर इष्टदेव तो हाथमें आ गये और उधर श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें व्रजेशको एक अद्भुत दृश्य दीखने लगता है—अरे! अरे! यह क्या! यह वैचित्र्य! यह महान् आश्चर्य! मेरे पुत्रके मुखमें तो त्रिभुवन—समस्त जगत् स्पष्ट वर्तमान है!—व्रजेश दंग रह गये। उनकी वाणी रुद्ध हो गयी। वे कुछ भी बोल न सके—

बदन पसारि सिला जब दीन्ही, तीनौ लोक दिखाये।
सूर निरखि मुख नंद चकित भए, कछू बचन लहिं आये॥

यशोदारानीको यह पता नहीं कि व्रजराज ऐसी लीला देख रहे हैं। वे तो इतना ही देख रही हैं कि गम्भीर होकर आँख फाड़े हुए वे मेरे नीलमणिकी ओर एकटक देख रहे हैं। वे तो यह समझ रही हैं कि इष्टदेवके अपमानसे व्रजराज किञ्चित् क्षुब्ध-से हो गये हैं। इसीलिये परिस्थितिकी गम्भीरता मिटानेके भावसे वे कहने लगती हैं—'व्रजेश! अब देर मत करो, शीघ्र शुद्ध जलसे स्नान कराकर इन्हें सिंहासनपर विराजमान

करो।' पर व्रजेशके कानोंमें तो वे शब्द पहुँचे ही नहीं। हाँ, श्रीकृष्णचन्द्र जननीका अञ्चल हिलाकर एक बार पुनः हँस पड़े। हँसी ठीक वैसी ही है, वही है जिसके अन्तरालसे अभी-अभी व्रजेशके विश्वदर्शनकी अनुभूति निकली थी; पर इस बार वह कुछ नवीन अनुभव देने—नहीं, अनुभूतिको समेटने आयी है। वास्तवमें क्षणभरमें ही व्रजेशको इस विश्वदर्शनकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है। श्रीकृष्णचन्द्रमें कुछ विशेषता भी है, यह बात उनके स्मृति-पथसे बिलकुल उतर जाती है।

योगमायाने यद्यपि यह जना तो दिया कि ''व्रजेश! अभी अर्चनाके समय तुम जिन परमात्माकी, आदि पुरुषकी महिमा गान कर रहे थे—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥
तस्माद् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

'उन परमात्माके सहस्रों-अनन्त मस्तक हैं, सहस्र—अपरिमित नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, सहस्र—असंख्य पाद आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं, वे सर्वान्तर्यामी हैं, समस्त ब्रह्माण्डोंकी भूमिको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित हैं तथा साथ ही इससे दस अंगुल ऊपर भी हैं—ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए वे इससे परे भी हैं। भूत-वर्तमान-भविष्यकालसे सम्बन्ध रखनेवाला समस्त जगत् इस पुरुषकी ही महिमा है, इस परमात्माका ही विभूतिविस्तार है; उसका स्वरूप इतना ही नहीं, वह तो इस ब्रह्माण्डमय विराट्से भी बहुत अधिक विशाल है। प्रपञ्चके अन्तर्गत तीनों लोक तो उसके एक पादमें अवस्थित हैं—उसके चतुर्थांशमें ही समाप्त हो जाते हैं; अभी तीन पाद और अवशिष्ट रह जाते हैं। यह त्रिपादस्वरूप अमृत है—अविनाशी है तथा वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है। यह त्रिपादपुरुष ऊपर उठा हुआ है—यह अज्ञानसम्भूत संसारसे सर्वथा पृथक् है, सांसारिक गुण-दोषोंसे सर्वथा अछूता रहकर ऊँची स्थितिमें विराजित है। उसका एक अंशमात्र मायाके सम्पर्कमें आकर यहाँ जगत्के रूपमें उत्पन्न हुआ; फिर वह जड-चेतनमयी विविध सृष्टिके रूपमें स्वयं ही फैल गया। फैलकर सब ओर व्याप्त हो गया। उस आदिपुरुष परमात्मासे ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्माण्डपर उसका एक अभिमानी पुरुष प्रकट हुआ। वास्तवमें तो परमात्मा ही ब्रह्माण्डकी रचना करके स्वयं ही जीवरूपमें उसमें प्रविष्ट हो गया। वही जीव ब्रह्माण्डका अभिमानी देवता हुआ। वही विराट्पुरुष पुनः देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि अनेकों रूपोंमें प्रकट हुआ। इसके पश्चात् उसने भूमिको उत्पन्न किया, फिर जीवशरीरोंकी रचना की।'

—इस प्रकार मन्त्रोच्चारण करते हुए जिनके चरणोंमें पूजोपचार अर्पण कर रहे थे, 'वह परमात्मा, वह आदि-पुरुष यह तुम्हारा पुत्र ही है।' किंतु व्रजेशके वात्सल्यस्निग्ध हृदयमें इस तत्त्वके लिये स्थान कहाँ। यह तो व्रजेश्वरके मनमें क्षणिक भावान्तर उत्पन्न करनेके लिये, उनके हृदयमें नित्य प्रवाहित वात्सल्यसिन्धुको तरङ्गित करनेके लिये एवं लीलाक्रमको नियन्त्रित रखनेके लिये योगमायाने ऐश्वर्यका एक चित्रपट बीचमें मिला दिया। अन्यथा वे पहलेसे जानती हैं कि व्रजेश्वरको इस ऐश्वर्यकी आवश्यकता नहीं, वे कभी इसे लेंगे भी नहीं। अस्तु।

शालग्रामदेवको पुनः जलसे नहलाकर पूर्ववत् विभूषितकर व्रजेश उन्हें सिंहासनपर पधरा देते हैं। पधराकर श्रीकृष्णचन्द्रसे कहते हैं—'मेरे लाल! शालग्रामजीको तू माथा टेककर प्रणाम कर ले।' श्रीकृष्णचन्द्र प्रणाम करते हैं। शङ्खजल लेकर व्रजेश श्रीकृष्णचन्द्रपर छिड़क देते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र धोती पकड़कर हँसने लगते हैं। फिर तो व्रजेश सब कुछ भूलकर उन्हें हृदयसे लगा लेते हैं। वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्र चाहे कुछ भी क्यों न हों, व्रजेशकी दृष्टिमें तो वे अनादिकालसे उनके पुत्र हैं, अनन्तकालतक उनके पुत्र ही रहेंगे—

हँसत गोपाल नंद के आगैं, नंद सरूप न जान्यौ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलाधर, सोई सुत करि मान्यौ॥

हाऊ-लीला

उपयुक्त उपमा न पाकर संकुचित सरस्वती लीलादर्शी कविके हृदयमें इतना ही कह सकीं—मानो एक हंस हो और एक मयूर; हंसने तो अपने चारु चञ्चुसे मोती उठाकर मुखमें रख लिया, मयूरने पन्नगीको पकड़ लिया—इस प्रकार दौड़कर बलरामने व्रजरानीकी नासिकापर सुशोभित मोती (बुलाक)-को पकड़ा एवं श्रीकृष्णचन्द्रने पीठपर बल खाती हुई वेणीको। दोनों भाइयोंने जननीको तत्क्षण गृहकार्य स्थगित कर देनेके लिये विवश कर दिया। दो बार हो चुका, दोनों माखन-रोटीके लिये जननीको पुकार रहे थे। जननी भी पुकार सुन रही थीं, किंतु इस मधुर आह्वानसे झरते हुए सुधारसका आस्वाद लेती हुई—'देखें, ये दोनों उत्तर न पानेपर क्या करते हैं' इस भावसे—झूठ-मूठ ही कामका बहाना करके विलम्ब कर रही थीं। जननीकी यह उपेक्षा राम-श्याम सह नहीं सके, समीप जाकर इस प्रकार पकड़कर उन्हें काम करनेसे रोक दिया। दूर खड़े व्रजेश्वर पुत्रोंकी यह छवि देख रहे हैं, आनन्दसे लोट-पोट हो रहे हैं। पुत्रोंके द्वारा रुद्ध अत्यन्त पुण्यशालिनी व्रजरानीके अन्तस्तलमें भी आनन्दकी धारा बह चलती है। ओह! व्रजेश्वरि! सचमुच तुम्हारे वे अनन्त पुण्यपुञ्ज कैसे, किस जातिके हैं, जिनका यह पुरस्कार तुम्हें आज मिल रहा है?

दोउ भैया मैया पै माँगत, दै री मैया, माखन रोटी।
सुनत भावती बात सुतन की, झूठहिं धाम के काम अगोटी॥
बल जू गह्यौ नासिका-मोती, कान्ह कुँवर गहि दृढ़ करि चोटी।
मानौ हंस मोर भष लीन्हे, कबि उपमा बरनै कछु छोटी॥
यह छबि देखि नंद-मन आनँद, अति सुख हँसत जात हैं लोटी।
सूरदास मन मुदित जसोदा, भाग बड़े कर्मनि की मोटी॥

जननीने काम छोड़कर दोनों पुत्रोंको एक साथ गोदमें उठा लिया और वे उन्हें अन्तर्गृहमें ले गयीं। दोनोंके हाथोंपर सुन्दर सुपक्क रोटी एवं एक-एक उज्ज्वल नवनीतपिण्ड रख दिया। फिर तो कृष्ण-बलरामके आनन्दकी सीमा नहीं। बलराम तो रोटी पाते ही आनन्द-कोलाहल करते हुए रोहिणीजीके पास दौड़ गये तथा श्रीकृष्णचन्द्र वहीं जननीके सम्मुख बैठकर सुख-निमग्न-से हुए माखनमण्डित रोटीकी ओर देखने लगे। विकसित अरविन्द-जैसी हथेली है, उसपर रोटी रखी है एवं रोटीपर शुभ्र शशधरके समान उज्ज्वल वर्ण नवनीतखण्ड है—नहीं, नहीं, स्वयं गगनचन्द्र ही मानो श्रीकृष्णचन्द्रका स्पर्श पानेके लिये रवि-किरणोंकी चादरमें अपनेको छिपाये रोटीपर उस रूपमें उतर आया है; किंतु यहाँ आते ही वह सोचने लगा—'क्या यह श्रीकृष्णचन्द्रकी हथेली है? नहीं, हथेली नहीं, यह तो विकसित अरविन्द है।' फिर तो चन्द्रको स्मृति हो आयी—'अरे! अरविन्द तो मेरा सनातन शत्रु है, उसे तो मेरा मुख सुहाता नहीं; संध्याका अनुगमन करते हुए जब-जब मैं दिक्पथमें उतरा हूँ तब-तब इसे निमीलितनेत्र ही मैंने पाया; कभी इसने मेरा स्वागत नहीं किया, फिर मैं इसका मुख क्यों देखूँ!' यह सोचकर ही चन्द्रने नेत्रोंपर ढक्कन लगा लिया; यह रोटी नहीं, मानो नवनीतरूप चन्द्रके नेत्रोंपर लगा हुआ ढक्कन है—

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनु वारिज ससि बैर जानि जिय गह्यौ सुधा सस धौटी॥

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अपने अम्बुजकोष-सदृश मुखको खोलकर धीरे-धीरे माखन-रोटी मुखके भीतर ले जाते हैं तथा उल्लासभरी दृष्टिसे जननीकी ओर देखने लगते हैं। यह शोभा भी अनुपम ही है। एक बार पुनः वाग्वादिनी (सरस्वती)-का प्रयास व्यर्थ हो जाता है; वे समुचित तुलना ढूँढ़ न सकीं, पर कुछ भी कहे बिना रहा नहीं गया, सर्वथा मोटी उपमा ही उनके मुखसे बरबस निकल गयी—

मेली सजि मुख अंबुज भीतर, उपजी उपमा मोटी।
मनु बराह भूधर सह पुहुमी धरी दसन कीं कोटी॥

जो हो, रोटीका अष्टमांशमात्र भोजन कर अवशिष्टमेंसे कुछ अंश तो श्रीकृष्णचन्द्रने वहीं फेंक दिया तथा

कुछ हाथमें लिये बलरामको पुकारते हुए रोहिणी मैयाके पास दौड़ चले। द्वारपर व्रजेश्वर प्रतीक्षा कर रहे थे—मेरा लाल माखन-रोटी खाकर अब आता ही होगा। प्रतीक्षा पूरी हुई। श्रीकृष्णचन्द्र आये तथा बाबाकी धोती पकड़कर कहने लगे—'बाबा! तुमने तो अभी कलेवा ही नहीं किया और मैं दो बार माखन खा आया। क्या तुम्हें भूख नहीं लगती?' उनके यह कहते-कहते ही दोनोंका आनन्द उमड़ा, दो धाराएँ दो ओरसे बह चलीं—व्रजेशके नेत्रोंसे अश्रुजलके रूपमें, श्रीकृष्णके श्यामल अङ्गोंसे नृत्यके रूपमें। अपने नेत्र पोंछते हुए बाबा देख रहे हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य कर रहे हैं। नग्न नील अङ्गोंसे ज्योति झर रही है, बन्धूकवर्ण अधरोंपर हास्य है, जननीके द्वारा स्नेहसे सँवारी हुई अपनी चोटीपर हाथ रखकर उल्लासमें भरे, समस्त अङ्गोंको नचाते हुए वे नाच रहे हैं। नवनीतसिक्त होकर, श्रीकृष्ण-अधरामृतमें स्नानकर, वहाँ बहती हुई आनन्दधाराके तटपर रोटीका एक टूक भी शान्त पड़ा है—

नगन गात मुसकात तात ढिग नृत्य करत गहि चोटी।
सूरज प्रभु की लहै जु जूठनि लारनि ललित लपोटी॥

नाचते हुए ही श्रीकृष्णचन्द्र बलरामकी ओर चल पड़ते हैं, फिर बलरामको साथ लेकर सैकत-पुलिनकी ओर! गोपसखाओंकी मण्डली जुड़ते देर नहीं लगती। आगे-पीछे दौड़कर सभी पुलिनके समीप तमालवनमें एकत्र हो जाते हैं तथा वृक्षोंकी शीतल छायामें क्रीड़ा प्रारम्भ होती है—

हाथ तारी देत भाजत, सबै करि करि होड़।
बरजै हलधर, स्याम, तुम जनि चोट लागै गोड़॥
तब कह्यौ मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मेरी जोरी है श्रीदामा, हाथ मारे जात॥
उठे बोलि तबै श्रीदामा, जाहु तारी मारि।
आगें हरि पाछें श्रीदामा, धर्‌यौ स्याम हँकारि॥
जानि कै मैं रह्यौ ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहि।
सूर हरि खीझत सखा सौं, मनहिं कीन्हौ कोहि॥

इधर आधी घड़ी भी नहीं हुई है, किंतु जननीके लिये तो श्रीकृष्ण-अदर्शनका यह काल कोटि युगके समान हो चला। यदि कुलदेव नारायणकी परिचर्याव्यवस्थाका भार व्रजरानीपर न होता तो वे छायाकी भाँति केवल पुत्रका अनुसरण ही करती रहतीं। 'इस सेवाका भार मैं किसपर सौंपूँ, न जाने कब कौन-सी त्रुटि रह जाय। मेरे कुलका, मेरे नीलमणिका मङ्गल तो एकमात्र नारायणकी प्रसन्नतापर ही निर्भर है; उनकी यत्किञ्चित् सेवा भी मैं दूसरेसे कराऊँ, यह तो कृतघ्नताकी चरम सीमा हो जायगी।'—ये विचार ही व्रजरानीको रोक लेते हैं। रोक लें, नीलमणि मनमें तो निरन्तर नाचते ही रहते हैं। कई बार तो जननी नीलमणिकी मानसिक मूर्तिमें ऐसी तन्मय हो जाती हैं कि उसे सर्वथा सच मानकर उसीसे सुखी-दुखी हो जाती हैं। कलकी ही तो बात है। ग्रीष्मके आतपने एक क्षुद्र बवंडरका संचार कर दिया, तरुश्रेणी एक बार वेगसे हिल गयी। नन्दरानीके मनपर नाचते हुए नीलमणि एवं इस वायु-प्रवाहका संयोग हो गया। साथ ही सजातीय उपकरण पाकर अन्तश्चेतनामें तृणावर्त दैत्यकी संचित स्मृति भी ऊपर उठ आयी। बस, फिर तो नन्दरानी सत्यको भूलकर तृणावर्तका उत्पात उसी क्रमसे प्रत्यक्ष देखने लगीं। जननीके नेत्रोंके सामने एक बार वही दृश्य नाच उठा—

अकास भूमि धूरि पूरि बृच्छ चूरि ह्वै गये।
प्रचंड धुंधकाल सौं दिसा बिभाग छ्वै गये॥
अदृष्ट दृष्टि दुष्ट देह पुष्ट बीज देखिये।
अघात सब्द कौं करै गरज्ज गाज लेखिये॥
अभीर भीर पीर सौं सपीर धेनु जाल में।
अकाल ग्वाल देखि कै बिहाल ग्वाल बाल में॥
निहारि बाल रूप कौं सगर्ब दूर ह्वै गयौ।
प्रकोपि नंदलाल कौं उठाइ ब्योम लै गयौ॥

तथा जननी 'हाय-हाय' करके दौड़ीं। किंतु समीपमें ही खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र ठीक उसी समय वहाँ आ गये और बोल उठे—'री मैया! मेरी गेंद उद्यानके सरोवरमें गिर गयी, तू दूसरी गेंद दे दे।' इस ध्वनिसे अमृतकी धारा बह चली, धारामें जननीका

मिथ्या स्वप्न बह गया, नीलमणिको हृदयसे लगाकर जननी पुलकित होने लगीं। इसी प्रकार कभी-कभी श्रीकृष्णके बाहर खेलने जानेपर अतीतकी सुखमयी स्मृति भी सजातीय उद्दीपन पाकर जननीके मनमें ऐसी गाढ़ी हो जाती है कि जननी अनुभव करने लगती हैं, मानो इसी क्षण वास्तवमें यह हो रहा है। इतना ही नहीं, तदनुरूप चेष्टा करने लगती हैं। अभी उस दिनकी बात है, वैशाखी अष्टमी थी; व्रजसुन्दरियोंसे परिवृत होकर व्रजरानी अपराजिता-पूजन कर रही थीं। इस अष्टमीकी भावनाने व्रजसुन्दरियोंमें भाद्रपद-अष्टमीकी स्मृति जगा दी; पूजाके बीचमें ही वे सब जोड़ने लगीं कि श्रीकृष्णचन्द्रकी द्वितीय वर्षगाँठमें कितना विलम्ब है। वे दिन गिन रही थीं और व्रजरानीके नेत्रोंके समक्ष प्रथम वर्षगाँठ नाच रही थी। क्षणभरमें ही व्रजेश्वरीकी वृत्ति जन्म-महोत्सवके समीप जा पहुँची और उसमें ऐसी डूबी कि यशोदारानी अपनेको उस समय प्रसूतिगृहमें बैठी अनुभव करने लगीं। वे देख रही थीं—मङ्गलसाजसे सजी—विविध शृङ्गार धारण किये सहस्र-सहस्र व्रजसुन्दरियोंकी अपार भीड़ उमड़ी आ रही है, मेरे नवजात शिशुको देखने आ रही है—

सुनि सिसु पिय प्यारी, नंद के धाम धारी।
कर गहि भरि भारी सौज आनंद थारी॥
उनमद गति राजैं, मत्त मातंग लाजैं।
मनिगन पट साजैं रंग सौंधे बिराजैं॥
मृदु तन बर बेली, संग सोहैं सहेली।
भुज भुज गहि झेली, काम की कोक चेली॥
मदन कल कला-सी, अंग सोभा प्रकासी।
छबि तड़ित लता-सी, सोहती मंद हाँसी॥
सुख बस मुख खोलैं, जातु राकेस जोलैं।
मधुकर मधु डोलैं, कंज के कोस मोलैं॥
उर भरि छबिसाला, मंडती मुक्तमाला।
मुखरित सुरजाला, किंकिनी रव रसाला॥
कटि तर दुति दैनी, डोलती चारु बैनी।
कल रव पिक बैनी, गीत गावैं सुनैनी॥
झल झल झल सोहैं, देखि को हैं न मोहैं।
धुनि सुनि मुनि छोहैं, मंजु मंजीर जोहैं॥
चलि सुवन निहारौ, चंद सोभा उज्यारौ।
तन मन धन वारौ, चित्त छोड़ै न प्यारौ॥
इकटक मुख राहैं, नैन औरै न चाहैं।
फिरि फिरि अवगाहैं, रूप पावै न थाहैं॥

रोहिणी बहिन! प्रसूतिगृहका द्वार सर्वथा उन्मुक्त कर दो, इन सबको जी भरकर मेरे पुत्रको देख लेने दो—व्रजरानी पूजा छोड़कर यह बोल उठीं। गोपसुन्दरियोंने ठठाकर हँस दिया, फिर भी व्रजेश्वरीको ज्ञान नहीं; पूजासम्भार हाथोंमें लिये शान्त बैठी हैं, मानो गोदमें पुत्रको लिये बैठी हों। पूजा स्थगित हो गयी; गोपिकाओंको कोई उपाय न सूझा, जिससे वे यशोदारानीको जगायें। आखिर हँसती हुई रोहिणीजी दौड़ी गयीं, ढूँढ़कर, श्रीकृष्णचन्द्रको खेल छुड़ाकर ले आयीं; उनसे पुचकारकर कहा—'बेटा नीलमणि! देख, तेरी मैया पूजासे रूठी बैठी है; तू ठोड़ी पकड़कर मना ले, मेरे लाल!' रोहिणी मैयाकी बात मानकर श्रीकृष्णचन्द्र अपने धूलिधूसरित अङ्गोंको जननीके वक्षःस्थलपर डालकर, चिबुक पकड़कर बोले—'री मैया! तू पूजासे क्यों रूठी?' अब जाकर कहीं मैयाको वस्तुस्थितिका भान हुआ। वे भी हँस पड़ीं। फिरसे स्नान कर पूजामें लगीं। अस्तु, यह श्रीकृष्णस्मृति ही—जिस समय मैया अत्यन्त आवश्यक कार्यमें, जो कार्य उनके बिना हो ही नहीं सकता, उसमें लगी रहनेके कारण श्रीकृष्णसे अलग रहती हैं, उस समय—उनके जीवनका आधार है। अवश्य ही रह-रहकर जब यह स्फुरण होता है कि मेरा नीलमणि मेरे समीप नहीं है, तब प्राणोंमें टीस-सी चलने लगती है। इसीलिये कितनी बार नीलमणिकी मनुहार करते हुए मैयाने उन्हें समझाया भी है—

इन अँखियनि आगें तैं मोहन, एकौ पल जनि होहु नियारे।
हौं बलि गई, दरस देखे बिनु, तलफत हैं नैननि के तारे॥
औरौ सखा बुलाइ आपने, इहिं आँगन खेलौ मेरे बारे।
निरखति रहौं फनिग की मनि ज्यौं, सुंदर बाल-विनोद तिहारे॥
मधु, मेवा, पकवान, मिठाई, ब्यंजन खाटे, मीठे, खारे।
सूरस्याम जोइ-जोइ तुम चाहौ, सोइ-सोइ माँगि लेहु मेरे बारे॥

किंतु चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्र बाहर चले ही जाते हैं। जननी भी कुलदेव नारायणकी सेवाको, कभी-कभी अन्य कतिपय आवश्यक कार्योंको अपना परम कर्तव्य मानकर उन्मनी-सी हुई यथाविधि पूरा तो कर लेती हैं, पर कार्य पूरा हुआ कि बस, अजातपक्ष शावकके ध्यानमें निमग्न, नीड़की ओर वेगसे उड़ती हुई कपोतीकी भाँति अपने नीलमणिको ढूँढ़ने-देखने चल पड़ती हैं। आज भी नीलमणि खेलनेके लिये कालिन्दीकी ओर चले गये हैं, जननी भी नारायण-सेवाका कार्य करके उधर ही चल पड़ती हैं। शीघ्रतावश सिरसे अञ्चल उतरकर कंधपर आ गया है, वेणी स्खलित हो रही है, पर उन्हें कुछ पता नहीं। तोरणद्वारके समीप संनन्द-पत्नी मिलती हैं, पूछती हैं—'बहिन! इस प्रकार अस्त-व्यस्त हुई कहाँ जा रही हो?' किंतु जननीको अवकाश कहाँ कि ठहरकर उत्तर दें। चलते-चलते ही कह देती हैं—

खेलन कौं हरि दूरि गयौ री।
संग संग धावत डोलत हैं, कह धौं बहुत अबेर भयौ री॥

उद्यानसे उस पार तमालतरुके नीचे विशाल, वृषभ, जम्बी, देवप्रस्थ, वरूथप आदि वयस्योंसे सुरक्षित रहकर बलराम, दाम, सुदाम, वसुदाम, श्रीदाम आदिके साथ मेरा नीलमणि शान्तिपूर्वक खेल रहा है—यह देखकर जननीका हृदय शीतल हो जाता है। जननीके स्तनोंसे दूध झरने लगता है। वे दौड़कर श्रीकृष्णचन्द्रको हृदयसे लगा लेती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी आज गोदमें शीघ्र ही चले आते हैं; क्योंकि आज वे सखाओंसे खेलमें किञ्चित् रूठ गये हैं। जननी एक बार वनकी ओर देखती हैं, फिर नन्दप्रासादके शिखरपर अवस्थित कलशकी ओर। ओह! खेलता हुआ नीलमणि आज इतनी दूर आ गया। आगे सघन वनस्थली है, न जाने कोई हिंस्रजन्तु इसमें घुस आया हो तो? जननी मन-ही-मन काँप उठती हैं। वे सोचती हैं, नहीं, नहीं, चाहे जिस उपायसे हो, इसे इतनी दूर आनेसे रोकना ही है। तत्क्षण मैयाको एक युक्ति भी सूझ जाती है। वे भयकी मुद्रा बनाकर बोल उठती हैं—

दूरि खेलन जनि जाहु लला मेरे, बन में आये हाऊ॥

अच्छा! वनमें 'हाऊ' आया है! श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी बात सुनकर हँसने लगते हैं तथा हँसकर पूछते हैं—मैया! 'हाऊ' को किसने भेजा है?

तब हँसि बोले कान्हर मैया, कौन पठाये हाऊ।

जननीने मन-ही-मन सोचा—मेरी बातका पूरा प्रभाव तो नहीं हुआ, क्योंकि नीलमणि हँस रहा है; पर किञ्चित् भीति इसके नयनोंमें अवश्य आयी है। इसीलिये मैया फिर विविध रचना रचकर वनमें 'हाऊ' की विभीषिका पुत्रको बतलाने लगती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र बड़े ध्यानसे सुनते रहते हैं। जननीका प्रयास इस बार सफल हो जाता है, नीलमणिके नेत्रोंमें भय भर जाता है। मैयाने देखा—अवसर सुन्दर है। वे बोल उठीं—'मेरे लाल! चलो, हमलोग शीघ्र भागकर अपने घर चले जायँ।' तो यह सुनते ही श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी गोदसे उठ खड़े हुए तथा भाग चलनेके लिये बलरामको भी अपने निकट बुलाने लगे—

चलौ न बेगि, सवारें जैयै भाजि आपनें धाम।
सूर स्याम यह बात सुनत ही बोलि लिये बलराम॥

भला, जिनके लिये श्रुतियाँ यह निर्देश करती हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २। ३। ३)

'इन परमेश्वरके भयसे ही अग्नि तपता रहता है, इन्हींके भयसे सूर्य तप रहा है, इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु एवं पाँचवाँ मृत्यु निर्धारित कार्य करते हुए दौड़ते रहते हैं।'

—उन परब्रह्म पुरुषोत्तम परमेश्वरका 'हाऊ' के भयसे भीत होकर भागनेका उपक्रम करना कितना आश्चर्यमय है! बाल्यलीलाविहारिन्! तुम्हारी इस योगीन्द्रमुनीन्द्रमनमोहनी लीलाकी जय हो!

अस्तु, भावपरिवर्तन होनेसे पूर्व ही श्रीकृष्णचन्द्रको घर ले चलना है, यह सोचकर मैया यशोदा शीघ्रतापूर्वक चलनेको उद्यत हुईं। श्रीकृष्णचन्द्र भी अँगुली पकड़कर चलने लगे। ठीक इसी समय बलरामके मुखपर एक

विचित्र तेज छा जाता है। सिरके चारों ओरसे रश्मियाँ-सी निकलने लगती हैं। वाणी परम ओज-समन्वित हो जाती है। एक विचित्र-सी हँसी अधरोंपर नाच उठती है तथा वे अविराम बोलने लगते हैं—

चारि बेद लै गयौ संखासुर, जल में रह्यौ लुकाऊ।
मीन रूप धरि कै जब मार्‌यौ, तबहिं रहे कहँ हाऊ?
मथि समुद्र सुर-असुरनि कैं हित, मंदर जलधि धसाऊ।
कमठ-रूप धरि धर्‌यौ पीठि पर, तहाँ न देखे हाऊ!
जब हिरनाच्छ जुद्ध अभिलाष्यौ, मन में अति गरबाऊ।
धरि बाराह-रूप सो मार्‌यौ, लै छिति दंत-अगाऊ॥
बिकट रूप अवतार धर्‌यौ जब, सो प्रहलाद बचाऊ।
हिरनकसिप-बपु नखनि बिदार्‌यौ, तहाँ न देखे हाऊ॥
बामन-रूप धर्‌यौ बलि छलि कै, तीनि परग बसुधाऊ।
स्त्रम-जल ब्रह्म-कमंडल राख्यौ, दरसि चरन परसाऊ॥
मार्‌यौ मुनि बिनहीं अपराधहि, कामधेनु लै आऊ।
इकइस बार निछत्र करि छिति, तहाँ न देखे हाऊ॥
राम-रूप रावन जब मार्‌यौ, दस-सिर बीस-भुजाऊ।
लंक जराइ छार जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ॥
भक्त हेत अवतार धरे, सब असुरनि मारि बहाऊ।
सूरदास प्रभु की यह लीला, निगम नेति नित गाऊ॥

श्रीकृष्णचन्द्र! भूल गये अपने उस लक्षयोजन-परिमित स्वर्णिम मत्स्य-शरीरको? तुम्हारे शरीरपर उस समय एक बृहत् शृङ्ग था, उसमें सत्यव्रतकी नौका बँधी थी; प्रलयका सागर हिलोरें ले रहा था, सींगमें बँधी वह तरणी तरङ्गोंपर संतरण कर रही थी। सप्तर्षि, समस्त प्राणियोंके सूक्ष्मशरीर एवं समस्त बीजोंको साथ लिये सत्यव्रत उसपर बैठे तुम्हारी स्तुति कर रहे थे; तुम प्रलय-समुद्रमें विहार कर रहे थे। ब्रह्मरात्रिका अवसान होनेतक यह विहार चलता रहा। जब ब्रह्माकी निद्रा टूटी तब तुम शङ्खासुर हयग्रीव दैत्यकी ओर दौड़े। इसी दैत्यने, जिस समय ब्रह्मा सोये थे, उनके मुखसे निर्गत चारों वेदोंका—श्रुतियोंका अपहरण कर लिया था, हरण करके जलमें—पातालमें छिपा बैठा था; मत्स्यरूप तुमने उस दैत्यको मार डाला—

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।

(श्रीमद्भा० ८। २४। ६१)

वहाँ उस दैत्यके आवासमें अथवा प्रलय-समुद्रके किसी भागमें तो 'हाऊ' नहीं मिला। बताओ, कहीं था क्या? तथा उस दिनकी बात याद करो—समुद्रमन्थन होने जा रहा था, किंतु वह सुवर्णमय मन्दर अपने भारसे समुद्रमें निमग्न होने लगा। बलवान् देवोंने, असुरोंने सारी शक्ति लगा ली; पर वे मन्दराचल-मन्थनदण्डको थाम न सके, मन्दर डूब चला। देवोंका मुख म्लान हो गया था। पर तुम्हें दया आ गयी; तुम तत्क्षण एक विशाल विचित्र कच्छपका रूप धारणकर जलराशिमें प्रवेश कर गये, डूबते हुए मन्दरको पीठपर रखकर ऊपर उठा दिया।

कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥

(श्रीमद्भा० ८। ७। ८)

तब कहीं समुद्रमन्थन हो सका। पर 'हाऊ' तो उस समुद्रमें भी कहीं न दीखा, तुम्हारे उस लक्षयोजन विस्तीर्ण पीठके समीप कभी 'हाऊ' मैंने नहीं देखा। इससे भी पूर्वकी घटना स्मरण करो—रसातलका वह देश, तुम्हारे विकट वाराहरूपकी दंष्ट्राग्रपर अवस्थित अवनी, तुम पृथ्वीदेवीको लिये आ रहे थे; बलगर्वसे मत्त हिरण्याक्षने तुम्हें ललकारा—'रे अज्ञ! वनपशु! यह धरा तो रसातलकी सम्पत्ति बन चुकी है, इसे छोड़ दे। रे सूकराकृति सुराधम! मैं जानता हूँ, तेरा बल योगमाया है, इसके सिवा तुझमें पौरुष कहाँ? किंतु अब तेरा कल्याण नहीं, तेरे जीवनकी इतिश्री अभी इसी क्षण किये देता हूँ; फिर देव-ऋषि तो छिन्नमूल वृक्षकी भाँति स्वयं ही नष्ट हो जायँगे।' उस समय श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हें याद है, पहले तो तुमने दैत्यसे डरी हुई धरादेवीको जलके ऊपर स्थापित किया, उनमें अपनी आधारशक्ति संचरित कर दी; यह करके हिरण्याक्षसे व्यङ्ग करने लगे, कुछ देर उसकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये उससे युद्ध करने लगे। अपनी सारी

आसुरी मायाका उसने प्रयोग कर लिया, पर तुम अक्षत रहे; अन्तमें उसे एक चपत तुमने लगा दी, बड़ी उपेक्षासे। किंतु वह उपेक्षाकी चपत दैत्यके लिये तो मृत्यु थी; उसके नेत्र निकल आये, शरीर घूमने लगा, हाथ-पैर-केश छिन्न-भिन्न हो गये, झंझावातसे उखड़े हुए विशाल वृक्षकी भाँति हिरण्याक्ष पृथ्वीपर निष्प्राण हो गिर पड़ा—

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपत-
द्यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता॥

(श्रीमद्भा० २। १९। २६)

—उस समय कहींपर भी रसातलमें तुमने 'हाऊ' देखा था क्या? अच्छा, इसे भी छोड़ो। क्या अपने उस विकराल नृसिंह-शरीरकी तुम्हें विस्मृति हो गयी है? तुम्हारा वह विशाल शरीर स्वर्गको छू रहा था, ग्रीवा कुछ छोटी पर अत्यन्त पुष्ट थी, वक्षःस्थल अत्यन्त प्रशस्त एवं कटिदेश क्षीण था, चन्द्रकिरण-जैसी उज्ज्वल रोमावलि सारे शरीरपर चमचम कर रही थी, शत-शत भुजाएँ चारों ओर फैली हुई थीं। उनमें बड़े-बड़े नख थे, जो आयुधका काम दे रहे थे। तुम्हारी वे तप्तस्वर्ण-जैसी पीली-पीली आँखें, खड्गकी भाँति लपलप करती, क्षुरधारा-जैसी तीक्ष्ण तुम्हारी जिह्वा, ऊपरकी ओर उठे हुए कर्णयुगल, पर्वतकन्दरा-जैसी तुम्हारी नासिका एवं मुख—ये कितने भयंकर थे। इस भयानक रूपसे ही तुम उस स्तम्भके अन्तरालसे सभामें निकले थे, भृत्यकी बात सत्य करने आये थे। प्रह्लादने कहा था, 'मेरे प्रभु सर्वत्र हैं, इस खंभेमें भी हैं।' इस वचनसे क्रुद्ध होकर अविश्वासी हिरण्यकशिपु उसका प्राण हरण करने जा रहा था, इसीलिये प्रह्लादके वचनको नित्य-सत्य सिद्ध करने एवं हिरण्यकशिपुका विनाश कर प्रह्लादको बचाने आये थे। हिरण्यकशिपु तुमपर टूट पड़ा, तुम भी उससे खिलवाड़ करने लगे; पर देवता तो अतिशय भयभीत हो रहे थे। उन्हें निर्भय करते हुए तुमने अट्टहास किया; फिर, आयास बिना ही, जैसे सर्प चूहेको पकड़ लेता है, वैसे तुमने हिरण्यकशिपुकी उस देहको दबोच डाला, जिस देहपर वज्रके प्रहारसे भी क्षत (घाव) न होते थे। अपनी उस वज्रप्रतिम देहको तुम्हारे हाथसे मुक्त करनेके लिये हिरण्यकशिपु चारों ओर छटपट कर रहा था, पर वह छूटता जो न था। सभामण्डपके द्वारपर उसे उठाकर तुम ले गये, जाँघोंपर गिरा दिया; फिर जैसे गरुड़ महाविषधर सर्पको क्षणमें चीर डाले, वैसे तुमने खेल-खेलमें ही उसका शरीर फाड़ डाला—

विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।
द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। २९)

—बताओ, श्रीकृष्ण! उन अपने नृसिंहविग्रहकी विकट आँखोंसे दैत्येन्द्रपुरीमें तुमने कहीं भी 'हाऊ' देखा क्या? अरे, हिरण्यकशिपुको भी जाने दो। प्रह्लादके प्रपौत्र बलिकी गाथा स्मरण करो—वामनरूप हुए तुम भृगुकच्छकी* ओर बढ़ रहे थे। तुमपर बलिके ऋत्विजोंकी दृष्टि पड़ी, उन्हें प्रतीत हुआ—मानो भुवनभास्कर उदय हो रहे हों। एकने दूरसे देखकर कहा—अग्नि हैं; दूसरेने कहा—नहीं, सनत्कुमार हैं। छत्र, दण्ड एवं जलपूरित कमण्डलु लिये तुम यज्ञमण्डपमें जा पहुँचे; विरोचनपुत्रसे तुमने तीन पग पृथ्वीकी याचना की। आचार्य शुक्र तुम्हें जान गये; अपने शिष्य बलिको शक्तिभर रोका कि दानका संकल्प मत करना। किंतु उस सत्यप्रतिज्ञ वीर दैत्येन्द्र बलिने संकल्प कर ही दिया। बस, फिर तो तुम्हारा वह बौना शरीर बढ़ा—इतना विशाल बन गया कि पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, ऋषि—सब उसीमें समा गये। बलिने स्पष्ट देखा—तुम्हारे चरणतलमें तो रसातल अवस्थित है, एवं मस्तकमें स्वर्ग; सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत्को ही

* नर्मदाके उत्तर तटपर स्थित एक स्थान। यहीं बलिके ऋत्विज् यज्ञानुष्ठान कर रहे थे।

उन्होंने तुममें संस्थित देखा। इसके पश्चात् एक पगसे ही बलिपरिपालित सारी पृथ्वी तुमने नाप ली, दूसरेसे स्वर्ग नाप लिया, तीसरेके लिये किञ्चित्मात्र भी स्थान नहीं था; क्योंकि तुम्हारा दूसरा पग ही ऊपर उठता हुआ महर्लोक, जनलोक, तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें जा पहुँचा था। तुम्हारी नखचन्द्रछटाके सामने सत्यलोककी आभा मलिन हो गयी थी; पद्मयोनिने आनन्दमें भरकर पाद्य अर्पण करते हुए स्वेदविन्दुविभूषित उन चरणोंको प्रक्षालित किया। उस प्रक्षालित जलको धारणकर ब्रह्मकमण्डलुका शेष जल भी पवित्र, पवित्रतम हो गया; वह जल ही सुरधुनीकी धारा बन गयी। आकाशपथसे गिरकर वह त्रिलोकको पवित्र बनानेवाली हुई, तुम्हारी विशद कीर्तिकी मूर्ति वह धारा आजतक तीनों लोक पावन कर रही है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० ८। २१। ४)

—अस्तु, बताओ श्रीकृष्णचन्द्र! दो पगसे ब्रह्माण्ड नापते हुए, तीसरा पग बलिके सिरपर रखते समय कहीं भी तुम्हें 'हाऊ' देखनेको मिला क्या? ओह! ऐसे बने हो, मानो क्षत्रियकुलके अगणित छिन्न नरमुण्डोंकी तुम्हें विस्मृति हो गयी हो, उस भीषण रक्तधाराको जैसे भूल गये हो। तुम परशुरामरूपमें अवतीर्ण हुए, महर्षि जमदग्निके पुत्र बने। हैहयाधिपति सहस्रार्जुनने तुम्हारे पिताकी कामधेनु हर ली थी; तुमने देखते-देखते अमितबलशाली सहस्रार्जुनको मार डाला, कामधेनु लौटा ली; किंतु सहस्रार्जुनके पुत्रोंने इसका अमानुषिक बदला लिया; तुम उस समय आश्रममें नहीं थे, वे अर्जुनपुत्र आये। तुम्हारी जननी रेणुकाने रो-रोकर उन्हें रोका भी; पर उन दुष्टोंने अपराधशून्य जमदग्निका सिर काट ही डाला, काटकर भाग गये। फिर तो तुम्हारे परशुसे माहिष्मती नगरी रक्तप्लावित हो उठी। माहिष्मतीके चौकपर दस सहस्र अर्जुनपुत्रोंके कटे सिरोंका पर्वत बन गया था। समस्त क्षत्रियकुल ही उस समय अत्याचारी बन गया था; इसलिये इसी निमित्तसे तुमने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया, समन्तपञ्चक-तीर्थमें—कुरुक्षेत्रमें तुमने शोणितसे पूर्ण ह्रद (तालाब) बना दिये थे—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप॥

(श्रीमद्भा० ९। १६। १९)

—भला, बताओ, उस रक्तपातकी यात्रामें कहीं भी तुम्हें 'हाऊ' दीख पड़ा क्या? अच्छा, इस क्षत्रियकुल-नाशन रूपको भूल जाओ। क्षत्रियकुलभूषण रघुकुलमणि नयनाभिराम, जलधरश्याम रामरूपको तो स्मरण करो; व्रजेन्द्रपुत्र! कौशलेन्द्रपुत्रकी लीला याद करो। श्रीअवधका वह आँगन, लक्ष्मणसहित विश्वामित्रका अनुगमन, मख-रक्षण, श्रीजनकनन्दिनी सीताके स्वयंवरमें धनुषभञ्जन, अनन्तगुणशालिनी वैदेहीका वरण, अवधपुर लौटते समय परशुरामका गर्वभञ्जन, पितु-आज्ञासे वनगमन, सीताहरण, समुद्रमें सेतुबन्धन—इन सबकी क्या तुम्हें विस्मृति हो गयी है? क्या दशमुख रावणके साथ युद्धकी घटना भी स्मरण नहीं? ओह! तुम्हारे बाणोंसे जर्जर हुई लङ्कानगरीके रणाङ्गणमें निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक, प्रहस्त, अतिकाय, विकम्पन, मेघनाद, कुम्भकर्णके शरीर निष्प्राण पड़े थे। तब दशमुख आया था। तुमने अपने धनुषपर संधान किये हुए बाणको उसपर छोड़ दिया; इस बाणने उसके वज्रहृदयको भी विदीर्ण कर दिया; दसों मुखोंसे रक्तकी धारा बह चली। क्षीण पुण्य हुए प्राणी जैसे स्वर्गसे गिर पड़ते हैं, वैसे ही वह विमानसे नीचे गिर पड़ा; पुरजन-परिजन हाहाकार कर उठे—

एवं क्षिपन् धनुषि संधितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद।
सोऽसृग् वमन् दशमुखैर्न्यपतद् विमाना-
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः॥

(श्रीमद्भा० ९। १०। २३)

—बोलो श्रीकृष्णचन्द्र! श्रीरामचन्द्रके रूपमें तो अवधसे लङ्कापर्यन्त घूमे हो, उस पथमें कहीं भी 'हाऊ' तो नहीं दीखा?

—इस प्रकार बलराम आवेशमें बहुत कुछ बोल गये। जननी यशोदा किञ्चित् आश्चर्य करती हुई-सी सुन रही हैं। उन्हें इतना ही प्रतीत हो रहा है कि बलराम उमंगमें भरकर उनके इष्टदेव नारायणकी लीला गा रहे हैं। जननी सोचती हैं—समय-समयपर, नारायण-उत्सवके समय नटोंद्वारा अभिनीत लीलाएँ इसने देखी हैं, सूत-मागधोंके गान इसने सुने हैं, तीक्ष्णबुद्धि बालकको ये लीलाएँ स्मरण हो गयी हैं। वे हँसकर आँचलसे बलरामका मुख पोंछकर कहती हैं—'मेरे लाल बलराम! तू तो बड़ी-बड़ी बात सीख गया!' जननीका हँसना था कि बलरामके मुखका वह विचित्र तेज, वाणीका वह ओज, बाल्येतर सभी भाव अन्तर्हित हो गये। पुनः पूर्वकी माधुरी गौरमुखारविन्दपर खेलने लग जाती है। श्रीकृष्णके प्रवाल-जैसे अरुण अधरोंपर भी मन्द मुसकान तो अवश्य है, पर नेत्रकमलोंमें जननीवर्णित 'हाऊ' की स्मृति, तज्जन्य भयके चिह्न भी झलक रहे हैं। हाँ, गोपसखाओंके मुखपर अत्यन्त आश्चर्य छाया हुआ है—बलरामकी बात सुनकर नहीं, आकाशपथमें देववृन्दोंका तुमुल जय-जयकार सुनकर। बालक 'जय हो जय हो' यह ध्वनि सुन रहे हैं, पर सिर उठानेपर कुछ भी देख नहीं पाते!

बायीं ओर श्रीकृष्णचन्द्र, दाहिनी ओर बलराम एवं बीचमें जननी हैं; जननीकी अँगुली पकड़े दोनों घरकी ओर जा रहे हैं। पता नहीं कैसे, प्रासादसे तमालवनतकका इतना लंबा पथ क्षणभरमें ही समाप्त हो गया और जननी पुत्रोंको लिये द्वारके सामने आ गयीं। फिर भवनमें प्रवेश कर गयीं। अनेकों भोजन-सामग्रियाँ परोस-परोसकर बड़े स्नेहसे सखाओंके साथ पुत्रोंको भोजन करवाया, फिर उनके खेलमें स्वयं सम्मिलित हो गयीं।

आजका दिन गया, संध्या आयी, रजनी आयी, उषा आयी, प्रभात आया। इसी क्रमसे, श्रीकृष्णचन्द्रकी आजकी क्रीडा समाप्त हुई। व्यारू हुई, वे सो गये, जननीकी तन्द्रा टूटी, श्रीकृष्णचन्द्रको उन्होंने जगाया। जगाकर, मुख धुलाकर, कलेवा कराकर शृङ्गार करके खेलनेकी अनुमति दे दी। स्वयं आँगनमें बैठकर दधिमन्थन करने लगीं। किंतु श्रीकृष्ण आज खेलने नहीं जाते। जननीके पास खड़े होकर तुरंतका मथित माखन माँगने लगते हैं। जननी इस माखनका मूल्य माँगती है। श्रीकृष्णचन्द्र भी मूल्य चुकानेमें संकोच नहीं करते। अमरवृन्दके आनन्दनादसे अन्तरिक्ष भर जाता है। ओह! त्रिभुवननाथ तो आज माखनके लोभसे नाच रहे हैं।

जसुमति दधिमंथन करति, बैठी बर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हँसत नान्हि दँतियनि छबि छाजै।
चितवत चित लै चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन-हरन काज मोहिनि दल साजै॥
जननि कहति नाचौ तुम, दैहौं नवनीत मोहन,
रुनुक-झुनुक चलत पाइ, नूपुर-धुनि बाजै।
गावत गुन सूरदास, बाढ्यौ जस धुव अकास,
नाचत त्रैलोकनाथ माखन के काजै॥

मणिस्तम्भ-लीला (प्रथम नवनीत-हरण-लीला)

ग्वालिनने प्रत्याशाभरी आँखोंसे व्रजरानीकी ओर देखा। कदाचित् कोई-सा कार्यभार वे मुझे पुनः सौंप दें, कुछ क्षण यहाँ और रुक जानेका मिस हो जाय, श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य निहारकर मैं शीतल होती रहूँ—अन्तस्तलके ये आकुलभाव उसके नेत्रोंकी ओटसे झाँक रहे थे। इधर रन्धनशालाके द्वारपर अवस्थित व्रजरानी भी सोच रही थीं—क्या करूँ? किसकी सहायता लूँ? रोहिणीजी तो समागत ब्राह्मणोंकी सेवा-सत्कारमें लगी हैं, परिचारिकाएँ गोष्ठसे आये हुए दुग्धपूरित कलशोंको यथास्थान रखनेमें अत्यन्त व्यस्त हैं, व्रजेश्वर नारायण-सेवामें संलग्न हैं, शीघ्र ही भोगसामग्रियोंको नारायणमन्दिरमें पहुँचा देनेका आदेश भी आ चुका है, दधि-मन्थनका कार्य अधूरा छोड़कर मैं उठ भी आयी; पर मेरा नीलमणि स्तन्यपानके लिये अञ्चल पकड़े खड़ा है, स्तन्यपानके लिये मचल रहा है। इसे दूध पिलाकर, पुनः वस्त्रपरिवर्तन कर मैं रन्धनशालामें तो चली जाऊँगी; किंतु इस आधे मथे दहीसे माखन तो निकला नहीं। विलम्ब होनेपर तो निकलेगा ही नहीं। फिर पद्मगन्धा कजरीके दूधका सद्योमथित नवनीत आज मैं अपने नीलमणिको कैसे दे पाऊँगी? अच्छा, इस ग्वालिनसे बिलोनेको कह दूँ क्या.......... ? बस, दो हृदयकी ये चञ्चल धाराएँ अज्ञात चेतनाके धरातलपर जा मिलीं, व्रजरानी उस गोपसुन्दरीकी ओर दृष्टि फेरकर कह ही तो उठीं—

पाहुनी, करि दै तनक मह्यौ।
हौं लागी गृह-काज-रसोई, जसुमति बिनय कह्यौ।
आरि करत मनमोहन मेरौ, अंचल आनि गह्यौ॥

अब तो उसके हर्षका पार नहीं। आनन्दमें निमग्न वह मथानीकी ओर चली। अवश्य ही उसकी दृष्टि मथानीको नहीं देख पा रही है, दृष्टि तो यशोदारानीके अङ्कमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रके रूपसे भरी है। वह कुञ्चित केशकलाप, ललाटका वह केसरबिन्दु, रतनारे चञ्चल नयन, सुढार युग्म कपोल, अरुणिम अधर, कठुलाभूषित कम्बुकण्ठ, व्याघ्रनखराजित वक्षःस्थल, सुन्दर नाभिकमल, किङ्किणीभूषित कटिदेश, सुकोमल छोटे बाहुयुगल, हस्तकमल, सुन्दर मनोहर जानु, गुल्फ, चरणतल—गोपसुन्दरीके नेत्रमें तो ये भरे हैं; मथानी समा सके, इतना अवकाश नेत्रोंमें कहाँ। इसीलिये अनुमानसे मथानीके समीप वह जा तो पहुँची, पर देख न पा सकी कि कहाँ क्या है। आते ही दधिभाण्डसे चरणोंका वेगपूर्ण स्पर्श हुआ, वह दधिपात्र उलटा हो गया, दहीकी धारा बह चली। गोपसुन्दरीने हाथसे टटोलकर केवल यह समझा कि मटका तिरछा हो गया है, अपनी जानमें सीधा करके वह बिलोने चली। प्रेमविवश हुई ग्वालिन यह नहीं जानती कि वह रीते पात्रमें ही मन्थनदण्ड चला रही है, दही तो बाहर बह गया है—

ब्याकुल मथति मथनिया रीती, दधि भुव ढरकि रह्यौ।

यशोदारानीने भी तब जाना कि जब श्रीकृष्णचन्द्र स्तन्यपानसे विरत होकर हँसते हुए-से उस ग्वालिनकी ओर देखने लगे, जननीको उस ओर देखनेके लिये इङ्गित करने लगे। अन्यथा जननी तो बिलोनेका आदेश देकर अपने नीलमणिमें ऐसी उलझ गयी थीं कि अन्य सब कुछ विस्मृत हो गया था। वे तो अपने नीलमणिको स्तन्यदान करनेमें तन्मय हो रही थीं। श्रीकृष्णचन्द्रने ही उन्हें जगाया तथा जागकर जननीने देखा—हैं! माखन तो बहता जा रहा है! जननीने पुकारकर कहा—'री सखी! नेक अपनेको सम्हाल!' अब कहीं जाकर व्रजसुन्दरीको मथानीकी, दधिपात्रकी वास्तविक अवस्थाका भान हुआ। फिर तो संकोच-लज्जामें वह बह चली। व्रजरानीको भी संकोच हुआ कि इसकी सुखसमाधि मैंने तोड़ दी—

माखन जात जानि नँदरानी, सखी! सम्हारि, कह्यौ।
सूर स्याम-मुख निरखि मगन भइ, दुहुन सँकोच सह्यौ॥

इसके दूसरे दिनकी बात है। ग्वालिन पुनः नन्दभवनमें आयी। आकर देखा—व्रजेश्वरी दूध पीनेके लिये अपने नीलमणिकी मधुर मनुहार कर रही हैं। अग्रज बलराम भी समीप ही बैठे हैं। उन्होंने तो जननीका लाड स्वीकारकर दूध पी लिया, किंतु हठीले श्रीकृष्णचन्द्र नहीं पीते। अन्तमें जननी बड़ी ही

आकर्षक युक्ति अपने पुत्रके सामने रखती हैं—

कजरी कौ पय पियहु लाल (मेरे)! जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसैं देखि और ब्रज-बालक, त्यौं बल-बैस चढ़ै॥

तथा इस प्रलोभनमें श्रीकृष्णचन्द्र फँस ही जाते हैं। कजरीके दुग्धपानसे मेरी वेणी बड़ी लंबी हो जायगी, इस उल्लासमें भरकर वे दूध पीने लग जाते हैं; किंतु साथ-साथ अपने घनकृष्ण केशोंपर हाथ रखकर देखते जा रहे हैं कि वेणी वास्तवमें बढ़ी या नहीं। जब बढ़ती नहीं दीखती, तब उन्हें अपनी जननीकी वञ्चनाका भान होता है। उस समय उनके मुखारविन्दपर नाचती हुई विविध भावलहरियोंकी शोभा देखने ही योग्य है। पराजयका रोष, अब भविष्यमें दुग्धपानसे विरत होनेकी भावना, जननीके प्रति अविश्वास, क्षुधाकी निवृत्ति, दुग्धपानजन्य स्वाभाविक तृप्ति—ये सब एक साथ उनके कमनीय मुखकमलपर व्यक्त हो रहे हैं। यशोदारानी हँसी संवरण न कर सकीं—

पुनि पीवतहीं कच टकटोरत, झूठहि जननि रढ़ै।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै॥

अपनेको भूली-सी रहकर ग्वालिन यह दृश्य देख रही थी! इतनेमें जननीसे रूठे हुए श्रीकृष्णचन्द्र वहाँसे उठकर उसके समीप आकर खड़े हो गये। ग्वालिनका उनके शरीरसे किञ्चित् स्पर्श हो गया। फिर तो वह बाह्यज्ञानशून्य हो गयी। जब चेतना हुई, तब घरके लोगोंने उसे बताया, पूरे आठ पहर वह प्रस्तर-प्रतिमाकी भाँति निस्पन्द बैठी थी। किंतु वह नन्दभवनसे अपने आवासमें कैसे चली आयी, यह प्रश्न किसीके मनमें उदय न हुआ; स्वयं ग्वालिनने भी इसका रहस्य न जाना। जाननेका अवकाश ही जो न था। वह तो निरन्तर देख रही थी—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र दुग्धपान कर रहे हैं एवं वेणी बढ़ी कि नहीं, इसकी परीक्षा कर रहे हैं। जब समाधिसे बाहर आयी, तब भी झाँकी नेत्रोंके सामने बनी ही थी; चिर अभ्यासवश आधी घड़ीमें ही उसने आवश्यक गृहकार्यकी व्यवस्था कर दी और नन्दभवनकी ओर दौड़ चली। अस्तु—

आज तीसरे दिन वह पुनः आयी है तथा देख रही है—विविध पक्वान्न-मिष्टान्न थालोंमें सजाकर सामने रखकर व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रको लाड लड़ा रही हैं; किंतु पक्वान्न भोजन करनेकी बात तो दूर, श्रीकृष्णचन्द्र उस ओर ताक भी नहीं रहे हैं, बल्कि खीझकर कह रहे हैं—

मैया री, मोहि माखन भावै।
जो मेवा-पकवान कहति तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥

वह गोपसुन्दरी श्यामसुन्दरके ठीक पीछे खड़ी है; श्रीकृष्णचन्द्रके मधुर वचनोंसे अमृत झर रहा है, उसे पीकर वह मत्त होती जा रही है। इस मत्तताके आवेशवश ही उसके अन्तस्तलमें आज सहसा एक वासना जाग उठती है—'क्या श्रीकृष्णचन्द्र कभी मेरे घर चलेंगे, मेरे घरका नवनीत ग्रहण करेंगे? पर मेरे सामने रहनेपर तो ये संकुचित हो जायँगे! अतः मैं तो दधि-मन्थन करके छिप जाऊँ और तब ये मथानीके समीप जायँ, वहाँ बैठकर यथारुचि माखन आरोगें; मैं यह देखकर निहाल हो जाऊँ। मेरे नेत्रोंकी यह साध कभी पूरी होगी क्या?'

ग्वालिन तो अपनी जानमें अपने मनमें मनोरथचित्र अङ्कित कर रही है, पर ये अङ्कित हो रहे हैं अनन्तैश्वर्यनिकेतन, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, प्रेमके भूखे, सर्वान्तर्यामी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके मनःपटलपर—

बैठैं जाइ मथनियाँ कें ढिग, मैं तब रहौं छपानी।
सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि मन की जानी॥

इस मनोरथके प्रवाहमें ग्वालिनका मन ही नहीं, शरीर भी मानो बह चला। सहसा वह नन्दभवनसे लौट पड़ी, अपने घर आ पहुँची। जाते समय दधिमन्थन किये बिना ही चली गयी थी। अब आकर यन्त्रपरिचालितकी भाँति दही बिलोने लग जाती है। रह-रहकर उसे ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो श्रीकृष्णचन्द्र उसके द्वारपर पधारे हैं; अचकचाकर वह कभी-कभी विस्फारित नेत्रोंसे द्वारकी ओर देखने भी लग जाती है, पर द्वार सूना पाकर पुनः अपने भावोंमें विभोर हो जाती है। उसे यह पता नहीं कि मनोरथतन्तुमें बँधे, आकृष्ट होते हुए वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र वास्तवमें ही उसके घरकी ओर चल पड़े हैं।

सचमुच ज्यों ही गोपसुन्दरी नेत्रोंसे ओझल हुई कि बस, श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी गोदसे कूदकर बाहरकी

ओर भाग चले। जननीने लपककर थाम तो लिया, पर अतिशय चेष्टा करके भी आज पक्वान्न-मिष्टान्न वे उन्हें न खिला सकीं। केवलमात्र किञ्चित् माखन मुखमें डाल सकीं। आज क्षणभरका भी विलम्ब श्रीकृष्णचन्द्रको सर्वथा असह्य हो रहा है। वे हाथ छुड़ाकर आखिर भाग ही गये। यशोदारानीको भी आश्चर्य हो रहा है; क्योंकि नीलमणिको बाहर जानेके लिये इतना अधिक व्यग्र उन्होंने पहली बार देखा है। अस्तु,

श्रीकृष्णचन्द्र क्षणभरमें ही गोपसुन्दरीके घरपर चले आये—

गए स्याम तिहिं ग्वालिनि कें घर।
देख्यौ द्वार नहीं कोउ, इत-उत चितै, चले तब भीतर॥

बलराम एवं अन्य गोपबालक घरसे उनके साथ अवश्य चले थे; किंतु पथमें सभी पीछे रह गये, भ्रान्त होकर दूसरी ओर बढ़ गये। श्रीकृष्णचन्द्र निर्बाध एकाकी ग्वालिनके घरपर आये हैं। ग्वालिनने द्वारकी ओर देखा—हैं! नन्दनन्दन तो मेरे द्वारपर खड़े हैं। ओह! यह रूप! ग्वालिनके प्राणोंमें स्पन्दन होने लगता है। पर क्षणभरका भी विलम्ब मनोरथको तोड़ देगा! ग्वालिन विद्युद्गतिसे मणिस्तम्भकी ओटमें अपनेको छिपा लेती है—

हरि आवत गोपी जब देख्यौ, आपुन रही छपाई।

तब श्रीकृष्णचन्द्र चुपचाप भीतर प्रवेश कर जाते हैं, मथानीके निकट जाकर शान्त-मौन होकर बैठ जाते हैं—

सूनें सदन मथनियाँ कें ढिग बैठि रहे अरगाई।

ओह! उस समय उनकी अतुलित शोभा निहारकर गोपसुन्दरीका अणु-अणु मानो झंकार कर उठता है—

मुख पर चंद डारौं वारि।
कुटिल कच पर भौंर वारौं, भौंह पर धनु वारि॥
भाल केसर तिलक छबि पर मदन सत सत वारि।

× × ×

नयन खंजन मीन वारौं, कमल के कुल वारि॥

× × ×

झलक ललित कपोल छबि पर मुकुर सत सत वारि।
नासिका पर कीर वारौं, अधर विद्रुम वारि॥
दसन पर कन बज्र वारौं, बीज दाडिम वारि।
चिबुक पर चित बित्त वारौं, प्रान वारौं वारि॥
सूर प्रभु की निरखि सोभा को सकै निरुवारि।

किंतु अब वह सौन्दर्यसागर मानो तरङ्गित हो उठता है, श्रीकृष्णचन्द्र ग्वालिनके मनोरथकी पूर्ति करते हुए नवनीत-हरणकी लीला करने चलते हैं। उनके पास ही नवनीतपूर्ण एक पात्र पड़ा है। चञ्चल नेत्रोंसे एक बार वे द्वारकी ओर देखते हैं तथा फिर पात्रमेंसे माखन निकालकर खाने लग जाते हैं। सहसा मणिस्तम्भमें उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। उन्हें प्रतीत होता है कि मेरे आनेसे पूर्व एक अन्य शिशु यहाँ आया है, मणिस्तम्भसे सटकर खड़ा है। श्रीकृष्णचन्द्रको यह भय होने लगता है कि कहीं यह मेरी चोरी प्रकट न कर दे। वे उसे प्रलोभित करने लगते हैं। उससे कहते हैं—'भैया! देख, तू किसीसे मेरी बात बता न देना, भला! आजसे हम दोनों साथी हुए, हमलोग सभी वस्तु आधी-आधी बाँट लेंगे। यह ले, मैं खा रहा हूँ; तू भी खा!' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्र अपने हाथोंसे नवनीत उठाकर प्रतिबिम्बके मुखमें डाल देते हैं। तत्क्षण माखन नीचे गिर जाता है। वे सोचते हैं, शिशु रूठा हुआ है। उसे पुनः समझाते हैं—'अरे! तू फेंक क्यों दे रहा है? बावला हो गया है! नहीं भैया, यह ठीक नहीं; तू भी खा ले, मैं भी खाऊँ। अच्छा, बाँटकर खायगा? ले, यह एक लौंदा तेरे हाथपर, एक मेरे हाथपर। हैं! तूने फिर गिरा दिया! क्या सब लेना चाहता है? नहीं-नहीं, यह तो उचित नहीं। अच्छा, अब तू मान जा, खा ले; देख, कितना मीठा है! यदि तुझे भी अत्यन्त रुचिकर लगे तो मैं कमोरी भरकर तुझे माखन दूँ।'

नन्दनन्दनकी यह मुग्ध चेष्टा देखकर ग्वालिनके हृदयमें प्रेम-समुद्र लहराने लगता है, रसतरङ्गोंके आवेगसे धैर्यका बाँध टूट जाता है। आनन्दपूरित हँसीके रूपमें तरंगें मुखसे बाहर आ जाती हैं, ग्वालिन स्तम्भकी ओटसे मुख निकालकर हँसने लग जाती है। बस, फिर तो यवनिका गिर गयी। दृश्य परिवर्तित हो गया। श्रीकृष्णचन्द्रने ग्वालिनको देख लिया। एक अप्रतिम सुमधुर संकोचकी छाया नन्दनन्दनके मुखचन्द्रको आवृत कर लेती है, साथ ही वे तुरंत उठकर कुञ्जवीथीकी ओर भाग चलते हैं—

आजु, सखी! मनि-खंभ निकट हरि, जहँ गोरस कौ गों री।
निज प्रतिबिंब सिखावत ज्यौं सिसु, प्रगट करै जनि चोरी॥
अरध बिभाग आजु तैं हम-तुम, भली बनी है जोरी।
माखन खाहु, कतहिं डारत हौ, छाँड़ि देहु, मति भोरी॥
बाँट न लेहु, सबै चाहत हौ, यहै बात है थोरी।
मीठौ अधिक, परम रुचि लागै, तौ भरि देउँ कमोरी॥
प्रेम उमँगि धीरज न रह्यौ, तब प्रगट हँसी मुख मोरी।
सूरदास प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी॥

ओह! जिनसे इस जगत्का सृजन, संस्थान, संहार है, जिनकी सत्तापर ही जगत्की सत्ता अवलम्बित है, जगत्का अवसान हो जानेपर भी जो अक्षुण्ण रहते हैं, जो सर्वज्ञ हैं, अखण्ड अबाध ज्ञानसम्पन्न हैं, स्वयंप्रकाश हैं, जो अपने संकल्पमात्रसे पद्मयोनिमें वेदज्ञानका विस्तार करते हैं, जिनके सम्बन्धमें योगीन्द्र-मुनीन्द्र विमोहित हो जाते हैं, जिनके ज्ञानमय प्रकाशसे माया सदा निरस्त रहती है, उनका अपने प्रतिबिम्बसे मोहित हो जाना कितना आश्चर्यमय है! जिस मायासे मोहित होकर जगत्के मूढ़ प्राणी 'मैं-मेरे' का प्रलाप कर रहे हैं, वही माया जिनके दृष्टिपथमें ठहर भी नहीं पाती, लज्जित होकर भाग खड़ी होती है—

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥

(श्रीमद्भा० २। ५। १३)

—उनका मणिस्तम्भमें अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर भ्रमित हो जाना कितना मोहक है! ओह! जिन विराट्के कटिसे ऊपरके भागमें भूलोक, नाभिमें भुवर्लोक, हृदयमें स्वर्लोक, वक्षःस्थलमें महर्लोक, ग्रीवामें जनलोक, स्तनोंमें तपोलोक एवं मस्तकमें सत्यलोककी कल्पना है, कटिदेशमें अतल, ऊरुओंमें वितल, जानुओंमें सुतल, जङ्घाओंमें तलातल, गुल्फोंमें महातल, एड़ियोंमें रसातल एवं पादतलमें पाताल कल्पित है; जिन विराट्के मुखसे वाणी एवं अग्नि उत्पन्न हुए; गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती, पङ्क्ति एवं जगती—ये सात छन्द जिनकी सात धातुओंसे निर्गत हुए; हव्य, कव्य, अमृतमय अन्न, समस्त रस, रसनेन्द्रिय एवं वरुण जिनकी जिह्वासे निस्सृत हुए; पञ्चप्राण एवं वायु जिनके नासाछिद्रोंसे उद्भूत हुए; अश्विनीकुमार, ओषधिसमुदाय, मोद (साधारण गन्ध), प्रमोद (विशेष गन्ध) जिन विराट्की घ्राणेन्द्रियसे उत्पन्न हुए; रूप एवं तेज जिनके नेत्रेन्द्रियसे निकले; सूर्य एवं स्वर्ग जिनके नेत्रगोलकसे प्रकट हुए; समस्त दिशाएँ, समस्त तीर्थ जिनके कर्णयुगलसे व्यक्त हुए; आकाश एवं शब्द जिनके श्रोत्रेन्द्रियसे निकले; जिन विराट्का शरीरसंस्थान समस्त वस्तुओंका सारस्वरूप एवं समस्त सौन्दर्यका भाजन है; जिनकी त्वचासे सारे यज्ञ, स्पर्श एवं वायु निकले; जिनके रोमसे यज्ञके उपकरणभूत समस्त उद्भिज्ज उद्भूत हुए; जिनके केश, श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) एवं नखोंसे मेघ, विद्युत्, शिला, लोह प्रकट हुए; जिनकी भुजाओंसे रक्षक लोकपाल आविर्भूत हुए; जिनका पदसंचालन भूः, भुवः, स्वः—त्रिलोकका निर्माण कर देता है; जिनके शंतम—भयहारी चरणकमल अप्राप्तकी प्राप्ति एवं प्राप्तकी रक्षा कर देते हैं, समस्त कामनाओंकी पूर्ति कर देते हैं; जो विराट् जल, वीर्य, सर्ग, पर्जन्य, प्रजापति, कामसुख, यम, मित्र, मलत्याग, हिंसा, निर्ऋति, मृत्यु, निरयके उद्गम हैं; जिनके पृष्ठदेशसे पराजय, अधर्म, अज्ञान उद्भूत हुए; जिनकी नाड़ियोंसे नद-नदी-समूहका निर्माण हुआ; जिनके अस्थिसंस्थानसे पर्वतश्रेणियाँ निर्मित हुईं; जिनके उदरमें मूलप्रकृति रस नामक धातु, समुद्र, समस्त प्राणिसमुदाय, प्राणियोंका निधन समाया हुआ है; जिनके हृदयसे मनकी अभिव्यक्ति हुई; जिनका चित्त ब्रह्मा, शंकर, नारद, धर्म, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमारका आश्रय है, विज्ञान एवं अन्तःकरणका आधार है; अधिक क्या, जिन विराट्की ही अभिव्यक्ति ये ब्रह्मा, शंकर, नारद, सनकादि हैं; सुर, असुर, नर, नाग हैं; खग, मृग, सरीसृप हैं; गन्धर्व, अप्सराएँ हैं; यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, सर्प हैं; जिनकी मूर्तिमें पशु हैं, पितर हैं, सिद्ध हैं, विद्याधर हैं, चारण हैं, द्रुमपुञ्ज हैं; जिन विराट्की परिणति नभ-जल-थलवासी विविध जीव

हैं, जिन विराट्के ही रूप ग्रह, नक्षत्र, केतु, तारावलि, तडित्, मेघ हैं; अतीत, वर्तमान एवं भविष्यके विश्व जिनके रूप हैं;* उन विराट्पुरुषके भी स्रष्टा स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका यह नवनीत-हरण, यह मुग्धभाव, यह शैशव-नाट्य कितना विस्मित कर देनेवाला है! भक्तवत्सलताका ऐसा निदर्शन व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त और कहीं है क्या? व्रजेन्द्रनन्दन! यशोदाप्राणधन! श्रीकृष्णचन्द्र! बलिहारी है तुम्हारी ऐसी मुनिमनहरणी मोहिनी भक्तसर्वस्वदायिनी लीलाकी!

वह बड़भागिनी गोपसुन्दरी तो आनन्दातिरेकवश आत्मविस्मृत हो गयी। विक्षिप्त-सी हुई घरसे बाहर निकल पड़ी। उसकी यह अत्यन्त अद्भुत विचित्र दशा देखकर अन्य गोपसुन्दरियाँ तो चकित रह गयीं। उसके रोम-रोमसे आनन्द झर रहा है, इतना तो स्पष्ट था; किंतु इस परमानन्दका हेतु कोई भी व्रजसुन्दरी ढूँढ़ नहीं पा रही थी। सभी कारण पूछतीं, पर बताये कौन? ग्वालिन तो दूसरे मनोराज्यमें रह रही थी। जब कभी यहाँ इस शरीरमें आती भी तो कण्ठको रुद्ध पाती, सखियोंको कुछ भी बतानेमें असमर्थ हो जाती। दूसरे दिन सारा भेद खुल गया, पर आज तो ग्वालिन केवल इतना ही बता सकी—बहिन! मैंने एक अनूप रूपके दर्शन पाये हैं—

फूली फिरति ग्वालि मन मैं री।
पूछति सखी परस्पर बातैं, पायौ पर्‌यौ कछू कहुँ तैं री?
पुलकित रोम-रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै।
ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारौ, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

---

* भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः। हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्। मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः। जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम्॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्। पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥
वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः। हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च॥
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने। अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः॥
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः। तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्॥
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि। रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः॥
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम्। बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्॥
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च। सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्॥
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः। पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः॥
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद। हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः॥
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः। नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः॥
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च। उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्॥
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च। विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्॥
अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः। सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः। पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः। ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
(श्रीमद्भा० २।५।३८—४१; २।६।१—१५)

द्वितीय माखन-चोरी-लीला

उमड़-घुमड़कर काले मेघ बरस चुके हैं। इन्द्रधनुष उदित हो आया है, मानो वर्षा-सुन्दरीने व्रजपुरके आकाशपर रत्नोंकी बंदनवार बाँधी हो! ग्रीष्म एवं पावसकी संधिपर श्रीकृष्णचन्द्रकी मणिस्तम्भ-लीला—प्रथम नवनीतहरण-लीलाकी झाँकीसे उन्मादिनी हुई वर्षा-सुन्दरी व्रजमें घूम रही है; वन-उपवन, नद-नदी, ह्रद-सरोवर—जहाँ जाती है वहीं हृदय उमड़ पड़ता है, नाचने लगती है, परिधानका कृष्णवर्ण अञ्चल उड़ने लगता है। नृत्यके आवेशमें वह सुदूर आकाशमें उड़ गयी, अंशुमालीकी किरणोंने उसके गलेमें रत्नोंका हार पहना दिया; किंतु अब आभूषण धारण करनेकी उसे लालसा जो नहीं है। अब तो वह श्रीकृष्णचन्द्र-चरणाङ्कित व्रजपुरका आभूषण स्वयं बन जाना चाहती है, अपने अङ्गका अणु-अणु व्रजपुरमें विलीन कर देना चाहती है; इसीलिये उसने किरणोंके उपहार—रत्नोंके हारको तोड़ डाला तथा उन सात रंगोंके रत्नोंके द्वारा व्रजेन्द्रकी पुरीको सजानेके उद्देश्यसे क्षितिजको छूती हुई बंदनवार बाँध दी। श्रीकृष्णचन्द्र इसी बंदनवार—आकाशमें उदित इन्द्रचापकी ओर देख रहे हैं। नन्दोद्यानकी तमालवेदिकापर अपने सखा वरूथपकी गोदमें सिर रखकर, अर्द्धशायित हुए उस रत्न-धनुषकी शोभा निहार रहे हैं, इन्द्रचापका सौन्दर्य वर्णन करके सखाओंको सुना रहे हैं। पर स्वयं उनके श्रीअङ्गोंका सौन्दर्य कितना मोहक है, इसे वे स्वयं नहीं अनुभव करते। ओह! वह सघन कुन्तलराशि, मुखचन्द्रपर बिखरी हुई अलकावलीकी लटें, वे विशाल नेत्र, वह मृदु बोलन, वह मधुस्त्रावी अधरयुग्म, ललित वदनारविन्द, वे चञ्चल चेष्टाएँ—इन्हें जो निहार सके, उसे ही भान होता है कि इस सौन्दर्यमें कितनी मादकता भरी है—ऐसी मादकता जो मन-प्राण-इन्द्रियोंको विमोहित कर दे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष वर्तमान रहनेपर भी उनकी रूपसुधामें नेत्रोंके नित्य निमग्न रहनेपर भी चित्त हाहाकार कर उठे कि 'हाय! श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन मुझे कब होंगे—

चिकुरं बहुलं विरलं भ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम्।
अधरं मधुरं ललितं वदनं चपलं चरितं च कदानुभवे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

अस्तु, इसी समय एक व्रजसुन्दरी वहाँ आयी। आकर बोली—'नीलमणि! व्रजेश्वरी तुम्हें बुला रही हैं, मेरे साथ घर चलो।'

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रको अवकाश कहाँ कि जननीके आह्वानका उत्तर भी दे सकें। वे तो उस सुन्दर धनुषके अरुण, नारङ्ग, पीत, हरित, उज्ज्वल, नील और अरुणिमनील वर्णोंका विश्लेषण करके सखाओंको दिखा रहे हैं, रंगोंकी गणना कर रहे हैं। व्रजसुन्दरी भी मुग्धभावसे श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बाल्यमाधुरीका रस लेने लगती है। कुछ क्षण पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र उसकी ओर देखते हैं, तब उसे यह ज्ञान होता है कि 'मैं केवल देखने नहीं, मैं तो बुलाने भी आयी हूँ।' अतः स्मरण होनेपर वह पुनः श्रीकृष्णचन्द्रसे चलनेके लिये कहती है। इस बार श्रीकृष्णचन्द्रने उत्तर दे दिया—'अभी तो मैं खेल रहा हूँ, नहीं जाऊँगा।'

यह गोपसुन्दरी नन्दभवनमें आयी थी। इसने अन्य पुर-रमणियोंके मुखसे श्रीकृष्णचन्द्रके मणिस्तम्भमें अपने प्रतिबिम्बसे भ्रमित होनेकी लीला तथा—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन आपु भजे ब्रज खोरी॥

—इसका विस्तृत वर्णन सुनो। सुनकर प्रेममें डूब गयी, उसी क्षण व्रजेश्वरीके पास पहुँची। गद्गदकण्ठसे पूछा—'व्रजरानी! नीलमणि किधर है?' उत्तरमें यशोदारानीने उद्यानकी ओर संकेत कर दिया तथा बोली 'बहिन! तू उधर जाय तो उसे कह देना कि मैया बुला रही है और अपने साथ ही लेती आना।' बस, वह मन्त्रमुग्धा-सी अविलम्ब उद्यानकी ओर दौड़ पड़ी। तमालवेदीपर गोपशिशुओंके कोलाहलने उसे श्रीकृष्णचन्द्रका पता बता दिया और वह वहाँ जा पहुँची।

जब श्रीकृष्णचन्द्रने घर लौटना अस्वीकार कर दिया, तब वह वहीं बैठ गयी। उसके नेत्र छलछल करने लगे। इसलिये नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्र घर क्यों नहीं चल रहे हैं, उसके हृदयकी तो वेदना ही दूसरी है। वह सोच रही है—'हाय! मैं अभागिनी नन्दभवनसे इतनी दूर क्यों बसी; जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उस ग्वालिनके घर गये, माखन खाया, वैसे इतनी दूर मेरे घर आनेकी, मेरा माखन आरोगनेकी तो सम्भावना ही नहीं है।' ये भाव गोपसुन्दरीके प्राणोंमें टीस उत्पन्न कर रहे थे। इसीलिये उसके नेत्र भर आये। वह अपने भावोंको संवरण करना चाहती है, किंतु कर नहीं पाती। श्रीकृष्णचन्द्रके सलोने मुखकी ओर जितना देखती है, उतनी ही यह लालसा प्रबल होती जा रही है। यहाँतक कि उसे अनुभव होने लगा कि 'यदि कुछ क्षण मैं यहाँ और रुकी रही तो इस लालसाके भारसे चेतनाशून्य हो जाऊँगी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस स्वच्छन्द, आनन्दमयी क्रीड़ामें विघ्न हो जायगा।' इसीलिये वह अपना सारा साहस, धैर्य बटोरकर उठ खड़ी हुई, नन्दभवनकी ओर लौट पड़ी। उसे पथ नहीं दीख रहा है, नेत्रोंसे अश्रुधारा दोनों कपोलोंपर बह रही है। किसी तरह अपनेको सँभाले और नेत्रोंमें, हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रकी झाँकी लिये वह चली जा रही है। व्रजेश्वरीके निकट पहुँची, किंचित् धैर्य हो आया; नीलमणिने आना स्वीकार नहीं किया, यह बात व्रजरानीको बताकर वह अपने घर चली गयी।

गोपसुन्दरीके मनोगत भावोंका और किसीको तो पता नहीं, पर व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीला-महाशक्तिको सब कुछ ज्ञात है। वे ही तो यशोदाके वात्सल्य-सुधा-सागरपर संतरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी चेष्टाओंका नियन्त्रण करती हैं। वात्सल्यकी कौन-सी पयस्विनी इस सागरसे मिली है, कहाँपर संगम है, कौन-सी वात्सल्यधारा मिलने आ रही है, कहाँ संगमित होगी, किस संगमपर, किस वात्सल्यतीर्थपर श्रीव्रजेशपुत्रको आज स्नान कराना है—इन सबकी पूरी सूची उन्हींके पास तो है। अपने इच्छानुसार अपने निर्दिष्ट क्रमसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको लहरोंपर बहाती हुई किसी संगमपर ले जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ स्नान करते हैं, अञ्जलिमें भरकर वात्सल्यसुधाका पान करते हैं, एक-दो छींटे किनारेपर बिखेर देते हैं, इन्हीं बिन्दुओंसे प्रपञ्च-जगत्के वात्सल्य-स्रोतमें रसका संचार सदा होता रहता है, स्रोत कभी सूखता नहीं। अत: लीलामहाशक्तिको व्रजसुन्दरीके हृदयकी धाराका पूरा पता है। वे जानती हैं कि यह धारा भी इसी सागरसे मिलने आ रही है। इन्हें तो प्रत्येकके संगमपर श्रीकृष्णचन्द्रको अवगाहन—प्रत्येककी पवित्र सुधाका मुक्त आस्वादन कराना है। इसीलिये वे क्रमशः सबके लिये द्वार खोलती रहती हैं। अत: इसके लिये भी कपाट उन्मुक्त करने चलीं।

श्रीकृष्णचन्द्र उसी प्रकार वरूथपके अङ्कमें विराजित हैं। परस्पर पावसके अनुरूप विविध क्रीड़ाकी चर्चा चल रही है। अब सुबल क्रीड़ाकी नयी योजना रख रहा है तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं अन्य सखा सुन रहे हैं। सहसा श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र निमीलित हो गये। ठीक इसी समय लीलाशक्तिका संकेत पाकर सर्वज्ञताने उनके हृदयका किंचित् स्पर्श किया और धीरेसे बोली—'बाल्यलीला-विहारिन्! नाथ! मेरे स्वामिन्! वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंके कुछ हृदय-चित्र लिखकर ले आयी हूँ। यह देखो, जो गोपसुन्दरी अभी तुम्हें बुलाने आयी थी उसके हृदयका यह चित्र है। इसके पश्चात् देव! इन अगणित व्रजाङ्गनाओंके हृदयोंको देख लो, सबकी उत्कण्ठा परख लो। विभो! यह देखो, सभीने कितने स्नेहसे तुम्हारे लिये नवनीत सजाया है, आकुल प्राणोंसे किस प्रकार तुम्हारी पल-पल प्रतीक्षा कर रही हैं कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे घर आयें, छिपकर हमारा माखन आरोगें। गोलोकविहारिन्! सर्वथा अमर्यादित स्वरूपभूत परमानन्दरस-वितरण, परमानन्दरसास्वादनके लिये ही तो तुम्हारा अवतरण हुआ है। उस रसकी उपयुक्त पात्र ये व्रजवासिनी गोपिकाएँ भी तुम्हारा दान लेने, तुम्हें रस देनेके लिये प्रस्तुत बैठी हैं। नाथ! व्रजके अतिरिक्त अन्य सभी

लीलाओंमें तुम्हारा ऐश्वर्य तुम्हारे परिकरोंको आवृत किये रहता है, सम्भ्रमरहित विशुद्ध रसका आस्वादन तुम्हें कहीं प्राप्त नहीं होता। पर यह तो तुम्हारा अपना व्रज है। व्रजवासी तुम्हारे निजजन हैं। यहाँ तुम यशोदाके लिये उनके गर्भजात नीलमणि हो, गोपसुन्दरियोंके लिये भी यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रमात्र हो। ऐसा बानक अन्यत्र कहाँ। वाञ्छाकल्पतरो! इन सबके मनोरथ पूर्ण करो। रस देकर, रस-आस्वादन कर इन वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको वात्सल्यपयोनिधिमें डुबा दो नाथ!……।' श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा गयी। उन्होंने लीलाशक्तिकी इस प्रार्थनाका अनुमोदन ही किया—

मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कें माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज-लोग॥

नन्दनन्दन उठ बैठे। हँसकर सखाओंसे बोले—'भैयाओ! माखन खानेका खेल खेलोगे'? 'माखनका खेल!!' दो-चारने एक साथ आश्चर्यमें भरकर कहा। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रने नवनीतहरणलीलाकी अपनी विस्तृत योजना सखाओंके समक्ष रख दी। किस प्रकार हमलोग छिपकर प्रत्येक गोपीके घरमें जायँ, मैं माखनकी मटकी उठा लाऊँ और फिर हम सब मिलकर खायँ, दूसरे पशु-पक्षियोंको खिलायें, गिरायें, माखनकी कीच मचायें—ये सारे विचार श्रीकृष्णचन्द्रने गोप-सखाओंको समझाये। सुनकर गोप-शिशुओंके आनन्दका पार नहीं। ताली पीट-पीटकर वे उस तमालवेदीपर नाचने लगे। व्रजेश्वरकी सौंह खाकर सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी बुद्धिकी प्रशंसा करने लगे—

करैं हरि ग्वाल संग विचार।
चोरि माखन खाहु सब मिलि, करहु बाल-बिहार॥
यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कन्हाइ।
हँसि परस्पर देत तारी, सौंह करि नँदराइ॥
कहाँ तुम यह बुद्धि पाई, स्याम चतुर सुजान।
सूर प्रभु मिलि ग्वाल-बालक, करत हैं अनुमान॥

अब भुवनभास्कर अस्ताचलकी ओर जा रहे थे। व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको लेने आ गयी थीं। अतः श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनकी ओर चल पड़े। जाते समय अपनी मोहिनी चितवनके संकेतसे सखाओंको कार्यक्रमकी बात बताते गये। भवनमें जाकर जननीके परम ललित लाड़से सिक्त होकर शीघ्र ही सो गये। जब दूसरे दिन प्रभातके समय जागे तो सखामण्डली उन्हें घेरे खड़ी थी।

यशोदारानीने विधिवत् उबटन-स्नान-शृङ्गार आदिसे श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंको सजाया, सखाओंको साथ बैठाकर सबको समान भावसे कलेवा करवाया, जल पिलाया, ताम्बूल खिलाये। फिर खेलने जानेकी अनुमति दे दी। तुमुल आनन्दनाद करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपशिशु बाहरकी ओर दौड़ पड़े। आगे-आगे श्रीकृष्णचन्द्र हैं, उनके पीछे गोपबालक। गोपशिशु नहीं जानते कि कहाँ जाना है, वे तो नन्दनन्दनका अनुसरण कर रहे हैं; तथा नन्दनन्दन बिना रुके, सीधे उस गोपसुन्दरीके घर जा रहे हैं, जो उन्हें कल तमालवेदीपर बुलाने गयी थी। देखते-ही-देखते उसके गृहके निकट जा भी पहुँचे।

गोपसुन्दरी उस समय दधिमन्थन कर रही थी। पर उसे अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं है, किसी और ही भावमें वह तन्मय हो रही है—मन्थनक्रियासे यह स्पष्ट झलक रहा था। सखासहित श्यामसुन्दर उपयुक्त अवसरपर ही नवनीतहरण—माखन-चोरीके लिये पधारे हैं तथा गवाक्ष-रन्ध्रसे व्रजसुन्दरीका दधिमन्थन देख रहे हैं—

सखा सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी॥

आकाशपथसे अमर, किंनर, विद्याधर, गन्धर्व आदि इस परम-मनोहारिणी मोहिनी लीलाके दर्शन कर कृतार्थ हो रहे हैं। नवनीतहरण करने—माखन चुराने कौन आया है? वे आये हैं; जिनके प्रत्येक रोमकूपमें—जैसे आकाशमें वायुसंचारित क्षुद्र रजःकण उड़ते रहते हैं, वैसे—उत्तरोत्तर दसगुणित सप्तावरणसमन्वित

असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ घूमते रहते हैं, जिनका अन्त स्वर्गादि-लोकाधिपति ब्रह्मा, इन्द्र प्रभृति नहीं जानते, नहीं जान सकते; जो इतने अनन्त हैं कि अपना अन्त स्वयं नहीं जानते; जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन श्रुतियाँ नहीं कर सकतीं; स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते—

अस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।*

वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है; उसमें न अन्तर है, न बाहर है—इस प्रकार निरसन करते-करते श्रुतियाँ जिनमें जाकर समाप्त हो जाती हैं, अपनी सत्ता विलीनकर सफल हो जाती हैं—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह
यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। ४१)

जो इस विश्वका संकल्प करते हैं; जो विश्वके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें स्थित हैं; जो प्रकृति-पुरुषके स्वामी हैं; जो विश्वका सृजन करके जीवके साथ इसमें प्रविष्ट हो गये हैं; जिन्होंने जीवभोगायतन शरीरसमूहकी रचना की है; जो इन शरीरोंका नियन्त्रण करते हैं; जिन्हें प्राप्तकर जीव—जैसे सुषुप्तिमें निमग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसंधान छोड़ देता है, वैसे—मायापाशसे मुक्त हो जाता है; जो नित्य अच्युतस्वरूपमें अवस्थित हैं; जिन्हें माया तिलमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकती; जो सर्वथा विशुद्ध हैं; जो अभयपद हैं; जिनका निरन्तर चिन्तन ही जीवका एकमात्र कर्तव्य है—

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। ५०)

—वह नराकृति ब्रह्म, वे प्रकृति-पुरुषके स्वामी पुरुषोत्तम ही तो आज गोपसुन्दरीके घर नवनीत-हरण करने, माखन चुराने आये हैं। श्रीकृष्णचन्द्र! जय हो तुम्हारी इस विश्वचमत्कारिणी लीलाकी!

किंतु वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रकी यह चेष्टा क्या चोरीमें परिगणित हो सकती है? नहीं, चोरी तो उसे कहते हैं कि परायी वस्तुको, उसकी इच्छाके बिना, उसकी अनुपस्थितिमें कोई अपने अधिकारमें कर ले। पर श्रीकृष्णचन्द्रसे अतिरिक्त कौन-सी वस्तु है, जिसे वे अपने अधिकारमें करें? उनके अतिरिक्त कौन है, जिसकी इच्छाके बिना, जिसकी अनुपस्थितिमें वे वस्तु ग्रहण करें? जब—

नान्यद् भगवतः किंचिद् भाव्यं सदसदात्मकम्॥

(श्रीमद्भा० २। ६। ३२)

—भाव या अभाव, कार्य या कारणरूपमें कोई वस्तु नहीं जो श्रीकृष्णसे भिन्न हो, तब वे कब, कहाँ, किसकी, किसलिये, कौन-सी वस्तु चोरी करेंगे? तो फिर यह क्या है? यह है वात्सल्य-रस-वितरणकी एक प्रकृष्ट प्रक्रिया, वात्सल्य-रसास्वादनकी एक पवित्र प्रणाली, भक्तमनोरथपूर्तिकी एक मधुर मनोहर सुन्दर योजना, बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यावेशकी एक अप्रतिम झाँकी। इस झाँकीकी जय हो! जय हो!! जय हो!!!

अस्तु, दधिमन्थन करनेवाली उस गोपसुन्दरीके गृहके समीप जाकर सखाओंके सहित श्रीकृष्णचन्द्र छिप रहे। उसने भी बिलोना स्थगित कर दिया। उसे अब दीख रहा था कि नवनीत ऊपर आ गया है। नवनीत तो कभीका ऊपर आ गया था, पहरभर रात्रि

* बृहदारण्यकोपनिषद् ३। ८। ८।

शेष थी, तभी उसने मन्थन आरम्भ किया था। तबसे बिलो रही है। पर उसका चित्त यहाँ हो तब तो। वह तो मन-ही-मन नन्दभवनमें जा पहुँची थी, श्रीकृष्णचन्द्रको नवनीत आरोगनेका मूक निमन्त्रण दे रही थी। उसने भले न जाना; पर उसका यह मूक निमन्त्रण स्वीकार करके जब श्रीकृष्णचन्द्र उसके घरपर वास्तवमें पधार गये तब माखन उतारनेका भान उसे हुआ है। पर यह देखो, आज घरकी कमोरी भी कोई उठा ले गया है। गोपसुन्दरी कमोरी माँगने बाहर गयी। इधर श्यामसुन्दरको अवसर मिल गया। सखाओंके साथ वे तत्क्षण अन्तर्गृहमें प्रविष्ट हो गये। वहाँ जो कुछ भी दही-माखन था, सबका भोग लगाकर रीती मटुकी वहीं छोड़कर हँसते हुए शीघ्र ही बाहर चले आये।

हेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हौ उतरात।
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई ह्याँ घात॥
पैठे सखनि सहित घर सूनें, दधि माखन सब खाए।
छूछी छाँडि मटुकिया दधिकी, हँसि सब बाहिर आए॥

उधरसे गोपसुन्दरी हाथमें कमोरी लिये आ पहुँची। देखा—बहुत-से गोपशिशु मेरे घरसे बाहर निकल रहे हैं और यशोदाके नीलमणि उनके पीछे हैं। नीलमणिके अरुण अधरोंपर उज्ज्वल नवनीत लग रहा है, हस्तकमल माखनसे सन रहे हैं।

आइ गई कर लिऐं कमोरी, घर तैं निकसे ग्वाल।
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल॥

गोपसुन्दरी मनोरथ-पूर्तिके महान् आनन्दसे विह्वल हो गयी। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह स्वप्न देख रही है। किंतु सहसा उसके स्मृतिपटपर किसीने तूलिका फेर दी, वह यह बात सर्वथा भूल गयी कि उसने कभी यह इच्छा की थी कि नीलमणि मेरे घर आकर मेरा माखन आरोगें। अतीतके उत्कण्ठामय संस्मरण सर्वथा विलुप्त हो गये। अब उसे इतना ही भान है कि सखाओंको साथ लिये नीलमणि मेरे गृहतोरणके पास खड़े हैं, उनका मनोहर मुखारविन्द माखनसे सना है। सरलतासे वह पूछ बैठी—

कहँ आए ब्रज-बालक सँग लै, माखन मुख लपटान्यौ।

उत्तरमें श्यामसुन्दर कुछ कहने लगे। पर उन्होंने क्या कहा, ग्वालिन सुनकर भी कुछ सुन न सकी। उनके सलोने माखनसने मुखकी मन्द हँसीमें उसकी चेतना सहसा विलुप्त होने लगी। इतनेमें श्यामसुन्दरने अपने सखा एक गोपशिशुकी भुजा पकड़ ली तथा वे व्रजकी गलीमें चल पड़े। ग्वालिन निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर देख रही है। अन्धकार होता तो बात थी। दिनके उज्ज्वल प्रकाशमें हरि—श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरीका मन हरणकर—चित्त चुराकर चले गये और वह ठगी-सी खड़ी रह गयी—

भुज गहि लियौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज कीं खोरि।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि॥

अपने द्वारपर स्वर्णपुतली-सी खड़ी वह उस ओर देखती रहती है जिधर श्रीकृष्णचन्द्र गये हैं। जब मध्याह्न होने लगता है तब कहीं वह अन्तर्गृहमें प्रवेश करती है। नवनीतकी रिक्त मटकी देखकर सोचती है कि माखनभरे पात्रको मैं सम्भवत: कहीं अन्यत्र रख आयी हूँ, इधर-उधर उसे ढूँढ़ती फिरती है। इतनेमें दीख पड़ता है—घरके जितने स्वर्ण, रौप्य, कांस्य, मृण्मय पात्र थे वे सभी छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। श्यामसुन्दरकी चञ्चल चेष्टाओंसे वह परिचित अवश्य है, पर अब उसके पास मन जो नहीं रहा। निर्णय कौन करे? मनके स्थानपर तो श्यामसुन्दरका रस भरा है—

देखै जाइ मटुकिया रीती, मैं राख्यौ कहुँ हेरि।
चकित भई ग्वालिनि मन अपनें, ढूँढ़ति घर फिरि फेरि॥
देखति पुनि-पुनि घर के बासन, मन हरि लियौ गोपाल।
सूरदास रस भरी ग्वालिनी जानै हरि कौ ख्याल॥

माखन-चोरीके व्याजसे श्रीकृष्णका सम्पूर्ण व्रजमें रस-सरिता बहाना

परस्पर जुड़े हुए तारोंमें किसी एकपर स्वरलहरी उदय होते ही अन्य तार भी झङ्कृत हो उठते हैं। इसी प्रकार वात्सल्य-प्रेमवती गोपसुन्दरियोंके हृदयतन्तुपर श्रीकृष्णचन्द्रकी दो नवनीतहरण-लीलाएँ झङ्कृत हो उठीं—

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि-माखन चोरी करि लै, हरि ग्वाल-सखा सँग खात॥

परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गोपसुन्दरी मनोरथका राग अलापने लगी—

कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं देखौं अपनें धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवारि॥

मानो पहले केवल स्वरमात्र था, फिर संगीत आरम्भ हुआ एवं अब उसी तालबन्धपर श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य करने लगे। बलराम एवं गोपसखाओंके साथ वे गोपसुन्दरियोंके घर जाते, अपनी सुमधुर चेष्टाओंसे रसकी सरिता बहा देते, गोपसुन्दरियाँ उसमें निमग्न हो जातीं, सुध-बुध खो बैठतीं—

ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २७)

जब चेतना आती तो अपना सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रपर न्योछावर कर देतीं—

सूरदास मनहरन मनोहर सर्बस दियौ छबीली री।

गृह, कालिन्दीतट, पनघट, गोष्ठ, वन, उपवन, वीथी, अलिन्द, मन्दिर—सर्वत्र आभीरसुन्दरियोंकी चर्चाका एकमात्र विषय था 'श्रीकृष्णचन्द्रका रुचिर कौमारचापल्य।' नीलमणिने मेरे घर ऐसी मनोहर लीला की, मेरे घर उसने इस रीतिसे माखन खाया, इस प्रकार अपने गृहमें घटित घटनाओंको भीड़-की-भीड़ एकत्र होकर परस्पर एक-दूसरीसे कहतीं, कहकर, सुनकर सुख-समुद्रमें डूब जातीं। एक कहती—बहिन! सुन, मेरे घरकी बात सुनाऊँ। उस समय प्रभात होने जा रहा था। दधिमन्थनके घर्घर शब्दसे समस्त व्रजपुर मुखरित था। इस घर्घर शब्दसे श्रीकृष्णचन्द्रकी निद्रा भङ्ग हो गयी। निद्रा टूटते ही व्रजरानीसे भी अलक्षित रहकर वे मेरे घर चले आये। मैं दधिमन्थन कर रही थी। मैंने देखा कि अत्यन्त मन्द-मन्द पादनिक्षेप करते हुए वे नवनीत-भंडारकी ओर जा रहे हैं। आनन्द-जड हुई मैं देखती रही। वे भीतर प्रविष्ट हो गये। वहाँ कई प्रदीप जल रहे थे। उन्हें भय हुआ कि दीपके उज्ज्वल प्रकाशमें मैं उन्हें देख लूँगी। अतः वे प्रत्येक दीपके समीप जाते, मुखारविन्दके सुरभित श्वाससे फूँक देकर दीपको बुझा देते। सभी दीप बुझाकर, निश्चिन्त होकर वे माखन खाने लगे। बहिन! उनकी दृष्टिमें अब उन्हें कोई देख नहीं रहा था, दीपक जो बुझ गया; किंतु मैं उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामज्योतिमें उनकी नवनीतभोजन-लीला निहार-निहारकर निहाल हो रही थी। ओह! उस समय झाँकीका वर्णन कैसे करूँ!

दधिमथननिनादैस्त्यक्तनिद्रः प्रभाते
निभृतपदमगारं वल्लवीनां प्रविष्टः।
मुखकमलसमीरैराशु निर्वाप्य दीपान्
कवलितनवनीतः पातु गोपालबालः॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

गोपसुन्दरीकी बात सुनकर दस-पाँच एक साथ पुकार उठतीं—'ओह, बहिन! बस, ठीक ऐसे ही नीलमणिने मुखकमलके मकरन्दस्रावी निःश्वाससे हमारे घर भी प्रदीप निर्वापित किये और बड़े अनुरागसे नवनीतका भोग लगाया।'

दूसरी कहती—'री! मेरे घर तो प्रभातके समय नहीं, संध्या होनेपर आये थे। निशाके काले अञ्चलसे व्रजपुर आवृत हो चुका था। उस समय यशोदानन्दन

मेरे घर पधारे। ओह! उनके श्याम कलेवरकी शोभा देखकर मैं तो ठगी-सी जहाँ थी, वहीं खड़ी रह गयी। मैंने देखा, वे द्वारपर आये हैं, भीतरकी ओर ही आये हैं। बस, बहिन! इतना ही देख सकी। फिर तो मेरे नेत्रोंमें श्याम रंग समा गया। पद्मरागका द्वार श्याम हो गया, देहली श्याम हो गयी, प्राङ्गण श्याम बन गया, गवाक्ष श्याम हो गये, स्तम्भ श्याम बन गये, मेरी साड़ी श्याम बन गयी, मेरे अङ्ग श्याम हो गये। निशाके तमने भी नवीन श्याम चादर ओढ़ ली। मैं एवं मेरे गेहका अणु-अणु श्याम हो गया। ऐसे श्यामवर्ण गेहमें यशोदानन्दन श्यामसुन्दर विलीन हो गये। भला, मैं फिर श्यामसुन्दरको कैसे ढूँढ़ पाती—

ग्वालिनि घर गए जानि साँझ की अँधेरी।
मंदिर में गए समाइ, स्यामल तनु लखि न जाइ,
देह गेह रूप कहौ को सकै निबेरी?

किंतु फिर मनमें आया—प्रदीप जलाकर उसके आलोकमें उन्हें ढूँढ़ूँ तो सही कि वे कहाँ क्या कर रहे हैं। अत: प्रदीप लेकर गयी। देखा—नवनीत-भंडारमें वे विराजित हैं। विशाल वक्ष:स्थलपर नवनीतबिंदु एवं दधिबिंदु झलझल कर रहे हैं। ओह! उस शोभाका क्या कहना। मानो कलिन्दनन्दिनीके जलमें तारावली प्रतिबिम्बित हो—

गोरस तन छींटि रही, सोभा नहिं जाति कही,
मानौ जल-जमुन बिंब उड़गन पथ केरौ।

—बहिन! क्या बताऊँ, मैं तो उस रूपपर न्योछावर हो गयी—

सूरदास प्रभु कृपाल, डार्‌यौ तन फेरी।

तीसरी आभीरसुन्दरी अपना अनुभव सुनाती—''सखि! मेरी बात सुनो! मैं अपने गृहसे संलग्न उद्यानके द्वारपर खड़ी थी। कानोंमें 'रुनझुन-रुनझुन' की अत्यन्त मन्द ध्वनि सुन पड़ी। मैं दृष्टि उठाकर देखने लगी। देखती हूँ—यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्र सशङ्कित हुए मेरे घरकी ओर जा रहे हैं, रह-रहकर रुक जाते हैं, चारों ओर देखने लगते हैं। मैंने लताजालमें अपनेको छिपा लिया। वे द्वारपर जा पहुँचे। द्वारपर कोई न था, कपाट खुले थे, वे भीतर चले गये। मैं शीघ्र ही द्वारपर जा पहुँची, उनकी ताकमें बैठ गयी कि कब वे माखन खाकर बाहर निकलते हैं। तुरंत ही वे बाहर आये। किसलय-कोमल हथेलीपर उज्ज्वल नवनीत सुशोभित था। मैंने लपककर उनके हाथ पकड़ लिये तथा मुखचन्द्रकी ओर निहारने लगी। मैं कुछ बोलना चाहती थी; बहिन! पर बोल न सकी; उनका स्पर्श होते ही मेरे अङ्गोंमें कम्पन होने लगा था। इतनेमें उनके अरुण अधरोंपर मुसकान छा गयी; वे हँसकर बोले—'री! तू मैयाके सामने मुझे अपनी गोदमें लेकर प्यार करती थी; मैंने सोचा तेरे घर जाऊँगा, तेरा माखन खाऊँगा, तब तू मुझे और भी अधिक प्यार करेगी; इसीलिये तेरे घर माखन लेने आया हूँ।' ओह! उनके मधुमय कण्ठकी इस वाणीमें मानो कोई मोहनमन्त्र भरा था। बहिन! मैं तो वास्तवमें मोहित हो गयी। कुछ क्षण तो मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरे हृदयमें एक अनन्त पारावाररहित रससिन्धु है, उसमें नीलवर्ण तरङ्गें उठ रही हैं, प्रत्येक तरङ्ग मेरे प्राणोंमें समाकर कह रही है—'यह तो श्रीकृष्णचन्द्रका आवास है, यहाँ दूसरेका अधिकार नहीं।' मेरे नेत्र निमीलित हो गये। श्रीकृष्णचन्द्र चाहते तो इस बीचमें हाथ छुड़ाकर भाग जाते, पर वे ज्यों-के-त्यों मेरे हाथोंमें हाथ रखे खड़े रहे। अपना समस्त धैर्य बटोरकर मैंने आँखें खोलीं। देखा, वे अभी भी हँस रहे थे। अब कहीं यत्किञ्चित् बोलनेकी शक्ति मुझमें आयी। गद्गद कण्ठसे मैं बोली—'नीलमणि! मेरे प्राणधन! बैठ, मैं तेरी बलैया लेती हूँ। मैं और भी सुमिष्ट दही ले आती हूँ, तू यथेच्छ भोग लगा।' यह कहकर मैं अपने नवनीतभंडारसे दधि एवं नवनीतकी मटुकी निकालकर बाहर रखने लगी। केवल दधि-नवनीत ही नहीं, बहिन! मैंने तो उसी क्षण अपना सर्वस्व लेकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रके भेंट चढ़ा दिया—

माई हौं तकि लागि रही।
जब घर तैं माखन लै निकस्यौ, तब मैं बाहँ गही॥

तब हँसि कैं मेरौ मुख चितयौ, मीठी बात कही।
रही ठगी, चेटक सौ लाग्यौ, परि गइ प्रीति सही॥
बैठौ कान्ह, जाउँ बलिहारी, ल्याऊँ और दही।
सूर स्याम पै ग्वालि सयानी सरबस दै निबही॥

चौथी एक अपने घरकी घटना बताने लगती—'अपराह्नका समय था, सखी! शीतल बयारका सुख लेती हुई मैं राजपथके उस पार अशोककी छायामें बैठी थी। इतनेमें देखती हूँ कि मेरे द्वारपर श्रीकृष्णचन्द्र आकर खड़े हुए—अत्यन्त शान्त एवं नीरव। फिर देखती हूँ—विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मिलिन्द आदि छोटे गोपशिशुओंका एक समुदाय आया; वे सब भी परम शान्त, मौन थे। इनके पश्चात् दाम, सुदाम, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, अंश आदिका एक दल आया; वह भी कोलाहलरहित। फिर सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल आदि आये; इनके अङ्गोंमें भी तिलमात्र चञ्चलता नहीं। अब आये मधुमङ्गल, पुष्पाङ्क एवं हंस आदि; इनमें भी चपलताका लेशतक नहीं था। सभी गृहतोरणके समीप आम्रकी शीतल छायामें एकत्र हो गये। इनकी मुखमुद्रा ऐसी थी, मानो राजपथसे ये सब कहीं खेलने जा रहे हों, श्रान्त होकर किञ्चित् विश्राम करनेके उद्देश्यसे रुक गये हों। देखते-ही-देखते मन्द-मन्द चलकर श्रीकृष्णचन्द्र मेरे भवनके अन्तर्भागकी ओर चले गये। गोपशिशु बाहर उसी प्रकार शान्त बैठे रहे। मैं अतिशय शीघ्रतापूर्वक, गोपशिशु मुझे देख न पायें—इस उद्देश्यसे अपने भवनसे कुछ दूर आगे चली गयी, फिर राजपथ पारकर अपने उद्यानमें चली आयी तथा पीछेके पथसे प्राङ्गणमें जा पहुँची। भवन सर्वथा सूना था। सभी हिंडोलेका आरम्भोत्सव देखने गये थे। केवल मैं ही अकेली थी, सो भी श्रीकृष्णचन्द्रकी जानमें तो मैं भी कहीं गयी हुई थी। अत: वे निस्संकोच भवनपर अधिकार कर चुके थे। अकेली रहनेके कारण आज मध्याह्नतक मैं दधि-मन्थन कर रही थी। सद्योमथित नवनीतसे पूर्ण भाण्ड अभी रखकर ही बाहर गयी थी। आकर देखती हूँ—नीलमणि उसी भाण्डसे ले-लेकर नवनीत भोजन कर रहे हैं। उन्होंने फिर संकेतसे समस्त सखाओंको भीतर बुला लिया, अपने हाथसे भर-भरकर दधि एवं नवनीत उनके हाथोंपर, उनके मुखोंमें रखने लगे। दधिबिंदु उनके वक्ष:स्थलपर बिखरे हुए थे; शङ्कित भयभीत नेत्रोंसे वे बारम्बार इधर-उधर देख रहे थे, बीच-बीचमें किसी गोपशिशुकी ओट लेकर खड़े हो जाते, ग्रीवा टेढ़ी कर, नेत्रोंको कोयोंमें नचाकर सबको देखते तथा फिर नवनीत आरोगने लगते। ओह! सखी! क्या बताऊँ, उस ललित भङ्गिमापर मैं तो बिक गयी! छिपी हुई देख रही थी तथा श्रीकृष्णचन्द्र मुझे जान न लें, इसलिये अपनेको सँभाले हुए थी; अन्यथा मूर्च्छित होकर गिर पड़ती। हृदयमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी, आनन्दातिरेकवश हृदय दुर्-दुर् करता हुआ अत्यन्त वेगसे स्पन्दित होने लगा। ओह! उस समय नीलमणिके मुखचन्द्रकी वह शोभा, मुखारविन्दका वह सौन्दर्य—नेत्रोंने तो अवश्य दर्शन किये, पर उनमें तो वाक्शक्ति जो नहीं। वे बोलते होते तो मैं यत्किञ्चित् उस रूपमाधुरीकी बात तुम्हें सुनाती बहिन! वाणीके द्वारा वर्णन तो असम्भव है। इतना ही कह सकती हूँ कि मेरा मन उस रूपमें डूब गया, मैं चित्रलिखी-सी वहाँ खड़ी रह गयी—

आपु गए हरुऐं सूनें घर।
सखा सबै बाहिर ही छाँड़े, देख्यौ दधि-माखन हरि भीतर॥
तुरत मथ्यौ दधि-माखन पायौ, लै-लै खात, धरत अधरनि पर।
सैन देइ सब सखा बुलाए, तिनहिं देत भरि-भरि अपनैं कर॥
छिटकि रही दधि-बूँद हृदयपर, इत-उत चितवत करि मन में डर।
उठत ओट लै, लखत सबनि कौं, पुनि लै खात लेत ग्वालनि बर॥
अंतर भई ग्वालि यह देखति, मगन भई, अति उर आनँद भरि।
सूर स्याम मुख निरखि थकित भइ, कहत न बनै, रही मन दै हरि॥

इस तरुणीकी गाथा समाप्त होते-न-होते कई कहने लग जातीं—बस, बस, ठीक ऐसी ही झाँकी हमलोगोंने भी देखी है, सखी! ओह! हमें तो ऐसा प्रतीत होता था कि यह मानो श्रीकृष्णचन्द्रका नवनीत-भोजन नहीं, पद्म एवं चन्द्रका सम्मेलन है; ये श्रीकृष्णचन्द्रके कर नहीं, पद्म हैं; मुख नहीं, पूर्णचन्द्र

है; पद्मको अपने अनादिसिद्ध चन्द्रविरोधकी विस्मृति हो गयी है, वह नवनीतका उपहार लिये चन्द्रसे मिल रहा है तथा यशोदानन्दनके मरकत-श्याम अङ्गोंपर मुखसे टपकते नवनीतबिन्दु ऐसे सुशोभित थे, मानो प्रिय-समागमसे प्रफुल्लित चन्द्र नीले आकाशमें सुन्दर पीयूषकणोंकी वर्षा कर रहा हो—

सुंदर कर आसन समीप, अति राजत इहिं आकार।
जलरुह मनौ बैर बिधु सौं तजि, मिलत लए उपहार॥
गिरि-गिरि परत बदन तैं उर पर हैं दधि-सुतके बिंदु।
मानहुँ सुभग सुधाकन बरषत प्रियजन आगम इंदु॥

इस भाँति गोपवधुएँ श्रीकृष्णचन्द्रकी चर्चामें तन्मय हो रही थीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने निराविल परमानन्दरसका दान उन्मुक्त हस्तसे कर रहे थे। एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी, परम मनोहर लीलाओंका प्रकाश करते हुए वात्सल्यरसका आस्वादन कर रहे थे। त्रितापदग्ध जगत्में उनकी ही आशा रखनेवाले संतजनोंके लिये अमृतपयस्विनी प्रवाहित कर रहे थे; उस पीयूषकल्लोलिनीके तटपर शंतम, सुखद, सुयश-तीर्थकी रचना कर रहे थे, जहाँ अवगाहन करनेसे—नहीं—नहीं, एक बार कर्णपुटकी अञ्जलि भरकर आचमनमात्र कर लेनेसे समस्त कर्मवासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, भवबन्धन सदाके लिये टूट जाता है—

यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत्।
श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम्॥

(श्रीमद्भा० ९। २४। ६२)

श्रुतियाँ जिन अन्तर्यामीका संकेत करते हुए कहती हैं—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति × × ×।

'जो पृथ्वीमें स्थित हैं, पृथ्वीके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें पृथ्वी (पृथ्वीकी अधिष्ठातृ-देवता) नहीं जानती, पृथ्वी जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करते हैं।'

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयति × × ×। योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयति × × ×। योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयति × × ×। यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयति × × ×। यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयति × × ×। य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति × × ×। यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयति × × ×। यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्दतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयति × × ×। य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयति × × ×। यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयति × × ×। यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयति × × × इत्यधिदैवम्……।

'जो जलमें स्थित हैं, जलके अभ्यन्तर हैं, जल जिन्हें नहीं जानता, जल जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर जलका नियमन करते हैं; जो अग्निमें स्थित हैं, अग्निके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो अग्निका नियमन करते हैं; जो अन्तरिक्षमें स्थित हैं, अन्तरिक्षके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर अन्तरिक्षका नियमन करते हैं; जो वायुमें स्थित हैं, वायुके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें वायु नहीं जानता, वायु जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो वायुका नियमन करते हैं; जो द्युलोकमें स्थित हैं, द्युलोकके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें द्युलोक नहीं जानता, द्युलोक जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो द्युलोकका नियमन करते हैं; जो आदित्यमें स्थित हैं, आदित्यके

अभ्यन्तर हैं, जिन्हें आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो आदित्यका नियमन करते हैं; जो दिशाओंमें स्थित हैं, दिशाओंके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिनका शरीर हैं, जो भीतर रहकर दिशाओंका नियमन करते हैं; जो चन्द्र एवं तारावलीमें स्थित हैं, चन्द्र-तारावलीके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें चन्द्र-तारावली नहीं जानती, चन्द्र-तारावली जिनका शरीर है, भीतर रहकर जो चन्द्र-तारावलीका नियमन करते हैं; जो आकाशमें स्थित हैं, आकाशके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें आकाश नहीं जानता, आकाश जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर आकाशका नियमन करते हैं; जो तम (आवरणात्मक बाह्य तम)-में स्थित हैं, तमके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें तम नहीं जानता, तम जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर तमका नियमन करते हैं; जो तेज (तमसे विपरीत प्रकाशसामान्य)-में स्थित हैं, तेजके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें तेज नहीं जानता, तेज जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर तेजका नियमन करते हैं; इस प्रकार जो अधिदैवरूप हैं।'

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति × × × इत्यधिभूतम्।

जो समस्त भूतोंमें स्थित हैं, समस्त भूतोंके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिनके शरीर हैं, जो भीतर रहकर समस्त भूतोंका नियमन करते हैं—इस भाँति जो अधिभूतरूप हैं।'

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयति × × ×। यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयति × × ×। यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयति × × ×। यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳश्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयति × × ×। यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयति × × ×। यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयति × × ×। यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति × × ×। यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यꣳरेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयति × × ×।*

'जो प्राण (प्राणवायुसहित घ्राणेन्द्रिय)-में स्थित हैं, प्राणके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें प्राण नहीं जानता, प्राण जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर प्राणका नियमन करते हैं; जो वाणीमें स्थित हैं, वाणीके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें वाणी नहीं जानती, वाणी जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर वाणीका नियमन करते हैं; जो नेत्रमें स्थित हैं, नेत्रके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर नेत्रका नियमन करते हैं; जो श्रोत्रमें स्थित हैं, श्रोत्रके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर श्रोत्रका नियमन करते हैं; जो मनमें स्थित हैं, मनके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें मन नहीं जानता, मन जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर मनका नियमन करते हैं; जो त्वक्में स्थित हैं, त्वक्के अभ्यन्तर हैं, जिन्हें त्वक् नहीं जानती, त्वक् जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर त्वक्का नियमन करते हैं; जो विज्ञान (बुद्धि)-में स्थित हैं, विज्ञानके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर विज्ञानका नियमन करते हैं; जो वीर्यमें स्थित हैं, वीर्यके अभ्यन्तर हैं, जिन्हें वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिनका शरीर है, जो भीतर रहकर वीर्यका नियमन करते हैं—इस प्रकार जो अध्यात्मरूप हैं।'

वे अधिदैव, अधिभूत, अध्यात्मस्वरूप सर्वान्तर्यामी कौन हैं? व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ही तो हैं! किंतु आज वे सर्वान्तर्यामी, सर्वनियामक श्रीकृष्णचन्द्र

* बृहदारण्यकोपनिषद् ३। ७। ३-२३।

वात्सल्यरस-सुधापानकी उत्कट अभिलाषावश अपने बाल्यावेशके अन्तरालमें अपना अनन्त ऐश्वर्य, अपनी अशेष नियामकताको छिपाये हुए, भूले हुए व्रजपुरकी विमल वसुंधरापर विचरण कर रहे हैं। जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्र, तारिकाएँ, आकाश, तम, तेज—इनमें अधिष्ठित देव, इन्हें अपने नेत्रोंसे निहारकर कृतार्थ हो रहे हैं। व्रजपुरमें ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त समस्त भूत उनका प्रत्यक्ष दर्शन कर धन्य-धन्य हो रहे हैं। आज श्रीकृष्णचन्द्र मानो अपने घ्राणके नियामक नहीं, घ्राण उनका नियमन कर रहा है; किसी भी गोपसुन्दरीके भवनमें नवनीतका सुवास पाते ही वे खिंचकर चले जाते हैं। आज श्रीकृष्णचन्द्र अपने नेत्रके नियन्ता नहीं रहे, नेत्र उनका नियमन कर रहा है, किसी भी आभीरसुन्दरीके घर दधि-दूध-नवनीत देखकर वे चुरानेके उद्देश्यसे चल पड़ते हैं। उनके श्रोत्र आज उनका नियन्त्रण कर रहे हैं, दधि-मन्थनकी ध्वनि कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते ही वे उस ओर भाग छूटते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके चित्तमें आज स्फुरणाओंका तार लगा है—अभी उस व्रजसुन्दरीके घर जाना है, फिर उसके घर, फिर उसके; आज चित्तके नियामक वे नहीं, चित्त उन्हें नियन्त्रित कर रहा है। किसी भी गोपसुन्दरीका स्पर्श पाते ही अधिकाधिक स्पर्शसुखके लिये वे व्याकुल हो उठते हैं; एक गृहसे दूसरे गृहमें इसीके लिये तो दौड़ रहे हैं, त्वक् उनका नियमन जो कर रहा है। बुद्धि श्रीकृष्णचन्द्रसे कहती है—यशोदानन्दन! ध्रुव सत्य है, प्रत्येक आभीरसुन्दरी तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी है, दधि-दुग्ध-नवनीतकी तो बात ही क्या; तथा श्रीकृष्णचन्द्र इस बुद्धिसे परिचालित होकर आभीरसुन्दरीके भवनमें मनमानी क्रीड़ा कर रहे हैं। भीतर अवस्थित रहकर आनन्द-वितरण करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र आज स्वयं रसवश हुए आनन्दोपभोगके लिये चञ्चल हो रहे हैं। आज वे सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णचन्द्र अदृश्य नहीं, आज तो वे अपने इन्द्रनीलद्युति श्रीअङ्गोंकी शीतल किरणोंसे पुरवीथीको उद्भासित, नवजलधर-कान्तिसे सिक्त, परमदिव्य सुरभिसे सुरभित करते हुए व्रजमें विचर रहे हैं। आभीरसुन्दरियोंके घर अपने परम रमणीय बाल्यचापल्यका प्रकाश कर, उनके दधि-दुग्ध-नवनीत, गोरसपात्र, गो, गोवत्स, गोपशिशुओंसे विविध क्रीड़ा कर परमानन्दका अनुभव कर रहे हैं। उनकी मधुर चञ्चल चेष्टाओंका दर्शन करके आभीरसुन्दरियाँ भी आनन्दविवश हो जा रही हैं। उनका आनन्दवर्धन करनेके लिये वे कभी उन्हें रोकना भी चाहती हैं, तो बोल नहीं पातीं, आनन्दसे कण्ठ सर्वथा रुद्ध हो जाता है—

बाल-बिनोद बिलोकि सूर प्रभु सिथिल भईं ब्रजनारि।
फुरै न बचन बरजिबे कारन, रहीं बिचारि-बिचारि॥

किंतु व्रजसुन्दरियोंके मनमें अब एक बात आयी—'श्रीकृष्णचन्द्रकी इन चञ्चल चेष्टाओंका आस्वादन हम सबोंको तो प्राप्त हो रहा है, हम सभी आनन्दमें डूब-उतरा रही हैं; पर व्रजरानी तो इस सुखसे वञ्चित ही रहीं! नीलमणि अपने गृहमें तो चञ्चलता करते नहीं।' बस, यह विचार उदय होते ही उन सबने मन-ही-मन कार्यक्रम स्थिर कर लिया—उलाहनेका मिस लेकर हम सब जायँ एवं नीलमणिकी प्रत्येक चेष्टाका वर्णन कर व्रजरानीको भी परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर दें। हृदयकी यह भावना मूर्त होने चली, गोपसुन्दरियाँ परस्पर एक-दूसरेको परामर्श देने लगीं—

गोपालहि माखन खान दै।
सुनि री सखी, मौन ह्वै रहिऐ, बदन दही लपटान दै॥
गहि बहियाँ हौं लैकै जैहौं, नैननि तपति बुझान दै।
याकौ जाइ चौगुनौ लैहौं, मोहि जसुमति लौं जान दै॥
तू जानति हरि कछू न जानत, सुनत मनोहर कान दै।
सूर स्याम ग्वालिनि बस कीन्हौ, राखति तन-मन-प्रान दै॥

उपालम्भ-लीला

व्रजेश्वरी दधिमन्थन कर रही हैं। उस दधिमन्थनकी ध्वनिमें अपनी कटिकिङ्किणी एवं पदनूपुरोंका स्वर मिलाकर नीलमणि नृत्य कर रहे हैं। आकाशपथमें सुरगण, सुरबालाएँ नीलमणिको निहारकर आनन्दसे बेसुध होती जा रही हैं। गोष्ठसे दुग्धकलश लानेवाले गोप श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे प्रसरित शत-सहस्र सौन्दर्यमन्दाकिनीकी धाराओंमें अवगाहनकर अतिशय चञ्चल हो रहे हैं, दुग्धपूरित कलशोंको वे यथास्थान रख नहीं पा रहे हैं, उनके हाथ एवं अङ्ग काँप जो रहे हैं। इसीलिये कितने कलसे ढरक गये, दूधकी धाराएँ बहने लगी हैं; पर उन्हें इसका भी भान नहीं, उनके नेत्र तो नाचते हुए नन्दनन्दनमें डूब रहे हैं। तथा व्रजरानीके आनन्दका तो कहना ही क्या है, मन-ही-मन वे अपने नीलमणिके इस मनोहर नृत्यपर कोटि-कोटि प्राणोंको न्योछावर कर दे रही हैं—

त्यौं-त्यौं मोहन नाचै, ज्यौं-ज्यौं रई घमरकौ होइ री।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर दोइ री॥
कंचन कौ कठुला मनि-मोतिनि, बिच बघनहँ रह्यौ पोइ री।
देखत बनै, कहत नहिं आवै, उपमा कौं नहिं कोइ री॥
निरखि-निरखि मुख नंद-सुवन कौ, सुर-बर आनँद होइ री।
सूर भवन कौ तिमिर नसायौ, बलि गइ जननि जसोइ री॥

दधिमन्थन समाप्त हुआ। किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके नृत्यका विराम नहीं हुआ। उसी आवेशमें वे नाचते ही रहे। व्रजरानी अपने हाथमें धवल नवनीतका एक पुष्ट खण्ड उठा लेती हैं। नीलमणिको देने चलती हैं, किंतु मुड़ते ही मणिस्तम्भमें नाचते हुए श्रीकृष्णचन्द्रका प्रतिबिम्ब जननीको दीख पड़ता है। वे रुक जाती हैं तथा उसी ओर देखने लगती हैं। प्रतिबिम्ब है या वास्तवमें नीलमणि—जननी यह निर्णय नहीं कर पातीं; क्योंकि उनकी श्रीकृष्णपूरित दृष्टिमें मणिस्तम्भका अस्तित्व ही जो विलीन हो गया है। एक क्षण वे असली नीलमणिकी ओर देखती हैं, दूसरे क्षण प्रतिबिम्बकी ओर। दोनोंमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं पातीं। एक-सा नर्तन है, एक-सा सौन्दर्य। प्रेम-भ्रान्त यशोदारानी प्रतिबिम्बको ही साक्षात् नीलमणि मानने लगती हैं। पर इतनेमें ही पुनः कुछ दूरपर नृत्यशील असली नीलमणि उन्हें दीख जाते हैं। अब 'नीलमणि क्या दो हैं?'—व्रजेशगेहिनी इस विचारमें पड़ जाती हैं। रसस्रोतमें डूबते-उतराते रहनेके कारण पहलेसे ही चञ्चल हुआ उनका चित्त और भी चञ्चल हो उठता है। रसकी प्रबल लहरोंसे बुद्धि भी ढक जाती है। व्रजरानी अन्तमें इसी निश्चयपर पहुँचती हैं कि नीलमणि एक नहीं, दो हैं; तथा दोनोंको समानरूपसे देनेके लिये वे नवनीतपिण्डके दो भाग कर लेती हैं—

नृत्यन्तमत्यन्तविलोकनीयं कृष्णं मणिस्तम्भगतं मृगाक्षी।
निरीक्ष्य साक्षादिव कृष्णमग्रे द्विधा वितेने नवनीतमेकम्॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

इसी बीचमें उलाहनेका मिस लेकर कुछ गोपसुन्दरियाँ आ गयी थीं। उन सबने भी श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य देखा तथा फिर देखा—यशोदारानीका यह प्रेम-विभ्रम। नवनीतको विभाजितकर वाम हस्तका भाग प्रतिबिम्बकी ओर एवं दक्षिणके भागको श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर करके जब वे दोनोंसे माखन उठा लेनेका संकेत करने लगीं, तब उन गोपसुन्दरियोंकी भी दशा विचित्र हो गयी। उनका प्रेम उमड़ा तथा वे भी भ्रान्त हो गयीं। किस उद्देश्यको लेकर आयी हैं, इसकी विस्मृति तो हो ही गयी। साथ ही उनकी दृष्टिमें तो दो नहीं, शतसहस्र श्रीकृष्णचन्द्र भर गये। नन्दभवन, नन्दप्राङ्गण, स्तम्भ, वेष्टन, यशोदा, गोपी-गोप—ये सब उनके सामनेसे विलुप्त हो गये; बच रहे—केवल नृत्यपरायण अगणित श्रीकृष्णचन्द्र। उनका यह आवेश जब शिथिल हुआ, तब उन्होंने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र तो खेलनेके लिये बाहर चले गये हैं एवं यशोदारानी विनीतस्वरमें उनका स्वागत करके कह रही हैं—'बहिनो! बैठ जाओ।

खड़ी क्यों हो! तुम सब आयी थीं; पर मैं तो आज ऐसी भ्रान्त हुई कि क्या बताऊँ। जब नीलमणि हँसने लगा, तब कहीं मुझे चेत हुआ। मुझे पतातक नहीं चला, बहिन, कि तुम सब कितनी देरसे खड़ी हो.........।' गोपसुन्दरियाँ, मानो सब-की-सब विक्षिप्त हों, ऐसी मुद्रा धारण किये कुछ देर तो खड़ी रहीं तथा फिर बिना कुछ कहे ही एक-एक कर लौट गयीं। यशोदारानी आश्चर्यमें डूबी इनकी ओर देखती रह गयीं।

कल भी एक गोपी उलाहना देने आयी थी। श्रीकृष्णचन्द्रने उसकी गोशालामें जाकर दुहनेके समयसे पूर्व ही बछड़ोंके बन्धन खोल दिये थे, गोवत्स सारा दूध पी गये थे। उसीका मिस लेकर प्रभात होते-न-होते वह यशोदारानीके समीप आयी थी। व्रजरानीने इतना सबेरे आनेका कारण पूछा। वह बताने चली कि बस, उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र शयनागारसे उठकर वहाँ आ गये। फिर तो ग्वालिन उस मुखकमलकी शोभामें ऐसी फँसी कि सब भूल गयी—

भूली री उराहने कौ दैबौ।
परि गए दृष्टि स्यामघन सुंदर चक्रित भई चितैबौ॥
चित्र लिखी-सी ठाढ़ी ग्वालिन, को समुझै समुझैबौ।
चत्रभुज प्रभु गिरिधर मुख निरखत कठिन भयौ घर जैबौ॥

नन्दरानीको कुछ भी बताये बिना ही वह 'गुन्-गुन्' करती हुई लौट गयी। उसकी दशा देखकर व्रजरानी कलसे ही विस्मय कर रही थीं। अस्तु,

इस प्रकार दो दिन उपक्रम होकर भी उलाहनेकी लीला स्थगित रही। अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी इच्छासे ही ऐसा हुआ। क्षणभरमें सारे व्रजपुरमें यह समाचार फैल गया कि कोई भी गोपी उलाहना देनेमें सफल नहीं हुई। यशोदारानीके समक्ष श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चेष्टाओंका वर्णन कर कोई भी उन्हें परमानन्दका उपहार समर्पित न कर सकी। जो गयी, वही श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर सुध-बुध खो बैठी। अतः संध्याके समय यह स्थिर हुआ—व्रजसुन्दरियोंने गोष्ठमें एकत्र होकर यह निश्चय कर लिया कि 'कल प्रातःकाल उलाहनेका मिस लेकर हम सभी एक साथ नन्दभवनमें चलें, वहाँ दिनभर रहकर श्रीकृष्णचन्द्रकी मधुर चर्चाका आनन्द व्रजरानीको दें। जिसके यहाँ श्रीकृष्णचन्द्रने जिस बाल्यमाधुरीका प्रकाश किया है, उसका वर्णन वह नन्दरानीके सामने उपालम्भके रूपमें करे तथा हमारे परम सौभाग्यसे यदि उस समय श्रीकृष्णचन्द्रके पद्मविनिन्दित, चञ्चल नयनोंमें किञ्चित् भयकी छाया पड़ जाय तो उस अभूतपूर्व सौन्दर्यका पानकर हम सभी निहाल हो जायँ।' यह निश्चय लेकर गोपसुन्दरियाँ अपने-अपने घरको लौटीं। लीलाशक्तिका उद्देश्य पूर्ण होने चला। एक साथ वात्सल्यवती समस्त पुरसुन्दरियोंको नन्दभवनमें एकत्र करनेके लिये ही तो उन्होंने दो दिन उपालम्भका अभिनय होने नहीं दिया है। अधिकाधिक रस-पानके लिये आकुल व्रजपुरन्ध्रियोंको श्रीकृष्णचन्द्रके विविध कौमारचापल्यकी रसतरङ्गिणीमें निमज्जित कर देनेके लिये ही तो सोलह पहरका विलम्ब हुआ है। जो हो, निशा आयी एवं निशाका अवसान भी हुआ। किंतु गोपसुन्दरियाँ तो सारी रात जागती ही रहीं। उन्हें निद्रा आयी ही नहीं। यदि किसीको क्षणभरके लिये तन्द्रा-सी हुई तो उसने केवलमात्र उलाहनेका ही स्वप्न देखा। प्रातःसमीरका स्पर्श पाते ही सब उठ खड़ी हुईं। आवश्यक कर्मसे निवृत्त हो, विविध मनोहर शृङ्गारसे सज्जित होकर, दिनभरके लिये गृहका सारा भार गृहस्वामीपर सौंपकर दल-की-दल नन्दप्रासादकी ओर चल पड़ीं।

इधर व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये स्वर्ण-सिंहासनपर विराजित हैं। कलेवा करके श्रीकृष्णचन्द्र आज खेलने बाहर नहीं गये। जननीके अङ्कमें उठकर उनसे मेवा खिला देनेके लिये कहने लगे। जननीके आनन्दका पार नहीं, नीलमणिने अबतक कभी ऐसी इच्छा प्रकट नहीं की थी। जननीकी शतशः मनुहारोंपर कभी वे एक-दो दाना मुखमें लेते थे। साथ ही यह दशा थी कि मृगशावकको निरुद्ध कर लेना सहज है,

पर कलेवाके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र रुक जायँ—यह सम्भव नहीं। अत: आजकी चेष्टा तो जननीको परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर देती है। सुवर्णथालमें विविध मेवा सजाकर वे बैठ जाती हैं तथा नीलमणिके मुखचन्द्रकी शोभा निहारती हुई उन्हें खिलाने लगती हैं। नीलमणि कुछ खाते हैं, कुछ जननीके आँचलपर बिखेर देते हैं। इस प्रकार मानो लीलाशक्तिने पुरसुन्दरियोंके लिये पहलेसे ही उपयुक्त रङ्गमञ्चकी रचना कर रखी है। क्रमश: दल-की-दल वे एकत्र होने लगती हैं। देखते-ही-देखते नन्दप्राङ्गण भर जाता है। उनके आभूषणोंकी झनकारसे नन्दप्रासाद मुखरित होने लगता है। व्रजरानी परम उल्लाससे सबका स्वागत तो अवश्य कर रही हैं, पर उन्हें अत्यन्त विस्मय है कि सर्वथा अनिमन्त्रित इतनी गोप-सुन्दरियाँ अचानक इस समय कैसे एकत्र हुईं! गोप-सुन्दरियोंके लिये एक आश्चर्यकी बात यह हुई है कि प्रत्येकको यह अनुभव हो रहा है कि मैं नन्दरानीके अत्यन्त समीप बैठी हूँ।

यथायोग्य पहले सबका क्षेमकुशल पूछकर नन्दरानीने फिर आनेका कारण पूछा तथा एक गोपसुन्दरी व्रजेशमहिषीको परमानन्द-दानके अभिनयमें मानो मङ्गलाचरण करने उठी। वह बोली—

अयि व्रजराजभाविनि भाविनितान्तदुरन्तभावोऽयं तव कुमारः। यदयं द्विपत्र एवाधुना धुनान इव भुवनमवलमानसम्पल्लीलोऽपि पल्लीलोऽपि चरितमभ्यस्यति स्थित्वा वा किं विधास्यति?

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'व्रजरानी! क्या बताऊँ? तुम्हारे नीलमणिका तो अभी कुमारवयस् है। पर भविष्यमें यह अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभावका होता दीखता है। भला, देखो! अभी तो यह एक छोटा पौधा-सा है, जो अभी-अभी अङ्कुरित हुआ है। उसमें केवल दो पत्ते लगे हैं। पर अभी ही यह दशा है कि यह सम्पूर्ण भुवनको कम्पित कर दे रहा है। अभी इसकी शक्तियाँ विकसित नहीं हुई हैं, फिर भी यह सम्पूर्ण व्रजपुरको नष्ट-भ्रष्ट कर देनेकी सामर्थ्य रखता है। आजकल तो यह ऐसी ही चेष्टाओंका अभ्यास कर रहा है। जब इस समय ही यह अवस्था है, तब जिस समय यह पौधा विशाल शाखा-पत्र-पुष्प-फलसमन्वित वृक्षके रूपमें परिणत होगा—तुम्हारा नीलमणि यौवनमें प्रवेश करेगा—उस समय यह क्या करेगा? व्रजपुरकी कैसी दशा कर देगा?'

यह कहकर गोपसुन्दरी मौन हो गयी। इससे अधिक कहनेकी सामर्थ्य जो उसमें नहीं थी। वह देख तो रही थी यशोदारानीके अङ्कमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर तथा ज्यों-ज्यों देखती, त्यों-ही-त्यों उसका हृदय उल्लाससे भरता जाता था। कठिनतासे हँसी रोक पा रही थी। पर यदि हँस देती तो उपालम्भकी मुद्रा नष्ट हो जाती। सारा खेल ही बिगड़ जाता। इसलिये इतना कहकर ही वह चुप हो गयी।

यशोदारानी हँसकर बोलीं—'बहिन! तू तो कविता सुनाने लगी, बात तो बता कि नीलमणिने किया क्या है।' किंतु गोपसुन्दरी सिर नीचा किये बैठी रही, उसके लिये हँसी रोकना असम्भव-सा हो रहा था। सिर उठाती तो सारी गम्भीरता नष्ट हो जाती। उसकी यह दशा देखकर एक दूसरी बीचमें ही बोल उठी—'नन्दरानी! मुझसे सुनो, मैं बताती हूँ; देखो, नीलमणि अत्यन्त नटखट हो गया है। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि अब व्रजपुरके कितने ही घरोंमें गोदोहन नहीं होता। गायोंके थनोंमें दूध बचे, तब तो गोदोहन हो। यह नीलमणि गोदोहनसे पूर्व ही गोष्ठमें जा पहुँचता है—अकेला नहीं, शत-सहस्र बालकोंको साथ लिये। हम सब जान भी नहीं पातीं कि कब कैसे पहुँच गया। वहाँ जाकर जितने बछड़े होते हैं, सबकी रस्सी खोल देता है। समाचार पाकर हम सब दौड़ती हैं, हमारे परिवारके गोप दौड़ते हैं; किंतु तबतक तो बछड़े दूध पी चुके होते हैं; क्योंकि हमारे पहुँचनेमें विलम्ब हो जाता है। यह तो ठीक अवसर देखकर ही ऐसा करता है। जब हम सब किसी अन्य कार्यमें अत्यन्त व्यस्त

रहती हैं, यह जान लेता है कि हम सब तुरंत वहाँ जा नहीं पायँगी, तभी ऐसी चेष्टा करता है। वहाँ इसे देखकर हम इसपर क्रोध करती हैं, पर हमारे क्रोध करनेपर यह हँस देता है। व्रजरानी! इसकी हँसीमें कुछ ऐसी मोहिनी है कि हमारा क्रोध भी शान्त हो जाता है, हम सब भी हँस पड़ती हैं—

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

अदुग्धदुग्धेषु गवां गणेषु निपाययत्येष विमुच्य वत्सान्।
सम्भूय भूयः क्रियते यदा वा रोषस्तदा लुम्पति तं स्मितेन॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजेश्वरी इस व्रजपुरन्ध्रीकी बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रके मन्दस्मितसमन्वित मुखारविन्दकी ओर देखने लगती हैं तथा फिर हास्यमिश्रित वाणीमें ही उससे पूछती हैं—'री! अच्छा, यह बता—ऐसा यह किसलिये करता है, ऐसा करनेमें कुछ हेतु तो होगा ही?' व्रजरानीके इस प्रश्नका उत्तर एक दूसरी गोपी देती है। उसने कहा—'नन्दरानी! व्रज तो तुम्हारा राज्य है, तुम मालकिन हो; नीलमणि तुम्हारा पुत्र है, हम सब भी इसे किस दृष्टिसे देखती हैं—तुम जानती हो। अतः मैं इसका दोष बताऊँ तो तुम रुष्ट मत होना। देखो, यह हमारे घरके सुस्वादु नवनीत, दुग्ध, दधि आदि अपहरणकर खानेके लिये ही ऐसा करता है। स्वाभाविक ही हम सब बछड़ोंको बाँधनेके लिये चली जाती हैं, हमारा गृह जनशून्य हो जाता है; उस समय नीलमणि हमारे घरमें प्रवेशकर दधि, दुग्ध, नवनीत आदि जितनी वस्तुएँ रहती हैं, उनको लेकर सखाओंके साथ भोजन करता है। व्रजराजमहिषी! क्षमा करना। नीलमणि वस्तु अपहरण करनेकी अनेकों युक्तियाँ जानता है। सर्वथा अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व अपहरणकलाका प्रकाश कर यह हमारे घर मनमानी करता है। चौर्यकलाका तो यह आचार्य बन गया है—

स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

स्तेयोपाये गुरुरयमखिले। (श्रीगोपालचम्पूः)

व्रजरानी विनोदके भावसे हँसती हुई बोलीं—'बहिन! तू है कृपणा; तूने मेरे नीलमणिको स्वयं जब नहीं दिया होगा तो शिशुस्वभाववश इसने तेरे घर छिपकर खा लिया होगा।' यह सुनते ही कई गोपियाँ एक साथ बोल उठीं—''नन्दरानी! जब कभी भी नीलमणि हमारे द्वारपर जाता है, हम सब न जाने कितना आग्रह करती हैं कि 'मेरे लाल! किञ्चित् नवनीत तू आरोग ले।' पर उस समय तो यह कहता है कि री! क्या मेरे घर नवनीत नहीं है, जो तेरे घरका खाऊँ? व्रजेश्वरी! सच बात तो यह है कि प्रकटमें दी हुई वस्तु इसे नहीं भाती, इसे तो छिपकर लेना भाता है।''

इस बार व्रजरानी खिलखिलाकर हँस पड़ीं तथा अङ्कमें विराजित नीलमणिके कपोलोंपर घन-घन चुम्बन अङ्कित करने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्रने वङ्किम चितवनसे गोपसुन्दरियोंकी ओर देखा एवं फिर देखा जननीकी ओर। मानो दोनोंके हृदयको वे परख रहे हों। अब आगे गोपसुन्दरियाँ क्या कहेंगी, अबतक जननीपर इस उलाहनेका क्या प्रभाव हुआ—इसकी परीक्षा कर रहे हों। जननीके मनोगत भावोंका किञ्चित् परिचय तो कपोल-चुम्बनने दे ही दिया था, अब और भी स्पष्ट हो गया; क्योंकि पुत्रको लाड़ लड़ाकर नन्दरानी बोलीं—'बहिन! नीलमणि जैसे मेरा है, वैसे ही तुम्हारा है। नवनीत ही तो उसने खाया है, तुम सबोंके घरोंमें तो नवनीतके भाण्ड भरे हैं।' व्रजरानीका यह कहना था कि कुछ गोप-सुन्दरियाँ हाथ नचाकर उच्चस्वरसे बोल उठीं—''गोपेन्द्रगेहिनी! बात इतनेतक ही सीमित नहीं है। नीलमणि स्वयं जितना खा सके, खा ले; अपने सखाओंको जितना वितरण कर सके, कर दे। पर यह स्वयं तो बहुत अल्पमात्रामें खाता है, शेष सब वानरोंको लुटा देता है। कदाचित् तुम देख पातीं तो समझतीं कि यह कितना उत्पात करता है। यह जिस ओर जाता है, उसी ओर सहस्रों वानर इसके

पीछे-पीछे चलते हैं। यह किसी भी घरमें एकान्त पाकर प्रवेश कर जाता है तथा गोरसपूर्ण मटकोंसे माखन, दूध, दही निकाल-निकालकर वानरोंको देना आरम्भ कर देता है। वानर शिशु है या प्रौढ़, इस ओर इसका ध्यान नहीं; यह तो सबको समान भावसे देता है तथा जब वानर खाते-खाते अघा जाते हैं, खानेसे उपरत हो जाते हैं, तब यह कहता है—'भैयाओ! देखो, इस गोपसुन्दरीके गृहके नवनीत, दधि आदि स्वादु नहीं; वानर भी नहीं खा रहे हैं; यह फूहरी है, यह माखन बिलोना नहीं जानती, इसे दही जमाना नहीं आता। ऐसे स्वादरहित माखन-दहीसे क्या प्रयोजन।' तथा यह कहकर गृहमें जितने नवनीत-दधि-दुग्ध-भाण्ड—हमारी ददिया सास, परददिया सासके समयके, बड़े यत्नसे सुरक्षित रखे हुए—उसे मिलते हैं, सबको फोड़ डालता है; नवनीत-दधि-दुग्धकी धारा बह चलती है—

मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति।

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

हेलालसं तत् कियदेव भुङ्क्ते शाखामृगान् भोजयते प्रकामम्।
न भुञ्जते ते यदि तृप्तिमन्तो भूमौ किरत्येव विभिद्य भाण्डम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इनकी बात सुनकर व्रजरानी तो हँसीं ही, उलाहनेके मिससे आयी हुई स्वयं अधिकांश गोपसुन्दरियाँ भी हँस पड़ीं।

वात्सल्यरस-घनमूर्ति व्रजेश्वरी नहीं जानतीं, वात्सल्य-भावितमति गोपसुन्दरियोंको पता नहीं, कि जिन रघुकुल-तिलक राघवेन्द्रकी कथा वे सुनती हैं, कभी गा-गाकर अपने कोटि-कोटि प्राणप्रियतम नीलमणिको भी सुनाती हैं, वे दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र एवं गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र दो नहीं हैं। क्या पता, व्रजराजनन्दनके हृदयमें त्रेताकी वह स्मृति जाग उठी हो; सुग्रीव-सम्मेलन, वानरी सेनाका आवाहन, उदधिके वक्षःस्थलपर सेतुबन्धन, कनकपुरीका भीषण रणाङ्गण, इन सबके अमिट संस्मरण उदय हो आये हों? यशोदानन्दन कदाचित् यह सोच रहे हों—आह! उस दिनकी बात! मेरा तपस्वी वेश था, परिग्रहका अत्यन्त अभाव था, प्रियावियोगसे व्यथित प्राण हाहाकार कर रहे थे, सुग्रीव न होते तो सेना एकत्र करनेका साधन ही मेरे पास क्या था? सुग्रीवकी ही सेना मेरी सेनाके रूपमें परिणत हो गयी। प्रत्येक वानर मेरा सैनिक था। ओह! उस दिन इस सेनाके किसी भी सैनिकने मुझसे पारिश्रमिककी याचना नहीं की; और तो क्या, उनकी उदरपूर्तिकी व्यवस्था भी मुझसे नहीं हो सकी थी। वे स्वयं ही वन्य फलोंको संचय करते थे, उन वनफलोंसे अपने उदरकी ज्वाला शान्त करते थे तथा मुझ वनवासीकी भी सेवा करते थे। इनकी सेवा हेतुरहित थी, सर्वथा निर्दोष, निष्कपट थी। इनके मनमें कभी कोई कल्पनातक नहीं उदय हुई कि मैं इन्हें कभी कुछ दूँगा। अनन्त उपकार इन्होंने किये थे, मैं उन उपकारोंको कैसे भूल जाऊँ। उनसे उऋण तो कभी होऊँगा ही नहीं। पर आज कम-से-कम सैनिकका पारिश्रमिक, वेतन तो इन्हें दूँ; अपने हाथोंसे अपनी प्रिय भोज्यवस्तु नवनीत-दही-दूध खिलाकर इनकी उदरपूर्ति तो कर दूँ!—यह सोचकर ही कदाचित् स्वयं भगवान्, अच्युत व्रजराजनन्दन इन वानरोंको दधि-दुग्ध आदिके मिससे वेतन दे रहे हों तो क्या पता—

वन्यैरेव फलैः स्वयत्नकलितैराकल्प्य वृत्तिं निजां
सेवा मे वनवासिनोऽपि विहिता प्रागेभिरव्याजतः।
इत्थं तत्प्लवगोपकारनिकरानालोचयन्नच्युतः
प्रादाद्वेतनमेव किं दधिपयोव्याजात् स तेभ्यस्तदा॥

(श्रीहरिसूरिविरचितभक्तिरसायनम्)

कुछ भी हो, गोपसुन्दरियोंने अपने उलाहनेमें वानरोंका प्रसङ्ग लाकर सबको आनन्दमें विभोर कर दिया। बड़ी देरतक सभी हँसती रहीं। व्रजरानी किसी तरह आत्मसंवरण कर बोलीं—"री! तब तू छिपाकर नवनीत आदि क्यों नहीं रखती? गृहके अन्तर्भागमें रखकर द्वार बंद कर दे, फिर यह कैसे ले सकेगा?' गोपसुन्दरियोंके एक दलने इसका उत्तर भी व्रजेश्वरीको

दे ही दिया। वे बोलीं—"यशोदारानी! यह भी हो चुका है, पर इसका परिणाम तो और भी भयंकर हुआ! तुम्हारा नीलमणि हम सबोंके घर गया था; कोई भी वस्तु इसे नहीं मिली कि जो यह नष्ट कर सके। फिर तो यह इतना क्रोधित हुआ कि क्या बताऊँ! हमसे कहने लगा—'री, ठहर जा! कलसे मैं एक प्रज्वलित अङ्गार साथ लेता आऊँगा; जहाँ दही, दूध, नवनीत आदि कुछ भी नहीं पाऊँगा, उस घरमें वह अङ्गार रख दूँगा; गृह ही भस्म हो जायगा। जिस गृहमें मेरे लिये कुछ नहीं, उसे तो ध्वंस ही हो जाना चाहिये। उस घरके बालकोंको भी ऐसी मार मारूँगा कि गृहस्वामिनी भी स्मरण करेगी।' इस प्रकार कहकर प्रमाणके रूपमें पर्यङ्कशायी छोटे शिशुओंको चिकोटी काटकर, रुलाकर भाग गया—

द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। २९)

दूरे स्थितो गर्जति तिष्ठ तिष्ठ भो दग्ध्वा गृहं ताडयितास्मि बालकान्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

"नन्दगेहिनी! तबसे हम सब इससे डरकर अवश्य इसके लिये कुछ-न-कुछ बाहर रख देती हैं। यह आता है, हँसकर कुछ खा लेता है, कुछ फेंक देता है।"

इतनेमें एक गोपतरुणी बोल उठी—व्रजराज-महिषी! एक दिन किसीने इसे कह दिया—रे नन्दनन्दन! तू तो चोर है। बस, यह कहना था कि तुम्हारे इस चञ्चल नीलमणिके अरुण पङ्कजनेत्रोंमें रोष भर गया तथा यह कहने लगा—री! मैं चोर नहीं, तू चोर है। यह घर मेरा है। इसलिये इस घरकी समस्त वस्तुएँ मेरी हैं। मेरी वस्तुको तू अपनी मानती है। वास्तवमें तो तू चोर है—

चोर एष इति केनचिदुक्तः क्रुद्ध एव निगदत्यतिधृष्टः।
त्वं हि चोर इदमेव मदीयं गेहमस्य सकलं हि ममैव॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

यशोदारानीके मुखपर मन्द मुसकान छा जाती है। एक बार वे पुनः श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखती हैं तथा फिर समस्त गोपसुन्दरियोंको लक्ष्य करके कहती हैं—'बहिनो! तुम सब मुझे विस्तारसे सुनाओ कि किसके घर मेरे नीलमणिने क्या किया है।' तब क्रमशः गोपसुन्दरियाँ अपना-अपना विवरण सुनाती हैं। प्रत्येकके लिये व्रजरानी 'अच्छा, ऐसे न रखकर ऐसे रखा करो तो' इस प्रकार कहकर कोई-न-कोई उपक्रम बना देती हैं तथा उसीके उत्तरमें क्रमशः गोपसुन्दरियाँ अपने-अपने घरका विवरण सुनाती हैं। एक बोली—'व्रजराज-भामिनी! ऊँचे छीकेपर रखे रहनेके कारण जब इसके हाथ नहीं पहुँचते तो यह पीढ़े या उलूखल आदिकी सहायतासे वहाँ पहुँच जाता है। मेरे घरकी बात है। जब इसने देखा कि हाथ नहीं पहुँचते तब इसने एक पीढ़ा रखा, फिर उस पीढ़ेपर एक-दूसरे पीढ़ेको स्थिर किया और उसपर एक और पीढ़ेकी स्थापना की। उस तीसरे पीढ़ेपर चढ़कर इसने हाथ उठाये। एक हाथसे नवनीत आदिका अपहरण करने लगा। इतनेमें मैं कई सखियोंके साथ वहाँ जा पहुँची। हम सबोंने निषेध किया। बस, छीकेपर दधि-दुग्धके जितने पात्र थे, सब-के-सब उसने पृथ्वीपर पटक दिये। मेरे ही घर नहीं, कई घरोंमें प्रायः यह ऐसा ही करता है—

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

करालभ्ये पीठं विरचयति पीठोपरि पुन-
स्तदूर्ध्वं तच्चान्यत्तदुपरि समारोप्य चरणौ।
समुद्बाहुः शिक्याद्दधि च नवनीतादि च हरन्
निषिद्धश्चेत् कैश्चित् क्षिपति सकलं तूर्णमवनौ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

दूसरी पुरसुन्दरीने कहा—जब छीके इतने ऊँचे होते हैं कि पीढ़े आदिसे भी उनके पास नहीं पहुँचा जा सकता, तब यह पत्थर फेंककर या वहींपर पड़ी लंबी बर्छी उठाकर उनसे उन दधिनवनीतपूरित भाण्डोंमें छिद्र कर देता है। किस पात्रमें दधि है, किसमें नवनीत

है, किसमें दूध भरा है—इसका पूर्ण ज्ञान इसे पात्र देखते ही हो जाता है। उनके अनुरूप ही छोटा-बड़ा, चौड़ा-लंबा—कैसा छिद्र करना चाहिये, इस कलामें भी यह प्रवीण है तथा छिद्र करके अपना एवं सखाओंका मुख उसके नीचे कर लेता है, दधि-नवनीतकी धाराएँ ठीक इसके मुखमें गिरती हैं। मेरे एवं पार्श्ववर्ती गोपोंके घर ऐसी घटना हो चुकी है—

छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित्।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

तीसरी बोली—यशोदारानी! मेरे घरकी घटना सुनो। ऊँचे छीकेपर मैंने दूधका भाण्ड रख दिया था तथा भाण्डसे सटाकर एक घण्टा उसी छीकेमें बाँध दिया था—इसलिये कि नीलमणि किसी प्रकार भी यदि इसके पास पहुँच गया या उसने छिद्र किया तो घण्टा बज उठेगा और मैं पहुँच जाऊँगी। यह व्यवस्था करके मैं पार्श्ववर्ती गृहमें चली गयी। कुछ देर पश्चात् यों ही चली आयी। आकर जो देखा तो हँसी आने लगी। देखती हूँ—एक पीढ़ेपर दूसरा पीढ़ा रखा है, उसपर एक गोपशिशु खड़ा है। गोपशिशुके कंधेपर तुम्हारा नीलमणि चढ़ा हुआ है। नीलमणिने एक हाथसे घण्टाको पकड़ लिया, जिससे शब्द न हो जाय। फिर उसने भाण्डमें एक छिद्र किया। जब दूधकी धारा बह चली तो उसने मुखके समीप अपने एक हाथसे अञ्जलि बाँध ली, धारा उसीमें गिरने लगी। आनन्दविभोर होकर वह अपना सिर हिलाते हुए दुग्धपान करने लगा। कुछ देरतक तो मैं भी आनन्दजड हुई यह दृश्य देखती रही, पर फिर मुझे नीलमणिको पकड़ लेनेकी इच्छा हुई। मैं आगे बढ़ी। उसने भी मुझे देख लिया। इसका मुख उस समय दूधसे भरा था। इसने उसी दूधको फूत्कार करते हुए मेरी आँखोंपर फेंक दिया। दूधसे मेरी दोनों आँखें भर गयीं और इसी बीच यह कूदकर भाग गया—

पीठे पीठनिषण्णबालकगले तिष्ठन् स गोपालको
यन्त्रान्तःस्थितदुग्धभाण्डमवभिद्याच्छाद्य घण्टारवम्।
वक्त्रोपान्तकृताञ्जलिः कृतशिरःकम्पं पिबन् यः पयः
पायादागतगोपिकानयनयोर्गण्डूषफूत्कारकृत्॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

इसकी बात सुनकर सभी हँसने लगीं तथा जब एक अन्य गोपसुन्दरीने अपना विवरण सुनाया, तब तो सभी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयीं। वह बोली—कृष्णजननी! सुनो, परसोंकी बात है। नीलमणि मेरे घर गया। जाकर इसने नवनीतभाण्डमें हाथ डाल दिया। मैं दूरसे बोली—'रे शिशु! तू कौन है?' यह बोला—'री, मैं बलरामका छोटा भाई हूँ।' मैंने पूछा—'फिर यहाँ क्यों आया है?' इसपर इसने अविलम्ब उत्तर दिया—'मैं तो अपना घर समझकर आ गया।' मैं हँसकर बोली—'ठीक है, भ्रम होना तो सम्भव है; पर तुमने नवनीतके मटकेमें हाथ क्यों डाला?' इसपर इसने बड़ी गम्भीर मुद्रामें कहा कि 'गोपी मैया! देख; मेरा एक गोवत्स खो गया था, उसे ही मैं ढूँढ़ रहा था। तू क्षणभरके लिये अन्यथा चिन्तन या दुःख मत कर कि मैं तेरा माखन खाने आया हूँ।' तथा फिर इसने माखनसे सने एक स्फटिकनिर्मित गोवत्सको (खिलौनेको) मुझे दिखाया और बोला—'माता! मिल गया! अब मैं जाता हूँ। बाबाने मधुवनसे लाकर इस गोवत्सको मुझे दिया था। यह प्रायः मेरे हाथसे—जहाँ कहीं भी नवनीत-भाण्ड इसने देखा कि उसीमें —कूद पड़ता है; फिर इसे निकालनेमें मुझे बड़ी कठिनता होती है।'—कहकर यह तो चला गया और मैं हँसीमें इसे पकड़ना भूल गयी—

कस्त्वं बाल बलानुजः किमिह रे मन्मन्दिराशङ्कया
युक्तं तन्नवनीतपात्रविवरे हस्तं किमर्थं न्यसेः।
मातः कंचन वत्सकं मृगयितुं मा गा विषादं क्षणा-
दित्येवं वरवल्लवीप्रतिवचः कृष्णस्य पुष्णातु नः॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

एक व्रजभामाने यह कहा—व्रजेशगृहिणी! एक बात मैं सुनाती हूँ। सब उपायोंसे हारकर मैंने नवनीत-भाण्ड एक सर्वथा अन्धकारपूर्ण गृहमें रख दिये। ऐसा

करके मैं निश्चिन्त हो गयी। पर लौटकर देखा तो दंग रह गयी। नीलमणि उस प्रकोष्ठमें खड़ा माखन खा रहा है, उसके श्यामल अङ्गोंको विभूषित करनेवाले मणिआभूषणोंके प्रकाशमें प्रकोष्ठ जगमग-जगमग कर रहा है। इस प्रकाशमें प्रकोष्ठका अणु-अणु उद्भासित हो रहा है—

मणिगणमहसा गणयति न तमः। (श्रीगोपालचम्पूः)

इसकी बात पूर्ण भी नहीं हुई थी कि एक नव-तरुणी चटपट बोल उठी— बावरी! तू तो मणिभूषणोंके तेजकी बात कहती है। अरे! इसका अङ्ग ही प्रदीप है। जहाँ यह जाता है, वहीं एक श्यामज्योति भर जाती है। उस ज्योतिके आलोकमें गहन अन्धकारमें बड़ी गुप्त, सुरक्षित रखी हुई नवनीत आदि सभी वस्तुओंको यह पा लेता है, बाहर निकाल लाता है—

ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपम्।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

निह्नुत्य यत्नाद् गहनान्धकारे हैयंगवीनादि सुरक्षितं यत्।
प्रविश्य पश्यन् स्वमहःप्रकाशैस्तत् सर्वमानीय बहिष्करोति॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

एक व्रजपुरन्ध्री बोली—कृष्णजननी! प्रथम तो इसके मुखका स्मित, इसकी अमृतस्राविणी मधुर स्वरलहरी, अङ्गसंचालन, अङ्गलावण्य आदि ही ऐसे हैं कि इसे देखते ही हम सब मोहित हो जाती हैं, इसके दर्शनजन्य मधुपानसे उन्मादिनी होकर अशक्त हो जाती हैं तथा हमारे सामने ही यह हमारी वस्तुओंको ले जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे घरके बालकोंको भी इसने अपना साथी बना लिया है, वे इसके गुप्तचरका काम करते हैं। ठीक जिस समय हम सब गृह-कार्यमें अत्यन्त व्यग्र रहेंगी, इसे इसकी सूचना हमारे पुत्रोंके द्वारा ही मिल जायगी तथा यह वहाँ पहुँचकर यथायोग्य उत्पात आरम्भ कर देगा —

काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३०)

एक अत्यन्त सरला गोपवनिताने यह कहा — सुन्दरी यशोदे! देव-पूजाके लिये मैंने भूमिका प्रक्षालन — मार्जन किया था, सुन्दर चौक पूरे थे, भोग धराये थे। यह आया, पूजासे पूर्व ही भोग उठाकर खाने लगा। मेरे पूछनेपर बोला —'री! देवता तो मैं हूँ, मेरी पूजा किया कर।' मैं चिढ़कर इसे पकड़ने चली, पर अकेली थी। इसने सखाओंसे कहा—'भैयाओ! मेरा निरादर करके यह पूजा करने चली है; इसकी यज्ञवेदी तो भ्रष्ट करने योग्य, मूत्र त्यागने योग्य है।' बस, इसके सखा इसका संकेत पाकर कुछ तो अपवित्र धूलि-पत्ते फेंककर, कुछ मूत्र त्यागकर, सब कुछ अशुद्ध करके भाग गये—

एवं धाष्टर्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३१)

अपि बालान्मेहयते गेहे। (श्रीगोपालचम्पूः)

वास्तौ लिप्ते सुललितमृदा चित्रिते चारुचूर्णै-
र्धूलीपत्रादिभिरशुचिभिः शुद्धिहानिं करोति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर संकेत करते हुए उसी सरला गोपीने कहा—'तनिक इसकी ओर देखो तो सही! इसके भीतर चोरीकी न जाने कितनी कलाएँ छिपी हैं, चोरीके उपायोंसे व्यापार चलानेमें यह कितना सुनिपुण है, पर यहाँ तुम्हारे सामने ऐसी मुद्रामें बैठा है, मानो सर्वथा साधु-स्वभाव परम शान्त शिशु हो—

स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते।

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३१)

इस प्रकार विविध मुद्रा धारणकर व्रजसुन्दरियोंने श्रीकृष्णचन्द्रके कौमारचापल्यका वर्णन व्रजराजगेहिनीको सुनाया। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी भीतिविजड़ित नयनोंकी शोभा वे देखना चाहती थीं, व्रजरानीको उनके नीलमणिकी चञ्चल चेष्टाओंका वर्णन श्रवण कराकर, मधुपान कराकर सुख-समुद्रमें निमज्जित करना चाहती थीं तथा ऐसा करके स्वयं भी उसी

सागरकी लहरोंमें स्नान करने आयी थीं; लीलाशक्तिने उनके ये तीनों मनोरथ पूर्ण कर दिये। गोपसुन्दरियोंने पुलकित होकर देखा कि श्रीकृष्णचन्द्रके नयनारविन्दोंमें भयके चिह्न सुस्पष्ट हो रहे हैं, उन्हें भय हो रहा है कि जननी कहीं गोपसुन्दरियोंकी बातोंसे मेरी ताड़ना तो नहीं करेगी। किंतु जननीके नेत्रोंसे, रोम-रोमसे आनन्दका निर्झर झर रहा है। उनके मुखपर अतिशय उल्लास भर आया है, प्रसन्नमुखसे वे कुछ कहना चाहती हैं, पर सुखातिरेकसे कण्ठ रुद्ध हो गया है। सब सुनकर भी ताड़नाकी बात तो दूर, अपने नीलमणिको स्नेहपूरित उपालम्भ भी वे इसके लिये दें, यह कल्पना भी उनके मनमें नहीं उदय हुई—

इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-
र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८। ३१)

गोपसुन्दरियाँ भी व्रजरानीका यह भाव, श्रीकृष्णचन्द्रकी वह मुद्रा देखकर परमानन्दके प्रवाहमें बह चलती हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रने जब अपनी मैयाकी प्रसन्नमुद्रा देखी, तब उन्हें साहस हो आया। फिर तो गोपसुन्दरियोंके सम्बन्धमें उन्होंने भी अपनी मैयाको बहुत-सी बातें बतायीं। मैं इनके घर क्यों जाता हूँ, वहाँ क्या करता हूँ, किस प्रकार ये मुझे अपने सुखका साधन बनाती हैं—इन बातोंपर प्रकाश डालते हुए उन्होंने भी गोपसुन्दरियोंपर कई अभियोग लगाये। उनकी सुधाभरी वाणीमें यह वर्णन सुनकर व्रजेश्वरी एवं गोपसुन्दरियाँ आनन्दोन्मादके कारण कुछ देरके लिये तो वास्तवमें सुध-बुध खो बैठीं। सबका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। जब चेतना आयी, तब देखा मध्याह्नका सूर्य ढल रहा है, व्रजेश्वर आदि भोजनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

व्रजरानी उठीं। पहले व्रजराज आदि गोपोंने भोजन किया, फिर समस्त पुरसुन्दरियोंकी पङ्क्ति एक साथ बैठी। श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपनी जननीकी गोदमें विराजित होकर दाऊ भैयाके साथ भोजन किया। भोजनका ऐसा सुख व्रजपुरन्ध्रियोंने अबतक कभी अनुभव नहीं किया था।

बड़ी देरतक व्रजरानी रसालाप करती रहीं। फिर गोपसुन्दरियोंके भालपर मङ्गल-तिलककी रचना कर, उनकी यथायोग्य पूजा कर उन्हें विदा किया—

तासां बन्धुसपर्यां विधाय च विसर्जयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उसी दिन संध्यासे कुछ पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र कतिपय गोपसुन्दरियोंके घर पुनः गये। उनके घरमें जितने नवनीत-दधि-दुग्ध आदि पदार्थ संचित थे, सबको बिखेरकर बहा दिया। उन गोपियोंका अन्तर्हृदय तो आनन्दसे नाच उठा, किंतु बाहर वे अतिशय कुपित हुईं। बड़-बड़ करती हुई वे व्रजेश्वरीके समीप पहुँचीं। श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चलताका दायित्व उन्होंने व्रजरानीपर ही रखा तथा उन्हें खूब खरी-खोटी सुनायीं। व्रजरानीने हाथ जोड़कर उन्हें शान्त किया। श्रीकृष्णचन्द्रको ये सब कोई अभिशाप न दे दें—इस भयसे वे उनसे क्षमा-याचना करने लगीं। फिर भंडारमें गयीं। दधि-दुग्ध-नवनीतकी शत-शत मटकियाँ दासियोंसे उठवाकर आँगनमें रखवायीं तथा नीलमणिने जिसके घर जितनी हानि की है, उतना तौल-तौलकर ले जानेकी सबसे प्रार्थना की। साथ ही हाथ जोड़कर यह निवेदन करने लगीं—

गारी मति दीजौ, मो गरीबनी कौ जायौ है।
जितौ तो बिगार कियौ, आनि कहौ मो सौं तुम,
मैं तो काहू बातनि में नाहिं तरसायौ है॥
दधि की मटुकिया लै-लै आँगन में आनि धरी,
तौलि तौलि लीजौ भटु, जेतौ जाकौ भायौ है।
सूरदास-प्रभु प्यारे, निमिष न हूजौ न्यारे,
कान्ह-जैसी पूत पूरे पुन्यनि तैं पायौ है॥

श्रीकृष्णकी दूसरी वर्षगाँठ, श्रीकृष्णके द्वारा मोतियोंकी खेती

उस दिन भी आकाशसे बूँदें झर रही थीं, आज भी मेघ मुक्ता-सदृश जलबिन्दुओंकी वर्षा कर रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी पिछली प्रथम वर्षगाँठके समय जो कुछ जैसे हुआ था, आज इस वर्षगाँठके दिन भी सब कुछ सर्वथा वैसे ही हो रहा है। उस दिन गोपपुरसुन्दरियोंने देखा था—

आजु भोर तमचुर के रोल।
गोकुल मैं आनंद होत है, मंगल-धुनि महराने टोल॥
फूले फिरत नंद अति सुख भयौ, हरषि मँगावत फूल-तमोल।
फूली फिरति जसोदा तन-मन, उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल॥
तनक बदन, दोउ तनक-तनक कर, तनक चरन पोंछति पट झोल।
कान्ह-गरें सोहति मनि-माला, अंग अभूषन अँगुरिनि गोल॥
सिर चौतनी, डिठौना दीन्हौ, आँखि आँजि पहिराइ निचोल।
स्याम करत माता सौं झगरौ, अटपटात कलबल करि बोल॥
दोउ कपोल गहि कै मुख चूमति, बरष-दिवस कहि करति कलोल।
सूर स्याम ब्रज-जन-मन-मोहन, बरष-गाँठि कौ डोरा खोल॥

आज भी वे व्रजेश्वरीको आनन्दमत्त एवं अस्त-व्यस्त भावसे आदेश करते देख रही हैं—

अरी, मेरे लालन की आजु बरष-गाँठि,
सब सखिनि कौं बुलाइ मँगल-गान करावौ।
चंदन आँगन लिपाइ, मुतियनि चौकैं पुराइ,
उमँगि अँगनि आनँद सौं, तूर बजावौ॥
मेरे कहें बिप्रनि बुलाइ, एक सुभ घरि धराइ,
बागे-चीरे बनाइ, भूषन पहिरावौ।
अछत-दूब दल बँधाइ, लालन की गँठि जुराइ,
इहै मोहि लाहौ नैननि दिखरावौ॥
पँचरँग सारी मँगाइ, बधूहि जननि पैहराइ,
नाचैं सब उमँगि अंग, आनँद बढ़ावौ।
नँदरानी ग्वारिन बुलाइ, इहै रीति कहि सुनाइ,
बेगि करौ किन, बिलंब काहैं लगावौ॥

अन्तर केवल इतना है कि उस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी जितनी आयु थी, आज उससे एक वर्ष अधिककी है; उनके श्रीअङ्गोंका सौन्दर्य, नित्य नवीन लावण्य, मधुरिमा—ये सब क्षण-क्षणमें बढ़कर कोटि-कोटि-गुणित हो गये हैं; तथा पुरवासियोंका, विशेषत: व्रजसुन्दरियोंका आनन्द अपरिसीम बन गया है। अनन्त पारावाररहित आनन्दसागरमें लहरियोंकी भाँति नाचती हुई वे व्रजपुरन्ध्रियाँ नन्दभवनमें उत्सव मनाने आयी हैं, मधुर मङ्गलगान करती हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी आजकी झाँकीपर न्योछावर हो रही हैं—

उमगीं व्रजनारि सुभग, कान्ह बरष-गाँठि उमँग, चहतिं बरष बरषनि।
गावहिं मंगल-सुगान, नीकें सुर, नीकी तान, आनँद अति हरषनि॥
कंचन मनि-जटित थार, रोचन, दधि, फूल-डार, मिलिबे की तरसनि।
प्रभु बरष-गाँठि जोरति, वा छबि पर तृन तोरति, सूर अरस-परसनि॥

उत्सव अपराह्णमें समाप्त हुआ। विप्र-पूजा, अतिथि-अभ्यागत-अर्चना, बन्धु-बान्धव-कुटुम्ब-सहभोज—सबसे निवृत्त होकर यशोदा रानीने अब कहीं नीलमणिको बाहर जानेकी अनुमति दी। अबतक श्रीकृष्णचन्द्रको भवनमें रुद्ध रखना जननीकी एक भारी विजय है। कितनी कठिनता मैयाको हुई है, यह वे ही जानती हैं। 'मेरे लाल! मैं तुम्हें एक मणिनिर्मित मयूर दूँगी, उसे तू नचाना। अरे देख, मेरे पास एक हीरक-गोवत्स (खिलौना) इतना सुन्दर है कि तू देखकर चकित रह जायगा, मैंने तुझे देनेके लिये ही मँगाया है, तू उसे बलरामको दिखाना; उसके पास ऐसा कोई खिलौना नहीं।'—इस प्रकार विविध प्रलोभनोंमें नीलमणिको भुलाकर जननीने दो पहर बिताये हैं; क्योंकि माङ्गलिक कृत्यके लिये श्रीकृष्णचन्द्रका घरपर रहना आवश्यक था। साथ ही जननीको भय था कि पता नहीं यह बाहर जाकर किस गोपीके घर कौन-सा उत्पात करने

लग जाय और इस प्रकार उत्सवमें विघ्न हो जाय। जो हो—जननीके आदेशकी देर थी, श्रीकृष्णचन्द्र कूदते-फाँदते तोरणद्वारके समीप पहुँचे। वहाँ गोपसखा प्रतीक्षा कर रहे थे। उन सबको साथ लेकर वे पलभरमें ही राजपथकी सघन तरुश्रेणीमें मानो मिल-से गये। यशोदा रानी, गोप-रामाएँ जान न सकीं कि श्रीकृष्णचन्द्र किधर, किस दिशामें गये। गोपियाँ भी अपने-अपने घर लौटनेका उपक्रम करने लगीं, पर भीतरसे सभी जान-बूझकर विलम्ब कर रही थीं—इस आशासे कि मेरे पीछे कदाचित् नन्दनन्दन मेरे घर ही गये हों तो उन्हें यथेच्छ उत्पात करनेका समय मिल जाय। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र आज इनमेंसे किसीके भी घर उत्पात करने नहीं गये। वे तो सर्वथा एक अभिनव लीलाका सूत्रपात करने एक ग्वालिनके घर गये हैं। अस्तु,

अपने घरमें एकाकिनी एक गोपबाला बैठी है। उसके घरके सभी वर्षगाँठ-महोत्सवमें चले आये हैं। शीघ्र-से-शीघ्र आवश्यक गृहकार्य समाप्त करके नन्दभवनमें चले आनेके लिये उससे भी वे सब कह गये थे। पर श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन करते-करते वह ऐसी भूली कि 'आज वर्षगाँठ है, यह स्मृति भी खो बैठी। उसके नेत्रोंके सामने तो श्रीकृष्णचन्द्र विविध क्रीड़ा कर रहे थे और वह देख रही थी। यह उसके मनकी कल्पना है, यह भान भी उसे नहीं रहा। वह तो अनुभव कर रही थी—'वास्तवमें प्रत्यक्ष नन्दनन्दन ही हैं, सखाओंके साथ खेल रहे हैं।' आठ घड़ी बीत गयी है, पर उसे चेत नहीं। उसे ही चेत करानेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र उत्सव समाप्त होते-न-होते और कहीं न जाकर इसके घर आये हैं।

अपने घर तुमुल आनन्दनाद सुनकर गोपबालाके नेत्र खुल गये। उसने देखा—अपनी नवनीरद-कान्तिसे भवनको उद्भासित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र मेरे सामने खड़े हैं। गोपसुन्दरी ठीक निर्णय न कर सकी कि यह जाग्रत् है या स्वप्न। पर उसके प्राणोंमें एक अभूतपूर्व उल्लास भर गया। इतनेमें वीणाविनिन्दित मधुरातिमधुर कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्र बोल उठे—'क्यों री! तू मेरे घर नहीं आयी? और सब ग्वालिनें तो वहाँ हैं।' और यह कहकर वे हँसने लगे। गोपबालाको प्रतीत हुआ—मानो उसके कर्णपुटोंमें किसीने सुधा ढरका दी हो, मधुकी धारा बहा दी हो। उन्मत्त-सी हुई वह उठ खड़ी हुई, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दौड़ी। श्रीकृष्णचन्द्र उसे आते देखकर भागने लगे, पर उसने तो विद्युद्गतिसे आकर उनका एक हाथ पकड़ लिया। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको भय होने लगा कि पता नहीं इसने क्यों पकड़ लिया, क्या करेगी। वे हाथ छुड़ानेकी चेष्टा करने लगे। पर ग्वालिन हाथ छोड़ जो नहीं रही है। बार-बार वे उससे कहते हैं—'री! तूने मुझे पकड़ा क्यों? छोड़ दे, मुझे विलम्ब हो रहा है।' किंतु वह न तो छोड़ती है न कोई उत्तर देती है। केवल हँसने लगती है। आखिर वे अपने छूटनेकी युक्ति निकाल लेते हैं। गोपसुन्दरीके वक्षःस्थलपर झूलते हुए मुक्ताहारको दूसरे हाथसे खींचकर तोड़ डालते हैं। मोती भूमिपर बिखेरने लगते हैं। अस्त-व्यस्त हुई गोपसुन्दरी उन मोतियोंको सँभालने जाती है तथा इसी बीचमें श्रीकृष्णचन्द्रका हाथ छूट जाता है और वे भाग निकलते हैं। गोपसुन्दरीने मोतीके दो-चार दाने तो चुनकर अञ्चलमें रख लिये, पर उसे ऐसा प्रतीत होने लगा—आह! मेरा मनरूप मणि हरकर श्रीकृष्णचन्द्र चले गये हैं। अविलम्ब वह भी उस टूटे हुए मुक्ताहारको हाथमें लिये सर्वथा बावली-सी हुई नन्दभवनकी ओर चल पड़ती है।

अभी भी व्रजराजके द्वारपर गोपवनिताओंकी भीड़ लगी है। कोई भी गोपसुन्दरी वहाँसे हटना जो नहीं चाहती। नन्दनन्दनकी चेष्टाओंको परस्पर एक-दूसरीसे बताकर सभी सुखसमुद्रमें निमग्न हो रही हैं। इनके बीचसे होकर वह गोपबाला यशोदारानीके पास चली जाती है। कुछ देरतक तो यों ही खड़ी रहती है। चकित होकर व्रजेश्वरी उससे आनेका कारण पूछती हैं, पर वह कुछ भी नहीं बोलती। जब यशोदारानी

अतिशय प्यारसे उसे अपने निकट बैठाकर उसके सिरपर हाथ फेरती हैं, तब वह किसी प्रकार आत्मसंवरण करके अपनी बात कहती है—'मैया! देखा, मैं अपने घर अकेली बैठी थी, तुम्हारे नीलमणिने वहाँ जाकर मेरा मुक्ताहार तोड़ दिया।' इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आ पहुँचते हैं। जननीके द्वारा दिये हुए मणिमयूर (खिलौना)-को वे साथ ले जाना भूल गये थे, उसीको लेने आये हैं। जननी उन्हें अपने समीप बुलाती हैं, मुक्ताहार तोड़नेके सम्बन्धमें पूछती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी सर्वथा सत्य उत्तर देते हैं। घटना सुननेपर उपस्थित गोपसुन्दरियोंका हृदय आनन्दसे भर जाता है। जननीके मुखारविन्दपर हँसी छा जाती है। वे पास खड़े अपने नीलमणिको गोदमें उठा लेती हैं, कपोलोंका चुम्बन करके उनके कानमें धीरे-धीरे कुछ समझाती हैं। फिर अपने कण्ठका बहुमूल्य मुक्ताहार निकालकर नीलमणिके हाथपर रख देती हैं। 'ले! यदि मैंने तेरा हार तोड़ दिया है तो तू बदलेमें यह मुक्ताहार ले जा।'—यह कहते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उस हारको गोपबालाके हाथपर रख देते हैं तथा अपना मणिमयूर लेकर बाहरकी ओर दौड़ जाते हैं। यशोदारानी उस मुक्ताहारको उठाकर गोपसुन्दरीके गलेमें डाल देती हैं। हार पाकर उसकी क्या दशा हुई, यह तो केवल वही जानती है। पर उसका यह अप्रतिम सौभाग्य निहारकर अन्य गोपतरुणियोंका तो रोम-रोम पुलकित हो उठा। साथ ही उन सबके अन्तस्तलमें यह लालसा जाग उठी—'ओह! कदाचित् हमारा भी यह सौभाग्य होता—नन्दनन्दनके सुकोमल करपल्लवसे स्पृष्ट मुक्ताका एक दाना भी कहीं हम पा जातीं!'

इसके दूसरे दिनकी बात है। मुक्ता एवं प्रवालसे भरी पेटी सिरपर रखे हुए एक बनजारा (व्यापारी) व्रजपुरमें मुक्ता विक्रय करने आया,—नहीं-नहीं, स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्ति उस बनजारेको बुलाकर ले आयीं। वीथियोंमें फेरी देते हुए वह राजसभा-भवनके पास आया। व्रजेशका वैभव देखकर उसके नेत्रोंमें चकाचौंध छा गयी। न जाने कितनी देर वह अतृप्त नयनोंसे नन्दप्रासाद एवं सभाभवनकी शोभा निहारता रहा। फिर पेटी उठाकर अपने आवासकी ओर चल पड़ा। उसके हृदयमें स्पन्दन हो रहा है—'भला, इस परम दिव्य रत्नमय व्रजपुरमें मेरे इन क्षुद्र मुक्ताओंका ग्राहक कौन मिलेगा?' इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र सामने आ निकले। 'क्या बेचते हो?' यह पूछने लगे और पेटी उतरवाकर मोती देखने लगे।

उन मुक्ताओंमें ऐसी ज्योति पहले थी या नहीं, कहना कठिन है। पर जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्रकी उनपर दृष्टि पड़ी, उस क्षणसे तो उनकी चमक-दमक ऐसी बढ़ गयी कि सारे व्रजवासी उन्हें देखकर थके-से, जके-से रह गये! अब नन्दनन्दन तो उन मोतियोंको लेनेके लिये मचल उठते हैं—

निरखि नैन अरुझ्यौ मनमोहन, रटत देहु कर बारंबार।

बनजारा पहले तो नन्दनन्दनकी ओर निर्निमेष नयनोंसे देखता रहता है। फिर एक परम सुन्दर मोती उनके करपल्लवपर रख देता है। पर मोतीका मूल्य? इतना अधिक कि सुनते ही व्रजेश्वर भी चकित रह जाते हैं। लौटानेका तो प्रश्न ही नहीं; क्योंकि उस सुन्दर मोतीकी ज्योतिपर नन्दनन्दन रीझ जो गये हैं, अपने हाथपर रखे हुए हैं, दूसरेके हाथपर भी नहीं देते—

दीरघ मोल कह्यौ ब्यौपारी, रहे ठगे सब कौतुक हार।
कर ऊपर लै राखि रहे हरि, देत न मुक्ता परम सुढार॥

पुत्रका हठ देखकर व्रजेश्वर उस मोतीका मूल्य चुका देते हैं, श्रीकृष्णचन्द्रकी विजय होती है। वे मुक्ता हाथमें लिये भवनके प्राङ्गणमें चले जाते हैं; किंतु आज तो उन्हें नया खेल खेलना है। इसीलिये तुरंत कालिन्दीकी कर्पूरधवल रज मँगाते हैं। रजसे परम सुन्दर आलवाल (थाला) निर्मितकर उसमें बीजकी भाँति उस मुक्ताको बो देते हैं—

गोकुलनाथ बए जसुमति के आँगन भीतर, भवन मझार।

अपने नीलमणिका यह कौतुक देखकर जननी हँसी रोक नहीं पातीं—

हँसति जसोमति मात, कहति करत मोहन कहा।
यह नहिं जानति बात, ये करता सब जगत के॥

किंतु क्षणभर बाद ही यशोदारानीके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती—ओह! मेरे नीलमणिकी अञ्जलिसे जल गिरते ही उस मुक्ताबीजके स्थानपर तो अङ्कुर उदय हो गया! स्पष्ट दो पत्र विकसित हुए। वीरुध निर्मित हो गया। मुक्तातरु बन गया। शाखाएँ फूट निकलीं। मञ्जरियाँ लग गयीं। फल लग गये। फलभारसे मुक्तातरु नत हो रहा है। राशि-राशि मोती झर रहे हैं। क्षणोंमें यह कैसे हो गया—

साखा-पत्र भए जल मेलत, फूलत-फरत न लागी बार।

यशोदारानी यह नहीं जानतीं कि जिसके लिये श्रुतियाँ यह कहती हैं—'इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य-चन्द्र विधृत हैं, स्थित हैं, नियमसे उसकी आज्ञाका पालन करते हैं; द्युलोक एवं पृथिवी—दोनों विधृत हैं, स्थित हैं, कभी उस अक्षरके द्वारा निश्चित मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करते; इस अक्षरके ही प्रशासनमें निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर विधृत हैं, स्थित हैं, कभी उस अक्षरद्वारा निश्चित कर्तव्यकी अवहेलना नहीं कर सकते; इस अक्षरके ही प्रशासनमें हिमालय आदि पर्वत-श्रेणियोंसे नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं; जो पूर्वकी ओर प्रवाहित कर दी गयी हैं, वे पूर्वकी ओर ही बह रही हैं; जो पश्चिमकी ओर प्रवाहित हैं, वे पश्चिम दिशाकी ओर ही बहती जा रही हैं; इस अक्षरके शासनने जिन-जिनकी गति जिस-जिस दिशाकी ओर कर दी है, उसका ही अनुसरण वे कर रही हैं, कभी अक्षरके द्वारा निर्धारित क्रमका उल्लङ्घन नहीं कर सकतीं—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु × × × ×

—वह अक्षर-तत्त्व भी उनके (यशोदारानीके) नन्हें-से नीलमणि ही हैं। मैया नहीं जानतीं कि मेरे इस छोटे-से नीलमणिमें समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, समस्त ज्ञान, समस्त वैराग्य नित्य वर्तमान रहते हैं; यह स्वयं भगवान् है, इसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं; इसीने सृष्टिके आदिमें लोक-सृजनकी इच्छा की थी; इच्छा होते ही इसने महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रसम्भूत एकादश इन्द्रियों तथा पञ्चमहाभूतोंसे समन्वित पुरुषरूप ग्रहण कर लिया; यही कारणार्णवशायी बना; कारणसमुद्रमें सोते हुए इसीने योगनिद्राका विस्तार किया था, फिर नाभि-सरोवरसे एक पद्मकी अभिव्यक्ति हुई एवं उस पद्मसे ही प्रजापतियोंके अधिपति ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे, जिनसे समस्त प्रजा सृष्ट हुई—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्माविश्वसृजां पतिः॥

(श्रीमद्भा० १। ३। १-२)

मैयाको यह पता नहीं कि मेरे इस साँवरे-सलोने दो वर्षके पुत्रकी लीला अमोघ है; लीलासे ही मेरा यह पुत्र अपनेमें ही विशाल विश्वकी रचना करता है, पोषण करता है और फिर संहार भी कर लेता है; किंतु ऐसा करके भी यह इसमें आसक्त नहीं होता, ऐसा यह विलक्षण है। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें इसका निवास है, पर यह इतना छिपा रहता है कि इसे विरले ही जान पाते हैं। छिपे रहकर, ज्ञानेन्द्रिय एवं मनका नियन्ता रहकर उनके विषयोंको ग्रहण भी करता है, पर ग्रहण करके भी उनसे लिप्त नहीं होता। यह परम स्वतन्त्र है, सबका शासक है, इसका

शासक कोई नहीं; जैसे नटके अभिनयसंकेतको—उसके संकल्पको अनजान मनुष्य नहीं जान सकते, वैसे मेरे इस शिशुके संकल्पसे रचित इन विविध नाम-रूपोंको—जगत्‌को इसकी विविध विचित्र लीलाओंको कुबुद्धिसे भरे जीव तर्क लगाकर जान नहीं सकते, इसकी लीलाएँ तो अत्यन्त दुर्विज्ञेय हैं—

स वा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः॥
न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः संतन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥

(श्रीमद्भा० १। ३। ३६-३७)

यदि यशोदारानीको इस रहस्यका पता होता तो अपने नीलमणिके द्वारा रचित इस मुक्तातरुको देखकर उन्हें आश्चर्य नहीं होता। नित्य वात्सल्यरसघनमूर्ति व्रजेश्वरी इस ऐश्वर्यका अनुसंधान भी ले सकें, इतना अवकाश ही उनके हृदयमें कहाँ है। श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य कभी जननीका दर्शन करने आता भी है तो दूरसे ही वात्सल्यकी किसी क्षुद्र लहरीमें बह जाता है। अस्तु,

व्रजेश्वरी तो स्तम्भित खड़ी रहती हैं। पर यह समाचार व्रजपुरमें फैलते देर नहीं लगती। दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ दौड़ पड़ीं। जो जिस अवस्थामें थी, वैसे ही चली आयी। उन्हें अपने नेत्रोंपर विश्वास नहीं हो रहा है। मत हो, पर श्रीकृष्णचन्द्रकी उमंग तो उनमें समा नहीं रही है। नाच-नाचकर वे अपनी अञ्जलिको मोतियोंसे पूर्ण कर लेते हैं तथा निकट आयी हुई व्रजतरुणीके अञ्चलमें उँडेल देते हैं। साढ़े छः पहर पूर्व जिन व्रजतरुणियोंने श्रीकृष्णकरस्पृष्ट मुक्ताके एक दानेकी चाह की थी, उनके अञ्चल व्रजेन्द्रनन्दनने राशि-राशि मुक्ताओंसे भर दिये।

अगणित गोपोंने, व्रजेश्वरने भी इस मुक्तातरुके दर्शन किये। व्रजराजने तो यह सोचा—वह बनजारा नरलोकका प्राणी नहीं था, कोई सिद्धलोकके पुरुष इस वेषमें आये थे, अथवा मेरे इष्टदेव श्रीनारायणकी ही यह माया है। नारायणकी स्मृतिसे उनका हृदय भर आया। व्रजेश्वरीने भी अपने मनका समाधान ऐसे ही किया।

वह मुक्तातरु तो अदृश्य हो गया, पर मुक्ताके दाने ज्यों-के-ज्यों बने रहे। यह सत्य है या स्वप्न—इसकी परीक्षाके लिये उन व्रजतरुणियोंने उन दानोंको मुक्ताहारमें पिरोया। हारको वे सदा हृदयपर धारण किये रहती हैं। हारके प्रत्येक मुक्तासे उन्हें श्रीकृष्णके परम सुखमय स्पर्शका अनुभव होता है, प्रत्येकमें उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी छवि अङ्कित प्रतीत होती है। यह मुक्ताहार उनका जीवनहार बन गया। अवश्य ही इस लीलाका वास्तविक मर्म किसीने नहीं जाना—

जानत नहीं मरम सुर-नर-मुनि, ब्रह्मादिक नहिं परत बिचार।
सूरदास प्रभु की यह लीला, ब्रज-बनिता पहिरे गुहि हार॥

ग्वालिनोंके उपालम्भपर माँ यशोदाकी चिन्ता और उलाहना देनेवालीपर खीझ

कलिन्दनन्दिनीके तरल प्रवाहके अति समीप अपने नीलमणिको लहरियोंका जल बिखेरते देखकर यशोदारानीका हृदय धक्-धक् कर उठा। हाथका पात्र भूमिपर पटककर वे दौड़ पड़ीं तथा पीछेसे जाकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रको पकड़ लिया। चञ्चल लहरें व्रजेश्वरीके चरणोंका स्पर्श करने लगीं। व्रजरानीने सोचा—'अरे! एक क्षणका भी यदि विलम्ब हो गया होता और नीलमणि एक डग भी आगे बढ़ जाता तो लहरें इसे बहा ले जातीं। मेरा तो सर्वनाश हो जाता.........।' उन्होंने व्याकुल नेत्रोंसे एक बार तो उमड़ती हुई तपनतनया श्रीयमुनाजीकी ऊँची लहरोंकी ओर देखा, लहरें तीरसे बार-बार टकराकर बड़े वेगसे क्षण-क्षणमें दिशा बदल रही थीं; तथा फिर देखा, उसी तीरपर खड़े नन्हें-नन्हें गोपशिशुओंको। गोपशिशु विविध तरुपत्रोंसे दोने बना-बनाकर यमुनाके प्रवाहमें छोड़ रहे थे। जननीके आनेसे पूर्व यही तो खेल हो रहा था। होड़ लगी थी कि श्रीकृष्णचन्द्रसे दस हाथ दूर किस गोपसखाने कितने दोने बहाये एवं श्रीकृष्णचन्द्र बह-बहकर आते हुए उन पत्रपुटोंमेंसे कितने पकड़ पाये। पत्रपुट बालकोंके हाथसे छूटते ही तरङ्गोंपर नाचने लगते, तरङ्गें उन्हें बहा ले चलतीं; कुछ तो धाराके वेगसे गम्भीर जलमें बह जाते, कुछ किनारेको छूते हुए-से चलते। इनमेंसे कुछको तो श्रीकृष्णचन्द्र हाथ फैलाकर पकड़ लेते और कुछको धाराएँ बहा ले जातीं। पत्रपुट हाथमें आते ही विजयके उल्लासमें वे तीरकी ओर देखते, गोपसखा आनन्द-कोलाहल करने लगते; किंतु जब दोना हाथमें नहीं आता तो शिशु ताली पीटने लगते। यह क्रीड़ा हो रही थी। जननीने आकर उसमें विघ्न कर दिया। उन्हें देखकर गोपबालक तो किञ्चित् सहम गये; किंतु श्रीकृष्णचन्द्र उमंगमें भरकर मैयासे अपनी जयघोषणा करने लगे कि 'देख, मैंने इतने पत्रपुट जलमेंसे छाने हैं।' जननी पहले तो कुछ रोषमें भरकर, फिर लाड़पूर्वक, श्रीकृष्णचन्द्रको एवं अन्य बालकोंको बार-बार समझाने लगीं। उन्होंने आगे कभी भी जलमें उतरनेसे, ऐसा खेल खेलनेसे सबको सावधान किया, डूब जानेकी सम्भावना दिखाकर भय भी दिखलाया। पर यह करके स्वयं चिन्तामें निमग्न हो गयीं कि 'अब कौन-सा उपाय करें?'

श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरियोंके घर इतना अधिक उत्पात करने लगे थे कि एक-न-एक गोपी उलाहना देनेके लिये नन्दभवनमें आयी हुई रहती ही थी। व्रजरानी भी यह अच्छी तरह जानती थीं कि उलाहनेका तो मिस है, वास्तवमें यह आयी है मेरे नीलमणिको देखने। व्रजेश्वरको भी यह पता लग गया था; क्योंकि एक दिन एक वयस्का गोपी उनके सामने ही व्रजरानीको उलाहना देने लगी—

महरि तैं बड़ी कृपन है, माई!
दूध-दही बहु बिधि कौ दीन्हौ, सुत सौं धरति छपाई॥
बालक बहुत नहीं री तेरें, एकै कुँवर कन्हाई।
सोऊ तो घर-ही-घर डोलतु, माखन खात चोराई॥
बृद्ध बयस पूरे पुन्यनि तैं, तैं बहुतै निधि पाई।
ताहू के खैबे-पीबे कौं, कहा करति चतुराई॥

सुनकर व्रजेश्वरके मुखपर तो ग्लानिकी छाया-सी पड़ गयी। पर यशोदारानी हँस पड़ीं। हँसकर उन्होंने व्रजराजको सारा रहस्य समझा दिया—

सुनहु न बचन चतुर नागरि के जसुमति नंद सुनाई।
सूर स्याम कौं चोरी कें मिस देखन है यह आई॥

किंतु फिर भी जब कोई नवतरुणी अत्यन्त रोषमें भरी आती और कहती—'देखो नन्दरानी! तुम्हारे

नीलमणिने मेरे घर जाकर नवनीतकी नदी बहा दी तथा जब मैं पकड़ने गयी तो इसने मेरी चूड़ियाँ तोड़ दीं, मेरी साड़ीके टूक-टूक कर दिये, मेरी कैसी दुर्दशा इसने की है, तुम स्वयं देख लो।' तो उस समय यशोदारानीका वात्सल्यपूरित हृदय दुर्-दुर् करने लगता। वे सोचने लगतीं—'कहीं वास्तवमें ही मेरे पुत्रकी चेष्टासे इसे इतना क्षोभ हुआ हो तो क्या पता। उलाहनेका मिस है, इसका क्या प्रमाण? कहीं यह नीलमणिको शाप दे दे तो?' इस प्रकार भयभीत हुई व्रजेश्वरी गोपतरुणीकी मनुहार करने लगतीं, कमोरी भर-भरकर उसे माखन देतीं तथा जैसे-तैसे उसे प्रसन्न करके ही विश्राम लेतीं। जब वह चली जाती, तब हँसकर, अपने नीलमणिको कण्ठसे लगाकर बातें पूछतीं—

हौं वारी रे मेरे तात!
काहे कौं लाल पराए घर कौ, चोरि-चोरि दधि-माखन खात?
गहि-गहि पानि मटुकिया रीती, उरहन कें मिस आवत-जात।
करि मनुहार, कोसिबे कें डर, भरि-भरि देति जसोदा मात॥
टूटी चुरी गोद भरि ल्यावैं, फाटे चीर दिखावैं गात।
सूरदास-स्वामी की जननी, उर लगाइ हँसि पूछति बात॥

श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी बात सुनकर हँस देते तथा सुधाभरी वाणीमें ऐसी-ऐसी बातें कहने लगते कि जननीका स्नेहसागर उमड़ चलता, वे उसमें बह जातीं, यह भी भूल जातीं कि अभी किस गोपीने आकर क्या कहा। इससे उनके नीलमणिको मानो एक नयी प्रेरणा मिल जाती। वास्तवमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चेष्टाओंपर प्रतिदिन एक नया रंग चढ़ जाता। गोप-सुन्दरियाँ भी उलाहनेके लिये नयी-नयी भाषा गढ़तीं तथा नन्दभवनमें आकर श्रीकृष्णचन्द्रकी इस निर्बाध चेष्टाका ऐसा चित्रण करतीं कि व्रजरानी सब कुछ जाननेपर भी भ्रमित होने लगतीं, श्रीकृष्णचन्द्रको अपने कोटि-कोटि प्राणोंसे अधिक प्यार करनेवाली गोपसुन्दरियोंके मनमें उन्हें अतिशय उद्वेग प्रतीत होने लगता। नीलमणिको वे बार-बार समझातीं—

मेरे लाड़िले हो, तुम जाउ न कहूँ।
तेरे ही काजें गोपाल, सुनहु लाड़िले लाल,
राखे हैं भाजन भरि सुरस छहूँ॥
काहे कौं पराएँ जाइ, करत इते उपाइ,
दूध-दही-घृत अरु माखन तहूँ।
करतिं कछू न कानि, बकति हैं कटु बानि,
निपट निलज बैन बिलखि सहूँ॥
व्रज की ढीठी गुवारि, हाट की बेचनहारि,
सकुचैं न देत गारि झगरत हूँ।
कहाँ लगि सहौं रिस, बकत भई हौं कृस,
इहिं मिस सूर स्याम-बदन चहूँ॥

पर नीलमणि तो एक नहीं सुनते थे। किसी-न-किसी गोपसुन्दरीके घर प्रतिदिन एक-न-एक नयी चेष्टा कर ही आते थे। बात यहाँतक बढ़ गयी कि एक ग्वालिनने तो आकर बड़े रोषमें व्रजरानीसे आज यहाँतक कह डाला—

अपनौ गाउँ लेउ, नँदरानी!
बड़े बाप की बेटी, पूतहि भली पढ़ावति बानी॥
सखा-भीर लै पैठत घर में, आपु खाइ तौ सहिऐ।
मैं जब चली सामुहें पकरन, तब के गुन कहा कहिऐ॥
भाजि गए दुरि देखत कतहूँ, मैं घर पौढ़ी आइ।
हरें-हरें बेनी गहि पाछें, बाँधी पाटी लाइ॥

इसीलिये आज व्रजरानीने श्रीकृष्णचन्द्रपर यह कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था कि उद्यान, समीपके उपवन एवं यमुनातट—तीन स्थानोंके अतिरिक्त वे और कहीं नहीं जा सकते। मैयाने सीमा निर्धारित कर दी थी, पहरे बैठा दिये थे। श्रीकृष्णचन्द्रने भी हँसकर जननीका यह अनुशासन स्वीकार कर लिया था, सखाओंके साथ यमुना-तटपर जाकर जलमें पत्रपुट प्रवाहित करनेका खेल खेलने लगे थे, खेलते-खेलते जलमें उतर पड़े थे। भाग्यसे जननीकी दृष्टि पड़ गयी और वे दौड़कर उन्हें बाहर निकाल ले आयीं। अस्तु,

उपर्युक्त घटनापर ही यशोदारानी इस समय विचार कर रही हैं, उपाय सोच रही हैं। रह-रहकर

हृदय काँप उठता है कि अभी-अभी नीलमणिपर लगाये हुए मेरे प्रतिबन्धका कितना भीषण परिणाम हो जाता। मैया देखती हैं—'मैंने इसकी स्वच्छन्द चेष्टामें बाधा दी। फल यह हुआ कि मेरा सर्वनाश होने जा रहा था। बस, एक क्षणकी देर थी, यमुना-तरङ्गोंमें मैं अपने नीलमणिको खो देती! आह! अब मैं इसे तो कभी कुछ भी न कहूँगी। पर इन गोपियोंकी क्या व्यवस्था करूँ? इनके घर गये बिना तो यह मानता जो नहीं।' इसी उधेड़-बुनमें फँसी व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रका हाथ पकड़े प्राङ्गणमें चली आती हैं। आँगनमें अपने नेत्रोंके सामने खेलनेका आदेश देकर स्वयं अतिशय गम्भीरतासे विचार करने लगती हैं—'सचमुच मेरे इतना मना करनेपर भी नीलमणि गोपसुन्दरियोंके घर क्यों चला जाता है? क्या मेरे घरकी अपेक्षा उनके घरकी दधि-नवनीत आदि वस्तुएँ अधिक सुमिष्ट होती हैं? यहाँ तो शत-शत मनुहारके अनन्तर मैं यत्किञ्चित् नवनीत इसके मुखमें रख पाती हूँ, न जाने कितना भुलावा देनेपर यह नेक-सा दधि ओठोंपर रखता है, कितने प्रलोभनोंसे केवल कहनेमात्रके लिये दूध पी लेता है; पर गोपसुन्दरियोंके घर उनकी अनुपस्थितिमें नवनीत, दुग्ध, दधि अपहरण करके खाता है। नारायण! मेरे इष्टदेव! नाथ! तुमने मेरे नीलमणिकी ऐसी बुद्धि क्यों कर दी? देव! नीलमणि तो तुम्हारी वस्तु है न? यह ऐसा क्यों बन गया, प्रभो!—व्रजेश्वरीको आज कुछ दुःख-सा होने लगा।

कदाचित् श्रीकृष्णजननी कल्पना कर पातीं कि एक दिन मेरे इस नीलमणिने ही वैकुण्ठधाममें श्रान्त-क्लान्त भयभीत दुर्वासाको प्रबोध देते हुए नारायणरूपसे यह घोषणा की थी—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३—६८)

'ब्राह्मणदेव! सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होकर भी मैं अपने भक्तोंके तो सर्वथा अधीन हूँ; उनके सामने मेरी स्वतन्त्रता नहीं है। कपटकी छायासे भी शून्य, सरलमति भक्तोंने मेरे हृदयपर सदा अधिकार कर रखा है। मेरे प्यारके विषय एकमात्र वे हैं, उनके प्यारका विषय एकमात्र मैं हूँ। उनका एकमात्र अवलम्बन मैं ही हूँ। साधुस्वभाव उन भक्तोंको छोड़कर तो मैं अपने-आपको भी नहीं चाहता। उनके बिना मेरी नित्यसङ्गिनी रमाकी भी मुझे इच्छा नहीं है। जिन्होंने स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक, परलोक—सर्वस्व विसर्जन कर एकमात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण किया है, उन्हें त्यागनेका संकल्प मैं कैसे करूँ? उनका हृदय केवल मुझसे ही बँधा होता है। सर्वत्र समान भावसे एकमात्र मेरा ही दर्शन वे करते हैं। जैसे सती स्त्री पातिव्रत्यके द्वारा अपने सत्पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही विशुद्ध प्रेमसे वे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरी विशुद्ध सेवा ही उनके जीवनका परम लक्ष्य होता है। मेरी सेवा प्राप्त करनेमें ही वे पूर्णताका अनुभव करते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप चतुर्विध मुक्तियाँ उनके सामने आती हैं, पर उन्हें इनकी चाह कहाँ। जब इनके प्रति उनकी ऐसी उपेक्षा है, तब काल पाकर विनष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है। वे सरलमति भक्त मेरे हृदय हैं और उन साधु भक्तोंका हृदय मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त अन्य और कुछ भी नहीं जानते एवं मैं उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानता।'

यदि यशोदारानीको अपने नीलमणिके उपर्युक्त स्वभावका पता होता, साथ ही गोपसुन्दरियोंके हृदयकी दशा वे जानती होतीं तो यह रहस्य भी जान लेतीं कि उनके नीलमणि ऐसे क्यों बन गये हैं। व्रजेन्द्रगेहिनीकी चित्तभूमिपर न तो कभी श्रीकृष्णचन्द्रका असमोर्द्ध ऐश्वर्य, अप्रतिम प्रेमपरवशता उदय होती है और न वे उलाहना देनेवाली व्रजतरुणियोंके मनोगत भावोंको ही ठीक-ठीक जान पाती हैं। गोपसुन्दरियोंकी दशा तो यह है—क्या वृद्धा, क्या युवती, सबके मन-प्राणोंमें एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र भर गये हैं। अधिकांश समय तो वे सब अपने-आपको भूली-सी रहती हैं। पति सामने खड़े हैं, पर उन्हें भान नहीं; वे तो देख रही हैं—श्रीकृष्णचन्द्र नवनीत भोजन करते हुए हमारी ओर आ रहे हैं। पुत्र उनसे भोजन माँग रहा है, पर उन्हें अनुभव हो रहा है—यशोदानन्दन आये हैं, मुझसे नवनीतकी याचना कर रहे हैं। उन्हें प्रतीत होता है कि मरकतरचित गृह, सुवर्णाच्छादन (सोनेकी छत), प्रवालस्तम्भ, स्फटिक-वेष्टनी (खंभेका गोल अंश), वैदूर्यगृहचूड़ा, महानीलकान्तमणिरचित अट्टालिका, पद्मरागनिर्मित द्वार—इनपर सर्वत्र श्रीकृष्णचन्द्रके चित्र अङ्कित हैं। गुरुजन सामने आते हैं, उन्हें अनुभव होता है—श्रीकृष्णचन्द्र अपने करपल्लवके संकेतसे हमें बुला रहे हैं। श्रीकृष्णके रूपके अतिरिक्त उनके नेत्रोंमें अन्य रूप नहीं, उनके सुधास्त्रावी शब्दोंके अतिरिक्त कर्णरन्ध्रोंमें अन्य शब्द नहीं प्रवेश करते। कुछ भी स्पर्श होते ही त्वक् श्रीकृष्णस्पर्शका अनुभव करती है, घ्राणमें श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंका ही सुवास उन्हें मिलता है। भोजन हमने कब किया, इसकी तो स्मृति ही उन्हें नहीं होती। यह आवेश जब अत्यन्त प्रगाढ़ होता है, तब तो वे पूर्ण विक्षिप्त-सी हो जाती हैं। शिथिल होनेपर भी उनकी दशा विचित्र ही रहती है। निद्रा तो उन सबकी प्राय: विलुप्त ही हो गयी है। मध्यरात्रिके समय शय्यासे वे उठ पड़ती हैं। उनमें कोई दधिमन्थन करके सुन्दर सुमिष्ट नवनीत सजाकर रख देती है। कभी बाहर जाकर प्रतीक्षा करती है। कभी अन्तर्गृहमें ही अपनेको छिपाकर उनके आनेका अनुसंधान लेती है। कल आये, दो दिन पूर्व आये थे, आज भी आ सकते हैं—इस आशासे नवनीत-भंडारका द्वार पहलेसे ही उन्मुक्त कर देती है। जब पहर दिनतक श्रीकृष्णचन्द्र नहीं आते तो उस सद्योमथित माखनको स्वयं भूमिपर बिखेर देती है। जिसे श्रीकृष्णचन्द्रने स्वीकार नहीं किया, उस नवनीतको संचित करके क्या करना है। दूसरी एक नवतरुणी सुन्दर-से-सुन्दर साड़ी निकालती है, सर्वोत्तम चूड़ियाँ पहन लेती है तथा आकुल प्राणोंसे व्रजेन्द्रनन्दनकी बाट देखती रहती है—'कल तो श्रीकृष्णचन्द्र पासके गृहमें ही आये थे, गोपसुन्दरी उन्हें पकड़ने गयी थी, उसकी चूड़ियाँ उन्होंने तोड़ दीं, परिधान छिन्न-भिन्न कर दिया; मेरे घर ही आज आते हों तो क्या पता। विधाता! मेरा भी कोई ऐसा पुण्य उदय होगा क्या?' परंतु जब दोपहर हो जाता, श्रीकृष्णचन्द्र नहीं आते तो उन सर्वोत्तम चूड़ियोंको वह स्वयं ही पत्थरसे तोड़कर पासके सरोवरमें फेंक देती है। उस बहुमूल्य परिधानको दो-दो अङ्गुलके टुकड़ोंमें परिणत कर राखके ढेरपर डाल आती है। अपनी उन्हीं पुरानी चूड़ियोंको, पुरानी साड़ीको पहन लेती है। उसके नेत्रोंसे अश्रुके दो बिन्दु ढलक पड़ते हैं। इस प्रकार अगणित गोप-सुन्दरियाँ हैं, उनके अगणित सरस मनोरथ हैं। प्रत्येक गोपी अपना सर्वस्व समर्पणकर, नहीं-नहीं, श्रीकृष्णसे भिन्न अन्य सब कुछ विस्मृत होकर, क्षणभर पूर्व अपने किये हुए मनोरथतककी स्मृति मिटाकर उनमें तन्मय हो रही है। जब बाह्यज्ञान होता है, उस समय भी उसके श्रीकृष्णमय हृदयमें एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखकी इच्छाका ही उन्मेष होता है। अब भला, ऐसी अतुलप्रेमघनमूर्ति व्रजपुरसुन्दरियोंके अधीन श्रीकृष्णचन्द्र न रहें, यह कभी सम्भव है? इन गोपरामाओंके प्रेम-रस-भावित मनोरथ, श्रीकृष्णसुखेच्छामयी अभिलाषाएँ अपूर्ण रह जायँ,—यह श्रीकृष्णचन्द्र सह सकते हैं? इनके लिये

अपनी सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता मिटाकर इन्हें अपना सर्वस्व अर्पण किये बिना क्या वे विश्राम ले सकते हैं? नहीं, यह तो असम्भव है; किंतु व्रजेश्वरी अपने नीलमणिके ऐसे अनुपम प्रेमपरवश स्वभावसे एवं गोपसुन्दरियोंकी ऐसी अनिर्वचनीय स्थितिसे परिचित नहीं हैं। वात्सल्यरसघनमूर्ति मैया स्वयं रससिन्धुके अतलतलमें डूबती-उतराती रहती हैं, स्वयं निरन्तर भ्रान्त रहती हैं; उन्हें इसका परिचय हो भी तो कैसे हो। वे तो, बस, नीलमणिको अपने उदरसे उत्पन्न पुत्रमात्र जानती हैं, गोपसुन्दरियोंको जैसी ऊपर देखती हैं, वैसी ही भीतर भी मानती हैं। इसीलिये वे चिन्ता कर रही हैं कि 'मेरा नीलमणि इतना अधिक चञ्चल क्यों हो गया? व्रजपुरन्ध्रियोंका कोपभाजन क्यों बन गया?'

जो हो, जननीकी चिन्ताकी छाया, श्रीकृष्णचन्द्रके चञ्चल नेत्रोंमें व्यक्त हो गयी। प्राङ्गणमें खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र खेल छोड़कर जननीके पास चले आये, चिबुक पकड़कर बोले—'मैया! तू क्या सोच रही है?' फिर जननीके कण्ठमें भुजाएँ डालकर झूलने लग गये। इसी बीचमें, न जाने कब, अघटघटनापटीयसी योगमायाने जननीके हृत्पटपर अङ्कित उस चिन्ता-बिन्दुको अपनी तूलिकासे पोंछ डाला था। वे अनुभव कर रही थीं—'ओह! कहाँ तो मेरा नीलमणि इतना सरल, इतना भोला, ऐसा नन्हा-सा और कहाँ व्रजतरुणियोंका विस्तृत वाग्जाल! इसके लिये वे कैसी-कैसी कितनी बातें गढ़ लेती हैं। अब जो वे आयीं तो मैं उन्हें अच्छी तरह डाँटूँगी।'

जननीने नीलमणिको अपने प्यारसे नहलाकर, नीलमणिके सुठाम युग्म कपोलोंपर शतसहस्र चुम्बन अङ्कितकर निर्बाध खेलनेकी अनुमति दे दी। अवश्य ही कालिन्दीतट एवं सरोवरपर जानेसे सर्वथा निषेध कर दिया। नीलमणि पिञ्जरमुक्त विहङ्गम-शावककी भाँति पुरवीथीकी ओर भाग चले।

इसके दूसरे ही दिन अरुणोदय होते-न-होते एक नवतरुणी उलाहना लेकर आ ही तो गयी। पहले भी यह कई बार आ चुकी है, किंतु इस बार तो जननी रोषमें भरकर उल्टा उसे ही सुनाने चलती हैं। वे अपने नीलमणिका शृङ्गार करनेके लिये प्रफुल्ल मालती-कुसुमोंका चयन कर रही थीं। वह स्थगितकर उसे झिड़कने लगती हैं—

(कान्ह कौं) ग्वालिनि दोष लगावति जोर।
इतनक दधि माखन कें कारन, कबहिं गयौ तेरी ओर॥
तू तौ धन-जोबन की माती, नित उठि आवति भोर।
लाल कुँवर मेरौ कछू न जानै, तू है तरुनि किसोर॥
का पर नैन चढ़ाए डोलति, व्रज में तिनुका तोर।
सूरदास जसुदा अनखानी, यह जीवन-धन मोर॥

स्वयं यशोदाके द्वारा दधिमन्थन तथा श्रीकृष्णका जननीको रोककर उनका स्तन्य-पान करना

तारकपङ्क्ति शयनागारके गवाक्षरन्ध्रोंसे झाँककर मानो सूचना दे रही थी—'व्रजरानी! अभी तो निशा है, उषा भी नहीं आयी, किञ्चित् और विश्राम कर लो।' किंतु व्रजेश्वरी तो दूसरी धुनमें हैं। उन्हें तो अभी उठना है; अपने नीलमणिके लिये दधिमन्थन कर नवनीत जो प्रस्तुत करना है; पद्मगन्धा गायोंके दूधको औटाकर, परम सुमिष्ट बनाकर तैयार कर रखना है! नीलमणि जब उठेंगे तब सद्योमथित माखन भोजनकर, दुग्धपानकर तृप्त होंगे तथा उन्हें तृप्त देखकर यशोदारानीकी एक चिरसेवित अभिलाषा पूर्ण हो जायगी।

अबतक एक दिन भी ऐसा नहीं हुआ था कि आदिसे अन्ततक, दुग्धदोहनसे आरम्भकर मन्थनतक सभी कार्य यशोदारानी स्वयं अपने हाथों करें। अगणित दास-दासियोंके प्रेमिल आग्रहके सामने व्रजेश्वरीकी एक भी नहीं चलती तथा 'मैं ही तो गोदोहन करूँ, मैं ही दुग्ध औटाऊँ, मैं ही दधिमें जोरन दूँ, मैं ही मन्थन कर माखन निकालूँ और फिर नीलमणि इसे यथेच्छ आरोग कर तृप्त हो'—उनका यह मनोरथ अपूर्ण रह जाता। इसके लिये जननी अनेक युक्तियाँ सोचतीं, परिचारिकाओंकी मनुहार करतीं, उनपर अन्य कार्यका भार सौंप देतीं तथा ऐसा करके कभी-कभी दधिमन्थन करनेका सुअवसर तो प्राप्त कर लेतीं; पर वह भी पूरा नहीं हो पाता। या तो श्रीकृष्णचन्द्र मचल उठते या कोई परिचारिका जननीके मन्थनश्रमको देखकर उनके चरण पकड़ लेती, उसपर यह सेवा सौंप देनेके लिये जननीको बाध्य कर देती। और नहीं तो श्रीरोहिणीके प्रेमके सामने यशोदारानी विवश हो ही जातीं। इस प्रकार कभी मन्थन करनेका अवसर प्राप्त करनेपर भी किसी-न-किसीका सहयोग व्रजेश्वरीको लेना ही पड़ता; किंतु आज ऐसा सुयोग बन गया है कि नन्दभवनमें केवल श्रीकृष्णचन्द्र हैं, व्रजरानी हैं; इनके अतिरिक्त और कोई नहीं।

पाँच प्रहर पूर्व व्रजेश्वर शत-सहस्र गोपोंके सहित गोवर्द्धनकी उपत्यकामें चले गये। व्रजेश्वरके पिता श्रीपर्जन्य गोपके समयसे प्रतिवर्ष होते आये मुख्य महोत्सव—इन्द्रयागकी* तिथि आ गयी थी, उसीका बृहत् आयोजन करने वे गये हैं। गत सायंकालसे पूर्व ही नन्दभवनकी समस्त परिचारिकाएँ भी यज्ञसम्बन्धी रन्धनकार्यके लिये वहाँ चली गयीं। व्रजेश्वरीकी परिचर्याके लिये कुछ रह गयी थीं; किंतु व्रजरानीने उनमेंसे भी प्रत्येकको भिन्न-भिन्न आदेश देकर वहीं भेज दिया। अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे प्रत्येक यह अनुभव कर रही थी कि केवल चार-पाँचको ही यशोदारानी आदेश देकर भेज रही हैं, शेषको अपने समीप रख लिया है। यदि उन्हें यह प्रतीत होता कि व्रजेश्वरी अकेली रह गयी हैं तो वे कदापि नहीं जातीं। इनके जानेसे कुछ क्षण पूर्व श्रीरोहिणीजी बलरामको लेकर उपनन्दके घर चली गयी थीं। उपनन्दपत्नीका अतिशय आग्रह था कि श्रीरोहिणीजी एक रात्रिके लिये भी हमारे गृह अवश्य पधारें। यशोदारानीसे चार पहरके लिये अलग होना रोहिणीजीके लिये यद्यपि अत्यन्त कठिन कार्य है, पर उपनन्दपत्नीका प्रेमनिर्बन्ध भी इतना विशुद्ध—इतना प्रबल था कि बलराम-जननीको झुकना ही पड़ा। गृहकार्यकी व्यवस्था दासियोंको भलीभाँति समझा-बुझाकर यशोदारानी एवं यशोदानन्दनके पास ही अपना मन रखकर रातभरके लिये वे चली गयीं। इस प्रकार स्वयं सब कुछ अपने हाथोंसे सँवारकर श्रीकृष्णचन्द्रको तृप्त करनेकी लालसा—जननीकी चिरपोषित अभिलाषाकी पूर्तिका सुयोग घट गया। सबके चले जानेपर एकाकिनी व्रजमहिषीने कितनी उमंगसे पद्मगन्धा गौओंका दोहन किया है, सर्वथा नवीन पात्रमें दुग्ध-संचय कर उसे औटाया है, जोरन देकर दही जमाया है; यह करके नीलमणिको वक्षःस्थलपर धारणकर कितनी उत्कण्ठासे निशा ढल जानेकी प्रतीक्षा करती रही हैं, चिदानन्दमयी निद्राका आवरण डालकर सारी रात किस सुख-समुद्रमें संतरण

* अपने आठवें वर्षकी लीलामें श्रीकृष्णचन्द्र इसी इन्द्रयागको गोवर्द्धनपूजाका रूप देंगे।

करती रही हैं—इसकी कल्पना किसे हो सकती है। किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे जिस बड़भागीके अन्तस्तलमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी साक्षात् सेवा पानेकी अदम्य लालसा जाग उठे, अनन्त वर्षोंकी प्रतीक्षाके उपरान्त इस लालसाके फलस्वरूप स्वप्नमें भी क्षणभरके लिये श्रीकृष्णपादारविन्दमें सेवा समर्पित करनेका सुअवसर प्राप्त हो जाय, उसे ही यत्किञ्चित् कल्पना होनी सम्भव है कि यशोदारानीका वह आनन्द कैसा है, उनकी उत्कण्ठा कैसी है! अस्तु, अतिकाल न हो जाय, इस भावनासे व्रजरानी, रजनीका अवसान होनेमें पर्याप्त विलम्ब रहनेपर भी शय्याका परित्याग करने चलीं। साथ ही भय था कि वक्ष:स्थलपर सोये हुए नीलमणिकी कहीं निद्रा भङ्ग न हो जाय; नीलमणिकी नींद टूट गयी तब फिर तो यह स्वर्णसुयोग हाथसे गया। अत: बड़ी सावधानीसे अपने अङ्गोंको धीरे-धीरे समेटने लगीं। क्रमश: श्रीकृष्णचन्द्रके निद्रावेशसे अलसाये श्यामल अङ्गोंको अपने अङ्गोंसे विलगकर, उस कर्पूर-धवल सुकोमलतम शय्यापर रखकर मन्द-मन्द थपकी देने लगीं। जब पुनः नीलमणिका निद्रावेश पूर्ववत् हो गया, तब वे पर्यङ्कसे धीरे-धीरे नीचे उतर आयीं!

व्रजरानीकी दृष्टि शयनकक्षके दीपकी ओर गयी। दीपकी लौ किञ्चित् हिल रही थी; मानो सारी रात निष्पन्द रहकर वह जननीके उर-हार नीलमणिकी शोभा निहारती रही है, किंतु जब जननीने नीलमणिको वक्ष:स्थलसे उतारकर शय्यापर सुला दिया, तब व्याकुल हो उठी है, सिर हिला-हिलाकर प्रतिवाद कर रही है—'नहीं-नहीं, नन्दगेहिनी! ऐसे मृदुल अङ्गोंको शय्यापर मत रखो, इनके उपयुक्त स्थान तो तुम्हारा हृद्देश ही है।' यशोदारानी दीपके निकट चली जाती हैं। समीपमें रखी हुई स्वर्ण-शलाकासे लौको किञ्चित् ऊपर उठा देती हैं, लौ पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक उज्ज्वल मञ्जुल ज्योति बिखेरने लगती है। जननी दीपको हाथपर उठा लेती हैं, लेकर निद्रित नीलमणिके समीप चली आती हैं। इसके निर्मल आलोकमें पहले पुत्रको ललाटसे चरणपर्यन्त निहारकर, फिर अपने युग्म हस्ततलपर दीपको स्थापितकर श्रीकृष्णमुखारविन्दके सम्मुख इसे (दीपको) तीन बार घुमाती हैं। यह करके फिर लौके अग्र-भागपर सञ्चित किञ्चित् काजलको वाम तर्जनी एवं अङ्गुष्ठके सहारे लेकर इसीसे नीलमणिके भ्रूमध्यपर श्याम तिलक लगा देती हैं। श्रीनिवास श्रीकृष्णचन्द्रके भालपर लगे उस श्यामबिन्दुकी शोभा निहारनेपर जननीका रोम-रोम पुलकित होने लगता है। श्यामबिन्दुकी शोभा भी निराली ही है; मानो यशोदाके करकमलसे छूटकर एक मत्त मिलिन्द नीलाम्बुजदलपर जा गिरा हो और गिरते ही पूर्वकी अपेक्षा भी मधुरतर परागका आस्वाद पाकर तत्क्षण वहीं अचेत हो गया हो।

जननी अपने नीलमणिका सौन्दर्य निहारनेमें तन्मय हो गयीं; किंतु कुछ ही क्षण पश्चात् मानो किसीने स्मरण करा दिया हो, इस प्रकार उन्हें अपने कर्तव्यकी स्मृति हो आयी। मैयाने धीरे-धीरे कक्षका प्रमुख द्वार खोला और बाहर अलिन्दमें चली आयीं। अतिशय शीघ्रतासे अपने हाथ-पैर धोये। फिर वस्त्र-परिवर्तन करने चलीं। रात्रिमें धारण किये हुए सभी वस्त्रोंको उतारकर नवीन पीतवर्ण क्षौम वस्त्र धारण किये, सुचित्रित घाघरा धारण किया, कञ्चुकी धारण की तथा सिरको विविध चित्रावली-परिशोभित ओढ़नीसे ढक लिया। मन्थनके समय कटिदेशसे वस्त्र स्खलित न हो जाय, इसलिये काञ्ची धारणकर घाघरेको और भी सुदृढ़ बना लिया। यह करके फिर ऐसे स्थानपर मथानीको स्थापित किया, जहाँसे वे कोष्ठमें विराजित नीलमणिको निरन्तर देखती रह सकें। साथ ही कुछ ही दूरपर पार्श्ववर्ती कोष्ठके एक चूल्हेमें अग्नि प्रज्वलित करके उसपर दूधका पात्र रख दिया, जिससे श्रीकृष्णके उठनेतक दूध भी औटकर मधुर बन जाय। यह चूल्हा भी ऐसे स्थानपर है, जिसे जननी मन्थन करते समय निरन्तर देखती रह सकें। इस प्रकार सारी व्यवस्था करके यशोदारानी दधिमन्थन आरम्भ करने चलती हैं। आज कोई दासी नहीं, जो मैयाके इस सौभाग्यमें हिस्सा बँटाने आये। सबपर विविध कार्य-भार सौंपकर वे उन्हें यहाँसे बहुत दूर, बहुत पहले भेज चुकी हैं। आज कोई विघ्न नहीं है। जननी परमानन्दमें

डूबती-उतराती दधिमन्थन करने लगती हैं—

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १)

मन्थन आरम्भ होते ही श्रीकृष्णजननीमें प्रेमावेश भी आरम्भ हुआ। आजतक यशोदानन्दनने जितनी लीलाएँ की हैं, सब-की-सब व्रजरानीके हृदय-मन्दिरमें अङ्कित हैं; क्रमशः इनका द्वार खुलने लगा, जननीके स्मृतिपथमें ये लीलाएँ उदय होने लगीं, हृदयमें रससिन्धु उमड़ने लगा किंतु वह वहीं रुद्ध रह सके, मसृण हृत्प्रदेशमें इतना स्थान कहाँ। अतः उच्छलित होकर यह रसधारा गीतके रूपमें व्रजेश्वरीके मुखसे निस्सृत होने लगी। मन्थनकी ध्वनिमें मिले हुए कण्ठसे व्रजरानी अपने नीलमणिके विविध चरित्रोंका सुमधुर गान करने लगीं—

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च।
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २)

व्रजेश्वरी हाथोंसे तो अपने प्राणाराम नीलमणिके लिये नवनीत प्रस्तुत कर रही हैं, मुखसे नीलमणिकी रसमयी बाललीलाका गान कर रही हैं तथा उनकी चित्तभूमिपर इन विविध लीलाओंके अनुरूप क्षण-क्षणमें नव-नव वेशसे विभूषित होते हुए नीलमणि नृत्य कर रहे हैं। इस प्रकार वे श्रीकृष्णचन्द्रमें कायमनोवाक्यसे तन्मय हो रही हैं। इस तन्मयताने क्रमशः जननीकी यह स्मृति भी प्रायः हर ली कि नीलमणि अभी तो पर्यङ्कपर सो रहे हैं, उनकी निद्रामें व्याघात न हो। अब तो उनकी भावनामें नीलमणि रह-रहकर उनके सामने आ जाते हैं। इसीलिये मुक्तकण्ठसे वे गाने लगती हैं—

गोकुलपतिकुलतिलकं त्वमसीह।
कृतसुकृतव्रजचरितसुखव्रजनयनानन्दिसमीह!

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे लाल! तू तो व्रजराजकुलका तिलक है। अरे! तूने एक-से-एक बढ़कर परम मनोहर, सुन्दर, पवित्र लीलाएँ यहाँ की हैं। ओह! उन्हें निहार-निहारकर व्रजवासी सुखमें डूबे हुए हैं। लीला-सुख देकर तू सदा व्रजवासियोंका आनन्दवर्द्धन करता है।'

जननीके हृत्पटपर जब कभी जन्ममहोत्सवकी झाँकी झलक उठती है, उस समय वे अपने नीलमणिका एक वैसा ही नाम रखकर पुकार उठती हैं—

आनन्दोद्भवजन्ममहोत्सवनन्दितगोपसमाज!

(श्रीगोपालचम्पूः)

—तथा फिर अत्यन्त ललित स्वरमें स्वयं जन्ममहोत्सवका भी विस्तृत वर्णन करने लगती हैं—

द्वार सुबरन बने बँध तोरन घने,
उच्च प्रासाद ग्रह केतु डोलैं।
सूत-चारन, तहाँ पढ़त मागध जहाँ,
बिरद बिरदैत बंदीय बोलैं॥
अजिर सुचि सौं सच्यौ, छिरकि सौरभ रच्यो,
बिसद करि कुंभ, मनि चौक पूरे।
खंभ कदली हरे, हरद अच्छत भरे,
कनक मनि-जटित कल कलस रूरे॥
गुरु जननि दै मान, कुल जननि सुख मान,
ग्रह काज अगिवानि करि, आनि राखैं।
तहँ दुजनि कौं बूझि, विधि सुरनि कौं पूजि,
परि पाँइ जहँ बिनय बैन भाखै॥
सुभ बेद उच्चार, कुलरीति साचार,
पुनि लोक विधि कर्म करि धर्म नाधैं।
करि सजन ब्यौहार, लै मित्र उपहार,
भरि प्रीति के भार उर रीति साधैं॥
तहँ नंद-उपनंद गोपीन के बृंद,
मिलि ग्वाल आनंद रस रंग भूले।
करि उरनि में ऊब, लै फूल-दधि-दूब,
मन माल कुसुमाल पट पहरि फूले॥
बरहीन के पच्छ धारै छबी स्वच्छ,
भ्रम भरे गति लच्छ तहँ धरनि खूदैं।
दधि परसपर खेलि, तन लेपि, मुख मेलि,
भुज भुजनि सों झेलि पग उच्च कूदैं॥
छबि ग्वाल जगमगे, गिरि धातु तन रँगे,
उर प्रेम सौं पगे तहँ फिरत चाँडे।

ललित रोचन महाँ, कलित केसरि तहाँ,
बलित गोबृष भगहिं सृंग माँडे॥
जहँ नृत्य करि गान, भरि तान दै मान,
सुखदानि ललनादिके जूह भ्राजैं॥
कटि किंकिनी कनक, मंजीर धुनि झनक,
कर कंकननि खनक मिलि बलय बाजैं॥
पनव बीना सजैं, संख भेरी बजैं,
दुंदुभी गरज घन घटा गाजैं।
मुरज लरजैं भली, सुरनि जंत्रनि मिलीं,
गुनी गन भ्रमित गुन गूढ़ राजैं॥
जहँ हीरमनि माल दै, चीर मुकतालि दै,
जाचकनि दान दै, अचक कीन्हैं।
तिलनि गिरि हैम दै राजत गिरि धेनु दै,
ऊसही खरिक लै छिरकि दीन्हैं॥

पूतना-उद्धार, शकट-भञ्जन आदि समस्त लीलाओंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी जिस-जिस माधुरीका विकास हुआ है, इन सबका वर्णन भी मैया अपने गीतमें करती हैं। अपने नीलमणिके मधुर रिङ्गण, विविध क्रीडन, नर्तन, गोवत्सपुच्छ-धारणका भी गीत गाती हैं। नीलमणिकी नवनीतहरण-लीलाका भी अत्यन्त सुन्दर चित्रण करती हैं।

दधिमन्थनके समय मैयाके श्रीअङ्गोंकी शोभा भी देखने ही योग्य है। उनके स्थूल कटिदेशमें सुकोमल क्षौम (रेशमी)-तन्तुओंसे निर्मित रेशम-डोरीमें बँधा लहँगा सुशोभित है। श्रीकृष्णचन्द्रके लीलागानसे, एकतान होनेवाली मधुरातिमधुर श्रीकृष्णस्मृतिसे वात्सल्य-स्नेहसिन्धुके उद्वेलित हो जानेसे उद्वेलित होकर जननीके दोनों स्तनोंसे दूध झर रहा है। साथ ही वे प्रकम्पित भी हो रहे हैं। मन्थनदण्डमें लगी नेतीके अविराम चलाते रहनेसे भुजाएँ श्रान्त होती जा रही हैं; हाथोंको अलंकृत करनेवाले कङ्कण, कानोंको विभूषित करनेवाले कुण्डलयुग्म भी अतिशय चञ्चल हो रहे हैं। श्रमके कारण—नहीं-नहीं, प्रेमावेशके कारण प्रस्वेदकण भालपर, कपोलोंपर, चिबुकपर झलमल कर रहे हैं। अङ्गोंमें निरन्तर गति रहनेसे अञ्चल सिरसे नीचे उतर आया है, वेणी-बन्धन भी शिथिल हो गया है, वेणीमें ग्रथित मालती-पुष्प झरने लगे हैं, झर-झरकर चरणोंका स्पर्श कर रहे हैं, मानो कबरीके ये पुष्प व्रजरानीके चरणोंमें गिरकर प्रपञ्चगत जीवोंके लिये एक सत्य सिद्धान्तका संकेत कर रहे हों—जो अभी एक क्षण पहले किसीके मस्तकपर आसीन था, वह, श्रीकृष्णचन्द्रमें उसके तन्मय होते ही चरणोंका आश्रय लेने लगता है—इस परम सत्यको प्रकाशित कर रहे हों। प्रेमावेशके कारण जननीका बाह्यज्ञान यद्यपि लुप्तप्राय हो रहा है, तथापि अन्तश्चेतनामें श्रीकृष्णचन्द्रको नवनीत खिलानेकी, दुग्धपान करानेकी वासना तो चिर जाग्रत् है; निद्रित नीलमणिको शयनागारमें छोड़ आयी हूँ, यह संस्कार भी सर्वथा बना है; अतः मन्थनक्रियामें कोई भी व्यतिक्रम नहीं; साथ ही अन्तरके संस्कारोंकी प्रेरणासे जननी रह-रहकर कभी तो दूधके औटनेके स्थानपर और कभी शयनपर्यङ्कपर—दोनों ओर दृष्टि डालकर देख लेती हैं; इस क्षण-क्षणके दृष्टिसंचालनसे जननीके भ्रू-युगल अतिशय बङ्किम बन गये हैं, बड़े ही सुन्दर दीख रहे हैं। इस प्रकार वात्सल्यमहोदधि व्रजेश्वरी एक चञ्चल सौन्दर्य-प्रतिमा-सी बनकर मन्थन कर रही हैं—

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ३)

रजु खैंचति भुज धारि, भार मचकत भुज बेनी।
रुरत ढुरत उरहार, झरत सुमननिकी श्रेनी॥
चंचल करनाभरन कनक कंकन कर खनकत।
श्रमजल झलकत चलत अंग भूषन छबि झलकत॥
घाघर घुमंडि झूमत झहरि, उड़तु सुपट, फहरति लहरि।
घन गरज घमंडत माट दधि घमघमातु घमकतु घहरि॥

रजनी समाप्त हो गयी, उषा भी आकर चली गयी, अरुणोदय भी हो गया है; किंतु जननीको समयका ज्ञान नहीं है। वे तो मन्थनमें, लीलागानमें, लीलादर्शनमें तन्मय हो रही हैं। उधर शयनागारमें श्रीकृष्णचन्द्रकी निद्रा भी भङ्ग हो चुकी है, वे 'मैया-मैया' की पुकार लगा रहे हैं। पर मैया तो सुनतीं ही नहीं। और

दिन तो बार-बार मनुहार करके निद्रित नीलमणिको मैया जगातीं—

जागौ जागौ हो गोपाल।
नाहिन इतौ सोइयत, सुनि, सुत! प्रात परम सुचि काल॥

पर आज नीलमणि ही मैयाको भावसमाधिसे जगाना चाहते हैं और मैया जागती नहीं। इस प्रकार जब बारंबार पुकारनेपर भी जननीकी ओरसे कोई उत्तर न मिला तो श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं ही शय्यासे उतर पड़े एवं जननीके निकट चले आये—

दीर्घश्वासं गात्रमोटप्रयुक्तं नेत्रे मार्जञ् जाग्रदम्बेति जल्पन्।
क्रन्दन्मन्थध्वानमाकर्ण्य बालः श्रीगोपालः प्रस्खलंस्तां जगाम॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'नासाविवरसे दीर्घ श्वास आ रहा है, अँगड़ाई ले रहे हैं, आँखें मल रहे हैं, जागते ही 'माँ-माँ' रटने लगे हैं, मन्द-मन्द क्रन्दन भी कर रहे हैं; किंतु कोई प्रत्युत्तर नहीं। अन्तमें मन्थन-ध्वनिको सुननेसे मैया कहाँ है, यह पता लग जानेपर स्खलित गतिसे वे बालगोपाल जननीके पास चले गये।'

श्रीकृष्णचन्द्र जननीके पृष्ठदेशके समीप जाकर खड़े हो गये। एक हाथ मैयाकी ग्रीवामें डालकर दूसरेसे चिबुक स्पर्श करके बोले—'री मैया! तू तो सुनती ही नहीं! देख, मुझे कितनी भूख लगी है; तू मुझे दूध पिला दे।' यह सुननेपर फिर कहीं जननीमें उपयुक्त चेतना आती है। पर एक बार तो भ्रमित हो ही गयीं कि यह सत्य है या वह (मनोराज्य)? अवश्य ही निर्णय होनेमें विलम्ब न हुआ; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र उनके कण्ठमें अपनी भुजा डालकर गोदमें ले लेनेके लिये, मन्थन स्थगित कर देनेके लिये बार-बार क्रन्दनमिश्रित स्वरमें कह रहे थे। जननी अबतक जिस सुखमें तल्लीन थीं, उससे कोटि-कोटि-गुणित अधिक परमानन्दसागरमें निमग्न होने लगीं। साथ ही नीलमणिको नवनीत भोजन कराना है, यह स्मृति भी मनमें उदय हो आयी। मैयाने दधि-भाण्डमें झाँककर देखा। दीखा—नवनीत संतरण करने लगा है, आठ-दस बार नेती और भले ही घुमा दूँ। जननी नीलमणिके कपोलपर चुम्बन अङ्कितकर बोलीं— 'मेरे लाल! देख, कितना सुन्दर माखन आया है; मैं तुझे अभी-अभी दूध पिलाऊँगी, ताजा माखन खिलाऊँगी······।' कहकर मैयाने नेती एक बार और घुमा दी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र धैर्य खो बैठे। उनके अधर प्रस्फुरित होने लगे; इतना ही नहीं, उन्होंने हाथोंसे मन्थनदण्डको पकड़ लिया। 'नहीं-नहीं, मन्थन करना छोड़ दे।' कहकर वे मचल उठे। पुत्रकी इस चेष्टाको देखकर जननीके अङ्ग तो प्रेमातिरेकसे अवश होने लग गये—

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ४)

एक बार जननीने फिर चेष्टा की, कदाचित् नीलमणि इस बार मान जाय!—

नंदजू के बारे कान्ह, छाँडि दै मथनियाँ।
बार-बार कहति मातु जसुमति नँदरनियाँ॥
नैकु रहौ, माखन देउँ, मेरे प्रान-धनियाँ।
आरि जनि करौ, बलि बलि जाउँ हौं निधनियाँ॥

किंतु इस बार तो श्रीकृष्णचन्द्रने नेतीको मन्थन-दण्डसे निकालकर दूर फेंक दिया तथा जननीकी गोदमें जा बैठे। प्रेमविवश जननीने भी अपने कोटि-कोटि प्राणप्रिय नीलमणिके मुखमें स्तनाग्र दे दिया। नीलमणि स्तनपान करने लगे।

जिस समय श्रीकृष्णचन्द्रने मन्थनदण्ड, दधिभाण्ड एवं नेतीको स्पर्श किया था, उस समय यशोदारानीका आनन्दसिन्धु तो उच्छलित होने लगा था, पर क्षीरसिन्धु, मन्दर एवं वासुकिके हृदय काँप उठे थे। तीनोंको अतीत सिन्धुमन्थनकी स्मृति हो आयी थी। विस्फारित नेत्रोंसे वे श्रीकृष्णचन्द्रकी यह लीला देख रहे थे; देख-देखकर आश्चर्य कर रहे थे—

जब मोहन कर गही मथानी।
परसत कर दधि, माट, नेति, चित उदधि, सैल, बासुकि भय मानी॥
कबहुँक तीनि पैग भुव मापत, कबहुँ देहरि उलँघि न जानी।
कबहुँक सुर-मुनि ध्यान न पावत, कबहुँक खिलावति नँद की रानी॥
कबहुँक अमर-खीर नहिं भावत, कबहुँक दधि-माखन रुचि मानी।
सूरदास प्रभुकी यह लीला, परति न महिमा सेष बखानी॥

स्तन्यपान-रत श्रीकृष्णको गोदसे उतारकर माताका चूल्हेपर रखे हुए दूधको सँभालना और श्रीकृष्णका रुष्ट होकर दधिभाण्डको फोड़ देना तथा नवनीतागारमें प्रविष्ट होकर कमोरीमें रखे हुए नवनीतको निकाल-निकालकर बंदरोंको लुटाना; माताको देखकर श्रीकृष्णका भागना और यशोदाका उन्हें पकड़कर बाँधनेकी चेष्टा करना

क्षीरसिन्धुके मन्थनसे सुधा निकली थी। अमरवृन्द सुधाका पान करके तृप्त हुए थे; किंतु उस सुधामें वह सर्वथा अनुपम सुस्वाद कहाँ, जो व्रजेश्वरीके स्तन्यपीयूषमें है। इसीलिये अनादिकालसे जननीका स्तन्यपान करते रहनेपर भी सच्चिदानन्द, पूर्णब्रह्म, अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको यहाँ 'अलम्' का भान नहीं हुआ; प्रत्युत उनकी यह अमृतपानकी अभिलाषा निरन्तर बढ़ती ही जा रही है, अनवरत पीते रहनेपर भी तृप्ति होती ही नहीं। आज भी वे यशोदारानीके अङ्कमें विराजित होकर स्तनसे झरती हुई वात्सल्यसुधाका रस ले रहे हैं, अपने अरुण अधरोंके बीच जननीका स्तनाग्र लेकर, दोनों करपल्लवोंसे जननीका स्तनाग्र धारण किये, अतिशय उत्कण्ठित हुए, गूँ-गूँ शब्द करते हुए दूध पी रहे हैं, पर तृप्ति नहीं। ज्यों-ज्यों पीते हैं, त्यों-ही-त्यों क्षुधा और भी बढ़ती जा रही है। जिस परिमाणमें स्तनसे दूध झरता है, मानो उससे सहस्रगुने अधिक परिमाणमें पीनेकी लालसा श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयमें उमड़ चलती है और यह देखकर पुनः व्रजेश्वरीकी वात्सल्यधारा भी अनन्तगुणित होकर दूधके रूपमें बहने लगती है; इससे फिर श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तन्यपानकी उत्कण्ठा बढ़ती है, इस प्रकार व्रजेश्वरीके स्तन्यदानकी एवं श्रीकृष्णचन्द्रके स्तन्यपानकी लालसामें होड़ लग रही है। मानो दोनों ही होड़ लगाकर असीमकी ओर दौड़ रही हैं।

किंतु अचिन्त्यलीला-महाशक्तिको अब आगेकी लीला सजानी है। इसीलिये वे स्तन्यदान एवं पानकी लीलाको बीचमें ही छोड़कर आगे बढ़ जाती हैं। जाकर उस चूल्हेकी आँचको तेज कर देती हैं, जिसपर यशोदारानी अपने नीलमणिको पिलानेके लिये दूध औटा रही थीं। सहसा आँच तेज हो जानेके कारण दूध उफनने लगता है। व्रजरानी तो अपने नीलमणिको स्तन्यदान करनेमें, पुत्रके स्मितसमन्वित मुखचन्द्रकी, उसपर बिखरी कुन्तल-राशिकी शोभा निहारनेमें तन्मय हो रही थीं; पर मानो किसीने बरबस उनकी तन्मयता तोड़ दी हो, तोड़कर दृष्टि भी उस ओर फेर दी हो—इस प्रकार अचानक जननीकी दृष्टि उफनते हुए दूधपर जा पड़ती है—

फिरि मति फेरी, गृह तन हेरी।
अगिनि धर्‌यौ तौ, पय निसर्‌यौ तौ॥

फिर तो निमेष पड़ते-न-पड़ते जननी नीलमणिके मुखसे स्तनाग्र खींचकर उन्हें सहसा गोदसे उतारकर, वहीं भूमिपर बैठाकर दूधके समीप दौड़ पड़ती हैं। इसलिये नहीं कि जननीको नीलमणिकी अपेक्षा दूध अधिक प्यारा है; उन्हें तो यह चिन्ता लग रही थी कि यदि यह उफनकर चूल्हेमें गिर गया तो फिर पद्मगन्धा गौओंका परम सुमिष्ट दूध मैं आज नीलमणिको नहीं पिला सकूँगी। विशुद्ध प्रेमका यह भी एक स्वभाव है कि प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके

लिये प्रेमास्पदके संयोगसे प्राप्त होनेवाले अपने सुखका भी सहर्ष त्याग कर देता है। वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीको श्रीकृष्णचन्द्रके स्पर्शसे कितना-कैसा सुख होता है, यह प्राकृत मनकी कल्पनामें समा ही नहीं सकता। अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र सहस्र-सहस्र वर्षोंकी साधनाके उपरान्त केवल ध्यानमें, क्षणभरके लिये जिनका स्पर्श-सुख पाकर सदाके लिये आनन्दमत्त हो जाते हैं, उन्हें प्रत्यक्ष अपने वक्षःस्थलपर धारणकर स्तन्य पिलाते समय व्रजेश्वरी किस परमानन्द-सिन्धुमें निमग्न हो जाती होंगी—यह जड मन-बुद्धिके आकलनमें आनेवाली वस्तु नहीं है; किंतु अपने ऐसे अप्रतिम सुखका भी जननी नीलमणिके सुखके लिये त्याग कर देती हैं। जननीकी धारणा यह है—'मेरे स्तनदूधकी अपेक्षा इस पद्मसौरभवाले दूधमें अधिक जीवनी शक्ति है, इसकी तुलनामें वह अत्यधिक सुमिष्ट है, उसके पानसे मेरे नीलमणिके अङ्ग अधिक सुपुष्ट होंगे, मेरा नीलमणि उसे पीकर अधिक तृप्त होगा; पर वही दूध उफनकर नष्ट जो हो रहा है।' मैया इसे कैसे सहन कर सकती है? मैयाके लिये नीलमणिकी तृप्ति, नीलमणिका मङ्गल अपने सुखकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् है। उन सुखके जानेसे नीलमणिकी तृप्ति होती हो, मङ्गल होता हो, नीलमणिके सुखकी सम्भावना दीखती हो, तो मैया इसके लिये सदा प्रस्तुत हैं। उन्हें यह भावना नहीं करनी पड़ती, उनका तो यह चिरंतन स्वभाव है; अवसर उपस्थित होते ही प्रेमका यह स्वभाव उनकी चेष्टामें व्यक्त हो जाता है। इसीलिये वे आज भी नीलमणिको छोड़कर दूधकी रक्षा करने चली गयीं। अस्तु!

इधर श्रीकृष्णचन्द्र रूठ गये। जननी यद्यपि जाते समय कह गयी थीं—

वत्स! निर्मञ्छनं भजामि, क्षणं तावन्मन्थनगर्गरी रक्ष्यतां त्वदीयं पयो वीक्ष्य यावद् द्रुतमायामीति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे लाल! बलिहारी जाऊँ। देख, तेरे दूधको सँभालकर मैं तुरंत आ रही हूँ। तबतक तू इस मन्थनभाण्डकी रक्षा करते रहना, भला!'

पर इससे उन्हें संतोष क्यों होने लगा! 'मैया मुझे क्षुधित—अतृप्त छोड़कर क्यों चली गयी? साथ क्यों नहीं ले गयी? उन्हें तो इस बातका दुःख है। यही दुःख रोषमें परिणत हो गया। अरुण अधर-ओष्ठ प्रस्फुरित होने लगे, नेत्रोंमें अश्रु भर आये, भृकुटि और भी वङ्किम हो गयी। दाँतोंसे अधरको दबाकर रोषभरी दृष्टिसे वे इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने देखा—जननी तो अँगीठीके समीप, उस ओर मुख किये दूधकी सँभालमें व्यस्त है। फिर तो रोष और बढ़ा। मन्थनभाण्डका मुँह पकड़कर वे उसे उलट देनेकी चेष्टा करने लगे। पर आज श्रीकृष्णचन्द्रमें इतना बल कहाँ जो यशोदारानीके हाथोंसे स्थापित दधिपूरित भाण्डको वे उलटा दे सकें। उलटना दूर, भाण्ड हिलातक नहीं। वे दाँत पीसकर पीछेकी ओर ताकने लगे। इतनेमें पास पड़े हुए एक शिलाखण्ड (लोढ़े)-पर दृष्टि पड़ गयी। बस, साधन मिल गया। लपककर उन्होंने लोढ़ेको हाथमें ले लिया और चले आये मन्थनभाण्डके समीप। एक बार पुनः देखा—जननीने इस ओर ताका या नहीं; किंतु जननी तो अभी भी उसीमें उलझी हुई थीं। अब तो श्रीकृष्णचन्द्रके लिये धैर्यकी सीमा आ गयी थी, जननीका यह व्यवहार असह्य हो गया था। उन्होंने लोढ़ेसे मन्थनभाण्डके ऊपरी भागपर एक प्रहार किया। खन्-खन् ध्वनि हुई, पर भाण्ड फूटा नहीं। साथ ही श्रीकृष्णचन्द्रका क्रोध किञ्चित् शिथिल पड़ गया; क्योंकि उन्हें भय होने लगा—'कहीं जननीने यह खन्-खन् ध्वनि सुन ली होगी तो?' उन्होंने भयमिश्रित नेत्रोंसे जननीकी ओर देखा; किंतु संयोगकी बात! जननी उसी प्रकार अभी भी दूधकी सँभालमें संलग्न थीं। यह देखकर श्रीकृष्णचन्द्रका भय तो जाता रहा, पर क्रोध द्विगुणित हो गया। इस बार उन्होंने पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक वेगसे लोढ़ेको मन्थनभाण्डके तल देशसे टकरा दिया। फिर

क्या था—चोटके अनुरूप ही भाण्डमें छिद्र हो गया; दहीकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके भी उल्लासकी सीमा न रही।

पर अब यहाँ रहना निरापद नहीं—बाल्यलीला-विहारी यह भी जान गये। मानो नन्दप्रासादके वास्तुदेवने उनके कानोंमें यह कह दिया हो—'यशोदाके नीलमणि! जानते हो, यह भाण्ड तुम्हारी पितामही वरीयसीके समयसे सुरक्षित आ रहा था। उसे फोड़कर तुमने अक्षम्य अपराध किया है, इसका दण्ड जननी तुम्हें अवश्य देंगी, यहाँसे शीघ्र जाकर कहीं छिप जाओ।' इस प्रकार किसीके द्वारा निर्दिष्ट हुए-से वे भाग चले, द्रुतगतिसे अलिन्दको लाँघकर स्तम्भोंकी ओटमें चले गये; फिर वहाँसे मृदु-मृदु चलकर नवनीतभंडारके समीप जा पहुँचे। भंडारके इस सम्मुखवर्ती द्वारकी साँकल खुली थी। बस, और क्या चाहिये; इससे सुन्दर छिपनेका स्थान और कौन-सा होगा? श्रीकृष्णचन्द्र द्वार खोलकर भीतर प्रवेश कर गये। भीतर जाकर पुनः इस द्वार-कपाटको तो ज्यों-का-त्यों बंद कर दिया तथा भंडारमें उद्यानकी ओर जो द्वार खुलता था, उसे खोल लिया। उन्हें दीखा—नवनीतसे भंडार भरा है, छींकोंपर सजा-सजाकर माखनसे भरे अगणित भाण्ड रखे हैं। यह वह भंडार है, जिसमें व्रजेशके इष्टदेव श्रीनारायणके भोगके लिये और अतिथि-सत्कारके लिये अतिशय पवित्र माखन सुरक्षित रहता है। ऐसे भंडारका एकच्छत्र राज्य पाकर श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दमें निमग्न हो गये। गोपसुन्दरियोंके घर जाकर उनके भंडारमें स्वच्छन्द क्रीड़ा करनेका अवसर तो अनेक बार मिल चुका है, पर अपने भंडारमें प्रवेश पा लेनेका यह सुयोग आज प्रथम बार उन्हें मिला है। वे फूले नहीं समाते। अस्तु,

जब इतनी लीला हो चुकती है, तब कहीं जाकर व्रजरानीका कार्य समाप्त हो पाता है। सुपक्व दूधको अँगीठीसे उतारकर वे पुनः मन्थनस्थानके समीप आती हैं। आकर देखती हैं—दधिभाण्ड फूटा पड़ा है, दधिसे सारा अलिन्द प्लावित हो रहा है! 'मेरे नीलमणिके अतिरिक्त यह कार्य और किसका हो सकता है? मैं उसे स्तन्यपान कराते-कराते छोड़ गयी थी, इसीसे वह अतिशय कुपित हो गया है और उसने भाण्डको फोड़ डाला है। सो भी कितनी चतुरतासे! मैं सुनतक न सकी! तथा यह सब करके वह कहीं भाग गया है।' जननीको यह तथ्य निर्णय करनेमें देर न लगी। सब समझकर वे हँसी रोक न सकीं, खिलखिलाकर हँस पड़ीं—

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम्।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म तज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ७)

यह तो हुआ। पर मेरा नीलमणि गया किस ओर है? मैं उसका कैसे पता पाऊँगी? जननीका कलेजा एक बार तो धक्-धक् करने लगता है; किंतु सहसा उनकी दृष्टि वहाँ प्रसरित दधिकी धाराओंपर अङ्कित श्रीकृष्णचरणचिह्नोंकी ओर चली जाती है। मानो वे चरणचिह्न मूक संकेत कर रहे हों—'मैया! हमारा अनुसरण करो, अपने नीलमणिका अनुसंधान पा लोगी।' सचमुच इन्हींके सहारे यशोदारानी अपने पुत्रको ढूँढ़ सकीं। अन्यथा इतने विशाल नन्दप्रासादमें छिपे नीलमणिको ढूँढ़ निकालना अकेली मैयाके लिये असम्भव था। मैया उन्हींको देखती चल पड़ीं। दहीपर तो चिह्न स्पष्ट थे ही, चरणतल दहीमें सन जानेके कारण आगे भी जहाँ-तहाँ अस्पष्ट चिह्न बन गये थे। नवनीतभंडारतक क्रम मिलता गया। वहाँसे आगे विलुप्त हो गया था। व्रजेश्वरी समझ गयीं कि निश्चय ही नीलमणि नवनीतभंडारमें ही छिपा है तथा अपने करतलसे सिरका स्पर्श कर चिन्ता करने लगीं—'आह! अबतक तो इस अबोध शिशुने नारायण-भोगके लिये सुरक्षित समस्त नवनीतकी कमोरियोंको जूठा कर दिया होगा!'

कपाटके छिद्रसे जननीने झाँककर देखा तो देखती हैं—एक उलटा हुआ ऊखल है, उसीपर उनके

नीलमणि खड़े हैं; उधरके द्वारपर एवं द्वारसे सटे आँगनमें सैकड़ों-हजारों बंदर बैठे हैं। नीलमणि छीकोंसे ले-लेकर वानरोंको यथेच्छ नवनीत लुटा रहे हैं। स्वयं कभी-कभी किञ्चिन्मात्र खा लेते हैं और शेष वानरोंको वितरण कर दे रहे हैं। साथ ही, मैया कहीं उनकी यह चोरी देखने आ तो नहीं गयी हैं, उनकी चोरीका भेद कहीं खुल तो नहीं गया है—इस प्रकार विचारकर शङ्कित नेत्रोंसे इधर-उधर देख भी रहे हैं। अपने पुत्रकी यह अनुपम झाँकी देखकर व्रजरानी सोचने लगीं—'आजतक तो मैं गोपसुन्दरियोंके मुखसे सुनती थी, पर विश्वास नहीं होता था; समझती थी कि वे सब बनाकर कहती हैं, पर आज इसकी सारी चेष्टाएँ मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ। सचमुच यह अतिशय चञ्चल हो गया है। इसका शासन करना आवश्यक है, अन्यथा यह अत्यन्त उच्छृङ्खल हो जायगा।' यह विचारकर वहीं पड़ी हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ामें काम आनेवाली स्वर्णछड़ीको जननी अपने हाथमें ले लेती हैं और पीछेसे जाकर उन्हें पकड़ लेनेके उद्देश्यसे धीरे-धीरे चल पड़ती हैं—

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्।
हैयंगवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ८)

मैयाने धीरेसे सम्मुखवर्ती द्वारके कपाट खोल लिये एवं भीतर प्रवेश कर गयीं। श्रीकृष्णचन्द्र तो नवनीतवितरण करनेमें व्यस्त हैं, उन्हें जननीके आगमनका भान न हो सका; किंतु वानर भागने लगे। अत्यन्त निश्शब्द पादनिक्षेप करती हुई शनैः-शनैः मैया उस ओर आ रही है, वानर यह देख रहे थे। इसीलिये वे उछल-उछलकर अशोकशाखाकी शरण लेने लगे। सहसा उनमें यह खलबली देखकर श्रीकृष्णचन्द्रने पीछेकी ओर दृष्टि डाली। दीखा—अञ्चलमें छड़ी छिपाये मैया आ रही है। फिर तो क्षणभरका भी विलम्ब न करके वे ऊखलसे कूद पड़े; जिस ओर कपिश्रेणी भागकर गयी थी, उसी ओर वे भी अत्यन्त भयभीत हुए-से भाग चले। उनके पीछे जननी भी—'अरे चोरोंके सरदार! अब तू भागकर कहाँ जायगा!' कहती हुई दौड़ पड़ीं। कहाँ तो निर्विकल्प समाधिकी भूमिकामें आरूढ़ हुए योगीन्द्रोंका परम एकाग्र मन, जो ज्ञानके आलोकमें ब्रह्मप्रवण होकर ब्रह्ममें विलीन होनेके सर्वथा योग्य बन गया है, वह भी श्रीकृष्णचन्द्रका स्पर्श नहीं पाता, कहाँ आज यशोदा मैया उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्रको—मनसे नहीं—प्रत्यक्ष हाथसे पकड़नेके लिये उनके पीछे-पीछे दौड़ रही हैं! यह कितना आश्चर्य है!

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ९)

करि ग्यान-जोग-समाधि धारत ध्यान आवत हैं नहीं।
मन बुद्धि चित्त उपाव कौं करि, दौरि पावत हैं नहीं॥
जिहिं कौं गह्यौ जसुधा चहैं बसुधा, परी मति मोह में।
नहिं जानि पूरनब्रह्म, पुत्रहि मानि कै, भरि कोह में॥

जो हो, श्रीकृष्णचन्द्रने सोचा कि आज जननीके कोपसे त्राण पानेका एक ही उपाय है—पुरद्वारके बाहर सभाभवनमें मैं चला जाऊँ। वहाँ बाबा होंगे, गोप होंगे, वहाँ चले जानेपर मैया तो वहाँ जा नहीं सकेगी; क्योंकि अन्तःपुरसे बाहर, गोपोंकी सभामें तो यह मुझे लेकर कभी नहीं जाती; फिर आज कैसे जायगी। यह निश्चय करके दौड़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र तोरणद्वारकी दिशामें ही मुड़ गये—

अथ पुरद्वारं न मातुर्गमनद्वारमिति मत्वा पलायनग्रहिलस्तद्दिशमेव जग्राह।

(श्रीगोपालचम्पूः)

सर्वज्ञ, सर्ववित्‌को आज इतनी-सी बातका भी पता नहीं कि व्रजेश्वर आज यहाँ नहीं हैं, सभाभवनमें कोई भी गोप नहीं हैं, सभी सुदूर गोवर्द्धनकी उपत्यकामें महोत्सवकी योजनामें लगे हैं। देश-कालसे जिनका ज्ञान कभी परिच्छिन्न नहीं होता, अतीत, वर्तमान, भविष्य—यह काल-भेद जिनके

सामने नहीं है, जिनके समक्ष सब कुछ वर्तमान ही है—वे श्रीकृष्णचन्द्र बाल्यलीलावेशका रस लेते हुए आज ऐसे तन्मय हो रहे हैं कि उपर्युक्त छोटी-सी बात भी उनकी चित्तभूमिमें उदय नहीं हो रही है और वे सारी शक्ति लगाकर मैयाके उद्देश्यको विफल करनेके उद्देश्यसे सभाभवनकी शरण लेने जा रहे हैं। किंतु आज विश्वशरणको वहाँ शरण मिलेगी नहीं; क्योंकि यशोदारानी भी तुली हुई हैं। इसके अतिरिक्त बाहर जानेमें आज उन्हें कोई संकोच भी नहीं है; क्योंकि वे तो जानती ही हैं कि इस समय गोपेन्द्रकी सभास्थली जनशून्य है, वहाँ कोई भी गुरुजन नहीं। इसीलिये निर्बाध वे भी पुत्रके पीछे-पीछे भाग रही हैं—

जननी तु तदानीं तत्राजनतां जानती तमेवानुयातवती।

(श्रीगोपालचम्पूः)

अवश्य ही एक बाधा तो आ ही गयी। बृहत् नितम्बभारसे दबी क्षीणकटि जननी यशोदाके लिये अधिक देरतक द्रुतगतिसे दौड़ना जो सम्भव नहीं। इसीलिये राजसभातक पहुँचते-पहुँचते मैयाकी गति मन्द पड़ जाती है। इतना ही नहीं, गमनवेगसे उनका केशबन्ध शिथिल पड़ जाता है, केशपाशमें ग्रथित प्रसून झर-झरकर मैयाके पीछे मार्गमें गिरते जा रहे हैं। अतिशय वेगसे दौड़नेके कारण यशोदारानीके सारे अङ्ग शान्त होते जा रहे हैं। इधर श्रीकृष्णचन्द्र सभाभवनमें जा पहुँचे हैं। पर वहाँ किसीको न पाकर वे कण्टकाकीर्ण उपवनका पथ पकड़ते हैं। ओह! अब तो यशोदारानी अतिशय व्याकुल हो जाती हैं। अबतक तो शरीर ही थका था, अब मनमें पीड़ा होने लगती है—'हाय! यदि नीलमणि अकेला इस वनकी ओर भाग गया, तब तो सर्वनाश हुआ! इसके सुकोमल अङ्ग काँटोंसे छिद जायँगे! नारायण! नारायण…… !' क्षणभरके लिये यशोदारानीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। मैयाके नेत्र बंद हुए कि बस, श्रीकृष्णचन्द्रकी गति भी बंद हो गयी; दृष्टि जो वनकी ओर थी, वह भी निमेषमात्रके लिये मुड़कर जननीकी ओर हो गयी। बाल्यावेशके अन्तरालसे उनकी कृपाशक्ति झाँककर व्रजरानीकी इस दयनीय दशाका निरीक्षण करने लगी तथा देखते-देखते जननीके श्रान्त कलेवरको जो अभी दस हाथ दूर था, खींचकर श्रीकृष्णचन्द्रसे दस अंगुलपर लाकर रख दिया। 'हैं! यह लो!! मैं तो दौड़कर नीलमणिके सर्वथा समीप आ गयी। अब यह कैसे भाग सकता है! अच्छा, फिर भाग रहा है! भाग; मैं भी देखती हूँ!'—उल्लासमें भरी जननीने लपककर पीछेसे श्रीकृष्णचन्द्रके कंधोंपर अपने हाथ रख दिये—

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १०)

कचभार श्रोनीभार भारी हारि बेगि परी महाँ।
उरहार की न सम्हार, भूषन धारि भूमि परी तहाँ॥
सुचि केसपासनि तै रुरी मुकतालि गूँथी टूटि कै।
श्रम-स्वेद-सीकर सोह आनन, फूल फैलत छूटि कै॥
प्रभु देखी जननी जबै, ब्याकुल श्रमतन जानि।
लागि दया, ठाढ़े भए तबहीं सारँगपानि॥

श्रीकृष्णचन्द्र जननीके अपराधी हैं। जननी एक हाथ पकड़े भवनकी ओर उन्हें ले चलती हैं। इस समयकी झाँकी देखने ही योग्य है—श्रीकृष्णचन्द्र क्रन्दन कर रहे हैं, नेत्रोंमें लगा काजल अश्रुप्रवाहसे धुल-धुलकर कपोलोंको सिक्त कर रहा है। रुक-रुककर दूसरे हाथसे वे अश्रुमार्जन करने लगते हैं। भयविह्वल नेत्रोंसे बार-बार सिर उठाकर जननीके मुखकी ओर देखते हैं; किंतु जननीमें मानो आज दयाका लेश भी नहीं है। बार-बार वे स्वर्ण-छड़ीको ऊपर उठाती हैं तथा ऐसी मुद्रा बनाती हैं, मानो अब वे इस छड़ीसे सचमुच श्रीकृष्णचन्द्रके सुकोमल अङ्गोंपर प्रहार करेंगी ही। उस समय श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय आकुलकण्ठसे पुकार उठते हैं—'मेरी मैया! अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा।' किंतु जननीका हृदय तनिक भी नहीं पसीजता। और भी रोषभरी वाणीमें वे

उनकी भर्त्सना करने लगती हैं।' 'अरे चञ्चलमति! रे क्रोधी! रे लोभी! अरे वानरबन्धु! रे गृहलुण्ठनकारी! तूने गोकुलमें गोपसुन्दरियोंके घर जा-जाकर बड़ी उद्दण्डताएँ की हैं, बहुत उत्पात मचाये हैं; आज उन सब अपराधोंका दण्ड मैं तुझे अवश्य दूँगी। चल, बता, कहाँ हैं तेरे खिलौने? सब लाकर मुझे दे दे। मैं सारे खिलौने ले लूँगी और फिर देख इस छड़ीकी ओर, देखता है तो!.........।' इस प्रकार जननी शमनको भी भय देनेवाले विश्वभयहारी श्रीकृष्णचन्द्रको भय दिखाने लगती हैं—

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। ११)

व्रजेन्द्रनन्दनका यह करुणक्रन्दन पार्श्ववर्ती आभीर-सुन्दरियोंके कानोंमें जा पहुँचता है। वे दौड़ पड़ती हैं। सबसे पहले एक वृद्धा गोपी आयी। श्रीकृष्णचन्द्रकी दशा देखकर उसका हृदय भर आया। यशोदारानीसे उसने कारण पूछा। संक्षेपमें व्रजेश्वरीने उसे सारी बात बता दी। फिर तो वह रोषमें भरकर बोली—

हरि के बदन तन धौं चाहि।
तनक दधि कारन जसोदा! इतौ कहा रिसाहि॥
लकुट कें डर डरत ऐसें सजल सोभित डोल।
नील-नीरज-दल मनौ अलि-अंसकनि कृत लोल॥
बात बस समृनाल जैसें प्रात पंकज-कोस।
नमित मुख इमि अधर सूचत, सकुच में कछु रोस॥
कितिक गोरस-हानि, जा कौं करति है अपमान।
सूर ऐसे बदन ऊपर वारिऐ तन-प्रान॥

मैयाने देखा—'सचमुच नीलमणि मेरी इन चेष्टाओंको सत्य मानकर अत्यधिक डर गया है।' वात्सल्यघनमूर्ति जननीके प्राणोंमें टीस चलने लगी। मनमें आया—'नीलमणिको वक्षःस्थलसे लगाकर, शत-सहस्र चुम्बनसे नहलाकर इसके आँसू पोंछ दूँ।' किंतु इसी समय लीलाशक्ति मैयाके हृदयमें लीलाके अनुरूप विवेक भरने लगीं—'नहीं-नहीं नन्दरानी! ऐसा कभी मत करना! तुम्हारा यह रोष इस नीलमणिके प्रति थोड़े ही है! तुम तो नीलमणिके मङ्गलके लिये ही रोषका स्वाँग कर रही हो। भविष्यमें नीलमणि उच्छृङ्खल न हो जाय, तुम्हारा तो इतना ही उद्देश्य है। आज थोड़ा-सा धैर्य रख लो। आजसे पूर्व कभी तुमने नीलमणिका शासन नहीं किया। तथा यह भी नितान्त सत्य है कि अब आगे भविष्यमें भी तुम कभी नीलमणिके प्रति, क्षणभरके लिये भी रूक्ष भाव धारण नहीं कर सकोगी। यह तो तुम्हारे जीवनमें नीलमणिके प्रति प्रथम एवं अन्तिम अनुशासनकी लीला है। इससे तुम्हारे पुत्रका मङ्गल ही होगा, इसका अपार सुयश बढ़ेगा। अब बीचमें यदि तुम धीरज छोड़ दोगी तो नीलमणिका स्वभाव कैसे सुधरेगा? नहीं-नहीं, थोड़ी देरके लिये अपने प्राणोंकी वेदनाको छिपाये रहो, उसे सह लो, अनुशासनकी लीला हो जाने दो; इसके पश्चात् कोटि-कोटि प्राणोंके स्नेहसे नीलमणिको धो-पोंछकर लाड़ लड़ाना।' यशोदारानी एक उधेड़-बुनमें पड़ जाती हैं। इतनेमें एक दूसरी प्रौढ़ा गोपी रूक्षता और करुणाके मिश्र स्वरमें यशोदारानीसे कहने लगती है—

हरि को ललित बदन निहारु।
निपट ही डाँटति निठुर ज्यों, लकुट कर तें डारु॥
मंजु अंजन सहित जल-कन चुवत लोचन चारु।
स्याम सारस मग मनो ससि स्त्रवत सुधा-सिंगारु॥
सुभग उर दधि-बुंद सुंदर लखि अपनपौ वारु।
मनहुँ मरकत मृदु सिखरपर लसत बिसद तुषारु॥
कान्हहू पर सतर भौहैं, महरि! मनहिं बिचारु।
दास तुलसी रहति क्यों रिस निरखि नंदकुमार॥

अब तो श्रीकृष्णचन्द्रके भयविजड़ित नेत्र यशोदारानीके लिये भी सर्वथा असह्य हो गये और उन्होंने अपने हाथकी स्वर्णछड़ी तो दूर फेंक ही दी। छड़ी फेंककर सोचने लगीं—'कुछ देरके लिये नीलमणिको बाँध दूँ। बन्धनके भयसे आगे यह उत्पात नहीं करेगा। साथ ही थोड़ी देरके लिये मैं भी निश्चिन्त हो जाऊँगी। आज

अब मुझे स्वयं अकेले ही श्रीनारायणसेवाकी सारी व्यवस्था करनी है। रोहिणी बहिनको उपनन्दपत्नी भोजन कराये बिना यहाँ आने देंगी, यह असम्भव है। अत: वे मध्याह्नसे पूर्व आ नहीं सकेंगी। सारा गृहकार्य मुझे ही करना है। नीलमणि मुझपर मन-ही-मन अतिशय कुपित है। इधर मैं गृहकार्यमें लगी और उधर यह रूठकर कहीं जा छिपा तो फिर इसे ढूँढ़ना कठिन हो जायगा। इसलिये सर्वोत्तम उपाय यही है कि इसे बाँध दूँ।' इस प्रकार सोचकर यशोदारानीने मन-ही-मन श्रीकृष्णचन्द्रको बाँधनेका निश्चय कर लिया। मैया नहीं जानती कि वे वास्तवमें किन्हें बन्धनमें लानेका विचार कर रही हैं। वे श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त, असमोर्द्ध ऐश्वर्यसे परिचित नहीं हैं। उनके लिये तो श्रीकृष्णचन्द्र उनके गर्भ-प्रसूत शिशु हैं। जननीके लिये पुत्रका अनुशासन कर्तव्य है। वे तो अपना कर्तव्य ही पूरा करने जा रही हैं। पुत्र छड़ी देखकर अधिक भयभीत हो गया था, इसलिये छड़ी तो फेंक दी; पर शासन आवश्यक है इसलिये बाँधनेका विचार कर रही हैं—

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १२)

श्रीकृष्णचन्द्रने आज अपने घर उत्पात किया है, व्रजेश्वरीका कमोरा फोड़ दिया है, व्रजरानी अतिशय कुपित हो रही हैं—यह समाचार सुनकर दल-की-दल आभीरसुन्दरियाँ नन्दप्राङ्गणमें एकत्र हो रही हैं। पर जो आती है, वही श्रीकृष्णचन्द्रको रोते देखकर उन्हींका पक्ष लेती है और यशोदारानीको उनके कोटिप्राणप्रियतम नीलमणिकी दशा दिखाकर रिस छोड़ देनेके लिये समझाती है—

जसुदा! देखि सुत की ओर।
बाल बैस रसाल पर रिस इती कहा, कठोर॥
बार-बार निहारि तुव तन, नमित मुख दधि-चोर।
तरनि-किरनहिं परसि मानो कुमुद सकुचत भोर॥
त्रास तैं अति चपल गोलक, सजल सोभित छोर।
मीन मानौ बेधि बंसी, करत जल झकझोर॥
देत छबि अति गिरत उर पर अंबु-कन के जोर।
ललित हिय जनु मुक्त-माला गिरति टूटें डोर॥
नंद-नंदन जगत-बंदन करत आँसू कोर।
दास सूरज मोहि सुख हित निरखि नंदकिसोर॥

श्रीकृष्णकी ऊखल-बन्धन-लीला

आभीर-सुन्दरियोंने श्रीकृष्णचन्द्रको जननीके अनुशासनसे मुक्त करनेका कम प्रयास नहीं किया, किंतु सब व्यर्थ। यशोदारानीने सबकी अनसुनी कर दीं। उन्हें तो प्रतीत हो रहा है कि सभी दृष्टियोंसे नीलमणिको घड़ी-आध-घड़ीके लिये बाँधे रखना आवश्यक है, श्रेयस्कर है। अत: सबकी अवहेलना कर वे श्रीकृष्णचन्द्रको बाँधने चलती हैं। किन श्रीकृष्णचन्द्रको?

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १३-१४)

'जिन श्रीकृष्णचन्द्रमें न बाहर है न भीतर है, सर्वत्र व्याप्त रहनेके कारण जिनमें देशगत परिच्छिन्नता नहीं है; जिनका न तो आदि है न अन्त, त्रिकालसत्य तत्त्व होनेके कारण जिनमें कालकृत परिच्छिन्नता भी नहीं है; जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके सृजनसे पूर्व भी विराजित थे, अनन्त ब्रह्माण्डोंका विलय हो जानेके पश्चात् भी विराजित रहेंगे; जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके अन्तरालमें अवस्थित हैं, साथ ही उनके बाहर भी विराजित हैं; जो स्वयं ही प्राकृत-अप्राकृत समस्त विश्वब्रह्माण्ड बने हुए हैं—उन अचिन्त्यस्वरूप, अधोक्षज (इन्द्रियागोचर) नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रको अपना उदरजात पुत्र मानकर—जैसे कोई काष्ठ-पुत्तलिकाको बाँधने चले, इस प्रकार—व्रजमहिषी ऊखलसे बाँधने जा रही हैं!'

बन्धनका अर्थ क्या है? किसी सीमित—ओर-छोरवाली वस्तुको उसकी अपेक्षा एक अधिक विस्तारवाली वस्तुसे वेष्टित कर देना, लपेट देना। पर जननी श्रीकृष्णचन्द्रकी सीमा, उनका ओर-छोर कहाँ पायेंगी? उनको लपेटनेके योग्य उनसे बड़ी वस्तु उन्हें कहाँ मिलेगी? श्रीकृष्णचन्द्रको वे कैसे बाँध सकेंगी? किंतु यह तत्त्वज्ञान वात्सल्यरस-घनमूर्ति यशोदारानीके हृदयको स्पर्श ही नहीं करता। वे तो प्रत्यक्ष प्रतिदिन उन असीमको अपनी भुजाओंमें बाँध लेती हैं, इस समय भी उनका एक हाथ उनकी एक मुट्ठीमें बँधा है। फिर भला, उनको उदरबन्धनके योग्य वस्तु क्यों नहीं मिलेगी? वे तो आज श्रीकृष्णचन्द्रको अवश्य बाँधेंगी। इसीलिये अब अधिक विलम्ब न करके, अपने सिरकी स्खलित वेणीसे वेणीबन्धनकी सुकोमल पट्टडोरी (रेशमी डोरी) निकाल लेती हैं तथा उसे श्रीकृष्णचन्द्रके कटिदेशमें लपेटना आरम्भ करती हैं।

अब तो श्रीकृष्णचन्द्र उच्च स्वरसे क्रन्दन करते हुए बार-बार पुकारने लगते हैं—'अरी रोहिणी मैया! दौड़, देख—मैया मुझे बाँध रही है; तू मुझे छुड़ा ले।' किंतु आज रोहिणी मैया भी यहाँ नहीं, जो आकर उन्हें छुड़ा सकें। वे तो उपनन्दके घर गयी हुई हैं। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रका बन्धनसे छूटनेके लिये यह उपाय भी असफल हो जाता है। जिनके नामको केवल एक बार ग्रहण कर लेनेमात्रसे—छींकने, गिरने, फिसलनेके समय, विवश होकर एक नाम एक बार उच्चारण कर लेनेमात्रसे मनुष्यका अनादि कर्मबन्धन उसी क्षण छिन्न-भिन्न हो जाता है—ऐसा कर्मबन्धन जिसे मुमुक्षु पुरुष योगसाधन आदि बड़े-बड़े उपायोंके द्वारा बड़ी कठिनाईसे काट पाते हैं, वह तत्क्षण नष्ट हो जाता है; जिनके नामकी इतनी महिमा है—

यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते॥

(श्रीमद्भा० ५। २४। २०)

—वे श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके भावी बन्धनसे

मुक्त होनेके लिये रो-रोकर पुकार रहे हैं, फिर भी उनकी रक्षा नहीं हो पा रही है। बाल्यलीला-विहारी व्रजेन्द्रनन्दन! बलिहारी है तुम्हारी इस विश्वविमोहिनी लीलाकी!

वहाँ उपस्थित गोपसुन्दरियोंको तो अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्रका यह क्रन्दन असह्य हो गया है। वे अत्यन्त रूक्ष होकर व्रजेश्वरीको बार-बार समझाती हैं—

कहा भयौ जौ घर कें लरिका चोरी माखन खायौ।
अहो जसोदा! कत त्रासति हौ, यहै कोखि कौ जायौ॥
बालक अजौं अजान, न जानै केतिक दह्यौ लुटायौ।
तेरौ कहा गयौ? गोरस कौ गोकुल अंत न पायौ॥

—पर नन्दरानी तो मानती नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी बन्धनके भयसे अपने सारे अङ्गोंको हिलाकर जननीकी मुट्ठीसे छूटना चाहते हैं—कभी भूमिपर पसर जाते हैं तो कभी जननीके पृष्ठदेशकी ओर छिपने लगते हैं; किंतु जननी न तो हाथ छोड़ती हैं न बन्धनका आग्रह। एक हाथसे श्रीकृष्णचन्द्रको दबाये रखकर दूसरे हाथसे उस पट्टडोरीको कटिमें लपेटनेकी चेष्टामें लगी हैं, प्रायः लपेट लेती हैं। अब गाँठ देने चलती हैं, पर गाँठ नहीं लगा पातीं; क्योंकि वह पट्टडोरी दो अंगुल छोटी पड़ गयी। क्षणभरके लिये मैया रुकीं। अपराधी पुत्रको बाँधकर शासन तो उन्हें करना ही है! अतः वेणीसे तुरंत उन्होंने दूसरी डोरी निकाल ली और उसे पहलीमें जोड़ दिया—

तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत् तेन संदधेऽन्यच्च गोपिका॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १५)

दूसरी डोरी जोड़कर, उसे श्रीकृष्णचन्द्रके उदरपर यथास्थान स्थापितकर जब मैया गाँठ देने चलीं तो पुनः दो अंगुलका अन्तर पड़ गया। मैयाने सोचा—'चञ्चल नीलमणि भागनेकी चेष्टामें अपने अङ्गोंको अत्यधिक कम्पित कर रहा है, इसीलिये डोरी इधर-उधर उलझकर पुनः दो अंगुल छोटी हो गयी है; इसे किञ्चित् और बड़ी बना लूँ।' यह सोचकर मैयाने अपनी कबरीमें बँधी तीसरी पट्टडोरीको भी निकाल लिया, उसे भी जोड़ लिया तथा यह करके, उसे लपेटती हुई, पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके पृष्ठदेशकी ओर गाँठ देनेके लिये अपना हाथ ले गयीं; किंतु इस बार भी पहलेकी भाँति ही गाँठ लगानेमें कठिनाईका अनुभव हुआ। मैयाने जब उस ओर नेत्र फिराकर देखा तो दीखा—ठीक दो अंगुलका व्यवधान इस बार भी हो रहा है। अब तो मैयाको अत्यधिक आश्चर्य होने लगा; क्योंकि पहली डोरी ही बन्धनके लिये पर्याप्त थी तथा उसमें दूसरी, तीसरी भी संनद्ध कर दी गयी; फिर भी दो अंगुलकी न्यूनता नहीं पूर्ण हुई। जननी यह निर्णय नहीं कर सकीं कि वास्तवमें डोरी कहाँपर, किस कारणसे उलझकर ठीक दो अंगुल इस बार भी छोटी रह गयी! कुछ भी कारण हो, यशोदा मैयाके पास न तो अवकाश है कि वे इसपर विचार कर सकें न उनके लिये यह सम्भव है कि अपने नीलमणिको बाँधनेका आग्रह ही वे छोड़ दें। किंतु कबरीमें अब अन्य पट्टडोरी तो है नहीं! तथा श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर दूसरे स्थानसे सुकोमल डोरी ले आना सम्भव भी नहीं। अब क्या हो? व्रजेश्वरी और कोई उपाय न देखकर समीपमें खड़ी गोपसुन्दरियोंसे ही कहती हैं—'बहिनो! वहाँ देखो, मेरी उस मणिपेटिकामें ऐसी कई पट्टडोरियाँ पड़ी हैं, उन्हें ला तो दो; आज मैं इसे बाँधूँगी ही।'

व्रजरानीका आदेश प्राप्त होनेसे गोप-सुन्दरियोंको अवसर मिल गया। उन सबने एक बार पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके अनिन्द्यसुन्दर रूपकी ओर मैयाका ध्यान आकर्षितकर उनका रोष शान्त कर देनेकी चेष्टा की—

चितै धौं कमल-नैन की ओर।
कोटि चंद वारौं मुख-छबि पर, ए हैं साहु कै चोर॥
उज्ज्वल अरुन असित दीसति हैं दुहु नैननि की कोर।
मानौ सुधा-पान कें कारन बैठे निकट चकोर॥
कतहिं रिसाति जसोदा इन सौं, कौन ग्यान है तोर।
सूर स्याम बालक मनमोहन, नाहिंन तरुन किसोर॥

किंतु व्रजरानी और भी अधिक रोषभरी वाणीमें कह उठती हैं—'देखो! तुम सबकी शिक्षाकी आवश्यकता मुझे नहीं है; मैं चाहती हूँ, पट्टडोरियोंको ला दो; नहीं ला सको तो चुपचाप शान्त बैठी रहो। तुम्हें यह सहन नहीं हो रहा हो तो नेत्र बंद कर लो, यहाँसे दूर चली जाओ; मैं तो इसे बाँधकर रहूँगी।'

आज प्रथम बार व्रजपुर-सुन्दरियोंने व्रजेन्द्रगेहिनीको इतनी उत्तेजित एवं ऐसा कठोर व्यवहार करते हुए पाया। उन्होंने देखा, यशोदारानी अत्यधिक कुपित हैं; यदि हम सब डोरियाँ लाकर उन्हें न देंगी तो पता नहीं रोषके आवेशमें अपने नीलमणिके प्रति वे कैसा व्यवहार कर बैठें। यह सोचकर कुछ गोपियाँ डोरी लानेके लिये दौड़ गयीं। इधर एक गोपीको मैयाकी बातसे अत्यधिक क्रोध आया; पर उसने अपना क्रोध प्रकट होने नहीं दिया। वह चटपट उठी, यशोदारानीका सुचिक्कण मन्थनरज्जु, जिससे वे अपने कोटिप्राणप्रिय नीलमणिके लिये प्रतिदिन दधिमन्थन करती थीं, लाकर मैयाके हाथपर रख दिया और व्यङ्गमें भरकर बोली—'नन्दगेहिनी! यह पर्याप्त लंबी है, उन पट्टडोरियोंमें इसे जोड़ लो।' व्रजरानी उस गोपीके व्यङ्गको जान गयीं, मन-ही-मन हँसी भी कि देखो, यह बावली मेरे कपट-रोषको सत्य मान रही है। पर ऊपरसे संतोष प्रकट करती हुई, 'ठीक है बहिन! तुमने बहुत सुन्दर वस्तु ला दी' यह कहकर उसका अनुमोदन किया। वास्तवमें वह मन्थनरज्जु अत्यन्त सुकोमल—सुचिक्कण था भी; पट्टडोरीकी तुलनामें किञ्चित् स्थूल अवश्य था, पर उससे श्रीकृष्णचन्द्रके अतिशय सुकोमल अङ्गोंमें क्षत लगनेकी सर्वथा सम्भावना नहीं थी। इसीलिये मैयाने भी अविलम्ब उसे पूर्वसंनद्ध पट्टडोरीमें जोड़ लिया। जोड़कर पूरी सावधानीसे श्रीकृष्णचन्द्रका उदर-बन्धन करने लगीं। किंतु आश्चर्य! महान् आश्चर्य!! इतने विस्तृत मन्थनरज्जुके जुड़नेपर भी पूर्ववत् वही दो अंगुलकी न्यूनता रह ही गयी। इस बार मैयाके विस्मयका पार नहीं रहा, पर उपस्थित गोपसुन्दरियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। कुछ नवतरुणियाँ हँसकर बोलीं—

व्रजदेवि! निवेदितमेवास्माभिः। स एष समुन्नतया मोहनतया कफल्लकमपि वेल्लयन् लोप्त्रमात्रसुकलतानन्दी परास्कन्दी संदीप्यत इति। (श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजेश्वरी! हम सबने तो जब हम उलाहना देने आयी थीं—तभी तुमसे कहा था कि यह कोई उत्कृष्ट मोहिनी विद्या जानता है। इसी विद्याके सहारे, जब यह नवनीत आदि अपहरण करने जाता है तब कफल्लक* को भी मात कर देता है; क्योंकि उस विद्याके बलसे इसे न तो कोई पकड़ सकता है, न बाँध सकता है; यह मनमानी करता है। दधि, दुग्ध आदि वस्तुओंका अपहरण करना, उसे स्वयं भोजन करना एवं वानर आदिको यथेच्छ वितरण करना—एकमात्र यही इसका काम है; इसीमें इसने पर्याप्त प्रसिद्धि पायी है, केवल इसीमें इसे सच्चा रस भी मिलता है। यह चौराग्रणी आज यहाँ भी उसी विद्याके प्रभावसे विजयी हो रहा है, तुम्हारे बन्धनमें नहीं आ रहा है।'

इन नवतरुणियोंकी बात सुनकर यशोदारानी यह सोचने लगती हैं कि 'हो-न-हो, इन्हीं सबने किसी स्तम्भन-विद्याका प्रयोग कर मेरे पुत्रके बन्धनमें बाधा डाली है। मेरा नीलमणि इन सबको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, उसका बन्धन ये सहन नहीं कर सकतीं। जब मैंने इनकी बातोंकी उपेक्षा कर दी, तब इन्होंने स्तम्भन-विद्याका आश्रय लिया है और यही कारण है कि मैं नीलमणिको बाँध नहीं पा रही हूँ।' यह विचार आते ही मैया खीझी-सी होकर कहती हैं—'नहीं-नहीं, मुझे बतलानेकी आवश्यकता नहीं; मैं जानती हूँ कि मेरे नीलमणिका बन्धन क्यों नहीं हो पा रहा है। यह उसकी मोहिनी विद्याका परिणाम नहीं, यह तो तुमलोगोंकी किसी निन्दनीय विद्याकी लीला है—

* चौर्यविद्याके आदि आचार्यका नाम कफल्लक है।

किंतु भवतीनामेव कापीयमवद्या विद्या।

(श्रीगोपालचम्पूः)

व्रजेश्वरीका यह सरस आक्षेप सुनकर क्या तरुणी, क्या वयस्का—सभी अट्टहास कर उठती हैं। पर जननी कहीं और कुपित न हो जायँ, इस आशङ्कासे हँसते हुए ही वे कहने लगती हैं—

तत्र भवति! भवच्चरणेभ्यः शपथमाचरामः।
नास्माकं विस्मापिकेयं विद्या विद्यत इति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजरानी! सुनो, हम सच कहती हैं, तुम्हारे चरणोंकी शपथ करके कह रही हैं—आश्चर्यमें भर देनेवाली यह विद्या, जिसके कारण यह घटना घटित हो रही है—हमलोगोंकी नहीं है, हमसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

इतनेमें वे गोपियाँ, जो यशोदारानीकी मणिपेटिकासे पट्टडोरी निकालने गयी थीं, बहुत-सी डोरियाँ लिये आ पहुँचती हैं। डोरी देखते ही मैयाका उत्साह नवीन हो जाता है। अवश्य ही उनका मन तो आश्चर्यसे भरा है। गोपियोंको शपथ करते देखकर वे सोचने लगी हैं कि सम्भवतः गर्गाचार्यके वचनोंके अनुसार कोई भागवती शक्ति मेरे नीलमणिमें समय-समयपर आविष्ट होती है, मेरे नीलमणिको उस सम्बन्धमें कुछ भी अनुभव नहीं होता और शक्ति काम करती रहती है; किंतु कुछ भी हो, नीलमणिको तो उन्हें बाँधना ही है; साथ ही इस आश्चर्यका भी अन्त पाना है। इसीलिये मैया पट्टडोरियोंको क्रमशः उसी पूर्वके रज्जुमें जोड़ती हैं, एकके जुड़ जानेपर पुत्रके उदरमें लपेटकर परीक्षा करती हैं; पर परिणाम एक ही होता है, डोरी दो अंगुल न्यून पड़ जाती है। जिस क्षणसे दो अंगुल अन्तर पड़नेका व्रजेश्वरीको भान हुआ, तबसे उन्होंने जितनी डोरियाँ जोड़ी हैं, वे सब-की-सब ठीक दो अंगुल न्यून पड़ी हैं; मानो प्रत्येक डोरी किसी निश्चित अभिसंधिसे प्रत्येक बार दो अंगुलका व्यवधान रखकर पीछे हट जाती है। श्रीकृष्णचन्द्रके बन्धनसे विरत हो जाती है। नन्दभवनकी समस्त पट्टडोरियोंको एकत्रकर मैया एक-दूसरीसे संनद्ध करती हैं, पर किसीसे उसका उद्देश्य सफल नहीं होता। जननी प्रत्येक बार असफल हो रही हैं। उनकी इस असफलताको देखकर गोप-सुन्दरियाँ तो हँस ही रही थीं; अब मैयाका भी रोष जाता रहता है, वे स्वयं भी असफल प्रयासपर हँसने लगती हैं; किंतु इस आश्चर्यमयी घटनाको देख-देखकर क्षण-क्षणमें उनका विस्मय बढ़ता जा रहा है—

यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि संदधे।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद् यदादत्त बन्धनम्॥
एवं स्वगेहदामानि यशोदा संदधत्यपि।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १६-१७)

विस्मयविस्फारित नेत्रोंसे जननी व्रजपुरन्ध्रियोंकी ओर देखने लगती हैं। अबतक उनकी दृष्टि एकमात्र अपने नीलमणिकी ओर, उनके उदर-बन्धनकी ओर केन्द्रित थी; पर अब वे गोपरामाओंकी ओर देखकर, मानो उनसे इस घटनाके अन्तर्निहित कारणका संकेत पाना चाहती हों, इस प्रकार शान्त खड़ी हो जाती हैं। गोपरामाओंको स्वयं भी अतिशय आश्चर्य हो रहा है। वे कहती हैं—

जगदेकधन्ये! चित्रमिदं यदतिपरिमितपरिमाणेन कनकमेखलासूत्रेण वेष्टितमिदमस्य कटितटं तदधुना गृहस्थितेन यावतैव दाम्ना न परिमीयते। सर्वमेव दामनिकुरम्बं द्व्यङ्गुलन्यूनमेव सम्पद्यते। तदवश्यमेव केनापि रहस्येन भवितव्यम्। तदितः परमेव विरमेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'यशोदारानी! जगत्‌में एकमात्र धन्य तुम्हीं हो, नीलमणिकी जननी जो ठहरी। नीलमणिकी जन्मदात्री होकर अबतक तुमने एक-से-एक बढ़कर न जाने कितनी आश्चर्यमयी लीलाएँ देखी हैं। आज भी देखो। ओह! सचमुच कितने आश्चर्यकी बात है—नीलमणिका कटिदेश अत्यन्त परिमित परिमाण (नाप)-

वाले स्वर्णमेखलासूत्रसे तो आवृत है—जिस छोटे-से सूत्रमें तुमने स्वर्णमेखलाको ग्रथित किया था, वह सूत्र तो कटिको चारों ओरसे घेरे हुए है; किंतु उसी कटिको जब तुम आज पट्टडोरिकासे वेष्टित करने चलती हो, तब उसका परिमाण ही नहीं मिलता; वह कटि कितनी बड़ी है, यह पता ही नहीं चलता। देखो न, तुम्हारे भवनकी समस्त डोरियाँ जोड़ दी गयीं, किंतु कटिका परिमाण नहीं मिला। राशि-राशि डोरी जोड़कर तुमने देख लिया, किंतु सभी डोरियाँ दो अंगुल छोटी ही पड़ती गयीं। अतः निश्चित समझो, किसी रहस्यके कारण ही ऐसा हो रहा है; सम्भव है नीलमणिके भाग्यमें बन्धनयोग ही न हो, इसीलिये ऐसा हो रहा हो। अतः अब तुम नीलमणिके बाँधनेका प्रयत्न तो छोड़ ही दो।'

अब तो श्रीकृष्णजननी और भी आश्चर्य करने लगीं। अभीतक उनका ध्यान इस ओर गया ही न था कि सुबृहत् परिमाणमें योजित पट्टडोरिकाएँ तो लपेटते समय दो अंगुल न्यून पड़ रही हैं, पर ठीक उसी समय कटितट मेखलासे आवृत है। ये दो सर्वथा विरोधी बातें एक ही समयमें एक ही स्थलपर संघटित हो रही हैं। यह बात ध्यानमें आनेपर जननीका चित्त एक बार तो भ्रमित होने लगता है; पर तुरंत ही किसी अज्ञात शक्तिसे अनुप्राणित-सी होकर वे निश्चय कर लेती हैं कि इस अत्यन्त आश्चर्यजनक घटनाकी अवधि कहाँ है, कितनी डोरियाँ इसमें लगती हैं—यह बात तो देखने ही योग्य है, वे अवश्य इसका निर्णय करके ही छोड़ेंगी। इस निश्चयको कार्यान्वित करनेके उद्देश्यसे वे गोपियोंसे बोलीं—

अयि! मद्गृहे नैतादृशान्यपराणि सन्ति दामानि
भवतीनां गृहेषु यानि वा सन्ति तान्यप्यानयतेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'री बहनो! देखो, अब मेरे घर तो ऐसी सुकोमल पट्टडोरिकाएँ हैं नहीं। अब तुम सबके घर ऐसी जितनी पट्टडोरियाँ हों, उनको ला दो।'

इससे पूर्व गोपिकाएँ श्रीकृष्णचन्द्रको छुड़ा लेनेके लिये व्याकुल थीं; क्योंकि वे अत्यन्त भयभीत होकर त्राण पानेके लिये विकल प्रतीत हो रहे थे। किंतु अब वे अपेक्षाकृत शान्त हो गये थे; गोप-सुन्दरियोंको भी निश्चय हो गया था कि मैयाके लिये श्रीकृष्णचन्द्रको बाँध लेना सम्भव नहीं। साथ ही वे भी इस आश्चर्यमय रहस्यका अन्त न पाकर विस्मयके झूलेमें झूल रही थीं; वे भी उत्कण्ठित थीं कि देखें, इस आश्चर्यमयी घटनाका पर्यवसान किसमें कहाँ होता है। अतः मैयाका आदेश पाते ही वे सब दौड़ गयीं; जिसके घरमें जितनी पट्टडोरियाँ थीं, उन सबको उठा लायीं। देखते-ही-देखते उन सबने व्रजरानीके समक्ष डोरियोंका ढेर एकत्र कर दिया। कदाचित् कोई सोचे, श्रीकृष्णचन्द्रने गोपसुन्दरियोंके घर अनेकों उत्पात किये हैं, उनके अगणित मटके फोड़े हैं, इसीलिये उन्हें डराकर अपना रसभरा वैर चुकानेके लिये वे डोरियाँ ले आयी हों, तो यह बात नहीं; इस बार जननीके बन्धन-आग्रहसे क्रुद्ध होकर ले आयी हों, यह भी नहीं; जननीके आदेशका तिरस्कार करनेसे वे कुपित होंगी, इस भयसे उन्होंने डोरियाँ दी हों, सो भी नहीं; वे तो अतिशय आनन्द-कौतूहलसे प्रेरित होकर श्रीकृष्णचन्द्रके इस अलौकिक अद्भुत चरित्रको देखनेकी अभिलाषासे—दो अङ्गुलकी न्यूनता पूरी होती है या नहीं, इसका निर्णय करनेके उद्देश्यसे अपने-अपने घरकी समस्त डोरियाँ बटोर ले आयी हैं—

न क्रोधान्न च वैरतो व्रजपुरेश्वर्या न च त्रासतो
यासां येषु गृहेषु सन्ति परितो यावन्ति दामान्यथ।
तावन्त्येव हि ताभिरत्र परमादानन्दकौतूहला-
ल्लोकातीतचरित्रवीक्षणवशादानिन्यिरे तत्पुरः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, व्रजेश्वरी उनमेंसे कुछको लेकर संग्रथित करती हैं, फिर उस विस्तृत रज्जुको श्रीकृष्णचन्द्रके उदरपर विराजित पट्टडोरीसे जोड़ती हैं; जोड़कर देखती हैं तो वह भी पूर्वकी भाँति दो अंगुल न्यून है। पुनः

कतिपय डोरियाँ उठाती हैं, परस्पर योजितकर उदरकी डोरीसे बाँध देती हैं; पर लपेटनेके समय उसे भी उतना ही न्यून पाती हैं। इस प्रकार पुरसुन्दरियोंके द्वारा लायी हुई डोरियाँ भी समाप्त हो जाती हैं, पर दो अंगुलका अन्तर नहीं मिटता; मानो वह न्यूनता परब्रह्मका स्पर्श पाकर स्वयं परब्रह्म बन गयी है, ब्रह्मके समान ह्रास-वृद्धिसे रहित हो गयी है—न घटती है, न बढ़ती है, निरन्तर एक समान दो अंगुलकी बनी हुई है—

ब्रह्मैवाजनि ह्रासवृद्धिरहिता सा द्व्यङ्गुलन्यूनता।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

ज्यों ही पट्टडोरियोंका वह ढेर समाप्त हुआ, वैसे ही आभीर-सुन्दरियोंके मुखपरसे हास भी अन्तर्हित हो जाता है; हासके स्थानपर भयमिश्रित प्रगाढ़ विस्मयकी लहरें नाचने लगती हैं। व्रजेश्वरीका कौतुककोप (कोपका स्वाँग), उससे अद्भुत नीलमणिके बन्धनका प्रयास उनके लिये विचित्र भीतिमूलक आश्चर्यका विषय बन जाता है। ओह! कनक-मेखला ज्यों-की-त्यों बँधी है; न तो वह टूटी, न उसमें कभी किंचिन्मात्र भी स्पन्दन ही हुआ—होता कैसे, श्रीकृष्णचन्द्रके उदरमें यदि थोड़ी भी वृद्धि हुई होती तब तो मेखला टूटती या कम्पित होती! उदर तो ज्यों-का-त्यों है। किंतु उसी मेखलासे समन्वित उदरके निम्नतलमें, मेखलाकी समानान्तर रेखाके रूपमें लपेटते समय वह सुबृहत् लंबी डोरी दो अंगुल छोटी पड़ जाती है, डोरीके दोनों छोर मिल नहीं पाते; डोरीका वह विस्तार बीचमें न जाने कहाँ विलुप्त हो जाता है। गणना करते समय उस सुचिक्कण डोरीमें लगी अगणित सुन्दर गाँठें भी उदरके अग्रभागकी ओर दीख पड़ती हैं; किंतु जब कभी भी यशोदारानी पृष्ठदेशकी ओर मुख करके गाँठ देनेके लिये दोनों छोरोंको मिलाने चलती हैं, तब वही दो अंगुलका व्यवधान मिलता है। उदरके आगे गाँठोंसे भरा पट्टडोरीस्तूप पड़ा है, पर प्रत्येक बार ही डोरीके दोनों छोर मिलानेमें व्रजेश्वरी सर्वथा असफल हो रही हैं। यह वास्तवमें है कैसी, किसकी लीला! सबने अपने-अपने घरकी समस्त डोरियाँ ला दीं, घरमें एक भी डोरी नहीं बची; फिर भी वह अल्प परिधिका कटिदेश वेष्टित न हो सका—यह अघट-घटन कैसे सम्भव हो रहा है.........! गोप-सुन्दरियोंके नेत्र निष्पन्द हो गये, उन्हें गृह-पुत्र-परिजनकी विस्मृति हो गयी, मन-बुद्धिमें अवशिष्ट अन्य विषयोंके समस्त संस्कार भी विलुप्त हो गये। उनकी विचित्र ही दशा हो गयी।

निष्पन्दानि विलोचनानि विगलच्छ्रद्धानि गेहं प्रति
स्वान्तानि प्रहताः समस्तविषये संस्कारशेषा अपि।
निर्द्दामानि बभूवुरेव भवनान्याभीरवाभभ्रुवां
मात्रा कौतुककुप्तयाद्भुतशिशोर्बन्धानुबन्धे कृते॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पुत्रको बाँधनेके प्रयत्नमें व्रजेश्वरी भी अब सर्वथा श्रान्त हो गयी हैं। समस्त अङ्गोंसे प्रस्वेदकी धारा बह रही है। वेणी तो कभी स्खलित हो चुकी थी, मालतीमालासे मैयाने केशोंको अवरुद्ध कर रखा था; पर अब वह माला भी टूट गयी है, ग्रथित मालतीकुसुम यत्र-तत्र बिखर गये हैं। बस, जननीका यही परिश्रम अपेक्षित था, यह परिश्रम श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें भर गया। भरते ही कृपाशक्ति प्रकट हो गयी तथा श्रान्त, हताश, निराश जननी 'मैं नीलमणिको नहीं बाँध सकूँगी, फिर भी अन्तिम बारके लिये प्रयत्न कर लूँ' यह सोचकर ज्यों ही गाँठ लगाने चलीं कि श्रीकृष्णचन्द्रने बन्धन स्वीकार कर लिया। जननीने बाँधनेके उद्देश्यसे जो पट्टडोरी अपनी कबरीसे सर्वप्रथम निकाली थी, उसीसे श्रीकृष्णचन्द्र बँध गये—

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्त्रस्तकबरस्त्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १८)

व्रजेश्वरीका उद्देश्य पूर्ण हो गया। उनके लिये उनके पुत्रकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने अपने नित्यमुक्त स्वामीको बन्धनमें डाल दिया। साथ ही इस परम

मनोहर लीलाके अन्तरालमें स्वयं श्रीकृष्ण-जननीको ही निमित्त बनाकर प्रपञ्चमें अवस्थित जीवोंके लिये भी वे एक परम गूढ़ रहस्यका दिव्य संकेत छोड़ती गयीं। पट्टडोरीसे व्यक्त होनेवाली दो अंगुलकी न्यूनता एवं न्यूनता-पूर्तिकी ओटसे लीलाशक्ति यह मूक संदेश देती गयीं—जगत्‌के जीवो! सुनो, देखो, यदि तुम परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको बाँधना चाहते हो तो उनके बन्धनका रहस्य जान लो—

भजज्जनपरिश्रमो निजकृपा चेति द्वाभ्यामेवायं बद्धो भवति नान्यथेति। यावत्तद्द्वयानुत्पत्तिरासीत्तावदेव दाम्नां द्व्यङ्गुलन्यूनताऽऽसीत्। सम्प्रत्युभयमेव जातमिति पुनरुद्यममात्रे तया क्रियमाण एव बन्धनमुरीचकार।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

"भक्तका 'भजन-परिश्रम' एवं सर्वेश्वरकी 'स्वनिष्ठ कृपा'—इन दोनोंके व्यक्त होनेपर ही सर्वेश्वर बन्धन स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त उन्हें बाँधनेका अन्य कोई साधन नहीं। जननीके जीवनमें प्रत्यक्ष देख लो, जबतक उपर्युक्त 'भजन-परिश्रम' एवं 'श्रीकृष्ण-कृपा'—ये दोनों अभिव्यक्त नहीं हुए थे, तबतक इन दोनोंकी सूचनाका संकेत बनकर डोरी भी दो अंगुल न्यून हो रही थी। अब देखो, दोनोंका आविर्भाव हुआ कि बस, तुरंत जननीके द्वारा उद्यममात्र होते ही श्रीकृष्णचन्द्रने बन्धन अङ्गीकार कर लिया।'*

श्रीकृष्णचन्द्र स्वेच्छासे ही बन्धनमें आये हैं। जबतक उनकी इच्छा नहीं थी, तबतक जननी उन्हें नहीं बाँध सकीं। जिस समय वे जननीसे हाथ छुड़ाकर भागना चाहते थे, उस समय उनकी ऐश्वर्यशक्तिको यह प्रतीत हुआ—'मेरे स्वामी जननीका बन्धन स्वीकार करना नहीं चाहते।' फिर क्या था, अविलम्ब वे काम करने लग गयीं; तत्क्षण ही श्रीकृष्णचन्द्रके उदरमें विभुताका विकास हो गया। अवश्य ही विभुताको यह भय अवश्य था कि कहीं मेरे दर्शनसे व्रजेश्वरीके वात्सल्यमसृण हृदयमें आघात न लग जाय। इसीलिये जननी एवं अन्य पुरसुन्दरियोंसे अलक्षित रहकर ही वे अपना प्रभाव दिखाने लगीं। बाह्यदृष्टिमें मेखला-परिशोभित उदर ज्यों-का-त्यों बना रहा, उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ; पर उदरकी परिधि अनन्त—अपरिसीम बन गयी। अब विभु उदरको वेष्टित करनेकी सामर्थ्य किसमें है? असंख्य विश्वब्रह्माण्ड भी पङ्क्तिबद्ध होकर उस उदरको नहीं घेर सकते! किंतु जननी जब बन्धन-प्रयाससे श्रान्त हो गयीं, तब कृपाशक्तिका उन्मेष हो गया। कृपाशक्तिके आनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी अन्य समस्त शक्तियाँ या तो छिप जाती हैं, या आवश्यकता होनेपर उन्हींका अनुगमन करने लगती हैं। कृपाने श्रीकृष्णचन्द्रमें बँधनेकी इच्छा जगा दी तथा विभुताको प्रभाव समेट लेनेका संकेत कर दिया। विभुता छिप गयी एवं श्रीकृष्णचन्द्र बन्धनमें आ गये। श्रीकृष्णचन्द्रके

* सर्वेश्वर भगवान्‌के भजनमें भक्त जब कायमनोवाक्यसे संलग्न होता है, निरन्तर साधना चलती है, तब साधनका अहंकार भी विगलित होकर साधनजनित ही एक अनिर्वचनीय श्रान्ति—भगवत्-साक्षात्कारके लिये चरम सीमाकी गम्भीर व्याकुलता उत्पन्न होती है; व्याकुलता उत्पन्न हुई कि भगवान्‌में कृपाका आविर्भाव हो जाता है। फिर साक्षात्कार तो हो ही जाता है, भगवान् भक्तका बन्धन भी स्वीकार कर लेते हैं—भक्तके वशीभूत हो जाते हैं। अवश्य ही भगवान्‌के नित्यपरिकरोंका भजन, भजन-परिश्रम एवं उससे प्रकट होनेवाली भगवत्कृपा तथा साधक भक्तोंका भजन, भजन-परिश्रम एवं तज्जन्य भगवत्कृपा—इन दोनोंकी जाति, रूप एवं प्रकारमें महान् अन्तर होता है। इस लीलामें व्रजेश्वरीके भजनका रूप है—वात्सल्यरसलिप्सु श्रीकृष्णचन्द्रको बन्धनमें डालनेका प्रयास, यह सफल न होनेपर उनकी निराशामयी व्याकुलता ही उनका भजन परिश्रम है तथा फिर श्रीकृष्णका बन्धन-स्वीकारके लिये बाध्य हो जाना ही उनकी कृपाका प्रकाश है। किंतु ऐसे भजनकी कल्पना साधक भक्तोंमें होनी असम्भव-सी है, उनके लिये तो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक श्रवण-कीर्तनादिरूप भजन ही सम्भव है।

अनन्त ऐश्वर्य एवं कृपाके इस चमत्कारको न तो व्रजरानीने जाना, न गोप-सुन्दरियोंने। व्रजेश्वरीने तो यही समझा—'मुझे चित्तभ्रम हो गया था, व्यर्थमें ही मैंने इतनी डोरियाँ एकत्र कीं; भला, नीलमणिको बाँधनेके लिये इतनी डोरियोंकी क्या आवश्यकता थी। वह अपने अङ्गोंको हिला रहा था, इसीलिये मैं डोरीके छोरोंको मिलाकर गाँठ नहीं दे पाती थी; अन्तमें वह शान्त हो गया कि मैंने गाँठ लगा दी।'

अस्तु, उदर-बन्धन तो हो ही चुका था। जननीने उसमें दो-तीन पट्टडोरियाँ और जोड़ दीं; जोड़कर डोरीके दूसरे छोरको पास पड़े हुए एक ऊखलसे बाँध दिया तथा ऐसी गाँठें लगा दीं कि श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें कदापि खोल न सकें। इतना करके तब कहीं जननीने संतोषका श्वास लिया।

अबतक श्रीकृष्णचन्द्रके बहुत-से शिशुसखा वहाँ आ पहुँचे थे। अपने सखाकी यह दशा देखकर उन सबका मुख म्लान हो रहा था। जननीने उनकी ओर देखा एवं उन्हें पुचकारकर बोलीं—

भो भो भवद्भिरवलोकनीयोऽयं स्वयमात्मानं मोचयित्वा यदि पलायते तदाहमाकारणीयेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पुत्रो! इसे तुम सब देखते रहना, भला! और देखो, यदि यह बन्धन खोलकर भागने लगे तो मुझे पुकार लेना।'

बालकोंको उपर्युक्त आदेश देकर जननी श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखने लगती हैं। अन्य गोप-सुन्दरियाँ प्रस्तर-प्रतिमाकी भाँति खड़ी हैं। उन्हें इतना तो भान है कि मैयाने अन्तमें श्रीकृष्णचन्द्रको बाँध ही लिया; पर इससे पूर्व जो उन्होंने आश्चर्य देखा है, उसका प्रभाव अभीतक उनपर है; वे प्रकृतिस्थ नहीं हो पायी हैं। केवल एक गोपीमें, मानो किसी अज्ञात-शक्तिने, उसमें चेतना भर दी हो, इस प्रकार जननीकी सारी चेष्टाओंको देखनेकी क्षमता आ पायी है। उसने श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखा। बन्धनसे पूर्व तो वे प्रायः शान्त-से हो गये थे; पर ज्यों ही मैयाने ऊखलमें गाँठ लगायी कि उनके नेत्रोंसे पुनः झर-झर करता हुआ अश्रुप्रवाह बह चलता है। यह देखते ही गोपी तो व्याकुल हो गयी। इतनेमें मैया आँगनकी ओर मुड़ जाती हैं। अब गोपीसे रहा नहीं गया। आगे बढ़कर वह व्रजेश्वरीका हाथ पकड़ लेती है तथा नन्दनन्दनको शीघ्र-से-शीघ्र छुड़ा लेनेके उद्देश्यसे उनके मुखचन्द्रकी ओर देखनेके लिये उनसे प्रार्थना करती है—

मुख-छबि देखि हो, नँद-घरनि!
सरद-निसि कौ अंसु अगनित इंदु आभा हरनि॥
ललित श्री गोपाल-लोचन-लोल-आँसू-ढरनि।
मनहुँ बारिज बिथकि बिभ्रम परे पर-बस परनि॥
कनक-मनिमय-जटित-कुंडल-जोति जगमग करनि।
मित्र मोचन मनहुँ आए तरल गति द्वै तरनि॥
कुटिल कुंतल, मधुप मिलि मनु, कियौ चाहत लरनि।
बदन-कांति बिलोकि, सोभा सकै सूर न बरनि॥

ऊखलसे बँधे हुए दामोदरका यमलार्जुन बने हुए कुबेर-पुत्रोंपर कृपापूर्ण दृष्टिपात

कज्जलमिश्रित अश्रुप्रवाह उनके कपोलोंको सिक्त कर रहा है; आकुल नेत्र बारम्बार आभीरसुन्दरियोंसे कुछ मूक विनय, दया-याचना-सी कर रहे हैं; कुन्तलराशि मुखचन्द्रपर बिखर गयी है—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय करुण-अवस्थामें ऊखलसे बँधे खड़े हैं। गोपसुन्दरियाँ उन्हें घेरे खड़ी हैं। सभी चाहती हैं—व्रजेश्वरी अब द्रवित हो जायँ, स्वल्प अपराधके लिये पर्याप्त दण्ड वे अपने नीलमणिको दे चुकीं। एकने यशोदारानीसे बन्धन खोल देनेकी प्रार्थना की—

जसुदा! तेरौ मुख हरि जोवै।
कमलनैन हरि हिचिकिनि रोवै, बंधन छोरि जसोवै॥

दूसरी समझाने लगी—

जो तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखि कौ जायौ।
कहा भयौ जो घर कें ढोटा चोरी माखन खायौ॥

तीसरीने भी समझाया—

जसुदा! यह न बूझि कौ काम।
कमलनैन की भुजा देखि धौं, तैं बाँधे हैं दाम॥
पुत्रहु ते प्यारौ कोउ है री, कुल-दीपक मनि-धाम।
हरि पर वारि डारि सब तन-मन-धन, गोरस अरु ग्राम॥

एक वृद्धा गोपीमें तो कुछ दैवी आवेश हो गया, उसके नेत्रोंमें रोष भर आया, सारे अङ्ग किसी विचित्र तेज:पुञ्जसे व्याप्त हो गये। वह यशोदारानीकी भर्त्सना करती हुई भगवत्तत्त्वकी बातें बताने लगी और श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़ देनेके लिये व्रजेश्वरीको शपथ देने लगी—

(जसोदा!) तेरौ भलौ हियौ है, माई!
कमल-नैन माखन कें कारन बाँधे ऊखल ल्याई॥
जो संपदा देव-मुनि दुर्लभ, सपनेहुँ देइ न दिखाई।
याही तैं तू गर्ब भुलानी, घर बैठें निधि पाई॥
जो मूरति जल-थल में ब्यापक, निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तैं अपनें आँगन, चुटकी दै जु नचाई॥
तब काहू सुत रोवत देखति, दौरि लेति हिय लाई।
अब अपने घर के लरिका सौं इती करति निठुराई॥
बारंबार सजल लोचन करि, चितवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं, बलि जाउँ, छोरि तू, तेरी सौहँ दिवाई॥
सुर पालक, असुरनि उर सालक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास प्रभु की यह लीला, निगम नेति नित गाई॥

किंतु व्रजेश्वरीका हृदय तो आज मानो पाषाण बन गया है। वे किसीकी बातसे तनिक भी द्रवित नहीं होतीं। अपि तु सबका इतना आग्रह देखकर उलटे खीझ जाती हैं और कहने लगती हैं—

जाहु चली अपनें-अपनें घर।
तुमहिं सबनि मिलि ढीठ करायौ, अब आईं छोरन बर॥
मोहि अपने बाबा की सौहैं, कान्हहि अब न पत्याउँ।
भवन जाहु अपनें-अपनें सब, लागति हौं मैं पाउँ॥
मोकौ जनि बरजौ जुबती कोउ, देखौ हरि के ख्याल।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, बड़े नंद के लाल॥

व्रजरानी इतनी कठोर तो कभी नहीं थीं! उन्होंने इतना रूक्ष व्यवहार तो हम सबसे आजतक कभी नहीं किया! गोपरामाओंके हृदयमें ठेस-सी लगती है। उन सबमें रोषका संचार हो जाता है। वे बोलीं—

ऐसी रिस तोकौं, नँदरानी!
भली बुद्धि तेरें जिय उपजी, बड़ी बैस अब भई सयानी॥
ढोटा एक भयौ कैसेंहु करि, कौन-कौन करबर बिधि भानी।
क्रम-क्रम करि अब लौं उबरयौ है, ताकौं मारि पितर दै पानी॥
को निरदई रहै तेरें घर, को तेरें सँग बैठे आनी।

तथा हृदयमें दु:खका भार लिये, अत्यन्त उदास, अतिशय खिन्न वे अपने घरकी ओर चल पड़ीं—

सुनहु सूर कहि-कहि पचि हारीं, जुवतीं चलीं, घरनि बिरुझानी॥

पुरसुन्दरियाँ मुझे जननीके अनुशासनसे, जननीप्रदत्त बन्धनसे मुक्त कर देंगी—श्रीकृष्णचन्द्रकी यह आशा टूट गयी। अब वे अश्रुपूरित कण्ठसे अग्रज बलरामका नाम ले-लेकर पुकारने लगते हैं; किंतु अग्रज यहाँ कहाँ; वे तो जननीके साथ उपनन्द-गृहमें हैं। फिर भी अनुजका आह्वान व्यर्थ नहीं होता। रोहिणी मैया कुछ भी न जान सकीं, पर रोहिणीनन्दन बलरामके हृत्तन्तुओंपर श्रीकृष्णचन्द्रका करुण क्रन्दन झंकृत हो उठा। वे व्याकुल हो उठे। माताके लौटनेमें तो अभी पहरभरका विलम्ब है। इतना धैर्य राममें कहाँ? वे भाग चले, क्षणोंमें ही निर्विघ्न नन्दभवनके समीप जा पहुँचे। मार्गमें कोई बाधा नहीं आयी; क्योंकि योगमायाने उपनन्दपत्नी एवं श्रीरोहिणीके स्मृति-पथमें, 'राम यहीं

खेल रहा है या कहीं चला गया?' इस प्रश्नके सामने एक झीनी चादर डाल दी थी। अस्तु—

नन्दप्राङ्गणसे लौटती हुई कुछ व्रजपुरन्ध्रियोंने बलरामकी ओर देखा एवं बलरामने उनकी ओर। एक अतिशय व्यथित गोपी चटपट श्रीकृष्णचन्द्रके ऊखल-बन्धनकी सारी बात रामको सुनाने लगी—

हलधर सौं कहि ग्वालि सुनायौ।
प्रातहिं तैं तुम्हरौ लघु भैया जसुमति ऊखल बाँधि लगायौ॥

फिर तो रोहिणीनन्दन दौड़ पड़े, श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चले आये। पर आह! अनुजकी दशा देखकर रोहिणीनन्दनके नेत्र तो छल-छल करने लगे—

यह सुनि कै हलधर तहँ धाए।
देखि स्याम ऊखल सौं बाँधे, तबहीं दोउ लोचन भरि आए॥

बलराम अपने हाथसे यशोदारानीका अञ्चल धारणकर गद्गद कण्ठसे बोले—

स्यामहि छोरि मोहि बाँधै बरु, निकसत सगुन भले नहिं पाए।
मेरे प्रान-जिवन धन कान्हा, तिन के भुज मोहिं बँधे दिखाए॥

ओह! अग्रजकी बात सुनते ही यशोदारानीके प्राणोंमें टीस-सी चलने लगी। उन्हें भान हुआ कि अब कठोरताके इस झूठे स्वाँगका निर्वाह करना उनके लिये तो असम्भव है; किंतु नहीं, उसी क्षण अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके मनको अपने हाथोंमें ले लिया। व्रजेश्वरी तो उमड़ते हुए वात्सल्य-सिन्धुमें बहने जा रही थीं, पर लीलाशक्ति उन्हें बाहर निकाल ले आयीं तथा उनपर अपना हाथ फेरकर कुछ समयके लिये धैर्य धारण करने योग्य बना डाला। अवश्य ही मैया अग्रजको बोलकर उत्तर न दे सकीं। केवल उनकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए अपना सिर किंचिन्मात्र हिला पायीं।

अब तो रोहिणीनन्दनको क्रोध हो आया। नेत्र और भी अरुण हो उठे। कुछ क्षण तिरछी चितवनसे जननीकी ओर देखकर वे बोले—

काहे कौं कलह नाध्यौ, दारुन दाँवरि बाँध्यौ,
कठिन लकुट लै तैं त्रास्यौ मेरे भैया।
नाहीं कसकत मन, निरखि कोमल तन,
तनिक-से दधि काज, भली री तू मैया॥
हौं तौ न भयौ री घर, देखत्यौ तेरी यौं अर,
फोरतौ बासन सब जानति बलैया।
सूरदास हित हरि लोचन आए हैं भरि,
बलहू कौं बल जाकौं, सोई री कन्हैया॥

इस बार जननी मन-ही-मन हँस पड़ती हैं। साथ ही यह अनुभव करती हैं कि अब यहाँ और रुकना उचित नहीं; अन्यथा वे अपना धैर्य खो बैठेंगी, तथा इस प्रकार अबतकका सारा प्रयास निष्फल हो जायगा। इस विचारसे व्रजेश्वरी पार्श्ववर्ती प्राङ्गणमें चली जाती हैं। यहाँ रह जाते हैं—गोपशिशुओंसे आवृत, ऊखलमें निबद्ध श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी ओर सकरुण दृष्टिसे देखते हुए रोहिणीनन्दन बलराम। इनके अतिरिक्त अन्तरिक्षमें अवस्थित हैं अमरवृन्द, जो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस भक्तवत्सलताको निहार-निहारकर आनन्दसिन्धुमें डूब-उतरा रहे हैं। क्यों न हों? सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका जननीके प्रति यह आत्मसमर्पण इस योग्य ही है। समस्त लोकपालोंके सहित यह परिदृश्यमान जगत् जिनके वशमें है, जिनपर किसीका बन्धन—शासन नहीं है, जो नित्य परम स्वतन्त्र हैं, उन अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन, यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने जननीके द्वारा दिये हुए बन्धनको स्वीकार कर आज वास्तवमें अपनी भक्ताधीनताको प्रत्यक्ष प्रकट जो कर दिया है—

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। १९)

जिस कृपा-वैभवका आस्वाद व्रजेश्वरीने पाया, उसे आजतक नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न, प्रापञ्चिक भक्तोंके आदिगुरु जगत्-विधाता ब्रह्माने भी न पाया, आत्मस्वरूप शंकरने भी कभी उसे अनुभव न किया, वक्ष:स्थलविलासिनी लक्ष्मीको भी वह न मिला। मुक्तिपर्यन्त पुरुषार्थदाता श्रीकृष्णचन्द्रसे जो प्रसाद गोपमहिषीने पाया वह किसीने नहीं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २०)

आज यह भी प्रत्यक्ष हो गया—यशोदानन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको अनायास सुखपूर्वक पा लेनेका मार्ग कौन-सा है। व्रजवासियोंके समान केवल प्रेमके लिये ही प्रेम करनेवाले भक्तोंको वे जितने सुलभ

हैं, उतने सुलभ किसी भी प्राणीके लिये नहीं—और तो क्या अपने आत्मभूत तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी नहीं—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २१)

यह सब प्रत्यक्ष देखकर, अनुभव कर देववृन्द तो आनन्दमत्त हो गये हैं; किंतु यशोदारानीके ध्यानमें, बस, इतनी-सी बात है कि अपने चञ्चल नीलमणिको उन्होंने कुछ क्षणोंके लिये ऊखलसे बाँध दिया है। 'भर्त्सनासे अपनेको अपमानित मानकर, रूठकर कहीं वह वनकी ओर एकाकी भाग न जाय—इसकी उचित व्यवस्थामात्र मैंने की है।' वे तो इतना ही जानती हैं। इसीलिये दूसरे कक्षमें जाकर निश्चिन्त मनसे गृहकार्यमें संलग्न हो गयी हैं।

इधर अनुजके प्रति इतनी कठोरता एवं अपनी प्रार्थनाकी जननीकृत उपेक्षा—दोनों ही रोहिणीनन्दनके लिये असह्य हो जाती हैं। वे क्रोधसे दाँत पीसने लगते हैं, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका क्रन्दन क्रमशः शान्त होने लगता है। जबतक गोपसुन्दरियाँ थीं, जननी उपस्थित थीं, तबतक तो वे अत्यन्त व्याकुल थे। पर उनके जानेके कुछ क्षणोंके पश्चात् ही वे शान्त होने लगे। धीरे-धीरे क्रन्दन समाप्त हो जाता है और अब तो उसके बदले उनके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है। अवश्य ही अभी यह मुसकान व्रजरानीके वात्सल्यरसपानसे मत्त हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको विस्मृत हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी नहीं है; यह मुसकान है उनके अधरोंकी ओटमें उनके लीलामञ्चकी अधिष्ठात्री योगमायाकी! वह व्यक्त हुई है अतिशय व्याकुल बलरामको आश्वासन देनेके लिये, क्षणभरके लिये बलराममें उनके अनुजके अनन्त असमोर्ध्व ऐश्वर्यका उन्मेष कर उनकी चिन्ता हर लेनेके लिये, साथ ही रसपानप्रमत्त श्रीकृष्णचन्द्रमें एक सुदूर अतीतकी—अपने परम भक्त नारदके द्वारा दी हुई प्रतिश्रुतिकी स्मृति जगानेके लिये। उस मुसकानने रोहिणीनन्दनकी चिन्ता हर ली। ठीक वैसी ही एक किरण उनके अधरोंपर भी व्यक्त हो जाती है तथा नेत्रोंमें ऐश्वर्यका चित्रपट भर जाता है—

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने।
को बाँधै, कौ छोरै इन कौं, यह महिमा येई पै जाने॥
उतपति-प्रलय करत हैं येई, सेष सहस-मुख सुजस बखाने।
जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन माने॥
असुर-सँहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने।
सूरदास प्रभु भाव-भक्ति के, अति हित जसुमति हाथ बिकाने॥

श्रीकृष्णचन्द्र भी मानो जाग-से उठते हैं। नन्दसदनके समीप खड़े गगनचुम्बी यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर उनकी दृष्टि चली जाती है। उसी क्षण बाल्यावेशके अन्तरालसे उनकी सर्वज्ञता-शक्ति संकेत करने लगती है—'लीलाविहारिन्! दामोदर! देखो नाथ! देवपरिमाणसे शतवर्ष पूर्वसे ये युग्म अर्जुन-वृक्ष यहाँ आकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कुबेरपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव ही वृक्ष बनकर तुम्हारी कृपाकी बाट देख रहे हैं! धनमदने इन्हें अंधा कर दिया था, किंतु तुम्हारे परम भक्त देवर्षि नारदकी इनपर कृपा हुई। देवर्षिने शाप देकर इन्हें वृक्षयोनि दे दी, अनुग्रह करके तुम्हारे क्रीड़ा-प्राङ्गणके किनारे निवास दे दिया। तबसे बारंबार ग्रीष्मके आतपका, पावसकी झड़ीका, शिशिरके हिमका और पवनके प्रचण्ड झंझावातका उपभोग करते हुए ये अपनी सारी मलिनता धो चुके हैं। अब समय पूर्ण हो चुका है, नाथ! अपना पावन स्पर्श दानकर इन्हें कृतार्थ करो, प्रभो! अवसर भी सुन्दर है, जननी गृहकार्यमें व्यस्त हैं।'—

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २२-२३)

सर्वज्ञताशक्तिके उपर्युक्त संकेतपर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी स्वीकृति दे देते हैं—

हरि चितए जमलार्जुन के तन।
अबहीं आजु इन्हैं उद्धारौं, ये हैं मेरे निज जन॥

× × ×

ये सुकुमार, बहुत दुख पायौ, सुत कुबेर के तारौं।
सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन, यह बंधन निरवारौं॥

यमलार्जुनके अतीत जन्मकी कथा; यमलार्जुन-उद्धार

मन्दाकिनीका कल-कल नाद कैलासके उस सुरम्य उपवनको मुखरित कर रहा था। पुष्पित तरुश्रेणी, लतिकाएँ मन्द समीरका स्पर्श पाकर झूम रही थीं। राशि-राशि विकसित पद्मोंके सौरभसे समस्त वनस्थली सुरभित हो रही थी। शिखरका यह मनोरम दृश्य देवर्षिके भक्तिरसभावित चित्तमें नवरसका संचार कर रहा था, उनकी स्वरब्रह्मविभूषित देवदत्त-वीणासे झरती हुई रागलहरीमें, श्रीमुखसे निस्सृत हरिगुणगानमें प्रतिक्षण नव उल्लासका हेतु बन रहा था। पर वही शोभा कुबेरतनय नलकूबर एवं मणिग्रीवके विषयविदूषित मनमें नव-नव भोगवासना उद्दीप्त कर रही थी, उनकी उद्दाम भोगप्रवृत्तिमें और भी आसुरभाव भरनेमें कारण बन रही थी। एक ही वस्तु पात्रभेदसे एक ही समय अमृत एवं विषके रूपमें परिणत हो रही थी। देवर्षि हरियशसुधाका पान करते हुए, सुधारससे उपवनको प्लावित करते हुए नर-नारायण-आश्रमकी ओर अग्रसर हो रहे थे तथा ये दोनों यक्षबन्धु अमर वारविलासिनियों (अप्सराओं)-का दल एकत्र कर, वारुणी मदिराका पान कर, भगवान् शंकरके इस परम पावन तपोवनको भ्रष्ट करते हुए निरङ्कुश विहार कर रहे थे। अप्सराएँ विवस्त्रा थीं, ये दोनों भी दिगम्बर थे, मन्दाकिनीकी पुनीत धारामें प्रवेश कर उन्मत्त जलक्रीड़ामें संलग्न थे, अपने-आपको भूल-से गये थे। दैवयोगवश देवर्षि ठीक उसी स्थानसे होकर निकले। अप्सराओंकी दृष्टि उनपर पड़ी; सब-की-सब सकपका गयीं और लज्जित तथा शापशङ्कित होकर बाहर निकल आयीं, तटपर आकर शीघ्र-से-शीघ्र सबने वस्त्र धारण कर लिये—

रजत गिरि चढ़त जहँ बीचि सुरसरि बहति।
निकट तट बिटप तहँ बेलि सुमननि लहति॥
अमल जल कमल मकरंद झुकि-झुकि झरत।
पियत मधु मधुप, कलहंस कलरव करत॥
धनद-सुत करत तहँ केलि तरुनिनि सहित।
मदन-मद छकित, मदमत्त, बसननि रहित॥
मुनिहि लखि निलज जुग भ्रात बिलसत ब्यसन।
सकल तिय सकुचि, डर मानि धर तन बसन॥

पर ये दोनों कुबेरपुत्र? आह! इन्हें तो देवर्षिके आगमनका भान होकर भी भान नहीं। वैसे ही नग्न, उन्मत्त रहकर दोनों भुजा उठाये अप्सराओंको पुनः जलमें ही अत्यन्त शीघ्र उतर आनेके लिये चीत्कार कर रहे थे!

एक अचिन्त्य शक्तिने देवर्षिकी दृष्टि उनकी ओर फेर दी। उन्होंने देखा, देखते ही अन्तःकरण करुणासे आर्द्र हो उठा—'ओह! कहाँ तो ये कुबेरपुत्र और कहाँ इनकी यह दशा! इतना अधःपात!' तत्क्षण देवर्षिने उन्हें परिशुद्ध कर देनेकी, साथ ही उनके अनादि भवप्रवाहका भी अन्त कर देनेकी व्यवस्था कर दी। अपने परम अनुग्रहको क्रोधके आवरणमें छिपाकर, उसे शापका रूप देकर वे पुकार उठे—'जाओ, कुबेरतनय! तुम दोनों अपनी इस जडताके अनुरूप ही योनि ग्रहण करो—वृक्ष बनकर जन्म धारण करो; किंतु वृक्ष बनकर भी तुम्हारी स्मृति नष्ट नहीं होगी, मेरे अनुग्रहसे तुम्हें इस अतीत जीवनका सतत स्मरण रहेगा। सदा पश्चात्तापकी अग्निमें जलते रहोगे और फिर सौ देववर्षोंके अनन्तर श्रीकृष्णचरणारविन्दके स्पर्शका परम सौभाग्य तुम्हें प्राप्त होगा। उस पुनीत स्पर्शसे तुम्हें पुनः देवत्व प्राप्त होगा, पुनः देवशरीरमें तुम लौटोगे। साथ ही परम दुर्लभ हरिभक्ति भी तुम्हें मिल जायगी। सदाके लिये परम कृतार्थ होकर ही तुम लौटोगे—

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्॥
वासुदेवस्य सांनिध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २१-२२)

सुत राजराज! नहिं कीन्ह लाज।
ब्रजभूमि सोइ द्रुम होहु दोइ॥
करुना-सुऐन, सुख-संत दैन।
करिहै जु घात, तब होहु पात॥
प्रभु कौं निहारि, उर भक्ति धारि।
फिरि जाहु गेह, धरि दिब्य देह॥

यह कहकर देवर्षि चले गये तथा नलकूबर एवं मणिग्रीव यमलार्जुनवृक्ष बनकर उत्पन्न हुए वहाँ, जहाँ वर्षोंकी प्रतीक्षा पूर्ण होनेपर गोलोकविहारी स्वयंभगवान् पुरुषोत्तम गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्रके परमधामका अवतरण हुआ—जहाँ, जिस अरण्यप्रदेशमें नन्दप्राङ्गणका आविर्भाव हुआ। उसी प्राङ्गणके एक पार्श्वमें खड़े अपने शाखापत्रोंको प्रकम्पित कर बारंबार श्रीकृष्णचन्द्रका वे आतुरतापूर्वक आह्वान कर रहे थे।

अतीतकी ये सारी घटनाएँ ऊखलमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रके समक्ष वर्तमान बनकर आ जाती हैं। बनकर आयीं, यह भी कथनमात्र ही है। वास्तवमें तो ये उनके लिये नित्य वर्तमान ही हैं। केवल लीलाशक्ति उन बाल्यलीलाविहारीकी रुचिका अनुसरण करते हुए, उन्हें व्यवधानशून्य रसपान करानेके लिये उनकी ही आज्ञासे, उन घटनाओंपर यथायोग्य अतीत-अनागतकी यवनिका डाले रहती हैं। उपयुक्त अवसर आते ही उसे हटा देती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंको छूकर उन्हें जगा देती हैं, फिर श्रीकृष्णचन्द्र सब कुछ देखने लगते हैं। अस्तु, आज भी वे इसी प्रकार सब देख रहे हैं और सोच रहे हैं—

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २५)

'देवर्षि नारद मेरे प्रियतम भक्त हैं। उन महात्मा ऋषिने जिस प्रकार इन वृक्ष बने हुए कुबेरपुत्रोंके उद्धारकी बात अपने मुखसे कह दी है, ठीक उसी प्रकार मैं इनका उद्धार करूँगा, इन्हें वृक्षयोनिसे मुक्त कर पुनः देवदेह देकर अपनी भक्ति भी दे दूँगा।'

इधर गोपशिशुओंकी दशा विचित्र ही है। अपने प्रिय सखाको जननीके बन्धनसे मुक्त करनेके लिये वे अतिशय व्याकुल हैं। अपनी विविध बाल-चेष्टाओंसे सभी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति सौहार्द एवं सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, परस्पर परामर्श करते हुए युक्ति सोच रहे हैं। साथ ही उन्हें भय है कि कहीं जननी आ न जायँ। इसीलिये सब अतिशय सावधान हैं, रह-रहकर एक उस प्राङ्गणकी ओर जाकर देख आता है कि मैया क्या कर रही हैं। एक शिशु धीरेसे श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाता है। उनके ऊखलमें बँधे श्याम सुकोमल अङ्गोंको हाथसे स्पर्श करता है, पर तुरंत ही जननीके भयसे पीछेकी ओर हटकर देखने लगता है। उसके मनमें एक युक्ति सूझ पड़ती है और वह नन्दनन्दनके कानके समीप मुख ले जाकर कहता है—'अरे भैया! तू इसे खोल ले।' फिर अन्यान्य शिशुओंको भी अपने ध्यानमें आये उपायकी सूचना देता है। सभी सहर्ष उसका अनुमोदन करते हैं, कोई संकेतसे, कोई स्पष्ट, सभी धीरे-धीरे कह उठते हैं—'हाँ रे! बस, तू खोल ले और हमारे साथ भाग चल।'

अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भी पुनः इसी रसस्रोतमें बह चलते हैं। ऐश्वर्यशक्ति जो अभी-अभी नलकूबर-मणिग्रीवकी दयनीय दशाकी सूचना देने आयी थी, गोपशिशुओंके मृदु मधुर कण्ठसे झरती हुई 'अरे खोल ले, कन्हैया! खोल ले और भाग चल' की मधुधारामें न जाने कहाँसे कहाँ बह गयी और व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र इसीमें पुनः निमग्न हो गये। सखाओंका यह परामर्श स्वीकार कर अतिशय उल्लसित होकर वे अपना बन्धन खोलनेके प्रयासमें लग जाते हैं। पर खोल पायेंगे, इसकी सम्भावना सर्वथा नहीं है। खोल लेना दूर, बन्धनकी गाँठतक उनके हाथ भी नहीं पहुँच पाते। जननीने पहलेसे ही सावधानी रखी है। प्रथम तो उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके कटिदेश और ऊखलमें बहुत कम व्यवधान रखा तथा फिर गाँठ लगायी ऊखलकी उस ओर, उस स्थानपर जहाँ उनके नीलमणि अपने हाथ न ले जा सकें। इसलिये यह युक्ति व्यर्थ सिद्ध हुई। अखिल जगत्के समस्त प्राणियोंका भवबन्धन संकल्पमात्रसे खोल देनेकी सामर्थ्य रखनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रमें आज यह शक्ति जो नहीं कि वे यशोदारानीके दिये हुए उस बन्धनको खोल लें, उस ग्रन्थिको छूतक लें। असफल, निराश, निरुपाय-से हुए वे सखाओंकी ओर देखने लगते हैं।

'अच्छा, ठहर, तेरे हाथ नहीं पहुँचते, मैं खोल

देता हूँ।' कहकर एक गोपशिशु बन्धन खोलनेकी चेष्टा करने लगा। उसे विलम्ब होते देखकर दूसरा उसकी सहायता करने गया। दोनोंको असफल देखकर तीसरेने प्रयास किया। इस प्रकार क्रमशः कई गोपशिशुओंने गाँठ खोलनेका प्रयत्न किया; पर खुलना दूर, गाँठ हिलीतक नहीं। गोपशिशु नहीं जानते कि गाँठ लगाते समय व्रजेश्वरीने अपने अन्तस्तलमें संचित अनन्त वात्सल्यकी समस्त स्निग्धता उसमें भर दी है, अब उन गोपशिशुओंके हृत्स्रोतसे प्रवाहित सख्यरसकी धारा, भले ही वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो— वात्सल्यकी उस स्निग्धताको धो नहीं सकती। सख्यके स्रोतमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह वात्सल्यकी स्निग्धताको आत्मसात् कर ले।* इसीलिये जननीकी लगायी वह गाँठ अविचल रहती है। शिशुमण्डली उदास-सी हुई व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर देखने लगती है।

इसी समय अवसर देखकर श्रीकृष्णचन्द्रकी सर्वज्ञताशक्ति पुनः एक बार सँभलकर अर्जुन-वृक्षोंकी स्मृति दिलानेके उद्देश्यसे सेवामें उपस्थित हुई। परंतु अपने प्रभु स्वामीकी मुखमुद्रा, गोपशिशुओंकी वह अनुपम प्रेमिल चेष्टाएँ देखकर उसे यह साहस नहीं हुआ कि प्रकट होकर कार्य कर सके। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका वह मधुमय बाल्यावेश भङ्ग हो, जननीके बन्धनसे मुक्ति पानेकी लालसामें, मधुरातिमधुर वात्सल्य-सुधा-रसपानमें पुनः ऐश्वर्यकी किरकिरी मिल जाय—यह तो सेवा नहीं, अपराध होता। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रकी शिशूपम मुग्धताके आवरणमें छिपी रहकर ही, लीलाशक्तिके अञ्चलकी ओटसे ही सर्वज्ञताने सेवा आरम्भ की। पुनः वे यमलार्जुनवृक्ष श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंके सामने आ गये और वे सोचने लगे—'मेरी मुक्तिका उपाय तो सरल है……।' उनके मुखपर उल्लास भर जाता है और वे गोपशिशुओंसे चटपट कह उठते हैं—'भैयाओ! मेरे हाथ पहुँचते नहीं और तुम सबोंसे गाँठ खुली नहीं। अब एक बड़ा ही सुन्दर उपाय है। देखो, यह ऊखल बड़ा भारी है। अकेला तो इसे मैं खींच नहीं सकूँगा। मैं भी खींचता हूँ और तुम सब मिलकर धक्का देकर इसे पीछेसे लुढ़काते चलो। फिर देखो, चलें वहाँ, उन यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर। देखो, दीखते हैं न? उन वृक्षोंके मध्यमें मेरे समा जानेभरको पर्याप्त स्थान है। वहाँ जाकर मैं तो उसके भीतरसे निकल जाऊँगा। पर यह ऊखल उसके भीतर जा नहीं सकेगा। साथ ही मैं इसे टेढ़ा भी कर दूँगा। फिर तो यह समा ही नहीं सकेगा, इस पार ही अटक जायगा। तब फिर उस पारसे मैं डोरीको झटके दूँगा। जहाँ मैंने पूरे बलसे डोरी खींची कि डोरी टूटी। बस, काम हो गया।'—युक्ति सुनते ही गोपशिशुओंके हर्षका पार नहीं रहता।

विचार क्रियामें परिणत होने चला। श्रीकृष्णचन्द्र अपने दोनों घुटने एवं दोनों हाथ पृथ्वीपर टेक देते हैं। शिशु अपनी फेंटे कस लेते हैं और जो-जो उनमें अधिक बलवान् हैं, वे ऊखलको पकड़कर ठेलनेका प्रयत्न करते हैं। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे अपनी ओर खींच रहे हैं। उनके अरुण अधरोंपर, सुचिक्कण अरुणाभ कपोलोंपर इसके सूचक चिह्न स्पष्ट अङ्कित हो जाते हैं। ऊखल भी धीरे-धीरे सरकने लगता है। लगभग अठारह मास पूर्व इसी प्राङ्गणमें श्रीकृष्णचन्द्रने रिङ्गणलीला आरम्भ की थी, घुटुरुआ चलते हुए वे खेलते थे, श्रीअङ्गोंकी शोभा उस दिन भी ऐसी-सी ही थी—

बंधुक-सुमन-अरुन पद-पंकज, अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।
नूपुर-कलरव मनु हंसनि सुत रचे नीड़, दै बाँह बसाए॥
कटि किंकिनि-बर हार ग्रीव, दर, रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
उर श्रीबच्छ, मनोहर हरि-नख, हेम-मध्य मनि-गन बहु लाए॥
सुभग चिबुक, द्विज-अधर-नासिका, स्त्रवन-कपोल मोहि सुठि भाए।
भ्रुव सुंदर, करुना-रस-पूरन लोचन मनहुँ जुगल जल-जाए॥
भाल बिसाल ललित लटकन मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाए।
मानौ गुरु-सनि-कुज आगें करि, ससिहिं मिलन तम के गन आए॥

* वैष्णव दार्शनिकोंने सख्यरतिकी अपेक्षा वात्सल्यमें विशेषता मानी है।

उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव मनु तड़ित छपाए॥
अंग-अंग-प्रति मार-निकर मिलि, छबि-समूह लै-लै मनु छाए।
सूरदास सो क्यौं करि बरनै, जो छबि निगम नेति करि गाए॥

आज केवल इतना अन्तर अवश्य है कि कटिदेशमें एक ऊखल बँधा है तथा उससे बँधे श्रीकृष्णचन्द्र धीरे-धीरे अर्जुनवृक्षकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। उस दिन श्रीकृष्णचन्द्र स्पष्ट बोलना नहीं जानते थे, आज धीरे-धीरे स्पष्ट मधुमिश्रित कण्ठसे, बीचमें ठहर-ठहरकर गोपशिशुओंको सचेत करते जा रहे हैं कि कहीं कोई शिशु कौतूहलवश उच्च स्वरसे कुछ कह न बैठे, अन्यथा जननीके कानोंमें शब्द जाते ही वे दौड़ आयेंगी और समस्त प्रयास व्यर्थ हो जायगा।

इस प्रकार रिङ्गण करते हुए क्रमशः वे अर्जुनतरुके समीप जा पहुँचते हैं। उन्हें निकट आया देखकर उन युग्मवृक्षोंकी क्या दशा हुई, इसे कौन बताये? यह तो सत्य है कि वृक्षोंमें भी संवेदन-शक्ति होती है। उनकी संनिधिमें होनेवाले क्रूर कर्मकी वेदना उन्हें स्पर्श करती है और वे व्यथित होते हैं; समीपमें होनेवाली किसी सुखद घटनाका स्पन्दन उनमें भी होता है और वे सुखकी अनुभूति करते हैं। यह वृक्ष-साधारणकी बात है, इन अर्जुनतरुओंके लिये तो कहना ही क्या है। ये तो शापभ्रष्ट धनदपुत्र हैं। अपने इस परिणतरूपमें भी पूर्वके देवजीवनसे लेकर अबतककी समस्त स्मृति इनमें अक्षुण्ण है। सौ देव-वर्षोंकी सुदीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात् अपने उद्धारका क्षण उपस्थित देखकर, स्वयं ऊखलसे बँधे पर उनका बन्धन-मोचन करनेके लिये उत्सुक भक्तवत्सल स्वयंभगवान् मुकुन्द श्रीकृष्णचन्द्रको अपने इतना निकट पाकर उनके हृदयमें एक साथ किन-किन भावोंका उन्मेष हुआ—इसे वे ही जानते हैं, अथवा जानते हैं अन्तर्यामी। बाह्यदृष्टिसे तो केवल इतना ही देखना-जानना, कहना-सुनना सम्भव है कि श्रीकृष्णचन्द्रको अपने मूलके समीप उपस्थित देखकर एक बार उन वृक्षोंमें कम्पन हुआ, उनके स्कन्ध, शाखा, पत्र—सभी चञ्चल हो उठे! वे यमलार्जुनवृक्ष—नलकूबर-मणिग्रीव यह नहीं जान सके कि भवबन्धनमें पड़े प्राणियोंको एक बार किसी भी भावके द्वारा उनसे सम्बन्ध मान लेनेमात्रमें मुक्तिदान करनेवाले मुकुन्द, बाल्यलीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके दिये हुए उलूखल-बन्धनसे अपनी मुक्ति पानेकी अभिसंधि लेकर उनका आश्रय लेने आये हैं। यह जानना उनके लिये सम्भव ही नहीं। यह तो वे ही जान पाते हैं, जो अचिन्त्य सौभाग्यवश व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अथवा उनके किन्हीं परिकरकी कृपाका एक कण पाकर उनके अनन्त ऐश्वर्यको भूल जाते हैं, जिनके हृदयकी बढ़ती हुई विशुद्ध प्रेमरसधारामें श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य सदाके लिये विलीन हो जाता है, जो सदा उस रस-प्रवाहमें ही बहते हुए केवलमात्र उनसे रागमय सम्बन्ध ही रख पाते हैं, सदा उन्हें अपना सखा, पुत्र, प्राणवल्लभके रूपमें ही अनुभव करते हैं। एकमात्र उनके लिये ही यह कल्पना, भावना, अनुभूति सम्भव है कि अनन्तब्रह्माण्डोदर स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आज दामोदर बने हुए, ऊखल-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये अर्जुनवृक्षके समीप आ सकते हैं, आये हैं। उनके अतिरिक्त दूसरा नहीं जान सकता। इसीलिये यमलार्जुनवृक्षोंको यह कल्पना नहीं हुई। उन्होंने सर्वसाधारणकी भाँति यही जाना कि अपने परम भक्त देवर्षिकी बात सत्य करनेके लिये, उनका (यमलार्जुनका) उद्धार कर उन्हें परम कृतार्थ करनेके लिये, ऊखल खींचते हुए धीरे-धीरे चलकर उनके निकट वे आ पहुँचे हैं—

ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २४)

—तथा यह देखकर ही, जानकर ही अपने शाखापत्रोंको स्पन्दितकर वे नाच उठे हैं।

अब विलम्बका समय नहीं है। कहीं यशोदारानी आ न जायँ! वे गोपशिशु कौतूहलभरी दृष्टिसे उन गगनस्पर्शी वृक्षोंकी ओर देखने लगते हैं। इतनेमें तो श्रीकृष्णचन्द्र युग्म वृक्षोंके अन्तरालसे होकर उस पार

जा पहुँचते हैं। छिद्रमें उनके प्रविष्ट होते ही ऊखल तो अपने-आप टेढ़ा हो जाता है—

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २६)

गोपशिशु उत्साहमें भरकर धीरे-धीरे बोलने लगते हैं—'वाह! वाह!! बस, कन्हैया! भैया!! ऊखल अड़ गया; अब तू खींच ले, केवल एक झटका दे दे·····।' बालगोपाल श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बविडम्बि अधरोंपर भी एक मन्द मुसकान छा जाती है। वे दामोदर अपनी कटिसे बँधे ऊखलको तनिक अपनी ओर खींच लेते हैं। बस, फिर तो क्षणभर भी न लगा, अर्जुनतरुओंकी पृथ्वीमें धँसी जड़ें बाहर निकल पड़ीं, प्रकाण्ड मूलशाखा (धड़), अगणित उपशाखाएँ, सघन पल्लवजाल—सभी ऐसे स्पन्दित होने लगे, मानो प्रबल झंझावात उन्हें लेकर उड़ चला हो। दामोदरका बाल्योचित बलप्रकाश ही उनके लिये सर्वथा असह्य हो गया और उनका अणु-अणु प्रकम्पित हो उठा। देखते-ही-देखते अत्यन्त घोर शब्द करते हुए, अतिशय वेगसे वे दोनों वृक्ष पृथ्वीपर गिर पड़े—

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २७)

अवश्य ही वे इस भाँति ऐसे स्थानपर गिरे जहाँ एक भी गोपशिशु नहीं, एक भी गो-गोवत्स नहीं, गृहरचनाका कोई अंश नहीं, केवलमात्र मणिजटित समतल भूमि है। इसीलिये किसीको भी किंचिन्मात्र भी कोई क्षत न लगा, नन्दप्रासादके किसी अंशको तनिक भी क्षति न पहुँची। किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं; वे जड वृक्षमात्र तो हैं नहीं, धनदपुत्र हैं और अब तो श्रीकृष्ण-चरणारविन्दका स्पर्श होनेके क्षणसे ही वे उसके निजजन बन गये हैं, उनमें समस्त भक्तगुणोंका विकास हो गया है, अमितशक्ति आ गयी है। वे अपनी किसी भी चेष्टासे किसीको तनिक भी कष्ट दें, यह सम्भव ही नहीं। इसीलिये गिरते समय शापजन्य अपने अन्तिम प्रारब्धका अवसान करते हुए वे वहाँ स्थानके अनुरूप ही अपनी शाखाओंको यथायोग्य संकुचित करते हुए गिरे। व्रजेन्द्रनन्दनके स्पर्शसे पूत हुए नलकूबर-मणिग्रीवकी इस चेष्टामें आश्चर्यकी बात ही क्या है। आश्चर्य, महान् आश्चर्य तो यह है कि इतने विशालकाय, वज्रसारके समान युग्म अर्जुनवृक्ष ऊखल-आकर्षणके वेगसे मूलोत्पाटित होकर टूट पड़े; किंतु जननी यशोदाके वात्सल्यसे प्रेरित, उनके द्वारा निर्मित, आग्रहमय वह बन्धन न खुला। ऊखलमें लगायी उनकी डोरी, ग्रन्थि न टूटी। श्रीकृष्णचन्द्रका वह बन्धन न टूटा—

चित्रं तुत्रोट तत्तत्र वज्रमज्जार्जुनद्वयम्।
न पुनर्मातृवात्सल्यनिर्बन्धमयबन्धनम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, जहाँ वे वृक्ष थे, वहाँ एक परम उज्ज्वल ज्योति चमक उठती है। मानो दो वृक्षोंके मध्यमें दावानल भभक उठा। फिर दोनोंकी ज्योति एकत्र मिल जाय, उनसे दिशाएँ आलोकित हो जायँ, इस प्रकार अपनी सम्मिलित ज्योतिसे दसों दिशाओंको उद्भासित करते हुए दो सिद्धपुरुष उनके अन्तरालसे प्रकट होते हैं और उलूखलनिबद्ध श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर चल पड़ते हैं—

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २८)

ये युगल सिद्ध और कोई नहीं, धनदपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें न्योछावर होने जा रहे हैं—

निकसे उभय पुरुष दोउ बीर, पहिरें अद्भुत भूषन चीर।
जैसें दारु मध्य तैं आगि, निर्मल जोति उठति है जागि।
नंद-सुवनके पाइन परे, अंजुलि जोरि स्तुति अनुसरे।

× × ×

द्रुम अंतर ते कढ़े बिबि ब्रंदारक सुखसींव।
गुन-मंदिर सुंदर महा नलकूबर-मनिग्रीव॥

कुबेर-पुत्रोंको स्वरूप-प्राप्ति तथा उनके द्वारा श्रीकृष्णका स्तवन तथा प्रार्थना; श्रीकृष्णकी उनके प्रति करुणापूर्ण आश्वासन-वाणी

नतजानु हुए, अञ्जलि बाँधे वे धनदपुत्र—नलकूबर, मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं, उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। व्रजचन्द्रकी चरण-नखचन्द्रिकाने उनमें दिव्य ज्ञानका उन्मेष कर दिया है, नवनीरद-श्यामल श्रीअङ्गोंने रसकी सरिता बहा दी है। वे कभी तो उस ज्ञानके आलोकमें व्रजेन्द्रनन्दनके अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यको प्रत्यक्ष अनुभव कर चमत्कृत होने लगते हैं और कभी रसपानसे उन्मत्त होकर अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र चकित चञ्चल भीति-विजडित नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहे हैं तथा उनके आश्चर्यविस्फारित पर रससिक्त नेत्र निष्पन्द होकर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर लग रहे हैं। यह जानना सम्भव नहीं कि वास्तवमें कितने कालतक उनकी यह दशा रही है। अवश्य ही बाह्य दृष्टिसे देखनेपर तो कुछ ही क्षण बीते हैं और अब वे अखिल-लोकनाथ श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमा गाने जा रहे हैं—

कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २८)

किंतु हर्षातिरेकवश कण्ठ रुद्ध हो जाता है, वे कुछ भी बोल नहीं पाते। नेत्रोंसे अनवरत अश्रुकी वर्षा हो रही है; कपोल, वक्षःस्थल आर्द्र हो चुके हैं। वे अपने मुकुटमण्डित सिरको झुकाकर दूरसे तो वन्दना कर चुके, पर उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरणपल्लवसे स्पर्श करा देनेके लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। किंतु शरीर विवश हो रहा है, जड-सा बनकर चेष्टाशून्य हो गया है, कुछ क्षणोंके पश्चात् किसी अचिन्त्य शक्तिकी प्रेरणासे उनके हाथोंमें स्पन्दन होता है और वे अनुभव करते हैं—सिरसे तो नहीं, पर हाथ बढ़ाकर कदाचित् चरणसरोजके स्पर्शका सौभाग्य सम्भव हो जाय। इस लालसासे ही वे अपने हाथ श्रीचरणोंके समीप ले जाते हैं। पर बाल्यलीलाविहारीका बाल्यावेश, बाल्यभङ्गिमा कुबेरपुत्रोंको यह सौभाग्य सहजमें देना जो नहीं चाहती। ऊखलसे बँधे होनेके कारण, धराशायी अर्जुन-वृक्षोंके मध्यदेशमें ऊखलके अटके रहनेसे वे भाग तो नहीं सकते, पर अङ्गोंसे अमानव तेजकी किरणें बिखेरते, प्रज्वलित अग्निके समान चमचम करते हुए चार हाथोंको अपने लघु-लघु चरणोंकी ओर आते देखकर वे स्थिर कैसे रह सकते हैं। जितना अधिक-से-अधिक सम्भव है, उतना पीछेकी ओर हटकर वे भागनेका प्रयास करते हैं। अवश्य ही भाग नहीं पाते। किधर जायँ? कैसे जायँ? इसीलिये मुग्ध शिशुकी भाँति भयभीत-से होकर वे अपने करकमलोंको नचा-नचाकर उन्हें स्पर्श न करनेके लिये संकेत करने लगते हैं; फिर तो कुबेर-पुत्रोंमें यह शक्ति कहाँ कि उन्हें छू लें। जगत्‌में यह सामर्थ्य किसमें है जो श्रीकृष्णचन्द्रके न चाहनेपर स्वप्नमें भी क्षणभरके लिये उनकी छायाका भी स्पर्श कर ले? पर नलकूबर-मणिग्रीवके हाथ भी श्रीकृष्णपादारविन्दके स्पर्शका सौभाग्य पाये बिना आज लौटनेवाले नहीं। युगलबन्धुओंके नेत्रोंमें वह व्याकुलता भर आती है, जिसकी सीमा नहीं। बस, यह अपेक्षित थी। कुबेरपुत्र श्रीकृष्णचरणोंको अपने हाथोंसे वेष्टित कर लेते हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। किंतु बाल्यलीलारसमत्त अनन्त-ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र तो उस समय भी एक अभिनव-रस-तरङ्गमें बह चलते हैं। वे सोचने लगते हैं—'जननीके मुखसे अनेकों बार देवताओंके स्वरूपका वर्णन सुन चुका हूँ। ये हैं तो दोनों कोई देवता, पर मेरे चरण क्यों पकड़ते हैं........?' लीलामयकी यह भावना रसमें सनी रहकर अत्यन्त मसृण होनेके कारण बाहरकी ओर फिसल पड़ी, वे कुबेर-पुत्रोंकी ओर देखकर पुकार ही तो उठे—

कहन लगे हरि तिन तन चाहि, तुम तौ कोउ देवता आहि।
इमि इहि गोकुल-गोप-दुलारे, क्यों हो पकरत पाँव हमारे॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी इस परम दिव्य रसमयी भावनाको कौन ग्रहण करे? नलकूबर-मणिग्रीवके पास इसे

धारण करने योग्य पात्र ही कहाँ है? यह तो धारण कर सकती हैं विशुद्ध-राग-परिभावितचित्ता गोपसुन्दरियाँ; इसे ग्रहण कर सकते हैं विशुद्ध-राग-रसिक व्रजपुर-गोप, गोपशिशु; इसे लेनेकी क्षमता है विशुद्ध-वात्सल्य-रसघनमूर्ति व्रजेन्द्रदम्पतिमें—जहाँ जिनके प्रेममें अनन्त-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्यकी गन्धतक नहीं, जिनकी चरण-रज-कणिकाकी छाया पड़नेसे प्रपञ्चके प्राणियोंको विशुद्ध-रागमार्गके पथिक बननेका अधिकार प्राप्त होता है। इसीलिये नलकूबर-मणिग्रीव इस मधुर रसका आस्वादन न पा सके। व्रजेन्द्रनन्दनकी वह रसमयी वाणी उनके चित्तमें उनकी पात्रताके अनुरूप भावका ही उल्लास कर सकी। उसका रूप यह बन गया। वे कुबेरपुत्र श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमाका गान करने जा रहे थे, पर कण्ठ अश्रुपूरित होकर कर नहीं पा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रकी इस रसीली उक्तिसे इतनी प्रबल, ऐसी गम्भीर धारा बह चली कि ऐश्वर्यज्ञान मानो उसमें सर्वथा डूब जानेके भयसे बरबस कण्ठसे बाहर निकलने लगा, नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तुति करने लगे—

पुलकित सरोज-से करनि जोरि बोले तहीं।
जगतपति-नाथ! तो गुननि-गाथ जानैं नहीं॥
सगुन यह रूप औ निगुन वेदबाणी कहैं।
अखिल तुव मध्य है, सकल जानि ग्यानी लहैं॥
सुजन जन लाज काज अवतार धारौ मही।
दनुज-दल दुष्ट पुष्ट बल मारि तारौ तहीं॥
अब करि प्रभो! सुदृष्टि, करुना-क्रपा सौं भरी।
अभयपद दान देउ जन जानिये जू हरी॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मारजस्सत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च।
अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम्॥
नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। २९—३६)

'श्रीकृष्णचन्द्र! समस्त विश्वका चित्त आकर्षित करनेवाले नराकृति परब्रह्म! हे परमयोगेश्वर! तुम्हीं समस्त जगत्के आदि हो, तुम्हीं पुरुषोत्तम हो, कार्यकारणात्मक यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुम्हारा ही रूप है—यही अनुभूति तत्त्वदर्शी ब्राह्मणोंको होती है। समस्त भूतोंके देह-प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ—इन सबके स्वामी तो तुम्हीं हो, नाथ! तुम्हीं सर्वशक्तिमान् काल हो, अव्यय तत्त्व हो, सर्वव्यापक हो, सर्वनियन्ता हो। तुम्हीं सत्त्वरजस्तमोमयी सूक्ष्म प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्य हो। तुम्हीं समस्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हो। अधिष्ठाता पुरुष भी तुम्हीं हो, श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हारे द्वारा परिचालित, तुम्हारी सत्तासे ही क्रियाशील प्राकृत मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके द्वारा तुम्हें जान लेना सम्भव नहीं है। नाथ! देह आदिके अभिमानसे बँधा हुआ ऐसा कौन-सा व्यक्ति इस विश्वमें है, जो तुम्हें जान ले? क्योंकि स्वप्रकाशरूप होनेके कारण तुम तो सब जीवोंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी एकरस वर्तमान रहते हो; फिर किस जीवकी सामर्थ्य है कि आदिस्वरूप तुमको जान ले। प्रभो! तुम्हीं वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायण हो, तुम्हीं वासुदेव हो, प्रपञ्चविधाता भी तुम्हीं हो। अपने द्वारा ही प्रकाशित सत्त्वादि त्रिगुणोंसे अपनी महिमाको तुमने आच्छादित करा रखा है। सच्चिदानन्द परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र! ऐसे महामहिम तुमको जान लेनेकी क्षमता हममें कहाँ। इसलिये हम तो तुम्हें प्रणाममात्र करनेके अधिकारी हैं, तुम्हारे चरणसरोजमें प्रणाम कर रहे हैं। भगवन्! जीवकी शक्ति नहीं कि वह ऐसी लीला कर ले, जैसी तुम करते हो। जब कभी भी प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हो, तब-तब ऐसे-ऐसे परम अद्भुत चरित्रोंका प्रकाश करते हो, जिनकी कहीं तुलना नहीं। तुम्हारी ये अतिशय आश्चर्यमयी लीलाएँ

ही प्रमाण बनती हैं, ये अलोकसाधारण लीलाएँ ही इस बातका निर्णय करती हैं कि तुम अशरीर (प्राकृत शरीरसे रहित)-का शरीरधारियोंमें अवतरण हुआ है। वे ही तुम स्वयं इस बार जगत्‌का ऐहिक-आमुष्मिक—अशेष मङ्गलविधान करनेके लिये अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंसे अवतीर्ण हुए हो। भक्तोंके सर्वविध मनोरथोंको पूर्ण करना तुम्हारा नित्य स्वभाव है, नाथ! हे परमकल्याणस्वरूप! तुम्हें नमस्कार है! हे विश्वमङ्गलविधायक! तुम्हें नमस्कार है! परमशान्त! हत्पद्मविहारिन्! यदुपते! गोपते! तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार!!'

परम पुरुष सबही के कारन। प्रतिपारन तारन संघारन॥
ब्यक्त-अब्यक्त जु बिस्व अनूप। बेद बदत प्रभु तुम्हरौ रूप॥
तुम सब भूतन कौ बिस्तार। देह, प्रान, इंद्री, अहँकार॥
काल तुम्हारी लीला श्रीधर। तुम ब्यापी, तुम अब्यय ईश्वर॥
तुमहीं प्रकृति, पुरुष, महतत्व। धर, अंबर आडंबर सत्व॥
तुम हीं जीवन, तुम हीं जीय। सब ठाँ तुम, कोउ अवर न बीय॥

× × ×

इंद्रिन करि तुम जात न गहे। प्रगट आहि, पै परत न चहे॥
जैसें दिष्टि कुंभ कहुँ देखै। कुंभ तौ नहिं न दिष्टि कौं पेखै॥
कुंभ के दिष्टि होइ जब-कबहीं। सो तुम-दिष्टिहि देखै तबहीं॥
तातैं तुम कहुँ बंदन करैं। जानि न परहु, परे तैं परैं॥

(नन्ददासकृत दशमस्कन्ध)

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करते-करते, उनके पारावारविहीन ऐश्वर्यसिन्धुमें अवगाहन करते-करते कुबेरपुत्रोंकी अनादि-संसरणजनित श्रान्ति तो मिट ही जाती है, साथ ही उनका चित्त भक्ति-रस-सुधा-पानके योग्य भी बन जाता है। उनकी अन्य समस्त वासनाएँ सर्वथा धुल जाती हैं, चित्त अतिशय विशुद्ध, निर्मल होकर, भक्ति-पीयूषसिन्धुमें डूबनेके लिये लालायित हो उठता है। इसीलिये अब वे प्रार्थना करने लगते हैं—

वाञ्छावहे किमपि नापरमार्त्तबन्धो
त्वत्पादपङ्कजपरागनिषेविसङ्गात्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'दीनबन्धो! हमें और कुछ नहीं चाहिये; बस, इतनी-सी अभिलाषा है कि तुम्हारे चरणपङ्कजसे झरते हुए मकरन्दका पान करनेवाले साधुपुरुषोंका सङ्ग हमें निरन्तर मिलता रहे।'

—तथा यह होकर फिर यह हो जाय—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ३८)

भगवन्! हमारी वाणी निरन्तर तुम्हारा ही मङ्गलमय गुणगान करे, तुम्हारे मधुस्रावी नामरूपगुणलीला आदिके कथनमें नियुक्त रहे। कर्णेन्द्रिय सदा तुम्हारी रसमयी कथाके नाम-रूप-गुणगणके श्रवणमें ही लगी रहे। हमारे हाथ तुम्हारी सेवा-परिचर्याके कर्मोंमें ही व्यस्त रहें। मन तुम्हारे चरणपङ्कजकी स्मृतिमें ही रम जाय। तुम्हारे निवासभूत जगत्‌के सामने हमारा सिर सदा नत रहे, सबमें तुम्हें व्याप्त देखकर सबके चरणोंमें हम झुक पड़ें। हमारे नेत्र भी केवल निहारा करें तुम्हारे देहभूत संतोंको—

हे करुनानिधि! करुना कीजै, अपनी भाउ-भगति-रति दीजै॥
बानी तुमरे गुन-गन गनै, श्रवन परम पावन जस सुनै॥
ये कर अवर कर्म जिनि करैं, प्रभु की परिचर्या अनुसरैं॥
मन-अलि चरन-कमल-रस रसौ, चित्र कमल-जग भूलि न बसौ॥
हे जगदीस! जसोदा-नंदन, सीस रहौ नित तुव-पद-बंदन॥
तुमरी मूरति भक्त तुम्हारे, नित ही निरखहुँ नैन हमारे॥

कुबेरपुत्र यह कहकर मौन होने लग गये, नहीं-नहीं उनकी वाणी पुनः प्रेमावेशवश स्वतः रुद्ध होने लगी। अस्पष्ट स्वरमें, अश्रुसिक्त कण्ठसे वे इतना और कह पाये—

देवर्षिणा तव पदाब्जमधुव्रतेन
भूयानकारि बत नौ शपता प्रसादः।
लीलालवोढजगदण्डपरःसहस्त्रो
येन त्वमक्षिविषयोऽद्भुतबालखेलः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'नाथ! तुम्हारे चरणसरोजके मधुपानका ही व्रत रखनेवाले देवर्षिने हमपर यथेष्ट कृपा की। अभिशाप देते समय उसमें अपना पूर्ण अनुग्रह भर दिया। ओह! लवमात्र लीलाके मिससे असंख्य ब्रह्माण्डोंको अपने

अंदर धारण करनेवाले तुम आज इस अद्भुत बालक्रीडाकारी वेशमें हमारी दृष्टिके समक्ष आये हो। उनकी कृपासे ही तो महामहिम तुमको आज हम इस अभिनव शिशुवेशमें देख पा रहे हैं, प्रभो!'

अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने भी उसी समय लीलामञ्चकी डोरी खींच दी। दृश्य बदला और शैशवलीलारसमें निमग्न हुए श्रीकृष्णचन्द्र क्षणभरके लिये सजग होकर ऐश्वर्यके तटपर आ विराजे—अपने भक्तोंकी महिमाका गान करनेके लिये अपने मुखारविन्दसे कुबेरपुत्रोंको कुछ आदेश देकर उनके कर्णपुटोंमें अपने कण्ठकी सुधा भर देनेके लिये, उनकी एक चिरवाञ्छा पूर्ण कर देनेके लिये। इसीलिये आते ही, अधरोंमें मन्द हास्य भरकर वे बोलने लग गये—

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोःसवितुर्यथा॥
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम्।
संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ४०—४२)

'कुबेरपुत्रो! सुनो, इस घटनाको मैं बहुत पूर्वसे ही जानता हूँ। तुम दोनों श्रीमदसे अंधे थे, परम कारुणिक देवर्षिने तुमपर अपनी कृपा बरसायी, शाप देकर तुम्हारा श्रीमद नष्ट कर दिया—यह सब मुझे ज्ञात है। जाओ, पुत्रो! अब तुम्हारे भवप्रवाहका अन्त हो चुका। यह भी देवर्षिके दर्शनका ही प्रसाद समझो। मुक्ति तो तुम्हें उसी दिन मिल चुकी थी, जिस दिन देवर्षिके दर्शन तुम्हें हुए। सुनो, सूर्योदय होते ही जैसे नेत्रोंपर छाया हुआ अन्धकार विलुप्त हो जाता है, वैसे ही समचित्त, मदेकनिष्ठ महापुरुषोंका दर्शन होते ही जीवका अज्ञान-अन्धकार, भवबन्धन भी विनष्ट हो जाता है। तरुयोनि तो तुम्हें मेरी परमाभक्तिकी प्राप्ति करा देनेके लिये प्राप्त हुई थी, बन्धनके लिये नहीं। महापुरुषोंके समागमसे बन्धन होना असम्भव है, उससे तो बन्धनका नाश ही होता है। तुम्हारे बन्धन टूट गये। मेरी अनन्य रति (भक्ति) भी तुम दोनों प्राप्त कर सके हो। जो तुम चाहते थे, वह तुम्हें मिल गयी। अब तुम्हारे लिये संसारमें पुनः पतनका भय सदाके लिये समाप्त हो चुका। अनन्तकालतकके लिये मेरे परायण हुए तुम दोनों अब अपने भवनकी ओर चले जाओ।'

तब बोले हरि करुनाधाम । पूरन हौंहि तुम्हारे काम॥
नारद प्रीतम भक्त हमारौ । तुम पर कियौ अनुग्रह भारौ॥
मो भक्तन कौ यहै सुभाउ । जैसैं उदित होत दिनराउ॥
सहजहिं निबिड़ तिमिर कौं हरै । अवर बहुत मंगल बिस्तरै॥
पुनि बोले हरि सब गुन-सींव । हे नलकूबर! हे मनिग्रीव!॥
अब तुम गवन भवन कौं करौ । मो माया डर तैं जिनि डरौ॥

नलकूबर-मणिग्रीव कृतार्थ हो गये। उनके प्राण नाच उठते हैं—'कदाचित् एक-दो क्षण भी और यहाँ विराम करनेकी आज्ञा मिल जाती! पर नहीं अब समय नहीं। श्रीकृष्णचन्द्रके समीपमें ही खड़े उन गोपशिशुओंके नेत्रोंमें भय भरा है, यह तो प्रभुके प्रियतम सखाओंके प्रति अपराध हो रहा है।'—कुबेरपुत्र चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने ऊखलमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रकी परिक्रमा की, उन्हें बार-बार प्रणाम किया; फिर जानेकी सूचना देकर उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े—

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ४३)

इहि प्रकार गुह्यक दुवौ, प्रभु बचननि उर धारि।
बेर-बेर दंडवत करि उत्तर दिशा सिधारि॥

देवर्षिके प्रति उनके हृदयमें अपरिसीम कृतज्ञता उमड़ आयी है। व्रजपुरके कण-कणके प्रति उनके रोम-रोमसे 'धन्य-धन्य' की घोषणा हो रही है—

धन्य-धन्य ऋषि-साप हमारे।
आदि अनादि निगम नहिं जानत, ते हरि प्रगट देह ब्रज धारे॥
धन्य नंद, धनि मातु जसोदा, धनि आँगन खेलत भय बारे।
धन्य स्याम, धनि दाम बँधाए, धनि ऊखल, धनि माखन-प्यारे॥
दीन-बंधु करुना-निधि हौ प्रभु, राखि लेहु, हम सरन तिहारे।
सूर स्याम के चरन सीस धरि, अस्तुति करि निज धाम सिधारे॥

वृक्षोंके टूट जानेपर भी श्रीकृष्णको अक्षत पाकर माता-पिताका उल्लास

स्वर्गीय देवोंकी श्रवणशक्ति लुप्त हो गयी थी। नागलोकके प्राणी भी बधिरप्राय हो गये थे, तथा दिङ्नाग प्रकम्पित हो रहे थे। क्षणभरके लिये समस्त ब्रह्माण्डमें उसके अतिरिक्त अन्य कोई शब्द अवशिष्ट नहीं रहा था। ऐसी एक साथ शतसहस्र प्रलयंकर वज्रपातोंकी-सी वह प्रचण्ड ध्वनि अर्जुनवृक्षोंके धराशायी होनेपर हुई थी। किंतु अघटघटनापटीयसी योगमायाने उस ध्वनिको व्रजपुरके धरातलपर तो तबतक प्रकट नहीं होने दिया, जबतक कुबेरतनय नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन कर चले नहीं गये। स्तुतिके समय कितने क्षण, कितने दिन, कितने मास, कितने वर्ष, कितने युग बीते थे, यह कल्पना प्राकृत मनमें समा नहीं सकती; पर जितना भी समय लगा हो, उतने कालतक तो व्रजपुर निश्चितरूपसे नीरव था। अवश्य ही गृहकार्यमें संलग्न गोपसुन्दरियोंकी एवं व्रजराजमहिषीकी कङ्कण-झंकृति, नूपुर-रव रह-रहकर उस नीरवताको भङ्ग कर देते थे। पक्षियोंका कलरव, भ्रमरका गुञ्जन तो इनमें स्थायी स्वरकी भाँति समा गया था। पर ज्यों ही कुबेरपुत्र दृष्टिपथसे ओझल हुए कि बस, समस्त व्रजपुर भी उस प्रचण्ड ध्वनिसे काँप उठा। गोवर्द्धनपरिसर, परिसरकी समलंकृत यज्ञभूमि ऐसी हिल गयी मानो भूकम्प हुआ हो। गोपोंके, गोपरामाओंके अङ्ग ऐसे नाचने लगे, मानो सहसा सबके अङ्गोंमें कम्पवायुका प्रकोप हो गया हो—

तरु टूटत चरके, झरमर झरके, फिरि भर-भरके भूमि परे।
धर थल-थल धरके लोग नगरके, थरथर थरके, चौंकि परे॥
तहँ उर सब नरके, इमि खरखरके, जनु थनतरके झरप तहाँ।
जे गिरत न सरके, ग्रह सब बरके, को कहि हरिके गुननि महाँ॥

व्रजेश्वरीकी भी यही दशा है। साथ ही उन्हें ऊखलमें बँधे अपने नीलमणिकी स्मृति हो आयी है। श्रीकृष्णचन्द्रका उन्हें विस्मरण हो गया हो, यह बात नहीं। केवल अभी कुछ देर पहले लीलाशक्तिने उनके एवं नीलमणिके बीचमें अपना आँचल फैला रखा था, उसकी ओटमें मैया अपने जीवनधनको देखकर भी अच्छी तरह नहीं देख पा रही थीं। पर अब अञ्चल हट चुका था, उसकी आवश्यकता नहीं रही थी। इसीलिये मैयाको मानो वहींसे, कक्षकी मणिभित्तिका व्यवधान रहनेपर भी नीलमणिके स्पष्ट दर्शन होने लगे हैं। मैया उस समय भी अपने नीलमणिको खिलानेके लिये दधिमन्थन ही कर रही थीं, पर अब अवकाश कहाँ! तृणावर्तके समय भी ऐसी-सी ही ध्वनि हुई थी—इस संस्कारके जागनेमें देर थोड़े लगी। मैया मन्थनदण्डको फेंककर विद्युद्गतिसे वहाँ उस स्थानपर जा पहुँचती हैं, जहाँ वे अपने नीलमणिको ऊखलसे बाँध गयी थीं। वहाँ तो कोई है ही नहीं। हाँ, उससे कुछ ही दूरपर वे गोपशिशु कोलाहल कर रहे हैं और वे प्रकाण्ड यमलार्जुनवृक्ष धराशायी पड़े हैं—यह मैयाको दीख गया। 'आह! मेरा नीलमणि कहाँ है?'—मैया इतना ही सोच पायीं। फिर तो अङ्गोंमें रक्तसंचार स्थगित हो गया। उस समय उनके प्राण कहाँ थे? धमनियोंमें रक्तका प्रवाह न रहनेपर भी वे निष्पन्द—प्रस्तर-प्रतिमाकी भाँति ज्यों-की-त्यों खड़ी कैसे रहीं?—इनका समाधान तो सम्भव नहीं, पर मैयाकी स्थिति इस समय ठीक ऐसी ही है।

क्षणभर भी न लगा, व्रजपुरमें जितनी गोपसुन्दरियाँ थीं, सभी नन्दभवनमें आ पहुँचीं। उनकी तो बात क्या, वे निकट थीं; सुदूर गिरिराजके प्रान्तमें व्रजेश्वर थे, व्रजपुरका समस्त गोपसमुदाय था, वे सब-के-सब आ पहुँचे। उन सबको स्मृति है केवल एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रकी। वृक्षपातके उस महागर्जनको सुनकर सब इतने भयभीत हो गये हैं, श्रीकृष्णचन्द्रकी अनिष्टाशङ्कासे उनका मन इतना अधिक भर गया है कि नन्दनन्दनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वृत्तिके

लिये वहाँ स्थान नहीं है। इस अवस्थामें वे आ पहुँचे हैं—

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम्।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १)

श्रीकृष्णचन्द्रमें तन्मय हो जानेपर यहाँ भी, इस प्रपञ्चमें भी देश-कालका व्यवधान नहीं रहता। फिर यह तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी चिदानन्दमयी लीला, उनके नित्य चिदानन्दमय परिकर, उनकी चिन्मयी व्रजभूमिसे सम्बद्ध घटना है। यहाँ व्रजेश्वर, व्रजगोप यदि गिरिराजकी सीमा, विस्तृत वनप्रदेश, व्रजपुरकी उत्तुङ्ग अट्टालिकाएँ लाँघकर क्षणभरमें वहाँ नन्दप्राङ्गणमें आ पहुँचे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। यहाँ तो लीलाके लिये ही चिन्मय देश-काल हैं। लीलामें आवश्यकतानुसार उनका विस्तार-संकोच होता है। इस समय दोनोंकी आवश्यकता है। अतः नन्दव्रज एवं गिरिराजका मध्यवर्ती विशाल भूखण्ड तो संकुचित हो गया। व्रजेश्वर, गोप ऐसे आ पहुँचे मानो द्वारपर ही थे; पर वह प्राङ्गण विस्तृत हो गया, इतने स्थानमें ही समस्त पुरवासी समा गये। अस्तु, आते ही सबकी दृष्टिमें भग्न यमलार्जुनवृक्ष तो आ गये; महागर्जन इन्हींका था, यह भी ध्यानमें आ गया। पर इतने प्रकाण्ड वृक्ष मूलसे उखड़कर गिर कैसे गये, इनके धराशायी होनेमें हेतु क्या है—इसे वे सर्वथा नहीं समझ पाये। सहसा ऐसी घटना घटित हो जानेका कोई कारण वे न ढूँढ़ सके। कारण न पाकर उनका चित्त भ्रान्त होने लगा—

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २)

अबतक उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन नहीं हुए हैं। अर्जुनतरुकी शाखाश्रेणी, पल्लवजालमें वे छिपे हैं। अवश्य ही गोपशिशुओंकी प्रसन्न, कौतुकपूर्ण मुद्रा देखकर उन्हें यह आश्वासन तो मिल जाता है कि नन्दनन्दन सकुशल हैं। अर्जुनतरुको घेरकर वे आश्चर्यकी मुद्रामें खड़े हो जाते हैं। इतनेमें व्रजेश्वरको एक गोपशिशु अङ्गुलिसे वृक्षमूलकी ओर देखनेका संकेत करता है। व्रजेश किंचित् उस ओर आगे बढ़कर देखते हैं और देखकर दंग रह जाते हैं। उन्हें कल्पना नहीं थी कि अपने पुत्रकी ऐसी अद्भुत अनुपम झाँकी देखनेको मिलेगी। कटिप्रदेशमें पट्टडोरी बँधी है, डोरी ऊखलसे संनद्ध है तथा अपने जानु एवं करतलको पृथ्वीपर टेके वे ऊखलको खींच रहे हैं तथा नेत्रोंमें भय भरा है—यह दृश्य व्रजेश्वरके समक्ष आते ही न जाने कैसे सभी गोप-गोपसुन्दरियाँ भी एक साथ यह देख लेती हैं। वास्तवमें तरुके मूलोत्पाटनका हेतु उनके सामने आ जाता है, फिर भी वे समझ नहीं पाते। किस महाबलवान्‌का यह कार्य है, किस हेतुसे उसने इन्हें उखाड़ फेंका—इसका कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे हैं। क्षण-क्षणमें उनका आश्चर्य बढ़ता जा रहा है। अधिकांशका मन किसी महाबली दैत्यके उत्पातकी कल्पना कर व्याकुल होने लगता है—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम्।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३)

जो कुछ अधिक धैर्यशाली हैं, वे दैत्यकृत किस मायाका अनुसंधान करने चलते हैं। पर वैसा कोई भी चिह्न उन्हें नहीं प्राप्त होता। दैत्य नहीं आया—यह धारणा तो पुष्ट होती है; किंतु—

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना।
विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'झंझावात नहीं आया, वर्षा नहीं आयी, आकस्मिक वज्रपात भी नहीं हुआ, यहाँ कोई मत्त गजेन्द्र भी नहीं आया, जिसकी स्वच्छन्द चेष्टासे यह अनुचित घटना घटी हो; फिर इन युग्म अर्जुन-वृक्षोंको गिराया तो किसने ?'

यह रहस्य वे न पा सके। उनकी विस्मयभरी आँखें गोपशिशुओंकी ओर केन्द्रित हो गयीं।

किंतु व्रजेश्वरका ध्यान अब इस ओर नहीं है। उनका

अणु-अणु अपने इष्टदेव नारायणके प्रति कृतज्ञतासे पूर्ण हो रहा है। ऊखलमें बँधे पुत्रके अङ्गोंको अच्छी तरह टटोलकर उन्होंने देख लिया; अपना जी भर लिया कि कहीं कोई क्षत नहीं लगा और फिर तो उनका रोम-रोम पुकार रहा है—'नारायण! देव! प्रभो! अशरणशरण! दीनबन्धो! नाथ! तुम्हारी जय हो! इस अयाचित अनुकम्पाकी जय हो!' व्रजेशका यह जय-जयकार अन्तस्तलमें ही सीमित नहीं रहा, वे उच्चस्वरसे श्रीनारायणदेवकी जय-घोषणा करने लगे।

इसी बीचमें दो शिशुओंने उनकी चादर खींचकर उनका ध्यान अपनी ओर खींचते हुए कहना आरम्भ किया—'बाबा! सुनो! हम बताते हैं, कन्हैयाने ही तो वृक्ष उखाड़े हैं, देखो; यह ऊखल खींचते हुए पहले भीतर चला गया, फिर इसने उसको तिरछा कर दिया और तब डोरी खींचने लगा। बस, वृक्ष टूट गये।' यह बात समाप्त होते-न-होते नन्दनपुत्र तोकने कहना आरम्भ किया—'इतना ही नहीं बाबा! एक और खेल हुआ। इन दोनों वृक्षोंमेंसे दो पुरुष निकले, जो आगकी तरह जल रहे थे; वे बार-बार कन्हैया भैयाके चरणोंमें गिरते थे। और बाबा! वे दोनों बड़ी देरतक गीत गा रहे थे, रो भी रहे थे; और फिर कन्हैया भैयाने भी अपने हाथ नचा-नचाकर उनसे कुछ बातें कहीं और वे फिर चले गये।' सुबल भी बोल उठा—'बाबा! हम सबोंने देखा है। इन्हीं वृक्षोंमेंसे वे दोनों निकले, कन्हैयाके साथ बातें कीं और फिर उत्तरकी ओर चले गये।' इसके बाद उपनन्दसे, अन्यान्य वयस्क गोपोंसे, अपने पिता-पितृव्यसे सभी शिशु इसी घटनाको परम उल्लासमें भरकर बताने लगे—

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम्।
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४)

यह कहते समय उन गोपशिशुओंके मुखपर तो भय अथवा आश्चर्यकी छाया भी नहीं है। वे परम सत्य तथ्य बतला रहे हैं, इस दृढ़ताके स्पष्ट चिह्न उनके मुखमण्डलपर अवश्य अङ्कित हैं। अतिशय उत्कण्ठासे सबने इनकी बात सुनी भी; किंतु किसी भी गोपको उनकी बातपर विश्वास जो नहीं होता। सुनते ही सभी एक ही निर्णय देते हैं—'यह तो कदापि सम्भव नहीं, छोटे-से नन्दनन्दनके द्वारा यह कार्य हो, इस शिशुके बलप्रयोगसे ये वृक्ष उत्पाटित हुए हों—यह भी कहीं विश्वासकी वस्तु है? हो नहीं सकता, श्रीकृष्णके लिये यह असम्भव है।' केवल उन याज्ञिक ब्राह्मणोंको—जो गोपोंके साथ ही गिरिराजकी ओरसे दौड़कर आये थे—संदेह अवश्य होने लगा कि सम्भवतः गोपशिशुओंकी बात सत्य ही निकले। उनके ऐश्वर्यप्रवण चित्तमें स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्यकी चर्चाको टिकनेके लिये स्थान है; उससे पूर्व पूतना, शकट, तृणावर्त आदिका निधन—शिशु श्रीकृष्णके द्वारा अनेकों अघटघटन होते ये भूदेव देख चुके हैं। गोपोंने, गोपसुन्दरियोंने भी देखे तो अवश्य हैं, पर उनके राग-रस-मसृण चित्तको श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य स्पर्श कर ले—यह तो कभी सम्भव ही नहीं है। इसीलिये गोपोंने तो इसे तनिक भी स्वीकार नहीं किया, पर ब्राह्मण संदिग्धचित्त हो गये—

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत्।
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् संदिग्धचेतसः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५)

कुछ भी कारण हो, व्रजेन्द्रके लिये अब यह सम्भव नहीं कि वे हेतु विचारनेमें समय लगा सकें। श्रीकृष्णचन्द्रका परम सुन्दर, पर भयविक्लव मुखारविन्द उन्हें प्रबल वेगसे खींच रहा है—

तिन बिच हरि बैठे छबि-ऐना। डरपे मृग-सिसु के-से नैना॥

वे उसी ओर झुक पड़ते हैं। डोरीमें बँधे ऊखलको खींचते हुए अपने पुत्रको अत्यन्त निकटसे निहारकर व्रजेश्वरका मन एक बार तो विषादसे भर जाता है—'आह! कहाँ ये सुकोमल अङ्ग और कहाँ यह डोरी, यह ऊखलका भार! व्रजेश्वरी! अविवेकसे तुम तो अंधी हो गयी।' पुत्रपर इस प्रकारका शासन किसने किया है, यह किसीसे पूछनेकी आवश्यकता व्रजेश्वरको नहीं है। उनके नेत्र छल-छल करने लगते हैं; किंतु

अभी अवसर दूसरा है, व्रजेश्वर अपने-आपको संवरण कर लेते हैं। वेदना छिपाकर हँसने लग जाते हैं तथा अविलम्ब बायें हाथके सहारे श्रीकृष्णचन्द्रको वक्षःस्थलसे सटाकर दाहिने हाथके द्वारा बन्धन खोल देते हैं—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ६)

श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह रहा है। बन्धनमोचनके अनन्तर नहीं, तभीसे जब कि व्रजेश्वर बन्धन खोलनेके उद्देश्यसे उनकी ओर चले थे। व्रजेश्वर उन्हें गोदमें उठाकर उनके अश्रुसिक्त मुखपर घन-घन चुम्बन अङ्कित करने लगते हैं। साथ ही उनका दुःखभार कम करनेके उद्देश्यसे सब कुछ जाननेपर भी अनजान बनकर सान्त्वनाके स्वरमें उनसे पूछते हैं—

पुत्र कुत्रत्यः स खलु खलबुद्धिर्येन
चोलूखले निर्बन्धजनितबन्धस्त्वमसीति।

'बेटा! वह दुष्टबुद्धि प्राणी कहाँ रहता है, जिसने इतने आग्रहसे तुम्हें बाँधा?'

पिताके इस लाड़को पाकर श्रीकृष्णचन्द्र खिल उठते हैं। धीरेसे उनके कानमें कह देते हैं—'बाबा! यह तो मैयाका ही काम है (तात! मातैवेति)।' किंतु बाबा युक्तिसे इस प्रसङ्गको बदल देते हैं। व्रजेश्वरको यह अनुमान है कि व्रजरानीके हृदयमें कितनी वेदना होगी। जिस क्षण व्रजेश्वरीकी प्राणशून्य-सी हुई दृष्टिके सामने महाराज नन्दने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने क्रोडमें धारण किया, उसी समय यशोदारानीमें अपने-आप चेतनाका संचार तो हो गया था; किंतु तुरंत दुःख एवं लज्जाके भारसे वे इतनी अधिक दब गयी थीं कि निकट जाकर पुत्रका मुख देखना तो दूर, सिर उठाकर उस ओर ताकनेकी क्षमता भी उनमें नहीं रही। विक्षिप्त-सी वे जहाँ थीं, वहीं बैठ गयीं। व्रजेश्वरने एक बार दृष्टि घुमाकर यशोदारानीकी ओर देख लिया था, वे सब कुछ समझ गये थे। उनके समीप जाना, पुत्रको सान्त्वना देनेके लिये, अपना दुःखभार हलका करनेके लिये उनकी भर्त्सना करना—यह तो व्रजेश्वरीके वात्सल्यपूरित चित्तको छन-छनकर बींध देना है। व्रजेश्वर-जैसे परम गम्भीर, नारायणचरणकिंकरके स्वभावको क्षोभ-प्रदर्शनका यह कठोर रूप छू ले, यह तो असम्भव है। इसीलिये उन्होंने इस प्रसङ्गको टाल दिया।

अपने पुत्रको गोदमें लिये व्रजेश श्रीयमुनातटपर जा पहुँचे। स्वयं स्नान कर श्रीकृष्णचन्द्रको स्नान कराया, ब्राह्मणोंके द्वारा स्वस्तिवाचन आदि करवाये। फिर उन्हें अमित स्वर्णभार अर्पितकर अगणित गोदान करवाये। अन्तमें पुत्रको सब विप्र एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे नहलाकर घर लौटे। घर आकर पूर्वाह्णभोजनकी व्यवस्थामें लगे।

आज परिवेषणसम्बन्धी समस्त कार्य रोहिणीजीने किये। व्रजेश्वरी तो एक कक्षमें अकेली बैठी आँसू ढाल रही हैं। संध्या होनेको आयी। व्रजेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामको साथ लिये गोष्ठमें चले गये। अबतक व्रजरानीने अन्नका कण क्या, जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं की है। गोष्ठसे लौटनेपर यह सूचना व्रजेश्वरको मिलती है। वे श्रीकृष्णचन्द्रसे पूछते हैं—

तात! स्वमातरं यास्यसि?

'मेरे लाल! क्या जननीके निकट जाओगे?'

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र रूठे स्वरमें बोले—

नहि नहि; किंतु त्वामेव समया समयान् गमयिष्यामि।

'नहीं; अब तो, बाबा! मैं तुम्हारे साथ ही रहकर समय बिताऊँगा।'

कुछ वृद्धा गोपियाँ हँसकर बोलीं—

स्तनं कस्य पास्यसि?

'किसके स्तनका दूध पीओगे?'

श्रीकृष्णचन्द्रने इस बार दोनों कपोलोंको फुलाकर कहा—

सितासम्भविष्णु धारोष्णं पयः पास्यामि।

'मिश्री मिला हुआ धारोष्ण गोदुग्ध पीऊँगा।'

गोपियाँ चिढ़ाती-सी बोलीं—

केन क्रीडिष्यसि?

'खेलोगे किसके साथ?'

श्रीकृष्णचन्द्रने व्रजेशकी ग्रीवामें अपनी नन्ही भुजाएँ डाल दीं और बोले—

तातेनैव समं तथा भ्रातरमपि गमयिष्यामि।

'बाबाके साथ ही। और—और दाऊ भैयाको भी साथ ले लूँगा।'

व्रजेशके होठोंपर मुसकान छा गयी। वे धीरेसे बोले—

भ्रातुर्मातरं कथं नानुगच्छसि?

मेरे लाल! दाऊ भैयाकी जननी रोहिणीजीके पास जानेमें क्या हानि है?

फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें रोष भर आता है। अस्वीकारकी मुद्रामें अपने मस्तकको संचालित करते हुए वे कह उठते हैं—

मां विहायेयमपीयायेति।

'ऊँ हूँ। यह भी मुझे छोड़कर चली गयी थी!'

श्रीकृष्णचन्द्रकी उक्ति सुनकर रोहिणी मैयाके नेत्रोंमें जल भर आता है। अञ्चलसे अश्रुमार्जन करती हुई वे धीरेसे बोलीं—'मेरे लाल! इतना कठोर तू क्यों हो गया? देख! तेरी माताको कितना दुःख हो रहा है।' किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने तो मानो इसे सुना ही नहीं, इस प्रकारकी मुद्रामें वे बाबाका मुख देखने लग जाते हैं। इस समय व्रजेश्वरके नेत्र छल-छल करने लगे हैं—

पुत्र! कथं कठोरायसे? माता तव दुःखायते।
कृष्णस्तदेतदश्रृण्वन्निव सास्त्रं पितृमुखमीक्षते स्म॥

यशोदारानीकी चर्चा करते हुए कुछ क्षण व्रजेश्वरने और लाड़ लड़ाया। श्रीकृष्णचन्द्र उतने क्षणोंमें ही अपने बन्धन-दुःखको, जननीकृत अपमानको भूलने लगे। इतना ही नहीं, उनके नेत्र सजल हो गये। दूसरे ही क्षण मैयाकी अनुपस्थिति असह्य हो गयी। न जाने कितनी बातें एक साथ उनके मनमें आ जाती हैं। श्रीरोहिणी समीप ही खड़ी हैं, श्रीकृष्णचन्द्र शङ्कित होकर उनकी गोदमें चढ़ जाते हैं, 'री छोटी मैया! मेरी मैया कहाँ है? उसके पास ले चलो।' यही बार-बार व्याकुल कण्ठसे पुकारने लगते हैं—

कुत्र मे माता तत्र गम्यतामिति सशङ्कं रोहिण्यङ्कं गतवान्।

श्रीरोहिणी तुरंत यशोदारानीके पास चली आती हैं। नीलमणि अपनी जननीके पास आ गये। पर जननीने तब जाना जब नीलमणिने उनकी ग्रीवाको अपनी भुजाओंमें वेष्टित कर लिया, उनके कण्ठहार बन गये।

जननीका चिबुक श्रीकृष्णचन्द्रके मस्तकका स्पर्श कर रहा है। जननीके अश्रुपूरित कण्ठसे अपने वत्सको लालन करती हुई गौके 'घों-घों' रव-जैसी ध्वनि हो रही है। नेत्रोंसे जलकी झड़ी लग रही है, उनका विगलित हृदय ही अश्रु बनकर बाहरकी ओर बह चला है। आह! व्रजेश्वरीका यह प्रेमिल भाव सबको रुला देता है; जितनी गोपसुन्दरियाँ खड़ी हैं, सबके नेत्र बरसने लगते हैं—

वत्समूर्ध्नि चिबुकं दधती सा धेनुवद्घलितघर्घरशब्दा।
रोदनप्रथनया द्रवदात्मारोदयत् परिकरानपि सर्वान्॥

आकाशमें नक्षत्रपंक्ति आ विराजी है। नीलमणिकी व्यारूका समय हो चुका है। मैया थाल सजाने उठ पड़ती हैं। क्षणोंमें वे स्वर्णथालको विविध पक्वान्नसे पूर्णकर अपने नीलमणिके सामने रख देती हैं, नीलमणि भोजन आरम्भ करते हैं—

आरोगत हैं श्रीगोपाल।
षटरस सौंज बनाइ जसोदा, रचि कै कंचन-थाल॥
करति बयारि, निहारति हरि-मुख, चंचल नैन बिसाल।
जो भावै, सो माँगि लेहु तुम, माधुरि मधुर रसाल॥
जे दरसन सनकादिक दुर्लभ, ते देखतिं ब्रज-बाल।
सूरदास प्रभु कहति जसोदा, चिरजीवौ नँद-लाल॥

क्रीड़ा-निमग्न बलराम-श्रीकृष्णको माताका यमुना-तटसे बुलाकर लाना और स्नानादिके अनन्तर उनका नन्दरायजीकी गोदमें बैठकर भोजन करना; आँखमिचौनी-लीला

व्रजरानीकी सरस शिक्षा, अपने नीलमणिको स्तन्य-पानसे विरत करनेका प्रेमिल प्रयास श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर स्मितका संचार कर देता है। वे और भी उल्लासमें भरकर जननीके वक्षःस्थलका अञ्चल खींचते हुए उसमें अपना मुखचन्द्र छिपा लेते हैं। मैया उन्हें रोकनेकी-सी बाह्य चेष्टा करती हुई कहती हैं—

जसुमति कान्हहि यहै सिखावति।
सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, कहि स्तन-पान छुड़ावति॥
ब्रज-लरिका तोहि पीवत देखत, हँसत, लाज नहिं आवति।
जैहैं बिगरि दाँत ये आछे, तातैं कहि समुझावति॥
अजहूँ छाड़ि, कह्यौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति।
सूर स्याम यह सुनि मुसुक्याने, अंचल मुखहि लुकावत॥

इतनेमें सुबल, श्रीदाम, उज्ज्वल, वसन्त, कोकिल आदि सखा प्राङ्गणमें प्रवेश करते हैं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र जननीके अङ्कमें रह सकें, यह सम्भव कहाँ। वे तत्क्षण गोदसे उतरकर भाग छूटते हैं। श्यामल श्रीअङ्गोंका त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य प्राङ्गणको उद्भासित करने लगता है। उस आलोकमें जननीके नेत्र तो निस्पन्द हो ही गये, अन्तरिक्षमें अवस्थित अमरवृन्द भी विथकित रह जाते हैं—

अजिर पद-प्रतिबिंब राजत, चलत उपमा-पुंज।
प्रति चरन मनु हेम बसुधा देति आसन कंज॥
सूर प्रभुकी निरखि सोभा रहे सुर अवलोकि।
सरद चंद चकोर मानौ, रहे थकित बिलोकि॥

दौड़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र तपनतनयाके तीरपर जा पहुँचते हैं और वहाँ विविध विचित्र क्रीडाओंमें संलग्न हो जाते हैं। आज इन्हें अग्रज बलरामका सहयोग प्राप्त है, अन्यथा गत कई दिनोंसे दोनों भाई परस्पर खेलते-खेलते प्रतिदिन ही लड़ लेते थे। एक दिन तो श्रीकृष्णचन्द्र अग्रजसे इतना रूठ गये कि खेल छोड़कर व्रजेश्वरीके पास जा पहुँचे और दाऊ भैयाकी सारी करतूत उन्होंने मैयाको सुना दी—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ?
कहा करौं, इहि रिस के मारें खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल-गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात॥
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।

जननीने जब गोधनकी शपथ लेकर सान्त्वना दी, तब कहीं जाकर श्रीकृष्णचन्द्र शान्त हुए, खेलमें पुनः जानेके लिये प्रस्तुत हुए—

मोहन-मुख रिस की ये बातैं जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूरस्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत॥

कल भी दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रको डरा दिया। वे भयसे थर-थर काँपते हुए घर भागे, सीधे रोहिणी मैयाके पास गये एवं दाऊ भैयाकी इस कठोर चेष्टाकी खूब निन्दा की—

देख री, रोहिणी मैया! कैसे हैं बलदाऊ भैया,
यमुना के तीर मोहि झुझुवा बतायौ।
सुबल-श्रीदामा साथ, हँस-हँस बूझत बात,
आप डरपे और मोहि डरपायौ॥
जहँ-जहँ बोलैं मोर, चितै रहत ताही ओर,
भाजौ रे भाजौ रे भैया, वह देखौ आयौ।
आप गए तरु चढ़, मोहि छाड़्यौ वाहि तर,
धर-धर छाती करै, दौर्‍यौ घर आयौ॥

सब बातें सुनकर रोहिणी मैयाने नीलमणिको कण्ठसे लगा लिया। फिर ब्राह्मणको बुलाकर विधिपूर्वक नीलमणिके ही हाथोंसे गोदान करवाया। तब नीलमणिको शान्ति मिली—

उछंग सौं लिये लगाय, कंठ सौं रहे लपटाय,
वारी रे वारी, मेरौ हियौ भरि आयौ।
परमानंद रानी द्विज बुलाय, बेद-मंत्र पढ़ाय,
बछिया कौं पूँछ गहि हाथहि दिवायौ॥

किंतु आज दोनों भाइयोंमें कोई झगड़ा नहीं। अतिशय प्रेमपूर्वक परस्पर एक-दूसरेका पक्ष समर्थन करते हुए दोनों क्रीडामें तन्मय हो रहे हैं। भुवनभास्कर क्रमशः ऊपर उठते हुए आकाशके मध्यमें आ गये, पर राम-श्यामकी क्रीडाका विराम नहीं हुआ। आज बलराम एक-से-एक बढ़कर सुन्दर खेलकी योजना रखते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं अन्य गोपशिशु उसीके अनुसार खेलने लगते हैं। घर लौटनेका समय तो कबका समाप्त हो चुका है। पर यह स्मरण किसे है? आज तो श्रीकृष्णचन्द्रकी ही प्रत्येक बार विजय होती है। इस विजयोल्लासमें वे अन्य सब कुछ भूल गये हैं। इसी समय व्रजेश्वरीसे प्रेरित होकर रोहिणी मैया वहाँ आ पहुँचती हैं। बड़ी देरतक प्रतीक्षाके अनन्तर भी जब राम-श्याम घर नहीं पहुँचे, तब मैयाने अतिकाल होते देखकर श्रीरोहिणीको बुलाने भेजा है। अर्जुन वृक्षकी घटनाके अनन्तर मैयाको यह शङ्का लगी ही रहती है कि क्या पता कहीं फिर कोई वृक्ष न टूट पड़े। तनिक भी देर होते ही वे श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं। आज ब्राह्मण-भोजनकी व्यवस्थामें लगी थीं। भूदेवोंकी सेवा छोड़कर आना सम्भव नहीं था, इसलिये श्रीरोहिणीको भेजा है। वे आकर देखती हैं—सभी गोपशिशु क्रीडामें उन्मत्त हैं, राम-श्याम उनके साथ दौड़ रहे हैं। बलराम-जननीके लिये यह सम्भव नहीं कि वे पुत्रोंके समीप जा सकें; क्योंकि उनके पहुँचते-न-पहुँचते सभी शिशु उनसे विपरीत दिशामें दौड़ पड़ते हैं। अतः रोहिणी मैया श्रीकृष्ण एवं बलरामका नाम ले-लेकर पुकारने लगती है—

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत्।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १२)

किंतु उत्तर कौन दे? श्रीरोहिणीकी पुकार भी उनतक पहुँचे तब तो, उस आनन्दकोलाहलसे तीर मुखरित है, समस्त उपवन निनादित हो रहा है। अब मैयाके मृदु कण्ठसे निकली ध्वनिमें—पुकारमें इतनी शक्ति कहाँ जो उसे भेदकर राम-श्यामका ध्यान आकर्षित कर सके। वे पुकारती-पुकारती थक गयीं, पर एक बारके लिये भी कोई उत्तर नहीं मिला। न मैया उनके पासतक पहुँच सकीं न वे उनके पास आये। खेलके आवेशमें भूले हुए दोनोंने रोहिणी मैयाकी ओर देखातक नहीं। निरुपाय होकर बलरामजननी लौट गयीं। घर आकर व्रजेश्वरीको ही बुलाने भेजा—

नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १३)

व्रजेश्वरीने आकर देखा मानो एक नीलोत्पल अपने ही परागसे सन गया हो, इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्ग धूलिसे भरे हैं। मनोहर बाल्यभङ्गिमाका प्रकाश करते हुए वे बलराम एवं गोपशिशुओंके साथ खेल रहे हैं। मैयाका वात्सल्य उमड़ पड़ता है। स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती है, अञ्चल भीग जाता है। गद्गद कण्ठसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको बारंबार पुकारने लगती हैं—

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम्।
यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १४)

श्रीकृष्णचन्द्रके पास उनकी पुकार पहुँच रही है या नहीं, इसकी चिन्ता किये बिना ही वे कहती जा रही हैं—

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १५)

'मेरे लाल! अरे कृष्ण! कमलनयन! बेटा! सुन

तो सही, अरे शीघ्र आ जा! देख! मैं तुझे स्तन पिलाने आयी हूँ, तू स्तन्यपान तो कर ले। बहुत खेल चुका, अब खेल रहने दे। अरे तुझे भूख जो लग रही है। देख! खेलते-खेलते तू कितना थक गया है। अब आ जा!'

किंतु श्रीरोहिणीकी भाँति व्रजेश्वरीको भी इस आह्वानका कोई उत्तर नहीं मिलता। कुछ क्षण वे शान्त खड़ी रहती हैं, फिर बलराम एवं गोपशिशुओंको पुकारती हैं—

हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १६-१७)

'अरे! राम! कुलदीपक! तू आ जा, बेटा! और साथमें नीलमणिको भी ले चल। अरे देख, प्रातःकाल तूने कलेऊ किया था, तबसे कुछ नहीं खाया; क्या तुझे भूख नहीं लगी? अवश्य लगी है, अब तो शीघ्र-से-शीघ्र भोजन करना चाहिये! यदुकुलभूषण! तू बात मान ले बेटा! देख, व्रजेश्वर भोजनपर बैठे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आ जा, हमलोगोंको भी तो सुख-दान कर। और गोपबालको! सुनते हो, तुम सब भी अपने-अपने घर चले जाओ।'

इससे पूर्व न जाने कितनी बार व्रजेश्वरी राम-श्यामकी क्रीडा स्थगित कर अपने साथ भोजनके लिये घर ले गयी हैं तथा उन-उन अवसरोंपर श्रीकृष्णचन्द्र न सुनें, राम भी अनसुनी कर दें, पर गोपशिशु व्रजेश्वरीकी बात सुन लेते थे। वे खेलना छोड़ देते थे। फिर राम-श्याम किसके साथ खेलें? किंतु आज तो वे सब भी क्रीडामत्त हो रहे हैं। व्रजेश्वरी आयी हैं, यह भी उन्हें भान नहीं। अतः हारकर मैया पुनः श्रीकृष्णचन्द्रका ही आह्वान करने लगती हैं—

नंद बुलावत हैं गोपाल।
आवहु बेगि बलैया लेउँ हौं, सुंदर नैन बिसाल॥
परस्यौ थार धर्‌यौ मग जोवत, बोलति बचन रसाल।
भात सिरात, तात दुख पावत, बेगि चलौ, मेरे लाल॥

श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान आकर्षित करनेके लिये आज यशोदारानीने न जाने कितनी युक्तियोंका आश्रय लिया—

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलङ्कृतान्।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। १८-१९)

'अरे श्रीकृष्ण! छिः छिः! देख, तेरे समस्त अङ्ग धूलिधूसरित हो रहे हैं। नहीं नहीं! अब मेरे साथ चल, शीघ्र स्नान कर ले और आज तो तेरा जन्म-नक्षत्र है, स्नान आदि करके पवित्र होकर ब्राह्मणोंको गोदान कर। अरे! इधर देख, अभी-अभी यहाँ आये हुए इन गोपशिशुओंकी ओर तो देख। इनकी माताओंने इन्हें स्नान कराया है, भूषणोंसे यथावत् अलङ्कृत किया है। ये कितने सुन्दर लगते हैं! तू भी स्नान कर ले तथा फिर भूषणोंसे भलीभाँति विभूषित होकर भोजन कर ले। इसके अनन्तर यथेच्छ खेल खेलना।'

इस प्रकार नीलमणिकी जननी बहुत कुछ कह गयीं; किंतु कोई परिणाम न निकला। श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीडा ज्यों-की-त्यों चलती रहती है। अब अन्तिम उपाय जो सम्भव है, जननी वही करने चलीं, वे अपने नीलमणिके पीछे-पीछे दौड़ने लगती हैं। संयोगसे सुबल दौड़ता हुआ उसी ओर मुड़ता है, जिधरसे जननी आ रही हैं। जननी हाथ बढ़ाकर सुबलको ही पकड़ लेती हैं। उसे पकड़ते ही श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आ पहुँचते हैं तथा सुबलकी पीठपर हँस-हँसकर मुक्की लगाने लगते हैं; नीलमणिको इतना समीप देखकर मैया सुबलको छोड़कर उनकी भुजा पकड़ लेती हैं। अब बलराम अपने-आप ही आकर जननीके कटिदेशसे लिपट जाते हैं। दोनोंके मुखारविन्दपर प्रस्वेदकण झल-झल कर रहे हैं, जननी अपने आँचलसे क्रमशः दोनोंका मुख पोंछने लगती हैं।

सघन तमालकी छायामें कुछ क्षण विश्रामकर व्रजेश्वरी राम-श्यामका हाथ पकड़े भवनकी ओर चल पड़ती हैं। कुछ दूर चलनेके अनन्तर श्रीकृष्ण एवं बलराम जननीके हाथोंसे अपनेको मुक्त कर लेते हैं। मैया बाधा भी नहीं देतीं, अपितु नीलमणिको अत्यन्त मन्द गतिसे चलते देखकर 'जो पहले पहुँचे, वह राजा!' यों कहकर उत्साहित करने लगती हैं—

हौं वारी, नान्हे पाइनि की दौरि दिखावहु चाल।
छाडि देहु तुम लाल! अटपटी यह गति मंद मराल॥
सो राजा जो अगमन पहुँचै, सूर सु भवन उताल।
जौ जैहैं बलदेव पहिलैंही, तौ हँसिहैं सब ग्वाल॥

इस भाँति सर्वलोकपूज्य परम महेश्वर स्वयं भगवान् आनन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्रको लाड़ लड़ाती हुई व्रजरानी चली जा रही हैं। अपने नीलमणिके अनन्त ऐश्वर्यकी ओर मैयाका ध्यान स्वप्नमें भी नहीं जाता। मैया सदा यही अनुभव करती हैं कि नीलमणि उनके गर्भ-जात पुत्र हैं। विशुद्ध वात्सल्यकी धारा उनके चित्तको निरन्तर सिक्त किये रहती है। इसीका यह परिणाम है—अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र ध्यानमें क्षणभरके लिये भी जिनका स्पर्श पानेके लिये सदा लालायित रहते हैं, उन आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रको वे हाथ पकड़कर लिये जा रही हैं, इच्छानुसार उन्हें मुक्त कर देती हैं और फिर, 'कहीं चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्र खेलनेके लिये उपवनकी ओर ही भाग न जायँ, भवन न जायँ' इस भयसे पुनः पकड़ लेती हैं। जो हो, भवन निकट ही है और वे राम-श्यामको लिये आ पहुँचती हैं, आकर उनके स्नान-भोजन आदिकी व्यवस्थामें लगती हैं—

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २०)

तेल, उबटन, स्नान, अङ्गमार्जन, परिधान, अलङ्कारसे सुसज्जितकर व्रजेश्वरी राम-श्यामको व्रजेन्द्रके समीप भोजनालयमें ले जाती हैं। पुत्रोंको आया देखकर उनके स्मितसमन्वित मुखारविन्दके दर्शनमात्रसे अतिशय प्रमुदितचित्त हुए व्रजराज उन्हें अपनी गोदमें बैठा लेते हैं—

उपसन्नयोश्च तयोः प्रमुदितमना मनाक् स्मित-पूर्वमवेक्ष्य वदनं निजमङ्कमारोपयामास व्रजराजः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र भोजन करते हैं—

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छबि निरखति नँदरनिया॥
बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिनि, ब्यंजन बिबिध, अगनिया।
डारत, खात, लेत अपनें कर, रुचि मानत दधि-दोनियाँ॥
मिस्त्री, दधि, माखन मिस्त्रित करि, मुख नावत छबि धनिया।
आपुन खात, नंद-मुख नावत, सो छबि कहत न बनिया॥
जो रस नंद-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनिया।
भोजन करि नँद अचमन लीन्हौ, माँगत सूर जुठनिया॥

यमलार्जुन-पतनके दिनसे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिदिनकी दिनचर्या प्रायः यही है। व्रजेश्वरीकी ओरसे श्रीकृष्णचन्द्रको अनुशासनका अब कोई भय नहीं रहा; क्योंकि मैयाने अपने शासनका इतना अनिष्ट परिणाम (वृक्षपतनकी दुर्घटना) देखकर यह निश्चय कर लिया है—'नीलमणिको किसी भी निमित्तसे मैं अब नहीं डाँटूँगी, यथासम्भव उसे उन्मुक्त क्रीडा करने दूँगी।' अतः श्रीकृष्णचन्द्र कलेऊ समाप्त होते ही प्रतिदिन यमुनातीरके उपवनमें खेलने चले जाते हैं। परंतु विलम्ब होते ही स्नेहपरवशा जननी ढूँढ़ने भी जाती ही हैं; तथा किसी दिन ढूँढ़नेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रको जब नहीं पातीं तो प्रेमातिरेकवश विक्षिप्त-सी होकर उच्च स्वरसे प्रलाप-सा करने लगती हैं। अवश्य ही जननीका यह प्रेमोन्माद आरम्भ होते ही श्रीकृष्णचन्द्रके कानोंमें भी जननीकी पुकार चली ही जाती है और वे दौड़ते हुए आकर जननीके कण्ठसे लग जाते हैं—

कोउ, माई! बोलि लेहु गोपालहि।
मैं अपने कौ पंथ निहारति, खेलत बेर भई नँदलालहि॥
टेरत बड़ी बार भइ मोकौं, नहिं पावति घनस्याम तमालहि।
सिध जेंवत सिरात, नँद बैठे, ल्यावहु बोलि कान्ह ततकालहि॥

भोजन करै नंद सँग मिलि कै, भूख लगी ह्वैहै मेरे बालहि।
सूर स्याम-मग जोवति जननी, आइ गए सुनि बचन रसालहि॥

मध्याह्नके समय भी प्रतिदिन ही न्यूनाधिक अन्तरसे व्रजेश्वर एवं राम-श्यामके भोजनकी यह अभिनव झाँकी निहार-निहारकर पुरसुन्दरियाँ अपने नेत्र शीतल करती हैं—

धूसर धूरि अंग लपटाने, आनि नंद कहि दीन्हे।
झार धूरि सम्हारत अलकैं, बदन चूमि तहँ लीन्हे॥
उठि-उठि चलत न बैठत लालन, पितु पोंछैं-पुचकारैं।
षट-रस निरस लगत तिन कौं, सब खेल हिये में धारैं॥
सिसु खेलन कौ सोर सुनत प्रभु नजरि बरकि उठि धावैं।
टेरे नंद प्रीति के बाँधे लगे द्वार लौं आवैं॥
मिलत जाहिं बालक बृंदनि में जुगल बंधु अति प्यारे।
नर-नारिन के लगे रहत मन, छिनभर होत न न्यारे॥
जो परब्रह्म अलख, अबिनासी, घट-घट ब्यापक जो है।
निज माया करि सबहिं रमावतु, वाहि रमावतु को है॥

किंतु आज मध्याह्न-भोजनके अनन्तर भी व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको भवनमें ही रोक रखनेमें सफल हो जाती हैं। मैयाने आँखमिचौनी खेलनेका प्रस्ताव जो कर दिया। इतना ही नहीं, समस्त गृहकार्यको छोड़कर वे स्वयं नीलमणिके नेत्र मूँदनेके लिये प्रस्तुत हुई हैं—

बोलि लेहु हलधर भैया कौं।
मेरे आगें खेल करौं कछु, सुख दीजै मैया कौं॥
मैं मूँदौं हरि आँखि तुम्हारी, बालक रहैं लुकाई।
हरषि स्याम सब सखा बुलाए, खेलन आँखि मुँदाई॥
हलधर कह्यौ—आँखि को मूँदै; हरि कह्यौ—मातु जसोदा।
सूर स्याम लए जननि खिलावति, हरष सहित मन मोदा॥

आजकी आँखमिचौनीमें प्रथम विजय श्रीकृष्णचन्द्रको ही प्राप्त होती है—

हरि तब अपनी आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छपाने, जहँ-तहँ गए भगाई॥
कान लागि कह्यौ जननि जसोदा, वा घर में बलराम।
बलदाऊ कौं आवन दैहौं, श्रीदामा सौं काम॥
दौरि-दौरि बालक सब आवत, छुवत महरि कौ गात।
सब आए, रहे सुबल-श्रीदामा, हारे अब कें तात॥
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यौ श्रीदामा जाइ।
दै-दै सौहैं नंद-बबा की, जननी पै लै आइ॥
हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहति जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर॥

व्रजेश्वरीको आज नीलमणिने, रामने, अन्य गोप-शिशुओंने ऐसे-ऐसे नये-नये खेल दिखलाये कि मैया आनन्दमुग्ध हो गयीं। आदिसे अन्ततक निर्णयकर्त्री मैया ही बनी और इसीलिये सबमें विजयश्री नीलमणिको ही मिली। नीलमणि परमानन्दमें निमग्न होकर मैयाके कण्ठमें झूलने लगते हैं। अंशुमाली अस्ताचलमें चले गये, तब कहीं इस आनन्दक्रीडाका अवसान हुआ। अब मैया नीलमणिको, रामको एवं अन्य समस्त गोपशिशुओंको ब्यारू कराती हैं। तदनन्तर गोप-सुन्दरियाँ अपने-अपने पुत्रोंको घर ले जाती हैं और श्रीकृष्णचन्द्र आज वहीं प्राङ्गणमें ही निद्रित हो जाते हैं—

आँगन में हरि सोइ गए री।
दोउ जननी मिलि कै हरुऐं करि, सेज सहित तब भवन लए री॥
नैकु नहीं घर में बैठत हैं, खेलहिं के अब रंग रए री।
इहिं बिधि स्याम कबहुँ नहिं सोए, बहुत नींद के बसहिं भये री॥
कहति रोहिनी—सोवन देहु न, खेलत-दौरत हारि गए री।
सूरदास प्रभु कौ मुख निरखत हरषत जिय नित नेह नए री॥

उपनन्दजीके प्रस्तावपर, आये दिन व्रजमें होनेवाले उपद्रवोंके भयसे सम्पूर्ण व्रजवासियोंकी गोकुल छोड़कर यमुनाजीके उस पार वृन्दावन जानेकी तैयारी

स्वर्णथालमें दीप सजाये व्रजेश्वरी तुलसीकाननकी ओर जा रही हैं। उनके उत्तरीय (ओढ़नी)-को दक्षिण करपल्लवमें धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र पीछे-पीछे चल रहे हैं; किंतु वे देख रहे हैं अभी कुछ क्षण पहले वनसे लौटी हुइ गायोंकी ओर, हुमक-हुमककर दुग्धपान करनेवाले गोवत्सोंकी ओर। गायोंके पार्श्वदेशमें वयस्क आभीर गोरक्षक खड़े हैं, उनके हाथोंमें लगुड़ सुशोभित हैं। वे इस प्रतीक्षामें हैं कि गोवत्स जब दुग्धपानसे तृप्त हो लें, तब उन्हें यथास्थान पहुँचा दें। यही दृश्य आज श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयमें सहसा एक अभिनव भावका उन्मेष कर देता है। वे सोचने लगते हैं—कदाचित् मैं भी गोचारणके लिये वन जाता, फिर संध्या होती और उस समय वनसे लौटकर ऐसे ही गो-संरक्षण करता।

जो रसस्वरूप हैं, जिन रस-सागरकी एक बूँद रससे अगणित विश्व-प्रपञ्चमें रसका संचार होता रहता है, जिनकी रसकणिका पाकर विश्वके प्राणी आनन्दका अनुभव करते हैं—

रसो वै सः। रस१ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

—वे आनन्दकन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आये ही हैं व्रजपुरमें रसपान जो करने! व्रजदम्पतिके क्रोड़में, नन्दप्राङ्गणमें, व्रजपुरकी वीथियोंमें, गोपसुन्दरियोंके गृहोंमें, गोकुलके उपवनमें रसकी सरिता बहाकर वे बाल्यरसका आस्वादन तो कर चुके। अब पौगण्ड-रसपानकी वासना उनमें उदय हुई है। बस, यह इच्छामात्र ही अपेक्षित थी, अन्यथा उनकी अचिन्त्य लीला-महाशक्ति तो समस्त संघटन प्रस्तुत कर बहुत देरसे प्रतीक्षा कर रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी अनादि अनन्त लीला प्रपञ्चमें युग-युगोंसे प्रकट भी तो इसी क्रमसे होती है—बाल्यलीला गोकुलमें, पौगण्ड-कैशोर वृन्दारण्यमें। इसीका उपक्रम होने चला।

क्षण भी न लगा, बृहद्वनसे वृन्दावन जानेकी योजना लीलाशक्तिने व्रजेश्वरके राज्यमन्त्री, ज्येष्ठ भ्राता उपनन्दके अन्तस्तलमें स्फुरित कर दी। आज गोपेश्वरने राज्यमन्त्रणाके लिये व्रजपुरके सभी प्रमुख वृद्ध वयस्क गोपोंको निमन्त्रित किया है। उसीमें योगदान करने श्रीउपनन्द जा रहे हैं—उसी पथसे, जिसमें वह तुलसीकानन है और श्रीकृष्णचन्द्र अपनी जननीके पास खड़े प्रदीपपंक्तिकी शोभा निहार रहे हैं। दृष्टि पड़ते ही उपनन्दके मनोराज्यमें स्पन्द आरम्भ होता है और वे मन-ही-मन तुरंत एक नया प्रस्ताव स्थिर कर लेते हैं। आज ही नहीं, जिस दिन पूतना आयी थी, उसी दिन उन्होंने निश्चय कर लिया था कि अब बृहद्वनका परित्याग करना ही होगा। तबसे वे प्रायः प्रतिदिन ही सुदूर वनप्रान्तरमें भ्रमण करते। भ्रमणका एक ही उद्देश्य होता—सम्पूर्ण नन्दव्रज बृहद्वनसे उठकर कहीं अन्यत्र बस जाता, इसके उपयुक्त स्थान ढूँढ़ना। कल उनका अन्वेषण पूर्ण हो चुका था। वृन्दावनका, गिरिराजके विशाल भूभागका, उसके कोने-कोनेका पर्यवेक्षण करके वे इस निश्चयपर पहुँच गये थे कि सभी दृष्टियोंसे परम सुखमय स्थान वही है तथा अधिक दूर भी नहीं है। अवश्य ही अबसे चार प्रहर पूर्व उनका निश्चय यह था कि किसी अन्य अवसरपर कुछ विलम्ब करके ही वे इसकी सूचना

सबको देंगे, ग्रीष्म आनेतक वे इस योजनाको कार्यान्वित न करेंगे; किंतु पथमें वहाँ नन्दनन्दनको देखते ही सहसा उनके विचार बदल जाते हैं तथा आजकी सभाका मुख्य उद्देश्य उनके लिये तो, बस, वृन्दावनगमन ही हो जाता है। इस उद्देश्यको लिये ही वे सभामञ्चपर आ विराजते हैं। बृहद्वन परित्याग करनेकी प्रेरणा तो अभिनन्द, सन्नन्द आदि व्रजेशके सहोदर भ्राताओंको भी मिल चुकी थी। अवश्य ही वे लोग स्थानका निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि ऐसा सुखद स्थान कौन-सा हो, जहाँ व्रज बस सके। इसलिये वे सर्वथा मौन थे। पर आज वे लोग भी उसी पथसे आये। यशोदानन्दनको उन सबने भी देखा। उन सबके मनमें भी आज अपने विचार प्रकट कर देनेकी प्रबल प्रेरणा हुई। वे यह तो जान नहीं पाये कि यशोदाका वह मरकतश्याम शिशु ही उनके अन्तस्तलमें अन्तर्यामी बनकर अनादिकालसे उनका नियन्त्रण कर रहा है, यह प्रेरणा भी उसकी ही है। पर आज वे भी मन-ही-मन कटिबद्ध हो गये कि इस विचारको व्रजेशपर अविलम्ब प्रकट कर ही देना है। राज्यसभामें आते ही अपने मनोभाव उन्होंने उपनन्दको तो बता ही दिये। उनका पूरा समर्थन भी उन्हें तत्क्षण मिल गया तथा नित्य-नियम समाप्तकर श्रीकृष्ण-बलरामको अङ्कमें धारण किये व्रजराज ज्यों ही आकर अपने आसनपर विराजे कि उपनन्द आदि सभी भाइयोंने वह प्रस्ताव उनके एवं अन्य समस्त मान्य वयोवृद्ध गोपोंके सम्मुख रख दिया—

अथ कदाचिदपि तेनैवान्तर्यामिणा प्रेर्यमाणान्तः-करणैरुपनन्दसन्नन्दादिभिः स्थविराभीरमुख्यः सरभसमास्थानीमास्थानीतमानसतया समास्थाय व्रजराजं सादरमूचे।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीउपनन्दके प्रति सबके मनमें सम्मान है। आयुमें वे सबसे बड़े हैं। उनके अगाध ज्ञानकी समता व्रजमें कोई कर नहीं सकता। कहाँ, कब, कैसे, क्या करना है—इसके लिये निर्भ्रान्त सम्मति एकमात्र उनकी ही होती है। श्रीकृष्ण-बलरामका शुभचिन्तक उनसे बड़ा और कौन होगा? इसलिये ही अपने भाइयोंका संकेत पाकर सबसे पहले वे ही बोले—

तत्रोपनन्दनामाऽऽह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः।
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २२)

वक्तव्य आरम्भ करनेसे पूर्व उपनन्दकी दृष्टि व्रजेशके अङ्कमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रसे जा लगती है। फिर तो वह नीलोत्पल छवि उपनन्दके अन्तस्तलमें प्रविष्ट हो जाती है। उनके नेत्र निमीलित हो जाते हैं, मानो प्राणोंने कपाट रुद्ध कर लिये—कहीं वह सौन्दर्य-निधि कोई उठा न ले जाय। अर्द्धसमाधिकी-सी दशामें बृहद्वनकी परिस्थितिपर, अपने इस पैतृक आवासके त्यागके हेतुओंपर तथा वृन्दावनकी विविध सुविधाओंपर उपनन्द विशद विवेचन कर जाते हैं। उनकी वक्तृताका सारांश यह है—'अब बृहद्वनमें रहना अत्यन्त भयावह है। शत्रुओंको हमारी गति-विधिका पूरा ज्ञान हो गया है। यहाँ हम जितने एकत्र हैं, सभीके लिये गोकुल अपना है, व्रजेश्वरके ये दोनों पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम हम सबके जीवनाधार हैं। यदि इनका जीवन सुरक्षित है तो हम सभी जीवित हैं। यदि ये दोनों शिशु नहीं रहे तो व्रजका एक भी प्राणी जीवित नहीं रहेगा। अतः हम जो भी गोकुलके हितैषी हैं, उन सबको, गोकुलका मङ्गल अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये ही यहाँसे अविलम्ब प्रस्थान कर देना चाहिये। अपना आवास कहीं अन्यत्र बनाना चाहिये। यहाँ एकके पश्चात् एक विपत्ति आती ही रहती है और जो भी आती है, वह आती है इन दो शिशुओंके अनिष्टका हेतु बनकर ही। हम सबकी अपनी संतति तो इनके साथ ही रहती है; इनके अनिष्टका अर्थ है हम गोपोंकी समस्त संततिका मूलोच्छेद। हम सब बड़ी गम्भीरतासे विचार करें—बालनाशिनी पूतना आयी, किसी प्रकार उस राक्षसीसे नन्दनन्दनकी रक्षा हुई। यह निश्चय श्रीहरिकी अपार अनुकम्पा ही थी

कि वह विशाल शकट इस शिशुपर न गिरकर अलग गिरा। फिर वह तृणावर्त दैत्य आया, सुकुमार नन्दनन्दनको पहले तो अत्यन्त ऊपरके आकाशमें उड़ा ले गया। अनन्तर अपने ही कर्मविपाकसे वह शिलापर गिरकर चूर-चूर हो गया। वहाँ भी लोकपालोंने, नहीं-नहीं श्रीनारायणके पार्षदोंने ही इसकी रक्षा की; अन्यथा इसके जीवनकी कोई आशा किसीको नहीं रही थी। इतने प्रकाण्ड वे युग्म अर्जुन-वृक्ष गिरे, उनके बीचमें यह शिशु आ गया, हम सबके बालक भी वहीं थे; पर पुनः नन्दरायके पुत्रकी रक्षा हो गयी, अन्य बालकोंको भी कोई क्षत न लगा। यह भी एकमात्र अच्युत श्रीहरिके द्वारा की हुई रक्षा है। मानव-सामर्थ्यसे परे है कि अर्जुन-तरुओंके धराशायी होनेपर उनके नीचे हमारे शिशुओंकी रक्षा कोई कर ले। अतः भविष्यमें अब कोई असुरकृत अनिष्ट व्रजको ध्वंस न कर दे, इससे पूर्व ही हम सभी श्रीकृष्ण-बलरामको, अपने-अपने बच्चोंको, मित्र, कलत्र, गोधन, अनुचर आदिको लेकर यहाँसे अन्यत्र चले जायँ। कहाँ जायँ, इस सम्बन्धमें भी मैंने पूर्ण विचार कर लिया है। कई मासके अनवरत परिश्रमके पश्चात् मैंने यह निर्णय किया है कि हम सभी वृन्दावन चले जायँ। हम गोपोंके लिये प्रथम सुविधा तो गायोंके सम्बन्धमें देखनेकी है और वह वन सुकोमल तृणपर्णसे निरन्तर पूरित रहकर पशुओंके लिये तो सर्वथा हितकर है। नव-नव वृक्षोंसे, तरुमण्डित अगणित उपवनोंसे वृन्दावन नित्य हरित-श्याम बना रहता है। नैसर्गिक विस्तृत भूभाग स्थान-स्थानपर इस भाँति बने हैं कि हम असंख्य गोप-गोपियाँ, हमारा गोधन—सबको यथेष्ट आश्रय मिल सकता है। वह वन मनोरम पर्वत-श्रेणियोंसे विभूषित है; तृणलतादिमण्डित वृन्दाकाननकी शोभा देखने ही योग्य है। मेरी तो यह इच्छा है कि हमलोग आज ही चले चलें, शकट (छकड़े) अभी प्रस्तुत हो जायँ, अविलम्ब गोधन आगे भेज दिया जाय। अवश्य ही यह मेरा प्रस्तावमात्र है, आप सभी विचार लें। आप सबको यदि मेरी योजना रुचिकर प्रतीत हो, तभी ऐसा हो।'

उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः।
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः॥
मुक्तः कथंचिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ।
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत्॥
चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत्।
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः॥
यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः।
असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम्॥
यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः।
तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥
वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम्॥
तत्तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त माचिरम्।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। २३—२९)

—कहकर उपनन्दने आसन ग्रहण किया। समस्त सभासद् गोपोंमें उनकी वक्तृता परम उल्लास भर देती है। 'साधु-साधु' की तुमुल ध्वनिसे सभास्थल मुखरित होने लगता है। केवल व्रजेश्वर अभी भी किञ्चित् गम्भीर शान्त बैठे हैं। इसी समय सन्नन्द दैवावेश-जैसी मुद्रामें खड़े होकर व्रजेश्वरको ही लक्ष्य करके कहने लगते हैं—

तत्किमत्र निदानं नास्य जन्मलग्नलग्नमस्ति किमपि दूषणम्। सर्व एव शुभमात्रग्रहाग्रहाः। तवापि लोकोत्तरमेवादृष्टं दृष्टं च। येनैतज्जगत्पत्यंशकलितमपत्यं शकलितमहापदकस्मादेव देवदुर्लभं सम्पादितमस्ति। तदस्माभिरिदमनुमितमस्यैव स्थलस्य दूषणमेतत्। तदिदमपहाय हायनमध्ये सर्वदा सुखदं सर्वर्त्तुगुणवृन्दावनं वृन्दावनं नाम वनं यामः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'व्रजेन्द्र! आप देख ही चुके हैं कि इतनी विपत्तियाँ

आयीं। आखिर इसका कारण क्या है? श्रीकृष्णचन्द्रके जन्मलग्नमें भी कोई दोष नहीं है। सूर्यादि सभी ग्रह इसके मङ्गलप्रद हैं। आपके अलौकिक भाग्यको भी हमलोग देख ही चुके हैं। गर्गाचार्यके वचनके अनुसार तो यही प्रतीत होता है कि यह श्रीकृष्ण नारायणांश है। ऐसा समस्त विघ्नबाधाहारी देवदुर्लभ पुत्र आपको प्राप्त है। यह आपके लोकोत्तर भाग्यसे ही तो सम्भव हुआ है। फिर भी विपत्ति आ रही है। अतः हमलोगोंने तो सब कुछ सोच-समझकर यही अनुमान किया है कि इस भूमिका ही कोई यह दोष है कि यहाँ इतनी विपत्तियाँ आ रही हैं। हमें तो यही उचित प्रतीत होता है कि हमलोग इसे छोड़कर चले जायँ। हाँ, यदि आज जाना आपको अभिप्रेत न हो तो आज न सही; पर शीघ्र-से-शीघ्र इसी वर्ष किसी दिन यहाँसे हमलोग सर्वदा सुखद षड्ऋतुगुणभूषित वृन्दावन नामक वनमें चले जायँ अवश्य।'

सन्नन्दकी बात समाप्त होते-न-होते प्रमुख गोप पुकार उठते हैं—नहीं-नहीं, क्षणभरका भी विलम्ब नहीं करेंगे, आज ही चलना है। वस्तुतः सन्नन्दकी भी आन्तरिक इच्छा यही है, पर व्रजेश्वरके संकोचवश वे एक वर्षकी बात कह गये हैं। कुछ युवक गोप तो अपने आसनोंसे कूदकर व्रजेश्वरके पास जा पहुँचते हैं, हाथ जोड़कर अविलम्ब यात्राकी व्यवस्था करनेकी अनुमति माँगने लगते हैं। इस समय सबकी दृष्टि केन्द्रित हो गयी है श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। सभी एक स्वरसे यही पुकार रहे हैं 'श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये बृहद्वनका अविलम्ब परित्याग अनिवार्य है।' उनका यह उन्मुक्त प्रेमिलभाव व्रजेश्वरके नेत्रोंको आर्द्र कर देता है। श्रीकृष्णचन्द्रकी मङ्गलकामनासे प्रेरित गोपोंकी इस उत्कण्ठा, इस निश्चयके सामने व्रजेश्वर अपना सिर झुका देते हैं। उपनन्द-जैसे महापण्डित, प्रवीण मन्त्री, ज्येष्ठ भ्राताके परामर्शकी, उनके द्वारा निर्दिष्ट नीतिकी विजय क्यों न होती। सबको शीघ्र-से-शीघ्र व्यवस्था कर लेनेकी—भगवान् अंशुमाली बृहद्वनको आलोकित करने आ जायँ, तबतक प्रस्तुत हो जानेकी, उनके पुण्यदर्शनके उपरान्त प्रस्थान कर देनेकी अनुमति मिल जाती है।

व्रजेश्वरीको तो चिरवाञ्छित प्राप्त हो गया। अपने नीलमणिको अञ्चलमें छिपाकर अनिष्टकी आशङ्कासे न जाने वे कितनी बार रो चुकी हैं। 'नीलमणिको लेकर कहाँ चली जाऊँ, क्या करूँ, गोकुलमें तो रहना अब सम्भव ही नहीं है।' इस चिन्तासे न जाने वे कितनी बार व्याकुल हो चुकी हैं—

नाहिन गोकुल बास हमारौ।
बैरी कंस बसत सिर ऊपर, नित उठि करै खगारौ॥
गाँम-गाँम प्रति देश-देश प्रति, लोक-लोक प्रति जानी।
यह गोपाल कहाँ लै राखौं, कहत नंद की रानी॥
सकट पूतना तृनावर्त ते यहै बिधाता राख्यौ।
कैसें मिटै कह्यौ संतन कौ, गर्ग बचन यौं भाख्यौ॥
जद्यपि परब्रह्म अबिनासी, महतारी डर मानै।
परमानंद प्रीति ऐसी पुनि, सुक मुनि, ब्यास बखानैं॥

इसलिये आज उपनन्दके व्याख्यान, वृन्दावनकी महिमा तथा सर्वसम्मतिसे अविलम्ब बृहद्वन-परित्यागके निर्णयको सुनकर व्रजेश्वरीके अन्तस्तलमें भी अतिशय उल्लासका संचार हो जाता है। सभाभवनके एक द्वारपर वृद्ध वयस्क गोपसुन्दरियोंसे आवृत हुई वे घूँघट काढ़े खड़ी हैं तथा जैसे ही वृन्दावनगमनका निर्णय हुआ कि वे श्रीकृष्ण-बलरामको व्रजेश्वरके पाससे लानेके लिये एक परिचारिका भेज देती हैं। जननीका आह्वान सुनकर दोनों भाई पिताके अङ्कसे उतर पड़ते हैं, यशोदारानीके पास चले आते हैं। जननी उन्हें अन्तःपुरमें ले जाकर सुमिष्ट दूध पिलाती हैं। फिर उनके शयनकी व्यवस्था करती हैं।

यह सब हुआ; पर यदि कहीं भगवती पौर्णमासीने बृहद्वनसे जाना अस्वीकार कर दिया तो?—यह एक कठिन प्रश्न सामने उपस्थित हुआ। इन्हें यहाँ छोड़कर व्रजेश्वर चले जायँ, यह कैसे सम्भव है? समस्त व्रज, देवी पौर्णमासीका चिरऋणी है। अधिकांशकी धारणा

है कि व्रजेश्वरको इस वृद्धावस्थामें नीलमणि-जैसे अप्रतिम सुन्दर विश्वविमोहन पुत्रकी प्राप्ति इन वृद्धा संन्यासिनीकी कृपासे ही हुई है। व्रजेश्वरको पुत्र होगा, यह भविष्यवाणी भी व्रजमें आकर देवी पौर्णमासीने ही सबसे पहले की थी। व्रजका प्रत्येक गोप, प्रत्येक गोपी—सभी इन्हें अतिशय आदर करते हैं। इनकी किसी भी आज्ञाका उल्लङ्घन कोई भी नहीं करता। अतः इन्हें छोड़कर जाना तो असम्भव है। व्रजेश्वरने तुरंत अपने छोटे भाई नन्दनको उनकी पर्णकुटीपर भेजा। सारी परिस्थिति सुनकर भगवतीने सहर्ष स्वयं भी वृन्दावन चलना स्वीकार कर लिया। फिर तो कहना ही क्या है। अपूर्व उत्साहसे व्रजपुरके समस्त गोप-गोपी यात्राकी व्यवस्थामें लग जाते हैं।

ज्योत्स्नोद्भासित बृहद्वनकी वह अन्तिम रात्रि पुरसुन्दरियोंके कङ्कण-झंकारसे, असंख्य शकटोंके तुमुल नादसे, गोपोंके 'है है, हो हो' शब्दसे, विशाल शृङ्गों एवं शङ्खोंकी ध्वनिसे, परिव्याप्त रहती है। किसीको क्षणभरके लिये भी विश्राम नहीं है। गोप दधि-नवनीत-घृतपूरित भाण्ड, रत्नपेटिका, वस्त्र-आभूषणकी पेटी एवं अपनी अन्य गृहस्थ-सामग्री ला-लाकर बाहर राजपथपर खड़े शकटोंपर रखनेमें व्यस्त हैं। गोपसुन्दरियाँ उन सामग्रियोंको एकत्रकर अपने पति-पुत्र आदिको देनेमें लगी हैं। एक शकटके पूर्ण होते ही, उसे गोप जानेवाली पङ्क्तिमें खींचकर खड़ा कर देते हैं एवं अन्य रिक्तको द्वारपर लाकर पूर्ण करने लग जाते हैं। पौगण्ड-वयस्क शिशुओंको भी आज निद्रा नहीं, वे भी इस यात्राकी व्यवस्थामें हाथ बँटा रहे हैं। अवश्य ही राम-श्याम जननीसे लालित होकर सो गये हैं। उन्हें सुलाकर व्रजेश्वरी भी रोहिणीके सहित वृन्दावनयात्राके लिये तैयारीमें जुट पड़ती हैं। पर अगणित परिचारिकाएँ हैं, श्रीरोहिणी हैं। यशोदारानीको कार्य करने कौन दे? वे तो, बस, एक कार्यमें संलग्न हैं। रामके लिये, नीलमणिके लिये, जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है, उन्हें बार-बार जाकर देख लेती हैं कि जिससे ये छूट न जायँ। नीलमणिके खिलौनोंकी पेटी तो स्वयं भर रही हैं। प्रत्येक खिलौनेमें एक मधुर स्मृति—नीलमणिकी लीलाका एक मधुर मोहन संस्मरण समाया हुआ है। हाथमें खिलौने आते ही व्रजेश्वरीके नेत्रोंमें वह चित्र नाच उठता है और वे परमानन्दमें निमग्न हो जाती हैं। निशा ढल जाती है। उषाके शीतल सुखद स्पर्शसे श्रान्त हुए गोपोंमें, गोपसुन्दरियोंमें नवीन स्फूर्तिका संचार हो जाता है; पर इतने समयमें मैया तो केवल एक ही कार्य करती रही हैं। उन खिलौनोंको कभी पेटिकामें भर देतीं, फिर निकालकर बिखेर देतीं, फिर सजा देतीं, फिर क्रमशः निकालकर बाहर छोड़ देतीं। बीच-बीचमें नीलमणिके शयनपर्यङ्कके समीप जाकर देख अवश्य आतीं। श्रीरोहिणीजी आकर जब यह कार्य भी मैयाके हाथसे ले लेती हैं, तब कहीं उन्हें भान होता है कि भुवनभास्कर उदय होने ही जा रहे हैं। यात्रासे पूर्व राम एवं नीलमणिको स्नान कराकर, विभूषितकर, कलेवा कराकर मैयाको प्रस्तुत कर रखना है, यह स्मृति भी उन्हें श्रीरोहिणी ही दिलाती हैं और तब वे शयनागारमें जाकर नीलमणिको जगाने लगती हैं—

जागौ, मोहन! भोर भयौ।
फूले कमल, कुमुद मुद्रित भए, तमचुर कौ सुर हारि गयौ॥
टेरत ग्वाल-बाल सब ठाढ़े, पूरब सौं पतंग उदयौ।
सुनत बचन जागे नँदनंदन, सूर जननि तब उछँग लयौ॥

वृन्दावन-यात्राका वर्णन

व्रजपुरका राजमार्ग असंख्य शकटोंसे पूर्ण हो चुका है। उन शकटोंके ऊपरी अंशमें श्वेत, हरित, पाटल, पाण्डुर, पीत एवं अरुण वर्णकी छीटके वस्त्रोंसे मण्डप बने हैं। मण्डप चारों ओरसे रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्रोंके द्वारा प्राचीरके आकारमें घेर दिये गये हैं। उसके ठीक मध्यमें ऊपर स्वर्णकलश सुशोभित है। उनपर पताकाएँ फहरा रही हैं। मानो ये परम सुन्दर विशाल शकट अतिशय कलापूर्ण ढंगसे कनक-कलशोंपर फर-फर करती हुई पताकारूप अपनी रसनाके द्वारा रविरश्मियोंका पान कर रहे हों, साथ ही अपने सुरदुर्लभ सौभाग्यसे उल्लसित होकर ऊपर उड़ते अमरविमानोंका परिहास कर रहे हों—

उपरि परितानितसितहरितपाटलपाण्डुर-पीतारुणकिर्मीरचीरमण्डपेषु परितो वृतीकृतनाना-विधपरार्द्ध्यपट्टवसनेषु कनककलशोपरिपरि-पतत्पताकानिकररसनाभिरिव दिनकरकिरणकलापं कलापण्डिततया लेलिहानेषु परिहस्यमानामरविमानेषु विमानेषु।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इन शकटोंमें स्वर्णमण्डित शृङ्गोंसे सुशोभित अतिशय सुपुष्ट बलीवर्द जुड़े हैं। प्रत्येकके ग्रीवादेशमें घंटियाँ बँधी हैं, उनसे परम मनोहर झुन्-झुन्, टुन्-टुन् शब्द हो रहा है। ऐसे अगणित सुसज्जित एक पङ्क्तिमें खड़े शकटोंपर वृद्धागोपिकाएँ, वृद्धगोप, नवयुवतियाँ, गोपकुमारिकाएँ, गोपशिशु यथास्थान आसीन हुए यात्राकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिस शकटपर अपने नीलमणिको अङ्कमें धारण किये व्रजराजमहिषी एवं रामको लिये श्रीरोहिणी विराजित हैं, उसकी छटा तो निराली है—

मणिखचितसुवर्णचित्रवर्णे शुचिमृदुतूलिकयानुकूलमध्ये।
गृहनिभशकटे विरेजतुस्ते सुतरुचिरोचिषि रोहिणीयशोदे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'वह एक विचित्र मणिखचित स्वर्णिम वर्णका है। उसके मध्यदेशमें उज्ज्वल मृदुल तूलिका (गद्दे) का आरामप्रद आस्तरण बिछा है। सुन्दर सज्जित गृहकोष्ठके समान उसकी रचना है। नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके महामरकत श्यामकलेवरसे झरती हुई नीलज्योति एवं बलरामके गौर अङ्गोंसे निस्सृत उज्ज्वल आभा उसे उद्भासित कर रही है। ऐसे परम सुन्दर शकटमें आसीन हुई व्रजेश्वरी एवं बलरामजननी सुशोभित हो रही हैं।'

इस शकट-पङ्क्तिसे आगे व्रजेश्वरके, व्रजवासियोंके अपार गोधनका समूह खड़ा है। बस, अब चलनेकी तैयारी ही है। अगणित गोपोंके द्वारा की हुई शृङ्गध्वनि, तुमुल तूर्यनाद और जयघोषसे आकाश गूँजने लगता है। गोपोंके पुरोहित मङ्गलपाठ करने लगते हैं। व्रजराजकुलपुरोहित महर्षि शाण्डिल्य आज स्वयं पधारे हैं तथा शिष्योंसहित यात्रासे पूर्व मङ्गलपाठ, स्तुतिपाठ कर रहे हैं—

गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३२)

नील, पीत आदि विविध वर्णके सुन्दर वस्त्र पहने, वक्षःस्थलपर कुङ्कुमकी कान्ति धारण किये, कण्ठको पदकसे अलङ्कृत किये, अङ्गोंको नानाविध मणिमुक्ता-स्वर्णाभूषणोंसे भूषित किये, रथपर बैठी गोपसुन्दरियाँ भी प्रेमावेशसे श्रीकृष्णलीलाके गीत गा रही हैं—

गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः।
कृष्णलीला जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३३)

कंचन सकटहिं चढि-चढ़ि गोपी, चली जु नंदसुवन-रस-ओपी।
कंठनि पदिक जगमगत जोती, लटकै ललित सुबेसर-मोती॥
केसरि आड़ ललाटन लसी, चंद में चंद-कला-दुति जसी।
चंचल दृग अंजन छबि बढ़े, ससिन में जनु नव खंजन चढ़े॥

लाल के बालचरित जु पुनीत, लये हैं बनाइ-बनाइ सुगीत।
ठाँ-ठाँ गोपी गान जु करैं, सितल कंठ सब कौ हिय हरैं॥

(नन्ददास)

श्रीकृष्णचन्द्रके आविर्भावसे लेकर अबतककी समस्त लीलाएँ उनके मानसनेत्रोंके सामने एक-एक कर आ रही हैं तथा उनमें डूबती-उतराती रहकर उन-उनके संकेतसे ही वे श्रीकृष्णचन्द्रको पुकार रही हैं—

नन्दमहीपतिजात! नन्दयशोदामात! जन्ममहामहदिग्ध! रमितसमस्तस्निग्ध! स्पर्शार्हितविषयोष! अपरिचितापरदोष! शकटविघट्टनशेष! गोकुलपुण्यविशेष! कृतनामभिरभिराम! संततरामाराम! रिङ्गभृताङ्गणरङ्ग! अङ्गीकृतसखिसङ्ग! लङ्घितमारुतचक्र! नन्दितगोकुलशक्र! वत्सविमोचनमोद! व्रजजनशर्मयशोद! सर्वानन्दनचौर्य! तस्मिन् दर्शितशौर्य! अयि! दामोदरलील! अखिलसुखप्रदशील!

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे नन्द महाराजसे उत्पन्न होनेवाले! नन्दरायको भी यशका दान करनेवाली यशोदाको माता बनानेवाले! अपने जन्मके समय महामहोत्सवसे रञ्जित होनेवाले! अपनी लीलासे सभी स्नेहियोंको आनन्दित करनेवाले! अपने स्पर्शमात्रसे ही विषभरी पूतनाको नष्ट करनेवाले! दूसरोंकी मलिनतासे अनभिज्ञ रहनेवाले! शकटके खण्डित हो जानेपर भी उससे सर्वथा अक्षत बच निकलनेवाले! गोकुलके पुण्यविशेषकी प्रतिमूर्ति! गोप-गोपसुन्दरियोंके द्वारा रखे हुए नामोंके कारण अत्यन्त प्रिय प्रतीत होनेवाले! निरन्तर गोपरमणियोंका आनन्दवर्द्धन करनेवाले! रिङ्गणकर नन्दप्राङ्गणको रङ्गशाला बना देनेवाले! सखाओंको नित्य सङ्गमें लिये रहनेवाले! चक्रवातकी अवहेलना करनेवाले! व्रजेन्द्रको प्रसन्न करनेवाले! गोदोहनसे पूर्व ही वत्सोंको बन्धन-मुक्तकर उन्हें मातासे मिलाकर आनन्दित होनेवाले! व्रजवासियोंको सुख एवं यश देनेवाले सबको परमानन्दमें निमग्न कर दे, ऐसी चोरी करनेवाले! ऐसी चोरीमें शूरता दिखानेवाले! अरे उदरमें दामबन्धनकी लीलावाले! चर-अचर अखिल विश्वके लिये अपरिसीम सुखदायिनी प्रवृत्तिमें रत रहनेवाले!'

—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका वे आह्वान कर रही हैं।

इनका यह लीलागान व्रजरानीके तथा श्रीरोहिणीके कर्णरन्ध्रोंमें अमृतकी वर्षा कर रहा है। राम-श्यामके साथ अपने उस शकटपर विराजित वे दोनों इस पीयूषपानमें—लीलाश्रवणमें एकाग्रचित्त हो रही हैं। उनकी श्रवणोत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही है—

तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३४)

श्रीरोहिणी तो फिर भी कुछ सावधान हैं; क्योंकि उन्हें भय है कि ये दोनों चञ्चल बालक कहीं रथसे नीचे कूद न पड़ें। किंतु यशोदारानी तो इस यात्राके जगत्को भूल ही गयी हैं। नीलमणिको क्रोड़में धारण किये, सौन्दर्यपुत्तलिका-सी बनी वे गोपसुन्दरियोंके मुखसे निस्सृत लीलागानमें सर्वथा तन्मय हो रही हैं—

राज-सकट बैठी जसु सोहै, उपमा कौं त्रिय त्रिभुवन को है।
सुरपति-रवनी रमा की चेरी, सो वह चेरी, जसुमति केरी॥
गोद में सुत अति सोहत ऐसी, चंद-जननि चंदहि लिये जैसी।
सुत-गुन गोपी गावत जहाँ, दै रहि कान जसोमति तहाँ॥

(नन्ददासकृत दशमस्कन्ध)

उनके गीतका केवल एक शब्द 'जन्ममहामहदिग्ध' व्रजरानीके हृत्पटपर अङ्कित उस लीलाको उनके लिये मूर्त कर देता है, व्रजेश्वरीके लिये फिर स्मरण एवं साक्षात्कारमें कुछ भी अन्तर नहीं रहता और वे अपने नीलमणिको पुनः सर्वथा अभी-अभी जन्म देकर जन्मोत्सव देखने लगती हैं—

तिहि छिन नंद-सदन की सोभा नहिं कहि परत, लगत जिय लोभा।
इत जु बेद-धुनि की छबि बढ़ी, मंगल बेलि-सी त्रिभुवन चढ़ी॥
इत मागध सु-बंस-जस पढ़ैं, इत बंदीजन गुनगन रढ़ैं।
गावत इत जु रागिनी-राग, चुये परत जिन कें अनुराग॥

आनँदघन जिमि दुंदुभि बजैं, जिन सुनि सकल अमंगल भजैं।
सुनि कैं गोप महा मुद भरे, चले महरि-घर रंगनि ररे॥
पहिरे अंबर सुंदर-सुंदर, जे कबहूँ निरखे न पुरंदर।
मंगल भेंट करन मैं लिए, मैन-से लरिकन आगे किए॥
गोपी मुदित भयौ मन-भायौ, महरि जसोदा ढोटा जायौ।
प्रफुलित ही सो लागति भली, को है प्रात कमल की कली॥
कुंकुम-रस-रंजित मुख लोने, कनक-कमल अस नाहिंन होने।
चलीं तुरत सजि सहज सिंगार, छतियन उछरत मोतियन हार॥
श्रवननि मनि-कुंडल झलमलैं, बेगि चलन कौं जनु कलमलैं।
चले जु चपल नैन छबि बढ़े, चंदन मनहुँ मीन हे चढ़े॥
सुसम कुसम सीसन तैं खसे, जनु आनंद-भरे कच हँसे।
हाथनि थार सु लागत भले, कंजनि जनु कि चंद चढ़ि चले॥
मंगल-गीतन गावति-गावति, चहुँ दिसि तैं आवति छबि पावति।
नंद-अजिर में लगी सुहाईं, जनु ये सब कमला चलि आईं॥
छिरकत सबन हरद अरु दही, तब की छबि कछु परत न कही।
सुंदर मंदिर भीतर गई, जसुमति अति आदर करि लई॥

कभी गोपवनिताके मुखसे उच्चरित 'स्पर्शार्दित-विषयोष' की ध्वनि पूतनाकी आर्तिको सामने कर देती है—

कुच छोड़ु छोड़ु रे, हे मुरारि। बेबरन ह्वै गई जरद नारि॥

—और कभी वे शकटभञ्जन-लीलामें आविष्ट हो जाती हैं—

नंदादिक तहँ धाये आए, सकट बिलोकि सु बिस्मय पाये।
तिन सौं कहन लगे सिसु बात, अहो महर! यह तेरौ तात॥
तनक चरन ऐसैं करि कर्‌यौ, तौ यह सकट उलटि है पर्‌यौ।
कहत कि कह जानहिं ये बारे, उलटत कूट कमल कें मारे॥
सबन कही कि नंद बड़भागी, लरिकहि रंचक आँच न लागी।
तब तैं नंद महर की ललना, पूतहि पर्‌यौ पत्याइ न पलना॥

—व्रजेश्वरीके सामने एक-एक लीला अभी इसी क्षण हो रही है—

कनक मनिमय मनहि मोहत।
परम सुंदर अजिर सोहत॥
मृदुल पगतल लसत लालन।
झकत, उझकत, करत चालन॥
हँसत, किलकत, लखत छाँहिय।
उर उमाहन भरत वा हिय॥
जुगल तन फबि धूरि धूसर।
अतुल छबि, उपमा न दूसर॥
कच झड़ले झलकि झूमत।
उड़त अलि, फिरि घुमड़ि घूमत॥
अखिल छबि आनन अखंडित।
सरद-ससि जनु अमिय मंडित॥
पय बदन द्वै रदन राजत।
बिसद-छबि बिबि बीज छाजत॥
बचन कलबल कहत तोतल।
अमृत-रस ससि स्त्रवत सो तल॥
कंठ कठुला मनहि मोहत।
बज्र मिलि नख सिंघ सोहत॥
मुखर रसना चलत चालिय।
कामदूती बाकजालिय॥
रुनित नूपुर कुनित पाइन।
हंस-सुत सुर चढ़े चाइन॥
पद-पदम नख नवल राजिय।
मनहुँ मिलि नखतालि साजिय॥
राम क्रस्न कुमार दोऊ।
गौर-स्याम सरीर सोऊ॥
सिसुन में मिलि खेल खेलत।
भजत फिरि-फिरि, मुरकि हेरत॥
कबहुँ रुनझुन धाइ भागहिं।
संक मानहिं अंक लागहिं॥
कबहुँ फिरि-फिरि करन फेरत।
सिसुन कौं फिरि उच्च टेरत॥
बदन-बिधु कबहूँ कँपावत।
मातु लखि उर उमगि आवत॥
बक्ष पक्षनि झटकि डोलत।
कबहुँ मर्कट निकट बोलत॥

देखि रोहिनि महरि ठाढ़िय।
पुलकि प्रेम-पयोधि बाढ़िय॥
स्त्रवत अस्तन दूध धारन।
सिथिल तन आनंद भारन॥
उमगि उरनि उठाइ ले तिय।
चूमि मुख पयपान देतिय॥
सीस अंचल झाँपि मेलहिं।
तोरि तिन जल पानि फेरहिं॥
देखि सिसु सुधि खेल आवत।
छाँड़ि पय उठि गोद धावत॥
जाइ मिलि खिल बाल-ब्रंदन।
देत आनँद नंदनंदन॥
दौरि जननी लगहिं पाछैं।
संग ल्याइ लगाइ आछैं॥
अगिनि, जल, कंटक बचावैं।
कठिन छिति, पच्छी बरावैं॥

यशोदारानीको स्पष्ट दीख रहा है कि चक्रवातसे अभी-अभी मेरे नीलमणिकी रक्षा हुई है, मेरे कुलदेव नारायणने की है, अन्यथा शिशुका जीवित बच रहना असम्भव था—

प्रकास उग्र चक्रवाइ तर्क तेज नेह गौ।
दिखात दीह दंस बंस हंस छोड़ि देह गौ॥
सनारि नंद रोहिनी सुदौरि ग्वाल-गोप जे।
उठाइ लाल, अंक धारि, प्रेम-मोद सों पगे॥
प्रचंड रूप भीम देखि जीव जे हहाइ गे।
बच्यौ जु पुत्र कौन पुन्य नंदजू सँसाइ गे॥
महा सुभाग्य नंदजू कहैं जू लोग गाँवरौ।
कृपा कृपाल बिस्नु की बच्यौ जु सूनु साँवरौ॥
निहारि नंदलाल कौं अनंद नंद लीन जे।
बुलाइ बिप्र छिप्र सर्ब सास्त्र में प्रबीन जे॥
बिधान दान मान सौं प्रमान बेद कें करैं।
कुटुंब ग्याति भोजनादि बस्त्र द्रव्य दे भरैं॥

मैया वृन्दावन-गमनके लिये रथपर तो बैठी है, कुछ क्षण पश्चात् रथ प्रस्थान करनेवाला है; पर वे अनुभव यह कर रही हैं कि गोपसुन्दरियाँ आयी हैं, हँस-हँसकर उलाहने दे रही हैं—

अहो महरि! यह तुम्हरौ तात, कहा कहैं हम याकी बात।
असमय देइ बछरुवन छोरि, ठाढ़ौ हँसै खरिक की खोरि॥

× × ×

दरस कारन इकहि आवहिं।
उपालंभ बनाइ ल्यावहिं॥
महरि! तू लघु सुत न मानहि।
ढीठ अति लंगर न जानहि॥
सखनि लै छबि भवन रंजतु।
खात दधि, भाजननि भंजनु॥
बात सुत की सुनै कानन।
ओढ़ि अंचल उमगि आनन॥
परसपर तहँ हास पागहिं।
देखि छबि नहिं पलक लागहिं॥

अपने नीलमणिका दाम-बन्धन एवं बन्धनमोचन—दोनों ही दृश्य जननी क्षणभरमें सम्पूर्णरूपसे ठीक वैसे-के-वैसे अनुभव कर लेती है—

स्याम बँधे देखे कसि कैं, नंद बंध छोरे हँसि कैं।
सूँधि लये चूम्यौ मुख कौं, कंठ लगे पायौ सुख कौं॥
गोपबधू चाहैं चलि कैं, देखन कौं नैना ललकैं।
गेह ललै ल्याए मिलि कैं, मोहभरी माता हिलकैं॥

व्रजरानी और भी न जाने क्या-क्या देखतीं; किंतु सहसा महर्षि शाण्डिल्य एवं बाबाको अपने रथके समीप आये देखकर श्रीकृष्णचन्द्र उनकी गोदसे उछल पड़ते हैं। यदि पट्टवसनका वह प्राचीराकार घेरा न होता तो वे नीचे गिर पड़ते! रोहिणीजी लपककर उन्हें पकड़ लेती हैं। इतनेमें मैयाके नेत्र खुल जाते हैं। वे शङ्कित होकर पुनः श्रीकृष्णचन्द्रको बरबस गोदमें बैठा लेती हैं।

अस्तु, अब महर्षि शाण्डिल्य शङ्खध्वनि करते हुए प्रस्थानके शुभ क्षणकी सूचना कर देते हैं। उनकी

आज्ञा पाते ही उपनन्द तोरणके समीप एक अतिशय उच्च मञ्चपर खड़े हो जाते हैं तथा शकटश्रेणीको आगे बढ़नेके लिये हाथ हिला-हिलाकर संकेत करने लगते हैं। कुछ ही क्षणोंमें शकटपङ्क्ति गतिशील बन जाती है। सहस्र बलिष्ठ धनुर्धर गोप, जो व्रजेश्वरीके रथकी रक्षामें नियुक्त हैं, अपने धनुष-बाण सँभालकर चल पड़ते हैं। एक साथ अगणित कण्ठोंका जयघोष, 'है-है, आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, स्थान दो' का तुमुल नाद, असंख्य शकटोंका घड़त्-घड़त् शब्द, भेरी-शृङ्गोंका आकाशव्यापी रव—सभी मिलकर दिग्-दिगन्तको प्रतिनादित करने लगते हैं। इनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुन पड़ता—

तदा व्रजे कलकलकोटिरुत्थिता
हिहीहिहीजिहिजिहिकारमिश्रिता ।
घडद्घडद्घडदिति शाकटारवः
सवाद्यकः पुनरखिलंगिलः स्थितः ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु सौ हाथ भी आगे बढ़ते-न-बढ़ते शकटोंकी गति रुक जाती है। आगे बढ़नेके लिये स्थान जो नहीं। व्रजेश्वरके तोरणद्वारसे लेकर सुदूर यमुनाकूलतक—जहाँ यमुनाको पारकर वृन्दावनमें प्रवेश करना है, वहाँतक—सभी स्थान भरे हैं। आगे अपार गोधनकी पङ्क्ति है, उसके पीछे शकटपङ्क्ति। उन्हें दोनों ओरसे घेरकर अगणित गोपयुवा धनुष-बाण धारण किये, शृङ्ग लिये खड़े हैं। शकटपङ्क्ति न आगे बढ़ सकती है, न पीछे हट सकती है। दाहिने-बायें व्रजपुरका उत्तुङ्ग प्रासाद है, उपवन हैं, सघन वन हैं। शकट किस ओर जायँ? जो निर्धारित क्रम था—आगे गोधन जायँ, उनके पीछे-पीछे शकट चलें—वह तो सर्वथा सम्भव नहीं। इतनी अपार संख्या दोनोंकी है! एक घड़ीतक ऊहापोहके अनन्तर उपनन्दजीको इस बातकी सूचना मिल पाती है और वे आदेश देते हैं कि दो पङ्क्तियोंमें होकर गोधन एवं शकट साथ-साथ चलें। कलिन्दनन्दिनीके कूलपर धारासे समानान्तर रेखारूपमें बहुत-सी गायें बढ़ा दी गयीं। बहुतोंको पीछे हाँककर नन्दप्रासादके समीप लाया गया। अब धेनुपङ्क्ति एवं शकटपङ्क्ति—दो पङ्क्तियाँ साथ-साथ चल रही हैं। फिर भी गन्तव्य स्थान—वृन्दावन एवं जिसे छोड़कर जाना है, वह बृहद्वन—दोनोंकी सीमा गोधन एवं शकटपङ्क्तिसे जुड़ी ही रहती है, वृन्दावनकी सीमा रविनन्दिनीको स्पर्श कर लेनेपर भी गोधन एवं शकट बृहद्वनके प्राचीरको पार नहीं कर पाते। इतनी लंबी पङ्क्ति है!—

प्राचुर्यतो न घटते क्रमतः प्रयातुं
धेन्वावलिश्च शकटावलिरप्यथेति।
पङ्क्तिद्वयेन चलिते युगपत्तदा ते
गम्यं गते अपि पदं जहितो न हेयम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

इस समय यमुना-तटपर फैली धेनुपङ्क्तिकी शोभा देखने ही योग्य है। उन्हें देखकर व्रजेश्वरके वन्दीजन वितर्क करने लगते हैं—

किमियं यमुनया सह रहःकथाभिलाषुकतया समागता सुरधुनीधारा।

'अहा! क्या यह सुरधुनीकी धारा है, जो यमुनाके साथ एकान्तचर्चाके लिये उत्सुक होकर आयी है, आकर मिल रही है?'

मत्त महाकाय वृषभश्रेणी एवं धेनुश्रेणीके शरीरमें आकार-तारतम्यको देखकर, बीच-बीचमें ऊँचे-ऊँचे वृषभ एवं फिर ओछे कदकी गोराशिकी शोभा देखकर वे चारण सोचने लगते हैं—

किमियं वृन्दावनरेणुजिघृक्षयाक्षया समुपसीदन्ती क्षीरनीरधेस्तरंगपरम्परा।

'ओह! यह क्या क्षीरसमुद्रकी अक्षय तरंगमाला है, जो परम पावन वृन्दावनकी रज ग्रहण करनेकी लालसासे यहाँ उपस्थित हुई है?'

नहीं-नहीं दूसरी वस्तु है! यह बृहद्वनके मूलसे जो निकल रही है! फिर क्या हो सकती है?—

किमियं क्षीरोदशायिनः शयनभावमपहाय वृन्दावनदिदृक्षयैव समुपसीदतो भोगीन्द्रस्य परमद्राघीयसी भोगकाण्डलता।

'यह क्या पातालसे उठी हुई शेषनागकी फणलताका विस्तार है? प्रतीत होता है, क्षीरोदशायी श्रीनारायणके शय्याभूत रूपका परित्याग कर वृन्दावनदर्शनकी अभिलाषासे अनन्तदेव पधारे हैं, यह उनके ही अत्यन्त दीर्घतम फण-समूहके जाल फैल रहे हैं। क्यों?'

किंतु इसका चाकचिक्य तो विचित्र है! तब—

किमियं भुवो मुक्तावली।

'क्या यह धरणीका मुक्ताहार है!'

बस बस! यही है!—इस प्रकार गोधनकी शोभासे हर्षित हुए वन्दीजन विविध प्रकारसे उसका वर्णन करते हैं। शकटपङ्क्तिकी शोभा भी निराली ही है। उसकी भी वे नाना प्रकारसे उत्प्रेक्षा करते हैं। उनकी उक्तियोंको सुन-सुनकर गोपगण आनन्दविह्वल हो रहे हैं।

ज्यों-ज्यों धेनुपंक्ति एवं शकटश्रेणी आगे बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों आकाश गो-रजसे—धूलिपटलसे परिव्याप्त होने लगता है। मानो उस शून्य पथमें कोई विचित्र शिल्पी एक सर्वथा अवलम्बनहीन मृण्मय दुर्गकी रचना कर रहा हो! अथवा—वह एक दिन था जब धरादेवी असुरभाराक्रान्त हो रही थीं। असुरोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर गौका रूप धारणकर अपना दुःख निवेदन करने वे जगत्-विधाताके समीप गयी थीं। किंतु दिन बदले और आज श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंका स्पर्शसुख पाकर वे कृतार्थ हो गयी हैं। इस अप्रतिम सुखकी सूचना धाताको देनेके उद्देश्यसे ही वे आज मानो धैर्य छोड़कर ऊर्ध्वपवनसे संचालित धूलिराशिके रूपमें—हर्षातिरेकवश अपने स्वाभाविक रूपमें ब्रह्मलोककी ओर दौड़ी जा रही हैं। उस दिन दुःखके भारसे दबी रहनेके कारण कृत्रिम रूपमें एवं मन्दगतिसे गयी थीं, आज आनन्दातिरेकसे चञ्चल हुई मानो अपने सत्यस्वरूपमें—रजकणरूपमें ही द्रुतगतिसे भागती जा रही हैं—

गोरूपेण पुरा सुरारिकदनव्याहारहेतोरगाच्छ्रीकृष्णस्य पदाब्जसंगमसुखं व्याहर्त्तुकामा किमु।
धूलीधोरणिभिर्धरेयमधुना धूताभिरूर्ध्वानिलैर्धातुर्धावति धाम धैर्यरहिता स्वं धाम धृत्वा पुनः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इधर व्रजरानी भावसमाधिसे जागते ही कहीं नीलमणि फिर कोई चञ्चलता न कर बैठें, इस उद्देश्यसे विविध चर्चाके द्वारा उन्हें भुलाने लगती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी कौतूहलमें भरकर जननीसे पूछने लगते हैं—

मातः क्व नु खलु गच्छन्तः स्मः?

'मैया! हमलोग कहाँ जा रहे हैं?'

जननी उत्तर देती हैं—

पुत्र! वृन्दावननामनि वनधामनि।

'मेरे लाल! वृन्दावननामक वनभूमिमें।'

श्रीकृष्णचन्द्र किंचित् विचारते हुए पुनः बोले—

कदा सदनमायास्यामः?

'घर कब लौटेंगे?'

पुत्रके इस प्रश्नपर जननीके अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है और वे कहती हैं—

वत्सास्मदनुषङ्गत एव संगच्छमानं तदास्ते।

'वत्स! घर तो हमलोगोंके साथ ही वृन्दावन जा रहा है।'

श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका पार नहीं रहता। इसके अनन्तर कुछ देर वे बलरामके साथ, शकटगतिके कारण वृक्ष, गृह आदिको घूमते-से अनुभव कर उनके सम्बन्धमें चर्चा करते हैं। फिर जननीके कण्ठमें ही झूलकर उनसे ही प्रश्न करने लगते हैं—

भवतु, तद् वृन्दावनं कुत्र?

'अच्छा, मैया! यह बता, वृन्दावन कहाँ है?'

इसका उत्तर जननी न देकर रोहिणी मैया देती हैं—

पुत्र यमुनायाः पारे।

मेरे लाल! यमुनाके उस पार!

फिर तो यमुनाके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्नोत्तर चलते हैं। पूर्ण संतोष हो जानेपर श्रीकृष्णचन्द्र इस बार श्रीरोहिणीसे ही पूछने लगे—

लघुमातः! का तत्र शातसम्पदस्ति? यदेतावता प्रयासेन प्रयास्याम।

'छोटी मैया! ठीक है; यह बताओ—आखिर वृन्दावनमें ऐसी कौन-सी सुख-सम्पत्ति है, जो हमलोग इतना प्रयास उठाकर वहाँ जा रहे हैं?'

रोहिणी मैया बोलीं—

पुत्र! क्रीडास्थानानि क्रीडनकानि च बहूनि सन्ति।

'मेरे लाल! वहाँ अनेकों क्रीडास्थान हैं। क्रीडासामग्रियाँ भी वहाँ बहुत हैं।'

यह उत्तर सुनकर तो श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दसे नाच उठते हैं। कदाचित् शकटपर न होते तो वे अभी उस दिशाकी ओर भाग छूटते।

जब रथ सघन वनके पथसे जाने लगता है, उस समय जननी एवं पुत्रका मनोहर संवाद सुननेयोग्य ही है। जानकर अनजान बने हुए-से श्रीकृष्णचन्द्र आज सर्वथा अबोध शिशुकी भाँति प्रश्न-पर-प्रश्न करते जा रहे हैं एवं जननी भी हँस-हँसकर उत्तर दे रही हैं—

कोऽसौ वृक्षः समन्तादनिशचलदलः पिप्पलः कोऽण्डकोटिं सूते सोदुम्बराख्यः क इह घनजटाव्याप्तमूर्त्तिर्वटः सः।
इत्थं नव्यां वनान्तर्गतिमनु जननीडिम्भसंवादजातं लोकं पीयूषवर्षैरसुखयदखिलं तत्र तत्रातिचित्रम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णने पूछा—'अपने चारों ओर असंख्य पत्रोंको निरन्तर संचालित करता हुआ यह कौन-सा वृक्ष है?' जननी बोलीं—'यह पीपल है।' श्रीकृष्ण—'यह कोटि अण्डोंको प्रसवकर अङ्गोंमें लटकाये हुए कौन-सा वृक्ष है?' जननी—'इसे उदुम्बर (गूलर) कहते हैं।' श्रीकृष्ण—'अपनी सघन जटाओंसे परिव्याप्त अङ्गवाला यह कौन तरु है?' जननी—'यह वट है।' इस प्रकार वनमें जाते समयकी यह विचित्र प्रश्नावली—जननी-पुत्रका यह मनोहर संवाद—गोप-गोपसुन्दरियोंपर पीयूषकी वर्षा कर उन्हें परमानन्दमें निमग्न कर रहा है।

आश्चर्य यह है कि अपने-अपने रथपर आसीन प्रत्येक गोप-सुन्दरीको यह अनुभव हो रहा है कि हमारा रथ व्रजेश्वरीके रथके अत्यन्त समीप है और वह सचमुच सब संवाद अच्छी तरह सुन रही है।

जो हो, श्रीकृष्णचन्द्र फिर पूछते हैं—

चित्रः कोऽयं मयूरः क इह मृदुकुहूगायकः कोकिलाख्यः को वक्तुं वष्टि वाणीं नरवदपि शुकः पुष्पपः कश्च भृङ्गः।
इत्थं मातृद्वयेन प्रथमवनगमे संलपन्तौ हसन्तौ बालौ गोपालरामौ व्रजकुलमहिलाः शर्मभिः सिञ्चतः स्म॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'यह रंग-बिरंगा कौन पक्षी है? यह मयूर है। यह मृदुकण्ठसे कुहू-कुहू गानेवाला कौन है? यह कोकिलनामक पक्षी है। और यह ठीक मनुष्यकी भाँति वाणी बोलनेमें समर्थ कौन है? यह शुक है। पुष्पोंका पराग पीनेवाला यह कौन है? यह तो भ्रमर है। इस प्रकार युगल माताओंसे राम-श्याम दोनों शिशु बृहद्वनसे आगेके वनमें आनेपर बात कर रहे हैं, हँस रहे हैं तथा व्रजसुन्दरियोंपर आनन्द-धाराका प्रवाह बहाकर उनका अभिषेक कर रहे हैं।'

रविनन्दिनीका तट आनेमें तो अभी भी पर्याप्त विलम्ब है। अतः जननी नीलमणिको कलेवा कराने जाती हैं। पर नीलमणि ऐसे सरल कहाँ कि शकटपर कलेवा कर लें! वे तो नीचे उतरकर ही कलेवा करेंगे। अस्तु, शकट रोक लिया जाता है। नीचे उतरकर एक सुरम्य वन्यतरुवरकी छायामें बैठकर वे कलेऊ करते हैं। अकेले नहीं, सखाओंके साथ—

बहु ब्यंजन बहु भाँति रसोई, षटरस के परकार।
सूर स्याम हलधर दोउ भैया, और सखा सब ग्वार॥

यात्राके अन्तमें यात्रियोंका यमुना-तटपर रात्रि-विश्राम तथा रात्रिके शेष होनेपर यमुना-पार जानेका उपक्रम

शकट-समूह क्रमशः कलिन्दकन्याके तटपर एकत्र होने लगता है—इस प्रकार मानो मन्दर, कैलास, हिमाचल आदि महान् महीधर-राजोंके औरस शिशु खेलनेकी लालसासे श्रेणीबद्ध होकर यमुना-तटपर आये हों, सुरराजको भी आज दया आ गयी हो, 'ये शिशु हैं, क्रीड़ा करने जा रहे हैं, इनकी पाँख क्यों काटी जाय', यह सोचकर उन्होंने इनका पक्षच्छेदन न किया हो तथा इसीलिये प्रगल्भ हुए ये निर्बाध दौड़े आ रहे हों—

यमुनातटघटमानखेलालसाः शिशव इति करुणया कुलिशकरेणाकृतपक्षच्छिदा कनकगिरिकैलाशगौरीगुरुप्रभृतिमहामहीधरराजनिकराणां पङ्क्तीभूय चलन्ती कुमारश्रेणिरिव शकटानि पथि जनैर्व्यदृश्यन्त।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

शस्त्रधारी गोपोंके कई दल गोश्रेणीसे पूर्व ही तटपर आ गये हैं। आगे-से-आगे प्रबन्ध जो करना है। शेष सैनिक-दल गो-गोप-गोपीवृन्दको घेरे हुए उमड़ा आ रहा है। इन्हें देखकर प्रतीत होता है, मानो व्रजपुरकी राज्यश्री ही स्वयं इस अपार सैन्यबलके रूपमें मूर्त होकर अत्यन्त वेगवश आकाशको स्पर्श करती हुई चल पड़ी है, आगे-से-आगे पहुँचकर वृन्दावनको अलंकृत करने जा रही है, यहाँ इस बृहद्वनमें तो अब भूमिमात्र बची है—

एवं चलति व्रजबले जवलेलिह्यमानगगनेव सा महावनराजधानीश्रीर्मूर्तिमतीव स्वयमग्रत एव गन्तव्यस्थलीमलंकर्त्तुमिव चलितवती केवलं भूमात्रमेव तत्रावशिष्टमिव। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जो हो, यमुना-संतरणकी व्यवस्थामें नियुक्त गोप, गोपसैनिक एक बार देखते हैं रविनन्दिनीकी नील लोल लहरियोंकी ओर, तथा फिर देखते हैं ढलते हुए भुवनभास्करके रश्मिजालकी ओर; एवं सबसे अन्तमें नायक गोपकी दृष्टि जाती है बृहद्वनसे आते हुए, क्रमशः निरन्तर बढ़ रहे गोधनसमूह, शकटावलि और जनसमुदायकी ओर। सबको यह जानते देर नहीं लगती कि आज तो यमुना-संतरण सर्वथा असम्भव है, रात्रिका निवास यहीं—इसी पार करना है। व्रजेश्वरकी आज्ञा असम्भव कार्यके लिये कदापि हो नहीं सकती। और वे तो अभी अत्यन्त दूर हैं। उनके रथके तटपर आते-आते अंशुमाली अस्ताचलमें समा जायँ तो भी आश्चर्य नहीं। अतः सर्वसम्मतिसे निश्चय कर, देशकालके पूर्ण पण्डित वे पुरोवर्ती गोप एवं गोपसैनिक व्रजेशकी आज्ञा लिये बिना ही इस पार विश्राम करनेके प्रबन्धमें जुट पड़ते हैं—

तस्मिन्नहनि यमुनापारप्रयाणमघटमानमिति तत्रैव वसतिमिच्छवो विनापि घोषाधीशाज्ञया देशकालज्ञास्त एव तथा संनिवेशं कारयांचक्रुः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

चार पहर ही विश्राम करना है, पर व्रजेश्वरके उन कलाविद् प्रबन्धकोंने तो देखते-देखते एक वस्त्रमय सुन्दर नगरकी ही रचना कर दी—

आतानिताः पटगृहाः परितो वितान-
श्रेण्यस्तथोर्ध्वमभितः पटभित्तयश्च।
शृङ्गाटकक्रमत एव समानसूत्र-
सुश्रेणयो विपणयो वणिजां विरेजुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'चारों ओरसे वस्त्रोंके गृह (तंबू) खड़े हो गये। उनके ऊपर अगणित वितान (चँदोए) तान दिये गये। इसके अनन्तर सब ओरसे घेरकर प्राचीरके रूपमें वस्त्रोंकी ही भित्ति (कनात) खड़ी कर दी गयी। बृहद्वनके व्रजपुरमें जैसे जहाँ चौरास्ते थे, ठीक वैसे-के-वैसे चौरास्ते बन गये। उन चौराहोंके क्रमसे ही सर्वत्र समान दूरीपर डोरी बाँधकर निर्मित वणिकोंकी हाट (बाजार), हाट-वीथियाँ सुशोभित होने लगीं।'

इसी वस्त्रमयी पुरीके अन्तर्देशमें, बहिर्देशमें—यथास्थान गायें आकर एकत्र होने लगती हैं। ओह! इस समय उनकी शोभाका क्या कहना!—

यत्रादौ प्रथमागता कतिपयी तस्थौ गवां संहतिस्तत्रैव क्रमतः समेत्य शनकैर्वृद्धिं प्रयान्ती ततः।

**ज्योत्स्नाखण्डमिवाग्रतः समभवत् पश्चादभूत् पायसः
कासारः क्रमतोऽभ्यपद्यत तदा क्षीरस्य वारां निधिः॥**

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पहले वहाँ कुछ गोश्रेणियाँ आकर खड़ी हुईं, फिर क्रम-क्रमसे और आ-आकर उनमें मिलने लगीं। इस प्रकार धीरे-धीरे धेनुश्रेणीका विस्तार होने लगा। पहले तो प्रतीत होता था, मानो वह धेनुराशि ज्योत्स्नाखण्ड हो! फिर संख्या बढ़नेपर ऐसा दीखने लगा जैसे दुग्धमय सरोवर हो! इसके अनन्तर तो देखते-ही-देखते वह ओर-छोर-विहीन क्षीरसमुद्र-सी बनकर लहराने लगी!'

मत्त गयंद-से झूमते हुए बलीवर्द शकटोंको खींचते वस्त्रप्राचीरके विशाल द्वारसे प्रवेश करने लगते हैं। प्रबन्धक उन्हें यथायोग्य विश्रामशिविरतक पहुँचा आते हैं। बलीवर्द शकटसे खोलकर पृथक् कर दिये जाते हैं। फिर वृद्धाएँ, युवतियाँ, कुमारिकाएँ नीचे उतरती हैं। चार पहर विश्रामके लिये उपयोगी सामग्रियाँ भी वे रथसे उतारती हैं। बैलोंके रक्षकगण उनके लिये मृदुल तृण, जल, अन्न आदिका आहार प्रस्तुत करनेमें व्यस्त हो जाते हैं। वणिक् हाट सजा लेते हैं। यथायोग्य क्रय-विक्रय आरम्भ हो जाता है। अनुचरियाँ आवश्यक द्रव्य लेने हाट चली जाती हैं। गोपसुन्दरियाँ घर बसाने लगती हैं। अपने-अपने अधिकारमें आये स्थानको, अपनी रन्धनशाला, शयनागारको परिष्कृत, सुव्यवस्थित करनेमें अधिकारीगण जुट पड़ते हैं। इतनेमें ही भगवान् किरणमाली अपने चतुर्यामव्यापी यात्रापथकी परिसमाप्ति कर श्रान्त-से हुए, मानो पश्चिमदिक्-सुन्दरीके भवनमें निवास करनेकी इच्छासे नीचे उतर रहे हों—इस प्रकार क्षितिजको छूने लगते हैं—

अथैवं शकटपटलादवतरत्सु सकलजनेष्ववतार्यमाणेषु तत्समयोपयोगिभाजनेषु मोचितेष्वप्यनडुत्सु तदाहारोपपादनपरेषु तदधिकारिषु यथायथं क्रयविक्रयपरेषु परिचारिकादिषु रसवत्यादिस्थलपरिष्कारपरेषु तदधिकारिषु भगवानपि मयूखमाली यामचतुष्टयगम्यं गमनपथमतिक्रम्य श्रान्त इव वरुणदिङ्नागरीगृहे वासं विधित्सन्निव समपद्यत।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजेन्द्र, उपनन्द, अभिनन्द, संनन्द, नन्दन—पाँचों भाई एवं कतिपय विशिष्ट वृद्ध गोप तो व्यवस्थाका निरीक्षण करने पहले ही पहुँच चुके हैं। यद्यपि प्रबन्धकोंको यह आशा सर्वथा न थी कि इस अपार जनसमुदाय, शकटावलि एवं गोराशिको पार कर इनमेंसे कोई भी इतनी शीघ्रतासे तटपर आ पायेंगे, तथापि सब-के-सब शिबिरकी रचना प्रारम्भ होते-न-होते आ पहुँचे और प्रबन्धकोंकी बुद्धिकी प्रशंसा करते हुए कालोचित कर्तव्यमें योगदान देने लगे; किंतु व्रजेश्वरीका रथ अब पहुँच पाया है। एक तो अपार भीड़ थी, स्वाभाविक विलम्ब होना ही था। दूसरे उसपर आरोही कौन हैं? यशोदारानीके चञ्चल नीलमणि एवं रोहिणीनन्दन बलराम, जो उस रथपर विराजित हैं! न जाने कितनी बार मैयाको शकट रुकवाना पड़ा, कितनी बार राम-श्यामने शकटसे उतरकर समीपवर्ती कासार (तालाब)-के प्रस्फुटित पद्मोंका, पद्मपत्रोंका चयन किया, वन्यतरुओंकी छायामें बैठकर अपने द्वारा संगृहीत पत्रोंपर ही मिष्टान्न रखकर भोजन किया। फिर रथपर चढ़ते, कुछ दूर चलते। इतनेमें लता-वल्लरियोंपर कोई सुन्दर कुसुम दीख जाता और वे उसे लेनेके लिये मचल उठते। कोई अन्य गोप या गोपी चयन कर ला दे, यह कैसे सम्भव है। वे तो स्वयं चयन करके ही रहेंगे। कुसुमको अपने हाथमें लेकर ही वे शान्त होते। इसके अतिरिक्त रथ जाता होता। पुष्पित तरुश्रेणी ऊपर झूमती होती, फलभारसे लदे वृक्ष नमित हुए होते, रथको स्पर्श करते होते। यदि श्रीकृष्णचन्द्र जननीके भुलावेमें पड़ गये, उस ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी, तब तो ठीक। अन्यथा उन रंग-बिरंगे पुष्पगुच्छ एवं फलगुच्छोंको तोड़कर दे देनेके लिये वे जननीको विवश कर देते। रथ रुकता, व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणी रथसे हाथ बढ़ाकर पुष्प तोड़तीं, फल तोड़तीं और जब श्रीकृष्णचन्द्रके दुकूल पूर्ण हो जाते, तब कहीं शकट बढ़ पाता। श्रीकृष्णचन्द्र दोनों हाथोंसे अन्य शकटोंपर पुष्पोंकी वर्षा करते और प्रसन्न होते। इसीलिये रथ इतने विलम्बसे आया है, सांध्यश्री जब रविनन्दिनीके परिसरको रञ्जित करने लगती हैं, तब पहुँच पाया है।

विहंगम मधुर कलरव करते हुए आकाशपथसे

अपने आवास-नीड़की ओर उड़े जा रहे हैं। मयूर आदि पक्षी ऊँचे वृक्षोंकी शाखापर निविष्ट हो चुके हैं। मृगोंके दल मण्डलाकार हुए, सब दिशाओंकी ओर मुख किये शान्त बैठे मन्द-मन्द रोमन्थन (पागुर)-में तल्लीन हैं। अतिशय मधुपानसे मुग्ध मधुकरवृन्द, कमलकोश निमीलित हो जानेके कारण, वहीं वन्दी बन चुके हैं, कुमुदिनी अपनी अभिलषित वेलाका समागम देखकर प्रफुल्लित हो रही है, हँस उठी है। अभी-अभी निर्मित प्रत्येक वस्त्रगृहके अभ्यन्तर दीप प्रज्वलित हो चुके हैं, उन दीपोंकी ज्योति सहृदय जनकी हृदय-ज्योतिकी भाँति बाहर भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगी है। प्रत्येक पथमें व्रजेशके प्रहरीगण अपने-अपने स्थान ग्रहण कर चुके हैं। ऐसे अपने अभिनव शासनका विस्तार कर प्रदोषलक्ष्मी मानो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी परिचर्या करनेके उद्देश्यसे वहाँ पधारी हों, इस प्रकार उस यमुनातरङ्गमुखरित वनप्रान्तरको आच्छादित कर लेती हैं—

ततश्च कुलायकुलाय समुन्मुखतया नभसि समुड्डीयमानेषु कलितकलरवेषु खगकुलेषु, उच्चतरं तरुमनु कृतोपवेशेषु मयूरादिषु, मण्डलीभूय सर्वतो दिगभिमुखं निषद्य रोमन्थमन्थरेषु मृगनिकुरम्बेषु, कमलकुहरविहरणवशतया वन्दीभवत्सु मधुकरनिकरेषु × × × अभिलषितसमयासादनेनेव हसितविकसितवदनासु कुमुदिनीषु × × × प्रतिपटभवनकुहरमधिज्वाल्यमानेषु बहिरपि सहृदयहृदयप्रकाशेष्विव दृश्यमानेषु दीपेषु प्रतिसरणि समुपविष्टेषु यामिकेषु कापि प्रदोषलक्ष्मीर्भगवन्तमुपचरितुमाजगामेव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अब व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणी श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीबलरामको अङ्कमें धारण किये रथसे उतरती हैं, उतरकर अपने लिये ही बने एक परम सुन्दर विश्रामागारमें चली जाती हैं। अगणित दास-दासियोंने सब कुछ पहलेसे ही सुव्यवस्थित कर रखा है। मैया एवं श्रीरोहिणीके लिये एक ही कार्य बचा है। वह यह कि यहाँ इस वनपथके वस्त्रमय गृहमें भी वे दोनों राम-श्यामके समीप बैठकर यथेच्छ लाड़ लड़ायें। इसीलिये मैया आते ही राम-श्यामको ब्यारू (रात्रिभोजन) करानेमें लग जाती हैं। उसी समय असंख्य गायोंके एक साथ अविराम दोहनसे उत्थित 'घर-घर' का महान् रव श्रीकृष्णचन्द्रको सुन पड़ता है। पयोधिमन्थन-सी वह तुमुल ध्वनि—जैसे-जैसे दुग्ध एकत्र होकर दोहनपात्रमें घूमने लगता है, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर गम्भीर मनोहर मधुर होती जाती है तथा उसे सुन-सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दमें निमग्न होने लगते हैं—

भूयान् दोहरवः पयोधिमथनध्वानाकृतिर्दोहनीगर्भ-
भ्रान्तगभीरमुग्धमधुरः कृष्णस्य रस्योऽभवत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु कुछ ही क्षणोंमें शैशवोचित आलस्य श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें भरने लगता है। मैया अनेकों मनुहार कर, बातें सुना-सुनाकर उन्हें चैतन्य रखना चाहती हैं; अन्यथा उनके नीलमणि भूखे जो रह जायँगे। 'अरे नीलमणि! देख बेटा, वह देख! दुहनेवाले गोप तेरी धवलीको, शबलीको दुहने जा रहे हैं। अरे, देख तो सही, उनके नाम ले-लेकर वे उन्हें उच्च कण्ठसे पुकार रहे हैं। अरे! आयी! आयी! वह देख! पुकारका उत्तर देती, बदलेमें हाम्बाराव करती शबली आ गयी, अहा हा! गायोंकी भीड़से निकलकर 'हुम्मा-हुम्मा' करती धवली भी दौड़ आयी। जा, तू तो सो रहा है और तेरी गायें कूद रही हैं। वह देख, वे आकर गोपोंके निकट खड़ी हो गयीं, गोप उनके अङ्गोंपर बार-बार हाथ फेर रहे हैं, उनका अङ्गमार्जन कर रहे हैं। ओह! सचमुच तेरी शबली गाय कितनी सुन्दर है, तू देख तो भला! बलिहारी तेरी धवलीके मनोहर सौन्दर्यकी।'

नामग्राहं प्लुतवचनया गोदुहाऽऽहूयमाना
हम्बारावैः प्रतिरवकरी धाविता धेनुवृन्दात्।
अभ्यायाता निकटमसकृत् पाणिना मृष्टगात्री
काचित्काचित् क्वचन रुचिरा नैचिकी दृश्यते स्म॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

—इस प्रकार तत्कालीन गोदोहनके दृश्योंका वर्णन कर मैया श्रीकृष्णचन्द्रको सजग रखनेका प्रयास करती हैं। पर श्रीकृष्णचन्द्र तो अर्द्धचर्वित ग्रास मुखमें लिये तन्द्रित होकर जननीकी गोदमें लुढ़क ही पड़ते हैं। यही स्थिति अग्रज श्रीबलरामकी भी है। अस्तु, मैया दोनोंका मुख प्रक्षालनकर, फिर क्रमशः शयनागारमें

ले जाकर एक परम सुन्दर शय्यापर शयन करा देती हैं। इतनेमें ही विशिष्ट गोपोंके साथ व्रजेन्द्र अपने शिविरमें पधारते हैं। मैया उन सबको भोजन कराती हैं। फिर श्रीरोहिणीके सहित स्वयं भी किञ्चित् आहार कर अपने नीलमणिके समीप चली जाती हैं।

प्रत्येक व्रजवासीको सभी प्रकारकी सुविधाएँ प्राप्त हो गयी हैं। खान-पान-विश्रामकी इतनी सुन्दर व्यवस्था इस अस्थायी शिविरमें भी हो गयी है कि सबको बृहद्वनमें अपने पूर्व आवासमें ही होनेका-सा भान होने लगता है। भोजन-पानसे निवृत्त होनेके अनन्तर उल्लासमें भरे, इस वस्त्रमयी पुरीकी रमणीय शोभाका दर्शन करते हुए सर्वत्र घूमकर वे व्रजपुरवासी नर-नारी— आबाल-वृद्ध सभी सुखपूर्वक गम्भीर निद्रामें अचेत होने लगते हैं। किसीको कोई शङ्का नहीं, भय नहीं। सर्वत्र व्रजेशके प्रहरी सावधान-सजग जो हैं। चारों ओरसे प्रहरियोंके उच्चकण्ठसे निकली हुई, उनके जागरण-कौशलका प्रदर्शन करनेवाली ध्वनि जो आ रही है। और फिर वह कालिन्दीका 'कल-कल' नाद! शरद्-हेमन्तकी संधिपरकी शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना—गोपी-गोप गम्भीर निद्रामें विभोर क्यों न हों!

अस्तु, मध्यनिशा आती है। फिर क्षण-क्षण करके तृतीय यामका भी अवसान हो जाता है। व्रजपुरन्ध्रियाँ जाग उठती हैं, शय्या परित्यागकर पवित्र होकर अतिशय पवित्र वेष-भूषा धारण करती हैं। फिर उस वस्त्रमय गृहके अलिन्ददेश (बाहरके चबूतरे)-में चली जाती हैं। अलिन्द उस समय भी प्रज्वलित दीपसे उद्भासित हो रहा है। वहीं वे वास्तुपूजोपहार समर्पित करती हैं। यह करके दधिमन्थनमें संलग्न होती हैं। मन्थनके समय तो उनकी दैनंदिनी चर्या ही है बाल्यलीलाविहारी स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका गुणगान करना। अत: आज इस समय भी वे मधुर कण्ठसे गायन करने लगती हैं। साथ ही मन्थनक्रियासे स्पन्दित हुए उनके मणिमय मञ्जु मञ्जीर, वलय आदि विविध भूषण मृदु, मधुर झंकार करने लगते हैं। इनमें ही मन्थन-गगरीके अभ्यन्तर होनेवाले मसृण गभीर नादका, संगीतकी सुन्दर स्वर-लहरीसे निस्सृत मधुरिमाकी पुट लेकर अतिशय ललित हुए 'घर-घर' रवका योग हो जाता है। ओह! फिर तो जगत्के अशेष अमङ्गलको निर्मूल कर देनेवाली इस ध्वनिके लिये कहना ही क्या है! दिगङ्गनाएँ प्रतिध्वनि करके इसका और भी विस्तार कर देती हैं। यह परम मङ्गलघोष अन्तरिक्षके विमानोंपर सुप्त सुरसुन्दरियोंके कर्णरन्ध्रमें प्रविष्ट होने लगता है। अहा! यह अप्रतिम लीला-श्रवण-सुख! इसकी तुलनामें तो देवस्पर्शसुख नगण्य है, हालाहलकी ज्वाला है। वे मुँह फेरकर उठ बैठती हैं। एकान्तभावसे गोपसुन्दरियोंके इस सुधास्रावी मङ्गलगानको सुन-सुनकर आनन्द-रस-मग्न होने लगती हैं। उनके मनकी समस्त वृत्तियाँ व्रजशिबिरकी ओरसे आनेवाली इस मनोहर ध्वनिमें ही विलीन हो जाती हैं—

यामैकशेषा रजनी यदा समजनि तदा शयनतलादुत्थितवतीभिरतिशुचितरवेशभूषाभिराभीरभीरुभिरपि प्रतिपटगृहालिन्दं दीपितदीपं कृतवास्तुबलिभिरभितो भगवद्बालकृष्णगुणगणगानकलरवकर्णरम्यं युगपद्विधीयमानस्य दधिमथनस्य मणिमयमञ्जुमञ्जीरवलयादिविविधभूषणशिञ्जितसहचरेण गर्गरीकुहरविहरमाणमसृणतरगभीरनिनदेन गानकलरवमधुरिमसरसतयातिशयसुललितेन जगदमङ्गलसमूलनिर्मूलीकरणकुशलेन दिगङ्गनागणकृतानुध्वननविरचितपरिपोषेण तत्क्षणममराङ्गनानामपि पतिशयनजुगुप्सया त्वरितमेव जाग्रतीनामेकान्तभावेन तमेव घोषनिर्घोषमाकर्णयन्तीनां श्रवणानन्दो जायते स्म।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू:)

गोपरमणियोंका गान सुनकर यशोदारानी भी उठ बैठती हैं। सदा तो मैया प्रथम जागती थीं, फिर व्रजसीमन्तिनियोंका दधिमन्थन एवं श्रीकृष्णलीलागान आरम्भ होता था। पर आज क्रम बदल गया। आज मैया अतीतकी स्मृतिमें ऐसी फँसीं कि और सब कुछ भूल गयीं। नीलमणिका उनकी कोखसे भूमिपर पदार्पण, श्रीवसुदेवके दूतका आगमन, छ: दिनका अखण्ड जन्मोत्सव-समारोह एवं छठीपूजन, पूतनामोक्षण, श्रीधर ब्राह्मणका प्रवञ्चन, शकटभञ्जन, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठपूजन, तृणावर्तनिधन, नीलमणिका नर्तन एवं

चन्द्रखिलौना-याचन, रामलीलादर्शन, मृत्तिकाभक्षण, फलवालीके दिये फलोंका परिवेषण, विविध भाँतिसे लालन-पालन, कण्वका खीरभोजन, शालग्रामदेवका अपहरण, श्रीकृष्णचन्द्रका वन्यक्रीडन एवं जननीद्वारा 'हाऊ' का भयप्रदर्शन, चोटी बढ़नेके प्रलोभनसे नीलमणिका दुग्धपान, गोपसुन्दरियोंके घर जा-जाकर नवनीत-अपहरण, नानाविध उपालम्भके मिससे गोप-सुन्दरियोंका व्रजेश्वरीके समक्ष श्रीकृष्णलीलाकीर्तन, मुक्तातरुसे मुक्ताफलका सृजन, अन्य गृहमें न जानेके लिये जननीका प्रबोधन, पुत्रके लिये दधिमन्थन, नीलमणिका दधिभाण्डभञ्जन, जननीकृत शासन एवं उदरबन्धन, अनुजके बन्धनसे बलरामका रोदन, यमलार्जुनतरुका पतन, श्रीकृष्णचन्द्रका उन्मुक्त विहरण एवं जननीकृत आह्वान तथा अन्तमें सबके परामर्शसे वृन्दावनकी ओर गमन—इन समस्त लीलाओंको, इनसे सम्बद्ध अगणित घटनावलीको, अपने नीलमणिकी असंख्य मृदुल मनोहर उन्मादिनी बाल्यभङ्गिमाओंको बारंबार स्मरण करती हुई जननी इनमें ऐसी डूबीं कि समयपर जागना भी भूल गयीं। अखण्डरूपसे दिनभर अपने नीलमणिकी लीलाका ही गान सुनते रहनेपर वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके चित्तकी यह अवस्था हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है; आश्चर्य तो यह है कि इस समय पुनः गोपरामाओंके उन्हीं गीतोंको श्रवणकर वे सर्वथा बेसुध नहीं हो गयी हैं, अपितु तन्द्रासे जाग उठी हैं! किसी अचिन्त्यशक्तिकी प्रेरणासे ही ऐसा हुआ है। अन्यथा मैया यदि सतत स्नेहोन्मादिनी बनी रहें तो नीलमणिकी सँभाल कौन करे। वास्तवमें तथ्य यही है कि उनके नीलमणिकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्ति ही उन्हें रसास्वादन करानेके उद्देश्यसे ही मैयाको आत्मविस्मृत करती हैं और फिर आवश्यकताके समय बाह्य जगत्में ले आती हैं। अस्तु, व्रजेश्वरी उठती हैं, उठकर वस्त्रपरिवर्तन कर अपने नीलमणिके प्रातर्भोजनकी सामग्रियाँ एकत्र करने लगती हैं। वास्तुपूजन तो श्रीरोहिणीने जननीके उठनेसे पूर्व ही कर लिया है एवं दासियाँ दधिमन्थनमें लग चुकी हैं।

जिस प्रकार बृहद्वनसे यात्रा आरम्भ हुई थी, सभी अपने-अपने गो-महिषोंको एकत्रकर, सामग्रीको शकटोंपर आरोपितकर चले थे—

व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३०)

—उसी प्रकार इस विश्रामशिबिरसे भी चल पड़नेके लिये व्रजपुरवासी प्रस्तुत होने लगते हैं। किरणोदय होनेपर यमुनाको पार जो करना है। उपनन्दका यही आदेश सबको कल ही शयनसे पूर्व मिल चुका है। फिर भी दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ एक बार नन्दनन्दनका मुखचन्द्र निहार लेनेके लिये विविध बहानोंसे व्रजरानीके शिबिरमें आ रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी आज अपने-आप ब्राह्ममुहूर्तमें ही जाग गये हैं। उनका दर्शन पाकर व्रजपुरन्ध्रियाँ कृतार्थ हो रही हैं।

पूर्वगगन अरुण रागसे रञ्जित होने लगता है। व्रजेश्वर अपने इष्टदेव नारायणकी अर्चनामें संलग्न हैं। व्रजेश्वरी नीलमणिको अङ्कमें धारण किये अतिशय संनिकट यमुनाप्रवाहमें स्नान करने जा रही हैं। उस समय तपनतनया श्रीयमुनाकी शोभा भी देखने ही योग्य है—

अति मंजुल जल प्रबाह, मनोहर सुखावगाह,
बिदित राजत अति, तरनि-नंदिनी।
स्याम बरन झलकत रूप, लोल लहर बर अनूप,
सेवित संतत मनोज, बायु मंदिनी॥
कुमुद-कंज-बन बिकास, मंडित दिसि-दिसि सुवास,
गुंजत अलि-हंस-कोक मधुर छंदिनी।
प्रफुलित अरबिंद-पुंज, कोकिल कलसार गुंज,
गावत अलि मंजु पुंज, बिबुध बंदिनी॥
नारद-सिव-सनक-ब्यास ध्यावत मुनि धरत आस,
चाहत पुलिन बास, सकल दुख निकंदिनी।
नाम लेत कटत पाप, मुनि-किनर-ऋषि-कलाप
करत जाप परमानंद, महा अनंदिनी॥

व्रजवासियोंके यमुना-पार जानेका वर्णन; श्रीकृष्णका वृन्दावनकी शोभाका निरीक्षण करके प्रफुल्लित होना; शकटोंद्वारा आवास-निर्माण

वृन्दावन पहुँचनेके उद्देश्यसे सर्वप्रथम गोपोंकी अपार धेनुराशि यमुना-संतरण कर रही है। गोप बार-बार 'ही-ही' का तुमुलनाद करते हुए उन्हें उत्साहित कर रहे हैं, पार पहुँच जानेकी प्रेरणा कर रहे हैं। गायें भी अपने हम्बारवसे उन गोपरक्षकोंके आदेशका अनुमोदन-सा करतीं, उन्हें प्रत्युत्तर-सा देतीं, प्रखर धाराको चीरती हुई अग्रसर हो रही हैं। परिश्रमजन्य निःश्वासकी गतिसे उनके नासापुट विस्फारित हो गये हैं, संतरणक्रियासे शरीरके आगेवाले अंश ऊपर उठे हुए हैं। इस प्रकार क्रमशः धाराको पारकर वे यमुनाके उस पार पहुँच रही हैं—

हीहीकारध्वनिभिरसकृद्वल्लवैः प्रेर्यमाणं
हम्बारावैरनुमतिकराण्युत्तराणीव कुर्वत्।
स्फायद्घोणं श्वसितपवनैरुन्नमत्पूर्वकायं
पार्श्वस्त्रोतस्तदथ यमुनां धेनुवृन्दं ततार॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

असंख्य गोवत्स भी निःशङ्क उस पार पहुँच रहे हैं। अभी उनके मस्तकपर सींग भी नहीं उगे हैं, छोटा-सा सुन्दर सिर है, पर संतरणके उल्लाससे वे परिपूर्ण हैं। शरीर भी छोटा ही है, इसीलिये अतिशय वेगसे, सुखपूर्वक वे धाराका अतिक्रमण करते जा रहे हैं। उनके लघुपुच्छके लोम जलसे भीगकर भारी हो चुके हैं। अतः वे उसका संचालन नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी उन्हें कोई भय नहीं है। उनकी जननी उनके आगे-आगे तैरती जो जा रही हैं। अपनी माताके पीछे-पीछे वे गोवत्स भी सर्वत्र सकुशल पार उतर रहे हैं—

शृङ्गाभाववशाल्लघूनि वदनान्युल्लासयन्तः सुखं
स्तोकत्वादपि वर्ष्मणोऽतितरसा निर्लङ्घयन्तो जलम्।
पुच्छानां सलिलाप्लुतौ गुरुतया नोल्लासनेऽतिक्षमाः
क्षेमं वत्सतराः प्रतेरुरभितः स्वस्वप्रसूपूर्वतः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जो नवप्रसूत, आजकलमें उत्पन्न हुए अत्यन्त छोटे गोवत्स हैं, स्वयं तैरकर पार जानेमें असमर्थ हैं, उन्हें संतरण-पटु गोप अपने कंधोंपर बिठाकर, स्वयं तैरकर उस पार ले जा रहे हैं। उनके चार पैरोंमेंसे दोको वामस्कन्धपर, दोको दक्षिणपर धारणकर, गोवत्सोंको प्रथम सुखपूर्वक पीठ एवं कंधेपर यथोचित बैठाकर, कहीं वे बीच धारामें कूद न पड़ें, इस आशङ्कासे लिये उनके चारों पैरोंको अपने वक्षःस्थलसे सटाकर एक हाथके द्वारा दृढ़तापूर्वक दबाये हुए एवं दूसरे हाथसे स्वच्छन्द तैरते हुए वे कुशल तैराक गोप उन्हें पार पहुँचा दे रहे हैं। आगे-आगे तो स्कन्ध एवं पीठपर गोवत्स धारण किये गोप तैरते जा रहे हैं एवं उनके पीछे-पीछे उन गोवत्सोंकी माताएँ 'हुम्मा-हुम्मा' करती रविनन्दिनीकी धाराको विदीर्ण करती अतिशय वेगसे संतरण करती जा रही हैं—

ग्रीवापीठेषु कृत्वोरसि मृदुचरणान् बाहुनैकेन रुद्ध्वा
वत्सान् सद्यः प्रसूतान् प्रतरणपटवो बाहुनान्येन केचित्।
स्वच्छन्दं संतरन्तः कलितकलघनस्वानमेषां प्रसूभिः
पश्चात् संगम्यमानास्तरणिदुहितरं गोदुहः सम्प्रतेरुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उन परम श्रेष्ठ वृषभोंके यमुना-संतरणकी छटा तो

निराली ही है। उनके पूर्ण परिपुष्ट विशाल ककुद्से कालिन्दीकी लहरें टकराती हैं, टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। स्रोतका वेग अत्यन्त प्रबल होनेपर भी ये बलदृप्त बृषभ अत्यन्त सरल भावसे तैरते जा रहे हैं। उनके ककुद्के निकट जलस्रोत किञ्चित् रुद्ध होकर ऊपर उछलने लगता है। तरंगें ककुद्का अभिषेक करने लगती हैं। इस आघातसे उन वृषभोंको ऐसा भान होता है, मानो लहरें उनसे युद्ध करने आयी हों। वे क्रोधमें भरकर अतिशय सुन्दर मुद्राका प्रदर्शन करते हुए अपनी ग्रीवा टेढ़ी कर लेते हैं तथा सींगोंसे लहरोंपर प्रहार करने लग जाते हैं। इस प्रकार बीच-बीचमें लहरोंसे खेलते, सिर उठाये, अपने दीर्घश्वास एवं संतरणकी वेगपूर्ण गतिसे धाराको क्षुब्ध करते हुए वे उस किनारे जा खड़े होते हैं—

पूर्णाभोगे तरंगान् सुमहति ककुदे जर्जरीभावमाप्तान्
ग्रीवाभङ्गाभिरामं प्रकुपितमनसस्ताडयन्तो विषाणैः।
स्रोतो वेगेऽपि तुङ्गे त्वरितमृजुतरं पुंगवाः पुंगवाना-
मुन्मूर्द्धानोऽतिदीर्घश्वसितजवभरोद्धूतमम्भः प्रतेरुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम अपने विशाल शकटपर व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणीके पार्श्वमें खड़े रहकर अपार गोधनकी यमुना-संतरण-लीला देख रहे हैं। ऐसा अभिनव कौतुक प्रथम बार देखनेको मिला है। उनके आनन्दका पार नहीं। अपने करपल्लव नचा-नचाकर वे रोहिणीमैयाको, व्रजरानीको बार-बार किसी-न-किसी गोविशेषकी ओर, उसकी संतरण-भङ्गिमाकी ओर देखनेकी प्रेरणा करते हैं तथा रह-रहकर शकटसे कूद पड़नेको उद्यत हो जाते हैं। यदि दोनों माताएँ निरन्तर सजग न होतीं तो न जाने अबसे कितना पहले वे धारामें कूदकर सम्भवतः किसी तैरते हुए गोवत्सकी पूँछ पकड़ लेते। उनसे कुछ ही दूरपर एक ऊँचे टीलेपर खड़े व्रजेश्वर अपने साँवरे पुत्रकी आनन्दमुद्रा निहार-निहारकर नेत्र शीतल कर रहे हैं। पार जाती हुई गायोंकी व्यवस्थाको तो वे कभीके भूल चुके हैं। उनकी वृत्ति सब ओरसे सिमटकर श्रीकृष्णचन्द्रमें लग रही है।

जो हो, धीरे-धीरे धेनुसमूह, वृषभोंके दल—सभी पार हो गये, कालिन्दीके कर्पूरधूलि-पटलसदृश स्वच्छ सैकत-तटपर श्रेणीबद्ध होकर खड़े हो गये। मानो संतरणजन्य परिश्रमके कारण थके-से होकर वे विश्राम कर रहे हों। इधर नौकाएँ एकत्र होने लगती हैं। गायें तो पार हो चुकीं, अब इन शकट-समूहोंको जो पार करना है। इन नौकाओंसे यमुनाके वक्षःस्थलपर सुन्दर सेतुकी रचना होगी और उसपर शकट एवं गोपी-गोप पार उतरेंगे। अस्तु, सेतुरचनामें कुशल गोप जुट पड़ते हैं। केवट उनके आदेशानुसार इस तटसे उस तटतक एक पंक्तिमें नौकाएँ खड़ी करते जा रहे हैं एवं कलाविद् गोप उन्हें काश, कुश, सरकंडे एवं बाँसके सहारे परस्पर संनद्ध करते जा रहे हैं। देखते-देखते दोनों किनारोंके मध्यमें अत्यन्त सुन्दर सेतु निर्मित हो जाता है। इतना सुदृढ़ एवं भयबाधाशून्य कि मानो एक विशाल राजपथ ही यमुनाकी लहरोंपर फैला हो!—

काशकुशशरवंशवैरलंकर्मीणनिर्मितपरस्परनद्ध-
प्लवराजी राजपद्धतिरिवासम्बाधतया साधिता।

(श्रीगोपालचम्पूः)

उसी सेतुपर 'घड़-घड़' करती हुई शकटश्रेणी चल पड़ती है। पुनः व्रज-सुन्दरियोंका गायन आरम्भ होता है। गोपोंके आनन्दातिरेकवश उच्च हास्यसे आकाश गूँज उठता है। दल-के-दल युवक गोप नाचते-कूदते, नाना प्रकारकी क्रीड़ा करते हुए चल पड़ते हैं। क्रमशः सेतुको पारकर सभी वृन्दावनकी भूमिमें पदार्पण करते हैं। राम-श्यामको अङ्कमें धारण किये श्रीरोहिणी एवं व्रजेश्वरी भी अपने विशाल रथपर आसीन हुई इस पार आ जाती हैं। बस, इस पार आने भरकी—शकट इस तटको छू भर ले, इस बातकी देर थी; फिर तो राम-श्यामको मैया रथपर बैठाये रख

सकें, यह असम्भव है। मैयाकी सारी सावधानी धरी रह गयी, वे दोनों विद्युद्गतिसे शकटसे नीचे कूद ही तो पड़े। कूदकर सुबल, श्रीदाम आदि सखाओंको अतिशय उच्च कण्ठसे पुकारने लगे। वे गोपशिशु भी मानो इस प्रेमिल आह्वानकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। सब-के-सब एकत्र हो जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटनघटनापटीयसी योगमायाशक्तिके प्रभावसे अबतक प्रत्येक गोपशिशुको यही अनुभव हो रहा था, बृहद्वनसे यात्रा आरम्भ होनेके समयसे अबतक सबकी यही प्रतीति थी कि उसका रथ एवं श्रीकृष्णचन्द्रका रथ—दोनों ही सदा साथ-साथ चल रहे हैं, उसका रथ ही अन्य सबकी अपेक्षा श्रीकृष्णचन्द्रके रथसे निकट है। फिर आह्वान पा लेनेपर उनके एकत्र होनेमें क्या विलम्ब होता! असंख्य रथोंपर आसीन वे गोपशिशु क्षणोंमें ही श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आ पहुँचते हैं। आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावनकी शोभा निहारने उस ओर अग्रसर होने लगते हैं तथा ये गोपशिशु भी—कुछ उनके आगे, कुछ पीछे रहकर—साथ-साथ ही चल पड़ते हैं। प्रतिक्षण नव-नव शोभा धारण करनेवाले, अत्यन्त रहस्यपूर्ण इस वृन्दावनका तो कहना ही क्या है! जिधर दृष्टि जाती है, शोभाकी राशि बिखर रही है। श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम कभी बायीं तो कभी दाहिनी ओर दृष्टिपात करते हुए, वनका पर्यवेक्षण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करने लगते हैं—

रामकृष्णौ च बद्धतृष्णावासादिततती-रोपकण्ठावुत्कण्ठया भुवि शकटादुत्प्लुतौ प्लुतसम्प्लुताह्वानतः सुखसमन्वितं सखीनन्वग्विधाय प्रत्यग्रमपि प्रत्यग्रायमाणवैचित्रीगहनं गहनमवगाहमानौ सव्यापसव्ययोः पश्यन्तौ चरणचारितामेवाचरितवन्तौ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

कविकी कल्पना आज सत्य हुई। उसकी रसनाकी ओटमें स्वरोंकी झंकार करती सुरसुन्दरीका स्वप्न आज मूर्त हो गया। कवि जब कभी भी शुक-पिक आदि कलकण्ठ वन-विहंगमोंकी काकली सुन पाता है, तब उसे कल्पना-राज्यमें अनुभूति होती है—यह काकली नहीं, यह तो संगीत-स्वरलहरी है। उसके नेत्र मन्द-समीर-संचालित लता-वल्लरियोंके स्पन्दनको नृत्यके रूपमें ही अनुभव करते हैं। मेघके समागमसे पृथ्वीपर उठी हुई अङ्कुरराशिको देखकर कविको यह भान होता है कि ये अङ्कुर नहीं, यह तो हर्षवश धरासुन्दरीको रोमाञ्च होने लग गया है। अपनी इस अनुभूतिको वह काव्यमें गुम्फित कर देता है। पर उसकी यह अनुभूति सार्वजनीन नहीं हो पाती। जनसाधारणके लिये विहंगम-काकली, लतास्पन्दन, भूमिका अङ्कुरोद्गम—सभी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। किसीको इनमें गान, नृत्य एवं रोमाञ्चका अनुभव कदापि नहीं होता। कविकी कल्पना कल्पना ही रह जाती है, सत्य बनकर प्रकट नहीं होती। किंतु कदाचित् उसके नेत्र प्राकृत सौन्दर्यसे ऊपर उठ जाते, वाग्वादिनी भी कमलयोनिसे सृष्ट जगत्‌को भूलकर नित्य चिन्मय वृन्दावनको देखने लग जातीं, इस समय वृन्दावनमें विहरणशील श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन कर पातीं, वीणाधारिणीके नेत्रोंमें नेत्र मिलाकर कवि भी इस अप्रतिम सौन्दर्यकी झाँकी कर पाता और फिर काव्य-रचना होती, अनुभवको शब्दका रूप मिल जाता तो वह सौन्दर्योक्ति निश्चय ही कल्पना न होती, कल्पना प्रतीत होनेपर भी कविका वर्णन अक्षरशः सत्यका निदर्शन होता; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रका सांनिध्य पाकर आज विहंगमोंकी काकली काकली नहीं रही है, वास्तवमें ही संगीतकी मधुर रागिणी बन गयी है; आज तरु-शाखाओंसे लिपटी लता-वल्लरियाँ पवन-संचारित होकर स्पन्दित हो रही हों—यह बात नहीं, अपितु वे श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे उल्लसित होकर सचमुच ही नृत्य कर रही हैं; भूमिपर अङ्कुरराशि उग आयी हो, यह नहीं, सत्य-सत्य ही वृन्दाकाननको धारण करनेवाली धराकी अधिष्ठात्री श्रीकृष्णचन्द्रके

चरणस्पर्शसे रोमाञ्चित हो रही है। ये गायन, नर्तन-पुलकोद्गम कविकी कल्पनामात्र नहीं, काव्यशास्त्रके रूपक अलंकारभर नहीं, ये तो चिदानन्द-परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके वृन्दावनमें पदार्पणसे व्यक्त होनेवाले स्वाभाविक परम सत्य परिणाम हैं। प्राकृत नेत्र-मन भले इन्हें देख न सकें—इनका अनुभव न कर पायें, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके कृपाकणसे पूत हुए दिव्य-शक्ति-विशिष्ट नेत्रोंके लिये तो ये नित्य सत्य हैं। वृन्दाटवी सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य एवं पुलकोद्गम आदि अगणित आनन्द-अनुभावोंसे परिपूर्ण हो गयी है, अरण्यका अणु-अणु अपनेमें न समाते हुए आनन्दको विभिन्न अनुभावोंसे व्यक्त कर रहा है—

यद्गानं विपिनस्य कोकिलकले नृत्यं लताविभ्रमे
रोम्णामुत्थितमङ्कुरे च कवितं योग्यान्निदानादृते।
तन्मिथ्या यदि कृष्णसंगतिवशात्तस्मिंस्तथा वर्ण्यते
सत्यं तर्हि सदापि तत्तदखिलं यस्माद्दरीदृश्यते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र कभी तो दौड़ते हैं और कभी किसी अतिशय प्रिय, स्निग्ध वयस्क गोपबालकके कंधेपर चढ़ जाते हैं। गोपशिशुओंका उत्साह भी बढ़ता ही जा रहा है। वे श्रीकृष्णचन्द्रको नव-नव निकुञ्जस्थलीकी ओर, लता-पल्लव-जालसे आवृत सुरम्य वनस्थलीकी ओर संकेत करके ले जाते हैं एवं वहाँकी शोभा निहारकर प्रफुल्लित होते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने सखाओंको एक-से-एक सुन्दर स्थानोंका दर्शन करा रहे हैं—इस प्रकार, मानो वे यहाँसे, यहाँके अणु-अणुसे चिरपरिचित हों। दल-दलके मृग एवं मयूर अपनी भङ्गिमासे शुभ शकुनकी सूचना देते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके सम्मुख आते हैं, ललकभरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखते रहते हैं, फिर चौकड़ी भरते, नृत्य करते सघन वनकी ओटमें छिप जाते हैं। उन्हींका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी इस कुञ्जसे उस कुञ्जमें, कभी तटसे वनकी ओर एवं कभी वनसे कालिन्दीकूलकी ओर अनवरत विचरण कर रहे हैं। यदि व्रजेश्वरीकी भेजी हुई परिचारिकाएँ उन्हें बुलाने न आ जातीं तो पता नहीं, श्रीकृष्णचन्द्र आज ही समस्त वनका निरीक्षण कर लेते। परिचारिकाओंके अनुरोधसे बाध्य होकर, उनकी मनुहारसे द्रवित होकर वे जननीके समीप चल तो पड़ते हैं, पर दृष्टि बार-बार जा रही है गिरिराज गोवर्द्धनके चरणप्रान्तमें जानेवाले तरु-लतामण्डित सुरम्य पथकी ओर ही। यदि किञ्चिन्मात्र भी और विलम्ब करके वे दासियाँ पहुँचतीं तो श्रीकृष्णचन्द्रको वहाँ कदापि नहीं पातीं। मृगशावककी भाँति दौड़कर एक बार तो वे आज ही उस परम सुन्दर अतिशय आकर्षक भूधरको अत्यन्त निकटसे देख ही लेते।

इधर नाविकोंको मुँहमाँगे पारितोषिक देकर, उससे भी बहुत अधिक देकर व्रजेश्वर उन्हें विदा करते हैं और पुनः तूर्यनाद करनेकी आज्ञा देते हैं। 'नवीन व्रजपुर इसी वृन्दावनमें, यहीं इस वनखण्डमें बसने जा रहा है'—वह गगनभेदी तूर्यनाद इसीकी सूचना कर रहा है। आवास-प्रबन्धक सचेष्ट हो जाते हैं। गोप-पुरन्ध्रियाँ रथोंसे उतर पड़ती हैं। व्रजेश्वर एवं उपनन्दके मनमें नवीन व्रजपुरका मानचित्र पहलेसे ही प्रस्तुत है। वे प्रबन्धकोंको आदेश दे चुके हैं। उसके अनुसार ही वे सब गोप-परिवारोंको स्थानका निर्देश करते जा रहे हैं तथा गोपगण शकटोंसे ही अपने-अपने आवासका निर्माण करनेमें संलग्न हो जाते हैं। सदा सब कालमें परम सुखदायक इस वृन्दावनकी भूमिपर अर्धचन्द्राकारमें नवीन व्रजपुरकी रचना आरम्भ हो जाती है—

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३५)

इहि बिधि श्रीबृंदाबन आइ।
निरखि अधिक आनंदहि पाइ॥

सकट कौ बान बनायौ ऐसौ।
सुंदर अर्धचंद होइ जैसौ॥

'शकटावर्त' नामक स्थानतक इस अर्धचन्द्राकृति पुरीकी रचना होती चली गयी। आठ कोस लंबी एवं चार कोस चौड़ी भूमिको यह नवीन व्रजपुर देखते-देखते ही घेर लेता है—

शकटावर्तपर्यन्तं चन्द्रार्धाकारसंस्थितम्।
मध्ये योजनविस्तीर्णं तावद् द्विगुणमायतम्॥

(हरि० विष्णु० ९। २१)

अवश्य ही व्रजपुरकी आठ कोसकी यह दीर्घता एवं मध्यमें चार कोसकी विस्तीर्णता—यह मान, यह परिमिति लोकदृष्टिसे ही प्रतीत हो रही है। वास्तवमें तो यह अनन्त है, अचिन्त्यशक्तिसमन्वित है, इसकी कोई सीमा नहीं। चिदानन्दमय परब्रह्मकी, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रकी यह पुरी है। उनके समान ही यह विभु है—

अष्टक्रोशीमायतं गोष्ठमेतन्मध्ये
तस्मिन् विस्तृतं चार्धमस्याः।
एतन्मानं चात्र लोकस्य
दृष्ट्या शक्त्यानन्ताचिन्त्यधामत्वमेव॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

इसके ठीक मध्यमें व्रजेन्द्रका आवास निर्मित होता है। उनके पार्श्वदेशमें उपनन्द आदि भ्राताओंका। उनके आगे अन्य गोपोंकी शकटरचित गृहावली सुशोभित होने लगती है—

मध्ये राज्ञः सद्म
तत्पार्श्वतस्तद्भ्रातॄणां तद्बाह्यतस्तत्परेषाम्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

सबके परामर्शसे अन्य स्थायी व्यवस्थाएँ कल होंगी, आज तो जैसे-तैसे विश्राम कर लेना है—यह सूचना सबको मिल जाती है। फिर तो गोपगण निश्चिन्त-से होकर वनकी ओर चल पड़ते हैं। व्रजसुन्दरियाँ भी कलशोंमें जल भरने यमुना-तटपर चली जाती हैं। तटकी एवं वनपथकी शोभा निहारने लगती हैं, निहारकर विथकित रह जाती हैं। दल-की-दल, आनन्दविह्वल हुई, तरुशाखाओंको हाथसे खींचकर उनपर झूलने लग जाती हैं—

तोयमुत्तारयन्तीभिः प्रेक्षन्तीभिश्च तद्वनम्।
शाखाश्चाकर्षमाणाभिर्गोपीभिश्च समन्ततः॥

(हरि० विष्णु० ९। २८)

जननीसे संलालित होकर श्रीकृष्णचन्द्र भी दाऊ भैयाके साथ सखाओंके सहित पुनः वनकी शोभा देखने निकल पड़े हैं। जिधर उनकी सलोनी दृष्टि जाती है, जिस ओर वे चरणनिक्षेप करते हैं, उधर ही प्रतीत होता है, मानो सौन्दर्य-अधिष्ठात्रीके कोशमें जितनी शोभा संचित है, सब-की-सब बिखेर दी गयी है। वन, गोवर्द्धन, यमुनापुलिन—सब ओरसे जैसे सौन्दर्य-स्रोतस्विनी उमड़ी आ रही हो। उसमें अवगाहन कर सौन्दर्यनिधि श्रीकृष्णचन्द्र एवं शोभाधाम श्रीबलराम आज आनन्द-मुग्ध हो रहे हैं—

बन बृंदाबन, गोधन, गिरिबर, जमुना-पुलिन, मनोहर तरुबर।
रस के पुंज, कुंज नव गहबर, अमृत-समान भरे जल सरबर॥
जदपि अलौकिक सुख के धाम, श्रीबलराम, कुँवर घनस्याम।
रीझे तदपि देखि छबि बन की, उत्तम प्रीति लागि गइ मन की॥
औरै सुक-सारिक, पिक-मोर, औरै अंबुज, औरै भौंर।
रतन-सिखरगिरि गोधन-सोभा, निकसी मनहुँ नई छबि गोभा॥
तिन बिच सुंदर रासस्थली, मनि-कंचनमय लागत भली।
गिरि तैं झरत जु निर्झर सोहै, निर्जर-नगर अमृत-रस को है॥

रात्रिमें समस्त व्रजवासियोंके निद्रामग्न हो जानेपर अमरशिल्पी विश्वकर्माका तीन कोटि शिल्पविशेषज्ञों तथा अगणित यक्ष-समूहोंके साथ वृन्दावनमें पदार्पण तथा रात्रि शेष होनेसे पूर्व वहाँकी चिन्मय भूमिपर नवीन व्रजेन्द्र-नगरी, वृषभानुपुर तथा रासस्थली आदिका आविर्भाव; पुरीकी अप्रतिम शोभा तथा दिव्यताका वर्णन

शुभ्रज्योत्स्नाका परिधान धारण किये निशासुन्दरीने वृन्दावन-भूमिमें पदार्पण किया। आते ही उसने अपने अन्तस्तलकी नीरवता बृहद्वनसे आये हुए समस्त व्रजवासियोंपर बिखेर दी। क्रमशः सभी गोप अलसाङ्ग होकर निद्राकी सुखमयी गोदमें ढुलक पड़े। प्रथम प्रहरमें कभी तन्द्रित न होनेवाले व्रजेश्वरको भी आज निद्रा आ गयी। व्रजराजमहिषी भी सो गयीं। मातृवक्षःस्थलको अलंकृत करते हुए, निद्राके अधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र भी सुनिद्रित हो गये। सुरम्य शय्यापर पौढ़ी वृद्धा व्रजगोपिकाओंको भी नींद आ गयी। पतिव्रता, पतिपरायणा, पतिसुखसुखिनी युवती गोप-सुन्दरियाँ भी सेवासुखकी भावनामें ही डूबी रहकर शयनपर्यङ्कपर निद्रामें निमग्न हो गयीं। शिशुको क्रोडमें धारणकर माताएँ निद्रित हो गयीं। सखीको भुजपाशमें बाँधे गोपकुमारिकाओंके नेत्र भी निद्रासे निमीलित हो गये। कोई शिबिरके अन्तर्देशमें तो कोई बाहर उन्मुक्त आकाशके वितानमें, कोई शकटपर तो कोई रथपर—जिस गोपसुन्दरीकी जहाँ इच्छा हुई, वहीं पौढ़कर वह निद्रासुखका अनुभव करने लग गयी। काननमें सर्वत्र राशि-राशि प्रस्फुटित कुसुमोंके सौरभसे सुरभित हुई, शीतल मन्द बयार, नन्दनकाननकी शोभाको भी तुच्छ, अकिंचित्कर कर देनेवाली आजके राकाचन्द्रकी मनोहर चन्द्रिका गोपोंके, गोपसुन्दरियोंके श्रीअङ्गोंका स्पर्शकर उनके निद्रासुखको और भी गंभीर बनाने लगी। इस प्रकार जब सभी निस्पन्द, निश्चेष्ट हो गये एवं रात्रि पाँच घड़ी व्यतीत हो चुकी, ठीक उस समय देवशिल्पी, समस्त शिल्पाचार्योंके परम आचार्य विश्वकर्मा श्रीवृन्दावनमें पधारे—

सुप्तेषु व्रजनन्देषु नक्तं वृन्दावने वने।
सुनिद्रिते च निद्रेशे मातृवक्षःस्थलस्थिते॥
निद्रितासु च गोपीषु रम्यतल्पस्थितासु च।
यूनां च सुखसंयोगानुषक्तमानसासु च॥
कासुचिच्छिशुयुक्तासु सखीयुक्तासु कासुचित्।
कासुचिच्छकटस्थासु स्यन्दनस्थासु कासुचित्॥
पूर्णेन्दुकौमुदीयुक्ते स्वर्गादपि मनोहरे।
नानाप्रकारकुसुमवायुना सुरभीकृते॥
सर्वप्राणिनि निश्चेष्टे मुहूर्ते पञ्चमे गते।
तत्र जगाम भगवाञ्छिल्पिनां च गुरोर्गुरुः॥

(श्रीब्रह्मवैवर्तपुराण)

दिव्य सूक्ष्म वस्त्र धारण किये, मनोहर रत्नमाल्य, मकरकुण्डल एवं विविध रत्नाभरणोंसे विभूषित, कामदेवके समान सुन्दर देवशिल्पीको आते किसी भी व्रजवासीने नहीं देखा। वे अकेले आये, यह बात भी नहीं, तीन कोटि शिल्पविशेषज्ञोंके साथ आये हैं—

विशिष्टशिल्पनिपुणैः सार्द्धं शिल्पित्रिकोटिभिः।

(ब्र० वै० पु०)

इनके पश्चात् अगणित असंख्य यक्षोंके समुदाय आये। वे अपने हाथोंमें पद्मराग, इन्द्रनील, स्यमन्तक,

चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, प्रभाकर—इन भाँति-भाँतिके मणिसमूहोंको भर लाये हैं—

पद्मरागकराः केचिदिन्द्रनीलकरा वराः।
केचित्स्यमन्तककराश्चन्द्रकान्तकरास्तथा ॥
सूर्यकान्तकराश्चान्ये प्रभाकरकरा वराः।

समस्त कानन इन देवोंसे पूर्ण हो गया है। काननका कण-कण इन दिव्य मणियोंकी ज्योतिसे उद्भासित हो उठा है। फिर भी एक भी व्रजवासीकी निद्रा नहीं टूटी, एक प्रहरी भी नहीं जग पाया। जगे कैसे? व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटनघटनापटीयसी योगमायाशक्ति इस समय एक अभिनव योजनामें जो लगी है। योगमायाने ही तो सबको सुला रखा है। फिर किसकी सामर्थ्य है जो इस आवरणको चीरकर क्षणभरके लिये भी झाँक ले। जब योजना पूर्ण हो जायगी, तभी सबकी आँखें एक साथ खुल जायँगी। इससे पूर्व कोई भी जग नहीं सकेगा। व्रजराजके लिये इस वृन्दावनमें दिव्य नगरका निर्माण होगा, राजप्रासाद निर्मित होगा, प्रत्येक पुरवासीके लिये भवन निर्मित होंगे, सबके लिये यथायोग्य गोष्ठ बनेंगे, राजपथ एवं वीथियोंकी रचना होगी, व्रजेन्द्रकी अनन्तवैभवमयी वृन्दावनकी यह राजधानी चमक उठेगी, सो भी ब्राह्ममुहूर्त आनेसे पूर्व। इसीके लिये देवशिल्पी विश्वकर्मा आये हैं। वे ही व्रजेन्द्रपुरीका निर्माण करेंगे। पुरनिर्माणकी सामग्री लेकर ये असंख्य कुबेर-अनुचर आये हैं तथा निर्माणकार्यमें विश्वकर्माके आज्ञानुसार यथायोग्य उन्हें सहायता देनेके लिये इन साढ़े तीन करोड़ शिल्पविशेषज्ञोंका आगमन हुआ है। सात घड़ीमें व्रजराजके नगरको, नवीन व्रजपुरको, व्रजपुरके अनन्त अपरिसीम वैभवको मूर्त करके ये चले जायँगे। इसके अनन्तर सबकी निद्रा टूटेगी और आनन्दविह्वल होकर सभी अपने-अपने आवासमें प्रवेश करेंगे। अस्तु—

श्रीकृष्णपादपद्मोंका स्मरण कर उनकी अशेष-शुभविधायिनी दृष्टिपर अपनी वृत्तियोंको केन्द्रितकर अमरशिल्पीने पुरकी रचना प्रारम्भ की—

नगरं कर्तुमारेभे ध्यात्वा कृष्णं शुभेक्षणम्।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

विश्वकर्माने अपने कलाकौशलकी इति कर दी। लायी हुई अपार सामग्रियोंसे उन्होंने असंख्य चतुःशाला, कपाट, स्तम्भ, सोपान, कलश, वेदी, प्राङ्गण, प्राकार, द्वार आदिका निर्माण किया। देखते-ही-देखते समस्त गोपोंके आवास बन गये एवं नवीन व्रजेन्द्रपुरी जगमग-जगमग करने लगी। किंतु पुरी सचमुच कैसी बनी, इसका मूर्तरूप कैसा हुआ, इस बातको स्वयं देवशिल्पीने ही जाना या नहीं—यह कहना कठिन है; क्योंकि वास्तवमें यह तो अचिन्त्यमहिमामयी योगमायाका एक खेल है, जो विश्वकर्मापर पुररचनाका भार सौंपा गया। आधिदैविक जगत्की मर्यादाको अक्षुण्ण बने रहने देनेके लिये, दैवी कलाको आदर देनेके लिये, किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश देवशिल्पीको, उन असंख्य शिल्पज्ञोंको, कुबेरकिंकरोंको स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके चिदानन्दमय धामका परम दुर्लभ स्पर्शसुख दान करनेके लिये योगमायाने इतना आडम्बर किया है। वास्तवमें व्रजपुरका, व्रजेन्द्रपुरीका निर्माण नहीं होता। यह तो सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी सदंशमें रहनेवाली संधिनी शक्तिकी नित्य परिणति है। श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही यह भी विभु है, नित्य चिन्मय है। अभी-अभी जहाँ—विश्वप्रपञ्चके जिस भूभागपर, वृन्दाकाननमें व्रजेन्द्रपुरी मूर्त हुई है, वहाँ वह पुरी पहलेसे ही, अनादिकालसे है एवं अनन्तकालतक रहेगी। प्रपञ्चमें जिस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी चिदानन्दमयी लीलाका प्रकाश होता है तथा क्रमशः लीलाका प्रकाश करते हुए जब वे वृन्दाकाननका—अपने द्वितीय रङ्गमञ्चका स्पर्श करते हैं, तब तिरोहित हुई व्रजेन्द्रपुरी भी पुनः आविर्भूत हो जाती है; और जब लीलाका अन्तर्धान हो जाता है, तब पुरी भी अन्तर्हित हो जाती है। यह आविर्भाव-तिरोभाव भी उनके लिये है जिनके नेत्रोंमें त्रिगुणका तेज भरा है। जिनकी आँखोंमें श्रीकृष्णचरण-नख-चन्द्रकी चन्द्रिका भरी

है, उनके लिये व्रजपुर—व्रजराजकी पुरी सदा वर्तमान रहती है। वृन्दाकानन सदा उनके नेत्रोंमें भरा रहता है। अस्तु, आज भी पुरीका आविर्भाव हुआ है, न कि विश्वकर्माने सचमुच उसका निर्माण किया है। कदाचित् विश्वकर्मा इस रहस्यका अनुसंधान पा गये होते तो उन्हें यही दीखता—उनके हाथसे संधित किये हुए पद्मराग, स्यमन्तक, चन्द्रकान्त आदि मणिसमूहोंको योगमाया अपने हाथमें ले-लेकर विलुप्त करती जा रही है एवं उन-उन स्थलोंपर नित्य व्रजपुरके अनन्त अपरिसीम चिन्मय वैभवका प्रकाश होता जा रहा है। कविकी रसनामें यह सामर्थ्य नहीं कि उसका चित्रण कर सके। चित्रण दूर, मनकी कल्पना भी वास्तवमें उस विचित्र वैभवके किसी एक अंशको भी—उस सर्वथा अतुलनीय नित्य चिदानन्दमय श्रीसौन्दर्यकी कणिकामात्रको भी छू नहीं पाती। केवल उसकी अनुभूति होती है; किसे होती है, कैसे होती है, यह बताना भी असम्भव है। पर होती है, यह सत्य है। फिर उसकी छायामात्र मनमें आती है। इस छायाके किसी क्षुद्र अंशको वाणी ग्रहण करती है और शाखाचन्द्र-न्यायसे ही उस अनुभूत सत्यको व्यक्त करते हुए कवि आनन्दकम्पित कण्ठसे पुकार उठता है—वह देखो, वृन्दावनकी व्रजेन्द्रपुरीकी अप्रतिम शोभा! —

क्वचिन्मरकतस्थली कनकगुल्मवीरुद्द्रुमाः
क्वचित्कनकवीथिका मरकतस्य वल्ल्यादयः।
क्वचित्कमलरागभूः स्फटिकगुल्मवीरुद्द्रुमाः
क्वचित्स्फटिकवाटिका कमलरागवल्ल्यादयः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कहीं तो मरकत-मणिमय अकृत्रिम भूमि है। उस भूमिपर स्वर्णमय गुल्मलताएँ एवं द्रुमसमूह परिशोभित हैं, कहीं स्वर्णकी ही वीथियाँ (गली) बनी हैं। नहीं-नहीं, सर्वत्र स्वर्ण-ही-स्वर्ण आस्तृत है, मृत्तिकाका लेश भी नहीं। और इस स्वर्णभूमिमें मरकत-मणिमय वल्लरियोंकी, गुल्मतरुपंक्तिकी छटा फैल रही है तथा कहीं पद्मराग-रचित भूमि है, उसपर स्फटिकनिर्मित गुल्म-लता-वृक्ष-समूह विराजित है; और कहीं स्फटिककी वाटिका बनी है, उसमें पद्मरागकी लताएँ, गुल्म एवं तरुराजियाँ झूम रही हैं।'

और देखो—

क्वचिन्मरकतद्रुमाः कनकवल्लिभिर्वेल्लिताः
क्वचित्कनकपादपा मरकतस्य वल्लीजुषः।
क्वचित्स्फटिकभूरुहाः कमलरागवल्लीभृतो द्रुमाः
कमलरागजाः स्फटिकवल्लिभाजः क्वचित्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कहीं तो ये मरकतद्रुमसमूह कनकलताओंसे परिव्याप्त हैं एवं यह स्वर्णपादपश्रेणी मरकतकी बनी वल्लरियोंसे सुमण्डित हो रही है तथा कहीं स्फटिकोंकी वृक्षावलि है, जो पद्मरागमणिकी लताओंसे उद्भासित हो रही है। और कहीं पद्मरागके वृक्ष हैं, जो स्फटिकमय लताजालसे समुज्ज्वल हो रहे हैं।'

और भी सुनो, देखो, कितना आश्चर्य है!

न सोऽस्ति मणिभूरुहो विविधरत्नशाखो न यः
सुचित्रमणिपल्लवा न खलु या न शाखाश्च ताः।
न तेऽपि मणिपल्लवा विविधरत्नपुष्पा न ये
न पुष्पनिकरोऽप्यसौ विविधगन्धबन्धुर्न यः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'यहाँ मणिमय ऐसा कोई वृक्ष नहीं, जिसके शाखा-समूह विविध-रत्नमय न हों। प्रत्येक मणिमय वृक्षकी शाखावलि विविध रत्नोंसे ही निर्मित है। फिर इन शाखाओंमें ऐसी कोई शाखा नहीं, जो विविध वर्णके मणिमय पल्लवजालसे मण्डित न हो—प्रत्येक वृक्षकी प्रत्येक शाखा बहुवर्ण मणिमयी पल्लवराजिसे राजित हो रही है। ऐसे मणिपल्लव नहीं, जिनमें रत्नमय कुसुम-समूह प्रस्फुटित न हुए हों—सभी मणिपल्लवोंपर रत्नमय कुसुमनिकर झलमल-झलमल कर रहे हैं और फिर ऐसा कोई पुष्पनिकर नहीं, जिससे विविध भाँतिकी सुगन्ध प्रसारित न हो रही हो—कुसुमसमूहोंसे भाँति-भाँतिके सौरभ झर रहे हैं!'

अहा! देखो, कैसी सुन्दर शोभा है—

विहारमणिपर्वतप्रकरतः पतद्भिर्मणिद्रवैरिव
सुनिर्झरैः स्वयमितस्ततः पूरिता।
स्थलस्थलरुहां मणीतरमणीभिराकल्पिता
तथा मणिपतत्रिभिर्विलसिताऽऽलवालावली॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वृक्षोंके मूलदेशमें आलवाल (गट्टे) निर्मित हैं। विहारसम्बन्धी मणिमय-पर्वत-समूहोंसे निर्गलित मणिद्रवकी भाँति सुन्दर निर्झरोंके द्वारा ये आलवाल अपने-आप सब ओरसे पूर्ण हुए रहते हैं। इन आलवालोंकी रचना भी कितनी सुन्दर है! जिन मणियोंकी भूमि है, तरु हैं, उनसे भिन्नवर्ण मणियोंके द्वारा इनका निर्माण हुआ है और फिर मणिमय विहंगम-कुल इनमें विहार कर रहे हैं!'

इन मणिमय वृक्षोंमेंसे कुछको तो भले ही तुरंत पहचान लो—केवल उन्हें, जिनके रूप-रंग वैसे-के-वैसे, ज्यों-के-त्यों हैं, कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है; किंतु शेषको तो बड़े ध्यानसे देखनेपर, उनके पत्रोंकी आकृति, स्कन्धविन्यासपर गम्भीर विचार करके ही जान पाओगे कि यह अमुक तरुश्रेणी है। पर फिर भी वास्तवमें नहीं पहचान पाये। सुनो, इसका रहस्य सुन लो—यहाँ जितने वृक्ष हैं; सभी कल्पतरु हैं; जितनी वल्लरियाँ हैं, सभी कल्पलतिकाएँ हैं—

वल्ल्यः सर्वा यत्र ताः कल्पवल्ल्यो वृक्षाः सर्वे कल्पवृक्षा वकारेः। (श्रीगोविन्दलीलामृतम्)

शाल, ताल, तमाल, अश्वत्थ, कपित्थ, वकुल, नारिकेल, रसाल, प्रियाल, श्रीफल, करील, कोविदार, देवदारु, मन्दार, जम्बीर, चन्दन, अशोक, कदम्ब, गुग्गुल, पीलु, गन्धपिप्पली, गजपिप्पली आदि जितने वृक्ष हैं, सभी कल्पपादप हैं। वासन्ती, वनमल्लिका, स्वर्णयूथी, जाती, यूथी, मल्लिका, मुद्गरा, अपराजिता, गुञ्जा, शतमूली, बिम्बफललता, लवङ्गलता आदि जितनी लताएँ हैं, सभी कल्पवल्लरियाँ हैं। नन्दनकाननके कल्पपादप नहीं, उससे सर्वथा विलक्षण! प्राकृत कल्पवल्लियाँ नहीं, उससे सर्वथा भिन्न! ये तो स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके चिन्मय धामके चिन्मय तत्त्वसे गठित हैं।

इन विचित्र वैभवोंसे पूर्ण वहाँ न जाने कितनी पुरियाँ हैं। व्रजेशके अधीन प्रत्येक गोपकी अपनी-अपनी पुरी है, प्रिय-परिजनसहित सबके लिये पृथक्-पृथक् आवासगृह हैं। एक-एककी छटा देखते ही बनती है। कितना देखोगे? देखनेका अन्त जो नहीं आयेगा। इसलिये सबके प्रधानभूत केवल व्रजेन्द्रके आवासको देख लो, सो भी उसके अत्यन्त स्वल्पतम अंशको ही देख सकोगे। इसके सम्पूर्ण अंशको तो आजतक किसीने देखा ही नहीं! अहा!

मसारप्राचीरं मरकतगृहं हेमपटलं
प्रवालस्तम्भालि स्फटिकवृति वैदूर्य्यवडभि।
महानीलेन्द्राट्टं विमलकुरुविन्दोपलमहाप्रतीहारं
नानाकृतिजितविमानावलि पुरम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पुरीके प्राचीरका निर्माण तो हरितमणिसे हुआ है। गृहसमूह मरकतमय हैं। गृहके आच्छादन (छतें) स्वर्णमय हैं। स्तम्भ प्रवालनिर्मित है। वेष्टनी (घेरा) स्फटिक-घटित है। गृहचूड़ा वैदूर्यरचित है। अट्टालिकाएँ महानीलमणि-निर्मित हैं तथा सुदीर्घ द्वारावली कुरुविन्दमणिमय प्रस्तरोंसे गठित हैं। विविध भाँतिसे सुचित्रित इस पुरीकी सौन्दर्य-शोभाकी तुलनामें दिव्यातिदिव्य विमानपङ्क्ति भी हेय प्रतीत हो रही है।

स्थान-स्थानपर शिल्पनैपुण्यसे अङ्कित शुक-पिक आदि पक्षियोंकी प्रतिकृति भ्रम उत्पन्न कर दे रही है—यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि ये चित्र हैं या जीवन्त विहंगम। यह आश्चर्य अवश्य है कि छविमय होते हुए भी यहाँ सभी कुछ चिन्मय है। जड कुछ है ही नहीं। ये मणि, मुक्ता, रत्न और स्वर्ण आदि कठोर नहीं हैं, अत्यन्त कोमल हैं; ये रूक्ष नहीं, रसमय हैं। यहाँके कण-कणसे एक परम दिव्य ज्योति झर रही है। ऐसी उज्ज्वल ज्योति, जो प्राकृत जगत्के

कोटि सूर्योंमें भी नहीं, पर साथ ही इतनी शीतल-सुखद कि प्रपञ्चके कोटि चन्द्रोंकी पुञ्जभूत किरणोंमें भी नहीं। यहाँ भी एक सूर्य तो है; पर वह प्राकृत विश्वका सूर्य नहीं, प्राकृत सूर्यसे अत्यन्त विलक्षण, परम सुन्दर—शोभन सूर्य है। एक पीयूषवर्षी चन्द्र यहाँ भी है; पर वह प्राकृत चन्द्र नहीं—प्राकृत चन्द्रसे सर्वथा भिन्न, सौन्दर्यपुञ्ज अतिशय सुषमाशाली दूसरा ही चन्द्र है। यहाँ भी सुनील गगनमें मङ्गल है, बुध है, बृहस्पति है, शुक्र है, शनि है, केतु है, राहु है, असंख्य तारकपङ्क्ति है; पर प्रापञ्चिक भौम, बुध आदि नहीं—इनसे सर्वथा पृथक्, परम रमणीय, तेजोमय भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, केतु, राहु एवं नक्षत्रावलि हैं—

स्वतेजसा तु सुभास्वत् सुपीयूषकिरणं सुमङ्गलं सुबुधं सुजीवं सुकविगम्यं सुभानवं सुकेतु सुतमः सुतारकम्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

ओह! शब्द नहीं कि व्रजेन्द्रपुरीके अमित वैभवको कोई व्यक्त कर दे, उसकी ओर-छोर-विहीन महिमाको भाषाका रूप दे दे। इसीलिये कहते-कहते अन्तमें हारकर मौन ही होना पड़ता है। पर कदाचित् चन्द्र-सूर्यकी बात सुनकर शङ्का न हो जाय, इसलिये एक बात और सुन लो। श्रुतियाँ जिसके लिये निर्देश करती हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठ० २। २। १५)

'वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र एवं न तारकसमुदाय ही प्रकाशित होता है और न विद्युत् ही प्रकाश करती है। फिर वहाँ अग्निका प्रकाश तो सम्भव ही कहाँ? क्योंकि उसके नित्यप्रकाशसे ही तो इन सूर्य, चन्द्र आदिमें प्रकाशका संचार होता है, उसके आंशिक प्रकाशको पाकर ही तो ये प्रकाशित होते हैं, सारा जगत् भी उसीके क्षुद्रतम अंशसे ही प्रकाशित हो रहा है।'

श्रुतिप्रतिपादित यह धाम भी व्रजेन्द्रपुरीसे कोई पृथक् सत्ता नहीं रखता। अवश्य ही उस ज्योतिर्मय धाममें निमग्न होनेके अनन्तर ही यह अनुभव होता है कि व्रजेन्द्रपुरीमें सूर्य, चन्द्र आदिकी बात है तो परम सत्य; पर वे सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहगण सर्वथा दूसरे हैं, प्राकृत ग्रहोंसे सर्वथा भिन्न हैं—

प्राकृतेभ्यो ग्रहेभ्योऽन्ये चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।

(श्रीभागवतामृतम्)

यह बात भी नहीं कि ऊपर वर्णित वृक्ष, वल्लरी, भूमि, गृह, ग्रहसंस्थान आदि वस्तुओंका कोई इत्थम्भूत रूप है; इतना है, ऐसे है, ऐसे नहीं है; इस प्रकार इनके लिये सीमा बाँधी जा सके। यहाँकी एक-एक वस्तु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी स्वरूपशक्तिकी परिणति है, इसीलिये ये सब भी अमर्यादित हैं। जड वस्तुकी भाँति इनके रूप, रंग, आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा, भाव आदिकी इयत्ता नहीं। ये तो श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिका निरन्तर अनुसरण करते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी जब जैसी लीलाका प्रकाश होता है, उसके लिये जो जैसी जितनी सामग्री चाहिये, उसी रूपमें इनका प्रकाश होता है। लीलापरिकरोंकी सुख-सुविधाके लिये, उन्हें भाँति-भाँतिके उपकरण दे-देकर उनका प्रीतिविधान करनेके लिये, श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाको मधुरातिमधुर बनाकर, स्वयं उसका रसपान कर क्षण-क्षणमें आनन्दसिन्धुमें निमग्न होनेके लिये न जाने ये कितनी बार अपना विस्तार, संकोच, रूपपरिवर्तन, अपने अस्तित्वका ही अदर्शन आदि अतिशय चमत्कृत कर देनेवाली चेष्टाएँ करते हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानकी दूरी, मान लें, अभी इस क्षण सोलह कोस परिमित है। लीलापरिकर और स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र अथवा लीलापरिकरके दो वर्ग एक-दूसरेसे इतनी दूरपर अवस्थित हैं। यह दूरी भी लीलाप्रकाशके लिये उपयुक्त है। पर साथ ही तुरंत आवश्यकता हुई कि लीलापरिकर तुरंत मिल जायँ, एक क्षणमें ही उनका

परस्पर मिलन हो जाय, तो उसी क्षण वह सोलह कोस परिमित भूमि अपनेको ठीक उतने समयके अनुरूप यात्राके योग्य कर लेगी, संकुचित बन जायगी। लीलापरिकरोंमें कोई अथवा श्रीकृष्णचन्द्र यदि ऐश्वर्यशक्तिकी सहायतासे चमत्कार उत्पन्न करें तब तो लीलाका माधुर्य ही जाता रहेगा। फिर तो व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अनाविल मधुरिमामय लीलारसपानका, रसदानका उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। इसीलिये बाहरसे तनिक भी, कुछ भी गन्ध न देकर ही, किसी भी अस्वाभाविकताका प्रकाश न करके, अचिन्त्यलीला-शक्तिकी प्रेरणा पाकर वह भूमि एक घड़ीमें यात्राके योग्य रूप धारण करेगी, नहीं-नहीं उसका ऐसा रूप बन जायगा। न तो लीलापरिकरको यह ज्ञान है कि भूमि इस क्षण संकुचित हुई और न स्वयं उस भूमिको ही यह भान है कि उसने अपना रूप संकुचित किया है। भूमि स्वयं उस लीलारसका पान कर रही है, उसकी अधिष्ठात्रीको—नहीं-नहीं, स्वयं उसको ही यही आवेश है कि मैं इतनी ही हूँ, लीलापरिकर भी उस समय यही अनुभव करते हैं कि भूमि इतनी ही है। असलमें तो इतनी है, इतनी नहीं—यह भान भी लीलापरिकरको कहाँ? लीलाका अङ्ग बनकर, मिलनसुखकी परिपुष्टिके लिये, वियोगरसको परम आस्वाद्य बनानेके लिये आवश्यकता हुई तो इस ज्ञानका विकास लीलाशक्ति कर देती है; नहीं तो, जो जहाँ जिस रसके पानमें निमग्न है, बस, वह वहीं डूबा रहता है। अथवा रसकी तरङ्गें उसे जिधर बहा ले जाती हैं, वह बह जाता है। इन तत्त्वोंका, रहस्योंका विश्लेषण तो वह करता है, जो तटस्थ होकर लीलासुखका, लीलातत्त्व-रहस्योंका चिन्तन करता है। जो सदाके लिये लीलामें निमग्न हो गया, वह नहीं। अवश्य ही इन बातोंका ठीक-ठीक दर्शन—सब घटनाओंका पूरा-पूरा सामञ्जस्य भी केवल उसीको होता है, जिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपा भीतर-बाहरसे अत्यन्त परिशुद्ध बना देती है, जो कृपाकी स्रोतस्विनीमें अवगाहन कर, अपने नेत्रोंका मैल धोकर, श्रीकृष्णचन्द्रके नखचन्द्रकी ज्योतिमें वस्तुतत्त्वको देखता है तथा जितना देखता है, अनुभव करता है, उसे भी वह वाणीद्वारा व्यक्त नहीं कर पाता। प्राकृत धरातलपर अप्राकृतको ठीक-ठीक क्या, किसी अंशमें भी उतार देना प्राकृत शक्तिके लिये तो असम्भव है। प्राकृत मन-वाणीके द्वारा तो यह सम्भव है ही नहीं। अनन्तैश्वर्यनिकेतन, अनन्तशक्ति, सर्वभवनसमर्थ श्रीकृष्णचन्द्र चाहे सो भले ही कर सकते हैं।

जैसे व्रजभूमिके लिये संकोच-विस्तार आदिकी बात है, वैसे ही लीलासे सम्बद्ध समस्त वस्तुओंके लिये। इन्द्रनीलमणितरु लीलामें योगदान करनेके लिये आवश्यकता होनेपर कदम्बमें परिणत हो सकता है, मणिमय रहकर ही श्रीकृष्णचन्द्रके किसी प्रिय सखाके लिये, किसी भी परिकरके लिये मनोहर सौरभपूर्ण सुन्दरातिसुन्दर, पर देखनेमें प्राकृत कदम्ब-जैसे ही पुष्प दान कर सकता है; पद्मरागका अशोक प्राकृतकी भाँति बनकर अथवा ज्यों-का-त्यों रहकर कर्णाभरणके लिये गोपसुन्दरियोंके हस्तकमलोंपर परम सुन्दर स्तबकगुच्छ—प्राकृत अशोककुसुमके समान ही दर्शनीय कुसुम-गुच्छ देकर लीलाकी यथोचित धाराको अक्षुण्ण बनाये रह सकता है। मणिमय रसाल आम्र सुस्वादु फलोंकी वर्षा कर सकते हैं। वन-का-वन लीलापरिकरके भावानुरूप, अथवा लीलाके सूत्रधार श्रीकृष्णचन्द्रकी इच्छाके अनुरूप प्राकृत-सा बनकर रसपोषणमें अपना योगदान कर सकता है, करता है। मृत्तिकाकी आवश्यकता होनेपर व्रजरानीके उस चिन्तामणिमय उद्यानमें, जहाँ एक क्षण पूर्व मृत्तिकाका लेश भी नहीं, सुरम्य वालुकाराशि, पङ्किल मृत्तिका—जो चाहिये, जहाँ चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु प्रस्तुत रहेगी तथा लीलाकी मधुमयी धारा निर्दिष्ट क्रमका अनुसरण करती आगे-से-आगे प्रसरित होती रहेगी।

वृन्दाकाननके लिये, इस काननमें अभी-अभी प्रकाशित हुई पुरीके लिये जो सत्य है, वही अबसे

सोलह प्रहर पूर्व परित्याग किये हुए बृहद्वनके लिये—बृहद्वनके व्रजपुर, राजभवनके लिये, वहाँके अणु-अणुके लिये है। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी प्रकट लीलासे सम्बद्ध प्रत्येक वन, पर्वत, नद, नदी, सरोवर—उनके कण-कणके लिये हैं। यहाँ यह जानने योग्य है कि श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रत्येक लीलास्थली नित्य है, विभु है, चिन्मय है। उनका लीलाक्रमके अनुरूप आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। अथवा इसे ऐसे कह सकते हैं कि जहाँकी लीला समाप्त होती है, वहाँका अनन्त वैभव, आगे जहाँ लीलाका प्रकाश हो रहा है, होने जा रहा है, वहाँ उसमें जाकर मिल जाता है। यह मिलन-पृथक्करण भी प्राकृत द्रव्य एवं भावोंके संयोग-वियोग-जैसा नहीं है। सर्वथा अचिन्त्य है, अतर्क्य है। पर किसी अंशमें उसे समझनेके लिये प्राकृत उपादान ही हमारे सामने रहेंगे। अस्तु, अभी-अभी एक बात हुई है, उसे हम ऐसे समझ सकते हैं कि वृन्दाकाननकी व्रजेन्द्रपुरी जैसे नित्य है, वैसे ही बृहद्वनकी भी; किंतु जैसे तेजमें तेज मिल जाता है, जलमें जल समा जाता है; एक स्थानसे आहृत अग्निका तेज अन्य अग्निमें मिलते ही उसीमें विलीन हो जाता है, मन्दाकिनीकी परम पुनीत वारिधारा कलिन्दनन्दिनीके पावन प्रवाहमें मिलकर एक बन जाती है—ऐसे मिले हुए तेजमें, वारिधारामें जैसे न तो अनित्यताका प्रश्न है, न हेयताका, वैसे ही जब बृहद्वनकी, वहाँकी व्रजेन्द्रपुरीकी लीला समाप्त हुई, श्रीकृष्णचन्द्र वहाँसे वृन्दाकाननमें पधारे, तब वहाँकी समस्त श्री, वहाँका अनन्त अपरिसीम सम्पूर्ण वैभव भी आकर वृन्दावनमें मिल गया। वह यहाँकी सद्यः प्रकटित व्रजराजपुरीमें समा गया, वहाँ नित्य रहते हुए ही; पर वहाँसे तिरोहित होकर, वृन्दाटवीमें आ मिला, व्रजेशके आवासमें आकर, उससे मिलकर एक हो गया—

नित्यत्वं सकलस्य यद्यपि हरेर्धाम्नः सुसिद्धं तथा-
प्येकस्मिन्नपरस्य सम्मिलनतो नानित्यता दृश्यते।
तेजस्तेजसि वारि वारिणि यथा लीनं च नो हीयते
तद्वत्सा च महावनस्थितपुरीलक्ष्मीरिमामाविशत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच, जगत‌्के प्राणियो! श्रीकृष्णचन्द्रसे, उनकी लीलासे सम्बद्ध किसी भी तत्त्व-रहस्यको एकमात्र उनकी कृपावारिकी कणिकामात्रको ही सम्बल बनानेपर ही जान सकोगे। अचिन्त्य भावोंमें तर्कोंके लिये स्थान जो नहीं। श्रद्धापूत चित्तसे अनुशीलन करनेपर उनकी कृपाशक्ति सत्यको अपने-आप व्यक्त कर देगी। उसे जानकर, अनुभव कर कृतार्थ हो जाओगे। वाणी इससे आगे मौन हो जाती है।

इस प्रकार श्रीकृष्णचरण-नखचन्द्रिकासे आलोकित चित्त हुए, दिव्य रसपानमें, आनन्दमें निमग्न हुए कविकी वाणी व्रजेन्द्रपुरीके लिये उपर्युक्त बातें—किसी अंशमें उस वैभवको हृदयंगम करानेके लिये अथवा स्वान्तःसुखाय—कह उठती है। फिर भी पुरीका अनन्त वैभव तो इससे बहुत आगेकी वस्तु है। प्राकृत द्रव्योंके भावोंके सहारे उसका वास्तविक चित्रण, वर्णन होनेका ही जो नहीं, असम्भव है। इसीलिये ऐसी महामहिम पुरीकी रचना करके रचना-अभिनयके मिससे पुरीके प्रकाशित हो जानेपर स्वयं देवशिल्पी विश्वकर्माने भी पुरीकी वास्तविक अद्भुत श्रीको, उसके असमोर्द्ध वैभवको, उसकी रूपरेखाकी एक अल्प-सी छटाको भी देखा या नहीं, यह कौन बताये? किसीकी दिव्य आँखें इतना ही देख सकती हैं कि देवशिल्पी एक अभूतपूर्व परमानन्दमें निमग्न हुए, आत्मविस्मृत-से हुए इतस्ततः घूम रहे हैं। उनका शिल्पज्ञान जो कभी कुण्ठित नहीं होता, उसे भी वे मानो पद-पदपर भूले जा रहे हैं। बार-बार ठहर-ठहरकर सोचने-से लगते हैं—आगे अमुक रचना कैसे हो? इतनेमें पुनः एक आवेश आरम्भ हो जाता है, उनका कौशलपूर्ण हस्त क्रियाशील बन जाता है और क्षणोंमें ही वहाँ एक चमत्कार मूर्त हो जाता है। जो हो, प्रथम उन्होंने गोपावासोंकी रचना की। फिर

दौड़े-से कुछ दूर चले गये। एक सुरम्य स्थलपर वे कुछ निर्माण करने लगे और देखते-ही-देखते व्रजेश्वर नन्दबाबाके परम सुहृद् महाराज श्रीवृषभानुजीकी पुरी झक-झक करने लगी।* उनके मनके मानचित्रमें तो ऐसी सम्पदा त्रिकालमें भी नहीं थी, पर न जाने कैसे, उनके ही हाथोंकी ओटसे यह बिखर पड़ी है। जो हो, कुछ क्षणके लिये तो उनका शिल्पज्ञान भूल गया। पर इसी बीचमें वे यथास्थान पुनः पहुँच गये। सोचने लगे व्रजेन्द्रनन्दकी पुररचनाकी बात। पुनः हाथोंमें तेज आया और क्या-से-क्या वस्तु प्रकाशित हो गयी। नन्दभवनको प्रकाशितकर वे नगरमें घूमने लगे, राजमार्ग-पुरवीथियोंकी रचना की। इसीके साथ वणिक्-आवासोंका, हाट-बाजारका भी निर्माण हो गया। फिर उनके मनमें रसकी एक बाढ़ आयी। उसीमें बहकर वे पुनः वृन्दाकाननमें आये, एक स्थलपर अपने रस-सने हाथोंसे उन्होंने स्पर्श भर किया, अपनी कल्पनाका रासमण्डल निर्माण करनेके लिये। बस, व्रजेन्द्रनन्दनकी सर्वलीलामुकुटमणि रासलीलाके उपयुक्त वह नित्य स्थली देदीप्यमान हो उठी। किसकी शक्ति है कि उसका चित्रण कर सके? जो हो, अब कुछ रचनाएँ और रही हैं और इसीलिये देवशिल्पी वृन्दावनमें घूमने लगते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी निभृत निकुञ्जलीलाकी भी एक झाँकी इस प्रपञ्चमें प्रकाशित हो, इसका आयोजन होने चला। देखते-ही-देखते, देवशिल्पीके हाथके अन्तरालसे, वृन्दावनमें ही तीस मनोहर रमणीय वनोंका आविर्भाव हो गया। यहाँ इस वनराजिमें ही राधा-माधवके स्वरूपानन्दसे चिन्मय, आदिरसकी स्रोतस्विनी प्रकट होगी; जगत्‌के आत्माराम योगीन्द्रमुनीन्द्रगण भी उसके एक कणसे सिक्त होनेके लिये लालायित हो उठेंगे। अस्तु, उन वनोंके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ करते हुए देवशिल्पी मधुवनके निकट आ पहुँचे। वहाँ वृन्दावनेश्वरके लिये, वृन्दावनेश्वरीके लिये, **'यत्परो नास्ति'**—सुन्दर एक विहार-मन्दिरका निर्माण कर, उसके आविर्भावका दर्शन करके वे नगरमें ही लौट आये। देवशिल्पीने अन्तमें यह किया—अपने ज्ञानमें जिनके निमित्तसे जिन-जिन आवासोंका उन्होंने निर्माण किया है, उन गोपोंके नाम उन्होंने उनपर अङ्कित कर दिये। इसी समय योगमाया यवनिका अपसारित करने लगती हैं। निर्धारित समय समाप्त हो रहा है, मानो कोई देवशिल्पीके कानोंमें यह कह देता है। क्षणभरका भी विलम्ब न कर, परमानन्दमें झूमते हुए शिल्पशिष्योंके, यक्षसमुदायोंके साथ—वे वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणसरोरुहमें उपस्थित हो जाते हैं। आते समय यह साहस नहीं हुआ था, दूरसे ही उन्होंने वन्दना की थी; किंतु धामके स्पर्शने अब उन्हें यह अधिकार दे दिया है। विनयावनत हुए व्रजेश्वरीके शिबिरद्वारपर ही अपना सिर रखकर, निद्रासुखमें निमग्न निद्रेशको नमनकर, निजपरिकरसहित देवशिल्पी अपने आवासकी ओर चल पड़ते हैं—

यानि येषां मन्दिराणि तन्नामानि लिलेख सः।
मुदा युक्तो विश्वकर्मा शिष्यैर्यक्षगणैः सह॥
निद्रेशं निद्रितं नत्वा प्रययौ स्वालयं मुने।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

एक वनकुक्कुटके मुखमें समस्त सुप्त व्रजवासियोंकी निद्रा हर लेनेकी शक्ति भरकर योगमाया स्वयं भी मानो वृन्दावनेश्वरके कमनीय श्रीअङ्गोंमें विलीन हो जाती है। बड़भागी विहंगम तत्क्षण पुकार उठता है। फिर तो एक साथ वह तुमुल कोलाहल होता है कि जिसकी तुलना नहीं।

'व्रजेन्द्रने कल जिस क्रमसे अपने जिस मनोनीत मानचित्रके अनुसार शकटमय नगरकी रचना की थी,

* बृहद्वनसे जब व्रजेश्वर वृन्दावन आने लगे तब उनके परम सुहृद्, 'एक प्राण, दो देह' जैसे स्नेही श्रीवृषभानुने भी अपने अपरिसीम वैभवका त्याग कर उनका अनुगमन किया। महाराज नन्दके न रहनेपर बृहद्वनकी सीमामें वे श्वास भी लें, यह सम्भव नहीं। ऐसा अतुल स्नेह दोनोंमें है। इसीलिये वे भी साथ ही वृन्दाकाननमें पधारे हैं। सकुटुम्ब, सपरिवार ही नहीं, अपनी सारी प्रजाके साथ, अपने पूरे व्रजके साथ।

करवायी थी, उसमें तनिक भी हेर-फेर नहीं; किंतु उस शकटपुरीके पीछे इतना विशाल एवं ऐसा वैभवमय नगर इतने अल्पकालमें निर्मित हो गया है, सब आवासोंपर यथायोग्य सबके नाम अङ्कित हैं—ऐसे, इस भाँति, मानो शकटमय पुर उसके प्राङ्गणमें विश्राम कर रहा हो। बृहद्वनका बसा हुआ व्रजपुर ज्यों-का-त्यों उठकर रात्रिमें मानो यहाँ चला आया—और भी शतसहस्रगुणी अधिक सम्पदासे विभूषित होकर!……।'—वयोवृद्ध विचारशील गोप आश्चर्यसे स्तब्ध हो गये।

केवल व्रजेश्वरको कोई आश्चर्य नहीं। उनका मन गुन-गुन कर रहा है—'यह तो मेरे इष्टदेव श्रीनारायणकी इच्छासे हुआ है, अपने दासको सुविधा देनेके लिये उन्होंने यह खेल किया है। उनके लिये ऐसे असंख्य वैभवमय नगरोंकी रचना एक तुच्छ क्रीड़ा है। पर ओह! कृपामय!……।'—व्रजेश्वरके नेत्र छल-छल करने लगते हैं। दुकूलसे अपने सजल नेत्रोंका मार्जन करते हुए वे इस नवनिर्मित नगरमें घूमने लगते हैं, उन अङ्कित नामोंको पढ़-पढ़कर सबको प्रवेश करनेकी आज्ञा देते हैं—

भ्रामं भ्रामं तन्नगरं दर्शं दर्शं गृहं गृहम्।
पाठं पाठं च नामानि सर्वेभ्यो निलयं ददौ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

गोपोंका तुमुल कोलाहल इस लीलाके सूत्रधारकी निद्रा भी हर लेता है। अकचकाये-से होकर वे जाग उठते हैं। जननी कितना समझाती है—'मेरे लाल! अभी तो रात्रि है, किसी देवताने तुम्हारे लिये गृहका निर्माण किया है, नगरकी रचना की है, उस नगरकी मणिमय प्रभा राकाचन्द्रकी ज्योत्स्नासे मिलकर इतना प्रकाश फैला रही है। सूर्योदय होने दो, चलेंगे, देखेंगे……।' किंतु कौन सुने? बलरामकी निद्रा भी भङ्ग हो गयी है। दोनों बाहर जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं। जननी दोनोंको क्रोडमें धारण किये अपने शकटशिबिरके द्वारपर आनेके लिये बाध्य हो जाती हैं।

धीरे-धीरे भुवनभास्करकी किरणें हाथोंमें रोली भरकर नवीन व्रजपुरका दर्शन करने, उसे तिलक लगाने, उसे सब ओरसे कुङ्कुमरागमें रँग देनेके लिये आ पहुँचती हैं। शीघ्रतासे यशोदारानी दोनों पुत्रोंका शृङ्गार करती हैं, कलेवा कराती हैं। यह समाप्त होते-न-होते दोनों ही भाग छूटते हैं। अगणित सखाओंको साथ लेकर राम-श्याम—दोनों भाई पुरकी शोभा देखते हैं। नगरभ्रमणका आनन्द लेते हुए यमुनापुलिनपर आ जाते हैं, फिर वहाँसे वनकी ओर चल देते हैं। आज सबसे पहले तो उन्हें गिरिराजके उत्तुङ्ग शिखरको ही छूना है। वृन्दाटवीकी सुषमा, गिरिराजकी मनोहारिणी शोभा, रविनन्दिनीके पुलिनका उन्मादी सौन्दर्य—राम-श्याम जितना अधिक इनका पान करते हैं, उतनी ही अधिक मात्रामें उनके मनकी लालसा बढ़ती जाती है, तृप्ति होती ही नहीं—

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३६)

'और अब तो यह नवीन नगर भी हमारे यथेच्छ आनन्दवर्द्धनके लिये बन गया है, रातोंरात किसीने इसकी रचना कर दी है।'—लीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्र अपनी ही रचनामें, मानो आप ही भूल-से जाते हैं। भूलें नहीं तो लीलारसकी पुष्टि कैसे हो? इस पुरीकी एक-एक वस्तु उन्हें लुब्ध किये रहेगी; बलरामका, यशोदारानीके नीलमणिका मन इनमें ही उलझा रहेगा—!

मनिन जटित सब भूमि, गुल्म, तरु-लता सुझूमत।
धवल धौरहर उच्च स्वच्छ कलसा नभ चूमत॥
झँझरिन झलक अपार द्वार-पट मनिन पटल कर।
फटिक चटक चौहटनि, चारु चकचौंध अटन पर॥
भनि 'मान' बिपुल ब्रंदाबिपिन अर्धचंद्र सम पुरसचिव।
मन रमिव राम घनस्याम कहँ तिन इच्छामाया रचिव॥

नन्दनन्दनकी भुवनमोहिनी वंशीध्वनिका विश्वब्रह्माण्डमें विस्तार तथा उसके द्वारा वृन्दावनमें रससरिताका प्रवाहित होना; उसके कारण स्थावर-जंगमोंका स्वभाव-वैपरीत्य

किसीने नहीं जाना—व्रजेशतनयने वंशीवादनकी शिक्षा कब, किससे ली। एक दिन सहसा वह अमृतपूरका प्रवाह बह चला एवं समस्त व्रजवासी उसमें निमग्न हो गये। कुछ क्षणोंके लिये सबकी चेतना विलुप्त हो गयी; जब वे प्रकृतिस्थ हुए, तब भी अपने-आप निर्णय नहीं कर पाये कि यह क्या वस्तु है! कतिपय गोपसुन्दरियोंने अवश्य देखा—प्रस्फुटित पीतझिण्टी पुष्पोंकी झुरमुटको परिवेष्टितकर गोपशिशु आनन्द-कोलाहल कर रहे हैं और उसके अन्तरालमें अपनेको छिपाये, अपने बिम्बारुण अधरोंपर हरित बाँसकी वंशी धारण किये श्रीयशोदाके नीलमणि स्वर भर रहे हैं। अपलक नेत्रोंसे जड पुत्तलिकाकी भाँति वे तो खड़ी-खड़ी देखती रह गयीं; पर उनके प्राणोंकी अनुभूतिका स्पर्श पाकर मानो पवन पुनः द्विगुणित चञ्चल हो उठा और उसने ही क्षणभरमें इतने विस्तृत व्रजपुरमें, व्रजपुरके प्रत्येक आवासमें, आवासके कोने-कोनेमें यह सूचना भर दी कि यह तो व्रजरानीके नीलमणिकी—नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी बजायी हुई मोहन वंशीध्वनि है!

यह ध्वनि वृन्दावनको झंकृत करके ही नहीं रह गयी। अन्तरिक्षको भी आत्मसात् करने ऊपर उठी, पातालको प्रकम्पित करने नीचे चली गयी। उधर तो मेघसमूह सहसा रुद्ध हो गये। स्वर्गायक तुम्बुरुकी दशा विचित्र हो गयी, आश्चर्यमें निमग्न विस्फारित नेत्रोंसे बारंबार वृन्दावनकी ओर झाँककर वह इस उन्मद नादका अनुसंधान पाना चाहता था। सनक-सनन्दन प्रभृति ऋषिवर्गका चिर-अभ्यस्त ध्यान टूट गया, विक्षिप्तचित्त होकर वे इस मधुर रवमें डूबने-उतराने लगे। विधाताके आश्चर्यका भी पार नहीं और उधर दानवेन्द्र बलिकी उत्सुकताकी सीमा नहीं; चिरशान्तस्वभाव बलि आज अतिशय चञ्चल हो उठे। भोगीन्द्र अनन्तदेव भी आज घूर्णित होने लगे। समस्त ब्रह्माण्डको भेदन करती हुई यह ध्वनि सर्वत्र परिव्याप्त हो गयी, सब ओर रससिन्धु उमड़ चला—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन्वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

(श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः)

व्रजपुर वृन्दावनका प्रत्येक अधिवासी वहीं आ पहुँचा, जहाँसे यह उन्मद नाद प्रसरित हो रहा था। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र यह भीड़ देखकर संकुचित हो गये, वंशीको अधरोंसे हटाकर संकोच छिपानेके उद्देश्यसे किसी अन्य बाल्यक्रीड़ाका उपक्रम करने चले। इतनेमें व्रजरानी भी आ गयीं। उनके प्राणोंको भी इस मोहनध्वनिने स्पर्श किया था तथा उत्कण्ठाके प्रबल आवेगमें बहकर ही वे यहाँ आयी थीं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको अपने लज्जानिवारणका समुचित स्थान प्राप्त हो गया। वे दौड़कर जननीके कण्ठसे जा लगे, उनके अञ्चलमें अपना मुख छिपा लिया। व्रजरानीके नेत्र छल-छल करने लगे।

अब आजसे, इस क्षणसे गोपसुन्दरियोंकी दिनचर्यामें एक और नवीन कार्यक्रम बना। श्रीकृष्णचन्द्र जिसे जहाँ मिलते, बस, उसकी ओरसे एक ही प्रार्थना होती—'मेरे लाल! तनिक-सी वंशी तो बजा दे।' विशेषतः जब श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेश्वरके, व्रजरानीके अङ्कको सुशोभित करते होते, उस समय दल-की-दल व्रजसुन्दरियाँ एकत्र हो जातीं और कहने लगतीं—

हे कृष्ण! मातृकुचचूचुकचूषणेऽपि
नालं यदेतदधरोष्ठपुटं तवासीत्।
तेनाद्य ते कतिपयेषु दिनेष्वकस्मात्
कस्माद् गुरोरधिगतः कलवेणुपाठः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कृष्णचन्द्र! मेरे नीलमणि! विचित्र बात है। भला,

देखो—कहाँ तो तुम्हारे ये सुकोमल, नन्हे-से अधर-ओष्ठपुट जननीके स्तनपानके लिये भी समर्थ न थे और कहाँ उसी अधरपर वंशी धारणकर इन ही कुछ दिनोंमें इतनी मधुर वंशी बजाना तुम सीख गये! अरे बताओ तो सही, इतने अल्प समयमें अकस्मात् इस मधुर वंशीवादनकी शिक्षा तुमने किस गुरुसे प्राप्त कर ली!'

निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात
वेणुं पुनर्ललन! वादय वादयेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वत्स! मेरे लाल! तेरे चन्द्रमुखकी बलैया लेती हूँ। तू फिर वंशी बजा दे; बजा दे, साँवरे, बजा दे!'

श्रीकृष्णचन्द्र भी व्रजपुरन्ध्रियोंका यह प्रोत्साहन पाकर बाबा-मैयाके समक्ष वंशीमें रस भरने लगते तथा वंशी उनके अधरोंका रस पाकर स्वयं रसमयी बनकर वृन्दावनमें सरिता प्रवाहित कर देती—

ऊचुर्यदा स्वजननीजनकोपकण्ठे
तं वादयन्नथ तदा सरसीकरोति॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उस समय ऊपर आकाशका दृश्य भी देखने ही योग्य होता। अन्य सुर-समुदायकी बात दूर, हंसवाहन चतुर्मुख स्रष्टाकी प्रेमविकृति दर्शनीय होती—

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्नववैणवकाकलीं कलयन्।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मरालपृष्ठे मुहुर्लुठति॥

(विदग्धमाधव)

'अपने आठ कर्णपुटोंके द्वारा उस नवीन मधुरास्फुट वेणुध्वनिका रस-पान करते हुए ब्रह्मा विभोर होने लगते, उनका धैर्य छूट जाता तथा वे कहीं हंसके पृष्ठदेशपर प्रेमविवश हो बारंबार लोटने लगते।'

सुरेन्द्रके सहस्र नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु झरने लगते। सरलमति गोप आश्चर्यचकित होकर देखते—गगन मेघशून्य है, फिर भी बूँदें गिर रही हैं, शीतल सुखद वृष्टि हो रही है; वन, प्रान्तर आर्द्र होते जा रहे हैं; वृन्दावनकी भूमि किसी अभिनव वर्षाधारासे सिक्त हो रही है—

चित्रं वारिधरान् विनापि तरसा यैरद्य धारामयै-
र्दूरात पश्यत देवमातृकमभूद् वृन्दाटवीमण्डलम्।

(विदग्धमाधव)

नन्हे-से नन्दनन्दनकी वेणुध्वनिसे वृन्दाकाननमें स्थावर-जंगमोंका स्वभाव-वैपरीत्य तो अनिवार्य घटना होती—

द्रवति शिखरवृन्देऽचञ्चले वेणुनादै-
र्दिशि दिशि विसरन्तीर्निर्झरापः समीक्ष्य।
तृषितखगमृगाली गन्तुमुत्का जडा तैः
स्वयमपि सविधाप्ता नैव पातुं समर्था॥

(श्रीगोविन्दलीलामृतम्)

'वेणुनादका स्पर्श पाते ही स्थिर पर्वतश्रेणियोंके शिखरसमूह द्रवित हो जाते, पाषाण तरल बनकर चारों ओर बह चलते, अनेक निर्झरोंका सृजन हो जाता। उन्हें देखकर तृषित विहंगमकुल, मृगयूथ पीनेके लिये उत्कण्ठित हो जाते, चाहते कि दौड़कर जा पहुँचें; किंतु उनके अङ्ग अवश हो जाते, उनमें एक विचित्र सुखमयी जडता आ जाती तथा स्वयं निकट आयी हुई उस वारिधाराका पान करनेकी सामर्थ्य भी वे खो बैठते।'

वंशीनादैः सरसि पयसि प्रापिते ग्रावधर्मं
हंसीः संदानितपदयुगाः स्तम्भिताङ्गी रिरंसूः।
आसन्नीशाः स्वयमपि जडा बद्धपादा न गन्तुं
ताभ्यो दातुं न बिसशकलं नापि भोक्तुं मरालाः॥

'वंशीनादका चमत्कारी प्रभाव सरोवरके जलको जमाकर प्रस्तरका रूप दे देता। सरोवरमें संतरण करते हुए हंसिनीयूथके पैर भी जमे हुए जलके संसर्गमें आकर बँध जाते, साथ ही ध्वनिका मधुपान कर उनके अन्य समस्त अङ्ग भी निश्चल हो जाते। यही दशा हंसकुलकी होती। घन होकर प्रस्तररूपमें परिणत जलके उज्ज्वल तलमें उनके पादयुगल भी बद्ध हो जाते, वैसी ही जडता उनके अङ्गोंमें भी आ जाती। अन्तस्तलमें हंसिनीको अपना प्यार समर्पित करनेकी वासना लिये, अपनी सङ्गिनीको प्रेमोपहार दान करने एवं स्वयं भोजन करनेके उद्देश्यसे चञ्चुपुटोंमें मृणालखण्ड धारण किये वह मरालकुल भी जहाँ-का-तहाँ रुद्ध हो जाता। न तो मरालीको ही मृणाल प्रदान कर पाता, न स्वयं ही भक्षण कर पाता।'

पहले तो श्रीकृष्णचन्द्र वंशी बजानेमें संकोच करते, व्रजसुन्दरियोंका अतिशय प्रेमिल आग्रह होनेपर ही, जननीकी मनुहार पानेपर ही बजाते; पर क्रमशः उनका संकोच शिथिल हो गया। फिर तो यमुना-पुलिन रह-रहकर मोहन-वंशीनादसे निनादित होने लगा तथा जितने

क्षण वह स्वरलहरी काननको गुञ्जित करती रहती, उतने समयमें वहाँ न जाने क्या-से-क्या होता रहता—

नँदलाल बजाई बाँसुरी श्रीजमुनाके तीर री।
अधर कर मिलि सप्त स्वर सौं उपजत राग रसाल री॥
व्रजजुबती धुनि सुनि उठ धाईं, रही न अंग सँभार री।
छूटी लट लपटात बदन पर, टूटी मुक्ता-माल री॥
बहत न नीर, समीर न डोलत बृंदा-बिपिन सँकेत री।
सुनि थावर अचेत चेतन भए, जंगम भए अचेत री॥
अफल फरे, फल-फूल भए री, जरे हरे भए पात री।
उमग प्रेम जल चल्यौ सिखर तें, गरे गिरिन के गात री॥
तृन न चरत मिरिगा-मिरिगी दोउ, तान परी जब कान री।
सुनत गान गिरि परे धरनि पर, मानौं लागे बान री॥
सुरभी लाग दियौ केहरि कौं, रहत श्रवन हीं डार री।
भेक भुजंगम फन चढ़ि बैठे, निरखत श्रीमुख चारु री॥
खग रसना रस चाख बदत नहिं, नैन मूँदि मुनि धार री।
चाखत फलहि न परे चोंच ते, बैठे पाँख पसार री॥
सुर नर असुर देव सब मोहे, छाए ब्योम विमान री।
चत्रभुजदास कहौ, को न बस भए या मुरली की तान री॥

अस्तु, वृन्दावन आनेके कुछ ही दिनों पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने सर्वप्रथम इसी उन्मद वेणुनादका प्रकाश किया, मानो यहाँकी अग्रिम लीलाओंमें चिरसहचरी वंशीको अपने अधरोंपर धारणकर मङ्गलाचरण करने चले हों। साथ ही उनकी चञ्चलता भी बृहद्वनकी अपेक्षा यहाँ अतिशय बढ़ गयी। अवश्य ही चञ्चलताका क्षेत्र इस बार दूसरा है। यहाँ वे किसीके घर नहीं जाते, दधि-दुग्धका अपहरण नहीं करते, किसीके भी मटके नहीं फोड़ते। यहाँ तो कलेऊके अनन्तर सीधे वनमें या गोष्ठमें चले जाते हैं। छायाकी भाँति रोहिणीनन्दन बलराम उनका अनुसरण करते हैं, उनकी प्रत्येक चपल चेष्टाओंका अनुमोदन करते हैं, उनमें योगदान कर उनको प्रोत्साहित करते हैं तथा वहाँ गोष्ठमें, वनमें, उनकी क्रीडाका माध्यम अब बन गये हैं—गौ, गोवत्स, वृषभ। उनके साथ विविध क्रीडा करनेमें ही मध्याह्न हो जाता है और फिर संध्या आ जाती है। इसीलिये शङ्कितचित्त व्रजराज अब स्वयं भी प्रतिदिन गो-चारणमें सम्मिलित होने लगे हैं। व्रजरानीका भी अधिकांश समय गोष्ठमें ही व्यतीत होता है। पर ऐसे चञ्चलका नियन्त्रण सम्भव जो नहीं। व्रजदम्पति देखते रह जाते हैं और श्रीकृष्णचन्द्र विश्राम करते हुए किसी विशालकाय साँड़की ग्रीवापर, पीठपर उछलकर चढ़ जाते हैं। पीछे राम उसकी पूँछ पकड़कर उमेठना आरम्भ करते हैं और वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र उसके सींगोंको पकड़कर उसे उठकर चलनेका संकेत करते हैं। कभी कुछ गोवत्सोंको या गायोंको एकत्र कर लेते हैं, उन्हें अपने इच्छानुसार नचाते हैं और स्वयं नाचते हैं। दोनों भाई राजपथपर जा रहे हैं, इतनेमें शकटमें जुते बलीवर्द दीख पड़े; फिर तो उनके शृङ्गोंको पकड़कर उनसे विविध क्रीड़ा करना अनिवार्य है। भयभीत नन्दरानी कितना भी निवारण करें, व्रजेश कितना भी समझायें; पर राम-श्याम कहाँ मानते हैं। व्रजदम्पतिकी दृष्टि अन्य ओर गयी, वे किसी अन्य कार्यमें संलग्न हुए कि बस, दोनों ही भागे और फिर निश्चित है कि वे वहीं मिलेंगे, जहाँ सुदूर वनमें किञ्चित् वयस्क गोपशिशु वत्सचारण कर रहे हैं या युवक गोप गोचारणमें संलग्न हैं। अपने प्राणप्रतिम नीलमणिको, रामको इतनी दूर अकेले गये देखकर, सुनकर जननीका हृदय धक्-धक् करने लगता तथा उस दिन संध्याके समय अपने भुजपाशमें बाँधकर—जबतक दोनों निद्रित नहीं हो जाते, तबतक—वे समझाती रहतीं; किंतु नीलमणिका उत्तर तो यह होता—

मैया री! मैं गाय चरावन जैहौं।
तूँ कहि, महरि! नंदबाबा सौं, बड़ौ भयौ, न डरैहौं॥
श्रीदामा लै आदि सखा सब, अरु हलधर सँग लैहौं।
दह्यौ-भात काँवरि भरि लैहौं, भूख लगै तब खैहौं॥
बंसीबट की सीतल छैयाँ खेलत में सुख पैहौं।
परमानंददास सँग खेलौं, जाय जमुनतट न्हैहौं॥

उत्तर सुनकर जननीका रोम-रोम आनन्द-परिपूर्ण तो अवश्य हो जाता; पर इतने नन्हे-से नीलमणिको वे अभी वनमें गोचारण करने भेजेंगी, यह तो स्वप्नमें भी कल्पना नहीं होती। यशोदारानी किसी प्रकार प्रसङ्ग बदलकर नीलमणिको सुला पातीं।

अब श्रीकृष्णचन्द्र अपने वयके तीसरे वर्षमें प्रविष्ट हो चुके हैं। उनके शैशवके अन्तरालमें कुमारभावकी झाँकी स्पष्ट हो गयी है। उनका वस्त्र-परिधान-महोत्सव भी सम्पन्न हो चुका है। जननी अपने स्नेहसिक्त करोंसे नीलमणिको वस्त्र (धोती) धारण कराती हैं। उल्लासमें

भरकर यत्नपूर्वक बड़े मनोयोगसे वे पहन भी लेते हैं, पर दूसरे ही क्षण उसमें बन्धनकी अनुभूति कर स्वयं खोलकर फेंक भी देते हैं। पुनः उस सुन्दर पीताम्बरको देखकर धारण करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है, जननीसे माँगकर स्वयं धारण करनेका प्रयास करते हैं, पर अपने हाथों धारण करनेमें कुछ अंश आवृत एवं कुछ अनावृत रह जाता है। उस समय उन्हें लज्जाका अनुभव होता है तथा और भी अधिक प्रयत्नसे वे वस्त्र धारण करने चलते हैं। प्रतिदिन ही उनके वस्त्र-परिधानकी यह मनोहर लीला होती है—

वस्त्रं दधाति जननीनिहितं प्रयत्नात्
क्षिप्रं च बन्धनधिया स्वयमुज्जहाति।
भूयस्तदर्दति बिभर्ति च यस्य चोर्ध्वं
व्रीडां विकल्प्य लघु नित्ययति स्म कृष्णः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु उसी पीताम्बरसे जब वे दो-तीन-चार विशालकाय वृषभोंके शृङ्गोंको एक साथ जोड़कर उन्हें खींचना आरम्भ करते हैं, उस समय भयविह्वल व्रजरानी चीत्कार कर उठती हैं; व्रजेश्वरका हृदय भी दुर-दुर करने लगता है। पर उपाय क्या हो, नीलमणि सुनते जो नहीं। प्रत्युत प्रतिदिन उनकी ऐसी चपलता बढ़ती जा रही है, मानो जननी-जनकके हृदयको कँपा देनेवाली ऐसी क्रीडामें उन्हें अधिकाधिक रस आ रहा हो। जब देखो, तभी वे गायोंसे, गोवत्सोंसे, वृषभोंसे खेलते मिलेंगे। और फिर बलरामका सहयोग उन्हें प्राप्त है, अब किसका भय! जननीको सूचना देनेवाले तो दाऊ भैया ही हैं; वे ही जब सम्मिलित हैं, तब चिन्ता किस बातकी। अतः रक्षाका और कोई उपाय न देखकर व्रजेश्वरने व्रजरानीसे परामर्श कर यह निश्चय किया—

यदि गोसङ्गावस्थानं विना न स्थातुं पारयतस्तर्हि
व्रजसदेशदेशे वत्सानेव तावत्संचारयतामिति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'यदि सचमुच राम-श्याम गायोंका सङ्ग छोड़ नहीं सकते, उनके निकट रहना इन्हें इतना प्रिय है, तो फिर अच्छा यह है कि ये दोनों व्रजके निकट रहकर छोटे बछड़ोंको चराया करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रको मनोवाञ्छित प्राप्त हो गया। बस, इतना ही विलम्ब है—ज्योतिषी मुहूर्त निश्चित करेंगे, एवं उस दिन महर्षि शाण्डिल्य पधारकर वत्सचारण-महोत्सव सम्पन्न करेंगे।

पुरवासियोंके आनन्दका पार नहीं। राम-श्याम अपनी नित्य नूतन बाल्यभङ्गिमाओंका प्रकाश कर उनका आनन्दवर्द्धन करते आये हैं, अपने मधुर वचन सुना-सुनाकर प्रत्येकका मनहरण करते रहे हैं। परमानन्दमें विभोर पुरवासियोंको तो यह अनुसंधान ही नहीं था कि नीलमणि क्रमशः बढ़कर इस योग्य बन गये हैं। व्रजेश्वरका निर्णय सुनकर उनकी स्मृति जागी और उन्होंने अनुभव किया कि राम-श्यामको वत्सपालक बना देना सर्वथा उचित है। गोचारण, वत्सचारण तो गोपजातिका स्वधर्म है। सबके जीवन-सर्वस्व नीलमणिसे यदि व्रजेश्वर स्वधर्मका आचरण करवायें तो इसका समर्थन कौन नहीं करे, सबने एक स्वरसे इस योजनाका स्वागत किया। राम-श्यामके वत्सपाल बननेकी तैयारी आरम्भ हुई। अस्तु, मुहूर्त कभी निकले, पुरवासी तो अपने कल्पनाके नेत्रोंसे नीलमणिको वत्सचारण करते हुए अभीसे देखने लग गये—

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३७)

उन्हें इस क्षणसे ही दीख रहा है—वह देखो! विचित्र-भूषण-वसन-विभूषित असंख्य गोपशिशु हैं, बलराम हैं, नहीं-नहीं सौन्दर्यसरितामें इतनी लहरें उठकर घनीभूत हो गयी हैं। और वहाँ देखो, इन सबके नायक नन्दनन्दनको। अहा! वहाँ तो कोटिचन्द्र एकत्र एक साथ सुधाकी वर्षा कर रहे हैं!

बल समेत सिसु सब अभिराम। कंचन-भूषन कंचन-दाम॥
तिन मधि अधिनाइक जु नंद कौ। बरषत अमी जु कोटि चंद कौ॥

श्रीनन्दनन्दनका वत्सचारण-महोत्सव तथा अन्यान्य गोपबालकोंके साथ बलराम-श्यामका वत्सचारणके लिये पहली बार वनकी ओर प्रस्थान तथा वनमें सबके साथ छाकें आरोगना

ब्राह्ममुहूर्त आरम्भ होते ही व्रजपुरका, वृन्दावनका आकाश विविध मङ्गलवाद्योंकी ध्वनिसे, आभीरसुन्दरियोंके मङ्गलगानसे परिपूर्ण होने लग गया। आज यशोदाके नीलमणि वत्सचारण जो प्रारम्भ करेंगे। गोप, गोप-सुन्दरियाँ, वयस्क गोपशिशु—सभी प्राय: समस्त रात्रि जागते रहे हैं। व्रजेश्वरने, व्रजरानीने भी विश्राम नहीं किया। प्रत्येक प्रासादको, तोरण, गृहद्वार, वीथीको सजानेमें पुरवासी तन्मय थे, व्रजेश निरीक्षणमें व्यस्त थे और व्रजरानीके लिये तो जागना आवश्यक हो गया था; क्योंकि उनके नीलमणि रह-रहकर नेत्र खोल देते, शय्यापर उठ बैठते। नीलमणिको प्रतीत होता—प्रभात हो गया है, अब शीघ्र गोवत्सोंको लेकर वनकी ओर चल देना है। उत्साहवश कभी-कभी तो शयनागारसे भाग छूटनेका प्रयत्न करते। जननी किसी प्रकार समझा-बुझाकर पुन: सुला पातीं। इस अवस्थामें जननी निद्रित कैसे हों? और अब तो बाजे बजने लगे हैं; फिर श्रीकृष्णचन्द्र धैर्य रख सकें, यह तो असम्भव है। मैयाने द्वार बंद कर लिये थे, कपाटके ऊपरकी साँकल लगा दी थी; अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्र शय्यासे कूदकर ऐसे भागे थे कि अतिशय सावधान रहनेपर भी यशोदा मैया उन्हें एक बार तो नहीं ही पकड़ पातीं। द्वार रुद्ध है, नन्हे-से नीलमणिके लिये उस साँकलको छू लेना सम्भव नहीं है, इसीलिये मैयाने द्वारपर आते ही उन्हें पकड़ लिया है, नहीं तो, कहीं गोष्ठमें जाकर ही मैया नीलमणिके दर्शन पातीं। जो हो, जननी अनेकों भुलावे देकर श्रीकृष्णचन्द्रको जैसे-तैसे कुछ देर और रोक सकीं। जब बलराम आ गये, कुछ वयस्क गोपशिशु भी आ पहुँचे, तब उनके संरक्षणमें पुत्रको सौंपकर वत्सचारणमहोत्सवकी व्यवस्थामें योगदान करने मैया स्वयं भी चल पड़ीं।

स्वर्णिम रविरश्मियोंके आलोकमें पुरीकी शोभा देखने ही योग्य है। कदलीस्तम्भ, द्वार-द्वारपर स्वर्णके मङ्गलघट, ध्वजा, पताका, बंदनवार, पुष्पवितान आदिसे कलामर्मज्ञ गोपोंने मानो एक नवीन पल्लव-पुष्पमय पुरकी रचना कर दी हो। शोभा देखकर व्रजरानीको स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि केवल चार प्रहरमें ही गोपोंने पुरीकी आकृति ही बदल दी है। इससे पूर्व बृहद्वनका व्रजपुर न जाने कितनी बार सज्जित हुआ है। मैया प्रसूतिगृहमें थीं, नीलमणिका जन्म हुआ था, उस समय भी पुरी सजी थी। नीलमणिके अन्नप्राशनके दिन भी व्रजेश्वरने एक चमत्कार मूर्त किया था। वर्षगाँठके अवसरपर भी गोपोंने गोकुल सजाया था। पर आज वत्सचारणमहोत्सवके समयकी शोभा तो कुछ और ही है। मैयाका रोम-रोम उल्लाससे भर जाता है। अवश्य ही मैयाको अब पुरशोभानिरीक्षणका अवकाश नहीं रहा है। मङ्गलगान करती हुई, विविध वेष-भूषासे सज्जित, हाथमें मङ्गलद्रव्यपूरित थाल लिये दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ नन्दभवनकी ओर आ रही हैं, और अभी उन्होंने अपने नीलमणिका शृङ्गार भी नहीं किया है। करतीं कैसे? उमंगमें भरे श्रीकृष्णचन्द्र दाऊ एवं गोपशिशुओंके साथ न जाने कहाँ-से-कहाँ फुदकते फिर रहे थे। वत्सचारणके सम्बन्धमें न जाने क्या-क्या मन्त्रणा कर रहे थे। परिचारिकाएँ उन्हें बड़ी कठिनतासे ढूँढ़कर अब ले आयी हैं। अत: मैयाको सर्वप्रथम नीलमणिका शृङ्गार करना है और इसीलिये वे नीलमणिका हाथ पकड़े शीघ्र ही अन्त:पुरमें प्रविष्ट हो गयीं।

श्रीरोहिणीजी बलरामको सजाने लगीं और यशोदा मैया नीलमणिको। बलरामने तो देखते-ही-देखते जननीके धराये शृङ्गारको धारण कर लिया। पर

नीलमणि इतने सहजमें वस्त्राभूषण धारण कर लें, यह कैसे हो? फिर भी अन्य दिनोंकी अपेक्षा आज उन्होंने कम चञ्चलताका प्रकाश किया। उन्हें वन जानेकी त्वरा अवश्य है; पर साथ ही वे जानते हैं कि बिना शृङ्गार धराये मैया जाने नहीं देंगी। इसीलिये जननीको आज मनमाना शृङ्गार धरानेका प्रथम अवसर मिला है। अपने असीम-वात्सल्यपूरित करोंसे व्रजरानीने पुत्रके महामरकतश्यामल अङ्गोंमें उबटन लगाया, उष्णवारिसे स्नान कराया, अङ्ग-परिमार्जन किया तथा फिर वस्त्र-आभूषण धारण कराने लगीं। शृङ्गार पूरा होते-न-होते नीलमणिका भुवनमोहन सौन्दर्य निहारकर मैया भ्रान्त होने लगीं। कहाँ क्या धारण कराना है, यह ज्ञान खो बैठीं और अवशिष्ट शृङ्गारमें प्रमाद करने लगीं। यह देखकर श्रीरोहिणीके नेत्र प्रेमवश छलछल करने लगे। पर अब विलम्ब जो हो रहा है। इसलिये जननीके हाथसे लेकर शेष आभूषणोंको उन्होंने स्वयं धारण करा दिया।

जननी पुत्रके मुखचन्द्रसे झरती हुई सौन्दर्य-सुधाका पानकर तन्मय हो रही थीं, पर सहसा उनके वात्सल्यसिन्धुमें एक आवर्त उठा और वे ऊपर उठ आयीं। जननीको आशङ्का हुई—मेरा नीलमणि नित्य नव सुन्दर है, क्षण-क्षणमें इसका लावण्य परिवर्द्धित होता है और आज इसे मैंने इतने शृङ्गार धराये हैं; कदाचित् किसीकी दृष्टि लग गयी तो?' जननीने अविलम्ब सुकोमल तूलिकाको काजलसे भर लिया और नीलमणिके विशाल भालपर काजलकी टेढ़ी रेखा खींच दी। फिर भी जननीके हृदयका स्पन्दन शान्त नहीं हुआ। 'काजलका यह दिठौना सभी दृष्टिदोषके लिये पर्याप्त नहीं, असुरोंकी कराल दृष्टिमें इस बिन्दुका मूल्य ही क्या है?'—जननी आकुल प्राणोंसे मन-ही-मन अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणिकी रक्षाके लिये श्रीनारायणदेवसे प्रार्थना करने लगीं, सर्वभयहारी तो एकमात्र श्रीनारायण ही हैं—

बत्स चरावन जात कन्हैया।
उबटि अंग, अन्हवाय लाल कौं, फूली फिरत मगन मन मैया॥
निज कर करि सिंगार बिबिध बिधि, काजल-रेख भालपर दीन्ही।
दीठि लागिबेके डर जसुमति इष्टदेव सौं बिनती कीन्ही॥

अबतक नन्दभवनका प्राङ्गण गोप-गोपियोंसे पूर्ण हो चुका है। महर्षि शाण्डिल्य एवं अन्यान्य ब्राह्मणगण भी पधार गये हैं। पूजनवेदिकाके समीप व्रजेन्द्र भी श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतीक्षा-सी कर रहे हैं। कुछ क्षण पूर्व व्रजेश पुत्रका शृङ्गार होते देख आये हैं और देख आये हैं व्रजरानीकी विह्वल दशा। श्रीकृष्णचन्द्रकी वह अप्रतिम झाँकी, जननीका वह प्रेमावेश, व्रजेशके नेत्रोंमें, मनमें प्रविष्ट हो गया है। वास्तवमें इनके अतिरिक्त उन्हें इस समय और कुछ भी भान नहीं है। कदाचित् व्यवस्थाका भार उपनन्दजीपर नहीं होता, वे व्रजेशके समीप इस समय नहीं होते तो फिर व्रजेश्वरके द्वारा तो पूजन आदि कर्म होनेसे रहे। रह-रहकर उनके नेत्र भर आते हैं, स्वेद, कम्प आदि प्रेमविकार भी अङ्गोंमें व्यक्त होने लगे हैं; किंतु मैया इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रको, बलरामको सजाकर, भोजनसे परितृप्तकर साथ लिये वेदीके समीप आ जाती हैं। तुमुल आनन्द-कोलाहलसे प्रासाद मुखरित होने लगता है। बस, इसीने व्रजेन्द्रकी रक्षा कर ली, अथवा अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने ही समयोचित कर्मके लिये व्रजेश्वरको जगा दिया, भावके प्रखर प्रवाहको शिथिल कर दिया; नहीं तो प्रेमविवश व्रजराज सचमुच मूर्च्छित होकर गिर पड़ते।

पूजन आरम्भ हुआ। कलश-स्थापन आदि हुए। यज्ञके यजमान महाराज नन्दके हाथोंसे ही कर्म सम्पन्न होने लगे। पर हो रहे हैं यन्त्र-परिचालित-से; क्योंकि व्रजेश कलशमें पञ्चरत्न निक्षेप कर रहे हैं, उस समय भी उन हीरक, माणिक्य, वैदूर्य, पुष्पराग, इन्द्रनील रत्नोंमें उन्हें अपने पुत्रकी छवि अङ्कित प्रतीत होती है। वे धान्यपूर्ण पात्र कलशपर स्थापित अवश्य कर देते हैं, पर उस पात्रमें उन्हें यशोदा रानीके शृङ्गारसे सज्जित श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिच्छायाके ही दर्शन होते हैं। अर्घ्यस्थापन भी उन्होंने किया, पर अर्घ्यपात्रमें भी उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र ही समाये हुए प्रतीत हुए। विशेषत:

जब पुण्याहवाचनके लिये ब्राह्मणवरणका अवसर आया तथा फिर '**भो ब्राह्मणाः! मम गृहे पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु**'* आदि कहनेकी बारी आयी, उस समय तो व्रजेशके होठोंपर केवल स्पन्दनमात्र हुआ। अवश्य ही महर्षि शाण्डिल्यके कर्णरन्ध्रोंमें मानो किसीने उसी क्षण अमृतसिञ्चन कर दिया। उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ—व्रजेशके ओष्ठस्पन्दनके अन्तरालसे वीणाविनिन्दित स्वरमें श्रीकृष्णचन्द्र ही यजमानकी इस क्रियाको सम्पन्न कर रहे हैं—वही मधुस्यन्दी स्वर है, वैसी ही मधुरातिमधुर झंकृति है। फिर तो जो दशा यजमानकी थी, वही याजक महर्षिकी भी हुई। अग्रिम मन्त्रपाठ आदि सब कुछ यथाविधि महर्षिने किये अवश्य, पर किये यन्त्रवत् ही। उनके नेत्र-मन-प्राणोंमें भी व्रजराजमहिषीके शृङ्गारसे विभूषित श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं। जिस समय वे बलराम एवं श्रीकृष्णचन्द्रके भालपर अपने शुभ हस्तोंसे कुङ्कुमतिलक लगाने चले, उस समय तो यह स्पष्ट ही हो गया—महर्षि किसी दिव्यातिदिव्य आवेशसे अभिभूत हैं। जो हो, पूजन, पुण्याहवाचन आदि कर्म साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हुए तथा व्रजराज आजके इस पुण्यमय शुभ दिन, शुभ मुहूर्तमें राम-श्यामके द्वारा वत्सपालन-कार्यका श्रीगणेश करवाने चले—

पुण्यदिनमवधार्य पुण्याहवाचनादिकमपि संचार्य ताभ्यां गोबालपालनारम्भमाचारयाम्बभूव।

(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु अभी तो महोत्सवका अर्द्धांश ही सम्पन्न हुआ है। अभी तो महर्षिको अगणित गोपशिशुओंके तिलक करने हैं। गण्यमान्य पुरवासी गोपोंने निश्चय कर लिया था, व्रजेशपुत्रके वत्सचारणमहोत्सवके दिन ही समवयस्क अपने पुत्रोंको भी वत्सपाल बना देना है। सबका एक साथ सम्मिलित महामहोत्सव होगा। महर्षि शाण्डिल्यके वरद हस्तसे तिलक करानेका सौभाग्य सहजमें प्राप्त नहीं होता। गोपमण्डलके इस विचारका अनुमोदन व्रजेशने भी आन्तरिक प्रसन्नतासे किया था। अतः ज्यों ही राम-श्यामके तिलककी क्रिया सम्पन्न हुई, वैसे ही गोपशिशुओंकी श्रेणी लग गयी। महर्षि योजनासे अवगत हैं ही। व्रजेश्वर आज केवल अपने महोत्सवके ही यजमान नहीं, अपितु समस्त व्रजगोपोंका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह ध्यानमें रखकर ही उन्होंने समस्त देवपूजादि कर्म करवाये थे। अब शेष कार्य भी सम्पन्न करने चले, क्रमशः गोपशिशुओंको तिलक लगाने लगे। प्रत्येक गोपबालकका स्पर्श महर्षिको परमानन्दमें निमग्न कर दे रहा है। बालकोंके अभिभावकोंके आनन्दका तो कहना ही क्या है! उत्सव मनाकर, परमानन्दमें निमग्न होकर उन्होंने अपने पुत्रोंको भी राम-श्यामके साथ ही वत्सपाल जो बना लिया!—

ताभ्यामेव सह महागोपाला महं विधाय मनसि च सुखं निधाय निजनिजबालान् वत्सपालान् कलयामासुः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

आज दान-दक्षिणाका कार्य व्रजेश्वर नहीं, व्रजरानी कर रही हैं। समागत शत-सहस्र ब्राह्मणोंको व्रजेश्वरी मुक्तहस्त होकर स्वर्णदान दे रही हैं और प्रत्येकसे अञ्जलि बाँधकर अपने नीलमणिके मङ्गलका आशीर्वाद ले रही हैं—

बिप्र बुलाय, दान करि सुबरन, सब की सुखद असीसैं लीन्हीं।

इन सब कार्योंमें दिनका प्रथम प्रहर समाप्त हो जाता है। श्रीकृष्णचन्द्र अब आकर प्राङ्गणमें खड़े हो जाते हैं। अगणित गोपशिशु उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। व्रजेश्वर अपने पुत्रके समीप पुनः चले आते हैं। आकर एक छोटी-सी अरुणवर्ण छड़ी पुत्रके सुन्दर करकमलोंमें दे देते हैं। ओह! उस समय सखापरिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्रकी यह शोभा कितनी मनोहर है!

सोहत लाल लकुटि कर राती।
सूथन कटि, चोलना अरुन रँग, पीतांबर की गाती॥
ऐसेहि गोप सबै बनि आए, जो सब स्याम सँगाती॥

व्रजेश्वरकी आज्ञासे आज गोवत्सोंका भी अतिशय

* ब्राह्मणदेव! मेरे घर आप पुण्याहवाचन करें।

सुन्दर शृङ्गार हुआ है। उनपर भी मानो किसी दिव्य आवेशकी छाया पड़ी है। सभी सिर उठाये शान्त होकर नन्दभवनकी ओर ही देख रहे हैं, जैसे अपने नये पालककी प्रतीक्षा कर रहे हों। श्रीकृष्णचन्द्र भी आ ही पहुँचे, एक हाथमें पितृप्रदत्त लकुट एवं दूसरेमें वंशी धारण किये गोवत्सोंकी ओर वे दौड़े आ रहे हैं। उनपर दृष्टि पड़ते ही इन गोवत्सोंमें जो आनन्दकी लहर परिलक्षित हुई, उसे देखकर गोपमण्डली अवाक् रह गयी। कूदनेके अतिरिक्त इन गोशावकोंके पास अन्य साधन नहीं, जो वे अपने आनन्दको व्यक्त कर सकें। इसीलिये वे केवल कूदनेमात्र लगे। पर आज उनका चौकड़ी भरना अद्भुत ही है, सर्वथा विलक्षण है। कुछ रक्षक गोपोंने उन्हें शान्त करनेका प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। हाँ, जब श्रीकृष्ण उनके मध्यमें आकर खड़े हो गये और अपने नन्हे-से वंशीभूषित हाथको ऊपर उठा लिया, तब फिर प्रत्येक गोवत्स जहाँ-का-तहाँ रहकर ही शान्त हो गया—इस प्रकार मानो अपने इस नवीन पालककी रञ्चकमात्र इच्छाकी भी वह कदापि अवज्ञा नहीं करेगा, इसका प्रमाण दे रहा हो! यह दृश्य निहारकर आनन्दविह्वल गोपमण्डलीके कण्ठसे बरबस निकल पड़ता है—वत्सपाल नन्दलालकी जय हो!

और तो सब कुछ हो गया, केवल दो कार्य अवशिष्ट रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गुरुजनोंके चरणोंमें मस्तक रखकर, प्रत्येकका आशीर्वाद लेकर ही बन जायँगे। और दूसरे, मैयाने निश्चय कर रखा है कि 'गोपकुलकी रीति चाहे न हो; पर नीलमणिके, बलरामके सुकोमल चरणोंमें उपानह् धारण कराये बिना वन भेजना कैसे सम्भव है? मणिमय राजपथ सर्वत्र तो है नहीं, वन्य पगडंडियोंपर ही नीलमणिको चलना है, उपानह्के बिना रेंगनेवाले कीट, कण्टक, क्षुरधारप्रस्तरखण्डोंसे मेरे लालके सुकोमल चरणतलोंकी रक्षा कैसे होगी?' व्रजेश्वरसे परामर्श किये बिना ही उन्होंने दोनोंके लिये अतिशय सुन्दर उपानह् मँगवाकर रख भी लिये हैं। वे तो प्रतीक्षा कर रही हैं, गुरुजनवन्दना हो जानेभरकी देर है, फिर वे स्वयं उपानह् धारण कराने जायँगी! दूसरेको तो कदाचित् वयोवृद्ध गोप रोक दें, पर उन्हें कोई नहीं रोकेगा। अस्तु, व्रजेश्वरका संकेत पाकर श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्सोंके बीचसे एक बार पुनः बाहर जाते हैं एवं बाहर आकर—भले ही प्राकृत मन इसे हृदयंगम न कर सके, पर यह सर्वथा सत्य है—देखते-ही-देखते, आधी घड़ी भी पूर्ण होते-न-होते, वे महर्षि शाण्डिल्यसे आरम्भकर शत-सहस्र ब्राह्मणोंके, असंख्य वयोवृद्ध गोप-गोपियोंके चरणोंमें प्रणिपात कर लेते हैं। सबने स्पष्ट अनुभव किया है—यशोदाके नीलमणि आये हैं, उनके चरणोंमें सिर रख दिया है, एक परमसुखमयी तडित्-लहरी-सी उनके अङ्गोंमें व्याप्त हो गयी है, अन्य समस्त अवयव तो निष्पन्द हो गये हैं, वाणी रुद्ध हो गयी है, केवल निर्निमेष नयनोंके पथसे आशीर्वादरूप कुछ शीतल वारिबिन्दु बाहर निकल आये हैं और इस प्रकार प्रत्येक गोप-गोपीने नीलमणिकी वन्दनाका अभिनन्दन किया है। जो हो, तीनकी वन्दना और करनी है—व्रजेशकी, श्रीरोहिणीकी और अपनी जननीकी। यह भी सम्पन्न हुआ। पर इस वन्दनाके समय वात्सल्यरसकी जो शत-सहस्र मन्दाकिनी प्रवाहित हुई, उसे चित्रित करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं। किसी अचिन्त्य शक्तिने ही व्रजेशको, श्रीरोहिणीको, व्रजरानीको तुरंत प्रकृतिस्थ कर दिया; नहीं तो आज अभी जैसी उनकी दशा हुई थी, उसे देखते तो वत्सचारण स्थगित ही रहता!

अब सहसा गोपशिशु एक साथ ही शृङ्गध्वनि कर उठते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने कल ही कुछ अपनी योजना भी बना ली थी। कैसे क्या-क्या करना है, यह सब कुछ सखामण्डलीने भी स्थिर कर रखा था। उसी योजनाके अनुसार यह शृङ्गध्वनि हुई है। वयस्क गोपोंके आनन्दका पार नहीं रहता। उन्हें प्रतीत हुआ—यह तो परम शुभ शकुन है, अपने-आप ये सब शिशु वत्सचारणकी प्रणालीका अनुसरण कर रहे हैं, यह कितने सौभाग्यकी बात है। पर यशोदारानीका ध्यान इस ओर नहीं, वे तो शृङ्गध्वनि सुनते ही उपानह्

लेकर दौड़ीं और उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें धारण कराने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र पहले तो समझ ही नहीं पाये कि मैया क्या करने जा रही हैं; पर जब उपानहोंकी ओर दृष्टि गयी, तब तो वे बड़ी शीघ्रतासे कूदकर अलग खड़े हो गये। जननीने दौड़कर पुनः हाथ पकड़ लिये। पर आज कुछ भी हो, नीलमणि मैयाकी इस मनुहारको तो कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने उपानह् धारण करना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। यशोदारानी कितनी ही युक्तियाँ दे गयीं, पर श्रीकृष्णचन्द्र सबके उत्तरमें 'नहीं-नहीं' ही करते गये, उपानहोंको वहाँसे हटाकर ही वे शान्त हुए—

कृष्णस्त्वानीते उपानहौ नहि-नहिकारेण बहिश्चकार।

(श्रीगोपालचम्पूः)

मैयाने अन्तिम नीतिका अवलम्बन किया—'कदाचित् बलराम उपानह् धारण कर ले तो नीलमणि भी सम्भवतः बात मान ले।' पर अग्रज एवं अनुजके हृत्तन्त्रीके स्वर भिन्न नहीं होते, मैया इस बातको भूल गयी हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके हृद्गत भावोंकी छाया ही रामकी इच्छा है। इस समय अपने अनुजके हृदयका स्पन्दन क्या है, कैसा है—इसे राम अनुभव कर रहे हैं। वे भला उपानह् स्वीकार करेंगे? उन्होंने भी अस्वीकार कर दिया—

ततः कृष्णभावमनुभवता रामेणापि तथानुमतम्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, अतिकाल न हो जाय, इसलिये व्रजेश्वरने महर्षिकी ओर देखकर संकेतमें ही कुछ निवेदन किया तथा महर्षिने भी व्रजराजकी प्रार्थनाका अनुमोदन करते हुए शङ्खध्वनि कर दी। जननीने अपने प्राण-सर्वस्व नीलमणिकी, बलरामकी आरती उतारी, व्रजपुरन्ध्रियोंने पुनः मङ्गलगीत आरम्भ किये तथा सबके नेत्रोंको शीतल करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रने वत्सचारणके लिये प्रस्थान किया—

चले हरि बत्स चरावन आज।
मुदित जसोमति करत आरती, साजें सब सुभ साज॥
मंगलगान करत ब्रजबनिता, मोतिन पूरे थाल।
हँसत-हँसावत, बत्स-बाल सँग चले जात गोपाल॥

प्रत्येक द्वारपर ही राम-श्याम रुक रहे हैं। अतिशय आह्लादसे पूर्ण गोपरामाएँ बहुमूल्य राशि-राशि रत्नोंसे उनका निर्मञ्छन कर रही हैं, अतिशय दीप्तिमान् मणियोंसे आरती उतार रही हैं तथा प्रफुल्ल सुरभित कुसुमोंकी वर्षा तो सब ओरसे निरन्तर हो रही है—

प्रत्यागारद्वारं सर्वाभिरनर्वाचीनाभिर्वरवर्णिनीभिर्महाधनैर्निर्मञ्छ्यमानौ दीपायमानमणिभिर्नीराज्यमानौ प्रफुल्लसुरभिप्रसूनैरभिवृष्यमाणौ××× प्रतस्थाते।

(श्रीगोपालचम्पूः)

क्रमशः पुरकी सीमाका अतिक्रमण कर श्रीकृष्णचन्द्र वनकी सीमापर आ जाते हैं। व्रजेश, व्रजरानी एवं समस्त पुरवासी भी उनके साथ आये हैं। पर यदि ये आगे भी साथ ही गये, तब तो श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वच्छन्दता कहाँ रही? अतएव नन्दनन्दन यहाँ हठ कर बैठते हैं कि अब इससे आगे गोप, बाबा, मैया आदि कोई भी साथ न जाय, वे केवल सखा-मण्डलीके साथ वनमें वत्सचारण करने जायँगे। सभी निश्चित करके आये थे कि आज श्रीकृष्णचन्द्रको पुरकी सीमासे ही लौटा लेंगे; पर श्रीकृष्णचन्द्रका निश्चय तो उनसे सर्वथा भिन्न है, वे तो आज वनमें अवश्य जायँगे ही। पुत्रके अतिशय आग्रहके सामने व्रजेशको झुकना ही पड़ा। उन्होंने सम्मति दे दी; किंतु मैयाका हृदय तो दुर-दुर कर रहा है। वे जब अपने नीलमणिके सुकोमल चरणसरोजकी ओर देखती हैं तो उनका मन अगणित अनिष्ट आशङ्काओंसे पूर्ण हो जाता है। 'कम-से-कम यह उपानह् ही पहन लेता तो कुछ तो रक्षा होती ही।'—मैयाके हृदयमें पुनः बार-बार इस भावनाका उन्मेष होने लगता है और वे पुनः अपने पुत्रके समीप यह प्रस्ताव रखती हैं। पर नीलमणि टस-से-मस नहीं होते। हारकर मैया बलरामपर ही नीलमणिकी सारी सँभालका भार सौंपती हैं। इतना ही नहीं, अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे बलरामकी ओर देखकर उनके हाथमें वे अपने नीलमणिका हाथ पकड़ा देती हैं। कहाँ, कब, कैसे नीलमणिकी रक्षा करनी चाहिये, इस सम्बन्धमें रोहिणीनन्दनको विविध उपदेश देने लगती हैं—

कर पकराइ, नयन भरि अँसुअन सकल सँभार दाउऐ दीन्ही।

मैयाकी इस आकुलताकी छाया मानो गोवत्सोंको स्पर्श करती है, वे जननीकी हृदयवेदनाको जैसे जान गये हों। सचमुच उपानह्की समस्याको तो उन्होंने प्रकारान्तरसे हल कर ही दिया। वे पाँच-दस तो हैं नहीं, इतनी अधिक संख्यामें हैं कि उनकी गणना होनी अत्यन्त दुष्कर है और वे कूदते हुए आगे बढ़ रहे हैं, अपने तीक्ष्ण खुरोंसे पृथ्वीको खोदते हुए, वनपथकी रज:कणिकाओंको पीसते हुए जा रहे हैं। उन असंख्य गोशावक-खुरोंके आघातसे वह मृण्मयी रेणुका पुष्प-पराग-जैसी सुकोमल बन गयी है। कंकड़, कण्टक आदि भी चूर्ण-विचूर्ण हो गये हैं। श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय सुखपूर्वक उस भूमिपर अपने चरण-निक्षेप कर सकें, ऐसा उसे उन सबने बना डाला है—

दुष्करगणनानि गोधनानि तु नूनं कृततदवधानानि तदानुकूल्याय प्रखरखरखुरखननखुरलीभिर्मृण्मयरेणूनपि पुष्परेणूनिव विधाय शर्कराकण्टकादिकमपि खण्डशस्तथा संधाय तदीयचरणप्रचारभूमिं सुखसंचारतया कारयामासुः।

इसके अतिरिक्त—

जे पद-पदुम सदासिवके धन, सिंधु-सुता उर तैं नहिं टारे।
जे पद-पदुम तात रिस त्रासत, मन-बच-क्रम प्रहलाद सँभारे॥
जे पद-पदुम-परस-जल पावन सुरसरि-दरस कटत अघ भारे॥

श्रीकृष्णचन्द्रके इन महामहिम चरणसरोजोंका स्पर्श पाकर वसुधा स्वयं नित्य पुलकित होती रहती है। धराकी अधिष्ठात्रीको आज इस समय भी प्रतीत हो रहा है, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणसंचारणसे सुधाकी वर्षा हो रही है, उससे उनका अणु-अणु सिक्त हो रहा है। वृन्दाकाननकी अधिदेवी भी, जिस पथसे श्रीकृष्णचन्द्र आयेंगे, जहाँ-जहाँ उनके लीला-विहारकी मन्दाकिनी प्रसरित होगी, उसे सँवारनेमें स्वयं व्यस्त हैं, अपने कोषकी समस्त सम्पदा देकर वे धराको सहयोग दान कर रही हैं। व्रजेन्द्रनन्दनके सुकोमल चरण स्थापित होने योग्य रूप तो भूमि अपने-आप धारण कर रही है, अवशिष्ट आवश्यक शृङ्गारसे स्वयं विभूषित होती जा रही है—

वसुधा च सुधासेकमेव तदीयचरणसंचारणेन मन्वाना वृन्दया सह च योगं तन्वाना तदानुकूल्यावशेषं निरवशेषं चकार। (श्रीगोपालचम्पू:)

अस्तु, अभी भी अपने बाबाको, जननीको अनुगमन करते देख श्रीकृष्णचन्द्र उनसे लौटनेका आग्रह करते हैं—बाबा! अब आगे मत जाओ। मैया! देख, तू कितनी दूर आ गयी, अब लौट जा। सचमुच तू विश्वास कर ले, हम सबको वत्सचारण करना आता है; किसी प्रकारकी आशङ्का तुम सब मत करो।'—इस प्रकार अपने मधुकण्ठसे व्रजदम्पतिको आप्यायित करते हुए उन्हें वहींसे लौटा देनेके लिये वे तुल गये। पुत्रके इस प्रेमिल आग्रहके सामने नन्ददम्पतिकी एक नहीं चलती। वे लौटना स्वीकार कर लेते हैं, पर लौटनेसे पूर्व वात्सल्यकी सरस धारा बहाते हुए दोनों अपने पुत्रको न जाने कितनी शिक्षा दे जाते हैं। शिक्षाका सारांश इतना ही है—'मेरे लाल! दूर मत जाना। बस, यहीं आगेकी इस हरित तृणसंकुल भूमिपर ही आज वत्सचारण कर लेना। विलम्ब मत करना, भला! शीघ्र घर लौट आना।' इस प्रकार पुत्रको समझा-बुझाकर व्रजेश्वर-व्रजरानी—दोनों लौटे तो अवश्य, पर अपने मन-प्राण आदि सब कुछ वहीं नीलमणिके पास ही रख आये। वास्तवमें उनका शरीरमात्र ही लौटा, मन-प्राणकी छायामात्र शरीरके साथ लौटी। दोनोंको नेत्रोंसे स्पष्ट दीख रहा है—राम-श्याम सखाओंके साथ खेलते हुए गोवत्सोंका संचालन कर रहे हैं। सचमुच प्रथम दिन ही श्रीकृष्णचन्द्रका वत्सचारण ठीक ऐसा होता है, जैसे वे इसके चिर-अभ्यस्त हों—

एवमनुयान्तं पितरमनुयान्तीं च मातरं विलोक्य निवर्तेतां भवन्तौ वयमत्राभियुक्ता नात्र शङ्का करणीयेति वदति तनये मा दूरं गाः इत एवाद्य चारयस्व वत्सान् मा विलम्बश्च कार्यः शीघ्रमेवागन्तव्यमिति च ब्रुवाणौ पितरावथ निवर्त्य सबलः सबालसहचरः सकौतुकमेव प्रथमेऽहनि कृताभ्यास इव वत्सान् चारयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू:)

श्रीकृष्णचन्द्रकी साध पूरी हुई। गोवत्सोंके साथ न जाने उन्होंने कितने कौतुक किये, उन्हें अपने

योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ स्पर्शसुखके दानसे परम सुखी बनाकर कितनी-कितनी क्रीडाएँ कीं। कभी तो वे गोवत्सोंका मुख-चुम्बन करते और कभी हरित सुकोमल दूब अपने श्रीहस्तोंसे तोड़-तोड़कर उन्हें खिलाते। किसी गोवत्सको अपनी अञ्जलिसे जल पिलाते। किसीके लिये अपना पीताम्बर आर्द्र कर उसे उसके मुखमें निचोड़ते। इन अगणित मनोहारिणी लीलाओंको देख-देखकर अन्तरिक्षमें अवस्थित देववृन्द विस्मित हो रहे हैं। वे नहीं जानते, सर्वथा प्राकृत शिशुकी भाँति इन मोहिनी लीलाओंके अन्तरालमें अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी कौन-सी गूढ़ अभिसंधि संनिहित है। जान सकते भी नहीं। जगत्में ऐसा कोई भी नहीं, जो नराकृति परब्रह्मकी इन लीलाओंका मर्म जान ले। वे इनकी ओटमें क्यों कब क्या करना चाहते हैं, इसे कोई नहीं जानता—

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २९)

अस्तु, रह-रहकर आकाशमें देववाद्य बज उठते हैं। 'बाल्यलीलाविहारिन्! श्रीकृष्णचन्द्र! जय! जय!' का उन्मादी नाद गूँज उठता है। गोपबालक चकित-चित्त होकर आकाशकी ओर देखते हैं, पर उन्हें कुछ भी दीखता नहीं। पर अब तो उन्हें भोजन करना है, मैयाकी भेजी हुई छाक आ गयी है। श्रीकृष्णचन्द्र फूले नहीं समाते। आज उन्हें यह प्रथम अवसर मिला है कि इतने सखाओंके साथ बैठकर, परम स्वतन्त्र होकर वे वनमें भोजन करें। उनके सुखकी सीमा नहीं रहती। बछड़ोंको हरी दूबपर छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र सखामण्डलीके साथ भोजन करने बैठते हैं। शिशुओंके तुमुल आनन्द-कोलाहलसे वन प्रतिनादित होने लगता है।

भोजन हुआ, किञ्चित् विश्राम भी हुआ, अनन्तर मोहनवंशीके छिद्रोंसे रसकी वर्षा आरम्भ हुई। स्वरलहरीकी तालपर गोपबालक नृत्य करने लगे, साथ ही वे असंख्य गोवत्स भी झूमने लगे और निष्पन्द हो गये समस्त वनविहंगम, कपिवृन्द, मृगयूथ। यदि दिन बहुत अधिक ढल नहीं गया होता तो न जाने इस रससरिताके प्रवाहमें गोपशिशुओंकी क्या दशा होती! पर अब शीघ्र व्रजमें लौटना है, इसीलिये स्वरलहरीका क्षणिक विराम हो गया।

गोवत्सोंको एकत्र कर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजपुरकी ओर लौट चले—इस प्रकार, मानो एक अनन्त पारावारविहीन सौन्दर्य-सिन्धु उमड़ा आ रहा हो, शोभासिन्धुके अधिदेवता ही श्यामसुन्दरमें समाये स्वयं आ रहे हों, उन परम सुन्दर अधिदेवको अनंत असंख्य सुन्दर लीला-लहरियाँ घेरे आ रही हों, उनके अधरपुटपर सुन्दर रसमय वाणीकी लहरें हों, सुन्दर कपोलोंपर लावण्यकी लहर हो, सुन्दर वक्षःस्थलपर वनमालाकी उज्ज्वल लहरें नाच रही हों, सुन्दर चरणोंके समीप अरुणिम लहरें उठ रही हों, सुन्दर नखावलिपर उज्ज्वल लहरोंकी आभा फैली हो, सुन्दर कर्ण-युगलपर पीतकुण्डलकी लहर हो, सुन्दर नयनोंकी लहरी अतिशय चञ्चल हो, सुन्दर ग्रीवाके समीप लहरें वङ्किम हो गयी हों, सुन्दर विशाल भुजाको सुपुष्ट श्याम लहरें आवृत कर रही हों; सस्मित मुखपर सुन्दर बाँसुरीकी छाया लिये मधुमय स्वरकी लहरें खेल रही हों, सुन्दर गोपवेषमें सज्जित हुए इन अधिदेवके समस्त अङ्गोंमें ही उन्मादी लहरें उठ रही हों, उनके साथ ही इनका धाम भी मूर्त हुआ, अग्रज रोहिणीनन्दनमें समाया हुआ आ रहा हो! यह राम-श्यामकी सुन्दर जोड़ी नहीं—यह तो सौन्दर्यके अधिष्ठातृदेव ही सदलबल, सुन्दर चालसे चलते हुए व्रजको प्लावित करने आ रहे हैं—

सुंदर स्याम, सुँदर बर लीला, सुंदर बोलत बचन रसाल।
सुंदर चारु कपोल बिराजत, सुंदर उर जु बनी बनमाल॥
सुंदर चरन सुँदर हैं नखमनि, सुंदर कुंडल हेम-जराल।
सुंदर मोहन नैन चपल किए, सुंदर ग्रीवा, बाहु बिसाल॥
सुंदर मुरली मधुर बजावत, सुंदर हैं, मोहन गोपाल।
सूरदास जोरी अति राजति ब्रज कौं आवत सुंदर चाल॥

दैनिक वत्सचारण-लीलाका वर्णन

अब तो श्रीकृष्णचन्द्र प्रतिदिन ही वत्सचारण करने जाते हैं। उनके महामरकतश्यामल सुकुमार श्रीअङ्गोंके अन्तरालसे प्रतिदिन ही एक अभिनव ओजकी धारा प्रस्फुटित होती है, दिन-पर-दिन वयसोचित मेधाका भी सुन्दर विकास होता जा रहा है, मनके उल्लासकी तो सीमा ही नहीं रही है और जब इस अपरिसीम उल्लासकी लहरियाँ वत्सचारणलीलाको सिक्त करने लगती हैं, उल्लासके आवेशमें यशोदाके नीलसुन्दर गोवत्सोंसे आवृत होकर अपनी परम रमणीय बाल्य-भङ्गिमाओंका प्रकाश करने लगते हैं, उस समय वृन्दाकाननके चर-अचर, स्थावर-जंगम समस्त अधिवासियोंकी दशा देखने ही योग्य होती है। सभी एक साथ ही किसी अनिर्वचनीय परमानन्दसिन्धुके अतल तलमें समा जाते हैं। ऊपर आकाशमें सुर-समुदाय आनन्द-मूर्च्छित हो जाता है; उनकी चिरसङ्गिनी सुरवनिताएँ आनन्दविवश होकर बाह्यचेतनाशून्य हो जाती हैं; अमरविमान नीचेकी ओर ढुलककर गिरने लग जाते हैं, कदाचित् श्रीकृष्णकी अचिन्त्यलीलामहाशक्ति सबका नियन्त्रण न करती होती, विशुद्ध सख्यरसभावित गोपशिशुओंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके इस निराविल आनन्दविहारमें व्याघात न हो जाय—इस उद्देश्यसे लीलाशक्ति अपने अदृश्य अञ्चलकी छोरपर इन विमान-पंक्तियोंको थाम न लेती तो सभी धरातलका स्पर्श करते होते। और इधर पुरवासी—इनका तो कहना ही क्या है। निर्निमेष नयन, स्पन्दनहीन अवयव, जो जहाँ जैसे अवस्थित है, वह वहाँ वैसे ही रह जाता है। सबके प्राण रुद्ध हैं, बस वहाँ, उसी स्थलपर—जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र हैं, अग्रज बलराम हैं, श्यामसुन्दरके सहचर गोपशिशु हैं। व्रजदम्पतिकी समस्त वृत्तियाँ भी सिमटकर आ जाती हैं यहीं अपने इस अनोखे वत्सपालके सस्मित मुखकमलपर, वे भी केवल इतना ही देख पाती हैं—उनके नीलमणि राम एवं गोपबालकोंसे परिवृत रहकर गोवत्सोंके साथ विविध विचित्र क्रीड़ामें संलग्न हैं, और यह देख-देखकर नन्दरायके, नन्दरानीके प्रत्येक रोमसे आनन्दनिर्झर झरने लग जाता है तथा व्रजकी धराका आनन्दोच्छ्वास भी प्रत्यक्ष हो जाता है। न जाने कितनी बार पावसकी श्याम घटाएँ उसके वक्ष:स्थलका अभिषेक कर जाती थीं, पर फिर भी ग्रीष्म आता और उसकी मुखश्री झुलस जाती; किंतु अब, जबसे नवजलधरसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें आये हैं, तबसे धराकी हरितिमाका कभी ह्रास नहीं हुआ। तबसे प्रतिदिन ही व्रजकी धरापर कृष्णमेघकी स्निग्ध धारा प्रवाहित होती है, श्यामसुन्दरकी स्निग्ध अमल अङ्गकान्तिसे धरा नित्य श्यामलित रहती है और इस समय वत्सचारण करते हुए, गोशावकोंके मध्यमें विविध क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी अङ्गच्छटा तो सर्वथा अप्रतिम हो जाती है, धराका अणु-अणु इस छटाकी छायासे श्याममय हो जाता है, कण-कणमें नव-नव सुकोमलतम तृणाङ्कुर उदय हो जाते हैं, धराका आन्तरिक आह्लाद व्यक्त हो जाता है—इस प्रकार समस्त व्रजपुरको सुखसमुद्रमें निमग्न करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी वत्सचारणलीला जब कुछ दिन चलती रहती है और वे इस कार्यके लिये पुरवासियोंकी दृष्टिमें सर्वथा कुशल, परम सुदक्ष सिद्ध होते हैं, तब श्रीकृष्णचन्द्रका उत्साह और भी बढ़ता है। अबतक व्रजेश्वरने प्रासादसंलग्न लघुगोष्ठके गोवत्सोंका ही भार श्रीकृष्णचन्द्रको सौंपा है; उसके भी अपरिमित असंख्य गोवत्स अवश्य हैं, पर बृहत् गोष्ठके गोवत्सोंको सम्मिलित किये बिना श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णरूपसे वत्सपाल जो नहीं हुए। अतएव श्रीकृष्णचन्द्र जनक-जननीके समक्ष, पुरवासियोंके समक्ष, अपनी योग्यताकी परीक्षा

देकर उसमें पूर्णरूपसे सफल होकर, सबकी सम्मति पाकर अब बृहत् गोष्ठके भी समस्त गोवत्सोंको चरानेके लिये अतिशय उत्कण्ठित हो उठते हैं—

एवमहरहरहतविक्रमः क्रमसमेधमानसमेधमान-सोल्लासतया तया वत्सचारणखेलया खेलयारूढमनसः प्रसृमरानमराननवरतवरतनुसहितान् स हि तान् प्रमोदयन्मोदयन्नपि व्रजवासिनः सह सहचरैर्बलभद्रेण च भद्रेण चरितवैचित्र्येण जननीजनकयोरानन्दं मुहुस्तन्वानस्तन्वा नवघनघटाश्यामलयामलया व्रजभुवं च श्यामलयन् यदि तस्यामेव लीलायां कुशलो बभूव तदा यावन्तो वत्सास्तावतामेव चारणाय पर्युत्सुक आसीत्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजराजकी अनुमति मिलनेमें अब विलम्ब ही क्या था; श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोवत्सोंके अधिनायक बन गये और त्रिभुवनजनपावनी जननी यशोदाकी प्रातश्चर्या यह बनी—किरणमालीकी स्वर्णिम किरणें व्रजपुरको रञ्जित करने आतीं, उससे पूर्व ही मैया अपने नीलमणिके शयनपर्यङ्कपर पुनः आ विराजतीं। व्रजराजमहिषी परिचित हैं अपने समस्त पुरवासियोंके स्वभावसे। उनके नीलमणिका दर्शन पानेके लिये गोपसुन्दरियोंके प्राणोंमें कितनी आतुरता है, व्रजरानीसे अब छिपा नहीं रहा है। निशाका अवसान होते ही गोपसुन्दरियाँ कोई-न-कोई बहाना लेकर आने लगती हैं और तबसे रात्रि आरम्भ होनेतक —जबतक श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनमें विराज रहे हैं, तबतक उनका क्रम नहीं टूटता। विशाल व्रजपुर है, असंख्य गोपसुन्दरियाँ हैं और बहानोंका ही क्या अभाव है। कोई प्रात:काल ही राम-श्यामके लिये निमन्त्रण लेकर आती है, व्रजरानी स्वीकार करें या न करें, कोई-न-कोई प्रतिदिन प्रस्ताव लायेगी ही—

जसोदा एक बोल जो पाऊँ।
राम कृष्ण दोउ तुम्हरे सुत कौं सखन समेत जिमाऊँ॥
जो तुम नंदराय सौं सकुचौ, तौ हौं उन्हें सुनाऊँ।
जो पै आज्ञा देहु कृपा करि, भोजन-ठाठ बनाऊँ॥

आजसे नहीं, प्रसूतिगृहमें थीं तबसे व्रजरानी देख रही हैं—गोपसुन्दरियोंके प्राण उनके नीलमणिमें ही समाये रहते हैं और वे घूम-फिरकर नन्दभवनकी ही परिक्रमा करती रहती हैं। नीलमणि जब पालने झूलने लगे, गोपसुन्दरियोंके तालबन्धपर नृत्य करने लगे, उस समय गोपसुन्दरियाँ आतीं एवं व्रजेश्वरीके चरणोंमें अपने आकुल प्राणोंकी अभिलाषा निवेदन करतीं—

यह नित नेम जसोदा जु मेरें तिहारौ लाल लड़ावन कौ।
प्रात समय उठ पलना झुलाऊँ, सकट-भँजन-जस गावन कौ॥
नाचत कृष्ण, नचावत गोपी, कर कठताल बजावन कौ।
आसकरन प्रभु मोहन नागर निरखि बदन सचु पावन कौ॥

यह सुनकर व्रजरानीके नेत्र छलक उठते, 'बहिनो! नीलमणि तो तुम सबोंका ही है' कहकर उनकी गोदमें वे नीलमणिको रख देतीं और उनका मनोरथ पूर्ण होता। मैया यहाँकी रीतिसे परिचित हैं, उन्होंने देख लिया है, जो एक बार नन्दभवनमें आया है, उसने अपने मन, प्राण, सब कुछ नीलमणिको समर्पित कर दिये हैं—

ब्रज की रीति अनोखी री माई।
जो कोउ नंदभवन में आवत, ताकौ मन हरि लेत कन्हाई॥

न जाने कितनी बार संध्या-समय जननी यशोदाके भवनमें गोपसुन्दरियाँ आयी हैं अपना दीप प्रज्वालन करने, मानो उनके घर दीप प्रज्वलित करनेके साधन नहीं हों। इतना ही नहीं, दीप जलाकर वे बाहर गयी हैं और अपने मुखश्वाससे ही उस दीपको निर्वापितकर पुनः नन्दभवनमें लौट आयी हैं। जैसे हो, जिस मिससे हो, उनके नेत्रोंको नीलमणिके दर्शन होते रहें—इतना ही उन्हें अभिप्रेत है। नीलमणि उनके पलककी ओट हुए कि उनके प्राण हाहाकार कर उठते हैं—

घन नंद महर कें मिस-ही-मिस आवैं गोकुल की नारि।
सुंदर बदन बिन देखे कल न परत,
भूल्यौ धाम-काम आछौ बदन निहारि॥
दीपक लै चली बारि, बाट में बड़ौ कर डारि,
फिरि आवै छबि सो बयार देत गारि।

नंददास नंदलाल सौं लागे नयन,
पलक की ओट मानौं बीते जुग चारि॥

और न सही, नन्दसदनकी भित्तियोंपर, स्तम्भोंपर, गवाक्षमालाओंपर कितने सुन्दर मनोहारी चित्र अङ्कित हैं, उनकी शोभा देखनेके बहाने ही गोपसुन्दरियाँ एकत्र खड़ी रहती हैं। वे चित्रोंकी प्रशंसा करती हैं, पर नेत्र झुके रहते हैं भोजन करते हुए नन्दनन्दनकी ओर—

चित्र सराहत चितवत मुरि मुरि गोपी बहुत सयानी।

किसीको ब्राह्ममुहूर्तमें ही भ्रम हो जाता है—श्रीकृष्णचन्द्रकी वंशी बज रही है। वे जाग उठे हैं, तभी तो वंशी बजी है! और वह दौड़ पड़ती है नन्दप्राङ्गणकी ओर! वहाँ आकर नीलमणिको सोये सुनकर, वस्तुस्थिति व्रजेश्वरीको समझा देती है, उनसे अनुनय-विनय करने लग जाती है—

मैं जान्यौ, जागे जु कन्हाई, तातैं जसुमति! तेरे घर आई।
मेरे पिछवारें वैसेई सुरन सौं तिनहूँ मधुरी मुरलि बजाई।
जनम सुफल करि, बिनती चित धरि, अपने कान्ह किन देहु जगाई॥

और अब तो—जबसे वत्सचारण आरम्भ हुआ है—यहाँ व्रजपुरकी, वृन्दावनकी आभीर-सुन्दरियोंका प्रथम कृत्य बन गया है नन्दभवनका दर्शन!—

प्रात समय उठ चलहु नंदगृह, बलराम-कृष्ण-मुख देखिये।
आनँद में दिन जाय, सखी री! जनम सुफल कर लेखिये॥

× × × ×

राम-कृष्ण पुनि बनहिं जायँगे चरन-कमल-रज लीजिये॥

व्रजरानीको यह सब ज्ञात है। पुरसुन्दरियोंका नीलमणिके प्रति यह प्रेमिल भाव देखकर उनका अन्तःकरण क्षण-क्षणमें आर्द्र हो उठता है। वे सबके प्रति सदय रहती हैं, यथायोग्य सबके मनोरथ पूर्ण हों—ऐसा अवसर वे प्रदान कर ही देती हैं। इसीलिये अब ये सूर्योदयसे पहले—गोपसुन्दरियोंकी भीड़ होनेसे पूर्व ही अपने नीलमणिका संलालन करती हैं। अन्यथा गोपसुन्दरियोंके आ जानेपर फिर नीलमणि शृङ्गार धराने बैठें और शान्तिसे शृङ्गार धरा लें, यह सम्भव जो नहीं। अस्तु, जननी अपने लड़ैते लालको जगाती हैं। फिर मुख-प्रक्षालन, गात्रपरिमार्जन, अभ्यञ्जन, उद्वर्तन, स्नान, अनुलेपन आदि क्रियाएँ सम्पन्नकर आभूषण धारण कराती हैं। अनेक कौशलसे श्रीकृष्णचन्द्रको भोजन कराती हैं। भोजनके अनन्तर व्रजरानीका वात्सल्य उमड़ता है, अपने नीलसुन्दरको भुजपाशमें बाँध लेती हैं, शयनपर्यङ्कपर स्वयं पौढ़ जाती हैं। नीलमणि भी जननीके वात्सल्यसे आप्यायित होकर क्षणभरके लिये अपने नेत्र निमीलित कर लेते हैं, मानो वे जननीका मनोरथ पूर्ण करते हुए सचमुच निद्रित हो गये हों। जब इतना हो लेता है, तब श्रीकृष्णचन्द्र वनकी ओर चलते हैं। जननी भी अनुगमन करती हैं, रह-रहकर जननी अञ्चलसे मुख पोंछकर आदेश करती हैं—'बस, यहींतक, यहींसे, इस स्थानसे ही लौट आना, भला!' और तब श्रीकृष्णचन्द्र मधुमिश्रित कण्ठसे, मृदुल मधुर आश्वासनवचनोंसे जननीको परितृप्तकर उन्हें घर लौटा देते हैं। यह बनी है व्रजमहारानीकी दैनंदिनी प्रातश्चर्या!—

तथा सति प्रतिदिवसमनुदित एव किरणमालिनि त्रिभुवनजनपावनजनन्या जनन्यायकोविदया दयालुहृदयया स्वयमेव शयनोत्थापनमुखधावन-परिमार्जनाभ्यञ्जनोद्वर्त्तनस्नपनानुलेपनालंकरण-कौशलानन्तरमाशयित्वा शाययित्वा च क्षणमनुगते-ऽर्द्धपथपर्य्यन्तमित एव निवर्त्यतामिति प्रतिमुहुरतिवत्सलां मातरमेनामति-मृदुलमधुरतरेण वचसा निवर्त्य।

किंतु यह सब होकर भी बलराम एवं श्रीकृष्णचन्द्र व्रजकी सीमासे दूर गोवत्स चराने नहीं जा पाते। इसमें जननीका शासन अभीतक ज्यों-का-त्यों बना है। व्रजपुरके निकट रहकर ही वेणु, वेत्र, शृङ्ग, कन्दुक प्रभृति अनेक प्रकारकी क्रीड़ासामग्री लिये सुबल, श्रीदाम आदि अगणित गोपबालकोंके साथ मिलकर दोनों वत्सचारण करते हैं—

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३८)

अवश्य ही उनकी यथेच्छ क्रीड़ाके लिये अब कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा। समीपमें व्रजदम्पति नहीं, वयस्क गोप-गोपी नहीं, परिचारिकाएँ भी नहीं; क्योंकि कुछ दिन सकुशल वत्सचारण होते देखकर सबके मनमें अनिष्टाशङ्काएँ शिथिल पड़ गयीं। अतः राम-श्यामको निर्बाध क्रीड़ाका अवसर प्राप्त हो गया। कभी तो उनकी वंशी बजती। कभी दोनों भाई एवं गोपशिशु—सभी मिलकर बहुत-से बिल्व एवं आमलकी-फल एकत्र करते तथा उन्हें रज्जुनिर्मित क्षेपणयन्त्रके द्वारा ऊँचे आकाशमें, उत्तुङ्ग वृक्षोंकी शाखाओंपर फेंकते; होड़ लगती—कौन कितना ऊँचा, कितनी दूर निक्षेप कर सकता है। कभी एक विशाल मण्डलकी रचना होती तथा मण्डलके मध्यमें खड़े होकर राम-श्याम अपने मञ्जीरमण्डित चरणोंसे सुमधुर नृत्य करते। कभी दो विचित्र मण्डलियाँ निर्मित होतीं—एक ओर समस्त गोपशिशु होते और दूसरी ओर राम-श्याम। गोपबालक कम्बलसे, वस्त्रोंसे अपने अङ्गोंको ढक लेते, दोनों हाथ पृथ्वीपर टेक देते, ग्रीवा ऊँची करके सिरको भी ढक लेते, केवल नेत्रोंके समीप कुछ स्थल छोड़कर शेष अङ्ग आवृत हो जाता और यथासम्भव शृङ्ग आदिके आकार बनाकर कृत्रिम गो-वृषभ बनकर, सजकर एक पंक्तिमें खड़े हो जाते तथा उनके ठीक सामने राम-श्याम भी ऐसी ही साजसे सजकर, कृत्रिम वृषभ बनकर गरजने लगते। फिर परस्पर युद्ध आरम्भ होता। इस युद्धमें विजय तो प्रायः गोपशिशुओंकी ही होती; पर हारनेपर भी राम-श्यामके आनन्दका पार नहीं रहता तथा कभी-कभी इन सब क्रीड़ाओंसे श्रान्त होकर, इन्हें परित्याग कर राम-श्याम दोनों भाई किसी सरोवर-तटपर, किसी वृक्षकी सुशीतल छायामें जा विराजते। उनके विराजनेकी देर थी, फिर तो हंस-मयूरादि विविध विहंगम आकर उन्हें घेर लेते, अपनी ग्रीवा उठाकर, पंख-प्रसारितकर मधुर कलरव आरम्भ करते। अब क्या चाहिये, श्रीकृष्णचन्द्रको क्रीडाकी एक वस्तु और मिल गयी। वे भी उस विहंगमोंके कल-कूजनका अनुकरण करने लग जाते। अपना मुख फुलाकर, संकुचितकर ठीक उनकी भाँति ही स्वर निकालते तथा सखामण्डली हँस-हँसकर लोट-पोट होने लगती। राम-श्यामकी इन विविध क्रीडाओंको देखकर कौन कह सकता है कि वे अखिलब्रह्माण्डपति हैं, प्रकृतिसे सर्वथा परेकी वस्तु हैं तथा ऐसे अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहते हुए ही ये ठीक ऐसी लीला कर रहे हैं, मानो सर्वथा प्राकृत शिशु हों। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रका बाल्यविहार, उनका यह प्राकृतानुकरण, प्राकृत मन-बुद्धिके द्वारा हृदयंगम कर लेना सम्भव जो नहीं! जो हो, नित्य अप्राकृतका यह प्राकृतानुकरण है अत्यन्त मधुर!—

क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः॥
वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३९-४०)

इस प्रकार विविध क्रीड़ाओंका रस लेते हुए, रसदान करते हुए राम-श्याम दोनों भाई एवं असंख्य गोपशिशु अपने तुमुल आनन्दकोलाहलसे व्रजको, वनको गुञ्जित करते रहते। इस आनन्दकोलाहलको दूरसे सुन-सुनकर ही व्रजरानी धैर्य धारण करतीं और जब मध्याह्न आने लगता, तब विविध खाद्य द्रव्योंकी छाक सजाकर परिचारिकाओंके द्वारा वनमें भेज देतीं। राम-श्याम छाक आरोगते—

सखन सहित हरि जेंवत छाक।
प्रेम सहित मैया दै पठई, हित सौं बहुबिध कीने पाक॥
सुबल सुदामा संग सखा मिलि भोजन रुचिकर खात।
ग्वालनि कर तें छाक छुड़ावत, मुख में मेलि सरावत जात॥
जे सुख कान्ह करत बृंदावन, सो सुख तीन लोक बिख्यात।
सूर स्याम भगतन बस ऐसे ब्रह्म कहावत हैं नँदतात॥

जब छकहारी परिचारिकाएँ लौटने लगतीं, तब वयस्क गोपशिशुओंको आदेश दे जातीं—

अरे! रे! शीघ्रमेवायं प्रानयनीयो व्रजधरिणीश-प्रणयिन्याः प्राणस्य प्राण इति। (श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे, ओ, सुनते हो, शीघ्र ही व्रजराजप्रणयिनी यशोदाके प्राणोंके प्राण इस नीलसुन्दरको घर लौटा ले जाना है।'

तबतक सचमुच दिन भी ढलने लगता। मुखमें पुष्प-तृणका ग्रास लिये गोवत्सोंको धीरे-धीरे चराते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें व्रजकी ओर हाँक देते। पथमें भी उनकी क्रीड़ा होती ही रहती। कभी सुमधुर राग अलापते, कभी नृत्यका झंकार गूँज उठता, कभी हँस-हँसकर बालकोंको हँसाने लग जाते। न जाने उनके साथ मिलकर कितनी ऊधम करते, उनकी क्रीड़ाकी इति जो नहीं। ऊपरसे अमरवृन्द राशि-राशि कुसुमोंकी वर्षा करते रहते, पथ दिव्य कुसुमोंसे आस्तृत हो जाता और उसपर मन्द-मन्थर गतिसे चरण-निक्षेप करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने गृहकी ओर चलते रहते—

सपुष्पतृणमुखान् वत्सान् व्रजाभिमुखान् विधाय शनैश्चारयन् गायन्नृत्यन् हसन् क्रीडन् × × × सुमनोभिश्च सुमनोभिर्वृष्यमाणः स्वगृहाय वर्त्म जगृहे।

(श्रीगोपालचम्पूः)

यह है श्रीकृष्णचन्द्रके प्रतिदिनके वत्सचारणका एक अत्यन्त संक्षिप्त क्रम। प्रतिदिन ही वे प्रातःकाल वनमें जाते हैं और सायंकाल लौट आते हैं। आज भी गये थे और लौट रहे हैं, पर आज गये थे एक विशेष अभिसंधि लेकर। वत्सासुर-उद्धारकी भूमिका जो उन्हें प्रस्तुत करनी है। आज वनमें श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ामें समय न व्यतीत कर, सर्वथा वत्ससंलालनमें ही संलग्न रहे। जिस आन्तरिक उल्लाससे उन्होंने आज गोवत्सोंकी परिचर्या की है, वह तो अभूतपूर्व ही हुई है। व्रजपुरवासियोंने यह संलालन देखा नहीं, उन्होंने कतिपय वयस्क गोपबालकोंके मुखसे सुन पाया है। पर इसे देखा है कंसके असुर गुप्तचरोंने। उन सबने श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रत्येक प्रेमिल चेष्टाके दर्शन किये। गोपबालकोंकी दृष्टि उन गुप्तचरोंपर नहीं गयी। अन्यथा उनका आनन्दकोलाहल शान्त हो जाता, उनके निर्बाध सुखमें व्याघात होता। इसीलिये योगमायाने वहाँ, उस दिशाकी ओर एक झीनी चादर डाल दी थी। गोपशिशु उस ओर देखकर भी गुप्तचरोंको इसीलिये नहीं देख पाये, उनकी गन्धतक उन्हें नहीं मिली। वे तो वैसे ही परमानन्दमें निमग्न अपने प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ व्रजमें लौट रहे हैं तथा आज उनको एक और विशेष कौतूहलकी वस्तु प्राप्त हो गयी है। मधुमङ्गलके नेत्रोंमें एक दिव्य शक्तिका उन्मेष हो गया है; आज दिनभर उसने आकाशमें क्या-क्या देखा है, वह सबको सुनाता रहा है। बालक पूरा समझ नहीं पाते, कुछ देख भी नहीं पाते, पर सुन रहे हैं बड़ी उत्सुकतासे। हाँ, उनके कर्णरन्ध्रोंमें सुरसुन्दरियोंके कोकिल कण्ठसे निस्सृत श्रीकृष्णस्तुति अवश्य प्रविष्ट हो रही है—

कमला-नायक, वैकुंठ-दायक, दुख-सुख जिन कें हाथ।
काँध कमरिया, हाथ लकुटिया, बिहरत बछरनि साथ॥

वत्सासुर-उद्धार

निशीथकी नैसर्गिक शान्ति मधुपुरके अधीश्वर कंसको स्पर्श नहीं करती। वह तो इस समय भी उतना ही उद्विग्न, वैसा ही अशान्त है, जब कि समस्त मधुपुर विश्रान्तिकी गोदमें नीरव—निष्पन्द हो रहा है। उसके प्राणोंमें, मनमें, रक्तधमनियोंमें सतत एक झंझावातका-सा कम्पन रहता है। उसकी भयावह चिन्ताओंके तार टूटते नहीं। मृत्युनिवारणकी अनेकों नृशंस योजनाएँ बनती रहती हैं, वह इस सम्बन्धमें न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। अभी भी सोच रहा है—

हन्त! सत्यतासारेण देव्या वचनानुसारेण नन्दगोपडिम्भतादम्भ एव स कोऽपि गोपितः सम्भाव्यते। येन नूतनावयवेनापि दुस्सहमहसः पूतनादयः सहसा गाम्भीर्यावृतेन वीर्यातिशयेनालम्भनीयतां लम्भिताः। त्रस्यति च तस्य नामधामवशान्मम हृदयम्। तस्मादसौ छलत एवोत्कलनीयः। (श्रीगोपालचम्पूः)

'आह! देवीकी बात तो परम सत्य होगी; उसके अनुसार मेरे प्राण अपहरण करनेवालेने जन्म तो लिया ही है और अब तो निश्चित सम्भावना हो रही है—वह चाहे कोई भी हो—है वह नन्दपुत्रका छद्मवेश धारण किये हुए, उसीमें छिपा है। स्पष्ट है—उस नन्दपुत्रकी इतनी छोटी आयु है, पर उसका बल-वीर्य कितना अपरिसीम है! देखनेसे प्रतीत थोड़े ही होता है कि वह इतना शक्तिशाली है। उसके बलपर गम्भीरताका एक आवरण पड़ा रहता है! अरे, उसीने तो पूतना आदि दुस्सह-बलसम्पन्न प्राणियोंको देखते-देखते मृत्युकी गोदमें सुला दिया! उँह! उसके नामकी, तेजकी बात स्मरण करते ही मेरा हृदय काँप उठता है! सम्मुख जाकर पार पाना असम्भव है; उसे तो छलसे उखाड़ फेंकना होगा।'

आवेशवश कंसका शरीर काँपने लगता है। शय्यासे उठकर वह हर्म्यके एकदेशमें घूमने लग जाता है। चिन्ताकी धारा भी अविच्छिन्न चलती ही रहती है—

हन्त! छलानप्युत्तरमुत्तरमतिरिक्तं युक्तमेव ते प्रयुक्तवन्तः। तथापि कदर्थितीभूय व्यर्थीभूताः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय! छलसे भी क्या होगा? जहाँ जो उपयुक्त थे, ऐसे उत्तरोत्तर एक-से-एक बढ़कर छल भी प्रयोग करके देख लिये गये। पर परिणाम क्या निकला? सभी तुच्छ सिद्ध हुए! सभी व्यर्थ!'

'दौवारिक!' सहसा कर्कश स्वरसे वह पुकार उठता है। द्वाररक्षकको आज्ञा होती है—'अभी इसी क्षण गुप्तचरको उपस्थित करो।'

चर अपने महाराजके आशयसे चिरपरिचित है। पर आज इस असमयमें आह्वान सुनकर उसका हृदय धक्-धक् करने लगता है। वह निकट जाकर वन्दना करके आज्ञाकी प्रतीक्षा करता है। उसे महाराजके मुखपर अङ्कित भावकी रेखा स्पष्ट दीख जाती है। महाराज भी किसी अन्य भूमिकाके बिना ही तुरंत बोल उठे—

अये! त्वयेदमप्यवकलितं जातौ कस्यां तस्यादरः स्नेहभरश्च परमः परामृश्यते?

'क्यों रे! तुमने यह भी देखा क्या कि उस नन्दपुत्रका सबसे अधिक प्रेम किसपर है? किसका आदर वह करता है? मेरा तात्पर्य है—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग—किस जातिके प्राणी उसे सर्वाधिक प्रिय हैं? उसके आदरके पात्र कौन-से प्राणी हैं?'

इसी चरने यशोदाके नीलसुन्दरकी उस मनोहर वत्सचारणलीलाके दर्शन किये हैं। स्वयं अपनी आँखोंसे यह देख आया है—श्रीकृष्णचन्द्र प्रत्येक गोवत्सको ही मानो अपने प्राणोंका रस देकर आप्यायित कर देना चाहते थे। कभी वे अपने पीताम्बरको आर्द्रकर गोवत्सके फेनिल मुखका प्रक्षालन कर उसपर शत-शत चुम्बन

अङ्कित करने लग जाते थे। किसी गोवत्सका कण्ठ अपनी सुन्दर भुजाओंमें धारण कर लेते और फिर उसके सिरपर अपने चूर्णकुन्तलमण्डित सिरको रख देते थे। गोवत्स उनका यह अप्रतिम स्नेह पाकर, सारी चञ्चलता त्यागकर, किसी अनिर्वचनीय प्रेमानन्दमें विभोर होकर उनके हाथका यन्त्र बन जाता था। किसीके अङ्गोंपर लगे हुए धूलिकणोंको अपने सुकोमल करपल्लवसे अपसारितकर उसके अङ्गोंका सम्मर्दन करते थे। शीतमें भी उनके उन्नत भालपर, उभरे हुए सुन्दर कपोल-युग्मपर स्वेदबिन्दु झल-झल कर रहे थे, पर इस ओर उनका तनिक भी ध्यान न था; वे तो उनके लिये हरित, सुकोमल तृणराशि संचय करनेमें लगे थे। क्षुप, तृण, वीरुधोंके समीप जाकर पहले उसका एक पत्र लेकर सूँघते थे; फिर मुखमें रखकर स्वादकी परीक्षा करते थे। यदि वह सुरभित, सुमिष्ट होता तो उसे ले लेते थे; नहीं तो उसे छोड़कर दूसरी जातिके पत्र आहृत करते थे। गोपशिशु उनकी सहायता अवश्य करते थे, पर अधिकांश कार्य वे स्वयं कर रहे थे। राशि-राशि वन्य पुष्पोंको लेकर उन गोपशिशुओंने मालाएँ बनायी थीं और श्रीकृष्णचन्द्रने प्रत्येक गोवत्सको अपने हाथोंसे विभूषित किया था। वनमें आनेसे लेकर व्रजमें लौटनेतक छाक-भोजनके अतिरिक्त उन्होंने और कुछ भी नहीं किया था, एकमात्र वत्ससंलालनमें ही संलग्न रहे थे। उनकी इन अगणित प्रेमिल चेष्टाओंको देखते-देखते चरका राक्षस-हृदय भी आर्द्र हो उठा था; अतः इस समय कंसके पूछते ही चरके मानस नेत्रोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी वही झाँकी नाच उठती है। वह अविलम्ब अत्यन्त दृढ़ स्वरमें अपनी धारणा बना देता है, महाराजके प्रश्नका उत्तर दे देता है—

देव! गोवत्सेषु तदुत्सेकः प्रतीयते।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'नाथ! गोवत्सोंपर उस बालकका स्नेह उमड़ चलता है, ऐसा प्रतीत होता है।'

बस, इतना ही जानना अभिप्रेत था। चरको घर लौट जानेका आदेश होता है तथा दूसरे ही क्षण अङ्गरक्षक सेवकको दूसरी आज्ञा मिलती है—

आकार्यतां पुरतः स वत्सासुरः। (श्रीगोपालचम्पूः)

'उस वत्सासुरको मेरे सामने बुला लाओ।'

कंसके मुखपर आसुरी उल्लासकी एक क्षीण लहर झलमल कर उठती है। वत्सासुरकी प्रतीक्षामें वह द्वारकी ओर देखता रहता है और जब वह आ जाता है, तब फिर कंसके उल्लासका क्या कहना! मानो पिता-पुत्रका मिलन हुआ है। नीतिज्ञ कंस वत्सदैत्यकी ठीक वैसे ही प्रशंसा करने लगता है, जैसे वह अपने औरस प्रिय पुत्रके बल-वीर्यका, सुयशका गान कर रहा हो। यह करके फिर उसपर अपनी अभिसंधि प्रकट करता है।

वत्स वत्सासुर! गच्छ नन्दस्य व्रजम्। गत्वा च वत्सांश्चारयतः कुमारयतस्तत्कुमारस्य सदेशमासाद्य निजं वत्सवेशमुत्पाद्य तस्यापकारमारभस्व। (श्रीगोपालचम्पूः)

'हाँ! तो मेरे प्रिय वत्सासुर! तुम अब नन्द व्रजमें चले जाओ और जाकर एक काम करो! वहाँ वनमें वह नन्दकुमार वत्सचारण करता रहेगा, कुमारोचित क्रीड़ा करता रहेगा। उसके समीप चले जाना—इस कृत्रिम रूपमें नहीं, तुम अपने स्वाभाविक गोवत्सरूपको ही धारण कर लेना और उस रूपमें ही उसपर आघात करना, भला!'

समान विचार, समान चेष्टा—वत्स दैत्य वर्षोंसे अपने अधिपतिका ही तो अनुयायी रहा है। उसे तो अभिवाञ्छित ही प्राप्त हुआ। उसी क्षण वह मायावी वत्स व्रजेन्द्रके वत्सपालकी टोहमें चल पड़ा।

वत्सदैत्यके अनादि संसरणकी इति होने जा रही है। महर्षि वसिष्ठकी नन्दिनी (धेनु)-के वचन सत्य होने जा रहे हैं। एक दिन यह वत्सासुर ही मुरुका पुत्र प्रमील नामक दैत्य था। यह अमरविजेता प्रमील भाग्यक्रमसे किसी दिन वसिष्ठके आश्रमकी ओर जा निकला। सुरूपा नन्दिनीपर उसकी दृष्टि पड़ी, देखते ही वह प्रलुब्ध हो गया। उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रमीलने ब्राह्मणका वेष बनाया और फिर वसिष्ठसे नन्दिनीकी

याचना की। महर्षिकी वञ्चना प्रमील कर सके, यह तो कदापि सम्भव नहीं। पर शीलवान् वसिष्ठ मौन हो गये, इस दम्भीको क्या उत्तर दें? अवश्य ही नन्दिनी इस महत् प्रवञ्चनाको सह न सकी और बोली—

मुनीनां गां समाहर्तुं भूत्वा विप्रः समागतः।
दैत्योऽसि मुरुजस्तस्माद् गोवत्सो भव दुर्मते॥

(गर्गसंहिता)

'अरे! ब्राह्मण बनकर तू मुनियोंकी गायको हरण करने आया है! तू तो मुरुका पुत्र है, दैत्य है! दुष्टबुद्धि कहींका! जा, इस छलके कारण तू गोवत्स हो जा।'

उसी क्षण प्रमील गोवत्सरूपमें परिणत हो गया। अब उसे अपनी भूलकी प्रतीति हुई। नन्दिनीकी, महर्षिकी परिक्रमा कर, उनकी वन्दना करके वह रक्षाकी भीख माँगने लगा। स्नेहमयी नन्दिनी तुरंत द्रवित हो गयी और कह दिया—'अच्छा, जाओ; द्वापरके अन्तमें वृन्दावनमें जाकर जब तुम गोवत्सोंके साथ जाकर मिलोगे, तब तुम्हारी मुक्ति होगी।'

तबसे अगणित वर्ष व्यतीत हो गये। इस घटनाकी स्मृति क्रमशः क्षीण-क्षीणतर होती गयी; वत्स आज इसे सर्वथा विस्मृत कर चुका है और इधर कुछ दिनोंसे न जाने कैसे उसमें पुनः कुछ क्षणोंके लिये कृत्रिम रूप धारण करनेकी, अलक्षित होनेकी क्षमता भी आ गयी है; पर वह स्थायी नहीं रहती, नन्दिनीके शापवश वत्सरूप ही उसका स्वाभाविक रूप बना रहता है। जो हो, कभी कृत्रिम, कभी अलक्षित और कभी वत्सरूपसे अपने मायाकौशलका विस्तार करता हुआ वह वृन्दाकाननकी ओर चला जा रहा है, रात्रिका अवसान होनेसे पूर्व ही वृन्दाटवीकी दिशामें दौड़ा जा रहा है। उसे पता नहीं—उसके इस मलिन जीवनकी, भवाटवीभ्रमणकी यही अन्तिम रात्रि है। पता तो केवल स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्तिको है, जो चरको उन अनोखे वत्सपालके वत्सचारणका दर्शन कराने ले आयी थीं, कंसके मनमें समयोचित स्फुरणाएँ उद्बुद्ध कर आयी थीं और जो अभी इस समय प्रमील दैत्यको—नहीं-नहीं वत्सासुरको निर्दिष्ट स्थानकी ओर भगाये लिये जा रही हैं। अस्तु—

यह तो इधरका मानचित्र हुआ। उधर वृन्दावनका अनुपम दृश्य देखिये। सदाकी भाँति रजनीका विराम होनेपर राम-श्याम जागे; जननीके अपरिसीम वात्सल्यसे सिक्त होकर, सुमिष्ट भोजनसे तृप्त एवं मनोहर भूषण-वसनसे सुसज्जित होकर शत-शत गोपशिशु तथा असंख्य गोवत्सोंसे आवृत होकर वनमें चले। पहले शृङ्गध्वनिसे आकाश पूर्ण हुआ और फिर श्रीकृष्णचन्द्रके वंशीरवमें चर-अचर, स्थावर-जंगम डूबने लगे। कलिन्द-नन्दिनीके तटका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र गिरिराज-परिसरकी ओर, व्रजसे दूर वनस्थलीकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। अब जननीकी ओरसे नियन्त्रण किञ्चित् शिथिल हो गया है, क्योंकि प्रतिदिन राम-श्याम सकुशल घर लौट आने लगे हैं; वनमें कहीं भी तनिक भी कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित हुई, यह बात मैयाने प्रत्येक गोपशिशुसे पूछ-पूछकर अपने मनका समाधान-सा कर लिया है। अस्तु, चलते-चलते श्रीकृष्णचन्द्र यमुनातटवर्ती एक परम रमणीय प्रशस्त भूमिखण्डपर चले आये। सुन्दर विशाल वट-वृक्षोंसे, कपित्थ-तरुपङ्क्तियोंसे, हरित तृणराशिसे सुशोभित उस वनकी शोभा देखते ही बनती है। गोवत्स तृण चरने लगते हैं एवं अपने प्रिय सखाओंके साथ राम-श्याम एक वटकी छायामें अवस्थित होकर उनका निरीक्षण करते हैं। यहीं राम-श्यामके प्राण-हरणकी इच्छा लिये वह वत्सासुर भी आ पहुँचता है—

कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४१)

आते ही वह गोवत्सोंकी अपार टोलीमें मिल गया। अवश्य ही उसकी दृष्टि राम-श्यामकी ओर ही केन्द्रित रही। तृण चरनेका अभिनय भी वह कर रहा है, पर क्रमशः राम-श्यामके संनिकट होता जा रहा

है; किंतु सहसा एक नयी बात हुई। उसके निकटवर्ती गोवत्स इस नये आये गोवत्सके—वत्सासुरके अङ्गोंसे निर्गत गन्धको सह न सके, उसकी गन्ध पाते ही उनमें भयका संचार हो गया; वे मल-मूत्र-त्याग करते हुए, पूँछ उठाकर कूदने लगे, अपने परम रक्षककी ओर दौड़ चले। श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टि भी इस ओर चली ही गयी। कुछ क्षण वे उस ओर देखते रहे तथा फिर बलरामजीसे बोले—

बृहद्भ्रातः! प्रातरनायातः परिचीयते वा कोऽयमुपतोयं प्रतीयते वत्सः। (श्रीगोपालचम्पूः)

'दाऊ भैया! प्रातःकाल मेरे साथ तो वह आया नहीं दीखता। तुम पहचानते हो, कुछ बता सकते हो, वह जलके समीप कौन-सा बछड़ा है? तुम्हें दीखता है न?'

अग्रज बलरामकी तो उस ओर दृष्टि ही नहीं थी। वे तो एक बार उधर देखकर अस्वीकारकी मुद्रामें बोल उठे—

भ्रातर्नहि नहि। (श्रीगोपालचम्पूः)

'भैया! नहीं; मैं तो कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं पहचानता!'

श्रीकृष्णचन्द्र धीरेसे अपना एक हाथ बलरामके कंधेपर रखकर बोले—

निरूप्यताम्? (श्रीगोपालचम्पूः)

'ठीकसे देखकर बताओ तो सही, क्या बात है?'

इस बार बलरामकी तीक्ष्ण दृष्टि वत्सासुरके नेत्रोंमें समा गयी और वे धीरेसे कहने लगे—

भीषणप्रकृतिरिव प्रतीयते। (श्रीगोपालचम्पूः)

'यह तो अत्यन्त भीषण प्रकृतिका कोई जन्तु प्रतीत हो रहा है!'

रोहिणीनन्दनकी बात पूरी होते-न-होते श्रीकृष्णचन्द्रने रहस्योद्घाटन कर दिया—

पूर्वज! पूर्वदेवोऽयम्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'दाऊ भैया! दाऊ भैया! यह तो राक्षस है!'

फिर तो बलरामने भी अपने अनुजका समर्थन ही किया—

सत्यम्; यस्मादस्मासु वत्सेषु चाकस्माददृष्टिजा दृष्टिरस्य दृश्यते।

'बिलकुल ठीक! देखो न, हमलोगोंपर तथा अपने गोवत्सोंपर अकस्मात् इसकी कितनी क्रूर दृष्टि दीख रही है!'

व्रजेन्द्रनन्दनके मुखपर किञ्चित् रोषकी लालिमा भर आयी और वे अपने अग्रजके कानमें धीरेसे कहने लगे—

यदि भवदादिष्टं स्यात्तर्ह्येतं दिष्टान्तमासादयामि।

'आपकी आज्ञा हो जाय, फिर तो मैं इसे मृत्युके मुखमें पहुँचा देता हूँ।'

अपने अनुजको यह अनुमति प्रदान करनेमें रोहिणीतनयको एक बार झिझक हुई, पर फिर हँसकर उन्होंने स्वीकृति दे ही दी। हाँ, सावधान अवश्य कर दिया—

सच्छलमेतं सच्छलमेव मन्दं मन्दमभ्यवस्कन्द।

'देख भैया! छलके साथ यह दैत्य यहाँ आया है; तो तू भी इसके समक्ष छल करते हुए धीरे-धीरे—मानो तुझे इसका सर्वथा पता नहीं हो, तू तो किसी अन्य गोवत्सकी ओर जा रहा हो—इस प्रकार जाना, भला!'

अग्रज-अनुजका यह परामर्श क्षणोंमें ही सम्पन्न हो गया और इतने गुप्तरूपसे, मानो कुछ हुआ ही नहीं; केवलमात्र श्रीकृष्णचन्द्रने गोवत्स-वेषमें आये दैत्यको बछड़ोंके समूहमें मिल जाते देख लिया हो तथा फिर बलरामजीको दिखाकर उसके पास सर्वथा मुग्ध-से बने हुए जा पहुँचे हों, जैसे इतनी-सी ही बात हुई हो—

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः।
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४२)

अस्तु, वत्सासुरको प्रतीत हुआ कि बिना परिश्रम सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हो गया है। एक क्षणका भी विलम्ब न करके वह अपने दोनों पिछले पैरोंसे श्रीकृष्णचन्द्रके स्कन्धदेशपर भरपूर आघात कर बैठा—

दैत्यः पश्चिमपादाभ्यां हरिमंसे तताड ह।

श्रीकृष्णचन्द्र तो सावधान हैं ही। उन्होंने पूँछके सहित उसके दोनों पिछले पैरोंको हाथसे पकड़ लिया, फिर उसे ऊपर उठाकर चक्राकार घुमाने लगे। इस प्रकार दो-चार बार घुमानेकी ही देर थी; फिर तो उसके संसारचक्रका परिभ्रमण सदाके लिये समाप्त हो गया। देवविजयी वत्सासुरके शरीरकी समस्त शक्तियाँ इतनेमें ही शान्त हो गयीं, शरीर निष्प्राण हो गया। अब मृतदेहको घुमानेमें लाभ ही क्या? श्रीकृष्णचन्द्रने उस देहको एक कपित्थ-वृक्षपर पटक दिया। महाप्रयाणके अन्तिम क्षणमें वत्सका प्रकाण्ड दैत्यशरीर प्रकट हो गया था। ऐसे अत्यन्त विशाल दैत्यदेहके आघातसे वह कपित्थ तो टूटकर गिरा ही, कई कपित्थतरु एक-दूसरेके आघातसे छिन्न-भिन्न होकर वत्सासुरके साथ ही धराशायी हो गये—

गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम्।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४३)

पुच्छ सहित लै पिछले पाइ, दियौ फिराइ-फिराइ बगाइ।
महाकाइ ऊपर ही मर्‍यौ, बहुत कपित्थन लै धर पर्‍यौ॥

सहसा ऐसी घटना घटित देखकर गोपशिशु एक बार तो भयसे चीत्कार कर उठते हैं—

सब सिसु जुरि कैं, सकल बटुरि कैं।
अति भय भरि कैं, लहत हहरि कैं॥

किंतु दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपर उज्ज्वल हास देखकर, अग्रजको उल्लासवश ताली पीटते देखकर उनका भय जाता रहता है। अवश्य ही वत्सासुरके उस भीषण बृहत् शरीरको देखकर उनके आश्चर्यका पार नहीं रहता। और अब तो सभी बालक एक स्वरसे श्रीकृष्णचन्द्रको साधुवाद देने लगते हैं—

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति।

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४४)

भयौ अचंभौ देखि कैं, चकित भए ब्रजबाल।
या खल तें रच्छा करी, धन्य धन्य गोपाल॥

अन्तरिक्षसे परिसंतुष्ट हुए देववृन्द भी श्रीकृष्णचन्द्रपर सुमनवृष्टि करने लग जाते हैं—

देवाश्च परिसंतुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४४)

सुर हरषे, नव फूलन बरसे।

वत्सासुरकी चरमपरिणति क्या हुई, इसे भी—गोपशिशुओंने तो नहीं—सुरसमुदायने अवश्य देख लिया—

तद्दैत्यस्य महज्ज्योतिः कृष्णे लीनं बभूव ह।

(गर्गसंहिता)

'उस दैत्यके अन्तर्देशसे निकली एक परम ज्योति श्रीकृष्णचन्द्रमें लीन हो गयी।'

वत्सदैत्यको यह योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति देकर श्रीकृष्णचन्द्र तो गोपशिशुओंके साथ मनोरम बाल्यविहारमें तन्मय होने लगते हैं—

तदनु दनुजदमनो मनोरमहेलालसो लालसो निजसहचरनिकरेषु.....। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

और अन्तरिक्षचारी विबुधवृन्दकी, सिद्ध-गन्धर्व-किंनरोंकी वृत्तियाँ लीन होने लगती हैं राम-श्यामके सुयशगानमें। उनकी अन्य समस्त वासनाएँ समाप्त हो गयीं हैं। बस, सबके अन्तस्तलके तारोंपर एक ही झंकार है—

स्याम-बलराम कौं सदा गाऊँ।
स्याम-बलराम बिनु दूसरे देव कौं स्वप्न हू माहिं नहिं हृदय ल्याऊँ॥
यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम-ब्रत, यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ।
यहै मम ध्यान, यहै ग्यान, सुमिरन यहै, सूर-प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥

वकासुरका उद्धार; वकासुरके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

सप्तस्वर्ग-सप्तपातालसमन्वित असंख्य ब्रह्माण्ड-श्रेणीके प्रधान पालक जब वत्सपाल बने हैं, अपने अनन्त—अपरिसीम ऐश्वर्यको रससिन्धुके अतलतलमें डुबाकर व्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्रने, रोहिणीनन्दन बलरामने जब गोशावक-संलालनका व्रत स्वीकार किया है, तब दिनचर्या भी उसके अनुरूप होनी ही चाहिये। इसीलिये इस वृन्दावनमें—

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥*

—इस मन्त्रपाठके द्वारा उनका आवाहन नहीं होता; आसन, पाद्य, अर्घ्य, स्नानीय, धूप, दीप, नैवेद्य आदिका विधिवत् समर्पण होकर उनकी आराधना नहीं होती। यहाँ तो रजनीका विराम होनेपर व्रजेश्वरीके सुमधुर मनुहारपूरित संगीतके द्वारा, जननीकी अतिशय प्रेमिल भर्त्सनाओंके द्वारा वे जगाये जाते हैं—

जागौ हो तुम, नंदकुमार!
बलि-बलि जाउँ मुखारविंद की, गोसुत मेलों करौ सँभार॥
आज कहा सोवत, त्रिभुवनपति ! और बार तुम उठत सवार।
बारंबार जगावति माता, कमलनयन ! भयौ भवन उजार॥

× × ×

कौन परी नँदलालै बान।
प्रात समैं जागन की बिरियाँ सोवत है पीतांबर तान॥
मात जसोदा कब की ठाढ़ी, लै ओदन भोजन घृतसान।
जागौ स्याम ! कलेऊ कीजै, सुंदर बदन दिखाऔ आन॥
संग सखा सब द्वारें ठाड़े, मधुबन धेनु चरावन जान।
सूरदास अति ही अलसाने सोवत हैं अजहूँ, निसि मान॥

और फिर जननीका अञ्चल ही उनका आसन होता है। यहाँ यह निश्चित नहीं कि मुख-प्रक्षालन, स्नान, सम्मार्जन होनेके अनन्तर ही नैवेद्य अर्पित हो। अपने क्रोडमें अञ्चलपर आसीन श्याम-बलरामको निहारकर जननी प्रतिदिन आत्मविस्मृत-सी होती ही है और न जाने कितनी बार संलालनके क्रममें व्यतिक्रम होता है। संलालन कलेऊसे ही आरम्भ होता है। दोनों पुत्रोंको भुजपाशमें बाँधकर जननी स्फुट कण्ठसे मनमाना गीत गाती हुई सर्वप्रथम नैवेद्यका उपहार ही समर्पित करती हैं—

करौ कलेऊ राम कृष्ण मिलि, कहत जसोदा मैया।

× × ×

उठत प्रात कछु मात जसोदा मंगल-भोग देत दोउ छोरा।
माखन, मिश्री, दह्यौ, मलाई, दूध भरे दोउ कनक-कटोरा॥

यह होनेपर फिर स्नान, सम्मार्जन आदि सम्पन्न होते हैं। श्रीकृष्ण-बलरामके श्यामल-गौर श्रीअङ्गोंपर तो नित्य लावण्यकी लहरें उठती रहती हैं। वहाँ मलिनताकी छाया भी नहीं। जहाँ मालिन्य है, वहाँ ही संस्कार-परिष्कृति अपेक्षित होती है। नित्य नव सुन्दरको क्या तो नहलायें, क्या विभूषित करें।

यह तो यशोदारानीके वात्सल्यसिन्धुकी चञ्चल लहरें हैं, जो विविध शृङ्गारसे, आभूषणोंसे वे अपने पुत्रोंको विभूषित करती रहती हैं। ऐसा करना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है। इसीलिये, भ्रान्तिवश ऐसी भूल हो जानेपर, स्नानसे पूर्व ही कलेवा करा देनेपर पश्चात्ताप भी करने लगती हैं; उन्हें भय होने लगता है, ऐसा करनेसे उनके नीलसुन्दरके, अग्रजके शरीरमें व्याधि होनेकी सम्भावना है; उनका अबोध सरलमति नीलमणि आगे चलकर ऐसी अशुचिताका अभ्यासी बन जायगा। जो हो, तात्पर्य यह है कि यहाँ—इस

---

* उन परम पुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान)-को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं।

वृन्दाकाननमें वत्सपाल बने हुए सर्वलोकैकपाल राम-श्यामकी अर्चना निराले ढंगसे ही होती है; यहाँ विधि-विधान कुछ नहीं, यहाँ तो जननीके, गोपसुन्दरियोंके, गोपोंके अन्तस्तलमें प्रवाहित अनाविल प्रेमसिन्धुकी ऊर्मियोंपर ही राम-श्याम निरन्तर नृत्य करते हैं। लहरें जहाँ—जिस ओर जैसे बहा ले जाती हैं, वहाँ ही उसी ओर वैसे ही दोनों बह जाते हैं। अस्तु, अब तो दोनोंका दैनन्दिन क्रम यह हो गया है—शय्यासे गात्रोत्थान करते ही वे शीघ्र-से-शीघ्र स्नानादि प्रातःकृत्य समापन कर लेते हैं; फिर अत्यन्त अल्प समयमें ही जननीके धराये शृङ्गारको धारण कर लेते हैं और तब प्रातःकालीन भोजन भी अतिशय त्वरासे नन्दभवनमें ही हो जाता है। उसके बाद यहाँ और कुछ नहीं, सब कुछ वनमें तथा असंख्य गोवत्सोंके, गोपशिशुओंके समाजमें। सखाओंसे परिवेष्टित रहकर दिनभर दोनों भाई वत्सचारण करते हुए वनमें ही घूमते रहते हैं—

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४५)

वत्सासुरका उद्धार तो हो ही गया, पर उसके कारण इनके स्वच्छन्द विहारमें कोई बाधा नहीं आयी। वत्सासुरके आनेकी बात अधिकांश गोपोंने, व्रजरानीने जानीतक नहीं। उसी दिन श्रीकृष्णचन्द्रने सखागोष्ठीमें मन्त्रणा कर यह स्थिर कर लिया था—'कोई भी इस घटनाकी बात किसीको न बताये; अन्यथा मैया वत्सचारणके लिये मुझे वनमें नहीं आने देगी, कम-से-कम सुदूर वनमें नहीं जानेका प्रतिबन्ध तो पुनः लग ही जायगा और फिर हमलोगोंकी स्वच्छन्द क्रीड़ा नहीं हो सकेगी!' बालकोंने वैसा ही किया, किसीको कुछ भी नहीं बताया। सदाकी भाँति श्रीकृष्णचन्द्रका वनगमन, वत्सचारण, वनविहार निर्बाध चलता ही रहा। जनश्रुतिके रूपमें मधुपुरसे यह बात व्रजपुरमें भी आयी अवश्य; पर किसीने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसकी प्रतिक्रिया तो मधुपुरके अधीश्वर कंसपर हुई। जिस क्षण अपने पूर्व गुप्तचरके मुखसे कंसने वत्सासुर-निधनकी बात सुनी, उसे प्रतीत हुआ मानो हालाहल विषकी ज्वाला कर्णरन्ध्रोंके पथसे हृदयमें प्रविष्ट हो गयी। अन्तस्तल झुलस गया। नेत्रोंमें अँधेरा छा गया। अतिशय वेगसे उसने आँखें बंद कर लीं—

कंसस्तु तस्माद्वत्सपादपि वत्सासुरनिर्वासनमपसर्पमुखाद्विषमिव कर्णरन्ध्रस्पर्शमात्रेणान्तः सम्भूय भृशं दृशौ निमीलयामास। (श्रीगोपालचम्पूः)

इतना ही नहीं, संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ा वह। जीवनमें प्रथम बार इतनी गहरी मूर्च्छा कंसको हुई, मानो वह निष्प्राण हो गया हो। सचमुच बाहरसे जीवनके सभी लक्षण कुछ क्षणके लिये विलुप्त हो गये। मन्त्री दौड़े, अनेकों उपचार आरम्भ हुए, फिर कहीं जाकर उसे किसी प्रकार बाह्यज्ञान हुआ—

तेन दशमीमिव दशां प्रापितः स तु मन्त्रिभिः कथंचिद्वहिरवधापितः। (श्रीगोपालचम्पूः)

अब अपेक्षित मन्त्रणा पुनः प्रारम्भ हुई। कंस भीति एवं अतिशय खेदसे पूर्ण वाणीमें सभासदोंपर अपना मनोभाव प्रकट करने लगा—

हन्त सम्भाविता दम्भान्विता बहवः प्रस्थापिता न तु तैर्भद्रं किंचिदपि संचितम्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय! एक नहीं, बहुत-से प्रतिष्ठित छद्मवेश धारण करनेवाले भेजे गये; किंतु उनके द्वारा किंचिन्मात्र भी हित-साधन नहीं हुआ।'

कुछ शब्दोंमें ही कंसराजने परिस्थितिकी गम्भीरता बता दी। पर वह मन्त्रिमण्डल भी तो अपना महत्त्व रखता है। मन्त्रियोंने अपने महाराजमें पुनः नवीन आशा संचारित कर देनेके उद्देश्यसे यह परामर्श दिया—

देव! केवलं वकमत्र बलमवलम्बामहे।
यतस्तज्जातावेव दम्भसम्भारा गम्भीरायन्ते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'स्वामिन्! अब तो वकासुरके बलका ही आश्रय करें; क्योंकि बगुलेकी जाति ही ऐसी होती है, जहाँ दम्भका जाल गहरा बन जाता है।'

सचमुच कंसको वकासुरकी विस्मृति हो गयी थी। मन्त्रियोंने उपयुक्त अवसरपर ही स्मरण

कराया। फिर तो उल्लासमें भरकर कंसने इसका अनुमोदन ही किया—

आं आं मम सुहृत्तमः स एव केवलस्तत्र प्रस्थापनाय स्थाप्यताम्।

'हाँ, हाँ! बहुत ठीक, मेरे उस सुहृत्तम वकासुरको ही वहाँ भेजा जाय।'

वकासुरका एवं वकभगिनी पूतनाका प्रथम मिलन मानो उसकी स्मृतिमें नाच उठा। कंस एवं वक दोनों ही भीषण द्वन्द्व-युद्धमें संलग्न हुए थे। अत्यन्त पराक्रमी वकने कंस-जैसे महाविक्रान्त योद्धाको भी अपने मुखका ग्रास बना लिया था। दुर्धर्ष कंसने भीतर जाकर भी प्रचण्ड पराक्रमसे अपने-आपको उगल देनेके लिये वकासुरको बाध्य तो अवश्य कर दिया और फिर उठाकर घुमाते हुए उसे पटक देनेमें भी समर्थ वह अवश्य हुआ; पर वकके अपरिमेय बलकी छाप उसपर पड़ ही गयी । तथा इसीलिये उसी क्षण जब अपने भाईको विपन्न पाकर उसकी बहिन पूतनाने कंसको अपने साथ युद्धके लिये ललकारा, तब कंसने यही उत्तर दिया था—

स्त्रिया सार्द्धमहं युद्धं न करोमि कदाचन।
वकासुरः स्यान्मे भ्राता त्वं च मे भगिनी भव॥

(गर्गसंहिता)

'देख, स्त्रियोंके साथ मैं कभी युद्ध नहीं करता। आजसे वकासुर तो मेरा भाई बने और तू मेरी बहिन।'

अस्तु, तबसे वक-वकीका सौहार्द कंसके प्रति अक्षुण्ण रहा। वकी—पूतनाने तो अपने प्राण कंसके लिये दिये ही। अब वकासुरकी परीक्षाका अवसर था। मन्त्रियोंके मुखसे उसका नाम सुनते ही कंस एक बार पुनः सुख-स्वप्न-सा देखने लग गया, उसे आशा बँध गयी—नन्दपुत्रको वकासुर तो निगल ही जायगा! फिर विलम्ब क्यों? तुरंत ही वकका आह्वान हुआ, वह सभामें उपस्थित हुआ; उसे सारी योजना समझा दी गयी और वह व्रजेशपुत्रको अपने मुखका ग्रास बनानेके उद्देश्यसे चल पड़ा।

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी सदाकी भाँति वत्सचारण करने वन चले। वही त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य है, वही मधुरातिमधुर बाल्यभङ्गिमा है, वैसी ही क्षीरसिन्धुकी उच्छलित तरङ्गों-जैसी गोवत्सराशि आगे-आगे आ रही है, वैसा ही परमानन्दमें निमग्न क्रीडापरायण गोपशिशुओंका समाज है, अग्रजका संरक्षण है। अपनी बङ्किम चितवनसे वनस्थलीकी शोभा निहारते, हँसते-हँसाते, अपनी वंशीकी मधुर स्वर-लहरीसे वृन्दाकाननको रसप्लावित करते, झूमते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं। चलते-चलते नवतृणास्तीर्ण वनभूमि आ जाती है। वहाँ एक परम रमणीय सरोवर है। सरोवरके संनिकट मनोहर नव-नवाङ्कुरित तृणराजि है, जो जलका सांनिध्य पाकर सान्द्र-स्निग्ध बन गयी है। इस परम सुन्दर वन्य भू-भागको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोवत्सोंको यहीं निवेशित करते हैं, आज यहीं क्रीड़ा होगी—

नवशाद्वलतलमालोकयन् क्वचन जलाशयोपकण्ठे ललितानि नवनवाङ्कुरितानि शष्पाणि पानीय-संनिकर्षसुमेदुराणि समालोक्य वत्सकुलं तत्रैव निवेशयामास। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उल्लासमें भरे राम-कृष्णकी, गोपशिशुओंकी यहाँ प्रथम चेष्टा होती है—अपने-अपने वत्ससमुदायको सरोवरका सुनिर्मल जल पिलाकर तृप्त करना। इतनी दूरसे चलकर आये गोवत्सोंको प्यास लगी ही होगी; श्रीकृष्णचन्द्रको, उनके सखाओंको स्वयं भी जो प्यासकी अनुभूति हो रही है। अतः प्रथम सभी अपने-अपने वत्सकुलको सरोवरमें उतारते हैं, उनके जलपान कर लेनेपर तीर-देशमें उन्हें तृण चरनेके लिये उन्मुक्त छोड़ देते हैं। इसके अनन्तर स्वयं उस सुनिर्मल सुमिष्ट जलका पान कर तृप्त होते हैं—

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४६)

गोपशिशुओंमें नवस्फूर्तिका संचार हुआ और वे जलाशयके तीरपर लगे दौड़ने। इसी समय सहसा उनकी दृष्टि एक विचित्रकाय जन्तुपर चली जाती है, जलके समीप ही वह जन्तु बैठा जो है। उज्ज्वलवर्ण, अत्यन्त प्रकाण्ड। वह सचमुच क्या वस्तु है, बालक

यह निर्णय नहीं कर सके ! मानो वज्राघातसे एक गिरिशृङ्ग टूट गया हो; टूटकर भूमिपर, उस सरोवरके तटपर ही आ गिरा हो! ऐसे विशालकाय जन्तुको देखकर बालक अत्यन्त भयभीत हो गये—

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४७)

यह जन्तु और कोई नहीं, वही कंसप्रेरित वकरूपधारी महाबली वक दैत्य है, अपनी घातमें बैठा है—

स वै वको नाम महानसुरो वकरूपधृक्।

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४८)

किंचिद् वयस्क एवं साहसी बालकोंने कुछ आगे बढ़कर यह तो जान लिया कि यह एक अत्यन्त विशालकाय बगुला पक्षी है। पर जब उन्होंने उस वकके विस्तारित चञ्चुपुटोंकी ओर देखा, तब उनके प्राण सूख गये—

धरणितलमुन्नमयन्निव धरणितलनिहितोत्तर-चञ्चुर्दिवमवनमयन्निव द्युतलनिवेशितोर्ध्वचञ्चुश्च युगपदेव देवदनुजमनुजादिसकलजीवजीवनाकर्षणाय विततायतमहासंदंशं विवृत्य स्थित इव कालपुरुषः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मानो धरणीको उत्पाटितकर ऊर्ध्वदेशमें ले जानेके उद्देश्यसे उसने अपने नीचेकी चोंचको धरातलसे संलग्न कर रखा है, एवं स्वर्गको उखाड़कर धरातलपर लानेके लिये ही उसका ऊर्ध्वचञ्चु आकाशमें उठा है। मानो एक साथ देव, दनुज, मानव—समस्त जीवोंके प्राण आकर्षण करनेके लिये विशाल संडासी विस्फारितकर कालपुरुष वहाँ अवस्थित हो!'

गोपबालक भगे अपने प्राणाधारसखा श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वतः भी दृष्टि उस विशालकाय वककी ओर ही लगी है। दो-एक सहचरोंसे वे उस वककी ही चर्चा कर रहे हैं—

आकारात्पक्षितुल्यः स्याद् व्यापारान्न च पक्षिवत्।
वकः किं नवकः साक्षात् कूटवत् स्थितिरीक्ष्यते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैयाओ! देखो, आकारसे तो वह पक्षीके समान ही लगता है, पर इसकी चेष्टा पक्षी-जैसी नहीं है। क्या यह कोई नवक वक—नयी जातिका बगुला है?* पर्वतशृङ्ग-जैसा प्रतीत हो रहा है।'

इतनेमें आकर गोपसखा उन्हें घेर लेते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी बात पूरी होते-न-होते अतिशय भीति-भरे स्वरमें कई एक साथ ही कहने लग जाते हैं—

सखे! नायं पक्षी। अपि तु सकलानेव नो गिलितुमिव कृतारम्भेण गुरुतरदम्भेन केनापि वकाकृतिना दानवेनैव भवितव्यम्। तदितः पलायनमेवास्माकं पथ्यम्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैया कन्नू! यह पक्षी नहीं है। यह तो हम सबको निगल जानेके उद्देश्यसे आया हुआ, अत्यन्त छद्मनिपुणतासे बगुलेकी आकृति धारण करनेवाला कोई दानव होगा। अतः यहाँसे भाग चलनेमें ही हम सबोंका कल्याण है।'

कुछ गोपशिशु अतिशय त्वरासे बोल उठते हैं—

कैलाशशिखरिशिखरद्राघीयसः शरीरादपि दीर्घदीर्घतराच्चञ्चुपुटादस्य कथं पलायनमपि।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे' देखते नहीं! कैलास पर्वतके शिखरकी अपेक्षा भी इसका शरीर बड़ा है और इस अतिशय दीर्घ शरीरसे भी इसके चञ्चुपुट दीर्घ—दीर्घतर हैं। इसकी चोंचसे बचकर भागोगे कैसे?'

अपने सखाओंकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर मृदु हास्यकी सुन्दर रेखा-सी खिंच जाती है। उस स्मितकी ओटसे सुधा-सीकर झरने लगते हैं। मुखमण्डलका सौन्दर्य, लावण्य निखर उठता है। अमृतस्यन्दी स्वरसे सखाओंको 'नाशङ्कनीयम्'—

* अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयंभगवान्के मुखारविन्दसे कूटभाषाकी ओटमें सत्य प्रकट हो गया। 'नवक वक' कहकर उन्होंने संकेत कर दिया—'यह वक नहीं, वकासुर दैत्य है।'

भयभीत मत होओ, कहकर आश्वासन देते हुए अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्र वकमुखकी ओर भी संनिधिमें जानेका विचार करते हैं, चल पड़ते हैं। इस समय सर्वज्ञ, सर्ववित्—स्वयंभगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका यह बाल्यावेश देखने ही योग्य है। उन्हें सब कुछ पता है; यह कौन है, क्या करने आया है—वे सब कुछ जानते हैं। फिर भी मुखकमलपर ऐसा मुग्धभाव है, जैसे उन्हें इस प्रकाण्ड वकपक्षीके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं; इतने सरल मुग्ध शिशुकी भङ्गिमा धारण किये वे वकतुण्डकी ओर अग्रसर हो रहे हैं—

पुण्डरीकलोचनस्तं जानन्नप्यजानन्निव तस्य तुण्डसंनिधिमेव गमनेऽवधिं चकार।

(श्रीगोपालचम्पूः)

भीतिविजड़ित नेत्रोंसे गोपशिशु अपने प्राणाराम सखाकी यह चेष्टा देखने लगते हैं। अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपर तो भयकी छाया भी नहीं है। उन्हें भय क्यों हो? वे व्रजेन्द्रके वत्सपाल भले ही हों, पर हैं तो अखिललोकके अभयदाता ही न! वे मन्द-मन्थर गतिसे वकके संनिकट होते जा रहे हैं। उनकी चालसे स्पष्ट है—भय नहीं, अपितु उस वकके प्रति उपेक्षा—अवहेलना है—

अकुतोभयमभयदमखिललोकस्य सहेलमभिमुखमुपसर्पन्तम् × × ×।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु आह! यह क्या हुआ! अरे वह वक उचका! श्रीकृष्णचन्द्रके निकट वह सहसा आ गया! हाय रे! इस महाबली तीक्ष्णतुण्ड पक्षीने तो नीलसुन्दरको अपने चञ्चुपुटोंमें रख लिया! आह! व्रजजीवन नीलमणि वकमुखके ग्रास बन गये—

आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली।

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४८)

वनविहंगम आर्तनाद कर उठे। तरु-वल्लरियोंमें बड़े वेगका प्रकम्पन आरम्भ हुआ। वन्यमृगोंमें, कपिदलमें एक विचित्र मर्मभेदी करुण कोलाहल होने लगा। अन्तरिक्षमें समस्त देवसमुदाय चीत्कार कर उठा तथा राम एवं गोपशिशु? आह! प्राण निर्गत होनेपर मृतदेहस्थ चक्षु आदि इन्द्रियोंकी क्या दशा होती है? जब उनके प्राणस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ही उन्हें छोड़कर वकमुखमें समा गये, तब अग्रजमें, गोपशिशुओंमें रखा ही क्या है? श्रीकृष्णचन्द्रको बगुला निगल गया, नेत्र-गोलकने इतना ही देखा; फिर तो निष्प्राण शरीरके इन्द्रियगोलककी भाँति रामके सहित समस्त गोपशिशु चेतनाशून्य हो गये—

कृष्णं महावकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४९)

जब बक ग्रस्यौ कुँवर नँदलाल। बल समेत सब ब्रज के बाल॥
भए बिचेतन ते तन ऐसैं। प्रान बिना इंद्रीगन जैसैं॥

अवश्य ही अचिन्त्य लीला-महाशक्तिके प्रभावसे प्रत्येक गोपशिशुके नेत्र निमीलित नहीं हुए, ज्यों-के-त्यों खुले रहे तथा नेत्रमें लीलोपयोगी दर्शनशक्ति भी बनी रही। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने-परायेके सुख-दुःखका कोई भान नहीं रहा, अन्य कोई अनुभूति नहीं रही।

अस्तु, अब वककी क्या दशा हुई, यह देखें। बड़े उल्लाससे उसने नन्दपुत्रको ग्रास तो बना लिया। पर क्या वह इन्हें सचमुच निगल सकेगा? जिनकी एक आंशिक अभिव्यक्तिके लोमकूपमें असंख्य ब्रह्माण्ड धूलिकणकी भाँति विलीन होते रहते हैं, जो जगत्स्रष्टाके भी स्रष्टा हैं, उन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको क्षुद्रातिक्षुद्र वकासुर उदरस्थ कर ले, यह सम्भव हो सकता है क्या? यह तो उनकी लीला-रसास्वादनकी अभिनवपद्धति ही है, जो वे स्वयं वकके मुखमें समा गये हैं। अन्यथा वक उन्हें स्वप्नमें भी स्पर्शमात्र कर ले, यह शक्ति भी उसमें कहाँ। जो हो, जब वे उसके मुखविवरमें गये हैं, तब अग्रिम लीलाक्रम भी होगा ही, श्रीकृष्णचन्द्र उससे खेलेंगे ही, खेलने ही लगे। यह देखो—अग्निज्वालाकी भाँति उत्ताप उसके तालुमूलमें, कण्ठदेशमें सृष्ट हो जाता है! उनके परम शीतल शंतम श्रीअङ्गोंका स्पर्श ही असुरके तालुमूलमें असह्य

प्रदाह उत्पन्न कर देता है। इतनी, ऐसी भीषण जलन होती है, मानो उसने भ्रान्तिवश एक ज्वलन्त लौहपिण्ड ही अपने चञ्चुपुटोंसे उठा लिया हो। श्रीकृष्णचन्द्रकी यह क्रीड़ा कितनी विचित्र है! जिनका एक नाम एक बार जिह्वाग्रपर आते ही नरककी भीषण ज्वाला सर्वथा शान्त हो जाती है, उनके ही परम शीतल चरणसरोजका स्पर्श पाकर वकका कण्ठ जलने लगता है! उसे इतनी असह्य वेदना होती है कि वह व्रजेन्द्रनन्दनको उगल देनेके लिये बाध्य हो जाता है, तुरंत उसी क्षण उन्हें उगल ही देता है। श्रीकृष्णचन्द्र बाहर आ जाते हैं। वकको विश्वास था—कण्ठ भले ही जले, पर उगलनेपर श्रीकृष्णचन्द्र तो निष्प्राण मांसपिण्ड ही बनकर उसके मुँहसे निकलेंगे; किंतु इससे विपरीत वे तो सर्वथा अक्षत निकले। वकके क्रोधकी सीमा नहीं रहती। अतिशय रोषमें भरा अपने चञ्चुप्रहारसे श्रीकृष्णचन्द्रको प्राणशून्य कर देनेके लिये वह पुनः उनके समीप आ जाता है—

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५०)

मूर्च्छित हुए उन गोपशिशुओंके विस्फारित नेत्र यह सब देख रहे हैं तथा जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र वकके मुखसे बाहर निकले, उसी क्षण उन्हें अक्षत देखकर समस्त बालकोंकी ज्ञानशक्ति भी लौट आती है। पर क्रियाशक्ति अभी भी ज्यों-की-त्यों सुप्त है। जो हो, इधर श्रीकृष्णचन्द्रकी वकक्रीडाका उत्तर-अंश आरम्भ हो जाता है। भक्तगण-परिपालकने, देववृन्दोंके आनन्दविधायकने दृश्य बदल देना चाहा। अतः अब विलम्ब नहीं। यह लो, देखो, यशोदाके नीलमणिका दूसरा खेल! वे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और वक दैत्यकी दोनों बृहत् चोंचोंको अपने नन्हे करपल्लवोंसे बलपूर्वक पकड़ लेते हैं। और फिर क्षणार्ध भी नहीं लगता, मानो वह वक दैत्य ग्रन्थिहीन एक तृणविशेष हो—इस प्रकार अनायास उसे बीचसे चीर डालते हैं—

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५१)

प्रभु लीला-आसक्त वै लखि सिसु दुखी अपार।
कर-कमलन सौं चोंच गहि करे फका द्वै फार॥

आकाशसे सहस्र-सहस्र कुसुमोंकी वृष्टि होने लगती है। आनन्दप्रमत्त देवगण नन्दनकाननसे राशि-राशि जाती, यूथी, मधुमालती, चम्पक, नागेश्वर, मल्लिका आदि कुसुमोंका चयन कर श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंपर वर्षा कर रहे हैं। वहाँकी समस्त वनस्थली दिव्य सौरभमय प्रसूनोंसे सम्पूर्णतया आस्तृत हो जाती है। साथ ही आनक, शङ्ख आदि दिव्य वाद्योंकी ध्वनिसे, देवकृत स्तवपाठके सुमधुर नादसे अन्तरिक्ष पूरित होने लगता है। पुनः-पुनः पुष्पवर्षण, वाद्यवादन, श्रीकृष्णस्तवनसे देवसमाज अपने त्राताकी आराधना करके भी आज अघाता जो नहीं। यह सब देख-सुनकर गोपशिशुओंको अतिशय विस्मय होने लगता है—

तदा वकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवैस्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५२)

किंतु अब वे देवोंके गान-वाद्यकी ओर देखें, यह समय नहीं रहा है। उनके प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्र वकासुरके कराल मुखसे मुक्त होकर उनके समीप आकर खड़े जो हो गये हैं। फिर तो जैसे मृत शरीरमें पुनः प्राण लौट आये हों, इस प्रकार एक साथ राम आदि सभी शिशुओंमें क्रियाशक्तिका संचार हो गया। इतना ही नहीं, उनका रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। एक साथ सभी उठे, सबने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने भुजपाशमें बाँध लिया। ओह! इस मिलनके समय जिस सुखकी अनुभूति इन गोपशिशुओंने की, उसे कौन बताये? कैसे बताये?

मुक्तं वकास्यादुपलभ्य बालका रामादयः प्राणमिवैन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः........................॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५३)

दो खण्डोंमें विभक्त वकका मृत शरीर सामने

पड़ा है। स्वयं तो वह अनादि संसृतिके, भवप्रवाहके उस पार बहुत दूर जा पहुँचा है—

तदा मृतस्य दैत्यस्य ज्योतिः कृष्णो समाविशत्।

(गर्गसंहिता)

'उस मृत दैत्यकी ज्योति श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें प्रविष्ट हो गयी।'

सिद्ध तपोधन जाजलिकी बात आज सत्य हो गयी है। सुदूर अतीतका इतिवृत्त है। यही वक हयग्रीवपुत्र उत्कल दैत्य था। सुरराजका राजच्छत्र छीनकर, अनेक मर्त्य नरपालोंका राज्य अपहरणकर शासक बना था। एक दिन यह दुर्मदान्ध उत्कल असुरसमुदाय साथ लिये सिन्धु-सागरके संगमपर तपोनिधि जाजलिकी पर्णशालाके निकट जा पहुँचा। आश्रमकी मनोहर शोभाकी ओर इसकी दृष्टि नहीं गयी। इसने तो चञ्चल लहरियोंपर निर्भीक खेलते हुए मत्स्योंके प्राण लेने आरम्भ किये। बारंबार वडिश (मछली पकड़नेकी वंसी) फेंककर वह मत्स्योंको जलके बाहर खींच लेता, उनकी हत्यामें ही उसे रस आ रहा था। जाजलिने विनम्र शब्दोंमें निवारण किया। पर कौन सुनता है! आखिर मुनिसत्तम जाजलिके नेत्रोंमें रोषकी छाया-सी आयी। उनके मुखसे निकल पड़ा—'दुर्मते! वककी भाँति ही तो तू इन मत्स्योंका आहार करता है न? अच्छा जा, तू बगुला ही हो जा!' और तत्क्षण ही उत्कल तेजोभ्रष्ट होकर वक पक्षीके रूपमें परिणत हो गया। अब तो मदशून्य उत्कल जाजलिके चरणोंमें जा गिरा। मुनिका स्तवन करने लगा। जाजलि रुष्ट थोड़े ही थे, द्रवित हो गये और कह दिया—'वैवस्वत मन्वन्तर आयेगा, उसके अट्ठाईसवें द्वापरका अन्त आनेपर परिपूर्णतम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही वृन्दाकाननमें वत्सचारण करते हुए विचरण करेंगे। उस समय श्रीकृष्णचन्द्रमें तुम्हें तन्मयताकी प्राप्ति होगी, इसमें तनिक भी संशय नहीं।' अस्तु, अश्रद्धा, अनादरपूर्वक एवं ऐसे अशुभ निमित्तसे प्राप्त महत् सङ्गका यह महान् फल उत्कलको मिला! कदाचित् श्रद्धा होती, आदर होता, दैवी सम्पदाका सम्बल साथ होता, फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र उसे क्या देते—यह बताना कठिन है!

जो हो, इस समय गोपशिशुओंके प्राणोंमें कुछ ऐसा, इतना उत्साह है कि स्वयं वाग्वादिनी भी उसे चित्रित नहीं कर सकतीं। आज उद्दाम क्रीड़ा नहीं, आज तो वन्य पुष्पोंसे नन्दनकाननके उन मल्लिका-यूथी-वैजयन्ती कुसुमोंसे, रक्त-पीत-उज्ज्वल-हरिताभ वनधातुओंसे श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंको सुसज्जित करनेकी और फिर उन्हें अङ्कमें भरनेकी होड़ लग रही है। आज उन सबकी बाल्योचित प्रतिभा भी सहसा इतनी विकसित हो गयी है कि देखकर आश्चर्य होता है। अपने प्राणसखाके शौर्य-वीर्यकी प्रशंसा करते-करते वे सब न जाने क्या-क्या कह रहे हैं। पर कुछ भी असम्बद्ध, असंगत नहीं; आज तो उनकी प्रत्येक उक्ति परम सत्यका निदर्शन बनती जा रही है। इस उमंगके प्रवाहमें दिन तो कबका ढल चुका है। वनसे प्रवाहित समीर संध्याकी सूचना देने आ गया है। श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्सोंको एकत्रकर व्रजकी ओर चल भी पड़ते हैं। बालक भी साथ-साथ चले जा रहे हैं, किंतु इनका उत्साह शिथिल नहीं हो रहा है। आज प्रथम अवसर है कि प्रत्येक आभीर-शिशुके नेत्र आनन्दातिरेकसे रह-रहकर छलक उठते हैं। अपने मनकी बात श्रीकृष्णचन्द्रको सुनाते समय तो उनके दृगोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगता है—

बका बिदारि चले ब्रज कौं हरि।
सखा संग आनंद करत सब, अंग-अंग बन-धातु चित्र करि॥
बनमाला पहिरावत स्यामहि, बार-बार अँकवार भरत धरि।
कंस-निपात करौगे तुमहीं, हम जानी यह बात सही परि॥
पुनि-पुनि कहत—धन्य नँद जसुमति, जिनि इन कौं जनम्यौ, सा धनि घरि।
कहत इहै सब जात सूर-प्रभु, आनँद-आँसु ढरत लोचन भरि॥

वकासुर-संहारकी कथा सुनकर यशोदाके मनमें चिन्ता; व्रजमें सर्वत्र श्रीकृष्णलीलागान

गृहतोरणके समीप अपने हाथोंमें नीलमणि एवं बलरामके करपल्लव धारण किये व्रजेश्वरी खड़ी हैं तथा आभीर-शिशु उन्हें वनमें घटित आजकी घटना सुना रहे हैं—

मातः परं मातः परं कौतुकं कौ तु कं न विस्मापयति तत्। यदद्य सख्या स ख्यापितभुजपराक्रमः पराक्रमः कृतः। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'री मैया! इससे परे सुन्दर कौतुक और कोई हो ही नहीं सकता। यह पृथ्वीपर, भला, किसे विस्मित नहीं करेगा! आज हमारे सखा कन्हैयाने शत्रुपर ऐसे आक्रमण किया कि क्या बताऊँ! उस आक्रमणको देखकर ही हमलोगोंने जाना कि सचमुच कन्हैया भैयाकी भुजाओंमें कितना बल है!'

व्रजेश्वरीके नेत्रोंमें, मुखपर एक साथ भीति, उत्कण्ठा, अनिष्टाशङ्काकी छाया झलमल कर उठती है। क्षणभर पूर्व वनसे लौटे हुए नीलसुन्दरकी शोभा निहारनेमें ही मैयाके प्राण तन्मय हो रहे थे। किंतु गोप-शिशुओंके इन शब्दोंने वह एकाग्रता हर ली; प्राणोंमें स्पन्दन आरम्भ हो गया—पता नहीं क्या घटना हुई है। जननी पूरे मनोयोगसे शिशुओंकी बात सुनने लगती हैं। वे सब भी कहते ही जा रहे हैं—

निजमदपर्वतायमानं पर्वतायमानं सर्वानेव नो गिलितुमुद्यतमुद्यतं ज्वलन्तमिव पावकं वकं तीक्ष्णचञ्चुं चञ्चूर्यमाणं करसरोजाभ्यामाभ्यामाहितहेलं हेऽलंसुकृतिनि! तव कुसुमसुकुमारः कुमारः सपदि वीरणतृणमिव पाटयामास। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देख मैया! तुम्हें बताऊँ—वह जो आया था, अपने गर्वोल्लासमें फूल रहा था, पर्वत-जैसा बगुला बना हुआ था, हम सबको निगल जानेके लिये उद्यत होकर आया था। मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी; इसीलिये आनन्द, शान्तिका लेश भी उस पक्षीमें नहीं था। री मैया, उसके अत्यन्त तीक्ष्ण चोंच थी, उस चोंचके कारण वह जलती हुई आगके समान बना हुआ था। टेढ़े-टेढ़े चलकर वह आ रहा था। किंतु मैया, री बहुपुण्यवती जननि! तेरे इस कुसुमसुकुमार नीलमणिने अपने इन्हीं हस्तकमलोंसे उस वकासुरको देखते-ही-देखते अनायास—जैसे कोई वीरण नामक तृणको बीचसे चीरकर फेंक दे, वैसे ही चीरकर फेंक दिया!'

बालकोंकी बात सुनकर व्रजरानीके मुखकी उत्फुल्लता जाती रहती है। निराशाभरी आँखोंसे वे पुरपुरन्ध्रियोंकी ओर देखती हुई कहने लगती हैं—

यदर्थमजहमहं बत! महावनावस्थितिं
तदेतदतिभीतिदं दितिजकृत्यमुन्मीलति।
अयं परमचञ्चलः परमसाहसोऽसाध्वसः क्व यामि
करवाणि किं हतविधेर्न वेद्मीहितम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'आह! जिस कारणसे महावनका निवास छोड़कर आयी, वह यहाँ भी पीछे लगा ही रहा; यहाँ भी वह असुरोंका भयंकर उत्पात होने ही लगा। यह मेरा नीलमणि अतिशय चञ्चल है, अत्यन्त साहसी है, भय तो इसे छू नहीं गया है, किसीसे तनिक भी नहीं डरता (जहाँ चाहे चला जाता है, जिस किसी वस्तुको ही पकड़ लेता है)। हाय! कहाँ जाऊँ! क्या करूँ! पता नहीं, दुर्दैवकी क्या इच्छा है!'

—यह कहते-कहते अत्यन्त दुःखभारसे व्रजेश्वरीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। किसी अचिन्त्य प्रेरणावश गोप-शिशुओंके मुखसे यह बात सहसा स्पष्ट नहीं निकली कि वक श्रीकृष्णचन्द्रको निगल चुका था। अन्यथा व्रजेश्वरीके अन्तस्तलपर इस घटनाकी क्या कैसी प्रतिक्रिया होती, यह कहना कठिन है!

जो हो, विद्युत्की भाँति यह समाचार समस्त

व्रजपुरमें फैल जाता है। अपने जीवनसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रको अतिशय निकटसे जाकर देख लेनेके लिये प्रत्येक गोप-गोपीके प्राण चञ्चल हो उठते हैं। नन्दभवनमें ही व्रजमण्डल एकत्र हो जाता है। बालक बार-बार उस घटनाका विवरण सबको सुना रहे हैं, सुन-सुनकर सभी आश्चर्य-विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही देखने लगते हैं। व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोपोंने आदिसे अन्ततक—कैसे क्या-क्या हुआ—सब सुना। फिर तो सबकी अञ्जलि बँध जाती है, सभी अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी इस अप्रत्याशित रक्षाके लिये लुट पड़ते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके सुकोमल अङ्गोंकी ओर दृष्टि जानेपर उन्हें विस्मय होता है—ओह! इस नन्हे-से नीलमणिने ऐसे दुर्दान्त दैत्यको अनायास चीर डाला! और जब वे वकके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रको निगल लिये जानेकी बात स्मरण करते हैं, तब उन्हें लगता है—आह! नीलमणि तो आज हमलोगोंको छोड़कर मानो दूसरे लोकमें चला ही गया था, श्रीनारायणदेवकी कृपासे ही लौटकर आ गया है—मृत्युकी छाया छूकर आया है। उनकी खोयी हुई परमनिधि उन्हें पुनः प्राप्त हो गयी है, नीलमणि उनके नेत्रोंके सामने पुनः सकुशल लौट जो आया है, उन्हें क्या नहीं मिल गया है!—प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलका अनुराग उमड़ चलता है, सभी अतृप्त नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते ही रह जाते हैं—

श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५४)

जब भावप्रवाह किञ्चित् शिथिल होता है, तब गोपसमाजमें, गोपीमण्डलीमें यह चर्चा आरम्भ होती है—

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्।
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम्॥
अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतंगवत्॥
अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित्।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५५—५७)

'अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! अबतक इस बालकके लिये मृत्युके कारण तो बहुत-से उपस्थित हुए; पर हुआ यह कि जो इसका अनिष्ट करने आये, उन्हींका अनिष्ट हो गया। ऐसा इसीलिये हुआ कि उन सब-के-सबने यहाँ आनेसे पूर्व बहुत-से प्राणियोंका अनिष्ट-साधन करके अपने लिये भी पुष्कलमात्रामें अनिष्टका ही संचय कर लिया था—उनके पापका घड़ा भर जो चुका था। देखो तो सही, वे भयंकरमूर्ति राक्षस आते तो हैं, पर इस कुसुमसे भी सुकुमार नीलसुन्दरका बाल बाँकातक नहीं कर पाते। सब-के-सब इसका प्राण हरण करनेकी इच्छासे ही आते हैं; पर जहाँ इसके पास आये कि प्रज्वलित अग्निमें गिरे पतंगकी भाँति स्वयं नष्ट हो जाते हैं। ओह! वेदार्थ-तत्त्वज्ञोंके मुखसे निस्सृत वाक्य सचमुच कभी मिथ्या नहीं होते! भगवान् गर्गने जो कुछ कहा था, उसे ठीक ही घटित होते हमलोग देख जो रहे हैं।'

किंतु व्रजेश्वरीका ध्यान इस चर्चाकी ओर बिलकुल नहीं है। वे अपने नित्यकर्ममें व्यस्त हैं। कुछ क्षणतक तो मैया इस घटनासे अतिशय व्यथित होकर आँख बंद किये न जाने क्या-क्या सोचती रहीं; पर सहसा वनसे लौटे पुत्रका क्लान्त मुख उनके स्मृतिपथमें आया और वे प्रतिदिनकी भाँति नीलमणिके संलालनमें लग गयीं। अतिशय लाड़से गोप-शिशुओंको अपने-अपने घर भेज दिया। फिर अभ्यञ्जन, उद्वर्तन आदिसे नीलमणिकी, अग्रजकी श्रान्ति मिटाकर उन्हें ब्यारू करायी। यह हो जानेके अनन्तर वात्सल्यकी सहस्र-सहस्र धारासे नील-सुन्दरको अभिषिक्त करती हुई मैया उनसे कहने लगती हैं—

तात! गृह एव भवता स्थीयतां नातः परे वनान्तरे गन्तव्यम्। वत्स! वत्सरक्षणक्षणस्ते विरमतु वत्सरक्षणे बहवः सन्ति। किं तवामुनाऽऽयासेनेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मेरे लाल! अब तू घरपर ही रह। अब फिर कभी वनमें मत जाना। मेरे लाड़िले! वत्ससंलालनका तेरा सुख यहीं समाप्त हो। वत्सरक्षणके लिये बहुत-से गोप हैं ही। तेरे इस प्रकार कष्ट उठानेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? बस, अब बहुत हो चुका!'

श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी यह उद्विग्नता देखकर अपने करपल्लवसे उनकी ठोड़ी स्पर्श करते हुए आश्वासन देने लगते हैं—

मातर्मा तव भयं किमपि ××× **तदलं चिन्तयेति** ×××।

'मैया, तेरे लिये कोई भी भयकी बात नहीं है! तू व्यर्थकी चिन्ता रहने दे।'

यह कहते-कहते ही श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है तथा जननी उन्हें परम सुन्दर शय्यातलपर शयन करा देती हैं।

इधर गोपसमाजमें, गोपीसमुदायमें श्रीकृष्णचन्द्रकी चर्चा समाप्त नहीं हुई है। स्वयं व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोप भी अन्य समस्त कृत्य भूलकर सबकी बातें सुन रहे हैं तथा स्वयं भी घटनाक्रमके किसी अज्ञात एवं स्खलित अंशकी पूर्ति कर दे रहे हैं। पूतना, शकट, तृणावर्त, यमलार्जुनपतन, वकविपाटन आदि समस्त लीलाकथाओंकी, इनसे सम्बद्ध क्षुद्र-से-क्षुद्र नगण्यतम घटनावलियोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनेमें इस आभीरकुलको इस समय क्षण-क्षणमें नवीन उत्साहकी अनुभूति हो रही है। आज तो अभी-अभी विशिष्ट घटना घटित हुई है, बकको चीरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। ऐसे निमित्तसे श्रीकृष्णचरित्रकी चर्चा चले, इसमें क्या बड़ी बात है। यह तो व्रजेश्वरसे लेकर जनसाधारणतक—समस्त पुरवासियोंकी जीवनचर्याका प्रमुख अङ्ग है, उनका व्यसन है। इससे उपरति, तृप्ति उन्हें कभी होती ही नहीं। सजलनेत्र हुए अश्रुपूरित कण्ठसे श्याम-बलरामके चारुचरित्रोंका गान पुरवासियोंके प्राणोंका आधार है। यह किये बिना उनके लिये प्राण-धारण सम्भव नहीं। व्रजमण्डलमें, नन्दव्रजमें, वृन्दाकाननमें नन्दनन्दनकी तथा रोहिणीतनयकी कथासुधा सतत प्रसरित होती रहती है, उसीमें अवगाहन करते, उसीमें निरन्तर निमग्न हुए पुरवासियोंको भववेदना स्पर्शतक नहीं कर पाती, कथामृतसिन्धुमें डूबे हुए इस आभीरसमाजको भवदुःखदावानल दग्ध नहीं कर सकता, इस ज्वालाकी छाया भी उन्हें छू नहीं सकती—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५८)

इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है—

तादृग्रमेशचरितं श्रुतिमात्रवेद्यं
यस्यास्ति सोऽपि भवदुःखलवं न वेत्ति।
चित्रं किमत्र स च तच्चरितं च येषा-
मध्यक्षमास न विदुर्भववेदनां ते॥

(भक्तिरसायन)

'रमावल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे चरित्रोंको जो केवल सुनतेमात्र हैं, जिन्हें अनुभव नहीं, केवल श्रवणमात्रसे ही होनेवाला लीलासम्बन्धी ज्ञान जिनके पास है, उनके लिये भी भवदुःखका लेशतक नहीं रहता—लीलाश्रवणकी इतनी महिमा है। फिर यहाँ तो व्रजपुरवासियोंके नेत्रोंके सामने वे श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं विराज रहे हैं, एवं श्रीकृष्णचरित्रका प्रत्यक्ष प्रवाह बह रहा है। अब इन पुरवासियोंको यदि भववेदनाकी अनुभूति नहीं होती तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?'

इस व्रजपुरमें जबसे श्रीकृष्णचन्द्रका अवतरण हुआ है, तबसे उनके महामरकत-श्यामल अङ्गोंसे लीलाका नवीन नूतन स्रोत क्षण-क्षणमें झरता रहा है। प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलमें उसकी एक-एक बूँद संचित होती रहती है और फिर प्रत्येक बिन्दु गीतके रूपमें मूर्त हो जाता है। प्रत्येक रजनीका विराम होते ही गोपेन्द्र एवं अन्यान्य समस्त गोप तो नित्यकर्ममें संलग्न होते हैं; और गोपेन्द्रपरिचारिकाएँ, गोपसुन्दरियाँ वास्तुपूजन कर अपने कङ्कणभूषित करोंसे दधिमन्थन

आरम्भ करती हैं। उस समय प्रत्येक गृहमें, प्रत्येक गोपीके अधरोंपर श्रीकृष्णलीलागानकी लहरें उठती रहती हैं। गीतकी यह अनर्गल धारा व्रजराजके, व्रजमण्डलवासी समस्त गोपोंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाती है। किसी गोपीके मानसपथमें श्रीकृष्णचन्द्र पालने झूल रहे हैं। गोपी उसे निहारकर आनन्दनिमग्न हो रही है। यह अपरिसीम आनन्द अन्तर्देशमें सीमित रह जो नहीं सकता। गीत बनकर बाहर लहराने लग जाता है, गोपी गाने लग जाती है—

नंद कौ लाल ब्रज पालनें झूलै।
कुटिल अलकावली, तिलक गोरोचना, चरन अंगुष्ठ मुख किलकि फूले॥
नैन अंजन रेख, भेख अभिराम-सुठि, कंठ केहरि नख, किंकिनी कटि-मूले।
नंददासनि नाथ नंद-नंदन कुँवर निरखि नागरि देह गेह भूले॥

कहीं किसी दूसरी गोपीके मानसतलमें नन्दनन्दनके जन्ममहोत्सवका राग-रंग भर रहा है, उत्सवका साक्षात्कार कर वह फूली नहीं समा रही है, उसके प्राणोंकी उमंग शब्दोंका आकार धारणकर बाहर प्रसरित होने लगती है—

माई! आज गोकुल गाम कैसौ रह्यौ फूलि कै।
गृह फूले दीसें, जैसें संपति समूल कै॥
फूली-फूली घटा आई, घरहर घूमि कै।
फूली-फूली बरषा होति, झर लायौ झूमि कै॥
फूलौ-फूलौ पुत्र देखि, लियौ उर लूमि कै।
फूली हैं जसोदा माइ, ढोटा-मुख चूमि कै॥
देवता-अगिनि फूले, घृत-खाँड़ होमि कै।
फूल्यौ दीसै दधिकाँदौ, ऊपर सो भूमि कै॥
मालिन बाँधै बँदनमाल, घर घर डोलि कै।
पाटंबर पहिराइ राइ, अधिकै अमोल कै॥
फूले हैं भँडार सब, द्वारे दिये खोलि कै।
नंद दान देत फूले, 'नंददास' बोलि कै॥

इस प्रकार गोपीमुखनिस्सृत लीलागानकी अनन्त धाराएँ दसों दिशाओंको परिव्याप्त कर देती हैं। गोपोंके कर्णपुट इनसे पूरित होने लगते हैं। इनका उन्मादी प्रभाव वयोवृद्ध गोपोंतकको चञ्चल कर देता है। गोष्ठ जाकर गोदोहन, गोसंलालन आदिमें लगे हुए गोप-समाजका मन—और तो क्या, भुवनभास्करको अर्घ्य समर्पित करते हुए परम निष्ठावान् स्वयं व्रजराजका मन भी इस प्रवाहमें बरबस बह चलता है। गोपोंके द्वारा गोसंलालन, गोदोहन तो होते हैं, पर होते हैं यन्त्रवत् और मन तन्मय होने लगता है उन्हींके मुखसे स्वतः प्रस्फुरित लीलागानमें। व्रजेन्द्रको भी अर्घ्यकी, अर्घ्यके मन्त्रकी सर्वथा विस्मृति है; केवल क्रियामात्र सम्पन्न हो रही है; चित्तवृत्ति तो कबकी विलीन हो चुकी है पुरसुन्दरियोंके कलकण्ठनिर्गत श्रीकृष्णचरित्रगानमें। स्वयं व्रजेशकी वाणी भी वैसे ही किसी गीतकी आवृत्ति करने लगती है।

जहाँ कहीं जब कभी भी कोई गोपसमुदाय एकत्र होता है, वहाँ उस समय चर्चा आरम्भ होती है श्रीकृष्णचरित्रसे ही, तथा आरम्भ होनेके अनन्तर उसका विराम कहाँ? क्योंकि इस समुदायका प्रत्येक सदस्य अपने हृद्देशमें किसी एक परम सरस स्रोतका ही अनुसरण करते हुए लौटता है। ऊपरसे भले प्रतीत हो कि चर्चा स्थगित हो गयी, पर यह तो मन्दाकिनीकी वह सरस धारा-जैसी है, जो सघनवनकी ओटमें विलुप्त हो जाती है और फिर आगे जाकर अनुकूल धरातलपर पुनः व्यक्त हो जाती है। गोप भावशाबल्यवश एक बार मौन हो जाते हैं, चल पड़ते हैं अपनी गन्तव्य दिशाकी ओर। पर कुछ दूर अग्रसर होनेपर पुनः उद्दीपनकी कोई-न-कोई वस्तु स्पर्श करती ही है और पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रोंका चित्रण चल पड़ता है। भला, ऐसे लीलारसमत्त आभीरसमाजको भववेदना स्पर्श करे तो कैसे करे? वहाँ उनकी चित्तभूमिमें अन्य भावना, अन्य अनुभूतिके लिये स्थान जो नहीं रहा!

और वास्तवमें तो यह भववेदनाका प्रश्न भी बहिरङ्गदृष्टिसे ही है। अनन्तैश्वर्यनिकेतन नराकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके ये लीलापरिकर—नन्ददम्पति, व्रजगोप, गोपसुन्दरियाँ, गोपशिशु आदि सब भवाटवीमें भ्रमण करनेवाले जीव तो हैं नहीं

जो भववेदना उन्हें छू सके। ये तो सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके अनादिसिद्ध स्वरूपभूत परिकर हैं, सत्त्व-रज-तमोमयी प्रकृतिसे अत्यन्त परेकी वस्तु हैं। इन्हें प्राकृत सृजनका कम्पन उद्वेलित नहीं करता, संहारकी छाया नहीं छूती। अपनी ही महिमामें स्थित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ ही इनका नित्यनिवास है, एवं इनको सदा साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्यलीला अखण्डरूपसे चलती रहती है, अनादिकालसे चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी। यहाँ इस लीलामें क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, हास्य-क्रन्दन, जो कुछ भी है, वह सत्त्व, रज, तम—इन त्रिगुणकी परिणति नहीं, अपितु सब-के-सब सच्चिदानन्दमय हैं, सच्चिदानन्दसिन्धुकी लोल लहरियाँ हैं; इनपर खेलते हुए, इनका रस लेते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कभी-कभी प्रापञ्चिक जगत्में भी इसकी एक-दो बूँद बिखेर देते हैं—प्रापञ्चिक जगत्में इस चिन्मयी लीलाका प्रकाश कर देते हैं। प्रापञ्चिक स्तर इस चिद्वैभवको स्पर्श तो नहीं करता, स्पर्श कर सकता ही नहीं, प्रकाशके समय भी यह प्रपञ्चसे अत्यन्त सुदूर ही, अतिशय पृथक् ही स्थित है। फिर भी अचिन्त्य सौभाग्यवश, एकमात्र भगवत्कृपाको ही जीवनका सारसम्बल बनानेवाले जो प्राणी इसका साक्षात्कार करते हैं, उनके अनादि संसरणकी इति हो जाती है और वे अपने अधिकारके अनुरूप इसमें यथायोग्य यथासमय स्थान पाते हैं, आगे भी इस प्रकाशके अन्तर्हित हो जानेके अनन्तर भी साधनाका आदर्श, साधनका स्वरूप प्राप्त होता रहता है, जिसका अनुसरण कर अगणित प्रपञ्चरत प्राणी अपने परम निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसे इस दिव्यातिदिव्य चिन्मय साम्राज्यके परिकरोंमें भववेदनाका सचमुच प्रश्न ही कहाँ बनता है? यह तो श्रीकृष्णचन्द्रकी चिन्मयी लीलामें प्रपञ्चगत भावोंका साम्य देखकर होनेवाली शङ्काका एक बहिरङ्ग समाधान है। साथ ही त्रितापदग्ध प्राणियोंके लिये एक सुन्दर संकेत है—जीवो! क्यों जल रहे हो? श्रीकृष्णलीलारस-मन्दाकिनीके इस पुनीत प्रवाहमें तुम भी इन गोपोंकी भाँति अवगाहन करो, तुम्हें शाश्वती शान्ति सहजमें प्राप्त हो जायगी!

अस्तु, आज एक प्रहर निशा व्यतीत हो चुकी है। व्रजेश्वरी तो शयनागारमें पुत्रोंको लिये, उन्हें सुलाकर स्वयं अनिद्रित रहकर चिन्तामें निमग्न हैं। उन्हें एक ही चिन्ता हो रही है—'जिस किस प्रकारसे हो, नीलमणि यदि वन जानेका हठ छोड़ दे तो कितना सुन्दर हो! क्या उपाय करें? नीलमणिको कैसे समझायें?' और इधर व्रजेश्वर अभी भी गोपसभामें विराजित हैं, राम-श्यामकी चर्चा करनेमें, सुननेमें तन्मय हो रहे हैं; किंतु अब अतिकाल जो हो रहा है, नारायण-मन्दिरमें शयन-नीराजनका समय हो चुका है। परिचारिकाके द्वारा स्मरण दिलानेपर व्रजेश्वर सभा विसर्जितकर मन्दिरकी ओर चल पड़ते हैं; किंतु अभी-अभी श्रीकृष्णचरित्र-चित्रण-श्रवणसे प्राप्त सुखकी अमिट स्मृति साथ लिये जा रहे हैं। वास्तवमें यह सुख है ही अप्रतिम, इसकी अन्यत्र कहीं तुलना जो नहीं। —

जो सुख होत गोपालहि गाऐं।
सो नहिं होत किऐं जप-तप के कोटिक तीरथ न्हाऐं॥
दिऐं लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाऐं।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नँदनंदन उर आऐं॥
बंसीवट, बृंदाबन, जमुना तजि बैकुंठ को जाऐं।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव चलि आऐं॥

वनमें बलराम-श्रीकृष्णकी गोप-बालकोंके साथ निलायन-क्रीडा—लुकाछिपीका खेल; व्योमासुरका वध

'महाबली वकासुरको वीरण तृणकी भाँति चीरकर फेंक दिया गया'—चरोंके द्वारा यह समाचार मधुपुर-सम्राट् कंसको भी मिला। मानो किसीने एक साथ सहस्त्र शूल चुभोकर हृदयको छिन्न-भिन्न कर डाला—ऐसी मार्मिक वेदनासे कंसके प्राण कराह उठे। वत्सनिधनकी बात सुनकर तो वह चेतनाशून्य हो गया था, मूर्च्छाने कुछ कालके लिये उसकी वेदना हर ली थी। किंतु इस बार प्राणोंमें टीस चलते रहनेपर भी वह सजग बना रहा। रह-रहकर सिंहासनसे उठ खड़ा होता एवं उसके नेत्र नीलाभ गगनतलकी ओर लग जाते। कहींकी भी नीलिमा उसके लिये भयकी वस्तु बन गयी थी; उसने सुन जो रखा था—'वह नन्दपुत्र श्यामलवर्ण है।' और इसीलिये ऐसे किसी प्रसङ्गपर उसकी दृष्टि ऊपरकी ओर केन्द्रित हो जाती—'क्या पता, वह उस नीले आकाशमें ही समाया हो, मेरे प्राण लेनेके उद्देश्यसे इस नीलिमाकी ओटमें ही कहीं छिपा हो।' तथा उस समय उसकी भावना भयवश ही मूर्त भी होने लगती; उसे प्रतीत होने लग जाता—एक नहीं, अनेकों श्यामशिशुओंसे आकाश परिव्याप्त है। फिर तो उसकी आँखें जहाँ जातीं, वहीं उसे नन्दपुत्रके दर्शन होते तथा वह अतिशय उद्विग्न होकर सोचने लगता—'क्या करूँ, किधर जाऊँ, कैसे इस श्यामशिशुका अन्त हो। इस समय भी—वकविपाटनकी घटना सुनकर—एक ओर तो वह दुःखभारसे पिसने लगा और उधर उसे दीखने लगे नन्दनन्दन—सर्वत्र सब ओरसे। मृत्युके भयसे उसके प्राण चञ्चल हो उठे।

अस्तु, क्रमशः भयकी वृत्ति शिथिल हुई, दुःखका आवेग भी कम पड़ने लगा। और तब आसुरी विवेक उत्पन्न हुआ। कंस वस्तुस्थितिके विश्लेषणमें लगा। वह सोचता जा रहा है—

हन्त! सर्व एव मायातिरिक्तताप्रयोक्तारस्तत्र रिक्तीकृताः। सर्वे लुम्पन्तस्ते चुलुम्पामासिरे च।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय रे! ऊँचे-से-ऊँचा मायाजाल बिछानेवाले इन सब दैत्योंकी माया वहाँ—उस नन्दव्रजमें, झाड़ ली गयी—सब-के-सब वहाँ जाकर खप गये। जो सबको छिन्न-भिन्न करनेवाले थे, वे वहाँ स्वयं नष्ट हो गये।'

'तो क्या मेरे जीवनकी आशा समाप्त हो चुकी?' कंसके भालपर स्वेदकण झलक उठे। इसी समय सहसा—जैसे किसीने स्मृति जगा दी हो, इस भाँति—उसे मयपुत्र व्योमासुरका स्मरण हो आया। यह व्योम त्रिशृङ्गशिखरपर युद्धमें कंससे पराजित हुआ था, आत्मसमर्पण करते हुए इसने कंसकी दासता स्वीकार की थी और तबसे नित्य सहचर बनकर व्योमने कंसका सिर ऊँचा किया था। ऐसे स्वामिभक्त शूरवीर सेवककी स्मृति कंसकी क्रूर आँखोंमें आसुरी उल्लास भर देती है। अब उसे अग्रिम कर्तव्यका निर्णय करनेमें विलम्ब नहीं होता। संकल्प-विकल्पकी आँधी इस निम्नोक्त निश्चयको छूकर शान्त हो जाती है—

तर्हि व्योमाभिधानदानवमात्रमत्र पात्रं पश्यामः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'तब तो एकमात्र व्योमनामक दानव ही इस कार्यके लिये उपयुक्त पात्र दीखता है।'

सर्वमायामयमयतनयः प्रख्यातबलवलयः स हि महीयान्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'सब प्रकारकी मायामें परम निष्णात महामायावी मयदानवका यह पुत्र व्योम प्रख्यात बलवान् है। निस्संदेह वह इस कार्यके लिये सर्वश्रेष्ठ है।'

कंसका यह निश्चय तुरंत कार्यान्वित भी हो गया—

इति पद्मावतीजरठजठरजन्मा सम्माननया तमानाय्य तत्कार्याय पर्यापयामास। (श्रीगोपालचम्पूः)

'पद्मावतीके कठिन कोखसे जन्म धारण करनेवाले कंसने बड़े सम्मानसे व्योमासुरको बुलवाकर उस कार्यके लिये—व्रजेन्द्रनन्दनके प्राण अपहरण करनेके लिये उसे व्रजकी ओर भेजा।'

अस्तु, कंसप्रेरित व्योम चला वृन्दाकाननकी ओर, जहाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी परम मनोहर लीला सतत चलती ही रहती है। इस समय भी चल रही है। सदाकी भाँति सखापरिवेष्टित होकर असंख्य गोशावकोंको साथ लिये हुए वनमें आये हैं। वनकी अधिदेवी प्रतिदिन ही उनके लिये काननको अभिनव साजसे सज्जित करती हैं। आज भी सजा रखा है। और अब तो काननपर ऋतुराज वसन्तका आधिपत्य आरम्भ हो गया है। फिर तो अरण्यकी सुषमाका कहना ही क्या है। मुकुलित आम्रशाखापर कोकिल-कण्ठसे निस्सृत 'कुहू-कुहू' का गान, पुष्पित द्रुम-वल्लरियोंपर भ्रमर-गुञ्जन—मानो श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे वनाधिदेवीका आन्तरिक आह्लाद ही उनके रोम-रोमसे ध्वनित हो रहा हो। मलयमारुतके स्पर्शसे झूमती लताओंकी ओटमें अपने हाथ नचा-नचाकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको जैसे संकेत कर रही हों—व्रजजीवन! इधर देखो, आज मूर्तिमती वासन्तीश्री तुम्हारा अभिनन्दन कर रही हैं, इनकी ओर निहारकर सेवा स्वीकार कर लो, श्रीकृष्णचन्द्र! मेरे इस वनमें ही इनका नित्य निवास है, पर रमणीसुलभ लज्जावश ये किसीके सामने अधिक कालतक टिक नहीं पातीं। आज मेरे कहनेसे, साथ ही तुम्हारा वियोग असह्य हो जानेके कारण सर्वाङ्ग-विभूषित होकर तुम्हारे समक्ष आयी हैं। हे मेरे वनचन्द्र! एक बार अपनी दृष्टि डालकर इनके शृङ्गारको सफल कर दो। देखो तो सही, तुम्हारे लिये आज इन्होंने अपनेको कितना सुन्दर सजाया है। पुन्नाग-पुष्पोंका तो अवतंस धारण किया है। माधवी कुसुमोंकी माला धारण की है। वकुलनिर्मित गुच्छार्द्ध नामक हार पहन लिया है। अपने ललाटदेशमें पलाशपुष्पोंमें सिन्दूरकी रचना की है। वक्षःस्थलपर चम्पककी कञ्चुकी सुशोभित है। कटिदेश अशोकके अरुण परिधान-वस्त्रसे विभूषित है। अहा, देखो ये कैसी अद्भुत शोभाका विस्तार करती हुई व्यक्त हुई हैं—

पुंनागैरवतंसनं विदधती वासन्तिकाभिः स्रजं
गुच्छार्द्धं बकुलैर्ललाटफलके सिन्दूरकं किंशुकैः।
चाम्पेयैः कुचकञ्चुकं कटितटे शोणाम्बरं वञ्जुलै-
र्नित्यं मूर्तिमती सती विजयते श्रीर्यत्र पौष्पाकरी॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस वासन्तीश्रीसे विभूषित परम रमणीय वृन्दावनमें श्रीकृष्णचन्द्रका विहार हो रहा है। पहले तो अरण्य-शोभानिरीक्षणका कार्य हुआ, फिर गोवत्स-संचारण-संलालनका। और अब परम अद्भुत निलायनकी क्रीड़ा आरम्भ हुई है। प्रस्ताव गोपशिशुओंका था तथा श्रीकृष्णचन्द्रका तो नित्य समर्थन है ही। इस खेलमें चोर एवं रक्षकका अभिनय होगा। श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनके सखा लुका-छिपीका खेल खेलेंगे। कुछ गोपशिशु चोर बने, कुछ भेड़ चरानेवाले बने और कुछ भूमिपर हाथ टेककर भेड़ बननेका अभिनय करने लगे। इस प्रकार गिरिराज गोवर्द्धनपर श्रीकृष्णचन्द्रका, गोपशिशुओंका स्वच्छन्द विहार आरम्भ हुआ, निर्भय होकर सभी खेलने लगे—

एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः॥
तत्रासन् कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। २७-२८)

व्योम यहाँ उसी समय आता है जब कि श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी सम्पूर्ण मण्डली परमानन्दमें निमग्न होकर इस निलायनक्रीडामें तन्मय हो रही है। वह आकर, आकाशपथमें ही स्थित रहकर व्रजेन्द्रनन्दनकी यह लीला देखने लगता है। लीला क्या है, व्योमको यह समझते देर नहीं लगती। उसने देख लिया—श्रीकृष्णचन्द्र रक्षक-पक्षमें हैं और यह भेड़-अपहरण-रक्षणकी क्रीड़ा चल रही है। फिर तो नन्दनन्दनकी ओर ही व्योमकी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है और वह सोचने लगता है—

अयं तु तत्पोषकायमाणः श्यामधामा कुमारः प्रभाकरसहस्रप्रभावभाविततया नास्मद्विधसंनिधेय-संनिधानस्तर्क्यते। तथाप्यस्माकमयमेवावसरो वरो नावरो वरणीयतामनुसरति। अत्र हि तस्य निरवधानस्य बहिश्चरप्राणतुलां वलमाना बालका विनैवार्त्तिं हर्तव्या

भवेयुः। ततो व्यग्रीभूतः सोऽयमग्रीयश्च विना विग्रहं ग्रहीतव्यतामृच्छेत्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'ओह ! यह तो—जो भेड़ोंका रक्षक बना हुआ श्यामज्योति कुमार है—सहस्र सूर्योंके प्रभावसे परिव्याप्त दीखता है; हमारे-जैसे दैत्य अपने स्वाभाविक रूपसे इसके समीप भी जा सकें, यह सम्भव नहीं। फिर भी हमारे लिये तो यही अवसर श्रेष्ठ है। ऐसा दूसरा अवसर फिर मिलनेका ही नहीं। इस समय इस नन्दपुत्रका, कहाँ क्या हो रहा है—इस ओर ध्यान ही नहीं है। बस, इस असावधान श्यामशिशुके साथवाले बालकोंको—जो इसके बाहर संचारित प्राणके तुल्य बने हुए हैं—अनायास हर लिया जाय। यह हुआ कि फिर तो सखा-वियोगसे व्याकुल होकर इन सबका अगुआ यह श्रेष्ठ बालक भी बिना किसी लपट-झपटके ही मेरी पकड़में आ जायगा।'

व्योमने अविलम्ब अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उस महामायावीने देखते-देखते ही चोर बने हुए गोप-शिशु-जैसा अपना रूप भी बना लिया—

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक्।

(श्रीमद्भा० १०। ३७। २९)

—तथा फिर उसी क्रीड़ामण्डलीमें जाकर सम्मिलित हो गया।

गोपशिशुओंने सर्वथा नहीं जाना। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भी क्रीड़ारसपानमें निमग्न हैं। इन सबकी अनजानमें ही व्योमासुर अपनी नृशंस योजनामें प्रवृत्त हो गया; जो करना चाहता था, करने लगा—

मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून्॥
गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। २९-३०)

'इस खेलमें वह प्रायः चोरपक्षका ही बालक बना रहा तथा भेड़ बने हुए बालकोंको बारम्बार अपहरण कर दूर ले जाने लगा। इतना ही नहीं, वह महादानव उन हरे हुए बालकोंको क्रमशः पर्वतकी एक कन्दरामें डालता जाता तथा डालकर कन्दराके द्वारको शिलासे ढक देता। यहाँतक कि उसने प्रायः सबको हर लिया, सबकी वही गति की। यहाँ खेलमें तो, बस, चार-पाँच बालक ही बच रहे।'

इस प्रकार मायावी दैत्यकी माया एक बार तो सफल-सी हो गयी। व्योमके सुखका पार नहीं। किंतु यह देखो, सहसा अनन्तैश्वर्यनिकेतन, बाल्य-क्रीड़ारसमत्त स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र खेलसे उपरत हो गये—नहीं-नहीं, उनकी सर्वज्ञताशक्तिने अचिन्त्यलीलामहाशक्तिका संकेत पाकर अपनी सेवा समर्पण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको जगा दिया; जगाकर निवेदन कर दिया—'लीलाविहारिन्! यह सम्मुखवर्ती गोपशिशु वास्तवमें गोपशिशु नहीं, यह तो महामायावी व्योमासुर है।' अब, भला, श्रीकृष्णचन्द्र खेलमें निमग्न रहें—यह कैसे सम्भव है।

जो हो, फिर तो क्षण भी नहीं लगा। व्योमके कुकर्मसे परिचित होते ही भक्तवत्सल भगवान् भी सचेष्ट हो गये, संतोंके एकमात्र शरण स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी—वहाँ उस निलायनक्रीड़ाके स्थानपर ही असुरसंहारलीला आरम्भ हो गयी। उस समय भी व्योम कुछ गोपशिशुओंको लिये ही जा रहा था। उसी स्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रने उसे—जैसे केहरी वृक-(भेड़िये)-को दबोच ले, ऐसे वेगसे—पकड़ लिया, अपने उन्हीं सुकोमलतम करपल्लवोंसे, जिनसे क्षणभर पूर्व मेष बने हुए शिशुओंके संरक्षणकी लीला वे कर रहे थे—

तस्य तत् कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम्।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३१)

दैत्यके लिये अब छूटनेका प्रयास व्यर्थ है। पर जीवन सबको अतिशय प्रिय होता है। उस महाबलवान् दैत्यने अपना अत्यन्त विशाल पर्वतसदृश शरीर प्रकट किया। फिर भी उन्हीं लघु-लघु करसरोजोंकी चपेटसे, छूटनेकी बात तो दूर, व्योमका अङ्ग-अङ्ग कड़क उठा; वह अतिशय व्याकुल हो गया। अपनी समस्त शक्तिका प्रयोग कर उसने श्रीकृष्णचन्द्रके हाथोंसे अपने-आपको छुड़ा लेनेकी चेष्टा की, पर छुड़ा सका नहीं—

स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली।
इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३२)

महा कठिन विकराल रूप तिहि प्रभुति बताइब।
कोटिनि करत उपाइ, हाथ नहिं छुटत छुटाइब॥
सिंघ दसन गज गहिब कहहु किमि उकढ सुजाई।
खगनायक की चुंच बिधिव अहि किमि भगि जाई॥
यह 'मान' कहतु छूटइ सुकिमि बज्रमूठि प्रभु तिहि धरिव।
उलछार पछारिव असुर कौं, दै चिकार धरपर परिव॥

देखते-ही-देखते श्रीकृष्णचन्द्रने उसे दोनों हाथोंसे पकड़कर पृथ्वीपर गिरा दिया। दैत्यके नासाछिद्र, मुखविवरपर अपनी अँगुलियाँ रख दीं, इतनेसे ही व्योमका श्वास रुद्ध हो गया और फिर निमेष गिरते-न-गिरते उसकी ग्रीवा मरोड़कर उसे नीचे एक शिला-खण्डपर पटक दिया। अन्तरिक्षचारी देवगण यह सब देख रहे हैं—

तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३३)

किंतु अब यहाँ पलभरका भी विलम्ब न कर श्रीकृष्णचन्द्र शिशुओंका अपहरण कर ले जाते समय उभरे हुए व्योमके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए उसी दिशामें चल पड़ते हैं; सर्वज्ञ सर्ववित्‌को यह आज पता जो नहीं कि यह दुष्ट दानव उनके सखाओंको कहाँ ले गया! ऐसी शक्तिका उन्मेष तो हुआ था केवलमात्र व्योमके संहारके लिये। अब तो श्रीकृष्णचन्द्र पुनः बाल्यावेशकी सुमधुर धारामें ही अवगाहन करते जा रहे हैं, पदचिह्नोंके सहारे सखाओंको ढूँढ़ लानेके उद्देश्यसे अतिशय व्याकुल हुए दौड़े जा रहे हैं!

गिरिगुहाके निकट जाकर श्रीकृष्णचन्द्रने देखा—एक शिलासे द्वार रुद्ध है। फिर तो उनके नेत्र छल-छल कर उठते हैं, सख्यस्नेहकी सरिता लहराने लगती है। उनकी एक मुट्ठीकी चोटसे शिला तो चूर्ण-विचूर्ण हो जाती है और वे कन्दराके अन्तर्भागमें प्रविष्ट हो जाते हैं। ओह! वहाँका करुण दृश्य! कदाचित् क्षणभरका विलम्ब और हुआ होता············! अब तो श्रीकृष्णचन्द्र आ गये, गोपशिशुओंने उनको आये देख लिया और फिर उनके प्राण अन्तिम दशाको छूते रहनेपर भी खिंचकर लौट आये, उनमें प्राण-संचार हो गया!—

दृष्ट्वाकस्मादेनमेते बकारिं प्राणान् प्रान्तकर्षणेनैव जग्मुः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

प्राण लौट आये तथा श्रीकृष्णचन्द्रको सम्मुख खड़े देखकर एक साथ गोपशिशु उठ खड़े भी हुए। पर श्रीकृष्णवियोगमें रोते-रोते इनकी जो दशा हुई है, उसे नेत्र भले देख लें, वाणी यत्किञ्चित् संकेत भी कर सके, इतनी सामर्थ्य भी उसमें कहाँ! अस्तु, अपने सखाओंकी छाया श्रीकृष्णचन्द्रपर पड़ी, एक साथ इतनी करुण मूर्तियाँ उनके दृगोंमें समा गयीं। ओह! फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी वह व्याकुलता, उनका वह आर्तभाव—वाणी तो इसे स्पर्श करेगी ही क्या, कदाचित् अचिन्त्य सौभाग्यवश किसीकी आँखोंके सामने वह आ जाय तो नेत्रोंमें यह शक्ति नहीं कि स्थिर रहकर इसे देख सकें, इसके बिन्दुमात्र स्पर्शमें ही दर्शककी चेतना बह जायगी। फिर देखे तो कौन देखे! जो हो, गोपसखाओंका यह करुण मिलाप, मिलापके समयकी करुण क्रन्दन-ध्वनि गिरिराजके कण-कणमें निनादित हो उठती है; मानो गोवर्द्धन उस करुण-प्रवाहसे द्रवित होकर प्रतिशब्दके मिससे स्वयं भी क्रन्दन करने लगा हो—

सर्वे तस्मादुत्थिता रोदनार्ता-
स्तद्वद्वार्तं कृष्णमह्वाय चक्रुः।
सोऽपि क्ष्माभृत्तत्प्रतिध्वानदम्भात्
क्रन्दन्नासीदित्यमीभिर्व्यभावि ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

आवेग शिथिल होनेपर श्रीकृष्णचन्द्र उस संकटपूर्ण स्थानसे गोपबालकोंको बाहर ले आते हैं, वहाँ ले जाते हैं, जहाँ व्योमासुरका निष्प्राण शरीर पड़ा है। किंतु आज अब और अन्य क्रीड़ा नहीं होगी, सबको शीघ्र व्रजमें लौट चलना है। गोवत्स एकत्रित कर लिये जाते हैं। शिशुओंके मुखपर पुनः उल्लास भर आता है। पर यह उल्लास आया है अपने प्राणसखा और श्रीकृष्णचन्द्रके इस वीरत्वकी, व्योमसंहारके शौर्यकी प्रशंसा करनेके लिये। ऊपर तो अञ्जलि बाँधे सुर-समुदायका स्तवन चल रहा है और नीचे गलबाँही दिये सखाओंके द्वारा कीर्तिगान। सबका अनुमोदन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रविष्ट हो रहे हैं—

स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३४)

सुरगन सब अस्तुति करत, गोप करत सब गान।
एहि बिधि कृष्ण कृपाल प्रभु ग्रह पहुँचे ब्रजप्रान॥

वन-भोजन-लीलाका उपक्रम, वयस्य गोप-बालकोंके द्वारा श्रीकृष्णका शृङ्गार तथा श्रीकृष्णके साथ उनकी यथेच्छ क्रीड़ा

यह तो उषा आयी है, अंशुमाली अभी भी क्षितिजके उस पार ही हैं। किंतु कमलनयन श्रीकृष्णचन्द्र आज इसी समय अपने-आप जग उठे हैं, जगकर जननीको अपने मनकी एक बात बता रहे हैं—'री मैया! देख, आज यहाँ नहीं, आज तो एक परम सुन्दर वनमें जाकर वहाँ ही भोजन करनेकी मेरी रुचि हुई है।'—

कस्मिन्नप्यहनि अनुदित एवाहस्करे पुष्करेक्षणो जननीमुवाच। मातरद्य निरवद्यविपिनभोजने भो जनेश्वरि! विहितलालसोऽस्मि।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अपने नीलमणिका ऐसा प्रस्ताव जननी सहजमें स्वीकार कर लें, यह भी कभी सम्भव है? जननीको तो अपने पुत्रकी यह अभिलाषा नितान्त अनीतिपूर्ण प्रतीत हुई और वे बड़े वेगसे सिर हिलाकर तथा 'नहीं-नहीं, यह तो होनेकी ही नहीं।'—मुखसे भी स्पष्ट कहकर अपना निर्णय सुना देती हैं—

इति तनयोदितमनयोदितमवगम्य व्रजराजवधूर्जवधूयमानवदनं न न न नेति यदा निजगाद।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने भी हठ पकड़ लेनेके अनन्तर उसे फिर छोड़ देना सीखा जो नहीं है। अनुनय-विनय करते हुए अपने करपल्लवोंसे बार-बार जननीका मुख आच्छादन करते हुए उनकी सम्मति ले लेनेके लिये वे तुले बैठे हैं। जब मैया अपने निश्चयपर अडिग बनी रहती हैं, तब श्रीकृष्णचन्द्र आज एक नयी युक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे मैयाको अपनी शपथ दे देते हैं। बस, जननीको मौन कर देनेके लिये यह अमोघ उपाय है। अनुत्साहपूरित चित्तसे ही हो, पर अब तो जननीको नीलमणिका अनुमोदन करना ही पड़ता है—

शपथेन मुहुरनुनाथ्य तदनुमोदनं कारयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

वन-भोजनकी यह योजना कल वत्सचारण कर लौटते समय ही बन चुकी थी; सखामण्डलमें यह स्थिर हो चुका था कि कल प्रत्येक शिशु अपने घरसे भोज्यद्रव्य साथ ले आये और सब मिलकर, साथ बैठकर, परस्पर बाँटकर प्रातः कलेवा भी किसी सुरम्य वनमें ही करें। प्रस्ताव श्रीकृष्णचन्द्रका ही था और फिर अविरोध, समर्थन सखावर्गका हो, इसमें तो कहना ही क्या है। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके शत-शत अवरोध-अनुरोधपर भी अविचल रहे और जननीको ही अपना निश्चय बदलना पड़ा। जो हो, व्रजरानी सर्वप्रथम अतिशय शीघ्रतासे अपने चञ्चल पुत्रको शृङ्गार धारण कराने लगती हैं और उधर रोहिणी मैया सुस्वादु सुमिष्ट विविध खाद्यसामग्रीसे छीकोंको पूर्ण करनेमें जुट पड़ती हैं।

वेशविन्यास पूर्ण हुआ और श्रीकृष्णचन्द्र प्राङ्गणमें आकर खड़े हो गये। मैया दौड़कर कुछ मोदक खण्ड एवं किञ्चित् नवनीत ले आयीं तथा अपने नीलसुन्दरके मुखमें डालने लग गयीं। नीलसुन्दर भी जानते हैं—यदि उन्होंने जननीके इस उपहारको अस्वीकार किया तो फिर वन-भोजनकी सारी योजना धरी रह जायगी। अतः वे खड़े-खड़े ही जननीकी यह भेंट लेने लगे। अवश्य ही अल्प-से-अल्प समयमें ही यह कार्य सम्पन्न हुआ और तब गूँज उठा श्रीकृष्णचन्द्रका शृङ्गनाद। आज उनके सखाओंकी तो अभी नींद भी नहीं टूटी है। यह पूर्ण परिचित शृङ्गध्वनि ही कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होकर उनको—व्रजपुरके समस्त शिशुओंको जगाती है। वे हड़बड़ाकर उठ बैठे—'अरे! आज तो कन्नू भैयाकी ही विजय हुई, ऐसा तो कभी नहीं हुआ

था। हम सभी जाते थे, तब कन्हैया जागता था; जननीके शत-शत प्रयाससे, हमारे तुमुल कोलाहलसे उसके नेत्र खुलते थे और आज तो वह वनकी ओर चल पड़ा!' शिशु अपने गोवत्सोंको हाँक देनेके लिये दौड़े गोष्ठकी ओर। श्रीकृष्णचन्द्रके गोवत्स तो आज अपने पालकसे भी बहुत पूर्व मानो जाग उठे हैं। वे मूक गोशावक—जैसे आजकी व्यवस्थासे पूर्ण परिचित हों, इस शृङ्गनादकी ही प्रतीक्षा कर रहे हों—इस प्रकार ध्वनि होते ही नन्दभवनके तोरणद्वारपर कूदते हुए वे एकत्र हो जाते हैं। वनपथकी ओर अग्रसर होनेका चिरपरिचित संकेत उन्हें प्राप्त हो जाता है और वे उधर ही चल पड़ते हैं। आगे-आगे अपार गोवत्सश्रेणी और पीछे उनके पालक व्रजेन्द्रनन्दन गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र वनकी ओर चले जा रहे हैं—

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरस्सरो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १)

श्रीकृष्णचन्द्रका त्रिभुवनमोहन आजका वह वत्सपालवेश देखते ही बनता है—

वेणुं वामे करकिसलये दक्षिणे चारुयष्टिं
कक्षे वेत्रं दलविरचितं शृङ्गमत्यद्भुतं च।
वर्होत्तंसं चिकुरनिकरे बल्गुकण्ठोपकण्ठे
गुञ्जाहारं कुवलययुगं कर्णयोश्चारु बिभ्रत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वाम करकिसलय वेणुसे सुशोभित है, दक्षिण करमें सुन्दर यष्टि (छड़ी) है। कक्षमें बेंत एवं पत्रमण्डित अद्भुत शृङ्ग दबाये हुए हैं। अलकावली मोरमुकुटसे मण्डित है। सुन्दर कण्ठदेश गुञ्जाहारसे राजित हो रहा है। कर्णयुगल युग्मकुवलयसे विभूषित हैं।'

जननीके अगणित रत्नहार, रत्नाभूषणोंमेंसे आज किसीको श्रीअङ्गपर स्थान नहीं मिला। आज तो श्रीकृष्णचन्द्र वनमें ही रहेंगे। जननीने भी अचिन्त्य प्रेरणावश तदनुरूप ही शृङ्गार धराये हैं। फिर अवकाश ही कहाँ था कि जननी अपने नीलसुन्दरको समस्त शृङ्गार धारण करा सकें। एक क्षणका विलम्ब भी श्रीकृष्णचन्द्रको असह्य जो हो गया था। मैयाका मन भी रह-रहकर इस ओर आकर्षित हो रहा था कि अधिक-से-अधिक छीकोंमें अधिक-से-अधिक भोजनद्रव्य श्रीरोहिणी एवं परिचारिकाएँ भर पायीं कि नहीं। कहीं वनमें सखाओंको वितरण करते-करते स्वयं नीलमणिके लिये भोज्यवस्तुओंकी त्रुटि न पड़ जाय—मैयाको तो यह चिन्ता लगी थी। शृङ्गारके बिना ही उनके परम सुन्दर साँवरे पुत्रसे सौन्दर्यकी किरणें झरती रहती हैं, रत्नाभरण आज न सही! बस, अधिक-से-अधिक खाद्य सामग्री वनमें भेजी जा सके, मैयाके लिये यही प्रमुख प्रश्न था और इसीलिये आज श्रीकृष्णचन्द्रका छीका वहन करनेवाले गोपसेवकोंकी संख्या भी मैयाने बढ़ायी है, बहुत अधिक बढ़ायी है—शृङ्गार-सामग्रीकी नहीं।

अस्तु, राजसदनकी सीमा पार करते-न-करते सखाओंका समुदाय भी एकत्र होने लगता है। देखते-देखते सहस्र-सहस्र गोपशिशु अपने असंख्य गोवत्सोंको साथ लिये, उन्हें आगे हाँकते हुए आ पहुँचते हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके मण्डलमें सम्मिलित हो जाते हैं। प्रत्येकने अपने घरसे छीकोंमें भोजनद्रव्य ले लिये हैं। सभी सुन्दर वेत्र, शृङ्ग एवं वेणुसे विभूषित होकर ही आये हैं। इन शिशुओंके पारस्परिक प्रेमकी, श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति असीम अनुरागकी तुलना ही कहाँ सम्भव है। फिर आजकी मनोवाञ्छित योजना सफल होते देखकर तो इनके सुखका पार नहीं रहा है। आनन्दसिन्धुकी चञ्चल लहरियोंसे स्नात हुए, उनपर नाचते-से हुए ये चले जा रहे हैं अपने प्राणाराम सखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ!

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २)

अपने बछड़े उन सबोंने श्रीकृष्णचन्द्रके असंख्य गोवत्सोंमें मिला दिये—

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान्।

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३)

अपने बछरन लै-लै आए।
कान्ह के बछरन आनि मिलाए॥

और फिर स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलकर ऐसे चले जा रहे हैं, जैसे असंख्य मन्मथोंकी मण्डली श्रीकृष्णचन्द्रको आवृत्त किये जा रही हो—

नंद-सुवन सौं मिलि कै चले।
लागत सबै मैन-से भले॥

उनके मध्यमें श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा!—उसका तो क्या कहना है!—

तिन मधि मोहन अति सुखदाइक।
नग जराइ मधि ज्यौं मधिनाइक॥

किंतु सबको ही आज एक बात अतिशय खल रही है। आज दाऊ भैया साथ जो नहीं चल रहे हैं। उनके अभावमें तो वन-भोजनका रस ही आधा हो जायगा। किसी कारणसे वे तो घरपर ही रह गये—

केनापि हेतुना गृहस्थितिः कुतूहलिनि हलिनि……।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अरे नहीं, उनका आज जन्मनक्षत्र है; उसकी शान्ति, अभिषेक आदिके लिये रोहिणी मैयाने उन्हें बलपूर्वक रोक लिया—

बलदेवस्तु मात्रा जन्मर्क्षशान्तिकस्नानाद्यर्थं गृह एव बलाद्रक्षितः।

(सारार्थदर्शिनी)

इतना अवश्य है, चलते समय दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चुपचाप यह संवाद भेज दिया है—

हन्त भोः! कृष्ण! त्वया सह क्रीडातृष्णगप्यहं विरुद्धविधिना निरुद्ध एवास्मि।××× भवता या लीला भावयितुं भाविता सावश्यं भावयितव्या।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैया रे श्रीकृष्ण! तुम्हारे साथ क्रीड़ाकी लालसा रहनेपर भी दैव मेरे विरुद्ध है और मैं रोक ही लिया गया। किंतु जो लीला तुमने करनेको सोच रखा है, उसे अवश्य सम्पादित करना।'

बलरामकी यह सम्मति ही उनके अभावको किसी अंशमें पूर्ण कर दे रही है। फिर तो अचिन्त्य-लीला-महाशक्तिने डोरी खींच ली। दाऊ भैया सबके स्मृतिपथसे बाहर चले आये। दूसरे ही क्षण नवीन उत्साहका द्वार खुला। अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्रके दृगञ्चल चञ्चल हो उठे। उल्लासकी स्रोतस्विनी लहरा उठी और गोपशिशु उसीमें बह चले। आगे मनोरम वनश्रेणी है। कलिन्दनन्दिनीका मञ्जुल प्रवाह है। श्रीकृष्णचन्द्रका नेतृत्व है। इससे अधिक उद्दीपन और क्या होगा। गोपशिशु वत्सचारण करते हुए ही बाल्यकौतुकमें संलग्न हो जाते हैं। चलते-चलते जहाँ कहीं भी रुक जाते हैं और वहीं एक-से-एक सुन्दर बाल्यविहार होने लगता है—

चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह।

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३)

पहली क्रीड़ा हुई नीलसुन्दरके श्यामल श्रीअङ्गोंको वन्यसामग्रीसे अलङ्कृत करनेकी, स्वयं भी आभूषित होनेकी। सबकी माताओंने यथासाध्य पर्याप्त सजाकर ही पुत्रोंको वनमें भेजा है। श्रीकृष्णचन्द्रने रत्नहार, मणि-भूषण नहीं धारण किये तो क्या? शिशुओंकी माताओंने तो आज भी उन्हें—बालकोंकी रुचि ऐसे शृङ्गारमें न रहनेपर भी—वैसे ही सजाया है । सदाकी भाँति गोपशिशु अङ्गद, वलय, किङ्किणीजाल, कर्णकुण्डल, मञ्जीर और विविध मणिमय भूषणोंसे सुसज्जित हैं—

केयूरे वलयानि किङ्किणिघटा हारावली कुण्डले
मञ्जीरौ मणिवृन्दबन्धलतिका यद्यप्यमीषां बभुः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गुञ्जा-काच-मुक्ता-स्वर्णमणिनिर्मित आभरणोंसे पुत्रोंकी वेशरचनामें आभीर-सुन्दरियोंने कलाकी इति कर दी है; इतने अल्प समयमें व्रजेश्वरीने भी पुष्पोंसे ही अपने नीलमणिका परम मनोहर शृङ्गार करके ही भेजा है। पर इससे क्या हुआ, शिशुओंके मनके अनुरूप न तो श्रीकृष्णचन्द्र ही सजे और न वे सब

ही। व्रजरानी, उनकी माताएँ कहाँ पायेंगी वनस्थलीकी शृङ्गारसामग्री। भूषणोपयोगी ये छोटे-बड़े वनफल, द्रुमवल्लरियोंके रंग-बिरंगे नवपल्लव, मनोहारी पुष्पगुच्छ, विविधवर्ण, चित्र-विचित्र कुसुमोंकी राशि, अभी-अभी झड़े हुए झलमलाते मयूरपिच्छ एवं गैरिक आदि भाँति-भाँतिके वन्यधातु—ये वस्तुएँ व्रजराजमहिषीको, गोप-सुन्दरियोंको कहाँ मिलेंगी! और मिलें भी तो इनसे विभूषित करनेकी कल्पना ही उनमें कहाँ सम्भव है। किंतु शिशुओंके मनभावते शृङ्गारद्रव्य तो ये ही हैं। उन्हें तो अपने प्राणप्रतिम सखा कन्हैयाको, स्वयं अपने-आपको इन्हींसे अलङ्कृत करना है। तभी तो समुचित वेशविन्यास होगा! अन्यथा इन आभूषणोंका भार वहन करनामात्र है! अतः सबसे पहले आज वेशरचनाका ही कार्य हुआ। फलसे, नवकिसलयसे, कुसुम-स्तबकसे, सुमनसे, शिखिपिच्छ एवं वन्यधातुओंसे प्रथम उन सबने मिलकर नीलसुन्दरके अङ्गोंको अलङ्कृत किया और फिर पारस्परिक सहयोगद्वारा तथा श्रीकृष्णचन्द्रके करपद्मोंसे आहृत वन्य-उपहारोंको ले-लेकर वे सब-के-सब स्वयं भी विभूषित हुए—

फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः ।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ४)

इसके अनन्तर उनकी यथेच्छ क्रीड़ा आरम्भ हुई। एकने चुपचाप किसीका छीका कंधेसे उतार लिया, अथवा बगलसे बेंत खींच ली और छिपा दी। किसी सहगामी दर्शकका संकेत पानेपर उसे अपनी वस्तुके अपहृत होनेका भान हुआ और वह ढूँढ़ने चला। वस्तु जाती कहाँ। अपहरण करनेवालेका ठीक-ठीक अनुमान उसे हो गया और वह दौड़ा उससे अपनी वस्तु छीनने। किंतु समीप पहुँचनेसे पूर्व उसने तो अपहृत वस्तु दूर फेंक दी। शिशु अपनी वस्तु उठा लेनेके लिये लपका, पर ले नहीं सका। दूसरे शिशुने उसे उठाकर और भी आगे निक्षिप्त कर दिया। वहाँ पहुँचनेपर तीसरेने और आगे फेंक दिया। वस्तु न पाकर, अपनी हारका अनुभव कर श्रान्त शिशुके नेत्र भरने लगे। फिर तो किसी वयस्क शिशुने अथवा स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने ही हँसते हुए उसकी वस्तु लाकर उसके हाथोंमें दे दी और उसे अङ्कमें भर लिया। उसके तप्त अश्रु एक अनिर्वचनीय सुखके परमशीतल बिन्दुमें परिणत हो गये!

कदाचित् वृन्दाकाननकी सुन्दर शोभा निहारने श्रीकृष्णचन्द्र किञ्चित् दूर चले गये, फिर तो होड़ मची—दौड़कर कौन सबसे पहले श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करता है? 'यह लो मैं पहुँचा' कहते हुए असंख्य शिशु एक साथ दौड़े श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करनेके लिये; और उन्हें छूकर, अपने भुजपाशमें बाँधकर सुखसिन्धुमें निमग्न हो गये।

एक समुदायकी लालसा हुई—श्रीकृष्णचन्द्रकी भाँति ही वह वंशी बजाये। उसने अपनी वंशीमें स्वर भरना आरम्भ किया। फिर तो उसका अनुकरण दूसरोंने भी किया ही। विभिन्न स्वरनादसे कानन गूँज उठा और तब श्रीकृष्णचन्द्रने अपने अधरोंपर वंशीको धारण किया। करकिसलय चञ्चल हुए, छिद्रोंपर अँगुलियाँ नाचने लगीं। फिर तो अगणित शिशुओंका सम्मिलित वेणुनाद श्रीकृष्णचन्द्रके वंशीरवमें ही सहसा समा-सा गया। साथ ही शिशुओंको अनुभव हुआ—'कन्नू भैयाकी स्वरलहरीसे जिस मधुकी वर्षा होती है, वह तो अप्रतिम है; हम सबोंके वंशीनादमें सचमुच वह मिला नहीं, वह तो उससे सर्वथा पृथक् रह रहा है; उस मधुप्रवाहमें हमारा नाद प्रस्तर-कण-सा खर-खर कर रहा है। उसमें एकरस होकर मिल सकना तो दूर रहा, हमारा वंशीरव तो उलटे उसकी मधुरिमाको रुद्ध कर दे रहा है।' एक साथ ही शिशुओंने बजाना स्थगित कर दिया और फिर सबने निश्चय कर लिया—'देखो, जब कन्नूकी वंशी बजे, तब हममेंसे कोई भी उस समय उसका अनुकरण न करे। अन्यथा हम सभी इस परम सुखके पूर्ण उपभोगसे वञ्चित रह जायँगे। और बातोंमें कन्नूको हरायें, वह तो हारेगा ही, पर वंशीवादनमें उसकी होड़ करने न जायँ!'

यही परिणाम शृङ्गध्वनिका भी निकला। श्रीकृष्णचन्द्रके शृङ्गसे निर्गत अत्यन्त गम्भीर नादकी

समता गोपशिशु न कर सके तथा पूर्ववत् निर्णय इस सम्बन्धमें भी हुआ। और वेणु, शृङ्ग तो प्रतिदिन ही बजते हैं, बजेंगे ही। आज तो और ही क्रीड़ा हो!'

अस्तु, एक दलको अन्य क्रीड़ा सूझी। मधुमत्त भ्रमर गुन-गुन करते उड़ रहे हैं। शिशुओंके इस दलने उनकी ओर देखा, उनकी ध्वनि सुनी और फिर उस 'गुन-गुन' में ही अपना कण्ठ-स्वर मिलाना आरम्भ किया। इतनेमें कोकिलका 'कुहू-कुहू' रव सुन पड़ा और कुछ शिशु कोकिलकण्ठका ही अनुकरण करने लगे।

कतिपय शिशु अतिशय वेगसे दौड़ने लगे। आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी सचल छाया देखकर उन्हें नया ही कौतुक हाथ लगा। वे उस छायाका ही अनुसरण करते हुए छायापर अपने चरण रखते हुए चलनेके प्रयासमें प्रबल वेगसे दौड़ चले। आगे सरोवर आ जानेसे उनका मार्ग रुद्ध हो गया। अन्यथा वे न जाने कितनी दूरतक चले जाते। जो हो, सरोवरपर जानेसे एक और सुन्दर क्रीड़ासामग्री मिली। वहाँ हंसोंकी मृदुगति देखकर उनके आनन्दका पार नहीं। वहीं इस मरालकुलकी शोभा निहारनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र भी दौड़े आये। उन्हें अपने समीप आया देखकर उन हंसोंकी विचित्र दशा हुई। वे ग्रीवा उठाकर मृदु मन्दगतिसे अतिशय सुमधुर कूजन करते हुए उनकी ओर ही चल पड़े। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके उन गोपसखाओंकी चेष्टा भी देखने ही योग्य हुई। पंक्तिबद्ध होकर वे बालक ठीक हंसोंकी भाँति ही चलने लगे। श्रीकृष्णचन्द्रका उन्मुक्त हास्य उन्हें उत्तरोत्तर प्रोत्साहित करता गया और हंसकी गतिसे मृदुपादविन्यासकी क्रीड़ा न जाने कितनी देर चलती रही।

किञ्चित् अल्पवयस्क शिशुओंका ध्यान शान्त, स्थिर बैठे वक-समूहोंकी ओर गया। वे उनकी मुद्राका ही अनुकरण करने लगे। उनसे कुछ दूर वहीं सरोवर-तटपर वे शिशु भी वैसे ही ध्यानस्थित-से शान्त बैठ गये। उनका यह सुन्दर अभिनय देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासकी सीमा नहीं रही।

वहीं देखते-देखते दल-के-दल मयूर एकत्र होने लगे। उन्हें भी श्रीकृष्णचन्द्रकी अङ्गगन्ध मिली और वे अपनी घ्राणशक्तिसे इस दिव्यातिदिव्य सौरभका संधान पाकर सघन वनसे वहाँ चले आये, जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं। वे सचमुच आये ही हैं श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने; क्योंकि उन सबोंने पुच्छका विस्तार किया और लगे नृत्य करने। उनके इस नृत्यसे श्रीकृष्णचन्द्रका मन भी नाच उठता है। केवल मन ही नहीं, शरीर भी। वास्तवमें वे उन नृत्यपरायण मयूरोंके पाद-विन्यासपर, उनके तालबन्धपर उनकी-सी भाव-भङ्गिमाका प्रकाश करते हुए नृत्य करने लग जाते हैं। गोपशिशुओंकी तो क्या चर्चा, श्रीकृष्णचन्द्रका यह नृत्य अतिशय चञ्चल कपिदलको भी मुग्ध कर देता है। द्रुमशाखाओंपर अवस्थित, अतिशय शान्ति धारण किये इस कपिसमाजकी भावसमाधि देखने ही योग्य है!

किंतु आखिर तो वह कपिकी जाति ठहरी। एकने भूल कर दी। दर्शनलोभसे ही वह कूदकर निम्नतम शाखापर आ बैठा। एकके नीचे उतर आनेपर दूसरेके द्वारा अनुकरण अनिवार्य है ही। कपिस्वभावकी शोभा भी इसीमें है। अस्तु, देखते-ही-देखते शत-शत कपिसमूह वृक्षसे नीचे आकर नृत्यपरायण श्रीकृष्णचन्द्रको, मयूर-कुलको आवृत कर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान इस ओर नहीं जाता, वे तो नृत्यमें तन्मय हो रहे हैं। किंतु मयूर भयभीत हो उठे। अपने पुच्छका संकोच कर, नृत्यका विराम कर, सब-के-सब तरुशाखाओंपर जा चढ़े। अब तो गोपशिशुओंके रोषका पार नहीं। इस दुष्ट कपिदलने श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य जो बिगाड़ दिया। शिशुओंमें प्रतिशोध लेनेकी भावना जाग्रत् हुई। वे उनकी लंबी नीचे लटकती पूँछोंको पकड़-पकड़कर खींचने लगे और जब वे कपि ऊपरकी शाखाओंपर जा चढ़े, तब शिशु भी उनके साथ ही वृक्षोंपर चढ़ गये। वे सब वानर-स्वभाववश मुख विकृत करके जब इनकी ओर घुड़कने लगे, तब ये सब भी ठीक वैसे ही अपना मुँह फाड़कर, दाँत निकालकर, उलटा उन्हें ही धमकाकर उन्हें पुनः पकड़ लेनेका प्रयास करने

लगे। भयभीत कपिसमाज जब इस वृक्षसे उस वृक्षपर कूदकर भागने लगा, तब ये निर्भीक गोपशिशु भी एकसे दूसरे वृक्षपर कूदने लगे। उन्हें बहुत दूर हटाकर ही इन सबोंने विश्राम लिया।

एक ओर कतिपय शिशुओंका अभिनय और भी मनोरम है। आयु छोटी होनेके कारण यह मण्डल न तो वृक्षपर ही चढ़ सका और न अन्य क्रीड़ाओंमें ही इसे सफलता मिली। किंतु इस बार इन्होंने भी बाजी मार ली। सरोवरके समीप उछलते हुए भेकों (मेढकों)-की ओर इनकी दृष्टि गयी और ये भी पृथ्वीपर हाथ टेककर वैसे ही फुदकने लगे। ठीक उनकी भाँति ही फुदककर क्षुद्र जल-धाराओंको पार करने लगे। इनकी यह चेष्टा देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके सहित अन्य समस्त गोपशिशु हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

कुछ गोपबालकोंका ध्यान अपने प्रतिबिम्बकी ओर गया। प्रात:कालकी इतनी लंबी छाया देखकर वे उस प्रतिच्छायासे ही खेलने लगे। बालकोंने अपने हाथ उठाये, प्रतिबिम्बके हाथ भी उठ गये। भला, इतना सुन्दर खेल और क्या होगा! फिर तो अपने अङ्गोंको विविध भाँतिसे प्रकम्पित कर उसकी प्रतिक्रिया वे छायामें देखने लगे, देख-देखकर आनन्दमग्न होने लगे और जब अपनी ही प्रतिध्वनिसे खेलनेका क्रम आरम्भ हुआ, तब तो कहना ही क्या है! तुमुल आनन्द-कोलाहलसे समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो रहा है। सहसा इसीकी ओर कुछका ध्यान गया तथा प्रश्नोत्तर आरम्भ हुआ। शिशुने उच्च कण्ठसे पुकारा—'अरे! तुम कौन हो?' प्रतिध्वनिने इसीकी आवृत्ति कर दी। 'हम तो श्रीकृष्णचन्द्रके सखा हैं।' प्रतिनादने भी यही उत्तर दिया। 'क्या तुम्हारे साथ भी श्रीकृष्णचन्द्र हैं?' प्रतिशब्द भी ज्यों-का-त्यों लौट आया। 'हाँ हैं।' इसका उत्तर भी यही मिला। किंतु इस उत्तरसे कुछ शिशु रुष्ट हो गये—'मिथ्यावादी कहींके! श्रीकृष्णचन्द्र तो एक हैं; हमारे साथ हैं; तेरे साथ कहीं हैं?' प्रत्युत्तर भी यही प्राप्त हुआ। अब तो शिशुओंके रोषका पार नहीं—'रे! तू भी कोई असुर प्रतीत होता है; पर स्मरण रख, तेरी भी दशा बक-जैसी होगी!' इसके उत्तरमें भी यही शाप उधरसे—वनप्रान्तरके अञ्चलसे भी लौट आया। न जाने कितनी देर यह शापानुग्रहकी क्रीड़ा हुई! इस प्रकार वनमें वत्सचारण करने आकर श्रीकृष्णचन्द्र आज भी सखाओंके साथ बाल्यलीला-विहारका रसपान करने लगे, स्वयं पानकर, वितरणकर रसमत्त हो उठे—

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः॥
यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥
केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।
केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे॥
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधुहंसकैः।
वकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥
विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ५—१०)

चलि गए जमुन तट सबहिन के घट, उमगि अनंदित केलि करैं,
जे बछनि चरावत मिलि सब गावत, कुसुम अनेकनि माल धरैं।
इक छीके छोरत इक इक चोरत, पाक बिबिध बिधि खात यहाँ,
इक मोरनि-बोलनि, हंस-कलोलनि, बोलत बोलनि बोल तहाँ॥
इक कोकिल-कूकनि, मर्कट-हूकनि हूकत जहँ-तहँ हास करैं,
इक भौंरनि गुंजनि, पहिरत गुंजनि, बहिरत कुंजनि, स्वाँग धरैं।
इक प्रभुहिं रिझावत, प्रभु सुख पावत, अति प्रबीन गति व्रत्त सचैं,
लखि सुर सब तरसत, सो सुख बरसत, सिसु उर आनँद खेल रचैं॥

ज्ञानी एवं योगीगण जिन्हें निर्विशेष ब्रह्मानन्दस्वरूप मानते हैं, दास आदि भक्तोंके लिये जो परमपुरुष परमेश्वर हैं, मायाश्रित विषयविदूषित नेत्रवाले पुरुषोंके लिये जो नरबालकमात्र हैं, उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ गोपशिशुओंका यह अद्भुत विहार हो रहा है! पता नहीं, कैसे, किस जातिके राशि-राशि पुण्योंका यह परिणाम गोपशिशुओंको प्राप्त हुआ है!

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ११)

जिन्होंने यम-नियमका सतत साधन कर अपने चित्तको एकाग्र कर लिया है, जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो चुके हैं—इस प्रकारके समाहितचित्त योगी भी अनेक जन्मोंमें अपार साधनक्लेश वरण करनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणधूलिकणिकाका स्पर्श नहीं प्राप्त करते; किंतु वे ही श्रीकृष्णचन्द्र आज इस वृन्दाकाननमें, व्रजवासियोंके दृष्टिपथमें सतत अवस्थित हैं। इन व्रजवासियोंके अपरिसीम सौभाग्यकी बात कौन बताये, कैसे बताये?

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १२)

जाके पद-रज हित तप करि कै, बहुत काल जोगी दुख भरि कै।
प्रेरित चपल चित्त कहुँ भूरि, सो वह धूरि तदपि हू दूरि।
सो साच्छात दृगन-पथ चहियै, कवन भाग्य ब्रजजनकौ कहियै।

अघासुरका उद्धार

शशाङ्कशेखरकी दृष्टि निमेषशून्य हो गयी है; सुरेन्द्रकी, सुर-समुदायकी तो बात ही क्या। श्रीकृष्णचन्द्रका बाल्यविहार प्रत्यक्ष हो जानेपर किसे आनन्दमुग्ध नहीं कर देता! इस रसमन्दाकिनीकी धारा किसे आत्मसात् नहीं कर लेती! हाँ, एक वर्ग ऐसा अवश्य है, जिसकी आँखें इस स्रोतका स्पर्श पाकर शीतल नहीं होतीं, अपितु और भी जलने लगती हैं। इसकी ऊर्मियोंमें ही निरन्तर अवगाहन करते रहनेकी, इन्हींमें मिल जानेकी लालसा उस वर्गके प्राणियोंमें उदय नहीं होती; इसके बदले वहाँ तो इस प्रवाहको समूल विलुप्त कर देनेका ही भाव जाग उठता है। वह वर्ग है असुर-सिरमौर मधुपुर-सम्राट् कंसका। और इस वर्गका ही एक विशिष्ट सदस्य अघासुर अपने अधीश्वरसे प्रेरित हो यहाँ आज वृन्दावनमें आया है; श्रीकृष्णचन्द्रका, गोपशिशुओंका स्वच्छन्द, सुखमय विहार देख रहा है; ज्यों-ज्यों देखता है, उसके हृदयका उत्ताप बढ़ता जाता है; श्रीकृष्णचन्द्रकी, उनके सखाओंकी यह सुखक्रीड़ा उसके नेत्रोंके लिये असह्य बनती जा रही है। यह वही अघासुर है, जिसके बलकी छाप समस्त सुरसमुदायपर अङ्कित है, अमृतपानसे अमर बन जानेपर भी देवसमाज जिससे नित्य सशङ्कित है, अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये जिसके निधनकी नित्य प्रतीक्षा करता रहता है—कब वह शुभ क्षण उपस्थित हो, अघका अन्त हो जाय और सुधापान व्यर्थ हो जानेकी सम्भावना जाती रहे!—

अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १३)

तदनंतर अघनामा दुष्ट।
आयौ सुख देखि सक्यौ न नष्ट॥

× × ×

जाकें डर सुर थरथर डरैं।
जद्यपि अमृत-पान हू करैं॥
तदपि कहैं जब लौं अघ जीवै।
तब लगि ब्यर्थ अमीकौं पीवैं॥

इस समय गोपशिशुओं एवं श्रीकृष्णचन्द्रमें दौड़की होड़ लगी है। इससे पूर्व तो बालकोंने किञ्चित् दूर चले गये श्रीकृष्णचन्द्रको सर्वप्रथम स्पर्श करनेकी परस्पर बाजी लगायी थी—

धावत कहत अमी जनु बरसै।
तेइ राजा जु प्रथम ही परसै॥
बन सोभा कौं लखन हित कृष्ण दूरि जब जात।
तब सब बालक दौरि कह प्रथम-प्रथम हम तात॥

और अब श्रीकृष्णचन्द्रको पराजित कर देनेकी योजना बनी है। सचमुच विजय भी शिशुओंकी ही हुई। 'अरे भैयाओ! देख लो, कनूँकी गति तेज है या

हमारी'—कहकर बालक दौड़े। उनके साथ ही श्रीकृष्णचन्द्र भी बड़े वेगसे भगे; किंतु शिशु थोड़ी दूरमें ही उनका अतिक्रमण कर गये, श्रीकृष्णचन्द्र सबसे पीछे रह गये—

कृष्णस्तरस्वी किमहो वयं वा जानीत भो भ्रातर! इत्युदीर्य।
धावन्त एते त्वरयापि यान्तं श्रीकृष्णमारादतिचक्रमुस्तम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रुतियाँ जिनके लिये संकेत करती हैं—वे परमेश्वर अचल हैं, तथापि मनसे भी अधिक तीव्र गतियुक्त हैं, **'अनेजदेकं मनसो जवीयः'** वे अन्य समस्त दौड़नेवालोंको स्वयं स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं, **'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'** उनका इस प्रकार गोपशिशुओंके पीछे दौड़ना और फिर पराजित हो जाना कितना आश्चर्यमय है! बलिहारी है परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके इस बाल्यलीला-विहारकी!

अस्तु, गोपशिशु दैवक्रमसे दौड़ रहे हैं उस दिशामें ही जिधर, जिस ओर अघासुर आकर बैठा है, इनके उच्छलित सुखको देखकर मन-ही-मन जल रहा है। इतना ही नहीं, उसके अन्तस्तलमें परिशोध लेनेकी भी भीषण ज्वाला जल उठी है। यह अघासुर वकी (पूतना) एवं वकदैत्यका अनुज जो ठहरा! चतुर कंसने इसीलिये तो इसे उकसाकर भेजा है। अचिन्त्यलीलामहाशक्तिके प्रभावसे ही अबतक अघका रोष मनमें ही सीमित रहा था; आज श्रीकृष्णचन्द्रके, उनके प्राण-सखाओंके दर्शन होते ही वह आग भड़क उठी है। वह सोच रहा है—आह! इस कृष्णवर्ण शिशुने ही समस्त गोपबालोंका नेतृत्व करनेवाले इस काले-कलूटे नन्दपुत्रने ही तो मेरी सहोदरा बहिन वकीके, मेरे सहोदर भ्राता वकके प्राण लिये हैं, फिर भी मेरे जीवित रहते यह बालक जीवित बचा है, आनन्दविहार कर रहा है! नहीं-नहीं, पर्याप्त विलम्ब हो चुका; बस, अब इसे मैं उसी पथका पथिक बना दूँ—वहीं भेज दूँ, जहाँ मेरी लाड़िली बहिन गयी है, मेरे प्रिय भैया गये हैं। इसने तो मेरे दो सुहृदोंके ही प्राण लिये, मैं इसके समस्त मण्डलको ही नष्ट कर दूँगा। इसके साथी गोपशिशु भी इसका ही अनुसरण करें, ये असंख्य गोवत्स भी इस नन्दपुत्रका ही अनुगमन करें। मेरे मृत सुहृदोंको पिण्डदान मैंने नहीं किया। पर आज सर्वोत्तम अवसर उपस्थित हुआ है। यह नन्दपुत्र, ये गोपशिशु, ये असंख्य गोवत्स—ये ही सब मरकर, मेरे द्वारा मृत्युमुखमें समर्पित होकर तिलोदकरूप बन जायँगे। मेरे सुहृदोंके अनुरूप पिण्डसामग्री तो ये ही हैं; इनसे ही मेरे भाई और बहिनकी पूर्ण तृप्ति होगी और फिर तो समस्त व्रज भी उजड़ जायगा ही, मेरे महाराज कंसके शत्रु सम्पूर्ण व्रजवासी अपने-आप समाप्त हो जायँगे! उनके प्राण तो उनकी संतति हैं—यह नन्दतनय, ये बालक, ये गोशावक हैं। इन्हें मैं अभी-अभी विनष्ट किये दे रहा हूँ। फिर जब प्राण नहीं रहेंगे तब शरीर रहा, न रहा। उस निष्प्राण शरीरसमूहकी क्या चिन्ता। व्रजपुरवासियोंमें फिर धरा ही क्या है—कंस महाराजका परम अभिलषित आज मैं उन्हें भेंट चढ़ाऊँगा।'—

दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स वकीवकानुजः।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयोर्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये॥
एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १४-१५)

अपने उपर्युक्त निश्चयको अघासुरने तुरंत क्रियाका रूप देना भी आरम्भ किया। देखते-ही-देखते उस दुष्टने योजन-परिमित दीर्घ, एक महापर्वत-सदृश स्थूल, परम आश्चर्यमय, प्रकाण्ड अजगरका शरीर धारण कर लिया। उस महासर्पका मुख तो सचमुच एक प्रसरित गिरिगह्वरके समान प्रतीत होने लगा। निम्न ओष्ठ धरासे जा सटा। ऊर्ध्व ओष्ठ मेघोंका स्पर्श करने लगा। जबड़े कन्दरा-से बन गये। दन्तसमूह पर्वतशृङ्ग-से दीखने लगे। मुखविवरका अन्तर्भाग घोर अन्धकारसे पूर्ण हो गया। जिह्वा विस्तृत अरण्यसरणी (सड़क)-सी बन गयी। दीर्घ श्वास कर्कश वायुके प्रवाह-सा बह चला। नेत्र दावानलके समान प्रज्वलित हो उठे। ऐसे इस महाभयंकर अजगररूपसे ही सपरिकर श्रीकृष्णचन्द्रको ग्रास बना लेनेकी दुरभिसंधि

लेकर अघासुर वहीं उस वन-पथमें लेट गया—

इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः स योजनायाममहाद्रिपीवरम्।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः॥
धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः।
ध्वान्तान्तरास्यो विततध्वजिह्वः परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १६-१७)

इमि निस्चै करि सो सुरहंता। भयौ महाबपु सरप तुरंता॥
हरि कहँ असन हेतु मति मंदा। अद्भुत बपु सब दुख कौ कंदा॥
जोजन भरि तन पुष्ट कठोरा। गिरि सम तुंग भयानक घोरा॥
मुख जनु गुहा समान पसारा। भूतल अधर एक तिन डारा॥
उत्तर अधर जलद सौं लागा। दाढ़ मनौं गिरि सृंग-बिभागा॥
भीतर अंधकार अति भारी। रसना मनहु पंथ अनुहारी॥

× × ×

नैन हुतासन कुंड तरेरत दुष्ट है। छाँड़तु स्वाँस प्रचंड महाबल पुष्ट है॥

इधर गोपशिशु भी दौड़कर, श्रीकृष्णचन्द्रको बहुत पीछे छोड़कर अघासुरके सामने, उसके संनिकट आ गये; उनकी दृष्टि भी उस महासर्पपर जा पड़ी। किंतु सरलमति शिशु अघकी प्रवञ्चनाको क्या जानें! उन सबोंने तो उस अजगर-शरीरको कुछ और ही समझा। उन्हें प्रतीत हुआ—अहा! यह तो वृन्दा-काननकी एक परम अद्भुत शोभा सामने आ गयी—

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १८)

देखि अघासुर रूप, मान्यौं ब्रज सोभा मनहुँ।
अजगर तुंग कुरूप महा भयंकर काल सम॥

इतना ही नहीं, उन निष्पाप शिशुओंने तो कौतुकवश उसकी उत्प्रेक्षा भी आरम्भ कर दी, अजगरके प्रसारित मुखसे वे उस अपनी धारणागत शोभाकी तुलना करने लगे—

व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १८)

मानो वाग्वादिनी उन बालकोंके कण्ठकी ओटसे परम सत्यका संकेत देनेके लिये चञ्चल हो उठीं; पर श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने सुरसुन्दरीके इस प्रत्येक प्रयासको ही उलट दिया, लीलानिर्वाहके अनुरूप आवरण डालकर, उपमेयको उपमान बनाकर ही व्यक्त होने दिया—इस प्रकार बालक परस्पर चर्चा करने लगे। सबसे आगेवाले शिशुने पश्चाद्वर्ती साथियोंसे कहा—'अरे भैया! बताओ तो सही, हमलोगोंके सम्मुख प्रकाण्ड निश्चल प्राणिविशेषके समान जो एक कोई वस्तु है, वह हम सबको निगल जानेके उद्देश्यसे अजगरके बाये हुए मुख-जैसा प्रतीत होता है या नहीं?' बालकके इस कथनका समर्थन तो होना ही है। क्रमशः इस उक्तिके सुन्दर प्रमाण अन्य शिशुओंने दे डाले। वे बोले—'भैया! तुम सर्वथा सत्य कह रहे हो; यह देखो न, रविरश्मियोंसे अरुणित हुआ मेघमण्डल ठीक-ठीक अजगरके ऊर्ध्व ओष्ठ-सा प्रतीत हो रहा है और फिर उन्हीं रक्तवर्ण मेघोंकी प्रतिच्छाया पड़कर भूमि ऐसी रक्ताभ बन रही है, मानो उस महासर्पका निम्न ओष्ठ हो। वाम एवं दक्षिण पार्श्वकी कन्दराएँ जबड़ोंकी होड़ कर रही हैं, यह उन्नत शिखरश्रेणी उसके दन्तसमूह-जैसी बन गयी है। यह सम्मुखवर्ती सुविस्तृत वनपथ अजगरकी रसनाके समान प्रतीत हो रहा है; गिरिशृङ्गोंका मध्यवर्ती अन्धकार उसके मुखविवरका आन्तरिक शून्यभाग-सा जान पड़ रहा है। अरे और भी देखो! दावाग्निके सम्पर्कसे उष्ण एवं कर्कश वायु अजगरके श्वास-जैसी बन गयी है, वनवह्निसे संदग्ध हुए वन्य जन्तुओंकी दुर्गन्ध भी ठीक ऐसी लग रही है, मानो उसके उदरकी आमिषगन्ध हो—

अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम्।
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥
सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद्घनम्।
अधराहनुवद् रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम्॥
प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।
तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥
आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति।
एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम्॥
दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद् भाति पश्यत।
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १९—२३)

अहो मित्र देखहु एहि आई। अहै जंतु कोउ, कै गिरि, भाई॥
नाथ नाथ करुनानिधि देवा। काल मनहु यह करिहि कलेवा॥
सखा जंतु सो लगै कि नाहीं। रह्यौ पसारि बदन तौ चाही॥
बालन सहित हमै किन खाई। बाइ रह्यौ मुख सरिस लखाई॥
निस्चै रबि कर अरुन समूहा। घन सो परसि लगत धर ब्यूहा॥
तेहि प्रतिछाया थिर सब ठामू। लगत ओड सम सुंदर धामू॥
सब्यासब्य नगोदर माहीं। सृक्कनि दोइ सरिस सम छाहीं॥
तुंग सृंग राजी इमि राजत। द्विज-सोभा सम सुंदर भ्राजत॥
पथ यह सुभग देखियै कैसौ। रसना-सरिस लगत लखु जैसौ॥
सृंग मध्य तम अतिसै भारी। जनु मुख मध्य अहै अँधिआरी॥

दाद उष्न खर बात यह भासत स्वास-समान।
सखा लखौ यह सर्प-सौ जान्यौ जात प्रमान॥

जर्‌यौ सत्व दावा महँ कोऊ। ता सम दुष्ट गंध यह जोऊ॥

इस प्रकार कहते हुए गोपशिशु उसी दिशामें अग्रसर होते चले गये, अघके और भी निकट जा पहुँचे! अचानक किंचित्-वयस्क एक बालक सबका ध्यान उस ओर ही आकर्षितकर बोल उठा—'अच्छा मित्रो! कदाचित् यह सचमुच ही अजगर हो और इस अजगरके मुखमें हम सभी प्रविष्ट हो जायँ तो यह क्या हमें ग्रास कर लेगा?'—

अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टान्।

किंतु सखा-मण्डलीसे इसका उत्तर प्राप्त होनेमें भी तनिक विलम्ब नहीं हुआ। एक परम चञ्चल छोटे-से बालकने ही समाधान कर दिया—

अयं तथा चेद् वकवद् विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति .... ॥

'यदि यह ऐसा करेगा तो कनू भैयाके द्वारा वककी भाँति क्षणमें ही मार दिया जायगा।'

ग्रसै हमैं तौ बक-गति पैहै।

फिर तो शिशुओंके मुखपर एक नवीन उत्साहकी लहर नाच उठी। इस पुरोवर्ती गिरिकन्दरमें प्रवेश करनेकी, इस नये सुन्दर कौतुकसे मनोरञ्जन करनेकी वासना भला, किस बालकको न होगी! समस्त शिशु एक साथ समान उत्कण्ठाकी डोरीमें बँधकर खिंचने लगे। पर्वत-गुहाके अन्तर्भागमें प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करनेकी लालसासे सबने प्रथम तो अविलम्ब अपने गोवत्ससमूह अघके विशाल मुखमें हाँक दिये, गोवत्स-राशि सुरसरिधाराकी भाँति अघरूपी गिरिदरीमें प्रविष्ट होने लगी। यह हो जानेके अनन्तर प्रत्येक शिशुने ही एक बार अपने प्राणाधिक प्रिय सखा श्रीकृष्णचन्द्रके कमनीय मुखारविन्दकी ओर दृष्टि डाली। दृष्टि पड़ते ही अन्तरका आनन्द बड़े वेगसे उच्छ्‌वसित हो उठा; सबके मुख उज्ज्वल हास्यसे आलोकित हो उठे। इसके पश्चात् तो विलम्ब क्यों हो, देखते-ही-देखते वे सब-के-सब हँसते, करताली देते अघके मुखमें जा घुसे—

.... वकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २४)

अब कहीं श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इससे पूर्व तो वे न जाने कौन-से लीला-राज्यमें मन-ही-मन विचरण कर रहे थे, अपने अनन्त ऐश्वर्यपर बाल्यावेशकी चादर डाले, उसे आवृत किये, परम मनोहर बाल्यलीलाविहारके सुखसिन्धुमें संतरण कर रहे थे, तटसे अत्यन्त सुदूर कहाँ-से-कहाँ बहते जा रहे थे। किंतु सहसा चादरके एक छिद्रसे झाँककर उनकी सर्वज्ञता-शक्तिने अघासुरकी उपस्थितिको, उसकी दुरभिसंधिको देख लिया और श्रीकृष्णचन्द्र अपने सर्वान्तर्यामी स्वरूपमें अवस्थित हो गये। उपस्थित तो वे पहले भी थे ही, नहीं-नहीं नित्य हैं ही। उन्होंने तो खेलनेके उद्देश्यसे बाल्यभावके दुकूलद्वारा उसे ढँक रखा था। बस, दुकूलको तनिक-सा हटा लिया और वह स्वरूप व्यक्त हो गया। अस्तु, अब सर्वभूतहृत्स्थित श्रीकृष्णचन्द्रने सब कुछ जान लिया; कालका व्यवधान वहाँ कहाँ। उन्होंने तो क्षणभर पूर्व शिशुओंके द्वारा की हुई उत्प्रेक्षाएँ भी सुन लीं, शिशु परस्पर भ्रमपूर्ण आलाप कर रहे हैं, प्रकृत अजगरको ये सब वृन्दाकाननकी शोभा मान रहे हैं, सत्य इनके लिये असत्य बन रहा है और वास्तवमें तो यह अजगर भी नहीं, अघासुर है—ये सब बातें प्रत्यक्ष हो गयीं। और अब पहले तो उन्हें अपने सखाओंको अघके मुखमें प्रविष्ट होनेसे

रोकना जो है। मानो लीलाप्रवाह क्षणभरके लिये पीछेकी ओर लौट आया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गोपशिशुओंको निवारण करनेका निश्चय किया—

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २५)

स्नेह एवं आर्तिमिश्रित स्वरमें श्रीकृष्णचन्द्र पुकार उठे—

मा विशत मा विशत भो व्यालोऽयं व्यालोऽयमिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'भैयाओ हो! मत घुसो,मत घुसो; यह सर्प है, सर्प है!' किंतु इतनेमें तो शिशु अघके उदरमें प्रविष्ट हो चुके।

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरम्।

और प्रवेश करते ही विषकी ज्वालासे उनकी समस्त इन्द्रियवृत्ति विलुप्त हो गयी, श्रीकृष्णचन्द्रमें आकर एकाकार हो गयी। इस अवस्थामें उनकी पुकारको कोई सुने भी तो कौन सुने।—

आननप्रवेशमात्रेणैव विषज्वालया लयारूढसकलेन्द्रियाः कृष्ण एवासन् कैः श्रोतव्यं तद्वचनम्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस ओर गोशावक एवं गोपशिशुओंके मुखमें प्रविष्ट हो जानेपर भी अघने उन्हें निगल नहीं लिया।

परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः·········

निगले कैसे? वह तो अपने स्वजनोंका वध स्मरणकर प्रतिशोध लेनेकी भावनासे वक-शत्रु श्रीकृष्णचन्द्रके भी अपने मुखमें प्रविष्ट हो जानेकी प्रतीक्षा जो कर रहा है—

·········वकारिवेशनं हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २६)

सबको अभयदान करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र इस घटनाको देख रहे हैं। केवल द्रष्टारूपसे देखभर रहे हों, यह बात नहीं। उन सर्वचिन्ताहारी श्रीहरिको तो इस समय भारी चिन्ता लग रही है। वे सोच रहे हैं—'आह! एकमात्र मैं ही जिनका रक्षक हूँ, वे दीन गोपशिशु मेरे हाथसे निकलकर, मेरे संरक्षणसे बाहर जाकर मृत्युकी जठराग्निमें आहुति बन गये!'—उनके अनन्त, पारावारविहीन कृपासिन्धुको उद्वेलित कर देनेके लिये यह स्पन्दन कम नहीं, बहुत-बहुत पर्याप्त है। सचमुच श्रीकृष्णचन्द्र अपने सहचरोंको इस प्रकार विपन्न देखकर अपनी ही कृपाकी ऊर्मियोंमें बह चलते हैं। साथ ही अनन्त लीलामयको अतिशय विस्मय भी हो रहा है—'ओह! दैवकी कैसी विचित्र लीला है, इन गोपशिशुओंके प्रारब्धकी कितनी विचित्र परिणति है!'

तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान्।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २७)

अखिललोक भय नासक जोई।
लखि बालक बिस्मय कर सोई॥
दैव प्रबल गति कहि जदुनंदा।
निज जन सोच करत सुखकंदा॥
जठरानल कौ ग्रासु, भए बाल-बछरा सकल।
यह बिचारि चित आसु, करुनाकर जान्यौ अहित॥

जो सत्यसंकल्प हैं, जिनके दिव्य चिन्मय मानसतलमें किसी भी संकल्पका उन्मेष होते ही वह तत्क्षण संघटित हो जाता है, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र इस समय अपने सखाओंकी प्राणरक्षाके लिये संकल्प-विकल्पके स्रोतमें बहे-से चले जा रहे हैं। उनके लिये एक समस्या-सी बन गयी है—

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं न वा अमीषां च सतां विहिंसनम्।

'अब करना क्या चाहिये? इस दुष्ट अघका जीवन न रहे और इन सरलमति गोपशिशुओंकी भी हत्या न हो?'

ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्पन्न हों— श्रीकृष्णचन्द्र इस समस्यामें व्यस्त हो रहे हैं। वास्तवमें तो यह भी ऐश्वर्यसम्पुटित लीलाकी एक लहरीमात्र ही है। अन्यथा जो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा हैं, उनके लिये क्या तो उलझन है और क्या सुलझन। जो हो, श्रीहरि— दुष्टोंके प्राणहारी श्रीकृष्णचन्द्र पुनः-पुनः इस प्रश्नपर सम्यक् रीतिसे विचार करते हैं और जब स्वयं अशेषदृग् ही उपाय निर्धारण करने चले हैं, तब उपाय क्यों नहीं मिले ? उनकी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने तो लीलाक्रम निर्धारित कर ही रखा है। श्रीकृष्णचन्द्र, बस, उस क्रमकी ओर देख लेते हैं; उन्हें भी अघके मुखमें प्रविष्ट हो जाना चाहिये, यही अग्रिम क्रम है, यही उपाय है। —श्रीकृष्णचन्द्र यह जान लेते हैं। इसका अनुसरण भी उन्हें करना ही है, वे करते ही हैं। देखते-ही-देखते वे अघासुरको परम अभिलषितका दान करते हुए उसके मुखविवरमें स्वयं भी घुस जाते हैं—

द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य
तज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २८)

करि बिचार सर्बग्य सुजाना। अहि मुख पैठे कृपानिधाना॥
परम पुरुष भक्तन सुखदाता। दीनबंधु सरनागत त्राता॥

अन्तरिक्ष देवोंके हाहाकारसे पूर्ण हो उठता है। देवोंमें यह साहस नहीं कि अघासुरके समक्ष वे स्वतन्त्रभावसे आकाशमें अवस्थित भी हो सकें। इसीलिये वे अपनेको मेघसमूहोंमें छिपाये रखकर ही श्रीकृष्णचन्द्रकी लीला देख रहे थे। पर जब श्रीकृष्णचन्द्र ही अघासुरके ग्रास बन गये, उसके मुखमें प्रविष्ट हो गये, तब फिर अघासुरके हाथ देवजगत्का विनाश अवश्यम्भावी है ही। अमरमण्डल इसलिये ही चीत्कार कर उठा—

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः।

और इधर राक्षस गुप्तचरोंने विद्युत्-वेगसे दौड़कर मधुपुरके अधीश्वर कंसको घटनाकी सूचना दे दी, सपरिकर नन्दपुत्र अघासुरके मुखमें समा गये, यह समाचार क्षणोंमें ही अघके सुहृद् कंस आदि राक्षसवर्गको प्राप्त हो गया। फिर तो मधुपुरका राजसदन राक्षसोंके आनन्द-कोलाहलसे गूँज उठा—

जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २९)

अमरवृन्दका आर्तनाद, असुरवर्गकी आनन्दध्वनि— दोनों ही अघके मुखमें प्रविष्ट श्रीकृष्णचन्द्रके कर्णरन्ध्रोंमें जा पहुँचीं। उन्होंने सब सुन लिया। वे क्यों नहीं सुनते ? जैसे वहाँ उनके समीप काल-व्यवधान नहीं, वैसे देश-व्यवधान भी नहीं। साथ ही वे तो नित्य अव्यय—सर्वथा क्षय-रहित हैं। अघासुरकी विषज्वाला उन्हें दग्ध नहीं कर सकती। वे वहाँ भयानक विषकी अग्निमें भी वैसे ही शीतल-शान्त-अक्षुण्ण बने हैं, अघकी अग्रिम चेष्टाकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हें अधिक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती; क्योंकि उनके मनमें सुरसमुदायके हाहाकार एवं असुरोंकी हर्षध्वनिके क्रमको बदल देनेकी, राक्षसकुलमें चीत्कारका झंझावात एवं विबुधवृन्दमें आनन्दरवका प्रबल प्रवाह प्रवाहित करनेकी इच्छा जाग्रत् हो गयी। इस इच्छाकी ही प्रतिच्छाया मानो अघपर पड़ गयी; वह गोपशिशु, गोशावकोंके सहित श्रीकृष्णचन्द्रको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके अभिप्रायसे अपना मुखविवर संवरण करने चला, नीचे और ऊपरके ओठोंको सटाकर मुख मूँद लेनेके लिये उद्यत हुआ। बस, श्रीकृष्णचन्द्र इसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। फिर तो, उनकी ओरसे भी समयोचित चेष्टा आरम्भ हो गयी। अघके अधरोष्ठ किंचिन्मात्र स्पन्दित होते-न-होते श्रीकृष्णचन्द्रने अत्यन्त स्थूल एवं सुदीर्घ शरीर धारण कर लिया—इतना विशाल शरीर कि अघासुरके गलेका वह प्रकाण्ड छिद्र सर्वथा सब ओरसे अवरुद्ध हो गया। क्षणार्द्ध बीतनेसे भी बहुत पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र सहसा इतने बढ़ गये—

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम्।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३०)

परिणाम यह हुआ कि उस प्रचण्डकाय दैत्यका कण्ठ रुद्ध हो गया, नेत्र बाहर निकल आये। वह अतिशय व्याकुल होकर छटपट करने लगा। श्वास बाहर आनेका मार्ग तो रुक चुका। प्राणवायु शरीरमें ही संचित होने लगी, सम्पूर्ण शरीर वायुपूरित हो उठा। किंतु प्राणोंको तो बाहर निकलना ही है, कोई-न-कोई मार्ग चाहिये ही। अन्तमें उन्हें दशम द्वार ही मिला। अघासुरके प्राण उसके ब्रह्मरन्ध्रका भेदन कर तत्क्षण बाहर निकल गये—

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो
मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३१)

अति दीरघ बपु बढ़े कृपाला। असुर स्वास रुकि गौ तेहि काला॥
भ्रमै प्रान ब्याकुल बिबुधारी। उलटे नयन गिरे भू भारी॥
पवन रह्यौ रुकि, छिद्र न पावा। दसम द्वार छिदि बाहर आवा॥
बल बिपुल उक्खाड़, भुज-अंग जब बाढ़,
खल परिय हिय गाढ़, सहि सकै किमि भार॥
रुकि स्वाँस परचंड, हति तेज उद्दंड,
सिर फूट सत खंड, सठ ह्वै गयौ छार॥

प्राणोंके साथ ही अघासुरकी इन्द्रियाँ भी बाहर आ गयीं—समस्त इन्द्रिय-शक्ति विलुप्त हो गयी। यह हो चुकनेके अनन्तर व्रजेन्द्रचन्द्रकी मधुस्निग्ध दृष्टि मृतप्राय शिशुओंपर, गोशावकोंपर पड़ी। उस अमृतवर्षिणी दृष्टिके स्पर्शमात्रकी देर थी, शिशु एवं गोशावकोंमें नवजीवन संचारित हो गया। अब श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ क्यों रुकें? सबको साथ लिये वे मुखविवरके द्वारसे बाहर चले आये—

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३२)

इस प्रकार अत्यन्त अधम अघदैत्यका उद्धार हुआ। उसे क्या गति मिली, उसकी चरम परिणति कैसी हुई—यह भी उसी क्षण स्पष्ट हो गया। उस महास्थूल सर्प-कलेवरसे एक परम अद्भुत, परमोज्ज्वल ज्योति निर्गत हुई थी। अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको आलोकित करती हुई, श्रीकृष्णचन्द्रके बाहर आ जानेकी प्रतीक्षा लिये, आकाशमें ही वह अवस्थित रही तथा जैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र बाहर आये, वैसे ही वह उनके महामरकतश्यामल श्रीअङ्गोंमें विलीन हो गयी। किसी गुप्त—अस्पष्ट रूपसे नहीं, समस्त स्वर्वासी देवोंके प्रत्यक्ष देखते हुए ही—

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद् दिशो दश।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३३)

निकसि ज्योति अंबर में गई। दामिनि-सी फिरि ठाढ़ी भई॥
जब लगि नंद-सुवन गोबिंद। बछरा अरु व्रज-बालक-बृंद॥
अमृत-दृष्टि करि सींचि जिवाई। लै आए बाहिर इहि भाई॥
तब लौं रही गगन में जोति। सब दिसि जगमग-जगमग होति॥
उलका ज्यौं तहँ तैं उलटानी। आनँद भरि हरि माँझ समानी॥

अघासुरके पूर्वजन्मका वृत्तान्त; अघासुरके वधपर देववर्गके द्वारा श्रीकृष्णका अभिनन्दन

एक दिन यही अघदैत्य शङ्खासुरका पुत्र था, देखनेमें अत्यन्त सुन्दर था। कामदेव-जैसी शोभा इसके अङ्गोंसे झरती रहती थी। पर था यह अतिशय अभिमानी। रूपके गर्वने इसे अंधा बना दिया था। बाह्य सौन्दर्यके अभावमें भी कोई आदरणीय, वन्दनीय हो सकता है—यह विवेकशक्ति यौवनके उन्मादने हर ली थी। ऐसे रूपमदोद्धत युवक असुरको अष्टावक्र मुनिकी आकृति देखकर हँसी न आवे, यह भी कभी सम्भव है? मुनिपर दृष्टि पड़ते ही वह हँस पड़ा। उसकी विकट हँसी मलयाचलशृङ्गोंमें प्रतिनादित हो उठी—मानो चन्दनवनसे नित्य शीतल मलयगिरिके अन्तस्तलमें भी इस महदपराधसे रोषका आविर्भाव हो गया हो और वह महीधर गरज उठा हो! अष्टावक्रका ध्यान तो उस ओर था ही नहीं, वे तो अपनी धुनमें अपने टेढ़े-मेढ़े शरीरकी स्वाभाविक वङ्किम गतिसे नीची दृष्टि किये चलते जा रहे थे। सहसा कानोंमें घृणाभरी ध्वनि आयी—'अरे, यह महाकुरूप है!' फिर तो मुनिके नेत्र ऊपर उठ गये। इस उक्तिका लक्ष्य कौन है, यह समझते उन्हें देर नहीं लगी। उनकी आँखें लाल हो आयीं। उन-जैसे वीतराग मुनिजनोंमें भी क्रोधका अवकाश है, यह कल्पना नितान्त निरर्थक है। उनका यह क्षोभ तो स्वयंभगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने सुदूर भविष्यकी भगवदीय लीलाका आयोजन करने जाकर मुनिके मनको अपना यन्त्र बना लिया—इसका एक निदर्शनमात्र है। जो हो, अन्तरका यह रोष वाग्वज्र बनकर बाहर निकला। मुनिश्रेष्ठ अष्टावक्र बोल उठे—

......................त्वं सर्पो भव दुर्मते।
कुरूपा वक्रगा जातिः सर्पाणां भूमिमण्डले॥

'रे दुष्टबुद्धि, जा, सर्प बन जा। भूमण्डलपर सर्पोंकी जाति ही कुरूप एवं कुटिल गतिवाली होती है।'

शङ्खासुर-तनयके रूपगर्वको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इतना पर्याप्त था। तत्क्षण ही वह मुनिके चरणोंमें लोट गया। अब अग्रिम कृपाप्रसाद प्राप्त होनेमें विलम्ब क्यों हो? अष्टावक्रने प्रच्छन्न अनुग्रहकी सूचना दे दी—'जिस दिन कोटिकंदर्पलावण्य श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारी उदरदरीमें प्रवेश करेंगे, उस दिन तुम्हारी सर्पयोनि छूट जायगी।'

कोटिकंदर्पलावण्यः श्रीकृष्णस्तु तवोदरे।
यदा गच्छेत् सर्परूपात्तदा मुक्तिर्भविष्यति॥

इस प्रकार शङ्खासुर-पुत्रके सर्पकलेवरका आरम्भ हुआ। पर आगे चलकर किसी अचिन्त्य कारणवश पुनः उसमें असुरोंकी मायाशक्ति जाग्रत् हो उठी, यथेच्छ रूप धारण करनेकी क्षमता आ गयी और अघ दैत्यके रूपमें वह कंसका विशिष्ट परिकर बना। अवश्य ही सर्पाभिनिवेश उसमें निरन्तर जाग्रत् रहा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं; अतीतकी घटनाको वह सर्वथा भूल चुका था। मुनिके शापकी, वरदानकी उसे विस्मृति हो गयी थी। नामके अनुरूप ही चेष्टाशील होकर वह अघासुर अपने पापोंका घड़ा भर रहा था और अन्तमें तो अपने त्राताको ही सदलबल वह मुखका ग्रास बना बैठा। फिर भी परिणाम जितना सुन्दर हुआ, उसका तो कहना ही क्या है—

मुनि-दुर्लभ गति दीन, प्रभु परसे कौ फल मिल्यौ।

मुनिकी बात मिथ्या होनेकी ही नहीं थी, सत्य होकर ही रही। अस्तु,

जब श्रीकृष्णचन्द्र अघासुरके मुखसे बाहर निकल आये, फिर तो देववर्गके आनन्दका क्या कहना है! अपना इतना महान् कार्य करनेवाले—अघ-जैसे दैत्यका विनाश कर अभयदान देनेवालेके प्रति उन

अन्तरिक्षवासियोंका हृदय न्योछावर हो गया। उनके अन्तरका भाव-प्रवाह विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होने लगा। आनन्दविह्वल हुए देववृन्दने नन्दनकाननके अतिशय सुरभित कुसुमोंकी अञ्जलि भर-भरकर अजस्र सुमन-वृष्टि आरम्भ की। अप्सराएँ छम-छम करती नृत्य करने लगीं। गन्धर्वोंके सुमधुर कण्ठकी स्वरलहरी, विद्याधरोंके वाद्ययन्त्रकी मनोहारिणी झंकृति सर्वत्र परिव्याप्त हो उठी। विप्रकुलका भक्तिपूरित स्तवन, भगवत्पार्षदोंका 'जय-जय' निनाद गगनके कण-कणको मुखरित करने लगा। जिनके पास जो वस्तु थी, जो कला थी, उसकी भेंट समर्पित कर वे श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने लगे—

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३४)

लखि प्रभु चरित देव हरषाने।
बरषि सुमन हिय अति सुख माने॥
गान करहिं गंधर्ब प्रबीने।
अप्सर करहिं नृत्य रस-भीने॥
बिबिध भाँति के बजे बधाए।
द्विजबर करत विनय मन लाए॥
संख-सब्द, जय-सब्द अनेका।
दुंदुभि सुघर एक तें एका॥

भेरीका 'भम्-भम्' रव, पटहपर निरन्तर आघातजनित घोर शब्द, डिण्डिमका अति प्रचण्ड घोष, अविरल दुन्दुभिनाद, गन्धर्व-विद्याधर-किंनर प्रभृतिका सम्मिलित गान, ऋषियोंका स्तोत्रपाठ—ये सभी परस्पर ऐसे मिल गये कि कुछ क्षण तो देवसमुदायकी श्रोत्रशक्ति अन्य किसी भी शब्दको ग्रहण करनेमें सर्वथा कुण्ठित हो गयी—

भेरीभांकाररावैः पटुपटहघनाघातसंघातघोरै-
रुच्चण्डैर्डिण्डिमानां ध्वनिभिरविरलैर्दुन्दुभीनां प्रणादैः।
गानैर्गन्धर्वविद्याधरतुरगमुखप्रेयसीनां मुनीनां स्तोत्रैः
शब्दान्तरेषु क्षणमिव बधिराः स्वर्गिणस्तेबभूवुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच अमरनगरी मानो इस प्रमोद-प्रवाहमें निमग्न होकर मत्त हो उठी—

मत्तेवासीदमरनगरी सागरीयप्रमोदैः।

अमरावतीका यह आनन्दोच्छ्वास जनलोक, महर्लोक, तपोलोकको मुखरित करते हुए सत्यलोकको स्पर्श करने लगा। जगत्स्रष्टा पितामहकी सृजन-समाधि टूटी। आठों कर्णरन्ध्र देवोंके इस तुमुल आनन्द-कोलाहलसे पूर्ण हो उठे। पितामहके आश्चर्यका पार नहीं। अकस्मात् विबुधवृन्दकी इस आनन्दद्रुतिके कारणका अनुसंधान पानेके लिये वे चञ्चल हो उठे। परम अद्भुत स्तव-पाठ, सुमनोहर वाद्यवादन, रमणीय सङ्गीत-स्वर, जय-जयका विपुल नाद—इन सबसे सब ओर सम्पुटित महामहोत्सव एवं मङ्गलध्वनि, तथा यह भी अपने धामके अत्यन्त संनिकट देशमें ही हो—फिर पद्मयोनि स्थिर कैसे बैठे रहें। वे तुरंत वहाँसे नीचे उतर आये, सबसे अलक्षित रहकर ही नीचे उतरे; पर आ पहुँचे वहीं, उसी आकाशमें, जहाँ—जिसके अञ्चलमें वृन्दाविपिनविहारीके अघासुर-उद्धारका कौतुक अभी-अभी सम्पन्न हो चुका है। आते ही स्रष्टाको कारण ज्ञात हो जाता है तथा स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी ऐसी महिमा प्रत्यक्ष निहारकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती—

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान्।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३५)

अत्यन्त कलुषपूर्ण महाघृणित जीवन बितानेवाले, एकमात्र परपीड़नका ही व्रत निभानेवाले अघासुरको ऐसी योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति मिली! क्षणोंमें ही तो उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु श्रीचरणोंका स्पर्श प्राप्त हो गया, समस्त कल्मषराशि ध्वस्त हो गयी और अभक्तोंके लिये सुदुर्लभ सौभाग्य—भगवत्सारूप्य

गतिकी प्राप्ति हो गयी! किसे विस्मय नहीं होगा? पर वास्तवमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं। जो सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वावतारावतारी हैं, उन स्वयंभगवान् नरबालकलीला श्रीकृष्णचन्द्रके लिये ऐसी अयाचित कृपाका दान सर्वथा सम्भव है—

नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३८)

जिनके श्रीविग्रहकी मानस-प्रतिमाको ही केवल एक बार क्षणकालमात्रके लिये हृदयमें धारण कर लेनेके कारण न जाने कितनोंको परमभक्तजनोचित गतिकी प्राप्ति हो चुकी है, जिनकी मानसिक मूर्तिमें—अपनी भावनासे कल्पित, ध्यानपथमें क्षणमात्रके लिये उतरी हुई प्रतिकृतिमें ही ऐसी सुदुर्लभ गति दे देनेकी सामर्थ्य है, वे श्रीकृष्णचन्द्र, नित्यसिद्ध परमानन्दघनविग्रह व्रजेन्द्रनन्दन, स्वरूपानन्दास्वादन-परायण मायातीत श्रीहरि जब स्वयं उस अघासुरके मुखविवरमें प्रविष्ट हो गये तब फिर अवशिष्ट ही क्या रहा? स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रको ही मुखमें धारण करनेवाले अघको यदि ऐसी परम सुन्दर गति मिले तो इसमें क्या आश्चर्य है? कुछ भी विचित्रता नहीं—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३९)

जो अखिलेस, परावर स्वामी।
सकल-नियंता, अंतरजामी॥
माया-मनुज, तोक-तनुधारी।
कर्‍यौ कर्म निज जन हितकारी॥
नहिं आचरज मानियहु कबहूँ।
भयौ अघासुर पावन अजहूँ॥
महा अघी, पाँवर सब भाँती।
परसि अंग लहि सुगति सुहाती॥
प्रतिमा जासु मनोमइ कोऊ।
ध्यान करै कैसौ किन होऊ॥
लहै सुगति सो बिनहिं प्रयासा।
कंचन बपु सुत से अनयासा॥
सदा नित्य सुख प्रभु भगवंता।
सो प्रख्यात तोक श्रीकंता॥
तासु अंग परसत भा पावन।
महा अघी यह देव-सतावन॥
तौ आचरज कहा एहि माहीं।
नाम लेत अघ कोटि नसाहीं॥

और तो क्या, अघका वह महामलिन शरीर भी व्रजराजनन्दनकी सेवाका उपकरण बना। ऋषि-महर्षि केवल क्षणभरके लिये ध्यानपथमें ही जिनकी चरणरजकणिकाका स्पर्श पानेके लिये लालायित रहते हैं, वे श्रीकृष्णचन्द्र अघके उस सर्पकलेवरमें बहुत दिनोंतक सखाओंके साथ क्रीड़ा करते रहे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणप्रिय सखाओंके खेलनेके लिये वह सर्प-शरीर शुष्क होकर गुफा-सा बन गया, वृन्दावनमें उन शिशुओंको विहारके उपयुक्त मानो एक परम सुन्दर अद्भुत गिरिकन्दरा प्राप्त हो गयी—

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३६)

हे नृप अजगर चर्म सुखाना।
ब्रज-बालन कहँ खेल-सुथाना॥
क्रीडा हेतु महा बिल मानी।
खेलहिं बालक अति सुख मानी॥

किंतु सर्पगुफाकी क्रीड़ा आज अभी आरम्भ नहीं हुई। यह तो आजसे एक वर्षके अनन्तर आरम्भ होगी। ऐसी क्रीड़ा तभी सम्भव है, जब श्रीकृष्णचन्द्रके सखा उनके साथमें हों। पर सखामण्डली तो आज अभी कुछ घड़ीके अनन्तर ही ठीक एक वर्षके लिये विश्राम करेगी, वर्षव्यापी निद्रासुखका अनुभव करने जायगी, सदाकी भाँति आज संध्या-समय शिशुओंका

व्रजप्रवेश नहीं होगा, अघासुर-उद्धारकी इतनी बड़ी घटनाकी गन्धतक किसी भी व्रजगोप, गोपसुन्दरीको एक वर्षके लिये न मिलेगी। गोपशिशु श्रीकृष्णचन्द्रकी इस कौमारलीला—अघमोक्षणकी चर्चा व्रजमें करेंगे अवश्य, पर करेंगे उस समय जब बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी आयुका पौगण्डकाल आयेगा। आजकी घटित घटनाको वे सब एक वर्षके पश्चात् व्रजमें जाकर सुनायेंगे और ऐसे सुनायेंगे मानो उस दिन ही—अभी-अभी अघका विनाश हुआ हो, आज ही अघको सदाके लिये विदा कर वे सब संध्यासमय व्रज लौटे हों, इतनी नवीन घटना हो—

एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३७)

यह कुमार-वय-कृत हरि-करमा।
अहि-मोचन रक्षन जन धरमा॥
कृत कुमार-वय कर्म सब अहि-मोचन प्रभु कीन।
सो पौगंड बिषै कही लरिकन्ह अबहिं नवीन॥

इसी एक वर्षमें—श्रीकृष्णचन्द्रके कौमार-पौगण्डके मध्यकालमें विश्वको चमत्कृत कर देनेवाली ब्रह्ममोहनलीला होगी और अब उसीकी प्रस्तावना करने श्रीकृष्णचन्द्र तरणितनया श्रीयमुनाके प्रवाहकी ओर चल पड़ते हैं। इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रके स्तवनसे—ऐश्वर्य-कीर्तनसे अपने-आपको कृतार्थ कर लेनेके लिये गिराधिदेवी गोपशिशुओंके कण्ठका आश्रय ग्रहण करती हैं, अपनी अमित शक्ति वहाँ भर देती हैं। पर शिशुओंके अन्तस्तलसे अनर्गल प्रवाहित सख्यरसकी प्रबल धारामें सुरसुन्दरीके भाव कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। वे सब तो अपनी धुनमें अपने भावसे अपने कोटि-कोटि-प्राणप्रतिम सखा कन्हैया भैयाके बल-वीर्यकी प्रशंसा करना चाहते हैं, कर रहे हैं, करते अघाते नहीं और सरस्वती उनके गीति-प्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य बिखेरने लगती हैं। इसीलिये रह-रहकर बालकोंके मुखसे रससिक्त ऐश्वर्यकणके कुछ छींटे भी गिर ही जाते हैं। शिशु ही तो ठहरे। वे सब कितनी बार देख चुके हैं, जननी यशोदाके समक्ष उनकी माताएँ किस भाँति उनके नीलमणिकी प्रशंसा करती हैं! उस प्रणालीका अनुकरण तो इनके लिये स्वाभाविक है, वे करेंगे ही और वहीं हंसवाहिनीको अवकाश भी मिल ही जाता है। जो हो, परमानन्दमें विभोर, श्रीयमुनाकी ओर अग्रसर होते हुए बालक अपने कन्हैया भैयाकी कीर्ति एक-दूसरेको सुना रहे हैं—

धन्य कान्ह, धनि नंद, धन्य जसुमति महतारी।
धन्य लियौ अवतार, कोखि धनि जहँ दैतारी॥
गिरि-समान तन अगम अति, पंनगकी अनुहारि।
हम देखत पल एक में मार्‍यौ दनुज प्रचारि॥

और श्रीकृष्णचन्द्र? ओह! जय हो लीलामयकी लीलाकी! वे तो अघासुर-विजयका सम्पूर्ण श्रेय अपने सखाओंको ही देते जा रहे हैं—

हरि हँसि बोले बैन, संग जौ तुम नहिं होते।
तुम सब कियौ सहाइ, भयौ तब कारज मोंते॥

गोप-बालकोंके साथ श्रीकृष्णका वन-भोजन तथा भोजनके साथ-साथ मधुरातिमधुर कौतुक एवं कौशलपूर्ण विनोद

गोप-शिशुओंके प्रेमिल स्तवनका विराम हुआ। मानो गिराधिदेवी सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐश्वर्यसिन्धुमें एवं शिशुओंके कण-कणसे प्रसरित सख्यरसके निराविल चञ्चल प्रवाहमें अवगाहनकर अपनी शक्तिभर ऐश्वर्यकण, रस-सीकर उलीचकर परिश्रान्त हो गयीं; सिन्धुको, रसप्रवाहको सर्वथा सब ओरसे अपरिसीम अनुभव कर, इनकी थाह पानेकी आशा छोड़, तटपर उठ आयीं, इस प्रकार बालकोंने अपने कन्हैया भैयाके यशोगानका उपसंहार किया। अब वहाँ बच रही केवल सख्यभावकी सहज स्निग्ध शान्त धारा, जिसमें श्रीकृष्णचन्द्रके अमित ऐश्वर्यका एक कण भी खप नहीं सकता। इसकी गन्ध भी वहाँ नहीं मिल सकती। इसीलिये बालकोंकी भावभङ्गी, उनकी प्रश्नावली, परस्परका उत्तर-प्रत्युत्तर—ये सब भी बदल गये। एक शिशुने पूछ ही तो लिया—'अरे भैया कन्हैया! हमलोग तो खेलते-खेलते अत्यन्त भीषण विषकी ज्वालामें भस्म हो चुके थे। बता तो सही, तुमने कैसे जिला दिया?' तथा सखा श्रीकृष्णचन्द्रने भी प्रश्नके अनुरूप ही उत्तर दिया। वे आश्चर्यकी मुद्रामें बोले—

स च सचमत्कारं तानगददगददक्षोऽस्मि विषस्य। येनागदेन नागदेन गन्धमात्रादेव गतासवोऽवगतासवोत्सवा इव समुल्लसितजीवना भवन्तीति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देखो भैयाओ! मैं विषकी ओषधि जाननेमें बड़ा ही निपुण हूँ। मेरे पास ऐसी ओषधि है कि उससे सर्प चूर्ण-विचूर्ण हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है; जो निष्प्राण हो चुके हैं, वे भी उस ओषधिके घ्राणमात्रसे ही मधुपानका सुख अनुभव करनेवाले व्यक्तिकी भाँति परम उल्लासपूर्ण नवजीवन प्राप्त कर लेते हैं।'

श्रीकृष्णचन्द्रके इस उत्तरमें किन-किन निगूढ़ भावोंका समावेश है—इसे, भोले-भाले शिशु क्या जानें? उनके पास क्रान्तदर्शी ऋषियोंका हृदय तो है नहीं कि वे अपने सखाकी प्रत्येक उक्तिका गूढार्थ ढूँढ़ने जायँ। उन्हें कल्पना ही नहीं हो सकती कि अघासुर-जैसे सर्पकी तो बात ही क्या, संसाररूप महासर्पसे डँसे हुए, सर्वथा निश्चेष्ट हुए प्राणियोंके लिये भी उनके इन्हीं कन्हैया भैयाका नाम ही महौषध है, 'कृष्ण' नामकी पीयूषधारा किसी प्रकार कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाय, फिर तो संसार-सर्पका विष उतरते देर नहीं लगती; मुग्धता, मोह, मायाजन्य जडता नष्ट होकर ही रहेगी; आत्मस्वरूपकी स्मृति हो ही जायगी; अनादि-संसरणसे मुक्ति मिल ही जायगी—

संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः॥

वे सरल-मति बालक कभी सोच ही नहीं सकते कि ऐसे सत्य सिद्धान्तोंका संकेत भी उनके कन्हैया भैयाके इन्हीं शब्दोंमें भरा है। उनके अन्तस्तलमें तो निरन्तर विशुद्ध सख्यभावका अनन्त पारावारविहीन सागर हिलोरें ले रहा है। उनकी प्रत्येक चेष्टाकी ओटसे, उनके अणु-अणुसे इस सागरकी लहरें ही निर्झर बनकर झरती रहती हैं, क्षण-क्षणमें एक-से-एक सुन्दर स्रोत बहता रहता है। कदाचित् अवसर-विशेषपर—जैसे अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व हो चुका है—किसी अचिन्त्य प्रेरणावश उनके मानस-तलमें उनके सखा श्रीकृष्णचन्द्रके अमित ऐश्वर्यका यत्किञ्चित् स्फुरण हुआ भी, ऐश्वर्य-भावोंकी बूँदें बाहर आयीं भी तो उनके टिकनेका स्थान नहीं; क्योंकि देखते-देखते ही, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर उनकी दृष्टि पड़ते ही एक नवीन झोंका आया, विशुद्ध सख्यकी एक अतिशय प्रबल लहर बाहर आयी और उसने इन विजातीय ऐश्वर्यके भावोंको न जाने कहाँ-से-कहाँ—अत्यन्त दूर फेंक दिया। इसीलिये गोपशिशुओंने तो सचमुच यही समझा कि उनके कन्हैया भैया विषकी

अद्भुत महौषधि जानते हैं, उसीके प्रभावसे अघासुरका सिर फट गया। इस भावनाने उनके रोम-रोमको प्रफुल्लित कर दिया। वे सब आनन्दमें भरकर, एक-दूसरेको हृदयसे लगाकर कहने लगे—

भो भो भ्रातरस्तदैव दैवज्ञा इव वयमवोचाम
वकमिवामुमयं निहनिष्यतीति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैयाओ! हमलोगोंने तो ज्योतिषीकी भाँति तभी—पहलेसे ही कह दिया था कि यह इसे वकासुरकी तरह मार डालेगा।'

अस्तु, अब यहाँसे आगे कलिन्दनन्दिनीका निर्मल प्रवाह दीखने लग जाता है। श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्स एवं सखामण्डलीको साथ लिये पुलिनकी सीमामें आ पहुँचे हैं। आते ही एक अप्रतिम उत्साहकी लहर उनके नित्य-नवसुन्दर मुखचन्द्रको अलंकृत करने लगती है और वे सखाओंके सामने अपने अग्रिम कार्यक्रमका प्रस्ताव करने चलते हैं —

सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत्।

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४)

संग सखा बच्छा लिऐं, पहुँचे जमुना कूल।
देखत बन-सोभा घनी, खेलत तन मन फूल॥

यमुनापुलिनकी शोभाकी ओर अपने सखाओंका ध्यान आकर्षित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कहने लग जाते हैं—'अहा! भैयाओ! देखो तो सही, यह पुलिन कितना मनोरम है! हमलोगोंकी स्वच्छन्द क्रीड़ाके उपयुक्त सभी वस्तुएँ यहाँ प्रस्तुत हैं। अरे, देखो, मध्यमें तो कर्पूरधवल बालुका-राशिका आस्तरण बिछ रहा है और उधर स्थान-स्थानपर वर्षावारिसे परिपूर्ण जलाशय अपने वक्षःस्थलको प्रस्फुटित पद्मसमूहोंसे आच्छादित कर हँस-से रहे हैं। इतना ही नहीं—देखो, देखो, आनन्दपूरित हृदयसे ये सरोवर मानो संगीतका स्वर अलाप रहे हों। सरोज-कुसुमोंके परिमलसे सुवासित पवनका स्पर्श पाकर राशि-राशि भ्रमरावलियाँ आकृष्ट हो गयी हैं, गुंजार कर रही हैं। यह अलिगुञ्जन, यह झंकृति सरोवरकी स्वरलहरी ही तो है! जलाशयके सुवाससे खिंचकर आये हुए अगणित विहंगमोंका दल कितने मधुर कण्ठसे कूजन कर रहा है! यह भी इनका संगीत ही तो है और फिर देखो। पुलिनको आवृत-सा किये नव-पत्र-मण्डित, फल-पुष्पभारसे अवनत हुई सघन तरुश्रेणीकी शोभा! भ्रमर-झंकारसे, पक्षियोंके सुमधुर कलरवसे प्रतिनादित यह श्रेणीबद्ध वृक्षावली मानो हमारा आह्वान कर रही है—नहीं-नहीं, अपने गृहपर आये अतिथियोंका अभिनन्दन कर रही है। भैयाओ! सचमुच सभी दृष्टियोंसे यह पुलिनभूमि अत्यन्त रमणीय है!

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम्।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५)

अहो सखा! यह पुलिन सुहावन।
अति रमनीय, सुखद अरु पावन॥
स्वच्छ बालुका, बिसद तलावा।
सुभग बारि मुनि-मनहि चोरावा॥
बिकसे कंज पुंज अलि श्रेनी।
कूजहिं द्विज सब श्रुति सुख देनी॥
ता करि बसीभूत नभगामी।
बोलत प्रतिधुनि रुचि हिय कामी॥
ता धुनि तैं तरु सोभित भारी।
सीतल छाँह पथिक-मन-हारी॥

× × ×

कालिंदी कें रही है तट छहरि छटा नीर कल्लोल ही की।
फूली-फूली महा है वह पुलिन लसै मालती चारु नीकी॥
दौरैं-दौरैं भ्रमैं औ मधुप मधु-रसी गुंज गुंजार साजैं।
सीरी-सीरी चलै है पवन परसती माकरंदै बिराजै॥
झुमड़े द्रुम अभिरे लतनि, भरे कुसुम के भार।
देखौ सिसु मम मित्र हो, यह बन सुख कौ सार॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रने मध्याह्न-भोजनका प्रस्ताव रखनेकी भूमिका बनायी। राजभोगके सभी उपकरण यहाँ इस सरित्पुलिनपर एक ही साथ प्राप्त जो हो

गये। कालिन्दीका, सरोवरका निर्मल, सुरभित, शीतल जल, तीरदेशकी सघन वृक्षच्छाया, भोजनपात्रके लिये सरोवरके असंख्य पद्मपत्र, भोजनकालीन धूपसौरभके स्थानपर सुस्निग्ध पद्मगन्ध, उस समय मनोरञ्जनके लिये आयोजित संगीतके स्थानपर भ्रमरगुञ्जन, विहंग-कूजन, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनका व्यजन (पंखा)— इतनी सामग्री पुलिनने दे दी। और चाहिये ही क्या—

स्फुटत्सरोगन्धेति भोजनापेक्ष्यं धूपवत्सौगन्ध्यम् × × × तथा गीतमिव भ्रमरादिध्वनिविलासो भोजनपात्रं च पद्मपत्रादिकं सुवासितशीतलाच्छजलं च शरत्तापनिवारणाय घनवृक्षच्छाया चेति सुखभोजनसामग्री दर्शिता × × ×।

(श्रीवैष्णवतोषिणी)

अस्तु, व्रजेन्द्रनन्दनने अब बात स्पष्ट कर देनी चाही। प्रत्येक गोपशिशुके नेत्रोंसे उनके नेत्र जा मिले और फिर मधुस्रावी कण्ठसे वे बोले—'भैयाओ! अब तो हमलोग यहीं भोजन कर लें; क्योंकि भोजनवेला अतीतप्राय हो चुकी है। इतना अधिक विलम्ब हो चुका है। साथ ही क्षुधासे भी हमलोग पीड़ित हो रहे हैं। यहाँ सब प्रकारकी सुविधा है। सामने रही यमुनाकी जलधारा। यहाँ तो गोवत्स जलपान कर लें और फिर देखो, अत्यन्त समीपमें ही है यह हरिततृणपूर्ण सुविस्तृत भूमि। अहा, सुकोमल श्यामल तृणोंकी लहर-सी उठ रही है। जल पिलाकर वहीं गोवत्सोंको छोड़ दो। वे इस तृणभूमिपर धीरे-धीरे विचरण करें—

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६)

अहो सखा! सब मिलि एहि ठामा।
भोजन करहु बैठि सुखधामा॥
भइ बड़ि बेर, काल चलि गएऊ।
छुधा-तृषा बाधित सब भएऊ॥
बछरन प्याइ नीर सुठि नीकौ।
निकट चरहिं तृन भावत जीकौ॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी इच्छा ही गोपशिशुओंकी इच्छा जो ठहरी। और फिर आज तो अतिकाल हो चुका है। अतः प्रस्तावका परम उल्लासपूर्ण समर्थन हो, इसमें तो कहना ही क्या है! बस, दूसरे ही क्षण 'हीओ-हीओ' नादसे पुलिन मुखरित होने लगता है। असंख्य गोवत्स यमुनाप्रवाहके समीप हाँक दिये जाते हैं तथा जिस समय पङ्क्तिबद्ध होकर वे जल पीने लगते हैं, उस समयकी शोभा देखने ही योग्य है। मानो मन्दाकिनी रविनन्दिनीसे संगमित हो गयी हों। जो हो, बालक उन्हें जलसे पूर्णतया आप्यायितकर पूर्वनिर्दिष्ट स्थानपर, उसी हरित तृणभूमिपर ले जाते हैं; वहाँ उनकी रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर देते हैं कि वे भाग न सकें। जब इतना हो जाता है तब सभी शिशु अपने-अपने छीकोंको खोलते हैं तथा अतिशय आनन्दमें भरकर श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भोजन करने चलते हैं—

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ७)

सखन प्याइ बछरन कौं नीरा।
हरित सुभग तृन जमुना-तीरा॥
तहाँ चरन बछरा जब लागे।
तब सब मिलि भोजन अनुरागे॥

मानो पद्मका एक प्रफुल्ल बीजकोश हो, इस बीजकोशके चारों ओर मण्डलाकार श्रेणीबद्ध पद्मदल हों—इस प्रकार अपने सखा श्रीकृष्णचन्द्रको वेष्टितकर गोपशिशुओंने आसन ग्रहण किया। पहले श्रीदाम, सुबल आदि शिशुओंकी एक पङ्क्ति अपने सखाको घेरकर बैठ जाती है। इसके अनन्तर अपेक्षाकृत बृहत् दूसरी पङ्क्ति पहलीको मण्डलाकारमें ही घेर लेती है। तीसरी पङ्क्ति दूसरीकी अपेक्षा भी बृहत्तर होती है और पूर्वकी भाँति वह दूसरीको आवृत कर लेती है। चौथी तीसरे दलसे बड़ी, पाँचवीं चौथेसे अधिक बृहत्—इस क्रमसे असंख्य गोपशिशुओंने असंख्य मण्डलाकार पङ्क्तियोंकी रचना कर श्रीकृष्णचन्द्रको वेष्टित करते हुए अपने-

अपने आसन लगाये। शिशुओंकी वेश-भूषा भी संयोगसे ऐसी है मानो सचमुच विभिन्न वर्णकी पद्मदलराशि ही एकत्र हो गयी हो। व्रजेन्द्रनन्दनको आवृत करनेवाली प्रथम पङ्क्ति पीतवर्णकी हो गयी। द्वितीयकी आभा रक्तवर्ण-सी हुई। तृतीयने श्यामवर्णकी शोभा धारण की तथा चतुर्थ पङ्क्तिसे हरिद्वर्णकी छटा प्रसरित हो उठी। इस क्रमसे असंख्य पङ्क्तियोंका एक निराला सौन्दर्य वाग्वादिनीके लिये भी अवर्णनीय बन गया। प्रत्येक शिशुका मुख भी अपने प्राणोंके प्राण कन्हैया भैयाकी ओर ही है तथा प्राकृत दृष्टिसे महान् आश्चर्य—किंतु अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें प्रणत, उनकी नखचन्द्रिकासे आलोकित नेत्रोंके लिये सर्वथा सम्भव—घटना यह है कि व्रजराजनन्दनका मुखपद्म भी प्रत्येक शिशुकी ओर ही है। प्रत्येकको ही यह अभ्रान्त अनुभूति है—'मेरा कन्हैया भैया सर्वथा मेरी ओर ही दृष्टि किये, स्नेह-सौहार्दकी अजस्र धारा बहाते हुए अवस्थित है।' ऐसी अवस्थामें उनके आनन्दकी थाह कौन पाये? बस, इतना ही कहना सम्भव है—उत्फुल्लनेत्र हुए वे असंख्य गोपशिशु अपने कोटिप्राणप्रतिम सखाको निहार रहे हैं एवं उनके सखाकी दृष्टि भी एकमात्र उन्हींकी ओर केन्द्रित हो रही है। जो हो, इस प्रकार असंख्य सखाओंसे परिवेष्टित होकर भोजनके लिये आसन ग्रहण किये हुए श्रीकृष्णचन्द्र यमुनापुलिनके उस वनमें विराजित हो रहे हैं—

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ८)

बैठे जो बीच कृपाल, सुंदर सखा चहुँ दिसि भ्राजहीं।
जिमि कमल मध्य सुकर्निका सुभ पत्र चहुँ दिसि छाजहीं॥

× × ×

मंडल करि बैठे ब्रजबाल, मध्य बने तहँ मोहनलाल।
सोहत सब तैं सन्मुख ऐसें, कमलके बीच करनिका जैसें॥
चहुँ दिसि बाल-मंडली बैसी, नखत बिसाखा होति है जैसी।
तिनि मधि स्याम सुभग सोहत यों, राकानिसि राकेस लसै ज्यों॥

× × ×

जनु चहुँ दिसि मुक्तामनि रचीं, मधि गुपाल मरकत मनि खचीं।
रबिजा कर मुद्रिका दिखाई, यह ताकौं जगमगत जराई॥

आज सखाओंके भोजनपात्र भी निराले ही हैं। कतिपय शिशुओंने सुन्दर सौरभशाली कुसुमोंके दल एकत्र किये और उन्हींको एक साथ संघटितकर अपने लिये भोजनपात्रका निर्माण किया है। कुछने पद्मपत्र आदिको लेकर अपने थालकी रचना की है। एक समुदायने वृक्षके सुकोमल पत्रोंको जोड़कर पात्र बनाये हैं। एक वर्गने पल्लवके अग्रभागमें स्थित सुकोमल अङ्कुरोंको एकत्रकर उनसे पात्र प्रस्तुत कर लिये हैं। एक दलने विभिन्न फलोंके द्वारा फलोंको ही परस्पर जोड़कर पात्रका रूप दे दिया है। कुछ शिशुओंने वृक्षोंके मूल अंशोंको लेकर उन्हें संनद्ध करते हुए भोजन-थाल बनाये हैं। कितनोंने भोजपत्र आदि वृक्षवल्कलोंको लेकर अपनी थाली बनायी है। एक शिशुसमूहने तो सुचिक्कण विविध-वर्ण प्रक्षालित प्रस्तरखण्डोंको ही उठाकर अपने सामने पात्रके रूपमें रख लिया है। इस भाँति अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सबने अपने लिये भोजनपात्रकी योजना की है और सखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भोजन करने चले हैं—

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः।
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ९)

कोउक पुष्प कोउ तासु दल, कोउक पत्र फल माहिं।
भाजन करि जेवन लगे अपर उपल चित चाहिं॥

× × ×

भाजन बिबिध गुवालन बने,
फल दल सिल बलकल अति घने।

अब भोजन-सामग्री वितरण होनेकी क्रिया आरम्भ होने चली। श्रीकृष्णचन्द्रका चिरपरिचित अमृतस्यन्दी स्वर पुनः गूँज उठा—

भो भो भो भो उज्ज्वलनिष्का
निष्कासयत भक्ष्यसामग्रीमग्रीयामिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो, समुज्ज्वल पदक धारण करनेवाले मेरे बन्धुगणो! उत्तमोत्तम खाद्यसामग्री छीकोंसे निकालो तो सही!'

बस, इस सुधापूरित आदेश, नहीं-नहीं याचनाकी ही तो देर थी। सबने अपनी सर्वोत्तम वस्तुएँ अपने कन्हैया भैयाके सामने लाकर रख दीं और क्षण भी नहीं लगा, कन्हैया भैयाके छीकेकी सर्वश्रेष्ठ खाद्य-सामग्री प्रत्येक गोपसखाकी थालीमें आ गयी। प्रत्येकका प्रत्यक्ष अनुभव है—'कन्हैया भैयाके सबसे अधिक निकट मैं बैठा हूँ, बिलकुल सामने बैठा हूँ, मैंने अपने छीकेकी भेंट समर्पित की और कन्हैयाने अपना सर्वोत्तम, सबसे अधिक प्रिय पदार्थ मेरे आगे रख दिया। यह देखो! अहा, औरोंने भी वस्तुएँ लाकर कन्हैया भैयाको दीं अवश्य, पर इसने होठोंपर रखी सबसे प्रथम मेरी दी हुई वस्तु!'—इस अनिर्वचनीय सुखसिन्धुमें निमग्न होकर ही भोजन प्रारम्भ हुआ। फिर समयोचित लहरें भी उठेंगी ही। सखाओंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका समयोचित मधुरातिमधुर कौतुक भी चल ही पड़ा। कौन-सी वस्तु किसे अच्छी लग रही है, कौन-सा मिष्टान्न अतिशय सुस्वादु है, कौन-सा अच्छा नहीं लगा—इसे अपनी मुखभङ्गिमासे, नेत्र एवं होठोंके संचालनसे एक-दूसरेको बता देनेका खेल सर्वप्रथम हुआ। इसके अनन्तर आज जिसे जो वस्तु सबसे अधिक प्रिय लग रही है, उसे श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें तथा जो मोदक, पिष्टक, व्यञ्जन, दाल आदि वस्तुएँ नीलसुन्दरको रुचिकर—स्वादिष्ट लगीं, उन्हें सखाओंके होठोंपर रख देनेकी दूसरी क्रीड़ा हुई और फिर विनोद आरम्भ हो गया। किसीने मिष्टान्नके भीतर निम्बपत्रोंका चूर्ण भरकर उसे ऊपरसे ढककर अन्यके मुखमें रख दिया। किसीने अतिशय सुस्वादु व्यञ्जनमें बहुत अधिक नमक मिश्रितकर, उसकी अतिशय प्रशंसा करते हुए उसे एकके मुखमें डाल दिया और जब निम्बकी तिक्ततासे, अत्यधिक लवणके खारेपनसे वे शिशु मुख बिझुकाने लगे, तब सारी मण्डली आनन्दविभोर होकर हँसने लग गयी। श्रीकृष्णचन्द्रकी ओरसे भी एक-से-एक सुन्दर कौशलपूर्ण विनोद हुए तथा उनके प्रिय सखाओंने भी ठीक उतने ही सुन्दर, उसी जातिके विनोदपूर्ण प्रत्युत्तर दे डाले। शिशुसुलभ, अतिशय विशुद्ध, पर अत्यन्त चातुर्यपूर्ण ऐसे-ऐसे आदर्श विनोद हुए कि श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपसखा परस्पर हँसते-हँसाते लोट-पोट होने लग गये। कुछ क्षणके लिये विनोदका विराम हुआ; श्रीकृष्णचन्द्रने, सखाओंने अपने मुखमें एक-दो ग्रास रखे। इतनेमें किसी एक शिशुने ऐसी नवीन चेष्टा कर दी कि हँसीका प्रवाह फूट पड़ा; समस्त पुलिन उस उन्मुक्त हँसीसे निनादित होने लग गया। इस प्रकार परस्पर हँसते-हँसाते, सुखपूरमें डूबे हुए वे शिशु भोजन करते रहे। उनके सुखकी सीमा नहीं। भला, स्वयं जगन्नियन्ता जगदीश्वर जिनके साथ सखारूपमें नित्य वर्तमान हैं, उनके सुखकी इयत्ता हो ही कैसे सकती है।

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १०)

भोजन करती बार, निज-निज ब्यंजन प्रेम जुत।
दरसावत रस-सार, हँसत परसपर नाथ मिलि॥
काहुहि टेरि कहत हरि प्यारे।
सखा! साक आनहु निज सारे॥
दियौ आनि हरि कर सो भाजन।
ग्रास एक पारा बिनु काजन॥
अहो अहो यह अतिसै खारौ।
हँसे आपु कहि दालि बिगारौ॥
प्रभु के हँसत हँसे बहु बारा।
अहो अहो यह दालि बिगारा॥
एहि बिधि अमित हास्य-रस-लीला।
करत भए प्रभु सब गुन सीला॥

× × ×

भोज्य भक्ष्य तहँ लेह्य कहि, पेय पियत सिसु साथ।
पाहन पत्रन पर धरें, जैंवत त्रिभुवन नाथ॥

आकाशपथ विमानोंसे पूर्ण हो गया है। इस अभूतपूर्व अप्रतिम-सुन्दर झाँकीके दर्शन फिर हों न हों। देवसमाज अपने स्वाभाविक अपलक नेत्रोंसे ही दर्शन कर रहा है, पर तृप्ति कहाँ। क्षण-क्षणमें प्राणोंकी उत्कण्ठा बढ़ती जा रही है। सर्वयज्ञभोक्ताका यह भोजन—ऐसा वात्सल्यरससम्पुटित स्वच्छन्द भोजनकालीन विहार बार-बार देखनेको मिलता है? साङ्गोपाङ्ग वैदिक विधिविधानोंसे समर्पित किये यज्ञभागका भी जो कभी भोग नहीं लगाता, ऋषियोंको केवल अलक्षित रूपसे उसकी स्वीकृतिमात्रका भान हो पाता है, वे ही सर्वेश्वर महामहेश्वर यज्ञपुरुष आज प्रत्यक्ष सर्वथा प्राकृत शिशुकी भाँति गोपबालकोंके बीच बैठकर, उनकी पङ्क्तिका ही एक सर्वसाधारण सदस्य बनकर भोजन कर रहे हैं। असंख्य गोपबालक उन्हें वेष्टित किये बैठे हैं, उन सुहृद्वर्गको—प्राणप्रिय बन्धुओंको अपने असाधारण परिहासवाक्योंसे हँसाते हुए वे उनका मनोरञ्जन कर रहे हैं! इतना ही नहीं, उन आभीर सखाओंके भोजनपात्रसे द्रव्य उठाकर अपने मुखमें रख लेते हैं, वस्तुके स्वादकी प्रशंसा एवं निन्दा भी करते जा रहे हैं—यहाँतक कि सुस्वादके अभावमें वह वस्तु उसी सखाके शरीरपर उँड़ेलकर हँसने लग जाते हैं; इतने बाल्यावेशसे वे अभिभूत हो रहे हैं! महामरकत-श्यामल अङ्गोंकी भङ्गिमा भी इस समय अद्भुत ही बन गयी है। उदर एवं परिधेय वस्त्रके मध्यस्थलमें वेणु धारण किये हुए हैं—कछोटीमें वेणुको खोंस लिया है। वाम कक्षमें शृङ्ग एवं वेत्र दबा लिये हैं। वाम करतलमें दधिमिश्रित घृतसिक्त अन्नका एक बृहत् ग्रास शोभित हो रहा है। अङ्गुलि-संधियोंमें बिल्व, जम्बीर, आर्द्रक (अदरक), करील आदि फलोंके टुकड़े दबाये हुए हैं। ऐसे अद्भुत साजसे सज्जित हो रहे हैं। उन महामहिमकी ऐसी विचित्र वेशभूषा! और फिर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-मनोहारिणी ऐसी सुन्दरातिसुन्दर बालकेलि!—इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या होगी? ऊपर स्पन्दहीन होकर देववृन्द देखते रह जाते हैं, नीचे व्रजेन्द्रकुलचन्द्रकी पुलिन-भोजनलीला चलती ही रहती है—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ११)

अखिल जग्य भोगी श्रुति गावै। पुनि परिपूरन नाम बतावै॥
सो हरि बाल संग इमि आजू। जेंवत सुखप्रद संत-निवाजू॥
देखि स्वर्गबासी कह बानी। अहो कहा हरि कौतुक ठानी॥
उदर पीत पट सुषमा-रासी। ताहि मध्य धरि बेनु बिलासी॥
दोउ भुज-मूल सृंग धरि बेंतू। जेंवत जेवन कृपा-निकेतू॥
बाम पानि दधि-ओदन लीन्हें। बेर आदि फल अँगुरिन दीन्हें॥

एहि बिधि भोजन करत प्रभु मध्य बाल भूपाल।
सब कहुँ सनमुख सुमुख सुठि सुहृद संत गोपाल॥

सुरसमुदाय भ्रान्त होने लगता है—

भोजन करत कुँवर साँवरे, छबि लिखि अमर भए बावरे।

ब्रह्माजीके द्वारा पहले गोवत्सोंका अपहरण और श्रीकृष्णके उन्हें ढूँढ़ने निकलनेपर गोपबालकोंका भी अपसारण; श्रीकृष्णकी उन्हें ढूँढ़ निकालनेमें असमर्थता तथा अन्तमें सर्वज्ञताशक्तिद्वारा सब कुछ जान लेना

'हैं! गोवत्स किधर गये?'—एक चञ्चल शिशुने सबका ध्यान आकर्षित किया। फिर तो हाथके ग्रास हाथमें ही रह गये। सबकी दृष्टि उस ओर केन्द्रित हो गयी, जिधर अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व अदूरवर्ती तृणश्यामल भूभागपर राशि-राशि गोवत्स स्वच्छन्द विचरण कर रहे थे। पर इस समय वहाँ एक भी न था; सब-के-सब न जाने कहाँ चले गये! गोपशिशुओंको इस बातका सहसा अनुमान ही न हो सका कि जिस समय पुलिन-भोजनका उद्दाम कौतुक चल रहा था, वे बालक आनन्द-पयस्विनीमें डूबते-उतराते सुध-बुध खोये-से हो चुके थे, उनकी अन्य स्मृतियाँ विलुप्तप्राय हो चुकी थीं, उनके मन-प्राणोंमें केवल अपने प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्रका, उनके लीलाविहारका अस्तित्वमात्र ही बच रहा था—उसी समय गोवत्सराशि भी क्रमशः आगे बढ़ती जा रही थी, हरित तृणसंकुल भूमिका एक-से-एक सुन्दर अंश सामने दीखता था और गोवत्स उससे प्रलोभित हुए उस दिशामें ही अग्रसर हो रहे थे; तथा इस प्रकार धीरे-धीरे ही वे सुदूर वनमें जा पहुँचे थे, इतनी दूर कि अपने पालकवर्गकी दृष्टिसे सर्वथा ओझल हो चुके थे—

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १२)

अस्तु, कहाँ तो वनस्थली शिशुओंके आनन्द-कोलाहलसे मुखरित हो रही थी और अब वहीं सहसा एक गम्भीर नीरवता छा गयी। अपने गोवत्सोंको न देखकर एक बार तो सभी बालक अतिशय संत्रस्त हो उठे—

बत्स चरत वन माहिं, तृन-लोभित चलि दूरि गे।
सखन लखे जब नाहिं, भय तें अति चक्रित भए॥

किंतु कतिपय वयस्क बालकोंने तुरंत अपनेको सँभाला। उनके ध्यानमें वस्तुस्थिति आने लग गयी और वे बोले—

कृष्ण! सखे! सखेदाः स्म। नैकोऽपि दृश्यते वत्सः। मन्ये नवतृणाङ्कुरलालसालसाभावादतिदूरं गतास्तदधुना तदनुसंधानाय संधानायकैर्भवितव्य-मस्माभिरिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैया कृष्ण! देख, हम सभी चिन्तित हो रहे हैं, एक भी गोवत्स नहीं दीख पड़ता। प्रतीत होता है—नवीन तृणाङ्कुरोंकी लालसासे वे सब अभिभूत हो गये हैं। इसीलिये तनिक भी आलस्य न कर—कहीं भी रुके बिना ही वे सब बहुत दूर चले गये हैं। अतएव अब हमलोगोंको भी उनका अनुसंधान पानेके लिये एवं फिर उन्हें हाँककर वनकी सीमापर हम ले आयें, इस उद्देश्यसे उधर ही चलना चाहिये।'

यह बात पूरी भी न हो पायी कि एक छोटे-से गोपशिशुने अपनी विशेषज्ञताकी छाप-सी डालते हुए कहना आरम्भ कर दिया—ऊँ हूँ, तुम सब कहते क्या हो? कन्हैया भैयाको छोड़कर आजतक तो एक भी गोवत्स दूर नहीं गया था? यहाँ तो बात ही दूसरी दीखती है। उस विशालकाय अजगरको भूल गये क्या? देखो, कनूँने उसे मार तो दिया; पर हमलोग उसे यों ही छोड़कर चले आये, उसे तो वनकी लकड़ी डालकर जला देना था। नहीं तो, ये सर्प वायु पीकर पुनः जीवित हो उठते हैं। क्या पता, वह पुनः जी उठा हो तो? उसीने गोवत्सोंको..........।' कहते-कहते शिशुकी वाणी रुद्ध हो गयी।

'कोई अन्य असुर भी तो आ सकता है।'—एक तीसरे दलने भी अपना निर्णय दे डाला। सारांश यह कि गोपबालक भिन्न-भिन्न प्रकारसे संकल्प-विकल्प करते हुए अपनी बात सामने रखने लगे। पर सभी

सहमत हैं कि चलकर गोवत्सोंको ढूँढ़ा जाय। साथ ही सबके मुखपर भयकी अतिशय स्पष्ट रेखा अङ्कित हो चुकी है। हाँ, केवलमात्र उनके प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्र ऐसे हैं, जिनके मुखपर कोई विकृति नहीं। भयोद्विग्नताका लेशमात्र चिह्न भी नहीं। उनके अरुणिम अधरोंपर इस समय भी वही सुन्दर स्मित है, नेत्रसरोजोंमें वैसी ही उत्फुल्लता है। अपने सखाओंको भयभीत देखकर वे अपने स्थानपर खड़े अवश्य हो गये हैं। बस, इसके अतिरिक्त और कोई परिवर्तन नहीं है।

किंतु अब श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र भी किञ्चित् चञ्चल होने लगते हैं—किसी भयसे नहीं, अपितु अपने सखाओंको भयभीत देखकर उनका भय हर लेनेके उद्देश्यसे। और फिर गूँज उठता है समस्त जगत्के अभयदाताका वह अमृतस्रावी स्वर भी—

तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम्।

(श्रीमद्भा० १०। १३। १३)

अपने सखाओंके मन, प्राण, इन्द्रियोंको शीतल करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कहने लग जाते हैं—

मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १३)

'अरे भैयाओ! तुम सब भोजन करना मत छोड़ो। देखो, गोवत्सोंको तो मैं अकेला ही ढूँढ़कर यहाँ ले आता हूँ।'

अहो मित्र, तुम भोजन करौ, अपने मन तनिकौ जिनि डरौ।
बछरन हम लै ऐहैं अबै; बैठे रहौ, लहौ सुख सबै॥

पर कहीं यह बात भी माननेकी हो सकती है? नीलसुन्दर उन्हें छोड़कर चले जायँ और गोपशिशु भोजन करते रहें, यह भी कभी सम्भव है? प्राणोंसे संयुक्त रहनेपर ही तो इन्द्रियोंमें विषयग्रहणकी सामर्थ्य है! प्राणशून्य इन्द्रियोंने कभी किसी रसकी अनुभूति की है क्या?—श्रीकृष्णचन्द्रका यह प्रस्ताव एक स्वरसे अस्वीकृत हो जाता है। भोजनकी बात दूर, कन्हैया भैया एकाकी गोवत्सोंको ढूँढ़ने जाय—यह भी किसे स्वीकार है? श्रीदामने पीताम्बरका छोर पकड़ लिया, सुबलने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनों कंधोंपर अपने हाथ रख दिये; —असंख्य सखाओंका प्रतिनिधित्व दोनोंके द्वारा सम्पन्न हो गया। सबके मनोभावकी सूचना इन दोनोंने दे दी। अब परिस्थिति विचित्र-सी है। इधर तो श्रीकृष्णचन्द्र अपने सखाओंके परम सुखमय पुलिनभोजनमें व्याघात आया देखकर व्यथित हो रहे हैं, चाहते हैं—भोजनका क्रम चलता रहे और वे गोवत्सोंको ढूँढ़ लायें। उधर शिशुओंका प्रेमिल आग्रह है कि वे न जायँ। नीलसुन्दरने उन्हें बहुत समझाया, पर कौन सुनता है। आखिर नन्दनन्दनने अन्तिम युक्तिका आश्रय लिया। वे बोले 'देखो भैयाओ! पता तो है नहीं कि गोवत्स कहाँ किस दिशामें गये। और आगे सघन वन है। मान लो, हमलोग कहीं उन्हें ढूँढ़ने चलें, भिन्न-भिन्न दिशामें उनकी खोज करें और इस प्रयासमें हमलोगोंमेंसे एक भी कोई खो जाय, पथ भूल जाय तो कितना अनर्थ हो जायगा, कितनी कठिनाई होगी! बिना उसे ढूँढ़े तो हमलोग घर जा नहीं सकेंगे? इसीलिये मैं अकेला जाना चाहता हूँ। तुम्हारी दृष्टिसे ओझल थोड़े होऊँगा। बस, वहाँ उस ऊँचे तमालके पास जाकर पुकार लगाऊँगा। तुम सब यहाँ बैठे-बैठे मुझे देखते रहना। प्रतिदिन ही तो तुम देखते हो। मेरे बुलाते ही सभी गोवत्स कूदते हुए मेरे पास आ जाते हैं, मेरे लिये तो उन्हें बुला लेना बड़ा सहज है। बस, आधे क्षणकी तो बात है, मैं जाकर उन्हें ले आऊँ और फिर हम सब आनन्दपूर्वक भोजन करेंगे।'

यह कहते समय श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बविडम्बि अधरोंपर एक अद्भुत हासकी क्षीण, पर अतिशय निर्मल रेखा-सी अङ्कित हो जाती है एवं शिशु इस बार निरुत्तर हो जाते हैं। सरलमति गोपबालक कैसे जानें कि यह उनके कन्हैया भैयाकी स्वाभाविक मुसकान नहीं है, यह तो अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी अग्रिम योजनाको संघटित करनेके लिये व्यक्त हुई अघटनघटनापटीयसी योगमायाके अञ्चलकी चमक है। नीलसुन्दरके होठोंके अन्तरालसे वे एक झीनी चादरका आवरण लगा रही हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणसखाओंको मानो आवश्यक वस्त्र धारण कराकर ढँक दे रही हैं; क्योंकि जहाँ गोवत्स गये हैं, वहीं कुछ क्षणोंमें ही शिशुओंको भी जाना जो है; तथा आवृत हुए बिना विश्वमें किसीकी सामर्थ्य नहीं कि

इन्हें स्थानान्तरित कर सके। साथ ही स्वेच्छासे ये नीलसुन्दरको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जायँ, यह भी सम्भव नहीं। इसीलिये योगमायाका हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। वे आयीं ही और उनके अञ्चलके चाकचिक्यसे शिशु सर्वथा सचैतन्य रहनेपर भी वास्तवमें मुग्ध भी हुए ही। उनके पास कन्हैया भैयाकी उपर्युक्त बातोंके लिये कोई उत्तर नहीं बचा। जो हो, श्रीकृष्णचन्द्रका वह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तथा वे ज्यों-के-त्यों—वैसे ही दधिमिश्रित अन्नका ग्रास हाथमें धारण किये हुए गोवत्सोंका अन्वेषण करने चल पड़े!

हरित तृणोंका पुञ्ज लह-लह कर रहा है। उनपर चरण रखते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उस तमालमूलके समीप जा पहुँचे। उन्होंने खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, पर किसी ओर भी गोवत्सोंका कोई अनुसंधान प्राप्त नहीं हुआ। उच्चकण्ठसे वे गोवत्सोंका नाम ले-लेकर पुकारने लगे, फिर भी वनस्थलीकी ओरसे एक भी गोवत्स आज उनकी ओर दौड़कर नहीं आया। वे सोचने लगे—'कदाचित् पार्श्ववर्ती वनके सघन अंशमें वे सब प्रविष्ट हो गये हों, मेरी पुकार उनतक पहुँच न पा रही हो!' इस आशङ्कासे वे तृणक्षेत्रको छोड़कर वनमें प्रवेश कर गये। पर वहाँ वनके प्रत्येक अंशमें जाकर आह्वान करनेपर भी उन्हें कोई संकेत न मिला। सघन कुञ्जोंमें, अत्यन्त दुर्गम वनप्रदेशोंमें—संकट-स्थानोंमें भी वे हो आये; पर कहीं एक भी गोवत्सका कोई चिह्न भी न दीखा। कहीं गिरिराजकी हरितिमासे आकृष्ट होकर वे सब ऊपर न चढ़ गये हों, इस विचारसे श्रीकृष्णचन्द्र पर्वतकी ओर चले। शैलपरिसरका एक-एक सम्भावित स्थल भी वे देखते गये और फिर पर्वतपर जा चढ़े। वहाँ ढूँढ़ा, गोवर्द्धनकी गुहाएँ छान डालीं। किंतु वहाँ भी सब प्रयास व्यर्थ हुए। वे उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते न जाने कहाँ-कहाँ हो आये, पर गोवत्स तो नहीं ही मिलते। और जबतक वे मिल नहीं जाते, तबतक नीलसुन्दरको विश्राम भी कहाँ। वे तो मानो उन्हें ढूँढ़ते ही रहेंगे, ढूँढ़ ही रहे हैं। वैसे ही तो उनके कटिदेशमें वेणु संधित है, कक्षमें शृङ्ग एवं वेत्र दबे हैं, करतल दधिमिश्रित अन्नके ग्राससे परिशोभित है और वे पुनःपुनः सघन वनमें, कुञ्जोंमें, गह्वरोंमें, शैलभागोंमें, गिरिदरियोंमें गोवत्सोंका अविराम अन्वेषण करते फिर रहे हैं—

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान्।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १४)

ऐसैं कहि बन-गहबर-कुंज, तम करि भरी दरी तहँ पुंज।
ढूँढ़त बच्छ बिस्व के नाथ, भोजन-कवल लिऐं ही हाथ॥

कहना कठिन है कि '**सर्वज्ञः, सर्ववित्**' इन शब्दोंद्वारा श्रुतियोंसे निर्दिष्ट होनेवाले अनन्तैश्वर्यनिकेतन परब्रह्म पुरुषोत्तमके इस अभिनव बाल्यावेशके दर्शन आज किन-किनको हुए। अन्तरिक्षवासियोंने मुग्धताके अद्भुत साजसे सुसज्जित स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके इस वत्सान्वेषणकी झाँकी पायी कि नहीं, यह कौन बताये। अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे किनके सामने कौन-सी किस रङ्गकी यवनिका झूल रही है, किनके नेत्रोंपर किस अंशतक कैसा कौन-सा आवरण डाला गया है, श्रीकृष्णचन्द्रकी इस परम मधुर लीलाका कितना-सा अंश किनके लिये किस रूपमें अनावृत है—इन सब बातोंका यथार्थ ज्ञान किसे है? किंतु एकको तो दर्शन हुए ही हैं, हो रहे हैं, यह स्पष्ट है। वे हैं स्वयं जगत्स्रष्टा पद्मयोनि ब्रह्मा। इनके उद्देश्यसे ही तो यह लीला हो रही है। पर इनके लिये भी लीलाका समस्त अंश अनावृत है, यह कहना नहीं बनता। जो हो, पद्मयोनिके परम सौभाग्यसे उन्हें कृतार्थ करनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त पारावारविहीन लीलासिन्धुमें यह एक लहर उठी है और देखना है यह कहाँ पर्यवसित होती है।

आजकी ही तो घटना है, अघासुरमोक्षके दर्शनसे स्वर्वासी आनन्दमत्त हो उठे थे। उनके शङ्ख, दुन्दुभि एवं मृदङ्गके नादसे, जय-जयकी तुमुलध्वनिसे, स्तवपाठकी मधुर स्वरलहरीसे दिग्-दिगन्त पूरित हो चुके थे। जनलोक, महर्लोक, तपोलोक प्रतिनादित हो रहे थे। सत्यलोक भी प्रतिशब्दित होने लगा था और चतुर्मुख नीचे उतर आये थे तथा सब कुछ देखकर आश्चर्यसे स्तब्ध रह गये थे। फिर उन्होंने दर्शन किये पुलिनभोजनके, उस समय होनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके उन्मुक्त बाल्यविहारके। स्रष्टाके आठों नेत्र शीतल हो गये। महामहेश्वरका ऐसा

बाल्यावेश उन्होंने मानो आज ही प्रथम बार देखा। पर जैसे संनिपातसे रुग्ण व्यक्तिकी तृषा शान्त नहीं होती, जल पीनेसे उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, वैसे ही श्रीकृष्णलीलारसपानसे स्रष्टाके नेत्र शीतल होकर भी अतृप्त ही रह गये; अपितु उनके रसपानकी लालसा और भी प्रबल-प्रबलतर हो उठी। पद्मयोनिके प्राण आकुल हो उठे—'कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपाका एक कण मुझे पुनः स्पर्श कर ले, उनकी लीलामाधुरीका किञ्चित् और आस्वादन भी इन नेत्रोंको प्राप्त हो जाय।' कमलयोनिकी यह इच्छा श्रीकृष्णचन्द्रके कृपामय हृद्देशमें ज्यों-की-त्यों स्फुरित हो गयी। फिर वहाँसे आजतक तो किसीको भी निराशा मिली ही नहीं। 'एवमस्तु' ही वहाँ निरन्तर झंकृत होता रहता है। चतुर्मुख जान भी नहीं पाये और आदिसे अन्ततकका दृश्य नेपथ्यकी ओटमें सज गया; लीलामहाशक्तिने जगत्स्रष्टाके मनको अपने हाथपर रख लिया और फिर उसमें वे अपने इच्छानुरूप चित्रोंका सृजन करने लगीं। वास्तवमें तो वे उन आकृतियोंका अङ्कन करती जा रही थीं, पर चतुर्मुखका 'अहंकार' उन्हें 'अपनी स्फुरणा'—'अपनी योजना' के रूपमें ग्रहण कर रहा था।

अस्तु, कमलयोनि सोचने लगे, उपायका निर्द्धारण करने लगे—'कैसे लीलामाधुर्यका आस्वादन हो? अच्छा, श्रीकृष्णचन्द्र तो बाल्यविहारमें तन्मय हो रहे हैं, शिशु भी आत्मविस्मृत हो रहे हैं, ऐसे अवसरपर यदि मैं गोवत्सोंको मायामुग्ध कर स्थानान्तरित कर दूँ तो कैसा रहे? देखें, बाल्यलीलारसमत्त स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उस समय क्या दशा होती है! ये जब उन्हें ढूँढ़ने चलेंगे उस समय निश्चय ही एक अभूतपूर्व बाल्यावेशका माधुर्य प्रकट होगा, मुग्धतास्फुटित लीलारसकी मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठेगी, मैं उसमें अवगाहन कर कृतार्थ हो जाऊँगा! बस ठीक है, यही हो।'

उपर्युक्त निश्चयको लेकर ब्रह्मा सबसे अलक्षित रहकर ही वृन्दाकाननके उस श्यामल तृणक्षेत्रमें अवतरित हो गये और फिर चले उन गोवत्सोंको मायामुग्ध करने। उन हरित तृणपुञ्जोंके अग्रिम भूभागमें स्रष्टाने उसकी अपेक्षा भी एक अतिशय सुकोमल जातिके तृणकी रचना कर दी, फिर गोवत्सोंकी दृष्टि भी अपने प्रभावसे उस ओर ही फेर दी। तृणोंसे परिलुब्ध होकर गोवत्स वहाँ ही दौड़ चले। इतनेमें ही पुनः उससे अग्रिम वनस्थली और भी सुन्दर तृणोंसे लहलहा उठी, एक-दो ग्रास मुखमें लेते-न-लेते गोवत्सोंका ध्यान भी उस ओर चला ही गया और वे क्षणोंमें ही उस क्षेत्रका अतिक्रमण कर वहीं जा पहुँचे। पर इस हरितिमाकी इति हो तब तो? आगे और भी सुन्दर जातिके सुकोमलतम तृणका मानो अंबार लगा है। जो हो, इस प्रकार आगे-से-आगे सुन्दर सुस्वादु तृणोंका निर्माण करते हुए, उनसे गोवत्सोंको लुब्ध करते हुए विधाताने उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। गोवत्स अपने नित्य पालककी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे मानो वञ्चित हो गये। दूसरे ही क्षण पद्मयोनिकी दूसरी माया फैली, गोवत्स सुध-बुध खो बैठे एवं उसी दशामें व्रजमण्डलके किसी एकान्त गिरिगह्वरमें वे सब-के-सब स्थापित कर दिये गये!

ब्रह्मा इतना करके ही शान्त हो गये हों, यह बात नहीं। सफलता लोभकी जननी होती है। विधाताके अन्तस्तलमें एक और नवीन स्फुरणा जाग्रत् हुई—'इन गोपशिशुओंको भी मायामुग्धकर वहीं पहुँचा दूँ तो!' उन्होंने देख लिया है श्रीकृष्णचन्द्रको भोजन स्थगितकर गोवत्सोंका अन्वेषण करने जा रहे हैं। इतना सुन्दर अवसर फिर कब मिलेगा? अतिशय त्वरापूर्वक पद्मयोनि यमुनापुलिनपर चले आये। गोपशिशुओंने कुछ भी नहीं देखा। उनके नेत्रोंमें तो भरे हैं नीलसुन्दर, उनकी दृष्टि केन्द्रित है अपने कन्हैया भैयाकी ओर, उन्हें केवलमात्र दीख रहा है—'वह रहा कन्हैया, उस तमालकी छायामें।' वे भला, चतुर्मुखको क्यों देखने लगे। हाँ, चतुर्मुखने उनके दर्शन अत्यन्त निकटसे अवश्य पा लिये। जो हो, विधिकी दृष्टि पड़ते ही शिशु मानो अपनी उस भावसमाधिमें ही लीन हो गये, उनकी बाह्यचेतना विलुप्त हो गयी; तथा पद्मयोनिने इन्हें भी वहीं पहुँचा दिया, जहाँ असंख्य गोवत्स अचेतन हुए पड़े हैं।

इस प्रकार गोवत्सोंको, गोपशिशुओंको स्थानान्तरितकर—अपनी मायाका प्रभाव देखकर पद्मयोनि फूले नहीं समाये। बस, यहीं चतुर्वेदवक्ता विरञ्चि पथ भूल गये। कदाचित् वे अपने अमित ज्ञानके आलोकमें वस्तुस्थितिकी समीक्षा करनेका प्रयास करते तो उन्हें स्पष्ट दीख जाता—जिन गोवत्सोंका संलालन श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपने करकमलोंसे करते हैं, सुकोमल तृण-पत्रोंका आहरण कर अपने श्रीहस्तसे जिन्हें भोजन कराते हैं, क्रोडमें धारणकर प्यारसे जिनका मुखचुम्बन करते हैं, उन गोवत्सोंको तथा श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणसखा गोपशिशुओंको मायामुग्ध करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं। उन जगत्स्रष्टा विरञ्चिकी माया अप्राकृत साम्राज्यके किसी भी प्राणीको मोहित करे—यह तो दूर, वह उनके समक्ष भी नहीं जा सकती। यह तो व्रजेन्द्रनन्दनकी ही अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी प्रेरणा है, उनकी ही योगमाया-शक्तिकी छाया पड़ी है और गोवत्स एवं गोपशिशु मोहित हुए हैं। विरञ्चिकी माया तो उन्हें स्पर्श ही नहीं कर सकती; किंतु स्रष्टाको इस समय अवकाश कहाँ, जो इस ओर दृष्टि डाल सकें। वे तो अपनी धुनमें हैं और उन्हें जो करना था, वे कर चुके। अब तो अग्रिम कार्यक्रमकी बात वे सोच रहे हैं—'यहाँ ठहरूँ कि चला जाऊँ? कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्र इन्हें ढूँढ़ते हुए आ पहुँचे और मुझे देख लें! फिर तो लीलामाधुर्यका प्रकाश नहीं ही होगा! मेरी मनोरथपूर्तिकी सम्भावना ही समाप्त हो जायगी!' इस चिन्तामें वे निमग्न हैं। जो हो, पद्मयोनिको हट जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ और वे तत्क्षण अन्तर्हित हो गये; नहीं-नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रकी एक परम मनोहर रहस्यमयी लीलाका मङ्गलाचरण करके मानो नेपथ्यमें प्रविष्ट हो गये, अन्य वेष-भूषासे सज्जित होकर पुनः मञ्चपर अभिनयके लिये आनेके उद्देश्यसे—

अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १५)

इधर अतिशय प्रयास करनेपर भी जब बाल्यलीलाविहारीको गोवत्सोंका कोई अनुसंधान प्राप्त नहीं हुआ, तब श्रान्त-से हुए वे विचारमें पड़ गये। वे सोचने लगे—'इतने विस्तृत अरण्यमें मैं एकाकी उन्हें ढूँढ़कर पा लूँ, यह सम्भव नहीं दीखता; क्योंकि मैं एक ओर ढूँढ़ने जाता हूँ, तबतक वे सम्भवतः दूसरी ओर चले जाते हैं। अन्यथा वे मिल ही जाते। अतः सखाओंकी सहायता आवश्यक है। अब दल बनाकर हमलोग उन्हें चारों ओरसे ढूँढ़कर देखें!'—यह विचारकर हताश-से हुए श्रीकृष्णचन्द्र पुलिनकी ओर लौट पड़े। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते और विनष्ट होते हैं, विश्वके समस्त ज्ञानके जो मूल उद्गम हैं, वे अखिल ब्रह्माण्डपति महामहेश्वर सर्वज्ञशिरोमणि आज इतना अथक परिश्रम करके भी गोवत्सोंका कहीं कोई भी संकेत न पा सके, उनकी गतिविधिके सम्बन्धमें कुछ भी न जान सके तथा अब हताश होकर गोपशिशुओंकी सहायता पानेकी आशासे लौटे आ रहे हैं। बलिहारी है, नाथ! तुम्हारे इस अप्रतिम बाल्यलीलाविहारकी, बाल्यरसावेशकी!

अस्तु, अब पुलिनपर भी विश्वपतिको निराश ही होना है। वे वहाँ आ जाते हैं, जहाँ अपने सखाओंको भोजन करते हुए छोड़ गये थे; किंतु यहाँ तो अब कोई नहीं, कुछ भी नहीं। आश्चर्यमें भरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सर्वत्र दृष्टि डाली और फिर एक-एकका नाम लेकर पुकारने लगे। श्रीदाम, सुबल, देवप्रस्थ, वरूथप, किङ्किणी, तोककृष्ण, अंश, भद्रसेन, अर्जुन, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल, मधुमङ्गल, पुष्पाङ्क, भङ्गुर, भृङ्गार, संधिक, पल्लव, मङ्गल आदि बालकोंको नीलसुन्दरने अतिशय उच्चकण्ठसे पुकारा। पर उत्तरमें वन्यतरुओंने, गिरिशृङ्गोंने प्रतिध्वनिमात्र लौटा दी। किसी भी सखाने तो कोई उत्तर दिया नहीं। और आश्चर्य यह है कि उनका, उनकी किसी वस्तुका यहाँ कोई चिह्नतक अवशिष्ट नहीं रहा है! शृङ्ग, वेणु, वेत्र, छीके—ये वस्तुएँ अमुक शिशुने अमुक स्थलपर रखी थीं; किंतु रखनेतकका चिह्न भी अब वहाँ नन्दनन्दनको प्राप्त न हो सका। भोजनके समय पद्मपत्र, पद्मदल, वृक्ष-पल्लव आदिसे नानाविध पात्रोंकी रचना शिशुओंने की थी; फल खाते समय उन सबोंने कदली, जम्बीर आदि

फलोंके छिलके यत्र-तत्र बिखेर दिये थे—वे सब वस्तुएँ तो साथ ले जानेकी थीं नहीं, वे तो यहाँ मिलनी चाहिये थीं। पर किसी भी वस्तुका एक कण भी वहाँ उपलब्ध न हो सका। पुलिनका अंश निश्चितरूपसे वही है। सरोवर, तरुश्रेणी, तपन-तनयाकी वह शुभ्र वालुकाराशि ज्यों-की-त्यों वैसी ही दीख रही है। केवलमात्र शिशु नहीं हैं और उनसे सम्बद्ध कोई भी वस्तु नहीं रही है। श्रीकृष्णचन्द्र विचार करने लगे—'सम्भव है मुझसे परिहास करनेके उद्देश्यसे शिशुओंने सभी वस्तुएँ हटा दी हों, सबके चिह्नतक पोंछ डाले हों और यहीं छिपकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों?' यह विचार आते ही नीलसुन्दरने अतिशय विनम्र शब्दोंमें सखाओंको पुकार-पुकारकर प्रार्थना आरम्भ की—'अरे भैयाओ! देखो तो सही, गोवत्सोंको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मैं कितना श्रान्त हो गया हूँ; तुम सबको दया नहीं आती? अरे विशाल! मेरे पैरोंमें पीड़ा हो रही है; तू आकर दबा दे, भैया! × × × भैया रे सुबल! देख, मेरे समस्त अङ्ग प्रस्वेदसे भर गये हैं, तू आकर अपनी चादरसे पोंछ दे! × × × अरे पयोद! चन्दन! कुन्द! देख, तुम सबोंका विनोद हो रहा है और मेरा कण्ठ सूख रहा है! बहुत ही तीव्र प्यास लग रही है; आ जा, भैया! मुझे जल पिला दे, अब विलम्ब मत कर × × × भैया रे मधुमङ्गल! पुष्पाङ्क! हंस! तू रूठ गया क्या? नहीं भैया! अब मैं कभी अपराध नहीं करूँगा। तू जैसे कहेगा, वैसे ही करूँगा। आ जा।' इस प्रकार करुणाभरी वाणीसे नन्दनन्दनने न जाने कितनोंका आह्वान किया। पर सब व्यर्थ। श्रीकृष्णचन्द्रका यह विनम्र निवेदन पुलिनके कण-कणमें गूँज उठता और पुनः नीरवता छा जाती।

'कदाचित् वे सब मुझे ही ढूँढ़नेके उद्देश्यसे वनमें चले गये हों तो क्या पता? क्योंकि मेरे लौटनेमें पर्याप्त विलम्ब जो हो चुका है।'—अब ऐसे विचार श्रीकृष्णचन्द्रके मनमें आने लगे और उन्होंने पुनः स्वयं भी वनमें जाकर उन सबको ढूँढ़नेका निश्चय किया। प्रस्वेदकण भालपर, कपोलोंपर झल-झल करने लगे हैं! झुर-झुर करता हुआ मन्द—मन्थर पवन आया है नीलसुन्दरको अपनी सेवा समर्पित करने, प्रस्वेद पोंछ देने। पर वे सेवा स्वीकार कर सकें, इतना समय उनके पास कहाँ? वे तो अब और तनिक भी विलम्ब न कर पगडंडीके पथसे वनमें ही प्रविष्ट हो गये। पहलेकी भाँति ही चारों ओर कुञ्जोंमें, गिरिपरिसरमें, गह्वरमें वे अपने सखाओंको, साथ ही गोवत्सोंको—दोनोंको ही पुकार-पुकारकर ढूँढ़ने लग गये।

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १६)

पर वे वहाँ हों, तब तो मिलें। श्रीकृष्णचन्द्र अरण्यकी परिक्रमा-सी करते हुए पुनः पुलिनपर ही आ पहुँचे। न तो वनमें मिला एक भी गोवत्स और न भेंट हुई किसी एक भी सखासे और अब अंशुमालीका रथ भी पश्चिम गगनमें अस्ताचलकी ओर मुड़ चुका है!

'क्या हुए मेरे गोवत्स? कहाँ गये मेरे सखा? हाय! मैं इनके बिना कैसे घर लौटूँगा?'—श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें जल भर आया। बस, यहीं सीमा आ जाती है। त्रुटिमात्र काल व्यतीत होनेसे पूर्व ही ऐश्वर्यसिन्धु लहराने लग जाता है। सर्वज्ञता ऊपर उठ आती है, बाल्यावेशको आत्मसात् कर लेती है और फिर तो नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अपने 'विश्ववित्' स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो ही जाते हैं। अब उनके लिये कौन-सा रहस्य अज्ञात है? जगद्विधाताकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ, उनके सम्पूर्ण मनोभाव, अतीत, अनागत-विश्वका सूक्ष्मतम स्पन्दनतक नित्य-वर्तमान बनकर उनके सामने आ जाता है। गोवत्स, गोपशिशु कहाँ हैं, कैसे, क्यों गये—यह सब कुछ अनायास अकस्मात् वे जान लेते हैं—

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित्।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १७)

अखिल विश्वदृग नाथ जानि गए सब बात प्रभु।
विधिकृत यह सब गाथ, तब मन करत विचार कछु॥

× × ×

मायापति मुसक्याइ मन, बिधि-माया पहिचानि।

ब्रह्माजीकी मनोरथ-सिद्धिके लिये तथा व्रजकी समस्त माताओं तथा वात्सल्यमती गौओंको माँ यशोदाका-सा वात्सल्य-रस प्रदान करनेके लिये श्रीकृष्णका असंख्य गोपबालकों एवं गोवत्सोंके रूपमें उनकी सम्पूर्ण सामग्रीके साथ प्रकट होना तथा उन्हीं अपने स्वरूपभूत बालकों एवं बछड़ोंके साथ व्रजमें प्रवेश

पद्मयोनि तो निमित्तमात्र हुए और असंख्य व्रज-गोपियोंके, गायोंके परम सुदुर्लभ सौभाग्यका द्वार खुल गया। स्रष्टाके मनोरथ तो पूर्ण होंगे ही, उन्हें व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके अमित माधुर्यका, अनन्त वैभवका आस्वादन प्राप्त होगा ही; साथ ही व्रजपुरकी समस्त वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको एवं ब्रह्माके द्वारा अपहृत राशि-राशि गोवत्सोंकी जननी उन बड़भागिनी गायोंको अपना चिरवाञ्छित पदार्थ मिल जायगा, व्रजराजमहिषी श्रीयशोदाकी भाँति ही वे गोपियाँ परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रको अपना गर्भजात शिशु मानकर, अनुभवकर अपने मनोरथ पूर्ण करेंगी तथा गायें उन्हें अपने उदरजात गोशिशुके रूपमें पाकर कृतार्थ होंगी।

श्रीकृष्णचन्द्र अग्रिम व्यवस्थाकी बात सोच रहे हैं और उनकी सर्वज्ञताशक्ति मानो अगणित गोपसुन्दरियोंके, गायोंके मनोभावका चित्र अङ्कित करके उनके समक्ष रखती जा रही है। श्रीकृष्णचन्द्रको स्मरण हो आया है—उनके आविर्भावसे लेकर अबतक किस प्रकार गोपसुन्दरियोंके मन-प्राणोंकी उत्कण्ठा बढ़ती रही है। उन्हें अपने वक्ष:स्थलपर धारण करनेकी, व्रजरानीकी भाँति ही अपना स्तनदुग्ध पिलाकर कृतार्थ होनेकी कितनी तीव्र लालसा उनके अन्तस्तलमें लहराती रहती है—इसे नीलसुन्दर इस समय प्रत्यक्ष देख रहे हैं। न जाने प्रतिदिन कितनी बार असंख्य व्रजसुन्दरियाँ नन्दप्राङ्गणमें आयी हैं और नीलमणिको अपनी गोदमें देनेके लिये नन्दगेहिनीकी एवं परस्पर एक-दूसरेकी मनुहार कर चुकी हैं—

नैकु गोपालहि मोकौं दै री।
देखौं बदन-कमल नीकें करि,
ता पाछें तू कनियाँ लै री॥
अति कोमल कर-चरन-सरोरुह,
अधर-दसन-नासा सोहै री।
लटकन सीस, कंठ मनि भ्राजत,
मनमथ कोटि वारनें मैं री॥
बासर-निसा बिचारति हौं, सखि!
यह सुख कबहुँ न पायौ मैं री।
निगमनि-धन, सनकादिक-सरबस
बड़े भाग्य पायौ है तैं री॥
जाकौ रूप जगत के लोचन,
कोटि चन्द्र-रवि लाजत भै री।
सूरदास बलि जाइ जसोदा,
गोपिनि-प्रान, पूतना-बैरी॥

तथा गोदमें धारणकर तृप्त होनेके बदले वे और भी उत्कण्ठित हो गयी हैं—

ललना लै-लै उछंग अधिक लोभ लागैं।
निरखति निंदति निमेष करत ओट आगैं॥

और जब उस दिनकी संध्या हो गयी है, अपने जीवनसर्वस्व नीलमणिको कण्ठसे लगाये जननी यशोदा शयनमन्दिरमें चली गयी हैं, तब गोपियाँ भी अपने घर लौटी हैं; पर लौटी हैं अपने मन-प्राणको यशोदानन्दनके पास रखकर ही। शरीरके साथ आयी है मन-प्राणकी छायामात्र, जिससे अभ्यासवश उनके गृहकार्यका निर्वाह होता रहा है। साथ ही जब-जब वे प्रकृतिस्थ हुई हैं, उस समय भी प्राणोंकी आर्तिसे सनी यह प्रार्थना ही उनके अन्तर्देशको पूर्ण किये रहती है—'हे विधाता! मेरे अनादि-संचित सुकृतोंका एक फल यदि तू दे सके

तो दे दे—कदाचित् यशोदानन्दनको मैं भी पुत्ररूपमें पाकर हृदयपर धारण कर सकूँ, व्रजेशमहिषीकी भाँति ही संलालन कर, उन्हें अपनी गोदमें लेकर रात्रिके समय सुखसमाधिमें लीन हो जाऊँ, मेरा भी नीलमणिपर एकछत्र अधिकार हो जाय!' तथा जबसे श्रीकृष्णचन्द्र वत्सचारण करने वनमें जाने लगे हैं, तबसे उन वात्सल्यवती गोपियोंकी आकुलता और भी बढ़ गयी है; क्योंकि दिनमें तो यशोदानन्दन व्रजमें रहते नहीं और रात्रिके समय रहते हैं व्रजरानीके शयनागारमें। केवल सायं-प्रात:की कुछ घड़ियोंमें ही वे उनके मुखचन्द्रका दर्शन कर पाती हैं। इसीलिये उनके मनोरथका सिन्धु उद्वेलित हो उठा है। क्षण-क्षणमें शत-सहस्र ऊर्मियाँ उठने लगी हैं तथा गोपियाँ उनके प्रवाहमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बहती जा रही हैं!

यह अवस्था है इनकी। किंतु मूक पशुओंकी, उन राशि-राशि गायोंकी दशा किसे ज्ञात है? श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे जो वात्सल्य उनमें उमड़ता है, उसे व्यक्त करनेके साधन उनके पास कहाँ? नीलसुन्दरको देखते ही एक विचित्र उल्लासपूर्ण हाम्बारव, स्तनोंसे स्वत: दुग्धक्षरण एवं अपने गोवत्सोंका भी तिरस्कार कर यशोदानन्दनके समीप दौड़े आकर ग्रीवा प्रसारित कर देनेकी क्रिया—इतने ही उपाय हैं, जिनसे वे अपना वात्सल्य समर्पित कर पाती हैं। कदाचित् अपनी जीभ निकालकर किंचिन्मात्र वे नन्दनन्दनका उससे स्पर्श कर लेती हैं तो उस समय निश्चय ही उन्हें भी मानो यह भान हो जाता है—'ओह! व्रजराजदुलारेके सुकोमलतम श्रीअङ्गोंको क्षत लग जायगा।' और वे तुरंत अपनी जिह्वा समेट लेती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंकी घ्राणमात्र लेकर शान्त हो जाती हैं। एक अन्तर्यामी ही जान पाते हैं कि जैसे वे अपने गोवत्सोंको लेहनकर—चाट-पोंछकर उन्हें समुज्ज्वल बना देती हैं, वैसे ही नन्दनन्दनके धूलि-धूसरित अङ्गोंको लेहन करनेकी वासना भी उनमें उदय अवश्य होती है, पर पूर्ण नहीं हो पाती। उनकी प्रत्येक जातिगत चेष्टासे यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोदानन्दनको अपने पार्श्वदेशमें अधिक-से-अधिक समयतक रखनेके लिये वे सतत व्याकुल रहती हैं। पर मूक अस्वतन्त्र पशु जो वे ठहरीं! उनके मनकी लहर मनमें ही विलीन हो जाती है! उनके रक्षकवर्ग गोपगण इसे अनुभव भी करते हैं, वे इनके भावसे स्वयं भाविततक हो उठते हैं। किंतु उनकी शक्ति भी सीमित है, नैसर्गिक नियमोंका उल्लङ्घन सम्भव जो नहीं! वे बेचारे कितनी देर उन गायोंको श्रीकृष्णचन्द्रके समीप रख सकेंगे?

किंतु आज सबका भाग्य जाग उठा। अनन्तैश्वर्य-निकेतन श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरियोंके, गायोंके, अतीत-अनागत समस्त भावोंको इस समय प्रत्यक्ष देख जो रहे हैं। अन्तर्यामीरूपसे तो सदा ही देखते रहे हैं, पर आजका देखना कुछ और ही है। आज तो इन समस्त भावोंका पूरा-पूरा मूल्य देनेके लिये वे प्रस्तुत हो गये हैं। उनकी कृपाशक्तिने इन समस्त भावोंपर अपनी स्वीकृतिकी छाप लगा दी है, कृपा-परवश हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन आज सबके मनोरथ पूर्ण करने जा रहे हैं!

क्या, कब, कैसे करना है—यह वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रको सोचना नहीं पड़ता, उसके लिये रंचकमात्र भी प्रयास नहीं करना पड़ता, उनका संकल्प तो उदय होनेसे पूर्व ही मानो मूर्त हुआ रहता है। पर वे बाल्यलीला-विहारी जो ठहरे। रसकी लहरें ऐश्वर्यकी प्रत्येक ऊर्मिको सम्पुटित किये बिना रह नहीं सकतीं। इसीलिये व्रजेन्द्रनन्दन अपने स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही, अपनी अनन्त सामर्थ्यको भूले-से होकर विशुद्ध सख्यकी भावनासे पुन: अभिभूत हो जाते हैं। सोचने लग जाते हैं—'आह!' उन सखाओंके बिना मैं कैसे रह पाऊँगा? क्या उपाय करूँ?' इन शिशुओंकी माताओंका, गोवत्सोंकी जननी उन गायोंका आनन्दवर्द्धन हो, इसके साथ ही मानो उन्हें अपनी चिन्ता भी लग गयी। किंतु अब पट-परिवर्तनका समय उपस्थित हो चुका है। भुवन-भास्कर पश्चिम क्षितिजको छूने जा रहे हैं। इसलिये इस अभिनयको यहीं विराम देकर श्रीकृष्णचन्द्र आगेके दृश्यका उद्घाटन करते हैं। यह दृश्य सर्वथा अनोखा है; विश्वस्रष्टाओंके भी ईश्वर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र

ही एकमात्र, एकाकी इसके अभिनेता जो हैं। उनके अनुरूप ही यह खेल आरम्भ भी होता है। बस, क्षण भी नहीं लगता, नहीं-नहीं, लवमात्र काल भी पूर्ण न हो पाया होगा कि एक अभूतपूर्व चमत्कार मूर्त हो गया। अभी-अभी जहाँ केवल श्रीकृष्णचन्द्र थे, वहीं कलिन्दकन्याके उसी शुभ्र पुलिनपर वैसे-के-वैसे सम्पूर्ण सखा, गोवत्स—समस्त लीलापरिकर प्रकट हो गये। ब्रह्माके द्वारा अपहृत गोपशिशु, गोवत्स आ गये हों, यह बात नहीं। स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने ही अपने आपको दो रूपोंमें प्रकट कर दिया। गोपसुन्दरियोंके, गौओंके एवं साथ ही पद्मयोनिके भी मनोरथ पूर्ण हों, सब-के-सब अपना चिर-अभिलषित पाकर आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो जायँ, इस उद्देश्यसे वे असंख्य गोपशिशु एवं राशि-राशि गोवत्सोंके रूपमें स्वयं ही प्रकट हो गये—

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १८)

महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके इस आत्मप्रकाशका चमत्कार देखने ही योग्य है! विधाताके द्वारा अपहृत मायामुग्ध गोपशिशुओंकी, गोवत्सोंकी जितनी संख्या थी, ठीक उतनी ही संख्यामें ये गोपशिशु, गोवत्स भी हैं। उन शिशुओंके बाल्योचित शरीरका परिमाण जितने हाथ, जितने अंगुलका था, गोवत्स जितने ऊँचे एवं लंबे थे, इस नवीन प्रकाशमें भी शिशुओंके कलेवरका परिमाण ठीक उतना ही है, गोवत्स भी उतने ही ऊँचे-लंबे हैं। उनके कर-चरण आदि जैसे, जितने परिमित थे, इनके भी वैसे ही उतने ही परिमित हैं। उनके वत्सचारणके उपयोगमें आनेवाली छड़ीकी, वेत्रयष्टिकी जैसी आकृति थी, वह जितनी बड़ी थी, वैसी ही उतनी बड़ी छड़ी ही इनके पास भी हैं। उनके शृङ्ग, वेणु एवं छीके जैसे जितने बड़े थे, वैसे-के-वैसे उतने परिमाणके ही सब कुछ इनके पास भी हैं। उनके जिन-जिन अङ्गोंमें जैसे जो-जो किसलय-कुसुम आदिके आभूषण थे, इनके अङ्गोंमें भी वे वैसे ही आभूषण परिशोभित हो रहे हैं। उनके जो जैसे परिधान-वस्त्र थे, इनके भी वे ही वैसे ही हैं। इतना ही नहीं, स्वभावसे वे जैसे धीर या चञ्चल थे, वैसे ही इनके स्वभावमें भी ठीक वैसा ही धैर्य अथवा चञ्चलता भरी है। जो गुण उनमें थे, वे-के-वे इनमें हैं। उनके जो नाम थे, वे ही इनके हैं। उनकी जैसी आकृति थी, ठीक वैसी-की-वैसी आकृति ही इन सबकी भी है। जो जितनी आयुका बालक था, ठीक उतनी आयुके ही ये सब भी हैं। चलनेकी भङ्गिमा, अन्य चेष्टाएँ, कण्ठस्वर, परस्परके सख्य-व्यवहार आदि भी जैसे उनके थे, वैसे इनके हैं। सारांश यह कि स्वरूप, रंग, आकृति, चिह्न, स्वभाव, स्वर, वस्त्र, आभूषण, चाल, दोष, गुण, रुचि, अरुचि सभी वैसे-के-वैसे ही हैं। उनमें किसी भी प्रकारका तनिक भी अन्तर नहीं। मानो सचमुच ही श्रीकृष्णचन्द्र आज अपने इस आत्मप्रकाशकी पाठशालामें **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**—यह सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है, **'सर्वं विष्णुमयं जगत्'**—यह समस्त जगत् विष्णुमय है —इन श्रुति-पुराणवाक्योंका वास्तविक अर्थ प्रकाशित करने चले हों, इनके अर्थके सम्बन्धमें किसीको तनिक भी भ्रम, संशय न रह जाय, इस उद्देश्यसे अर्थको मूर्तिमान् कर दे रहे हों! सर्वात्मक होकर—इन समस्त गोपशिशु, गोवत्स एवं उनकी समस्त वस्तुओंके रूपमें स्वयं ही परिणत होकर मानो इसीलिये वे अभिव्यक्त हुए हों—

यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

उभयरूप हरि आपुहि भयऊ।
बछरा-बत्सपाल जस चहेऊ॥
जैसे चरन-करन-मुख जासू।
सील-सुभाव, बोल, जस हासू॥
चलन, चातुरी, छरी, बिभूषन।
नाम, दाम, तनियाँ कछु दूषन॥
असन, बसन, मुसुकनि जसि जासू।
जस बिषान वय वेनु विलासू॥

जस बिहार, जसि रुचि, गुण ग्रामा।
सकल भए हरि सुखमय धामा॥
सर्व विष्णुमयं इमि बानी।
कहत बेद इमि सदा बखानी॥
सत्य करी करुनानिधि ताही।
भए सकलमय निज चित चाही॥

× × ×

जितक हुते बछ-बाछी-बाल, आपु ही भए कुँवर नँदलाल।
वैसेइ कंबर, अंबर, हार, वैसेइ सहज अहार-बिहार॥
वैसेइ नाम, दाम, गुन नीके, वैसेइ सृंग, बेनु, दल, छीके।
वैसियै हसनि, चहनि पुनि बोलनि, वैसियै लटकनि, मटकनि, डोलनि
नूपुर, कंकन, किंकिनि, माल, सबै भए ईस्वर नँदलाल।
बेद जु बिदित बिस्व यह जिते, सबै बिस्नुमय भासत तिते॥
जो यह बानी निगमन गाई, सो प्रभु मूर्तिवंत दिखराई।

कहीं किसी भी अंशमें कोई त्रुटि नहीं रही है। रहेगी ही क्यों? यह तो मानो व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके चिर-अभ्यासकी वस्तु है। प्रलयके अनन्तर जब सृजन होने लगता है, उस समय विश्वस्रष्टा पूर्वसृष्टिके सर्वथा अनुरूप ही वस्तुओंका निर्माण करते हैं। वैसे ही गगन-पवन निर्मित होते हैं; चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, अशेष तारकपङ्क्तिकी रचना भी वैसी ही होती है; समुद्र, धरा, गिरिश्रेणी, वृक्ष, गुल्म, लताएँ—वैसी-की-वैसी बनती हैं। अनन्त जीव-समुदायका प्रत्येक प्राणी गतसृष्टिमें जिस कर्मफलका जो अंश जिस भावसे भोग कर रहा था, सर्वथा सर्वांशमें ठीक उसी कर्मफलके उसी भागका भोग साथ लिये, उसी प्रक्रियाका अनुसरण करते हुए व्यक्त हो जाता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

विश्वस्रष्टाके इन समस्त कर्मोंमें तिलमात्र भी कहीं भूल नहीं हो पाती। अनादिसृष्टिके प्रवाहमें स्रष्टा एक बार भी, कभी कहीं भी नहीं चूकते। फिर ऐसे अनन्त विश्वस्रष्टाओंके नियन्ता नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रसे भूल कैसे होगी? वे जब स्वयं ही शिशु, गोवत्स, वेत्र, विषाण, वेणु, छीका, कङ्कण, किङ्किणी, नूपुर, गोवत्सकण्ठकी घण्टिका आदि सब कुछ बन गये हैं, तब भी त्रुटि रहेगी? नहीं-नहीं, इसमें कहीं भ्रम-प्रमादके लिये अवकाश नहीं। और सच तो यह है कि 'सृजन', 'सृष्टि' आदि शब्दोंमें यह सामर्थ्य ही नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्रके इस आत्मप्रकाशकी रूप-रेखाको रंचकमात्र भी वे किसीको हृदयंगम करा सकें। यह प्रापञ्चिक सृष्टि जैसी कोई वस्तु नहीं, जो नियमोंकी परिधिमें समा सके। यह मायिक सृष्टि होती, तब कुछ कहना-सुनना बनता। मायिक सृष्टिके द्वारा नित्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके नित्यलीलापरिकरोंका प्रतिनिधित्व सम्भव जो नहीं। इसीलिये यह श्रीकृष्णचन्द्रके अपने-आपद्वारा सम्पादित है तथा इससे आगे इस सम्बन्धमें संकेतके रूपमें इतना ही कहा जा सकता है कि यह आनन्दात्मक है, चिदात्मक है, यह समस्त परिणति सर्वथा विशुद्ध है, अपने कारणसे सर्वथा अभिन्न है। तथापि यह लीलाकी संघटनाके उद्देश्यसे है, इसलिये उन लीलापरिकरोंके स्वभावका इसमें उन्मेष हो गया है और इस कारणसे यह विभिन्न रूपोंमें प्रतिभासित हो रही है। वाणी इसकी रूप-रेखाका निर्देश कर ही नहीं सकती, यह अनिर्वचनीय है। बस, यह अद्भुत है। यदि इसे सृष्टि कहें तो यह सृजनका उत्कृष्टतम रूप है, सबसे विलक्षण ही यह बना है—

आनन्दात्मचिदात्मकं च तदिदं स्वेनैव सम्पादितं शुद्धं
यद्यपि कार्यजातमखिलं नो कारणाद्भिद्यते।
लीलोपाधि तथापि भिन्नमभवत्तेषां स्वभावोदयात्
सोऽनिर्वाच्यतयाद्भुतः परमभूत्सर्गो निसर्गोत्तमः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस अभिव्यक्तिके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्रका पुनः आत्मविहार आरम्भ हो जाता है। स्वयं तो वे मूलस्वरूपमें अवस्थित हैं ही और फिर स्वयं अपने ही गोपशिशु बने हुए रूपोंके द्वारा स्वस्वरूप गोवत्सोंका आह्वान करने लगते हैं, उन्हें वनसे लौटाने लगते हैं। 'श्रीदाम रे! भैया रे सुबल! देख कितना विलम्ब हो चुका! सूर्य तो आज यहीं वनमें ही अस्तप्राय हो चुके। अतिशय शीघ्रता कर, अन्यथा मैया चिन्तित हो जायँगी।'—यह आदेश लीलाविहारी अपने निजरूप सखाओंको दे डालते हैं। सखासमुदाय भी पुलिनको 'हैओ हैओ, अरे रे रे' की ध्वनिसे निनादितकर राशि-

राशि गोवत्सरूपोंमें अवस्थित श्रीकृष्णचन्द्रको ही हाँक ले चलते हैं। साथ ही वेणुनाद, शृङ्गनाद, परस्परकी क्रीड़ा, नृत्य-गीत आदिका क्रम भी चल ही पड़ता है। इस आनन्दप्रवाहमें ही चलते-चलते वनकी सीमा समाप्त हो जाती है तथा सर्वात्मा-स्वयं ही शिशु एवं गोवत्सरूप बने हुए श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रवेश करते हैं—

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २०)

अखिल लोकपति मुकुटमनि द्वै सरूप धरि भूप।
चरत-चरावत आपुही बछरा-ग्वाल अनूप॥
फेरत-घेरत आपु, खेलत ब्याज अनेक बिधि।
करत जु बिबिध प्रलाप, गए अमित ह्वै अमित गृह॥

व्रजमें आकर भी सदाकी भाँति ही समस्त नियमोंका पालन होता है। 'यहाँ, इस चतुष्पथ-चौराहेसे श्रीदामके गोवत्स अलग हो जाते हैं।' आज भी अलग हो गये और अपने गोष्ठकी ओर चल पड़े। जहाँ जिस शिशुका नियत स्थल है, वहीं आज भी उसके गोवत्स पृथक् होते हैं और वह उनका अनुगमन करता है। गोवत्सोंको गोष्ठमें—उनके सदाके निर्दिष्ट वासस्थानमें ले जाकर शिशु उनकी ग्रीवामें बन्धनरज्जु भी वैसे ही डालते हैं, वत्ससमूह भी अपने पालककी इच्छाको स्वीकार करता हुआ सदाकी भाँति स्वभावगत अपनी चञ्चल या धीर मुद्रा धारण कर लेता है। यह कार्य सम्पन्न करनेके अनन्तर वे बालक अपने-अपने सदनमें प्रवेश करते हैं। वास्तवमें आज न तो कोई गोपशिशु है, न कोई गोवत्स। स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही उन-उन सखाओंके रूपमें निर्दिष्ट स्थल आनेपर पृथक् हुए हैं तथा नियत मार्गसे गोवत्सोंको—अपने-आपको ही गोष्ठकी ओर हाँक ले चले हैं। उन्होंने स्वयं ही तो शिशुरूपमें रज्जुबन्धन डाला है और स्वयं ही गोवत्सरूपमें उस बन्धनको स्वीकार किया है। और यह सब करके स्वयं एकाकी वे ही पृथक्-पृथक्-रूपसे अनन्त गृहोंमें प्रविष्ट हो गये हैं।

तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः।
तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २१)

आजका व्रजप्रवेश, गृहप्रवेश भी और दिनोंकी अपेक्षा कुछ विचित्र ही हुआ है। इधर संध्याने श्याम-अञ्चलका विस्तार किया और उधर नीलसुन्दरका वेणुनाद व्रजपुरके कण-कणमें झंकृत हो उठा। गोपसुन्दरियाँ आकुल नेत्रोंसे प्रतीक्षा कर रही थीं, अन्य दिनोंकी अपेक्षा आज पर्याप्त विलम्ब भी हो चुका था। कतिपय अतिशय कोमलहृदया वात्सल्यवती देवियाँ तो कुछ अन्य आशङ्काएँ करने लग गयी थीं, व्रजरानीका तो कहना ही क्या है। इतनेमें ही वेणुका स्वर सुन पड़ा। प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये सब-की-सब अपने-अपने द्वारदेशपर तोरणके समीप आ गयीं। कुछ तो विह्वल होकर और भी आगे चली गयीं। क्रमशः श्रीकृष्णचन्द्र निकट-निकटतर होते गये और व्रजपुरन्ध्रियोंके नेत्र शीतल होने लगे। पर आज उनकी दृष्टि चटपट बरबस चली गयी अपने गर्भजात शिशुओंकी ओर। वे भी श्रीकृष्णचन्द्रको आवृत किये झूमते आ रहे थे। और दिन यह होता था—गोपसुन्दरियोंकी आँखें अपने पुत्रोंका सचमुच तिरस्कार कर देती थीं, उनके नेत्रोंमें समा जाते थे एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र, अन्य समस्त दृश्य उनके सामनेसे मानो विलुप्त हो जाते थे। तथा फिर अपने द्वारतक श्रीकृष्णचन्द्र पहुँचे, यह धैर्य भी कहाँ रहे? वे दौड़ पड़तीं और नीलमणिको अपने अङ्कमें भर लेतीं। संध्याके एक दण्डमात्र समयमें असंख्य व्रजदेवियोंका यह दैनिक क्रम कैसे पूरा होता था—इसका समाधान मानवी, प्राकृत बुद्धिसे होनेका ही नहीं। पर यह ध्रुव सत्य है कि ऐसा प्रतिदिन ही हो जाता था और वे गोपसुन्दरियाँ सुखसागरमें निमग्न हो जाती थीं। इस प्रकार सबके प्रीति-उपहारका सुख लेते श्रीकृष्णचन्द्र अन्तमें अपनी जननीके अङ्कमें आते थे; किंतु आजका क्रम मानो सर्वथा बदल गया। सबकी दृष्टि एक बार तो श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर गयी अवश्य, पर तुरंत लौटी

और ऐसी लौटी कि मानो नीलसुन्दरको सर्वथा भूलकर अपने पुत्रोंमें ही समा गयी। आज श्रीकृष्णचन्द्रको क्रोडमें धारण करनेकी उत्कण्ठा न जाने क्यों—जागी ही नहीं; अपितु उसके स्थानपर अपने पुत्रोंका ममत्व ही लहरा उठा, प्राण अपने पुत्रोंका ही स्पर्श पानेके लिये नाच उठे। दौड़ीं तो सब-की-सब ही, पर उन्होंने गोदमें उठाया आज अपने-अपने पुत्रोंको ही और स्नेहातिरेकसे उन्हें वक्षःस्थलपर धारणकर उन्मादिनी-सी हो उठीं। निमेष बीतते-न-बीतते वात्सल्यका आवेग और भी द्रुत हो गया, इस कारण स्वयमेव उनके स्तनोंसे दुग्ध क्षरित होने लगा; अमृतधाराके समान स्वादु, आसवकी भाँति मादक इस दुग्धको अपने पुत्रोंके मुखमें देनेका लोभ वे संवरण नहीं कर सकीं। शिशुके कपोलोंपर हृदयस्पर्शी स्नेहका चुम्बन अङ्कितकर वे उनके चूर्णकुन्तल सहलाने लगती हैं, धूलिकण झाड़ने लगती हैं; साथ ही अपना स्तनाग्र उनके मुखमें देकर स्तनपीयूष पिलाने लग जाती हैं। वे नहीं जानतीं, पर आज उन्हें वास्तवमें चिरवाञ्छित परम फल मिल गया है। उनके मनोरथ पूर्ण हो रहे हैं। अपने पुत्ररूपमें पाकर, मानकर, अनुभव कर वे वात्सल्यवती गोपसुन्दरियाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको ही वक्षःस्थलपर धारणकर स्तन्यपान करा रही हैं, उन्हें वात्सल्यरसका उपहार समर्पित कर रही हैं।

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयस्सुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २२)

बेनु कि धुनि सुनि गोपी धाई।
अपने कंठनि लै लपटाई॥
धूरि झारि पुनि पुनि मुख चूमनि।
नहिं कहि परै प्रेमकी घूमनि॥

× × ×

सुभग उरोज स्त्रवत पय धाई।
सुत उठाइ उर लै लपटाई॥
सुअन जानि परब्रह्म उठाई।
अंक राखि निज हृदयँ लगाई॥
सुधा सरिस पय पान कराई।
जानहु परम भाग्य नरराई॥

अस्तु, जब भावावेग किंचित् शान्त होता है, तब माताओंका ध्यान अन्य कृत्योंकी ओर जाता है। प्रतिदिनका ही तो नियम है—श्रीकृष्णचन्द्र सायंकाल वत्सचारण करके लौटते हैं, उनके सखा भी उनके साथ ही आते हैं। आज भी वैसे ही नीलसुन्दर वनसे लौटे हैं। शिशु भी साथ ही आये हैं तथा माताएँ अब उनका संलालन करने जा रही हैं। वे नहीं जान पातीं कि आज इन असंख्य गोपशिशुओंके रूपमें स्वयं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। जानें भी कैसे? कोई अन्तर हो तब तो? जिस बालककी जो जैसी चेष्टा सदा घरपर हुआ करती, सर्वथा वैसी ही तो आज भी है। जो शिशु जिस कमनीय भङ्गिमासे अपनी जननीका आनन्दवर्द्धन करता, वह आज भी वैसी ही मनोहर बाल्यचेष्टाओंसे अपनी माताके हृत्तलको आनन्दपूरित किये दे रहा है! माताएँ भी इन पुत्ररूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रके संलालनमें व्यस्त हैं। संध्या तो हो ही चुकी है, रजनीकी छाया भी आ गयी है और उन्हें अभी बहुत-से कार्य करने हैं। पर आज उनका उल्लास अपने-आप शत-सहस्रगुणित हो चुका है। अतः कहीं उद्विग्नता नहीं है। परम स्नेहपूरित तत्परतासे वे अपने कार्यमें लगी हैं। सदाकी भाँति ही वे अपने पुत्रोंके—वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रके—अङ्गोंमें सुगन्धित तैलका अभ्यञ्जन करती हैं, उबटन लगाती हैं, यह हो जानेपर उन्हें स्नान कराती हैं। फिर चन्दन आदिसे निर्मित सुन्दर अङ्गराग लगाती हैं, वसन-भूषणसे शृङ्गार धारण कराती हैं और तब रक्षा-तिलक करती हैं—केशव आदि नामोंसे उनके ललाट आदि द्वादश अङ्गोंमें रक्षातिलक लगा देती हैं। यह सब करनेके उपरान्त विविध व्यञ्जनोंके सहित मोदक, पूप आदि अनेक सुन्दर सुभोज्य पदार्थोंसे उन्हें भोजन कराती हैं। शिशुरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रसे आजकी वनचर्याका विवरण सुनती हैं। वर्णन करते-करते उनके नेत्रसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है। तब माताएँ सुखद सुरम्य शय्यापर उन्हें शयन करा देती हैं।

इस प्रकार असंख्य गोपबालकरूपधारी बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र अगणित गृहोंमें अनन्त माताओंके द्वारा समादृत होकर परम आनन्दका अनुभव करते हैं—

ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २३)

उबटन उबटि सलिल अन्हवाए, मनभाए भोजन करवाए।

× × ×

चंदन चर्चि, सुभग तन देखी।
होत हृदयँ आनंद विसेखी॥
रक्षातिलक, असन भलि रीती।
सुतन्ह लडावहिं निति नव प्रीती॥
इमि क्रीडा निरखत सुत केरे।
संध्या भई सनेह घनेरे॥

उधर उन गोवत्सजननी गायोंकी दशा भी विचित्र ही है, मुनीन्द्रोंका मन मोहित कर देनेवाली है—

अब सुनि लै गाइन कौ पेम,
बिसरत जिहि दिखि मुनि-मन-नेम।

अभी-अभी तो वे भी वनसे लौटी हैं, वयस्क गोपगण इन्हें वनमें तृण चराकर लौटा लाये हैं। किंतु जैसे ही इस धेनुसमूहने गोशालामें प्रवेश किया, उनकी दृष्टि गोवत्सोंपर पड़ी कि फिर तो कहना ही क्या है! सम्पूर्ण गोष्ठमें सब ओर उनके हुंकारघोषसे, मृदु गम्भीर हाम्बारवसे मानो वात्सल्यका स्रोत उमड़ चलता है। उनके रक्षकवर्ग गोपगण मूक धेनुओंकी यह आजकी अभूतपूर्व स्नेहविह्वलता देख स्वयं भावद्रवित हो उठते हैं। तथा फिर, ओह! गोशावकरूपधारी नन्दनन्दनकी त्वरा, जननीके हाम्बारवका आवाहन सुनकर शीघ्रातिशीघ्र मिलनका वह अद्भुत प्रयास एवं क्षणमात्रमें ही सम्मिलन—इस प्रेमिल दृश्यका वर्णन कौन करे। इन गायोंके इनसे अपेक्षाकृत छोटे स्तनपायी गोवत्स हैं, वहीं उस गोष्ठमें ही उपस्थित भी हैं। पर उनकी ओर तो इनका जैसे तनिक भी ध्यान नहीं; और इन मुक्तस्तन्य वत्सतरोंके प्रति अपना सर्वस्व न्योछावर किये दे रही हैं; इन्हें देखकर, अपने पार्श्वमें पाकर प्रेममत्त हो गयी हैं। इन वत्सतरोंको भी प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं, अपने-आप उन गायोंके थनसे दूधका निर्झर झरने लगता है। ये गोशावक दुग्धपान करने लगते हैं तथा अप्रतिम उल्लासमें डूबी हुई-सी गायें बार-बार उनके अङ्गोंका लेहन करने लगती हैं—

गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान्।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २४)

खरिक निकट जब बछरा बोलै,
सुनतहिं गोधनबृंद कलोलै।
हूँकि-हूँकि आतुर गति आवनि,
इत तैं इन बछरन की धावनि॥
चुसनि, चुसावनि, चाटनि, चूँबनि,
बार-बार हित की वह हूसनि।

× × ×

मनहु लीलि जैहै अति प्रेमा, लहै न जोगी करि बहु नेमा॥

अस्तु, यह है व्रजेन्द्रनन्दनके आत्मविहारका प्रथम दिवस। और अभी तो शरद् है। फिर हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, पावस ऋतुएँ आयेंगी। पुनः शारदीय शोभा श्रीवृन्दाकाननको, व्रजपुरके आकाशको अलंकृत करेगी। तबतक व्रजराजकुमार एकाकी ही वनमें, पुरबीथियोंमें विहरण करते रहेंगे—

आपुहि बछरा, आपुहि बाल,
बिहरत ब्रज बन मोहनलाल।

व्रजके सम्पूर्ण गोपबालक एवं गोवत्स बने हुए श्रीकृष्णका यह खेल प्रायः एक वर्षतक निर्बाध चलता है, किसीको इस रहस्यका पता नहीं लगता। एक वर्षमें पाँच-छः दिन कम रहनेपर एक दिन बलरामजीको वनमें गायोंका अपने पहलेके बछड़ोंपर तथा गोपोंका अपने बालकोंपर असीम और अदम्य स्नेह देखकर आश्चर्य होता है और तब श्रीकृष्ण उनके सामने इस रहस्यका उद्घाटन करते हैं

प्रभात होता, संध्या आती, निशाके श्याम अथवा शुभ्र आवरणसे व्रजपुर आवृत हो जाता एवं पुनः तरणिकिरणें उसे आलोकित करने लगतीं—इस क्रमसे दिन-पर-दिन बीतने लगे। पर किसीने भी गोपशिशु बने तथा गोवत्सरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रको पहचाना नहीं। व्रजपुरन्ध्रियोंका, गायोंका वात्सल्य—मातृभाव ज्यों-का-त्यों रहा; पुत्र बने हुए नन्दनन्दनके प्रति गोपसुन्दरियोंके मनमें कभी कोई अन्यथा आशङ्का नहीं हुई, उनके पुत्र-संलालनकी प्रणाली वैसी-की-वैसी बनी रही; गायें भी वत्सरूपमें विराजित व्रजविहारीको सर्वथा अपना गर्भजात शावक ही अनुभव करतीं, उन्हें दूध पिलाकर, चाट-पोंछकर कृतार्थ होतीं। सब बातें पहलेकी भाँति ही ज्यों-की-त्यों बनी रहीं। अनन्त गृहोंमें, गोष्ठोंमें असंख्य शिशुओं एवं वत्सोंकी मूर्ति धारण किये हुए श्रीकृष्णचन्द्रका यथोचित बाल्यभाव भी पूर्णतया पहले-जैसा ही रहा; किंतु दोनों ओर ही एक अन्तर अवश्य हो गया था। वह यह कि गोपसुन्दरियोंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंके प्रति, गायोंके अन्तस्तलमें वत्सतरोंके प्रति जो स्नेहकी धारा थी, उसका रूप बदल गया था। पहले यह प्रवाह स्वाभाविक शान्त एवं समगतिका था और अब वह अतिशय वेगसे बढ़ने लगा, हिलोरें लेने लग गया था। तथा उधर श्रीकृष्णचन्द्रमें, 'मेरी यह जननी है, मैं इसका पुत्र हूँ'—ऐसी भावना, पहलेके गोपशिशुओंमें, गोवत्सोंमें नित्य वर्तमान रहनेवाले मोहकी यह वृत्ति नहीं रही थी, शिशु एवं वत्सरूपमें विराजित रहनेपर भी अपने स्वरूपमें ही वे नित्य प्रतिष्ठित थे—

गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २५)

मातृभाव ज्यौं-त्यौं भयौ गो-गोपिन तेहि काल।
पूरब बालन ते अधिक नेह-बृद्धि एहि बाल॥
हरि महँ भई असेष, गो-गोपिनकी मातृता।
एतनौ भयौ बिसेष, नेहाधिक्य बिना लसत॥
गो-गोपिनके माहिं कृष्णचंद्र कहँ भाव नित।
प्रथम सरिस सब आहि तोक-भावना जननि पर॥
तोक-भावना हरि कहँ तैसी।
प्रथम हुती मातन पर जैसी॥
एक मोह बिनु जानु महीसा।
बाल-भाव किय प्रभु जगदीसा॥
मैं हौं सुत, यह है मम माता।
एतने बिना जानियहु ताता॥

यहाँ नन्दभवनमें भी व्रजेश्वरीका, उनके नीलमणिका और समस्त कार्यक्रम तो ज्यों-का-त्यों चल रहा था। प्रातः-समीरका स्पर्श पाते ही जननी यशोदा अपने पुत्रको विविध मनुहारके द्वारा प्रतिदिन ही जगातीं—

मोहन जागि, हौं बलि गई।
तेरे कारन स्यामसुंदर नई मुरली लई॥
ग्वाल-बाल सब द्वार ठाढ़े, बेर बन की भई।
गायन के सब बंद छूटे, डगर बन की लई॥
पीत-पट करि दूरि मुखतें, छाँड़ि दै अरसई।
अति अनंदित होत जसुमति,
देखि दुति नित नई॥
जागे जंगम जीव पसु खग और ब्रज सबई।
सूर के प्रभु दरस दीजै होत आनँदमई॥

—तथा श्रीकृष्णचन्द्र भी निद्रा त्यागकर अपनी परम मनोहर चेष्टाओंसे व्रजरानीका, श्रीरोहिणीका आनन्दवर्द्धन करते। फिर अग्रजके सहित नीलसुन्दरका संलालन होता और तब वे वत्सचारणके लिये वनमें चले जाते। सायंकाल लौटते माता उन्हें अङ्कमें धारण करतीं, अपने कोटि प्राणोंका स्नेह देकर, ऋतुके अनुरूप उपचारोंसे लालितकर वनका श्रम हरतीं, ब्यारू होती और श्रीकृष्णचन्द्र पौढ़ जाते, प्रतिक्षण बढ़ते उल्लाससे प्रत्येक चर्या सदाकी भाँति पूर्ण होती; किंतु एक विलक्षणता यहाँ भी हो गयी थी। अब नन्दभवनमें पुरसुन्दरियोंकी भीड़ जो नहीं रही! कहाँ तो श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे नेत्र शीतल करने, उन्हें क्रोड़में लेकर प्राणोंकी व्यथा शान्त करनेके लिये एकत्र हुई गोपिकाओंसे राजप्रासादका कोना-कोना पूर्ण रहता—यह दशा थी। और अब बाहरका कोई नहीं! अब तो व्रजेश्वरका परिवार—नन्दराय, यशोदारानी, श्रीरोहिणी, सेवक, गोप, दासियाँ, परिचारिकाएँ—इनका साम्राज्य है; ये चाहें जैसे राम-श्यामको लाड़ लड़ावें! पहले तो बाहरसे आयी गोपीको सम्मान देना अनिवार्य हो जाता; वह नीलमणिको अपना स्नेह समर्पित कर सके, उसे ऐसा अवसर देना ही पड़ता। और एक-दो हों तो भी बात थी। जब समस्त व्रजमण्डल ही उमड़ आता है, तब घरवालोंकी स्वच्छन्दता छिनेगी ही। पर अब उन्हें पूर्ण सुयोग मिल गया है मनमाना करनेका। साथ ही इस ओर किसीका ध्यान भी नहीं गया। पुरसुन्दरियाँ क्यों नहीं आतीं, यह प्रश्न भी किसीके मनमें उदय नहीं हुआ। जैसे कुछ भी नवीनता हुई ही नहीं हो—यही अनुभूति परिवारके प्रत्येक सदस्यको है। अधिक आश्चर्य तो यह है कि स्वयं पुरवासियोंको भी पता नहीं कि उनकी जीवनधारामें कोई परिवर्तन हुआ है! वे कुछ भी नहीं जानते और जान पायेंगे भी नहीं; किंतु वस्तुस्थिति तो सर्वथा बदल ही गयी है। सचमुच व्रजपुर दूसरा-सा बन गया है। दिन बीत रहे हैं और यह उत्तरोत्तर बदलता जा रहा है। बलिहारी है लीलाविहारीकी इस लीलाकी! कुछ दिन पूर्व यशोदानन्दन व्रजपुरवासियोंके लिये अपने कोटि-कोटि प्राणोंसे भी अधिक प्रिय रहे हैं; क्षणभरके लिये भी उनके अन्तस्तलमें, बाह्य व्यवहारमें—जबसे श्रीकृष्णचन्द्र दृष्टिपथमें आये—अपनी संतानके लिये वैसे प्यारका उन्मेष नहीं हुआ। पर आज? देखनेकी बात है—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति प्यार कम हुआ हो, यह बात तो नहीं है; किंतु ठीक वैसा ही, उसी जातिका स्नेह उनके मनमें, प्रत्येक चेष्टामें अपने गर्भजात शिशुओंके लिये निरन्तर लहरा रहा है। जो असीम प्रीति श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति है, वैसी-की-वैसी वही स्नेहलता अपने बच्चोंमें प्रतिदिन क्रमशः बढ़ती रहकर ओर-छोर-विहीन बन गयी है—वर्षपर्यन्त परिवर्द्धित होती हुई निस्सीम बन गयी है तथा ठीक यही दशा उन गायोंकी भी है। अपने वत्सतरोंके लिये उनका स्नेह भी क्रमशः ऐसा ही अपरिसीम बन गया है—

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्।
शनैर्निस्सीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २६)

नेह बृद्धि ब्रज जुबतिन केरी।
सुनहु तात तोहि कहौं निबेरी॥
नर-नारी जे कोउ ब्रजबासी।
तिन के प्रान कृष्न सुख रासी॥
निज पुत्रन तें कृष्न मझारा।
अति सनेह—यह प्रथम बिचारा॥
अब निज सुअन माँझ अति प्रीती।
बढ़ी निरंतर सुखमय रीती॥
बरस एक बाढ़ी सब काहू।
नेह-लता निज सुत चित चाहू॥

अस्तु, इस प्रकार सर्वात्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रका यह अद्भुत आत्मविहार प्रायः वर्षपर्यन्त चलता रहा।

शिशु एवं गोवत्सका मनोहर स्वाँग लेकर, साथ ही यशोदानन्दनके रूपमें भी नित्य सबके संचालक बने रहकर वे यह खेल खेलते रहे, अपने-आप द्वारा अपने-आपका ही पालन करते रहे; स्वयं अपने-आपके ही साथ अपने-आप अनेक भुवनमोहन बाल्यक्रीडाकी, परम रमणीय कौतुककी रचना करते और सुखसिन्धुमें निमग्न हो जाते। काननमें, गोष्ठमें उनका यह वर्षव्यापी क्रीडाविलास निर्बाध होता रहा—

इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २७)

एहि बिधि भए बत्स हरि आपू।
मेटन हित निज जन परितापू॥
बछरा बत्सपाल के ब्याजा।
पाल्यौ निज जन जीव समाजा॥
गृह बन फिरत, करत बहु लीला।
कृपासिंधु गुन गन बहु सीला॥
बरष प्रजंत गयउ एहि रीती।
लखेउ न काहुँ बढ़ै जो प्रीती॥

× × ×

ब्रजमंगल भगवान, ब्रह्म सच्चिदानंद प्रभु।
भक्तन के सुखदान, लगे देन सुख घरन, घर॥

और तो क्या—इतने दिन हो गये, अग्रज बलरामको भी इस रहस्यकी गन्धतक न मिली। वास्तविक गोपशिशु एवं गोवत्स मायामुग्ध हुए कहीं अन्यत्र विश्राम कर रहे हैं और उनके अनुज ही इन असंख्य रूपोंमें आत्मप्रकाश कर एक वर्षसे गोष्ठमें, वनमें विहार कर रहे हैं—यह कल्पना क्षणभरके लिये भी रोहिणीनन्दनके मनमें न आयी।

ऐसैं बरस दिवस निरबह्यौ संकरषन हूँ भेद न लह्यौ।

बलराम जानें कैसे? व्रजेन्द्रकुलचन्द्रको यह अभिप्रेत जो न था। क्यों अभिप्रेत नहीं था, इसे तो एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र ही जानते हैं। उनके किसी भी संकल्पका **'इत्थम्भूत'** समाधान पा लेना सम्भव ही नहीं है। पर यह सत्य है कि श्रीकृष्णचन्द्र नहीं चाहते थे और इसीलिये बलराम नहीं जान सके। आरम्भसे ही संयोग ऐसा बना कि वे इस अभिनयसे पृथक् हो गये। जिस दिन अघासुरका मोक्ष हुआ, विधाताकी माया फैली, शिशु-गोवत्स अपहृत हुए, उस दिन रोहिणीनन्दन वत्सचारणके लिये अनुजके साथ वनमें नहीं आ सके। वे आये होते तो सम्भवतः लीलाका प्रवाह कुछ और ही होता। श्रीकृष्णचन्द्रका वह योगीन्द्र-मुनीन्द्रदुर्लभ, परम पावन चरणस्पर्श अघ दैत्यको मिलता कि नहीं, यह कहना कठिन है। क्या पता, इससे पूर्व ही राम उसका कचूमर निकाल देते? और फिर उनके साथ रहनेपर, विधाता अपनी उस चेष्टासे उनके कोपभाजन न बन जाते—यह कौन कह सकता है? विधिकी माया उन्हें तो स्पर्श कर सकती नहीं। फिर ब्रह्ममोहनका यह प्रसङ्ग इसी रूपमें संघटित होता कि नहीं—इसका उत्तर पा लेना सहज नहीं। जो हो, हेतु कुछ भी हो, यह सर्वथा, सर्वांशमें सत्य है कि व्रजेन्द्रनन्दनकी ही इच्छा नहीं थी और इसीलिये राम प्रारम्भसे अबतक इस रहस्यसे अपरिचित रहे। अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्रके 'शेष' नामसे अभिहित, उनके ही दूसरे रूप बलरामके लिये कौन-सी वस्तु अज्ञात है। पर अब पद्मयोनि मञ्चपर पुनः आनेवाले ही हैं। इसीलिये—'दाऊ भैयाको सूचना इससे पूर्व ही मिल जाय'—मानो श्रीकृष्णचन्द्रने यह इच्छा की और उसीके अनुरूप एक छोटी, पर नयी-सी घटना रोहिणीनन्दनके समक्ष घटित हुई।

उस दिन भी शरद्-ऋतु थी और आज भी शरद्के ही सुखद स्पर्शसे वन्य तरु, लतावल्लरियाँ, कुसुमसमूह, निरभ्र गगन—सभी हँस रहे हैं। तबसे—शिशु एवं गोवत्सोंके अपहृत होनेके दिनसे वर्ष पूर्ण होनेमें केवल पाँच-छः दिन और रहे हैं। अबतक प्रतिदिन ही नवीन उल्लासके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका वत्सचारण होता आया है। आज भी वे बलरामके सहित वत्सचारणके लिये सदाकी भाँति वनमें पधारे हैं। जो नित्य अजन्मा हैं, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र असंख्य गायोंके, गोपवनिताओंके पुत्र बने हुए, अपने-आपको अपने-आपके द्वारा ही घेरे हुए झूमते चले जा रहे हैं गिरिराजके चरणप्रान्तकी ओर—

एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्।
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २८)

एतने दिन पर्जंत प्रभु चरित लखेउ नहिं राम।
रहेउ दिवस षट पाँच जब, लखेउ कछुक बलधाम॥
सो बरनत मुनि कृपानिधाना।
हरिचरित्र सुखप्रद जग जाना॥
एक समय बलदेव समेता।
बन गवने प्रभु कृपानिकेता॥
बत्स चरावन हेतु उदारा।
अपर सखा तेहि को गन पारा॥
बरष माँझ दिन पाँचक ऊना।
अति प्रसन्नता दिन दिन दूना॥

× × ×

उठि मोहन प्रात चले बन कौं।
लै राम, सखा, बछरागन कौं॥
बन कौं सुत मातनि जानि ठए।
कच ऊँछि, कलेऊ बाँधि दए॥
उर मोह पयोधि परी चलतें।
नहिं बात कढ़ै जु कछू गल तें॥
गौवैं बन जात रम्हाइ चलैं।
मुरकैं, चितवैं, सुत चाहि भलैं॥

शिशुओंकी शृङ्गध्वनि, वंशीरव, करतलवाद्यसे गोवर्धन-परिसर निनादित हो उठता है। वन्य पशुविहंगम चञ्चल होकर नन्दनन्दनके दर्शनके लिये उस दिशामें ही दौड़ पड़ते हैं। उन्हें रंचकमात्र भी भय नहीं होता, अपितु श्रीकृष्णसखाओंका यह शृङ्गनाद उन्हें प्रतिदिन ही नये उल्लाससे भर देता है। वे इनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। अस्तु, आज भी उनके आनन्दका पार नहीं है। वे देख रहे हैं श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर, उनके सखाओंकी ओर। तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनके सखा इनकी ओर निहारकर प्रफुल्लित हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं और अब आ गया है क्रीड़ाके उपयुक्त स्थल। फिर तो उद्दाम कौतुक आरम्भ होनेमें विलम्ब क्यों हो।—

पहुँचे बन सुखधाम, संग सखा अभिराम।
अमित खेल तहँ खेलि, बछरनि बछरनि मेलि॥

आज संयोग ऐसा है कि ठीक नीचे तो श्रीकृष्णचन्द्र एवं शिशुओंके संरक्षणमें असंख्य गोवत्सराशि एकत्र हो गयी है, तथा ऊपर गोवर्धनके वक्षो देशमें, पर्वतके बहुत ऊपरी समतल तृणपूर्ण भूभागपर वृद्धवयस्क गोपोंसे परिचालित समूह-की-समूह गायें विचरण कर रही हैं। गायें तो बहुत पूर्व आ चुकी थीं, पर गोवत्स आये हैं अभी-अभी कुछ क्षणों पहले; किंतु इनके आते ही एक विचित्र-सी बात हो गयी। धेनुपालकोंने देखा—'सहसा गौएँ अतिशय चञ्चल हो उठीं, उनकी दृष्टि केन्द्रित हो गयी है नीचे गिरिराजके तटदेशमें एकत्र हुई गोवत्सराशिकी ओर। इनमें और उनमें व्यवधान भी कम नहीं है। गोवत्स इनसे बहुत दूर हैं—सर्वथा पर्वतके चरणतलके क्षेत्रमें। फिर भी ये जैसे उन्मत्त-सी हो गयी हैं, गोशावकोंको देखकर स्नेहवश सुध-बुध खो बैठी हैं। इतना ही नहीं, यह लो! यह दौड़ीं उनकी ओर।' बस, फिर तो पालकवर्गने भी अतिशय त्वरासे अपने लगुड ऊपर कर लिये; जो जहाँ था, वहींसे वह गरज उठा, प्रतिरोधके लिये प्रस्तुत होकर पूर्ण वेगसे दौड़ा। पर कहीं वेगसे झरते प्रपातकी अजस्र धारा भी लघु प्रस्तरखण्डोंके प्रतिरोधसे प्रतिरुद्ध हुई है? वह तो बह ही चलती है। ऐसे ही धेनुसमूहने भी आज अपने पालकवर्गका अतिक्रमण कर लिया। सम्पूर्ण शक्तिका प्रयोग करके भी कुशल रक्षक गोप गायोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके। और तो क्या, दुर्गम पथ—सघन लताजालसे आवृत, कण्टकपूर्ण, स्थान-स्थानपर पाषाणखण्डोंसे रुद्ध वह पर्वतमार्ग भी उन्हें प्रतिहत न कर सका। वे गायें सबका उल्लङ्घन कर भाग चलीं। उनके आगेके दो पैर परस्पर संयोजित-से हो गये हैं; ठीक ऐसे ही पिछले दोनों पैर भी जुड़-से गये हैं; वेगसे दौड़नेके कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो वे द्विपाद—दो पैरके जन्तु हों। इस समय उनका मुख भी ऊपरकी ओर उठ गया है, पूँछ भी ऊपरकी ओर तन गयी है—सब-की-सब ऊर्ध्वमुख, ऊर्ध्वपुच्छ हो गयी हैं। सबकी ग्रीवा ककुद्से संलग्न हो रही है। वात्सल्य उच्छलित होकर सबके थनोंसे दूधके रूपमें झरता जा रहा है और वे हुंकार करती हुई अत्यन्त द्रुतगतिसे दौड़ी जा रही हैं अपने वत्सतरोंकी ओर—

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम्।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम्॥

दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छो-
ऽगाद्धुङ्कृतैरास्त्रुपया जवेन॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २९-३०)

इक दिन गिरि गोबरधन गाइ।
चरति हीं चढ़ी आपने चाइ॥
ब्रज समीप बछरन अवहेरि।
चलीं जु ग्वाल सके नहिं फेरि॥
स्वच्छ पुच्छ ऊँची करि लई।
मानहुँ ढुरत चँवर छबि छई॥
अति गति पग डारनि हुंकारनि।
सींचति धरनि दूध की धारनि॥
बगरे बछरन पै चलि आई।
मिलीं आइ, कछु नहिं कहि जाई॥
× × ×
अति सनेह बस तन मन जासू।
भूलि गई सब सुधि-बुधि आसू॥
अतिसै बेग तहाँ तें धाई।
तुरित सबै बछरन ढिग आई॥
रोकन लगे गोप बहु भाँती।
एक एक बल बिपुल सुहाती॥
अतिसै दुर्गम पथ बन घोरा।
सिला बिपुल द्रुम सघन कठोरा॥
गन्यौ न ताहि, तहाँ तें दौरी।
मनहुँ बात बस ह्वै गइ बौरी॥
मान भंग भए गोप सब, रुकी न कैसैंहु गाइ।
धाई जिमि मृगराज गति, निज तन कहुँ बिसराइ॥
× × ×
श्रवन पुच्छ उन्नत करैं, स्त्रवत दुग्ध करि प्रीति।
हरे भरे तृन बदन में, धाई नृप इहि रीति॥

देखते-देखते गायें पर्वतसे नीचे उतर आयीं, गोवत्सोंके समीप जा पहुँचीं। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि इन गायोंके स्तनपायी दूसरे वत्स हो चुके हैं; कई तो, बस, दो-चार दिन पूर्वकी ही ब्यायी हुई हैं; कितनोंके वत्स भी अपनी जननीका अनुसरण करते हुए कूदते, उछलते वनमें साथ-साथ आये हैं और वे इस समय आभीर रक्षकोंद्वारा वहीं—शिखरपर ही रुद्ध होकर उत्कर्ण हुए आकुलताभरी आँखोंसे इनकी ओर देख भी रहे हैं। पर उनकी ममता भी मानो इन गायोंमें सर्वथा नहीं रही हो, इस प्रकार उन्हें परित्यागकर ये यहाँ, अपने पूर्वप्रसूत मुक्तस्तन्य वत्सतरोंके समीप आ पहुँचीं। रक्षकवर्गका लगुड-प्रहार, मार्गकी भयानकता, अपने नवजात शावकका स्नेहनिबन्धन—कोई भी इन्हें रोक न सका। सब कुछ सहकर, सबकी उपेक्षा कर ये यहाँ चली ही आयीं। इसे कहते हैं श्रीकृष्णचन्द्रका आकर्षण! सचमुच जब किसीका मन श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलनेके लिये व्याकुल हो उठता है, उस समय उसकी ऐसी ही दशा होती है। उसके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं। स्वजनोंका विरोध उसके कर्णरन्ध्रमें प्रविष्ट नहीं होता। किसीके भीषण प्रहारकी व्यथा उसे स्पर्श नहीं करती। पथकी भीषणता उसके ध्यानमें ही नहीं आती। पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धवका ममत्व उसके मनमें उदय ही नहीं होता। उसे दीखते रहते हैं एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र और वह अम्लान मनसे, प्रतिक्षण वर्द्धनशील उत्साहपूरित चित्तसे सब कुछ सहता हुआ, समस्त विघ्न-बाधाओंको पैरोंसे रौंदता हुआ, अन्य सब ओरसे मुँह फेरकर, सबको भूलकर अत्यन्त तीव्र गतिसे दौड़ पड़ता है उनकी ओर, अविराम भागता चला जाता है उनको ही लक्ष्य बनाकर; उनके कण्ठसे लगकर ही शान्त होता है। इसीलिये गायें भी चली आयीं इन वत्सरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रके समीप। तथा आकर, अपने वत्सतरोंसे मिलकर जो इनकी दशा होती है, उसे वाणी कैसे व्यक्त करे। किसी अंशमें इतना-सा संकेतमात्र कर सकती है—वे गायें स्नेहातिरेकवश जीभ निकालकर इनके अङ्गोंको ऐसे चाटने लगती हैं, मानो उठाकर अपने हृदयमें रख लेना चाहती हों। थनसे दूधकी निर्मल धारा तो कबकी क्षरित होती आ रही है। केवल वत्सतरोंके मिलनेभरकी देर थी। ये मिल गये। फिर तो अपना समस्त रसपान करा देनेके उद्देश्यसे ये अपने स्तन इन वत्सोंके मुखमें रख ही देती हैं। गोवत्स भी हुमक-हुमककर दूध पीने लग जाते हैं। कदाचित् किसीके नेत्र इन बड़भागिनी

गायोंकी आँखोंमें समाकर देख सकनेकी क्षमता पा लें, तभी दीख सकता है—कितना अपूर्व, अप्रतिम स्नेह भरा है इन मूक पशुओंके नयनोंमें—

समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्।
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३१)

धेनु धाइ बछरन ढिग आई।
प्यावन लगी प्रेम अधिकाई॥
बत्सवती अपि धेनु प्रबीने।
प्यावत भइ तजि बाल नवीने॥
चाटन लगी प्रेम अति गाढ़ौ।
गिलि जैहैं जनु, अस सुख बाढ़ौ॥

अस्तु, उधर अपने प्रयास व्यर्थ हुए देखकर रक्षक गोपोंके रोषका पार नहीं। इतनी प्रबल चेष्टा करनेपर भी गायें न रुकीं, सारा परिश्रम निरर्थक सिद्ध हुआ—इस बातसे प्रथम तो वे अतिशय लज्जाका अनुभव करने लगे और फिर उनमें क्रोधका संचार हो गया। गायोंपर नहीं, गोवत्सोंके संरक्षक अपनी ही संतति उन गोपशिशुओंपर। वे सोचने लगे—'पशु तो पशु ही हैं, इनमें बुद्धि नहीं। वास्तविक अपराधी तो ये शिशु हैं। सचमुच नन्दनन्दन एवं बलरामका अनुसरण करते-करते ये सब अतिशय उद्धत हो गये हैं। देखो न, इतना तुमुल कोलाहल कर इन सबोंने जान-बूझकर गायोंको बिझुकाया है।' तथा ऐसा सोचकर क्रोधसे अभिभूत हुए वे गोपगण भी बालकोंको कुछ दण्ड देनेके उद्देश्यसे नीचे उतरने लगे। उस दुर्गम पर्वतपथको पार करते समय उन्हें अत्यन्त कष्ट हो रहा है; फिर भी तीव्र क्रोधके आवेशमें—चाहे कुछ हो, वहाँ जाकर शिशुओंका शासन करना ही है—इस आवेशमें पूरे वेगसे चलकर वे गिरिराजके तटदेशमें उतर पड़ते हैं।

कौन बताये—पहले उनकी दृष्टि गोसमूहपर पड़ी या बालकोंपर? गायें तो तन्मय हो रही हैं वत्सतरोंको अपना स्नेहदान देनेमें। उनके लिये रक्षकवर्गके रोषकषायित नेत्रका कोई अर्थ नहीं। किंतु जब इनकी दृष्टि बालकोंपर पड़ी, तब एक बार तो वे सब-के-सब बालक 'सन्न' रह गये! अवश्य ही स्थिति बदलते देर न लगी। निमेष गिरते-न-गिरते रक्षक गोपोंकी दशा भी विचित्र ही हो गयी। वे आये तो थे शिशुओंकी भर्त्सना करने, उन्हें दण्ड देने और हुआ यह कि वात्सल्यके प्रबल प्रवाहमें सहसा सब-के-सब एक साथ बह चले। उनकी समस्त चित्तवृत्ति इसमें निमग्न हो गयी। क्या हुआ, कैसे हुआ—यह किसीने नहीं जाना। बस, उन्होंने शिशुओंकी ओर देखा ही था कि एक झोंका-सा आया, तड़ित्-लहरी-सी छू गयी और उच्छलित हो उठा स्नेहरससिन्धु। मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, शरीर—सब डूब गये इसमें। क्रोधकी वृत्ति समा गयी इसके अतलतलमें। ऊपर उठीं अनुरागकी लहरें। इनके साथ ही नाचते हुए उनके प्राण दौड़े पुत्रोंको अङ्कमें भर लेनेके लिये! लगुड हाथसे गिर गया, भुजाएँ फैल गयीं। मानो सहस्र-सहस्र प्राणोंकी आर्ति, उत्कण्ठा प्रत्येक गोपमें एकत्र हो गयी हो—ऐसे उल्लाससे उन सबने अपने-अपने पुत्रोंको उठाकर अङ्कमें धारण कर लिया, वक्षःस्थलसे लगाया और फिर मस्तकका घ्राण लेने लगे। वे इस समय पुत्रोंके स्पर्शसे, घ्राणसे जिस परम आनन्दका अनुभव कर रहे हैं, इसे वे ही जानते हैं—

गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान्॥
तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३२-३३)

पसु-पालन रोकी जब धेनू।
रुकी न बैमुख श्रम भा फेनू॥
रोस भरे दृग अति रतनारे।
पंथ त्यागि धाए अति हारे॥
सरिता गिरि बन उपबन माहीं।
आए दौरत तन सुधि नाहीं॥
आए जद्यपि रोस भर, ताडन मन अनुरागि।
तदपि देखि बालक बदन, बढ़्यौ प्रेम बड़भागि॥
जद्यपि रिस अति घोर,
निरखि बदन सब मिटि गई।

प्रेम उमग नहिं थोर,
रहसि लिए उर लाइ सुत॥
सीस सूँघि पुनि पुनि उर लाई।
मानहुँ परी परम निधि पाई॥

लीलाशक्तिकी प्रेरणा ही इन्हें पुनः यहाँसे अलग करती है, अन्यथा आज ये अपने पुत्रोंको छोड़कर किसी अन्य कार्यमें योगदान कर सकें—यह सम्भव ही नहीं रहा था। अभी भी बालकोंको हृदयसे लगाये, निर्निमेष नयनोंसे इनकी ओर वे देख ही रहे हैं। आगे क्या करना है, कहाँ जाना है—इसका उन्हें तनिक भी भान नहीं। कुछ क्षणोंके अनन्तर अचिन्त्य प्रेरणावश उन सबने पुत्रोंको गोदसे उतारा भी सही; पर सुध-बुध खोये-से, भ्रान्त-से हुए वे वहीं खड़े रहे। गायोंकी दशा भी ऐसी ही है। उन्हें भी किसी अलक्षित हाथोंने ही वत्सतरोंसे अलग किया। आँखें तो उनकी भी लगी रहीं अपने शावकोंकी ओर ही। पर शरीरसे वे हट आयीं। पालकवर्गने इनकी ओर देखा या नहीं—यह निर्णय कठिन है। हाँ, यन्त्रपरिचालित-से हुए उनके हाथ अपने-आप ऊपर उठ अवश्य गये हैं, संकेत कर दे रहे हैं गायोंको पुनः गिरिराज-शिखरकी ओर बढ़ चलनेके लिये और ये उधर ही चलने लग जाती हैं। इनके पीछे गोप भी चल पड़ते हैं—इच्छापूर्वक नहीं, जैसे कोई बरबस खींचे लिये जा रहा हो, इस प्रकार वे जा रहे हैं। वे कुछ भी बोल नहीं सकते—कण्ठ अश्रुके आवेगसे रुद्ध हो चुका है और अब तो उन्हें पथ दीखना भी बंद हो गया है—इस अननुभूतपूर्व परमानन्दकी निरन्तर स्मृतिसे नेत्र झरने लगे हैं, अश्रुका अजस्र प्रवाह बहने लगा है। अत्यन्त कठिनाईसे धीरे-धीरे मार्गका अनुसरण करते हुए वे वहाँसे लौट पड़े हैं—केवल देहसे ही, मन तो अभी भी वहाँ ही है। निमेषशून्य दृष्टिसे मानो वे अब भी ठीक वैसे ही देख रहे हैं उन शिशुओंको ही! —

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः॥

(श्रीमद्भा १०। १३। ३४)

गदगद कंठ नयन भरि बारी।
एकटक रहे सुबदन निहारी॥

उपर्युक्त घटनाको आदिसे अन्ततक बलरामने अपनी आँखों देखा है। यहाँसे कुछ ही दूरपर एक सघन कदम्बकी छायामें श्रीकृष्णचन्द्रके दक्षिण स्कन्धपर अपनी बाम भुजा टेके खड़े वे देख चुके हैं—'किस प्रकार गायें गिरिराज-शिखरसे दौड़ीं, गोपोंके द्वारा प्रतिरोधके समस्त प्रयास असफल हुए और स्तनपायी वत्सोंका भी परित्याग कर दुर्गम पथका उल्लङ्घन कर वे अपने उन मुक्तस्तन्य वत्सतरोंसे आ मिलीं; कितना स्नेह, प्राणोंकी कैसी आर्ति इन पशुओंमें इन वत्सोंके लिये है। प्रेमसमृद्धि एवं तदनुरूप उत्कण्ठाका कितना उज्ज्वल निदर्शन इन धेनुसमूहोंने अभी-अभी उपस्थित किया है। तथा फिर उन रक्षक गोपोंकी दशा! प्रथम तो अपनी संततिके व्यवहारसे क्षोभ, वह क्रोधकम्पित कलेवर और पश्चात् पुत्रोंकी ओर देखनेमात्रसे ही प्रेमावेशका वह निखरा हुआ सौन्दर्य—दोनोंका सामञ्जस्य कितना आश्चर्यमय है!' रोहिणीनन्दन बड़े ध्यानसे यह सब कुछ देखते रहे हैं। पर 'ऐसा क्यों हुआ, क्यों हो रहा है'—इसका हेतु उन्हें विदित नहीं। इसीलिये वे विचारमें पड़ जाते हैं, वस्तुस्थितिके सम्बन्धमें सोचने लग जाते हैं—

व्रजस्य रामः प्रेमर्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम्।
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३५)

यह देखि बल सोइ, मन अचरज भोइ।

× × ×

ता दिन बल के भयौ सँदेह, सिसुन बिषै दिखि ब्रज कौ नेह।

× × ×

लखि बल प्रेम अधिक सब काही।
करत बिचार आपु चित चाही॥

एक-एक बात रोहिणीनन्दनको विस्मयसे पूर्ण कर दे रही है। साथ ही बाल्यावेशके किसी एक छिद्रसे अनन्तदेवके अपरिसीम ऐश्वर्यका एक क्षुद्र स्रोत शनैः-शनैः झरने लगता है और वे उसके एक बिन्दुका स्पर्श-सा करते हुए, उससे अपनी लीलारसमत्त आँखोंको आँजते-से हुए घटनाके प्रत्येक अंशके

हेतुपर विचार करने लगते हैं—'अखिलात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके इतने निकट रहनेपर भी ऐसी बात क्यों हो रही है? समस्त व्रजवासी गो-गोप-गोपियोंके जीवनस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रके उपस्थित रहते हुए ही धेनुसमूहका इन अपने गोवत्सोंमें, रक्षक गोपोंका अपनी संततिमें, स्नेह बढ़नेका हेतु क्या है? इनका जैसा प्रतिक्षण वर्द्धनशील, अपरिसीम स्नेह श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति है, ठीक वैसा ही स्नेह वत्सतरोंके प्रति, शिशुओंके प्रति कैसे हो गया? ऐसी बात पहले तो कभी नहीं हुई थी? जहाँ आत्मज्ञानका आलोक नहीं, वहाँ उस अन्तःकरणमें तो अज्ञात आत्माके सुखके उद्देश्यसे ही पुत्र आदिके प्रति प्यारका प्रवाह सम्भव है; किंतु जहाँ जिन नेत्रोंके सामने अखिलात्मा विशुद्ध सत्त्वविग्रह श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं, निरन्तर अत्यन्त निकट अवस्थित रहकर चिन्मय लीलारससुधाका दान कर रहे हैं, वहाँ अन्यके प्रति आकर्षण—अपनी संततिके प्रति स्नेह कैसे सम्भव हुआ? त्रिगुणमय संसारमें सुखके आधार स्थिर नहीं, उनमें परिवर्तन होना अनिवार्य है, स्नेहके पात्र बदलेंगे ही। आज सुखका आधार कुछ और है, कल कुछ और ही रहेगा; आज जिसके प्रति प्राणोंका स्नेह समर्पित करके भी तृप्ति नहीं होती, कल उसका स्थान कोई अन्य ग्रहण करेगा; किंतु जिसने एक बार श्रीकृष्णचन्द्रमें सुखका अनुभव किया, अपना सारा स्नेह श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें अर्पित कर दिया, उसके लिये अनन्तकालतक सुखका कोई अन्य आधार सम्भव ही नहीं, उसका स्नेहास्पद अन्य बन सकता ही नहीं। फिर भी यहाँ यह वैषम्य कैसे संघटित हुआ? एक बार श्रीकृष्णचन्द्रके लिये सर्वस्व न्योछावर कर देनेके अनन्तर भी पुनः गो-गोपोंका अपने वत्सतरोंके प्रति, शिशुओंके प्रति यह स्नेह-निर्बन्ध कैसे सम्भव हुआ? और इनकी बात दूर, स्वयं मेरी भी ऐसी दशा क्यों हो गयी? मुझे भी ये शिशु, ये गोवत्स ठीक अपने अनुजके समान ही क्यों प्रिय लग रहे हैं? इस आश्चर्यकी भी कोई सीमा है? आखिर ये बातें हो कैसे रही हैं? किस अघटनघटनी महाशक्तिके प्रभावसे गायोंकी, गोपोंकी, मेरी ऐसी अवस्था हो रही है? किस हेतुसे, कहाँसे इस महाशक्तिका अवतरण हुआ है? क्या यह कोई देवमाया है? अथवा शक्तिविशिष्ट नरकी—किसी मनीषी मुनिकी माया है? अथवा यह आसुरी मायाका प्रसार तो नहीं है? किंतु आसुरी नारी, दैवी माया—इनमें कोई-सी मुझे भी मोह सकती है क्या? विश्वमें ऐसी कौन-सी माया है, जो मुझे भी मोहित कर ले! हाँ, एकमात्र मेरे अनुज—नहीं-नहीं, मेरे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रकी ही अघटनघटनी, परमाचिन्त्यशक्तिमयी माया ऐसी है, जो मुझे भी मुग्ध कर दे! उनकी ही माया फैली हो और ये बातें संघटित हो गयी हों—यह असम्भव नहीं है।'

रोहिणीनन्दन लवमात्र काल भी व्यतीत होते-न-होते इतनी बात सोच गये; और केवल सोच भर लिया हो, यह नहीं; इस रहस्यकी ओर-छोर पा लेनेका संकल्प भी उनमें उदय हो गया। अबतक तो वे विचार कर रहे थे लीलानुरूप भङ्गिमाकी चादर ओढ़कर ही; किंतु अब उन्होंने अपनी ज्ञानमयी दृष्टिके आलोकमें देखना आरम्भ किया और देख लिया—स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही तो इन असंख्य गोवत्स एवं गोपशिशुओंके रूपमें अवस्थित हैं!—

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥
केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥
इति संचिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि।
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३६—३८)

पिवत न अस्तन बालक जेऊ।
तिन पर अधिक प्रीति कत भेऊ॥
निकट प्रसूति बत्स कहँ त्यागी।
पूरब महँ किमि ए अनुरागी॥
नित प्रति बढ़ै प्रेम सब काहू।
लखौं न कारन प्रीति-उमाहू॥
मोहि सहित सब कहँ एहि रीती।
प्रेम अधिक छन-छन किमि प्रीती॥
मोहि प्रीति इन में केहि हेतू।
समुझि परै नहिं मोह निकेतू॥
कै दैवी माया यह होई।
कै नर असुर कहावति सोई॥

केहि कारन प्रेरी किन कैसें।
अपर न घटै भई यह जैसें॥
अपर न माया प्रबल असि, मो कहँ मोह कराइ।
यह माया श्रीकृष्न की, अस मो मन ठहराइ॥
अस बिचारि बलराम ग्यान दृष्टि देखी तबहिं।
कृष्नदेव सब ठाम बछरा बत्सप आपु हरि॥

× × ×

बलबीर ग्यान-दृग देखि तहाँ।
प्रभु आतम भूति बिभूति महाँ॥
सब बिस्व चराचर ब्यापि रह्यौ।
बछरानि सखा किमि जाइ कह्यौ॥

× × ×

ये ब्रज बालक वे तौ नाहीं।
पाछे हुते जु या ब्रज माहीं॥
अब तौ नाम दाम दल अंबर।
बेनु, बिषान बेत बल कंबर॥
कंकन किंकिनि भूषन जिते।
मोहि श्रीकृष्न अभासत तिते॥

बलरामके अधरोंपर स्मितकी एक रेखा अङ्कित हो गयी। उन्होंने अपने अनुजके नेत्रसरोजपर अपनी दृष्टि स्थिर कर ली तथा फिर एक साथ आदर्श विनय, अकृत्रिम नम्रता, मधुमय व्यङ्ग, सरस परिहास, अपरिसीम स्नेह, महान् आदर, पवित्र प्रणयरोष—न जाने कितने भावोंका रस वाणीमें भरकर वे बोल उठे—'भैया रे श्रीकृष्ण! नहीं, नहीं; हे सर्वेश्वर देवता! सुनो, देखो; गोवत्स, गोपशिशुओंके रूपमें पार्षद नहीं, ऋषि नहीं, एकमात्र तुमने ही इस असंख्य रूपोंमें आत्मप्रकाश किया है। यहाँ दीख रहे हैं वत्स, शिशु एवं उनसे सम्बन्धित अनन्त पदार्थ; किंतु वास्तवमें तुम्हारे अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई नहीं, कुछ भी नहीं। केवल तुम्हीं इन असंख्य रूपोंमें मूर्त हो रहे हो। बता दो, भैया! हे महामहेश्वर! बता दो प्रभो! इन परिदृश्यमान गोशावक, गोपबालक, शृङ्ग, वेत्र, छीके आदि अनन्त रूपोंमें आखिर तुमने आत्मप्रकाश किस उद्देश्यसे किया है? विस्तारसे नहीं, संक्षेपमें ही सुना दो। भैया!'—रोहिणीनन्दनने शीघ्र उत्तर पानेकी प्रतीक्षा-सी व्यक्त करते हुए अतिशय धीर कण्ठसे इतनी बात कह दी। तथा जब दाऊ भैयाने पूछ ही लिया, तब नीलसुन्दर भी अब उनसे गुप्त क्यों रखें? समस्त विवरण उन्होंने अग्रजको विस्तारसे सुना दिया—

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३९)

तुम अब सकल माहिं मोहि भासत।
तव गति अगम बेद इमि भाषत॥
मोहि बुद्धि भ्रम, कै यह साची।
सब महँ तुम ऐसी मति राची॥
तब हरि कंज सुअन कृत भाखे।
बल सौं कछु दुराव नहि राखे॥

× × ×

जब हँसि हलधर हरि तन चह्यौ।
हरि तब सब हलधर सौं कह्यौ॥

इस प्रकार बलरामके समक्ष श्रीकृष्णचन्द्रके आत्म-विहारका रहस्य प्रकट हुआ और अब आ रहे हैं पद्मयोनि अपनी कृतिका परिणाम जानने, श्रीकृष्णचन्द्रपर अपनी मायाका प्रभाव देखने, मोहित हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी बाल्यमाधुरीका रस लेने! भ्रान्त हुए हैं वे! अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्रपर अपनी माया विस्तार करनेकी वृत्ति उनमें नहीं जागती। अरे, जिनकी माया संकर्षणको भी भ्रमित कर दे रही है, उनका विधिकी माया क्या करेगी।

संकरषन हू नहिं सुधि परै। बिधि बावरौ जु पचि पचि मरै॥

ब्रह्माजीका अपने ही लोकमें पराभव और वहाँसे लौटकर श्रीकृष्णको वनमें पूर्ववत् उन्हीं गोपबालकों एवं गोवत्सोंके साथ, जिन्हें वे चुराकर ले गये थे, खेलते देखकर आश्चर्यचकित होना; फिर उनका सम्पूर्ण गोवत्सों एवं गोपबालकोंको दिव्य चतुर्भुजरूपमें देखना और मूर्च्छित होकर अपने वाहन हंसकी पीठपर लुढ़क पड़ना

यहाँका कालमान जगत्स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माके लिये कोई महत्त्व नहीं रखता। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार युगोंकी एक चतुर्युगी* एवं ऐसी एक सहस्र चतुर्युगी जिनके एक दिनकी संध्या होनेतक समाप्त हो जाती है तथा पुनः एक सहस्र चतुर्युगी परिमित कालमानकी जिनकी रात्रि होती है—जिनके एक अहोरात्रमें मानवजगत्‌की दो सहस्र चतुर्युगी-जितने कालमानका अवसान हो जाता है, उनके लिये यहाँके दिन, मास, वर्ष क्या मूल्य रखते हैं। इसीलिये हंसवाहनको तो अपने कालमानसे केवल 'त्रुटि' मात्र† समय लगा और वे इतने कालमें ही—श्रीकृष्णचन्द्रके गोपसखाओंको—गोवत्सोंको स्थानान्तरित करनेके पश्चात्—सत्यलोकमें जाकर पुनः वृन्दाकाननके आकाशमें ही लौट आये। किंतु उनका यह 'त्रुटि' मात्र ही मानव-कालमानकी दृष्टिसे—यहाँके लिये एक वर्षकी अवधि बन गयी और इतने समयतक श्रीकृष्णचन्द्रका निर्बाध आत्मविहार होता रहा। आज वर्ष पूर्ण हो रहा है। ठीक आजसे एक वर्ष पूर्व इसी दिन श्रीकृष्णचन्द्रकी पुलिनभोजनलीला सम्पन्न हुई थी—शिशु एवं गोवत्स अपहृत हुए थे। उस दिन भी अग्रज बलराम अपने अनुजके साथ वत्सचारणके लिये वनमें नहीं गये थे और आजके दिन भी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे अग्रजके जन्म-नक्षत्रका संयोग हो गया और वे घरपर ही शास्त्रोचित कृत्यके लिये रोक लिये गये। आज भी एकाकी श्रीकृष्णचन्द्र ही अपने स्वस्वरूप शिशुसखा एवं गोवत्सोंसे आवृत हुए वनमें पधारे हैं, सुदूर वनस्थलीमें आकर स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। ठीक उसी रूपमें हंसवाहनको दर्शन भी होते हैं। पर यह दर्शन होनेसे पूर्व स्रष्टाने अपने लोकमें जाकर एक और भी विचित्र अनुभूति कर ली है तथा उसीसे अस्त-व्यस्त होकर दौड़ते हुए वे तत्क्षण लौट आये हैं।

घटना विचित्र-सी है। वत्स एवं शिशुओंको यथास्थान स्थापितकर पद्मयोनि ब्रह्मलोकमें अपने आवासके सिंहद्वारपर उपस्थित हुए। किंतु आज अभ्यर्थना तो दूर, अपितु रोषपूरित नेत्रोंसे द्वारीने द्वाररोध करते हुए परिचय जानना चाहा। हंसवाहन अत्यधिक आश्चर्यमें डूब गये, मानो स्वप्न देख रहे हों। विस्फारित नेत्रोंसे उन्होंने द्वारपालवर्गका समाधान करना चाहा, पर उत्तरमें मिली द्वारिकोंकी सगर्व उक्ति, जिसका सारांश यह था—'महाशय! आप कोई भी हों, सत्यलोकाधिपति हमारे स्वामी आप कदापि नहीं हैं। हमारे स्वामी अपने आसनपर विराजमान हैं। वेदाधिष्ठातृ देवगण उन्हें

---

* चार लाख बत्तीस हजार वर्षका कलियुग होता है। कलियुगसे दूना द्वापर, तिगुना त्रेता एवं चौगुना सत्ययुगका कालमान है। अर्थात् एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख, बीस हजार वर्षकी होती है।

† एक दिनके अठारह करोड़, बाईस लाख, पचास हजार अंशके एक अंश-जितने परिमित कालको 'त्रुटि' कहते हैं।

आवृत किये हुए हैं। इस समय सनकादि एवं देवर्षि नारद आदि भी पधारे हैं तथा हमारे स्वामी उन्हें श्रीकृष्णकथाका पीयूष दान कर रहे हैं! पता नहीं, हमारे स्वामीकी आकृतिका अनुकरण करनेवाले आप कौन हैं? पद्मयोनिने स्पष्ट देख लिया—इन दौवारिकोंकी वाणीमें ओज है, पूर्ण विश्वास है, एक अजेय शक्ति इन्हें परिव्याप्त कर रही है, इन्हें अतिक्रमण करके अपने अन्त:पुरमें प्रविष्ट हो जाना दुस्साहसमात्र है। इसलिये उनका मानसंवर्धन करते हुए हंसवाहनने अपने-आपको सत्यलोकाधिपतिकी संनिधिमें पहुँचा देनेकी ही प्रार्थना की और द्वारीवर्गने भी उन्हें सभाप्राङ्गणमें उपस्थित कर दिया। पद्मयोनि अपनी आठों आँख फाड़कर देखने लगे—'सचमुच उन्हींके आसनपर एक चतुर्मुख ब्रह्मा विराजित हैं। अङ्गोंसे रक्तवर्ण ज्योति झर रही है। मानो कोटि-कोटि समुदित रविमण्डलका तेज सत्यलोकके कण-कणको उद्भासित कर दे रहा हो, ऐसी समुज्ज्वल आभा अधिपतिके रक्ताभ अङ्गोंसे प्रसरित हो रही है। साथ ही गूँज रहा है उनका उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरमें वेदनाद!' हतप्रभ हुए पद्मयोनि स्तब्ध खड़े रह गये। कानोंमें द्वाररक्षकोंकी चर्चा सुन पड़ी, वे उनके सम्बन्धमें ही अपने स्वामीसे विनम्र निवेदन कर रहे थे। और फिर सुन पड़ा अधिपतिका मेघगम्भीर स्वरमें गूढ़ादेश—'द्वारपालो! मेरे अतिरिक्त ब्रह्मासनपर किसीका भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं। इन्हें सत्यलोककी सीमासे बाहर कर दो।'—तथा देखते-ही-देखते वे अपने ही किंकरोंके द्वारा ब्रह्मलोकसे बाहरके देशमें अवस्थित कर दिये गये!

हंसवाहनका हृदय दुर्-दुर् करने लगा—इस पराभवजन्य क्षोभसे नहीं, अपितु अपने द्वारा आचरित श्रीकृष्णभक्तापराधकी स्मृतिसे। उन्हें यह भान होते देर न लगी कि उन्हींके आसनपर विराजित वे नवीन तेजोमय स्त्रष्टा कौन थे। अखिलब्रह्माण्डपति श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त यह सामर्थ्य और है ही किनमें? उन्हींके नित्यपार्षद भक्त गोपशिशु, गोवत्सोंको स्त्रष्टाने मोहितकर उनसे पृथक् किया तथा ऐसा करके वे फूले न समाये। फिर इस भक्तापराधके परिणामस्वरूप ब्रह्मासनका अधिकार छिन जाय तो क्या आश्चर्य है। हंसवाहनके अनुतापका पार नहीं। ब्रह्मपद चला गया, चला जाय। उसकी आवश्यकता भी नहीं। पर कहाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणनख-चन्द्रिकाका आलोक हृदयसे अन्तर्हित न हो जाय, श्रीकृष्णचरणस्मृतिकी अमूल्य निधि न छिन जाय—इस भयसे ही हंसवाहन उद्विग्न हो उठे तथा अविलम्ब वृन्दावनके आकाशमें ही उतर पड़े—

ब्रह्मापि स्वासनस्थेन चतुरास्येन शौरिणा।
मोहितैर्द्वारपालैश्च परिभूतो न्यवर्तत॥

अस्तु, अपने कालमानसे त्रुटिमात्रका ही व्यवधान हुआ है और पद्मयोनिने श्रीकृष्णचन्द्रको पुन: देखा। किंतु जो देखा तो अवाक् रह गये। वही, वैसे ही स्वच्छन्द क्रीड़ा चल रही है। कहीं किसी अंशमें भी परिवर्तन नहीं है। सम्पूर्ण लीलापार्षद गोपशिशु भी ज्यों-के-त्यों हैं, असंख्य गोवत्ससमुदाय भी वही-का-वही है। बाल्यलीलाविहारीकी भावभङ्गी भी वैसी-की-वैसी है। क्षणभरके लिये भी उनके इस विहारका विराम नहीं हुआ है, निर्दिष्ट क्रमसे सब कुछ पहलेकी भाँति ही निर्बाध चलता रहा है—

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।
पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४०)

बीत्यौ बरष एक एहि रीती। कंजसुवनकी त्रुटि तब बीती॥

× × ×

बर्ष दिवस बीते बिधि आयौ।
निरखि बिनोद सु-बिस्मय पायौ॥
वैसेइ बच्छ स्वच्छ ब्रजबाल।
जमुन-कच्छ खेलत नँदलाल॥

× × ×

देखे ब्रह्मा सकल सखा हैं। देखे तैसे चरत बछा हैं॥

हंसवाहन सोचने लगे—'यह कैसे हुआ? क्या अनन्तैश्वर्यनिकेतन प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने मेरे जाते ही मायामुग्ध सखाओंको, गोवत्सोंको अपने पास बुला लिया? नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं हुई है। वह देखो,

व्रजमें जितने गोपशिशु थे, गोवत्स थे, वे तो अभीतक मेरी मायासे मुग्ध हुए ज्यों-के-त्यों निद्रित हो रहे हैं, उनके मोहका अपगम हुआ ही नहीं है। वे उठे ही नहीं हैं। पर साथ ही, ओह! कितना आश्चर्य है, यहाँसे कुछ ही दूरपर उतने-के-उतने गोपशिशु, उतने ही गोवत्स—नहीं-नहीं, सर्वथा वे-के-वे, वैसे-के-वैसे श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भी हैं, एक वर्षसे खेल रहे हैं। मेरी मायासे मुग्ध हुए बालकोंसे, वत्सतरोंसे ये भिन्न तो अवश्य हैं; क्योंकि पहलेवाले तो ज्यों-के-त्यों उसी अवस्थामें अभी भी अवस्थित हैं ही। फिर ये कौन हैं? कहाँसे आ गये?'

सोचते-सोचते पद्मयोनिकी विवेकशक्ति लुप्त होने लगती है। कभी तो वे दौड़कर मायानिद्रित शिशुओंके समीप जाते हैं और कभी आ जाते हैं कलिन्दनन्दिनीके तटपर उद्दाम कौतुकमें उन्मत्त-से हुए नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके समीप। किंतु दोनों स्थलोंमें सर्वथा ज्यों-की-त्यों उपस्थिति अनुभवकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती। किसी मायाके प्रभावसे वे भ्रमित हो रहे हों, इस आशङ्कासे उन्होंने युगपत् दृष्टि दौड़ायी। अपने ज्ञानके आलोकमें वे एक साथ एक समयमें ही दोनों स्थलोंका निरीक्षण करने लगे। पर कोई भी अन्तर न हुआ। दोनों स्थानोंमें ही वस्तुस्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। आखिर इन दोनोंमें एक सत्य और एक तो मायिक सृजन होगा ही—इसका निर्णय करने वे चले। पर यहाँ भी नितान्त निराशा ही हाथ लगी। स्रष्टाका अभ्रान्त ज्ञान उनका साथ न दे सका। युञ्जान योगीकी भाँति अपनी प्रत्यक्ष अनुभूतिपर प्रत्यय स्थापित न कर वे समाधिमें स्थित होकर तथ्यका निर्णय करने लगे। पर वह इन्द्रियातीत आलोकपुञ्ज भी मानो किसी प्रगाढ़ तमके आवरणमें विलीन-सा हो चुका है। उनके नित्यज्ञानकी वह दीपशिखा—जिसकी ज्योतिमें वे पूर्वकल्पकी सूक्ष्मतम घटनावलीको भी देख लेते हैं—मानो निर्वापित-सी हो चुकी है और वे इस सम्बन्धमें कोई भी निर्णय न पा सके। न जाने कितनी देरतक वे प्रयास करते रहे, बाह्यज्ञान, समाधिज्ञान—सबका आश्रय लेकर श्रान्त हो गये, पर कुछ भी न जान सके। इन दोनोंमें कौन सत्य है, कौन मायासृष्ट है, कौन सच्चे श्रीकृष्णपार्षद हैं और कौन नहीं हैं—इस सम्बन्धमें उन्हें कोई प्रकाश न मिला। वे सर्वथा अक्षम सिद्ध हुए—

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि।
मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः॥
इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥
एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४१—४३)

माया सयन कराइ सब, बाल बत्स मैं आव।
इहाँ तिन्ह सम अपर ए, बालक खेलत पाव॥
वे हैं सत्य, किधौं ए साचे।
इमि ब्याकुल चित, संसय राचे॥
इत उत फिरै, लखै दोउ ठामा।
बाल बत्स सब सुख अभिरामा॥

× × ×

तैसेइ उत के, तैसेइ इत के।
कहत कि सत्य आहिं धौं कित के॥

पितामह चले थे महामहेश्वरको मोहित करने, अपनी मायाका विस्तार कर उसका परिणाम देखने, पर हो गये स्वयं भ्रान्त। चतुर्मुखने यह नहीं सोचा था कि 'जो उनसे (ब्रह्मासे) आरम्भ कर स्तम्बपर्यन्त—बृहत्तममें, कीटाणुओंमें अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूपसे परिव्याप्त हैं, सर्वाधिष्ठान हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, उनपर भी किसीकी माया चल सकती है? जिन्हें मोह कभी स्पर्श नहीं कर सकता, जो नित्य विगतमोह हैं तथा जिनकी माया विश्वके समस्त चर-अचरको मोहित करती रहती है, उनपर मायाप्रसारका क्या परिणाम हो सकता है? सागरके जलकी कितनी गम्भीरता है, गगनमण्डलका परिमाण कितना है—इसकी थाह पानेके उद्देश्यसे सप्तवितस्ति (सात बित्ते) मानका एक काष्ठदण्ड, एक रज्जुखण्ड फेंकनेका प्रयास कितना हास्यास्पद है।

हंसवाहनकी चेष्टा ऐसी-सी हुई। वे भूल गये महामहिम श्रीकृष्णचन्द्रकी तुलनामें अपनी सीमित शक्तिको तथा सर्वमायाधीश्वरपर ही अपनी क्षुद्र मायाका प्रयोग कर बैठे। फिर जो होना चाहिये था, वही हुआ। उनकी माया उन्हें ही भ्रान्त करनेमें उपकरण बनी। जैसे नीहार (कुहरा)-जन्य अन्धकारकी घनता वृक्ष, लता, वल्लरियोंको तथा पशु, पक्षी, मानव, कीट, पतङ्ग, भृङ्गको आवृत कर सकती है, पर वह प्रगाढ़तमसाच्छन्न रजनीके अन्धकारका, अमानिशाके घोर अँधेरेका आवरण नहीं बन सकती, ऐसे प्रबलतर अँधेरेका संयोग होते ही वह अपनी आवरणशक्तिको उसीमें विलीन कर देनेके लिये बाध्य हो जाती है, स्वयं उससे आवृत हो जाती है; और जैसे खद्योतका क्षुद्र प्रकाश घोरतमसाच्छन्न रात्रिके समय किसी तरुवल्लरीके किसी पत्रांशको एक क्षणके लिये क्षीण चमकका दान भले कर सकता है, पर समुद्भासित मध्याह्न सूर्यके समक्ष उसकी सत्ता सर्वथा नगण्य बन ही जाती है; वैसे ही महान्‌के प्रति क्षुद्र व्यक्तिका क्षुद्र मायाप्रसार, अपने क्षुद्र वैभवका प्रकाश—दोनों ही निरर्थक सिद्ध होते हैं; अपितु प्रयोजकके लिये ही मोहका, कश्मलका सृजन करनेमें—उसके तेजका अपहरण करनेमें हेतु बन जाते हैं। हंसवाहनके लिये यह पूर्णतया चरितार्थ हुआ। महामहिमको अपनी मायासे मोहित करने जाकर वे स्वयं मोहित हो गये, उनपर अपने वैभवका प्रकाश करने जाकर स्वयं हतप्रभ हो गये—

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥
तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४४-४५)

चित भ्रम ते चुप ह्वै रह ठाढ़ा। महा मोह हिय मैं तेहि बाढ़ा॥
अखिल बिस्व मोहन भगवाना। तिन्है मोहिबे कौं मन आना॥
माया करी, बत्स हरि लीन्हा। आपु मोह बस भा अति दीना॥
प्रभु माया कृत अंड अनेका। रचना अमित एक तैं एका॥
रोम रोम प्रति अंड कटाहा। तासु प्रभाव देखिबे चाहा॥
किमि मोहै मायापति नाथा। अखिल बिस्व सब जेहि के हाथा॥
कोटि कोटि रवि सरिस प्रकासा। कृष्नचंद मुख ससि दुति हासा॥
बिधि माया खद्योत समाना। आपुहि लज्जित लह अपमाना॥
जैसैं निसि महँ तम अति भारी। पुनि निहार अतिसैं अँधिआरी॥
दोउ तम मिलि एकै ह्वै गएऊ। नहि निहार-बल भिन्न जु भएऊ॥
जिमि खद्योत सहस्त्र मिलि दिवस न भिन्न प्रकास।
तिमि हरिमाया के बिषै माया सकल निवास॥
तैसैंहि महत पुरुष कहँ कोई। माया करै इतर जो होई॥
वह माया तेहि लगै न कबहू। उलटी फलै करै जो सबहू॥

जो हो, इतनेसे ही हंसवाहनके आश्चर्यदर्शनकी इति हो गयी हो, यह बात नहीं है। अभी तो उन्हें बहुत कुछ देखना है और वे देखने लगते हैं। सहसा उनके आठों नेत्रोंमें एक दिव्यातिदिव्य तेजका उन्मेष हो जाता है और उस परम दिव्य आलोकमें उन्हें दीख पड़ता है—व्रजेन्द्रनन्दनके पार्श्ववर्ती ये समस्त गोवत्स, गोपशिशु नवनीलनीरदवर्ण, पीतपट्टाम्बरपरिशोभित, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-करधारी, मणिमुकुटधारी, मणिकुण्डलमुक्ताहारशोभित, वनमाली, चतुर्भुजरूपमें परिणत हो गये हैं। उनमेंसे प्रत्येक मूर्तिके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, भुजाओंमें अङ्गद, हाथोंमें रत्नमय वलय एवं कङ्कण, चरणोंमें नूपुर एवं कड़े, कटिदेशमें करधनी, अङ्गुलियोंमें अङ्गुलीयक (अँगूठी) विराजित हैं। अतिशय भाग्यशाली भक्तोंके द्वारा समर्पित सुकोमल नवतुलसीकी मालाएँ नखसे शिखापर्यन्त समस्त अङ्गोंमें आभरण बनी हैं। चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान अधरोंपर नृत्य

कर रही है। अरुणिम नेत्रप्रान्तकी चितवनसे मधु झर रहा है। वे अरुणनयन मानो रजके प्रतीक हैं, भक्तोंके अन्तस्तलमें क्षण-क्षणमें नव-नव मनोरथ (सेवा-वासना)-का सृजन कर रहे हैं और वह उज्ज्वल हास्य मानो सत्त्वका प्रतीक है, जो अधरोंपर नाच-नाचकर भक्तोंके मनोरथका पालन कर रहा है। इतना ही नहीं, यह देखो! यहाँ अगणित—असंख्य ब्रह्मा उपस्थित हैं। ब्रह्मा ही नहीं, उनसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर जीव अपने अधिष्ठातृ-देवतारूपमें मूर्तिमान् होकर उपस्थित हैं और नृत्य-गीतके सहित यथायोग्य विविध उपहार समर्पित करते हुए उन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंकी उपासना कर रहे हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, माया, विद्या आदि विविध शक्तियाँ, महत्तत्त्व आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृ-देवता—सभी सेवाकी प्रतीक्षामें उन्हें घेरे खड़े हैं। प्रकृतिक्षोभमें हेतु काल, प्रकृतिपरिणाममें हेतु स्वभाव, वासनाका उद्बोधक संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि—इन सबके अधिष्ठातृ-देवता प्रत्येक भगवद्रूपकी अर्चना कर रहे हैं। भगवत्-प्रभावके समक्ष उन देवोंकी सत्ता-महत्ता नगण्य बन चुकी है। ओह! ये अगणित भगवत्-स्वरूप! सब-के-सब त्रिकालाबाधित सत्य हैं, ज्ञानस्वरूप—स्वप्रकाश हैं, अनन्त—देशकालादिपरिच्छेदरहित हैं, आनन्दस्वरूप हैं, एकरस हैं। इनके अचिन्त्य-अनन्त माहात्म्यकी उपलब्धि आत्मज्ञानकी दृष्टि रखनेवाले पुरुषोंके लिये भी सम्भव नहीं—

तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥
चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः॥
आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः॥
चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥
आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः॥
अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥
कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः॥
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४६—५४)

पुनि जौ फिरि आवै इहि ठौर।
ह्वै रहि कछू और-की-और॥
बालक-बच्छ इहाँ हैं जिते।
बेनु, बिषान बेत्र दल तिते॥
मुक्तावलि गुंजावलि जुही।
नूपुर, किंकिनि, कंकन सुही॥
अंबर, कंबर, संबर जिते।
निरखे चारु चतुर्भुज तिते॥
घन-तन पीतबसन, बनमाल।
अरुन कमल-दल नैन बिसाल॥
कुंडल-मंडित गंड सुदेस।
मनिमय मुकुट सु घूँघर केस॥
कंबु-कंठ कौस्तुभ मनि धरें।
आयुध संख-चक्र कर करें॥
छबि उलसी तुलसी की माल।
बनि रहि पदपर्जंत बिसाल॥
बदन-बदन मुसकनि छबि लसी।
चंदन मध्य चंद्रिका जसी॥
भिन्न-भिन्न ब्रह्मांड बिराजै।
तिन मधि इक-इक मूरति भ्राजै॥
ब्रह्मा आदि चराचर जिते।
मूरति धरें उपासन तिते॥
अनिमा-महिमादिक सिधि जिती।
महदादिक बिभूति हैं तिती॥

काल-करम-गुन अवर न अंत।
सेवत हैं तहँ मूरतिवंत॥

× × ×

तेहि छन अपर अचंभौ भएऊ।
कंज-सुअन निज नयननि लहेऊ॥
जितने बत्सपाल अज देखा।
सपदि लखे अति रूप बिसेखा॥
तन घनस्याम चतुर्भुज रूपा।
पीत बसन कटि लसत अनूपा॥
गदा चक्रधर पंकजपानी।
सुभग किरीट सीस सुखदानी॥
कुंडल चपल, हार, बनमाला।
श्रीबत्सांक सुललित बिसाला॥
कंबु कंठ अंगद सुठि लोने।
कंकन पानि जटित मनि सोने॥
नूपुर-कटक ललित अति सोहन।
कटि किंकिनि त्रिभुवन मन मोहन॥
सुभग दसांगुलि भूषन नीके।
निरखत मन मोहत सबही के॥

नख सिख तुलसी दाम बर, ता करि सोभित गात।
पुन्य पुंज बहु जन्म कृत, तिन गूँथी बहु भाँति॥

कोमल पत्र बिमल कर आनी।
भूरि पुन्य कृत कोउ एक प्रानी॥
तिन अर्पित पहिरे सुठि सोहन।
एहि बिधि बिधि देखेउ मनमोहन॥
मृदु मुसुकानि चंद्रिका चारू।
अरुन कटाच्छ भरे सुख सारू॥
निज जन बांछा पुरवन हारू।
संभव पाल केर भंडारू॥
मनहुँ सत्त्व रज गुन ए दोऊ।
इत ए बसे अरुन सित सोऊ॥
ऐसे सुभ कटाच्छजुत नैना।
निरखत होत सबनि चित चैना॥
ब्रह्मादिक अग जग जे प्रानी।
धरें सुभग तनु अति हित मानी॥
लै लै अमित बस्तु बहु भाँती।
आए सब निज हृदय सुहाती॥
नृत्य गान अरु बाद्य अनेका।
पूजत प्रभुहि एक तें एका॥
अनिमादिक जे सिद्धि कहावैं।
अज सुरेस जे विभव सुहावैं॥
अरु जे चौबिस तत्त्व समेता।
मूर्त्तिवंत सौभाग्य निकेता॥
सेवहिं प्रभु पद पंकज तेऊ।
ब्रह्मादिक बरने अब जेऊ॥

क्षोभक काल स्वभाव जे, परिनामक जे हेतु।
प्रभु-महिमा लखि चकित चित सेवहिं चरन निकेतु॥

सत्य ग्यानयुत, अमित, न अंता।
परिपूरन सब ठाम लसंता॥
परमानंद रूप ब्रजपालू।
श्रुति गावैं जस बिमल रसालू॥
महिमा बहुत लहै नहिं थाहू।
हस्तामल श्रुति हैं सब जाहू॥
तेउ प्रभु महिमा लहैं न छोरा।
बिधि चक्रित चित भयौ न थोरा॥

× × ×

जिते बाल औ बच्छ, तिते सब बिष्नु रूप धृत।
मौलि मुकुट मनि जटित, श्रवन कुंडल मकराकृत॥
कौस्तुभ मनि उर माल, हास ईषद कहि कीन्हें।
चारि बाहु, कर चारि, चारि आयुध कहँ लीन्हें॥
भ्रगु चरन अंक अंकित महा, पीत बसन तडिता बरन।
ब्रह्मादि देव अस्तुति करत, कर जोरें सेवत चरन॥

जिन परब्रह्मात्मक स्वयंभगवान् गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वप्रकाशशक्तिसे यह परिदृश्यमान सचराचर विश्व प्रकाशित होता है, उनके नित्यपार्षद—गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको पद्मयोनि आज इस प्रकार उपर्युक्त रूपमें एक साथ एक समय देख रहे हैं—

एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५५)

एकहिं बार अखिल सब देखा।
कृष्न रूप सब अपर न लेखा॥
जेहि प्रतिबिंब चराचर भासा।
सोइ प्रभु ब्रजपति नंद प्रकासा॥

किंतु अब इससे अधिक देखनेकी सामर्थ्य चतुर्मुखमें नहीं रहती। नेत्र इस चिन्मय चमत्कारसे सर्वथा पूर्ण हो उठे। कर्णरन्ध्रोंमें दिव्यातिदिव्य स्तवनका घोष भर गया। घ्राणेन्द्रिय अप्राकृत दिव्य सुवाससे पूरित हो गयी। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एक अभिनव आनन्दके पूरमें निमग्न हो गयीं। कर्मेन्द्रियाँ आनन्दातिरेकवश स्थिर हो गयीं। मन उस दर्शनसुखमें डूबकर अपनी सत्ता खो बैठा। स्रष्टाकी एकादश इन्द्रियाँ ही पहले तो इस आश्चर्यदर्शनसे ऐसी चञ्चल हुईं मानो प्रबल वेगसे इनमें अवस्थित सम्पूर्ण शक्तियोंका किसीने हिण्डन कर दिया हो; पर फिर तुरंत ही ऐसी, इतनी शान्त हो गयीं कि जैसे इनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही सदाके लिये विलीन हो गया हो। जो हो, देखते-ही-देखते इन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंके दुर्धर्ष तेजसे हंसवाहन निष्प्रभ, निर्वाक्, निष्पन्द हो उठे। ऐसा प्रतीत हुआ मानो अतिशय प्रीतिसे आराधित किसी ग्राम्यदेवीमूर्तिके समीप शिशुओंकी एक क्रीड़ापुत्तलिका—खेलकी गुड़िया रख दी गयी हो। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सबके द्वारा सादर उपासित इन अनन्त चतुर्भुजमूर्तियोंके समक्ष पद्मयोनि सर्वथा उपेक्षित-से हुए—एक स्वर्णिम जड तुच्छ स्पन्दनहीन क्रीड़ापुत्तलिकाकी भाँति ही—अपने हंसके पृष्ठदेशपर ढुलक पड़े—

ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५६)

अति आचरज देखि सब ठामा।
क्षुभित चित्त नहिं लह बिश्रामा॥
इंद्री गन मन बुद्धि समेता।
थकित रह्यौ गहि मौन अचेता॥
नयन मूँदि मुख आव न बैना।
खरौ रह्यौ बिधि, नहिं चित चैना॥
जिमि ब्रज ग्राम देवता कोई।
तासु निकट कौतुक हित जोई॥
दारु पूतरी रचि मुख चारी।
खरी करी बिधि एहि अनुहारी॥

× × ×

सुधि गइ बिधिहि, अचेतन भयौ।
हंस कौ अंस पकरि रहि गयौ॥
तिहि छिन ताहि फबी छबि ऐसी।
चतुर्मुखी कोउ पुतरी जैसी॥

चेतना लौटनेपर ब्रह्माजीका अपने वाहनसे उतरकर श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंपर लुट पड़ना और उनका स्तवन करने लगना

करुणावरुणालय व्रजराजकुमारका कोमल हृदय आर्द्र हो उठा हंसवाहनकी इस दयनीय दशाको देखकर। यह स्पष्ट था कि वेदज्ञानके आदिप्रवर्तक सर्वविद्यापति पितामह ब्रह्मामें अब तनिक भी सामर्थ्य नहीं रही थी कि वे श्रीकृष्णचन्द्रके असमोर्ध्व ऐश्वर्यका इससे अधिक किंचिन्मात्र अंश भी और देख सकें। उनके नेत्रोंके सामने जितना जो अंश व्यक्त था, वही इतना विलक्षण था कि वे भ्रमित हो चुके थे। तर्क उनका समाधान कर नहीं सकता था। श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्रकी समस्त वस्तुएँ तर्कसे अतीत जो हैं। प्रपञ्चनिर्माताके हाथोंसे ही विश्वकी एक-से-एक अधिक विस्मयजनक वस्तुएँ सृष्ट हुई हैं। पर कभी एक भी ऐसी वस्तु निर्मित नहीं हुई, जिसका अवलम्बन कर वे श्रीकृष्णचन्द्रके अचिन्त्य स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्यके सम्बन्धमें तर्क करते हुए अनुमान लगा लें। प्राकृत पदार्थ ही तर्कगोचर होते हैं, हो सकते हैं। पर नन्दनन्दन तो प्रकृतिसे परेकी वस्तु हैं। वे स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप हैं। उन्हें इन्द्रियाँ प्रकाशित ही कैसे कर सकती हैं। कृपापरवश हुए अपनी स्वप्रकाशिका शक्तिसे वे किसीकी बुद्धिमें उतर आयें, तभी उन्हें कोई भले जान ले। अस्तु, स्थूल नहीं, अणु नहीं, क्षुद्र नहीं, विशाल नहीं, घन नहीं, द्रव नहीं, छाया नहीं, तम नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, सङ्ग नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, नेत्र नहीं, कर्ण नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, तेज नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, माप नहीं— इस प्रकार समस्त अपरमात्म वस्तु मायिक पदार्थोंका निषेध कर ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके द्वारा जिनके सच्चिदानन्दस्वरूपका संकेत प्राप्त होता है, उन्हें ब्रह्माने उन्हींकी अपार कृपाके बलपर प्रत्यक्ष देखा, उनके अपरिसीम ऐश्वर्यसमन्वित रूपको देखा। फिर भी वे स्थिर, विकृतिशून्य रह सकें, यह सम्भव ही नहीं। वे मोहित हुए ही और ऐसे हुए कि क्या देख रहे हैं, यह प्रज्ञा खोकर उस दिव्यातिदिव्य झाँकीके दर्शनमें भी असमर्थ हो गये। वे आये थे व्रजेन्द्रनन्दनके किसी और लीला-वैभवको देखनेकी उत्कण्ठा लेकर तथा नन्दनन्दनने भी उनका मनोरथ पूर्ण हो जानेकी स्वीकृति दे दी। तुरंत ही योगमायाका प्रभाव व्यक्त हो गया और पितामह लगे देखने असाधारण अप्राकृत चमत्कार। किंतु कणिकामात्रके दर्शन होते-न-होते मोहित होकर वे सुध-बुध खो बैठे। परात्पर सर्वकारणकारण श्रीकृष्णचन्द्रने उनकी यह अवस्था भी देख ली। प्रभुके महामहैश्वर्य-दर्शनकी उनकी अयोग्यता छिपी न रह सकी। इसीलिये दृश्य-परिवर्तन अनिवार्य हो गया। कृपामय प्रभु द्रवित हो गये और तत्क्षण ही उन्होंने योगमायाकी यवनिका हटा दी—

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५७)

तब श्री हरि वह माया जिती। अंतरध्यान करी तहँ तिती॥

अब कहीं पद्मयोनिकी चेतना लौटी। जैसे मृत्युके उस पार पहुँचे हुए प्राणीमें पुनः नवजीवनका संचार हो जाय, इस प्रकार वे अपने इस मुग्ध, विवश, संज्ञाविहीन अवस्थासे जागे, बाह्यज्ञानकी वृत्ति उदय हुई, इन्द्रियोंमें क्रियाशीलता आयी। अतिशय कष्टसे अपने आठों नेत्र उन्मीलित कर वे बाहरकी ओर देखने लगे। इस बार अपनी सत्ताका, जगत्‌का उन्हें पुनः अनुसंधान प्राप्त हुआ। अन्यथा इससे पूर्व तो श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य-सिन्धु उच्छलित हो रहा था, उसकी उत्ताल तरङ्गोंमें अहंतास्पद अपने-आपका, ममतास्पद जगत्‌का सम्पूर्ण अस्तित्व ही विलुप्त हो चुका था—

ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५८)

हरि माया जब करि उपरामा।
खुले नयन तब लखि सब ठामा॥
जिमि कोउ मृत्यु पाइ पुनि जागै।
जहँ तहँ लखै बस्तु अनुरागै॥
तिमि यह देखत भा चहुँ ओरा।
चारि बदन कर सुख नहिं थोरा॥

ब्रह्माने चारों ओर दृष्टि डाली। सामने अवस्थित वृन्दाकाननके दर्शन हो गये। अहा! क्या कहना है, सुपक्व सुमधुर फलभारसे अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावली, रंग-बिरंगे सुरभित कुसुमोंका आभरण धारणकर तरुश्रेणीको वेष्टित किये लतावल्लरियाँ, इनपर आसन डाले चित्र-विचित्र विहंगमोंका कलगान, हरित तृणराजि, क्षुप्-वीरुधोंका अंबार और सर्वत्र मन्द-मन्द मन्थर पवनका शीतल स्पर्श—कहीं इनकी तुलना भी है? श्रीकृष्णचन्द्रके इस परमप्रिय श्रीवृन्दावनधामको देखकर हंसवाहनके नेत्र शीतल होने लगे—

सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम्।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५९)

बृंदावन-श्री निकट निहारी।
तरु अति ललित फलित फल भारी॥
बिरुध-लता-तृन-गुल्म सुहावन।
सकल जीव बहु अति मन भावन॥
सदा बसंत सघन तरु छाया।
कुहकत कोकिल मोर सुहाया॥
जीवत जीव अमित चहुँ ओरा।
निस दिन तिन कहुँ सुख नहिं थोरा॥

× × ×

श्रीबृंदाबन सघन सरस सुख नित छबि छाजत।
नंदनबन-से कोटि-कोटि जिहि देखत लाजत॥
तैसिय निर्मल-नीर निकट जमुना बहि आई।
मनहुँ नील-मणि-माल बिपिन पहिरें सुखदाई॥
अरुन, नील, सित, पीत, कमल-कुल फूले फूलनि।
जनु बन पहिरें रंग-रंग के सुरँग दुकूलनि॥
इंदीबर कह्लार कोकनद पद्मनि ओभा।
मनु जमुना दृग करि अनेक निरखति बन-सोभा॥
तिन मधि झरत पराग, प्रभा लखि दृष्टि न हारति।
निज घरकी निधि रमा रीझि जनु बन पर वारति॥
सरस सुगंध पराग छके मधु मधुप गुँजारत।
मनु सुषमा लखि रीझि परसपर सुजस उचारत॥
पुलिन पबित्र, बिचित्र चित्र चित्रित जहँ अवनी।
रचित कनक, मनि-खचित, लसत अति कोमल कमनी॥
जल में झांहीं झलमलाति प्रतिबिंबित सरसैं।
जल के भ्रमर तरंग रंग-रंगनि के दरसैं॥
तट पै ताल, तमाल साल गहबर तरु छाए।
सभा-काज रितुराज बितान मनहुँ तनवाए॥
कलपबृक्ष, संतान, पारिजातक, हरिचंदन।
देवदारु, मंदार, अगर, अंबर, मलयज घन॥
तिनपर चढ़ि करि लता उच्च अति फूल झरत खिलि।
मनु बिमान चढ़ि देवबधू बरषति कुसुमावलि॥
तुलसी, कुंद, कदंब, अंब, निंबू बहुरंगी।
बट, असोक, अस्वत्थ, अगस्त, आमर्द, पतंगी॥
कोबिदार, कचनार, बंस के बिरुआ चोखे।
बिजयसार, सृंगारदार, अरु चारु अनोखे॥
अमलबेत आरू, अँगूर, अंजीर, अमृतफल।
बरना, आरिनि, कर्निकार, कलियार, बेत भल॥
सेमर, तिंदुक, मधुक, बिल्व, पाकरी, पलासा।
सरस बहेरा, कुरा, कैथ, कमरख सबिलासा॥
जाइ, जायफल, बकुल, इलाइचि, लौंग, सुपारी।
कदली मिली कपूर, गहरि जिहिं लगि रहि भारी॥
केतकि अरु केवरा, नागकेसरि केसरि अति।
मेहँदी अरु माधवी मधुरि, मल्ली अरु मालति॥
फूली चंपक फैलि रही जिहि सुगँध बिसाला।
निज गुन मनहुँ प्रकासि लसति नव-जोबन बाला॥
नागबेलि, बेला, प्रबाल कौ है बिस्तारा।
नरगस, मुक्ता, मदनबान, मोगरा, निवारा॥
सुगंधार, सतबर्ग, जीवबंधुक अरु दौना।

गुलहबाँस बहु खिले, मदन के मनहुँ खिलौना॥
सूरजमुखी, गुलाब, गुलाला, नाफर मानौ।
सोनजुही, सेवती, सरूँ लै बिच-बिच ठानौ॥
सुरतरु सम द्रुम-बेलि-जाति सब सुखकर श्रेनी।
चिंतामनि महि सकल बनी चिंतित फल देनी॥
द्रुम-बल्ली संकुलित सकल अस लगत सुभग तन।
मनु जड़ ह्वै निज तियहि सहित सेवत सब सुरगन॥
बौर-मंजरी, मूल-फूल, फल-दल-मनि-मोती।
ओत-प्रोत प्रतिबिंब परत अगनित छबि होती॥
फूल-फलन कें भार डार झुकि यौं छबि छाजैं।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकनि काजैं॥
मधु मकरंद-पराग लुब्ध अलि मुदित मत्त-मन।
बिरद पढ़त रितुराज नृपति के मनु बंदीजन॥
सुवा-सारिका, पढ़त कोकिला कूक मचावत।
मनहुँ टेर दै पथिक जनन कौं टेरि बुलावत॥
चातक, मोर, चकोर सोर चहुँ ओर निकाई।
रतिपति नृप के दूत देत जनु फिरत दुहाई॥
राजहंस-कलहंस-बंस यौं सब्द सुनावत।
मनहुँ सप्त सुर मधुर साज मिलि गँध्रब गावत॥
सुधा-सलिल सर भरे बिमल, कमलनि जुत अलिगन।
निगुन ब्रह्म जनु सगुन होइ सोहत मोहत मन॥
या बन की बानिक समान पावनहिं निकाई।
जाकी छबि की छटा छलकि छबि सब बन छाई॥

यहाँ इस वृन्दावनके अधिवासी जीवोंके मनमें वैरकी वृत्ति कभी जागती ही नहीं। जो स्वभावसे ही वैरभावयुक्त हैं—मनुष्य-व्याघ्र, विडाल-मूषक, सर्प-नकुल आदि परस्पर शत्रुभावपरायण प्राणिवर्ग हैं वे भी परस्पर स्नेहके सूत्रमें बँधे, निरन्तर मित्रभावका अवलम्बन करते हुए यहाँ निवास करते हैं। यह अजित—श्रीकृष्णचन्द्रकी आवासभूमि जो ठहरी। इसीलिये उन महामहिमकी संनिधिके प्रभावसे इस काननमें, काननके आश्रित चराचर समुदायमें मलिन विकृतिकी सम्भावना नहीं। व्रजराजनन्दनकी इस लीलाभूमिमें क्षुधा-पिपासा प्राणोंको चञ्चल नहीं करती, काम मनका मन्थन नहीं करता, क्रोध इन्द्रियोंको जलाने नहीं आता, लोभ सम्मोहका सृजन नहीं करता—एक भी अशुभ विकृति इस श्रीकृष्णक्रीडास्थलीमें प्रवेश ही नहीं कर सकती, नहीं करती। इनकी यहाँ गन्धमात्र भी नहीं—

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६०)

जहँ निसर्ग तें जीव सब बैर भाव बिसराइ।
बसहिं जहाँ सुख सौं सदा, प्रीति अधिक अधिकाइ॥

केहरि-करी, कलापी-ब्यालू।
मूषक, मृगसावक अरु भालू॥
फिरहिं एक सँग भय बिसराई।
नहिं जिन कें हिय बैर-बुराई॥
कृष्नदेव-क्रीडा-थल पावन।
क्रोध-लोभ-मद-गर्व नसावन॥
छुधा-तृषा बाधै नहिं ताही।
बसैं बिपिन जे नित चित चाही॥

इस प्रकार परम रमणीय वृन्दारण्यके पावन दर्शनसे स्रष्टा पूर्णतया प्रकृतिस्थ हो गये। उस कमनीय शोभाका स्पर्श पाकर उनकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हो उठीं। उन्होंने जिस ओर दृष्टिपात किया, उधर ही अनुभव हुआ—वनके कण-कणमें केवल निराविल परमानन्द बिखर रहा है, निर्मलतम प्रेमके निर्झर झर रहे हैं, सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वासकी उन्मत्त पयस्विनी प्रसरित हो रही है। इस अमित माधुर्यराशिका बिन्दुमात्र पान करते ही हंसवाहनके आठों नेत्र भर आये। इतनेमें सहसा प्राणोंको झंकृत करते हुए एक साथ शत-सहस्र भावोंकी ऊर्मियोंसे हृदयको प्लावित करते हुए नराकृति परब्रह्म व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र सामने स्फुरित हो उठे। विधाताके नेत्रोंने स्पष्ट देख लिया—बाल्यलीलारसका आवेश वैसा ही है, लीलारसपानकी मत्तता अभी भी वैसी-की-वैसी बनी है। दधिमिश्रित ग्रास भी करकमलमें ठीक वैसे ही सुशोभित है और वे ठीक पहलेकी भाँति ही गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको चारों ओर खोजते फिर रहे हैं। कितना महान् आश्चर्य है—श्रुतियोंको ब्रह्ममें हस्त, पादकी उपलब्धि नहीं हुई—'**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**'; किंतु आज

इस वृन्दाकाननमें वही ब्रह्म हाथमें दहीसे सने अन्नका ग्रास धारण किये विराजित है। श्रुतियोंके द्वारा जो एक, अद्वय निर्धारित हो चुका है—'**एकमेवाद्वितीयम्**', वही आज गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको ढूँढ़ता फिर रहा है। जो अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप है, अनन्त है—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', वही आज, 'कहाँ गये मेरे सखा! क्या हुए मेरे गोवत्स,' इस प्रकार अनजानकी भाँति अपनी खोयी निधिका अनुसंधान पा लेनेके लिये अपने चारों ओर दौड़ रहा है! परात्परकी यह गोपशिशुलीला, एक, अद्वयका शिशुवत्सान्वेषण, ज्ञानस्वरूपकी ऐसी मुग्धता, अनन्तका चारों ओर घूमकर खोज पा लेनेका प्रयास, ब्रह्मका दधिमिश्रित अन्नग्राससे विभूषित करपल्लव—यह कितना विस्मयजनक है!

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो
विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६१)

ब्रह्म सनातन गोप-सरूपा।
निरखत पुनि-पुनि रूप अनूपा॥
पसुपबंस सिसुलीला धारी।
देखत पुनि-पुनि बदन निहारी॥
अद्वय एक बोध-सुख-रासी।
खोजत बत्स-बाल अबिनासी॥
है अनंत, पुनि सब घट-बासी।
जासु प्रभाकन जगत प्रकासी॥
सो परब्रह्म नाथ जगदीसा।
खोजत बत्स-बाल हरि ईसा॥
कवल-पानि बिचरत सुख मानी।
केवल सिसुलीला मैं जानी॥

× × ×

तहँ निरखे ब्रजराजकुमार।
अद्वै ब्रह्म अनंत अपार॥
बहुरि अगाध बोध श्रुति बोलै।
सो बछ-बालक ढूँढ़त डोलै॥

× × ×

जैसें प्रभु पूरब लखे बच्छ-हरन के ठौर।
अक्षि उघारि लखे तहाँ दधि-ओदन लिएँ कौर॥

अस्तु, व्रजेन्द्रनन्दनकी यह विश्वमनोहर शिशुलीला देखकर ब्रह्मा अब अपने वाहन हंसपर आसीन न रह सके। क्षणार्ध पूर्ण होनेसे पूर्व ही वे अपने वाहन हंसको छोड़कर वृन्दाकाननके अवनीतलपर उतर आये—वहाँ, जहाँ अतिशय कमनीय भङ्गिमा धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र अवस्थित हैं। स्रष्टा धैर्य तो कबके खो चुके थे, आते ही श्रीकृष्णपादपद्मोंमें लुट पड़े। उनका वह अरुणायित पीताभ-वर्ण शरीर ऐसा प्रतीत हुआ मानो एक विशाल सुवर्णदण्ड वेगसे नीलसुन्दरके चरणाग्रमें तृणसंकुलित भूमिपर आ गिरा हो। आज इस क्षण पितामहको अनुभव हुआ, मानो उनके अनादिसंचित अभिमानका भार सदाके लिये श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें समर्पित हो गया। अन्यथा उन्हें आशा नहीं थी कि महामहेश्वर नन्दकुलचन्द्रके इतने निकट जाकर भूमिपर लोटनेका परम दुर्लभ सौभाग्य वे पा सकेंगे। नैसर्गिक सनातन नियमोंका उल्लङ्घन नहीं होता। देवाभिमान अवशिष्ट रहनेपर साधारण प्राकृत भूमिका स्पर्श भी सम्भव नहीं—'**न हि देवा भुवं स्पृशन्ति**' और यह तो सर्वेश्वरकी चिदानन्दमयी क्रीडाभूमि है। इसकी एक रज:कणिकाका स्पर्श पा लेनेके लिये योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी लालायित रहते हैं। देवगण तो पायेंगे ही क्या? लीलापीयूष वितरण करनेके लिये आविर्भूत हुए सर्वेश्वरकी यह अपार करुणा ही है जो अमरवृन्द अन्तरिक्षकी सीमामें अवस्थित होकर लीलादर्शनका अधिकार पा लेते हैं। इससे पूर्व भी पद्मयोनि गोवत्सोंका हरण करनेके लिये वृन्दावनके उस तृणक्षेत्रमें उतरे थे, गोपशिशुओंको स्थानान्तरित करनेके लिये पुलिनके समीप आये थे। पर उस समय श्रीकृष्णचरणचिह्नित काननके रज:कणका पावनतम स्पर्श उन्होंने क्षणभरके लिये भी पा लिया हो, यह

बात बिलकुल नहीं। अपहरणकी समस्त क्रिया उनके द्वारा सम्पादित हुई थी, निम्नतम आकाशमें स्थित रहकर ही—वनभूमिको न छूकर ही। इसीलिये इस समय श्रीकृष्णपदपङ्कजमें दण्डवत् गिरकर पितामहका रोम-रोम आनन्दविह्वल हो उठा। फिर तो प्राणोंमें एक अभूतपूर्व उत्कण्ठा जागी, तिलमात्र और आगे सरक जानेका साहस आया तथा पितामह क्रमशः अपने चारों मस्तकोंको विभूषित करनेवाले मुकुटोंके अग्रभागसे व्रजराजनन्दनके चरणनख-चन्द्रका स्पर्श करने लगे। इस प्रकार विह्वल होकर इन चरणसरोजोंमें प्रणत होनेका सुख कितना निराला है—इसे एकमात्र पद्मयोनिके प्राणोंने ही अनुभव किया। अवश्य ही प्राणोंकी यह अनुभूति गुप्त न रह सकी। यन्त्रपरिचालित-से हुए स्रष्टाके सिर किंचित् ऊपरकी ओर उठ गये और इतनेमें उनके अणु-अणुको प्लावित कर अन्तर्देशका वह सुखपूर, आनन्दप्रवाह बाहरकी ओर छलकने लगा, अश्रुवारिके रूपमें परिणत होकर नेत्रोंके पथसे बह चला। स्रष्टाके आठों नेत्र झरने लग गये, एवं श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणसरोरुह प्रक्षालित होने लगे—नहीं-नहीं, महामहेश्वरकी अर्चना आरम्भ हुई, स्रष्टा प्रथम अपने प्रेमाश्रुकी अजस्र धारासे ही श्रीकृष्णचन्द्रके चरणयुगलका अभिषेक करने लगे—

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६२)

जान्यौ जु ब्रह्म-सरूप जदुवर, हंस तजि पायन पर्‍यौ।
जिमि कनक-दंड जु गिरै पुहुमी मुकुट निज हरि पद धर्‍यौ॥
मुद बारि नयन प्रबाह करि, प्रभु पाइ, अभिषिंचन कर्‍यौ।

एक ओर तो स्रष्टाका हृदय पानी बनकर अविराम बह रहा है और अब उधर उनकी स्मृतिके अन्तरालसे श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यके, अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व देखे हुए दिव्यातिदिव्य चिन्मय दृश्योंके चित्रपट झलमल-झलमल करने लगते हैं। उन्हें स्मरण हो आता है—किस प्रकार ये व्रजेन्द्रनन्दन ही अनन्त गोप-शिशु एवं गोवत्सोंके रूपमें विराजित हो रहे थे, अपने स्वरूपभूत सहचरोंके साथ इनका निर्बाध गोष्ठविहार चल रहा था, फिर सहसा इनकी समस्त परिकरमण्डली अनन्त श्यामल चतुर्भुज रूपमें परिणत हो गयी। इस चमत्कार-दर्शनसे उनके (स्रष्टाके) अचेत हो जानेपर पुनः वह दृश्य अन्तर्हित हो गया, बाह्यज्ञान होनेपर वृन्दावनकी सम्पदा, शोभा नेत्रोंमें भर गयी और वहाँ ये सर्वेश्वर बाल्यावेशसे विमुग्ध हुए पुनः पूर्वकी भाँति ही दृष्टिगोचर हुए। यह स्मृति ब्रह्माको अतिशय चञ्चल कर देती है और वह पुनः लोटने लगते हैं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें। विचित्र दशा हो गयी है पितामहकी। जब वे व्याकुलतावश दण्डवत् लम्बित होकर अपने चारों मस्तक व्रजराजनन्दनके चरण-कमलोंपर रख देते हैं, उस समय अन्तस्तलमें एक अनिर्वचनीय भावका स्रोत उमड़ चलता है, अपनी क्षुद्रताकी अनुभूति उसकी प्रबल धारामें न जाने कहाँ बह जाती है और उसके स्थानपर श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति विशुद्धतम प्रेमिल अपनत्व जाग्रत् हो उठता है। उस समय स्रष्टा प्राणोंकी उमंग लेकर उठ बैठते हैं और देखने चलते हैं श्रीकृष्णमुखचन्द्रकी शोभा, पर देख नहीं पाते; आँखोंसे अनर्गल अश्रु-प्रवाहका वेग क्षणभरके लिये भी थमा जो नहीं है। तथा इतनेमें पुनः जाग्रत् हो जाती है उस महामहैश्वर्यकी स्मृति। दैन्य फिरसे आवृत कर लेता है परमेष्ठीके मनको और वे वैसे ही श्रीकृष्णचरणप्रान्तमें लोटने लग जाते हैं। ऐश्वर्यकी स्मृतिसे दैन्यका प्रादुर्भाव, तज्जन्य श्रीकृष्णपादपङ्कजमें पतन, उस पावन स्पर्शसे विशुद्ध स्नेहमयी निजत्व-भावनाका संचार, उससे उद्भूत श्रीकृष्णमुखारविन्द-दर्शनकी उत्कण्ठा, सावधान होकर—उठकर दर्शनका प्रयास और फिर सहसा सर्वेश्वरकी अनुभूत महिमाका पुनः उन्मेष —इस क्रममें नितान्त बँधे-से हुए हंसवाहन न जाने कितनी बार उठे और पुनः वैसे ही वेगसे गिरकर, अपने चारों मस्तक श्रीकृष्णचरणसरोरुहमें समर्पित कर निष्पन्द हो गये।

इस प्रकार यह भावमयी वन्दना पर्याप्त समयतक चलती रही, बहुत कालतक परमेष्ठी पड़े रहे श्रीकृष्णपादपङ्कजकी शीतल शंतम छायामें—

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन्।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६३)

पुनि उठत, पुनि गिरि परत, पुनि पुनि गिरत अति आनँद भर्‌यौ॥

× × ×

ज्यौं-ज्यौं वह महिमा उर फुरै।
उठि उठि पद-पंकज सो घुरै॥

आखिर जब क्रमशः भावका आवेग किंचित् शान्त हुआ, श्रीकृष्णचरणोंमें अगणित प्रणाम समर्पण करनेके अनन्तर ऊपरकी लहरें विलीन हो गयीं, भावके गम्भीर स्तरमें स्रष्टा निविष्ट होने लगे, तब वे अचिन्त्य प्रेरणावश धीरे-धीरे उठ बैठे। प्रेमजन्य एक सात्त्विक जडिमासे समस्त अङ्ग शिथिल हो रहे थे। किसी प्रकार देहको सँभालते हुए वे उपविष्ट हो सके। अनन्तर उन्होंने हाथोंसे अपने अश्रुपूरित नेत्रोंको पोंछा और दृष्टि उठायी नीलसुन्दरके मुखचन्द्रकी ओर। उन नयनसरोजोंसे पद्मयोनिकी आँखें जा मिलीं। अवश्य ही एक बार मिलकर भी वहाँ टिक न सकीं। अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्रने ठुकराया हो, यह बात नहीं, अपने-आप विधाताकी आँखें नीची हो गयीं। एक साथ अन्तस्तलकी अनेकों भावनाएँ द्रुत होकर पितामहके नेत्रोंमें छलक आयीं, यह भार असह्य हो गया उन नेत्रोंके लिये और वे स्वतः झुक गये। 'ओह! मैंने प्रभुके प्राणसखाओंको, प्रियातिप्रिय गोवत्सोंको इनसे अलग किया; प्रभुको ही अपने जीवनका सारसर्वस्व अनुभव करनेवाले नित्य भगवत्पार्षदोंका प्रभुसे मैंने अपने स्वार्थवश वियोग कराया—इस अक्षम्य अपराधका पात्र मैं हूँ। ब्रह्मपदके तो मैं सर्वथा अयोग्य हूँ ही, वह छिन गया तो उचित ही हुआ। पर श्रीकृष्णस्मृतिकी निधि मेरे अन्तःकरणसे यदि ले ली गयी तो मेरा क्या होगा? ओह! क्या दशा होगी मेरी? नहीं-नहीं, प्रभुके नेत्रपङ्कज अभी भी वैसे ही, उतने ही शीतल हैं। इस समय भी करुणाकी लहरें उठ रही हैं उनमें। हाय रे! कहाँ तो मैं इतना महान् अपराधी और प्रभुका यह औदार्य?'—इस प्रकार एक साथ अपराध, भय एवं लज्जाकी भावनाएँ स्रष्टाकी आँखोंमें भर आयीं और इनके बोझसे ही दृष्टि नमित हो गयी। युग्म स्कन्ध भी विशेषरूपसे अवनत हो गये। पितामहका रोम-रोम विनयसे पूर्ण हो उठा। अञ्जलि बँध गयी और अब वे नतजानु होकर, समाहित चित्तसे चले महामहेश्वरकी महिमाका गान करने। किंतु इसी समय पुनः हृत्तलकी प्रेमस्रोतस्विनी हिलोरें लेने लग गयी। स्रष्टाके समस्त अङ्गोंमें कम्पन आरम्भ हो गया। नेत्र तो मार्जन करनेके अनन्तर भी अश्रुसे सने थे ही, कण्ठ भी पुनः अश्रुपूरित हो गया। वेदगर्भ ब्रह्माकी वाणी एक बार तो रुद्ध हो जाती है। पर आजकी उत्कण्ठा भी अभूतपूर्व, असाधारण है; अश्रुसे सर्वथा अभिषिक्त हो जानेपर भी वाणी बाहरकी ओर निकल ही पड़ती है, स्रष्टा गद्‌गद कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करने लगते हैं—

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६४)

प्रभु-रूप-तेज-प्रभाव-बैभव सुमिरि हिय सकुचातु है।
पुनि उठ्यौ, निज कर पोंछि लोचन, निरखि मुख, हरखातु है॥
अति नम्र सिर, कर जोरि जुग, सह बिनय, कंपित गातु है।
पुनि प्रेम-गदगद, पुलक तन, नुति करन हित अकुलातु है॥
धरि धीरज, सुत कंज कौ अस्तुति करत बनाइ।
अति श्रद्धा जुत हरषि हियँ, लखि मुख, अति सुख पाइ॥

× × ×

नमित बदन, दृग भरि रहे पानी।
गदगद कंठ, फुरै नहिं बानी॥
सापराध बिधि निपटहिं डर्‌यौ।
अंजुलि जोरी, स्तुति अनुसर्‌यौ॥

ब्रह्माजीद्वारा की गयी स्तुति एवं प्रार्थना

'स्तवनीय श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हें नमस्कार है। विश्वमें एकमात्र वन्दनीय तुम्हीं हो नाथ! मैं तुम्हारी वन्दना कर रहा हूँ। अहा! नवजलधर-श्यामल अङ्ग-कान्तिवाले प्रभुके लिये नमस्कार है! स्थिर सौदामनी-सदृश पीताम्बरधारीके लिये प्रणाम है! गुञ्जारचित कर्ण-भूषणसे, चूड़ाके मयूरपिच्छसे परिशोभित मुखवालेके लिये मेरा नमन है। वनमाली—वन्य पत्र-पुष्परचित मालाधारीके लिये मेरी वन्दना है! नन्हे-से करतलपर दधिमिश्रित अन्नका ग्रास, कक्षमें वेत्र एवं शृङ्ग, कटिकी फेटमें वेणु—इन असाधारण चिह्नोंसे अप्रतिम शोभाशालीके लिये नमस्कार है। इन लघु कोमल पादपद्मवाले प्रभुके लिये प्रणाम है। श्रीगोपेन्द्रतनयके लिये अनन्त वन्दन है। गोपाललालके इस सुमधुर वेषके लिये सर्वस्व न्योछावर है। और कुछ नहीं, नाथ! बस, तुम्हें ही अनन्तकालतक प्राप्त होनेके लिये—तुम्हारे ही शीतल शंतम चरणसरोजका अखण्ड आश्रय प्राप्त करनेके लिये तुम्हें मेरा असंख्य नमस्कार है, श्रीकृष्णचन्द्र!'—इस प्रकार पितामहकी स्तुति आरम्भ हुई—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १)

अहो ईड्य! नव घन तन स्याम।
तडिदिव पीत-बसन अभिराम॥
मोर-पिच्छ-छबि छाजत भाल।
नैन बिसाल, सु-उर बनमाल॥
रस-पुंजा गुंजा अवतंस।
कवल, बिषान, बेत्र बर बंस॥
मृदु पद बृंदा-बिपिन बिहार।
नमो नमो ब्रजराज कुमार॥

× × ×

नौमि ईड्य घनस्याम सरीरा।
तडिदिव पीत लसत कटि चीरा॥
गुंजमाल कुंडल श्रुति सोहत।
मोर पिच्छ माथें जग मोहत॥
श्रीमुख पंकज अति छबिकारी।
मैन कोटि छबि तापर वारी॥
बन भव माल विसद उर राजै।
पानि कवल धरि अति छबि छाजै॥
धरें बेत अरु बेनु बिषाना।
मृदु पद लस कल्यान-निधाना॥
नंदसुवन! तुम प्रभु गुन भारी।
प्रनवौं बार बार असुरारी॥

स्रष्टाको आज एक साथ एक स्थलपर सभी वस्तुएँ प्राप्त हो गयी हैं। ज्ञानका आवरण सर्वथा सदाके लिये विलीन हो चुका है और वे सब कुछ यथावत् देख रहे हैं। उनके प्राणोंका अनुभव ही शब्द बनता जा रहा है, प्रत्येक अनुभूति ही स्तवनके शब्दोंसे झर-झरकर बाहर बिखरती जा रही है। इससे पूर्व युग-युगके आरम्भमें वेदज्ञानका विस्तार होते समय न जाने कितनी बार स्वयं उनके मुखसे ही इस परम सत्य सिद्धान्तका प्रकाश हो चुका है—

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

'आकाशसे बरसती मेघकी जलधारा कहीं भी गिरे, सागरकी ओर ही प्रवाहित होगी। वैसे ही समस्त देवोंके प्रति किया हुआ नमस्कार भी श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणसरोजोंकी ओर ही केन्द्रित हो जाता है।'

किन्तु ब्रह्माको ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो प्रथम बार इस सत्यको वे जान पाये हों, श्रीकृष्णचन्द्र ही अनन्त रूपोंमें अनन्त उपासकोंके द्वारा अपने-अपने भावोंसे आराधित होते हैं, सब वास्तवमें इन्हींकी वन्दना करते हैं, सबके मूलस्वरूप ये ही हैं, इस

ज्ञानकी उपलब्धि उन्हें आज हुई हो। इसीलिये उल्लसित होकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको 'स्तवनीय' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं—सबके स्तवनका पर्यवसान जहाँ, जिन चरणोंके प्रान्तमें है वहीं वे न्योछावर हो रहे हैं। और इतनेमें पुनः नेत्रोंमें भर जाती है श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंकी नवनीरदकान्ति। वे सोचने लगते हैं—'सचमुच जैसे नव-जलधर विचार नहीं करता उच्च-नीचका, मलिन-पवित्रका, सर्वत्र समानभावसे बरसकर वह ग्रीष्मका ताप शमित कर देता है, वैसे ही ये श्रीकृष्ण-जलधर भी कहाँ देखते हैं उज्ज्वल, तमोमय भावोंकी ओर; समानभावसे सबपर बरस रही है इनकी लीलासुधाकी, करुणामृतकी मधुर धारा। उस बालघातिनी पूतनाको मातृगति, इस महानिर्दय अघासुरके संसरणका अन्त समान कृपावर्षणके ही तो निदर्शन हैं। इससे पूर्व मत्स्य-कूर्म आदि रूपोंमें प्रभुकी कृपाका ऐसा अयाचित दान कहाँ किसे मिला था? यह तो नवजलधर-श्यामल रूपका ही मानो निजस्व है। बस, बस, यही है! नाथ! तुम्हारा यह नवमेघ-श्यामल विग्रह ही मेरा सारसर्वस्व है, मेरा अणु-अणु सिक्त हो जाय इसकी अनोखी श्यामछटासे।'—पितामहके अन्तर्मनका यही भाव बाहर व्यक्त हो उठता है इस रूपमें—'नवजलधर-श्यामल अङ्गकान्तिवाले प्रभुके लिये नमस्कार है!'

अब पीताम्बर आकर्षित करता है पद्मयोनिके मनको। श्रीअङ्गोंकी स्निग्ध श्यामल ज्योतिके प्रवाहमें डूबती-उतराती हुई उनकी दृष्टि पीतपटके छोरमें उलझ जाती है तथा एक अभिनव भावका स्फुरण होता है—'अहा! जैसे नवजलधरमें सदा विद्युत् रहती है, वैसे ही इन कृष्ण-जलधरमें भी पीतवसनरूप तडित्का निवास है। अन्तर इतना ही है कि प्राकृत मेघमें वह सतत चञ्चल है, जब कि इन कृष्ण-मेघकी यह सौदामनी सुस्थिर सुशान्त है।' इतना ही नहीं, पितामहको प्रतीत हुआ, मानो व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके पद्मदलायत नेत्रोंसे यह संकेत झर रहा हो—'देखते हो न, तडित्-सी चञ्चल वस्तु भी मेरे सम्पर्कमें आकर स्थिर हो गयी है। ऐसे ही कोई अपने अतिशय चञ्चल चित्तको भी यदि मुझे समर्पित कर दे तो मैं उसे निश्चल करके सदाके लिये अपने पास ही रख लेता हूँ—**'सजल स्यामघन बरन लीन ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यौ।'** कोई देकर देखे तो सही!'—बस, ब्रह्मा बह चले इसी भावनाकी ऊर्मियोंमें तथा उनकी वाणी पुकारने लगी—'स्थिर सौदामनी-सदृश पीताम्बरधारीके लिये प्रणाम है।'

इसी निमित्तसे अन्य सजातीय संस्कार जाग उठते हैं। पद्मयोनिको स्मृति हो आती है वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायणदेवकी। वे सोचने लगते हैं—'वे भी तो नव-नील-नीरदवर्ण हैं, पीत-पटधारी हैं। इतना साम्य तो उनमें भी है। पर उनके आभरण इन पुरोवर्ती गोपेन्द्रनन्दनसे सर्वथा भिन्न हैं। वे मणिमुकुटसे विभूषित हैं, मणिकुण्डल धारण करते हैं; अङ्गद, रत्नमय वलय, कङ्कणसे परिशोभित हैं, नूपुर, कटक (कड़े), मेखला, अङ्गुलीयक आदि उनके आभूषण हैं। मानो किसी भी साधारण वस्तुके लिये वहाँ स्थान नहीं, सर्वोत्कृष्ट रत्नसमूह ही श्रीअङ्गोंके आभरणरूपमें स्वीकृत हुए हैं। किंतु बलिहारी है इन व्रजराजकुमारकी! अहा! अतिशय सामान्य वस्तु गुञ्जाका तो ये अवतंस धारण किये हुए हैं, तुच्छ मयूरपिच्छसे इनका शिरोभूषण निर्मित हुआ है, वनसे चयन किये हुए पल्लव-पुष्पोंकी माला वक्षःस्थलका आभरण है। अतः मेरे-जैसे तुच्छ दीन-हीन अकिंचनको भी यदि कहीं आश्रय मिल सकता है तो इन व्रजराजकुमारके चरण-प्रान्तमें ही! श्रीनारायणके चरणाश्रयके उपयुक्त कहाँ पाऊँगा मैं समुज्ज्वल दिव्य भाव? उत्कृष्टतम वैभवसे नित्य परिवेष्टित वैकुण्ठविहारी मुझे क्यों स्वीकार करने लगे। मुझे तो आश्रय दान कर सकते हैं मयूर-पिच्छधारी व्रजविहारी ही।' इसी भावसे भावित होकर स्रष्टा कह उठते हैं—'गुञ्जावतंससे, मयूरपिच्छसे परिशोभित मुखवालेके लिये, वनमालीके लिये मेरी वन्दना है।'

ब्रह्माके समक्ष अब इन वनमाली व्रजलीलाविहारीका

अनन्त अपरिसीम माधुर्यसिन्धु उद्वेलित हो उठता है। अपने पार्षदोंको इस प्रकार अनर्गल विशुद्ध प्रेमरसका दान, असंख्य पार्षदोंके साथ लीलासिन्धुमें ऐसा निर्बाध संतरण, वंशीके छिद्रोंसे स्वरूपानन्दका यह समान वितरण, रूपमाधुरीकी ऊर्मियोंसे विश्वका यह सम्प्लावन इससे पूर्व किसी अवतारमें व्यक्त नहीं हुआ। उन गोवत्सोंका सिर सूँघना, मुखचुम्बन करना, अपने करकमलोंसे हरित मृदुल तृणका संचय कर ग्रास देना, अपने अञ्जलिपुटमें जल भरकर, उनके मुखमें अपना आर्द्र पीताम्बर निचोड़कर उनकी तृषा शान्त करना, अगणित गोपशिशुओंमेंसे प्रत्येककी रुचिका पूर्ण आदर करना—पार्षदोंके प्रति यह प्रेम-व्यवहार पहले कभी प्रकट नहीं हुआ। असंख्य पार्षदोंके साथ लीलामाधुरीका ऐसा प्रकाश कभी नहीं हुआ था। वेणु-माधुर्यका वितरण—वंशीसे दिव्यातिदिव्य रस बरसाकर स्थावर-जंगमको विमोहित करनेकी अनोखी क्रिया भी पहली बार हुई है। सुर-असुर, नर-नाग, पशु-पक्षी रूपसुधाका पान कर विमुग्ध हो जायँ, इसमें कहना ही क्या है, स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन भी अपने ही रूपसे आप विमुग्ध हो उठें—ऐसी उन्मादक रूपमाधुरी भी व्यक्त हुई है इसी बार। आकाशपथसे पितामहको इसी अपरिसीम रस-सागरका एक बिन्दुमात्र उपलब्ध हुआ था—उन्हें दीख गये थे व्रजराजकुमार विचित्र वेशमें सखाओंके साथ पुलिनपर भोजन करते हुए! वे इस रस-सिन्धुमें अवगाहन करनेका—इसके एक कणमात्रका पुन: आस्वादन पा लेनेका लोभ संवरण न कर सके और उन्होंने वत्सहरण किया था। अबतक तो मानो वे भूले हुए-से थे इन बातोंको। प्रभु-चरणोंमें किये हुए अपराधकी भावनासे दबे हुए थे ये प्रेमिल भाव। किन्तु आँखें डूबीं, मन डूबा, बुद्धि निमग्न हुई श्रीकृष्णचन्द्रके नवजलधर-श्यामल श्रीअङ्ग-समूहकी गुञ्जावतंस-मयूरपिच्छकी छटासे उल्लसित वनमालीके वदनारविन्दकी सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु-सरितामें! फिर अपराधकी भावना कहाँ टिकती। बह गयी वह भी इसके प्रबल प्रवाहमें। चतुर्मुखकी आँखोंने पुनः देख लिया श्रीकृष्णचन्द्रके उस अभिनव साजको ही—दध्योदन, वेत्र, विषाण, वेणु वैसे ही यथास्थान सुसज्जित हैं। पितामहके प्राण प्रेमावेशसे स्पन्दित होने लगते हैं। लालसा हिलोरें लेने लगती है—'अनन्तकालतक श्रीकृष्णचन्द्रका यह माधुर्यमय रूप ही मेरे प्राणोंका आधार रहे, श्रीकृष्णचन्द्र इस रूपमें ही मुझे चरण-शरण दें।' तथा यही अभिलाषा बाहर झंकृत होने लगती है—'करतलपर दध्योदन, कक्षमें वेत्रशृङ्ग, कछौटीमें वेणुरूप असाधारण चिह्नोंसे अप्रतिम शोभाशालीके लिये नमस्कार है।'

बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका यह बाल्यावेश पितामहके मनका मन्थन कर रहा है। किसी अचिन्त्य प्रेरणावश व्रजेन्द्रनन्दनके जन्मसे लेकर अबतककी समस्त लीलाएँ स्रष्टाके मानसतलमें स्फुरित होने लगती हैं। वे सोचते हैं—प्रभुके भक्तवात्सल्यका प्रकाश जितना इस बालरूपमें हुआ है, उतना और किसी रूपमें नहीं। अहा! वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंके, गोपोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दनने कैसी-कैसी मनोहर लीलाएँ कीं। व्रजपुरन्ध्रियोंके गृहोंमें जाकर प्रत्येककी रुचिका अनुसरण करते हुए नवनीतहरणकी अभूतपूर्व लीला इस बालरूपमें ही सम्पन्न हुई। इन परब्रह्म पुरुषोत्तमने वात्सल्यवती जननी यशोदाके दिये हुए बन्धनको स्वीकार किया इस बालरूपसे ही। युग्म अर्जुनवृक्षोंको अयाचित, अतुलनीय कृपाका दान मिला इन दामबन्धनमें आये हुए बाल्यलीलारसमत्त प्रभुके द्वारा ही। आह! किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश ये बालगोपाल मुझे भी अपने चरणोंकी शरण दान कर देते, गोप-गोपियोंकी भाँति मुझे भी बालकृष्णके चरण-संलालनका, वक्षःस्थलपर इन पुण्य पदपल्लवोंके स्थापित करनेका अधिकार मिल जाता तो चिरजीवनकी एकमात्र साध पूरी हो जाती, मैं कृतार्थ हो जाता! इससे पूर्व अपने चरणदर्शनके दुर्लभ अवसर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने दिये अवश्य हैं, पर उस समय आजकी भाँति सुख-सेव्य चरण कहाँ?

और तो क्या, इन चरणोंकी संनिधिमें भी जा सकूँ, यह साहस ही मुझमें उस समय कहाँ था? भयवश प्राण कम्पित हो रहे थे। ओह! अभी भी श्रीकृष्णचन्द्रके उस नृसिंहरूपकी स्मृति प्राणोंमें भयका संचार कर दे रही है—ग्रीवाके केशसमूहसे टकराकर सुरविमान अस्त-व्यस्त हो गये। स्वर्ग डगमग-डगमग कर उठा। पादकी धमकसे धरा धूजने लगी, वेगसे पर्वत उड़ चले। तेजकी ऐसी चकाचौंध फैली थी कि आकाश एवं दिशाओंका ज्ञान लुप्त हो गया—

द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसंकुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। ३३)

किसीका साहस न था कि समीप जाकर प्रभुको अपनी सेवा समर्पित कर सके—

प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन।

(श्रीमद्भा० ७। ८। ३४)

दूरसे ही मैंने प्रभुकी वन्दना की थी—

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः स्वलीलया संदधतेऽव्ययात्मने॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। ४०)

'प्रभो! आप अनन्त हैं, आपको नमस्कार कर रहा हूँ। आपकी शक्तिका पार नहीं। आपके पराक्रम विचित्र हैं, कर्म पवित्र हैं। आप गुणोंके द्वारा ही अपनी लीलासे विश्वका सृजन, पालन, प्रलय करते हैं, फिर भी निर्विकार हैं! आपको नमस्कार है, प्रभो!'

—बस, प्रणाममात्र निवेदन कर लौट आया था। इसके पश्चात् वामनरूपसे प्रभुने अवसर दिया था चरणस्पर्शका। बलिके द्वारा संकल्प की हुई तीन पग भूमिको ग्रहण करनेके लिये प्रभुने चरण-विस्तार किये। वामनदेवका वह पदविन्यास ऊपरकी ओर उठता हुआ महर्लोक, जनलोक, तपोलोकका अतिक्रमण कर मेरे आवास सत्यलोकमें आया। उनके उस चरणनखचन्द्रकी छटासे सत्यलोककी आभा प्रतिहत हो गयी। मैं स्वयं उस प्रकाशमें निमग्न हो गया। दौड़ा मैं अभिनन्दन करने। और मैंने फिर उस चरण-अङ्गुष्ठका प्रक्षालन किया—

उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः॥

(श्रीमद्भा० ८। २०। ३४)

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभिर्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात्।

(श्रीमद्भा० ८। २१। १)

अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णोरुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम्।

(श्रीमद्भा० ८। २१। ३)

उस समय भी प्रभुके चरण मेरे लिये सुखसेव्य न हो सके; किंतु आज किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे भक्तवत्सल प्रभु बाल-गोपालके चरण मेरे समक्ष हैं—इस रूपमें हैं कि मैं इन्हें यथेच्छ अपने हृदयपर धारण कर अपनी चिर लालसाको पूर्ण कर सकूँ। इस बारकी लीलामें बृहद्वनकी वृन्दाकाननकी धराने, धराके वक्षःस्थलपर स्थित तरु-गुल्म-लताओंने इन बाल्यलीलाविहारीके अनावृत चरणोंका स्पर्श पाया है। और तो क्या—कीट, पतंग, भृङ्गोंने भी उड़-उड़कर इन चरणसरोरुहका मधुर मनोहारी घ्राण प्राप्त किया है, स्पर्श-सुखसे वे उन्मत्त हुए हैं। प्रभु मुझे भी इस बार वञ्चित नहीं ही रखेंगे। पर आह! मेरे लिये तो मर्यादाकी रोक लगी है। जो मेरे जन्मदाता पिता हैं, जिनके नाभिपद्मसे मेरा प्रादुर्भाव हुआ है, जो मेरे उपदेष्टा हैं, जिनके उपदिष्ट मन्त्रकी मैं उपासना करता हूँ, जो मेरे स्वामी हैं, जिनके नियन्त्रणमें ही विश्वका सृजन करता हूँ, उन्हें बालक कहकर सम्बोधन कैसे करूँ, इन पिता-गुरु-स्वामीको पहले बालक बतलाकर फिर चरण-शरणदानकी प्रार्थना कैसे करूँ? शिष्टमर्यादाके विपरीत मेरा यह आचरण कैसे क्षम्य होगा? साथ ही बाल-गोपालकी लीलामाधुरीके आस्वादनका लोभ परित्याग कर सकूँ, यह भी सम्भव नहीं। क्या करूँ? कैसे कहूँ प्रभुसे.........।'—इस प्रकार—क्षण भी न लगा—पितामह इतनी अधिक बात सोच गये। वे व्याकुल हो उठे। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी

कृपाशक्तिने अपने-आप स्रष्टाकी भावनाको अक्षुण्ण रखते हुए ही बाल्यभावके उपयुक्त शब्दयोजना कर दी और चतुर्मुखके मुखसे निकल पड़ा—'इन लघु कोमल पादपद्मवाले प्रभुके लिये प्रणाम है!'

यह सब हुआ। किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंकी शरण पा लेनेके लिये भी एक पद्धति है। उसका अनुसरण शरण चाहनेवालेके लिये अनिवार्य है। चतुर्मुख इससे अपरिचित हों, ऐसी बात नहीं। उन्मुक्त गगनमें उड़ते हुए राजहंसको देखकर पकड़ लेनेकी, पकड़कर अपने उद्यानके सरोवरमें अथवा सुन्दर-से पिञ्जरमें रुद्ध रखनेकी लालसा कितनोंको ही हो सकती है। पर उसे सचमुच पकड़ लेनेकी सामर्थ्य सबमें नहीं होती, नहीं हो सकती। जो वनविहंगमोंको जालमें आबद्ध करनेका कौशल जानता हो, उसके समीप ही अपनी अभिलाषा निवेदन करनी पड़ती है और तभी राजहंस अपने उद्यानकी, पिञ्जरकी शोभा बढ़ानेके लिये प्राप्त हो सकता है। चतुर्मुख जानते हैं—'उन्मुक्त अनन्त ऐश्वर्यके आकाशपथमें उड़ते हुए इन श्रीकृष्णराजहंसको वात्सल्यप्रेमके जालमें उलझाकर अङ्कमें धारण करनेकी कला व्रजेश्वरीको— व्रजराजको ही ज्ञात है; उन्होंने वात्सल्यका जाल विस्तीर्णकर इन बालकृष्ण-मरालको अपनी निधि बना लिया है। इसीलिये उनकी ही कृपाकोरसे मुझे बालकृष्णके चरण प्राप्त हो सकेंगे, इन मृदुल चरणोंका सेवाधिकार मिल सकेगा।' स्रष्टाके अन्तर्हृदयमें ये भाव लहराने लगते हैं—'ओह! कैसे पाऊँ व्रजरानीका, व्रजेश्वरका पुनीत आशीर्वाद, उनकी कृपाभरी दृष्टिकी एक छाया? मैं देवशरीरसे उनकी वन्दना भी करने जाऊँ तो वे संकुचित हो उठेंगे, नहीं-नहीं, उनके वात्सल्यपूरित चित्तमें अपने नीलसुन्दरके लिये आशङ्का उत्पन्न हो जायगी। यह तो एक नया अपराध बन जायगा। फिर क्या करूँ? अच्छा, एक उपाय है, किसी भी विद्याके पारंगत महानुभावका स्मरणमात्र ही वैसे अभीष्ट उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। मैं व्रजेश्वरको स्मरण करके, उनसे इन बालगोपालके नित्य सम्बन्धका निर्देश करके वन्दना करूँ तो मुझे अपना चिरवाञ्छित मिलकर ही रहेगा, अपने पिताका नाम सुनकर प्रभु द्रवित हो ही जायँगे। बस, अविलम्ब ऐसा ही हो! हे व्रजेश्वरके वात्सल्यजालमें उलझे हुए, बँधे हुए बालगोपाल! तुम्हारे योगीन्द्र-मुनीन्द्र-मनमोहनके ऐसे वेशके दर्शन इसी लीलामें हुए। इससे पूर्व अनन्त रूपोंमें तुम्हारे पुनीत लीला-यशसे मेरे द्वारा निर्मित यह जगत् पावन हो चुका है; पर तुम्हारा माधुर्य मेरे प्राणोंका मन्थन कर दे, मुझे ही विमोहित कर दे—यह इसी बार, इसी लीलामें हुआ नाथ! मेरे प्राण आकुल हैं प्रभो! तुम्हारे चरणसरोरुहकी शीतल छाया प्राप्त कर लेनेके लिये। एकमात्र अभिलाषा है, व्रजेन्द्रकुलचन्द्र! —गोपगोपीसंलालित इन लघु चरणोंका आश्रय मुझे भी सदाके लिये। अनन्तकालतकके लिये मिल जाय। इतनी-सी कृपा कर दो, व्रजराजनन्दन!'— जगत्-स्रष्टाकी यह भावना ही सिमटकर इन शब्दोंमें परिणत हो जाती है—'श्रीगोपेन्द्रतनयके लिये अनन्त वन्दन है…………।'

अस्तु, भावकी तरङ्गोंपर बहते हुए ब्रह्माने कुछ ही शब्दोंमें अपनी अभिलाषा श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंमें निवेदित कर दी। इसी समय व्रजराजकुमारके अरुणिम अधरोंपर मन्दस्मितकी एक लहर-सी आयी। नेत्रकमल भी किंचित् चञ्चल हो उठे। स्रष्टाको प्रतीत हुआ, मानो व्रजेन्द्रनन्दन व्यङ्ग्यात्मक संकेत कर रहे हों— 'पितामह! कर क्या रहे हो! कहाँ तो तुम जगदैश्वर्याधिपति और कहाँ मैं एक वनवासी गोपका पुत्र! अरे, तुम तो पुरातन पुरुष ठहरे और मैं एक शिशु हूँ। तुम हो वेदका अर्थ—तात्पर्य जाननेवाले परम विद्वान्, सदाचारपरायण और कहाँ मेरा यह जीवन कि मैं गोवत्सोंका चरवाहा हूँ। इसीलिये वेदाध्ययनका सौभाग्य तो मुझे मिलनेसे रहा, सर्वथा अध्ययनशून्य हूँ मैं। स्मृतिके आचारकी गन्ध भी मुझमें नहीं। मैं जानता ही नहीं। बैठे, खड़े, घूमकर—चाहे जैसे, भातका ग्रास मुखमें रख लेता हूँ। और देखो न, तुम तो माया जाननेवाले हो, परम सुखी हो, साक्षात्

परमेश्वर ही हो और मेरी दशा यह है कि तुम्हारी मायासे मोहित हुआ, दुःखका मारा वनमें यहाँसे वहाँ घूम रहा हूँ। सोचो, तुम इतने महान्, मैं इतना तुच्छ—मैं कभी तुम्हारा स्तवन करनेके भी योग्य हूँ?

भो ब्रह्मंस्त्वं जगदैश्वर्याधिपतिरहं तु वन्यगोपालपुत्रस्त्वं पुरातनोऽहं तु बालस्त्वं वेदार्थतात्पर्यविज्ञत्वात् परमविद्वान् सदाचारपरायणोऽहं तु वत्सचारकत्वादध्ययनशून्यः स्मार्त्ताचारगन्ध-मप्यजानंस्तिष्ठन् भ्राम्यन्नप्योदनकवलं भुञ्जानस्त्वं मायी परमसुखी साक्षात् परमेश्वर एवाहं तु त्वन्मायामोहितो मनोदुःखेन वने पर्यटंस्तव स्तवं कर्त्तुं नार्हामीति।

(सारार्थदर्शिनी)

'आखिर मेरे प्रति इतनी विनय क्यों? विशेषतः मेरे इस काले शरीरके लिये तुम्हारे मनमें इतना आकर्षण क्यों है? इसमें तुम्हें क्या दीख रहा है? अपने वेदज्ञानके आलोकमें देखकर इसमें यदि कोई तत्त्व-रहस्य है तो उसे बताओ तो सही'—पद्मयोनिकी आँखोंने व्रजेन्द्रनन्दनकी भोली चितवनमें इस इङ्गितकी कल्पना कर ली और वे विह्वल हो उठे। आठों नेत्रोंमें एक पश्चात्तापपूर्ण आर्त्ति भर आयी और इङ्गितका उत्तर दैन्यभरे इङ्गितमें पहले उन नेत्रोंने ही दे दिया—'नाथ! नाथ! बहुत हो चुका! अब मुझे विमोहित मत करो, व्रजराजकुमार! मेरे लिये तुम्हीं एकमात्र अवलम्ब हो; तुम्हारा श्याम कलेवर ही मेरे जीवनका आधार है, रहेगा। हे महामहिम! कैसे बताऊँ तुम्हारी एवं तुम्हारे इस श्याम-कलेवरकी महिमाको। सच तो यह है—सदा जगत्-सृजनमें ही निरत मेरी बुद्धि, मेरे मनमें सामर्थ्य नहीं कि उसे स्पर्श कर सकें; वाणी तो करेगी ही क्या! इतना ही कह सकता हूँ कि………।'—बस, फिर तो पितामहकी वाणी पुनः चञ्चल हो उठती है और वे कहने लग जाते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। २)

'देव! तुम्हारा यह श्रीविग्रह अपने स्वजनोंकी अभिलाषाके सर्वथा अनुरूप है, भक्तोंकी अभिलाषामयी ही यह तुम्हारी अभिव्यक्ति है। विशेषतः इसका प्रकाश तो मुझपर अनुग्रह करनेके लिये ही हुआ है। यह पञ्चभूतोंकी रचना कदापि नहीं है, नाथ! यह तो अप्राकृत—विशुद्ध सत्त्वमय है। अन्यकी बात दूर, मैं स्वयं समाधिमें स्थित होकर भी इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता। फिर आत्मानन्दानुभवस्वरूप साक्षात् तुम्हारी महिमाको—जहाँ रसराज महाभावस्वरूपमें तुम नित्य विराजित हो, उसे कोई कैसे जान सकता है स्वामिन्!'

देव देव हे दीनदयाला।
यह नर-वपु तव प्रगट कृपाला॥
गोचर नयन, मयन मनहारी।
यह अवतार धर्‍यौ सुखकारी॥
सोउ महिमा मोहि अघट, गोसाँई।
अपर जानि सक, किन मति पाई॥
यह बपु तुम निज भक्तहित धर्‍यौ नाथ, यह जानि।
गोकुल, गोपी, गोपजन—सब काहू सुख दानि॥
तौ किमि जानि सकै नहिं कोई।
इमि जो नाथ! कहौ जिय जोई॥
तुम अनीह आतम सुख रूपा।
पूरन ब्रह्म अगुन गुनरूपा॥
एक, अनेक, सकल घट बासी।
कृपासिंधु तुम जन सुखरासी॥
कौन लखै तव चरित कृपाला।
यातें गाइअ गुन-गन-माला॥

× × ×

है प्रभु यह तुम्हरौ अवतार, सुलभहि प्रगट सकल श्रुति सार।
मो पर परम अनुग्रह कर्‍यौ, किधौं भक्तन की इच्छा धर्‍यौ॥
याकी महिमा नहिं कहि परै, मो से जौ अनेक पचि मरै।
जो साच्छात बस्तु इक आहि, अवतारी अवलंबत ताहि॥

सो तुम जाने परत कौन पै, ससि है जात न गह्यौ बौन पै।

'इसीलिये, नाथ!'—पितामह बोलते ही चले गये।'जो भक्तजन हैं, वे तुम्हारे स्वरूपकी—ऐश्वर्यकी महिमापर विचार करने नहीं जाते। इसके लिये वे तनिक भी परिश्रम नहीं करते। तीर्थाटन आदि करनेकी भी उनकी रुचि नहीं होती। वे तो तुम्हें ही अपने जीवनका सार-सर्वस्व बना चुकनेवाले संतोंके द्वारका आश्रय ग्रहण करते हैं। अव्यग्रचित्तसे वहाँ निवास करते हुए संतोंके द्वारा कही हुई तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाकी कथाओंको ही, उनके द्वारा गान किये हुए भक्त-चरित्रोंको ही श्रवण करते रहते हैं। कथा-श्रवणके समय आदरकी भावनासे उनकी अञ्जलि बँध जाती है, प्रेमावेशसे 'हरे! नारायण! जगत्पते!' की पावन ध्वनि उनके मुखसे निकल पड़ती है। कथाका अनुमोदन करनेके लिये उनका अन्तर्मन पूर्ण रहता है कथाकी निष्ठासे। इस प्रकार काय-मनोवाक्यसे वे तुम्हारी चर्चाको ही जीवनका सार-संबल बना लेते हैं। उनके आदरकी वस्तु एकमात्र तुम्हारी कथा ही रहती है। उनके प्राणधारणका अवलम्बन केवल तुम्हारी चर्चा ही बच रहती है। और बिना ही परिश्रम उन्हें कथा-श्रवणका यह परम सौभाग्य प्राप्त रहता है संतोंके द्वारपर। वे संत अनृतके भयसे, इन्द्रियोंकी चञ्चलता-बहिर्मुखताके डरसे, अथवा तुम्हें ही प्राप्त हो जानेके कारण उनके लिये सदा-सर्वथा समस्त प्रयोजनोंका अभाव हो जानेसे अन्य प्रसङ्गोंमें मौन रहनेपर भी तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाका कीर्तन किये बिना रह नहीं सकते। इसीलिये तुम्हारी चर्चा अतिशय सुलभ रहती है उन संतोंके निकट निवास करनेवालोंको! जीवनका प्रत्येक क्षण बीतता है तुम्हारी कथाके सम्बन्धको लेकर ही। तथा इसीका परिणाम यह होता है कि नाथ! हे अजित! जो तीनों लोकमें किसी भी उपायसे किसीके द्वारा भी वशमें किये नहीं जा सकते, वे भी तुम उनके द्वारा—तुम्हारे वार्ताश्रवण-परायणजनोंके द्वारा, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन न करनेपर भी, प्रायः वशमें कर लिये जाते हो। भक्तोंद्वारा आचरित इस जीवनचर्याको जो अपना लेते हैं, परमार्थके पथमें इस भक्त-पद-चिह्नका ही अनुसरण करते हुए अग्रसर होते हैं, वे चाहे कोई भी हों—उनके लिये ऐसी बात होकर ही रहती है, प्रभो!'

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्येप्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३)

ग्यान बिषै प्रयास परिहरै, तुम्हरी कथा बिषै मन धरै।
जैसें सुंदर संत तुम्हारे, कथा-अमृत के बरषनहारे॥
तिन पै सुनै, श्रवन रस भरै, मन-बच-क्रम बंदन पुनि करै।
बैठे ठौर कथा-रस पीवै, जे इहि भाँति जगत में जीवै॥
अहो अजित! तिन करि तुम जीते, ग्यानी डोलत भटकत रीते।

× × ×

नैन रूप श्रुति कथा सुहानी।
मुख तव नाम रटत सुखदानी॥
इहि बिधि जे जीवत जग प्रानी।
ते कृतकृत्य भए, मैं जानी॥
तीनि लोक महँ अजित, अनंता।
तिन जीतेउ तुम कहँ भगवंता॥
तव गुन-कथा अमृत अति पावनि।
गलित सूरि-मुख तें मनभावनि॥
निसि दिन पान करत मन लाएँ।
जन्म लाहु तिन्ह हीं एक पाए॥

आज ब्रह्माको स्पष्ट दीख रहा है कि उपर्युक्त श्रवणादिरूप भक्तिका आश्रय लिये बिना ज्ञान चाहनेवालेको ज्ञानकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। तथा वे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरण-प्रान्तमें अपने भाव-पुष्प समर्पित करते हुए अपनी इस अनुभूतिको भी निवेदन कर दे रहे हैं—'हे प्रभो! सबके लिये नितान्त आवश्यक है तुम्हारी भक्ति। इसके अभावमें न अभ्युदय सम्भव है न अपवर्गकी सिद्धि। क्योंकि सब प्रकारके कल्याणका उदय, विस्तार इस भक्तिरूप मूल स्रोतसे ही तो होता है; समस्त मङ्गलोंका उद्गम जो यह ठहरी। किंतु लोग

भ्रान्त हो जाते हैं, नाथ! इसका आश्रय ग्रहण करना तो दूर, इसकी अत्यन्त अवहेलना कर बैठते हैं। उन्हें तुम्हारे मङ्गलमय नामोंका पीयूष सतत आस्वादनके योग्य नहीं प्रतीत होता, तुम्हारे अनिन्द्यसुन्दर मधुरातिमधुर रूपकी चर्चा उन्हें आकर्षित नहीं करती। तुम्हारे अनन्त कल्याणमय, मधुस्त्रावी गुणगणोंका वर्णन-श्रवण उन्हें प्रिय नहीं होता; तुम्हारी दिव्य लीलाएँ, तुम्हारा चिदानन्दमय विहार उन्हें अपने चिन्तनयोग्य वस्तु नहीं दीखती! वे अनादर कर देते हैं तुम्हारी इन रसमयी वार्ताओंका, सरस भावनाओंका; और इसके बदले ज्ञानकी संथा लेकर तुम्हारी महिमाका पर्यवसान देखनेके लिये अथवा आत्मबोधके लिये ही वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं, अतिशय परिश्रम करते हैं वे। सर्वमङ्गलनिकेतन तुम्हारी भक्ति उन्हें सहजमें ही ज्ञानकी प्राप्ति करा देती, इसके अवान्तर फलरूपमें उन्हें स्वतः आत्मबोध हो जाता; पर इस ओर वे ताकते ही नहीं। वे तो भक्तिकी उपेक्षा कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही अथक श्रम करते रहते हैं। किंतु इतना करनेपर भी, प्रभो! ज्ञानकी आलोकमाला उनके मानस-तलको, उनकी बुद्धिको उद्भासित नहीं करती, अपितु परिणाममें हाथ लगता है—केवल क्लेश-ही-क्लेश—साधन-श्रममात्र; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं—साधनजन्य यत्किञ्चित् सिद्धियाँ भी नहीं। मिलें कैसे? समस्त सिद्धियोंकी मूल तो तुम्हारे श्रीचरणोंकी अर्चना है; तुम्हारे सम्बन्धसे शून्य कोई भी साधन किसी भी शुभ फलका सृजन कर जो नहीं सकते। अतः उनके लिये भी बच रहता है केवल असफल आयासमात्र—ठीक उसी प्रकार जैसे अल्प परिमाणमें सामने रखे हुए धान्यको परित्यागकर तन्दुल निकाले हुए धान्यतुषकी राशि—थोथी भूसीके ढेरको कूटनेपर अन्नकणोंकी उपलब्धि नहीं होती, निरर्थक श्रममात्र ही होता है। श्रेयकी निर्झरिणी तुम्हारी भक्तिकी जो अवहेलना कर देते हैं, वे शुष्क ज्ञान-लाभके लिये भले ही कुछ भी कर लें; उनके लिये अवश्यम्भावी परिणाम यही होता है, सर्वेश्वर!'

श्रेयःस्त्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४)

तुम्हरी भगति अमीरस-सरबर, मोच्छादिक जाके बस निर्झर।
तिहि तजि जे केवल बोध कौं, करत कलेस चित्त सोध कौं॥
तिन कहुँ छिनहीं-छिन श्रम बढ़ै, और कछू न तनक कर चढ़ै।
जैसें कन बिहीन लै धान, धमकि-धमकि कूटत अग्यान॥
फल तहँ—बिरथ यहै दुख भरै, खोटक हाथनि फोटक परै।

× × ×

त्यागि भक्ति तव, मूढ़ नर ग्यान हेतु दिन-राति।
करै जतन, पचि-पचि मरै, लहै न कबहूँ सांति॥

भक्ति-सरोबर अति गंभीरा।
झरना अमित झरैं तेहि तीरा॥
ऐसी सरस भक्ति सुखदानी।
तेहि तजि अपर ठाम रुचि मानी॥
तासु सकल श्रम विफल गुसाँई।
श्रुति पुराण संतत इमि गाई॥
जिमि कोउ अल्प धान्य कौं त्यागी।
धान-अभास घनौ अनुरागी॥
कंडन करै ताहि, रुचि मानी।
लहै न अन्न, सहै दुख खानी॥
तिमि तव भक्ति त्यागि नर मूढ़ा।
सहै कोटि दुख मोह-अरूढ़ा॥

'भक्तिकी यह महिमा कथनमात्रके लिये हो—ऐसी बात नहीं है, नाथ!' वेदगर्भ प्रमाण देने लगते हैं—'अपितु, अतीतके अगणित संतोंका जीवन इस सत्यको प्रत्यक्ष कर दे रहा है। हे भूमन्! अपरिच्छिन्न प्रभो! तुमसे छिपा ही क्या है, तुम सम्पूर्णतया सब कुछ जानते हो। मेरे द्वारा निर्मित इस जगत्के प्रवाहमें एक नहीं, बहुत-से योगिगण हो चुके हैं, जिन्होंने योगके, ज्ञानके साधनोंको अपनाया था, साधनकी चरमोत्कर्ष दशामें वे अवस्थित भी हो चुके थे; फिर भी ज्ञानकी ज्योति नहीं जग सकी, हृत्तल आलोकित

नहीं हो सका ज्ञानसूर्यकी रश्मियोंसे। और तब वे लौटे इस पथसे तथा भक्तिमार्ग—राजमार्गका अवलम्बन लिया उन्होंने। अब उनके जीवनकी धारा तुम्हारी ओर बह चली, समस्त इन्द्रियोंका व्यापार होने लगा तुम्हारे उद्देश्यसे ही, उनकी सब चेष्टाएँ समर्पित होने लगीं तुम्हें ही। इस कर्म-समर्पणने शीघ्र ही मनका मैल धो दिया, तुम्हारी कथा सुननेके प्रति आदर जाग उठा तथा संतसमागमका सौभाग्य लाभकर वे सतत तुम्हारी कथा-सुधामें ही निमग्न रहने लगे। कथामृत-पानके अनिवार्य परिणामस्वरूप भक्तिका उन्मेष हुआ ही। फिर तो स्वरूप-ज्ञान होनेमें विलम्ब ही क्या था, वह तो स्वतः हो गया। इस प्रकार अनायास अतिशय सुगमतासे उन्होंने तुम्हारे परमपदकी प्राप्ति कर ली। हे अच्युत! सर्वथा उचित ही है ऐसा होना; तुम्हारी भक्तिका आश्रय कर लेनेके अनन्तर कोई भी व्यक्ति अभीष्ट-सिद्धिसे च्युत हो जाय, यह सम्भव जो नहीं।'

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५)

हौ प्रभु! पाछे बहुतक भोगी, तजि-तजि भोग भए भल जोगी।
दिढ़ अष्टांग जोग अनुसरै, ग्यान हेतु बहुतै तप करै॥
अति श्रम जानि तहाँ तैं फिरै, तुम कहुँ कर्म समर्पन करै।
तिन करि सुद्ध भयौ मन मर्म, तब कीने प्रभु तुम्हरे कर्म॥
कथा-श्रवन करि पाई भक्ति, जाके संग फिरत सब मुक्ति।
ता करि आत्मतत्त्व कौं पाइ, बैठे सहज परम गति पाइ॥

× × ×

हे भूमन! पूरब जे जोगी।
तजि गृहादि-सुख, भए बियोगी॥
करि बहु जतन ग्यान हित भारी।
मिलेउ ग्यान नहिं भए दुखारी॥
पीछें निज ईहा सब जेती।
तुमहि समर्पहिं मन-बच तेती॥
सुनि तव कथा भक्ति हियँ आई।
जान्यौ आतम रूप बनाई॥
ते नर सहज प्रयास बिनु, मुक्ति लहैं सुखकंद।
परैं न भवनिधि माहिं पुनि, मिटैं सकल जग-द्वंद॥

इतना कह लेनेके अनन्तर स्रष्टाके नेत्र, मन, प्राण पुनः व्रजराजकुमारके नवजलधर-श्यामल श्रीअङ्गोंकी सौन्दर्यराशिमें, चिदानन्दमय श्रीविग्रहके अनन्त अपरिसीम पारावारविहीन महिमामें ही डूबने-उतराने लगते हैं। प्राणोंके कण-कणसे झङ्कृत हो उठता है—'सर्वथा अज्ञेय है यह महिमा, व्रजराजकुमारका यह स्वरूप!' इसी समय सहसा पद्मयोनिके मनमें, बुद्धिमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके निर्विशेष स्वरूपका स्फुरण हो जाता है—मानो ओर-छोरविहीन रससिन्धुमें बहते हुएको एक सुदूर देशमें ज्योतिर्मय, चिन्मय तटकी रेखा-सी दीख जाय! पर यह स्वरूप भी ज्ञेय थोड़े है। इसमें भी 'अथ'-'इति' जो नहीं। इसे भी कैसे जाना जाय। फिर '**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**'—'आत्माका दर्शन करे, '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**'—मनके द्वारा बारंबार आत्माका अनुसंधान करे, इन श्रुतियोंका क्या तात्पर्य है?—इस प्रकार वेदगर्भके मनमें मानो शङ्का जागी और इसका स्वयं समाधान करते हुए अपने इस निर्णयको भी व्रजेन्द्रनन्दनके पादपद्मोंमें निवेदन करनेयोग्य वस्तु समझकर वे कह उठते हैं—'प्रभो! अज्ञेय हैं तुम्हारे दोनों स्वरूप ही—सविशेष (सगुण), निर्विशेष (निर्गुण), दोनों ही नहीं जाने जा सकते, नाथ! तथापि निर्विशेषकी महिमाका प्रकाश इन्द्रियोंका प्रत्याहार किये हुए मनीषियोंके सम्यक् शुद्ध चित्तमें हो सकता है, स्वामिन्! किंतु तुम्हारी यह अभिव्यक्ति चिदाभाससे होनेवाले प्राकृत वस्तुके ज्ञानके समान नहीं है, नहीं हो सकती। यह तो तुम अपनी स्वप्रकाशताशक्तिसे ही आत्माकार हुए चित्तमें प्रतिभासित होने लगते हो, प्रभो! जब इन्द्रियोंका प्रत्याहार हो जाता है, विषयोंसे वे हटा ली जाती हैं, विषयोंसे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, तब चित्तकी विषयाकारता भी मिट जाती है। यह स्थिति ही—चित्तका विषयाकार न रहना

ही—आत्माकारता है। इस प्रकार सर्वविध विकार एवं विषयसम्बन्धसे शून्य, आत्माकार हुए चित्तमें ही तुम्हारे स्वप्रकाश निर्विशेष स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है, हो सकती है; नाथ! आत्माकार चित्तवृत्तिमें तुम्हारा यह निर्विशेष स्वरूप प्रकाशित हो जाता है, इस कारण यह ज्ञेय है और चिदाभाससे यह प्रकाशित होनेका ही नहीं, इसीलिये यह अज्ञेय है, भूमन्!'*

तथापि भूमन्! महिमागुणस्य
ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ६)

लछिमी जदपि नित्य उर रहै, सो पुनि तनक कबहुँ नहिं लहै।
जाके रूप न रेख न क्रिया, तिहि लालच अवलंबै हिया॥
तदपि केई तजि-तजि सब कृत्ति, निर्मल करत चित्त की बृत्ति।
सहजहिं सून्य समाधि लगाइ, लेत हैं तामें तुम कौं पाइ॥

× × ×

अगुन रूप जो अहै तुम्हारा।
तासु ग्यान कोउ लहै उदारा॥
सगुन रूप तव गुन बहु भारे।
लहै न कोउ, इमि बेद उचारे॥
गुनातीत तव रूप अनूपा।
इंद्रीजित जानै सुखरूपा॥

'किंतु इसी प्रकार तुम्हारे सगुण स्वरूपकी

---

* वस्तुका ज्ञान होनेके सम्बन्धमें शास्त्रीय सिद्धान्त यह है—जगत्‌में सर्वत्र स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे जो चैतन्यसत्ताकी अभिव्यक्ति होती है, इसीको शास्त्रीय भाषामें 'चिदाभास' कहते हैं। इस चिदाभास एवं इन्द्रियसे जुड़े, विषयाकार हुए चित्तके द्वारा ही जीवोंको यह ज्ञान होता है कि यह घड़ा है, यह कपड़ा है इत्यादि। सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह ज्ञान ऐसे होता है—जिस समय नेत्र आदि इन्द्रियोंके साथ घड़ा आदि विषयोंका सम्बन्ध होता है, उस समय अन्तःकरण—चित्त, नेत्र आदि इन्द्रियोंकी राहसे निकलकर, जहाँ घड़ा आदि विषय अवस्थित रहते हैं, वहाँ चला जाता है; जाकर घट आदि विषयोंके आकारमें परिणत हो जाता है, ठीक उन-उन विषयोंका आकार धारण कर लेता है। इस परिणामको ही 'वृत्ति' नामसे कहते हैं, 'चित्तकी विषयाकारता' भी इसीका नाम है। इसी 'वृत्ति' में प्रतिबिम्बित जो चिदाभास है, उसे शास्त्रकार 'फल' नाम दे देते हैं। अब जिस समय चित्त घटाकार वृत्तिके रूपमें बन जाता है, उसी समय घटके आवरक अज्ञानका नाश हो जाता है अर्थात् उस घटरूप विषयके सम्बन्धमें जो अज्ञान रहता है, वह दूर हो जाता है; तथा वहाँ स्थित जो चिदाभास है, जिसे 'फल' भी कहते हैं, उसके द्वारा घड़ा प्रकाशित कर दिया जाता है। दार्शनिक दृष्टिसे इतनी क्रिया हो जानेपर ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह घड़ा है'। इसी प्रकार इन्द्रियोंके समस्त विषयोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। संक्षेपमें कहनेपर यह कि घड़ा, कपड़ा, मकान आदि किसी भी जागतिक वस्तुका ज्ञान प्राप्त होते समय जीवकी चित्तवृत्तिके द्वारा तो केवलमात्र उस विषयका अज्ञान दूर होता है; किंतु वस्तुको प्रकाशित कर देनेके लिये चिदाभास अपेक्षित है ही। जगत्‌की जितनी जड वस्तुएँ हैं, उनका स्फुरण चिदाभासकी सहायतासे ही होता है; किन्तु सच्चिदानन्द वस्तु इस चिदाभाससे प्रकाशित नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्‌के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानमें यह बात है कि वहाँ आवरक अज्ञानका नाश होनेके लिये वृत्तिव्याप्तिमात्र—केवल चित्तकी आत्माकारता, ब्रह्माकारता ही अपेक्षित है; चिदाभास नहीं। हमें उन्मुक्त आकाशमें प्रकाशित सूर्यके दर्शन हो जायँ, इसके लिये आँखें खोल लेनेकी तो नितान्त आवश्यकता है; किंतु सूर्यको देखनेके लिये दीपकके प्रकाशका कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मका स्फुरण होनेके लिये चित्तकी आत्माकारता तो नितान्त आवश्यक है, किंतु चिदाभासका वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। नेत्र खोल देनेपर जैसे निर्विशेष तेजोमण्डलरूपमें सूर्यके दर्शन हो जाते हैं, वैसे ही आत्माकार हुए चित्तमें भगवान्‌के स्वप्रकाश निर्विशेष सच्चिदानन्दस्वरूपके ज्ञानका उन्मेष हो जाता है—

घटादिजडवस्तुज्ञानविषये अन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटाद्याकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासः फलमित्युच्यते। तत्र वृत्त्या घटाद्यावरकमज्ञानं नाश्यते; चिदाभासेन

महिमा भी जान ली जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है, अनन्त!'—स्रष्टा पुनः व्रजराजकुमारके सविशेष स्वरूपके वैभवका ही सम्पुट देते हुए-से बोल पड़ते हैं। अनन्त अप्राकृत कल्याणगुणनिलय तुम सदा सबके लिये अज्ञेय ही बने रहते हो। तुम्हारे दिव्य स्वरूपभूत गुणोंकी थाह आजतक किसने पायी है, प्रभो! विश्वके कल्याणके लिये ही तो तुम्हारा यह अवतरण हुआ है, नाथ! इससे पूर्व भी न जाने कितने भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये किन-किन रूपोंमें अवतरित होकर अपने अनन्त गुणोंमेंसे कौन-कौन-से गुणोंका प्रकाश तुमने किया है, स्वामिन्! जगत्के अनादिप्रवाहमें अनन्त प्राणियोंकी अनन्त भावनाओंसे उपासित होकर, उनके प्रेमसे आकर्षित हुए तुम जब-जब यहाँ अवतीर्ण हुए हो, उस समय तुम्हारे कारुण्य, भक्तवात्सल्य आदि अनन्त गुणोंका कैसी, कहाँ किस रूपमें अभिव्यक्ति हुई है—इसे कौन जानता है, विभो! तुम्हारे गुणगणोंकी गणना किसके द्वारा सम्भव है, नाथ! महाशक्तिसम्पन्न शेष एवं सनकादि योगीश्वरगण दीर्घकालके परिश्रमसे पृथ्वीके धूलिकणोंकी, आकाशके हिमकणोंकी एवं सूर्य-नक्षत्रादिके किरणपरमाणुओंकी भी गणना कर लेनेमें जो समर्थ हो चुके हैं, उनमें भी ऐसी किनकी सामर्थ्य है, जो तुम्हारे अनन्त कल्याणमय गुणोंको गिन डालें, भगवन्!'

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ७)

पै यह सगुन सरूप तुम्हारौ।
ह्याँ मन खोयौ जात हमारौ॥
ये अद्भुत अवतार जु लेत।
बिस्वहि प्रतिपालन के हेत॥
नाम, रूप, गुन, कर्म अनंत।
गनत-गनत कोउ लहै न अंत॥
धरनी के परमान जितेक।
हिमकन उडुगन गगन तितेक॥
कालहि पाइ निपुन जन कोइ।
तिनहिं गनै, अस समरथ होइ॥
ऐ परि सगुन रूप-गुन जिते।
काहू पै कहि परत न तिते॥

× × ×

यह सख्यात सगुन बपु देवा।
नहिं कोउ जानि सकै तव भेवा॥
गुन अचिन्त्य महिमा सुखसागर।
जग पालन कारन व्रजनागर॥
तव गुन गनि न सकैं सत सेषा।
जिन कें बहुमुख अहैं असेषा॥
भू-रज, गगन ऋक्षगन जेते।
बरषा बूँद परें कन केते॥
हिम-कन ब्यूह जहाँ लगि आही।
गनै निपुन कोउ अति चित चाही॥
बिपुल काज करि गनै कोउ ब्योम किरन परमानु।
तद्यपि तव गुन गनन कोउ नहिं समर्थ जग जानु॥

यह कहते-कहते ही स्रष्टाके मनमें भक्तिका स्रोत उमड़ चलता है। व्रजराजकुमारके कल्याणमय गुणोंकी स्मृति आत्मसमर्पणके भावोंको उद्बुद्ध कर देती है और वे कहने लगते हैं—'अतएव हे करुणावरुणालय!

फलाख्येन घटः प्रकाश्यते। ततोऽयं घट इत्यादि ज्ञानं जायते। अतो घटादिस्फुरणार्थं फलव्याप्तिरपेक्ष्यते। ब्रह्मविषये तु आवरकाज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिमात्रमपेक्ष्यते। ब्रह्माकारवृत्तौ जातायां ब्रह्मस्फुरणार्थं तु रविदर्शनार्थं दीपापेक्षेव चिदाभासापेक्षा नास्ति, ब्रह्मणः स्वयंप्रकाशत्वात्; एतदर्थं संग्रहश्लोकौ च—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता। स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभासस्तत्र युज्यते॥

(अन्वितार्थप्रकाशिका)

आवश्यकता नहीं है तुम्हारे गुणगणोंकी गणना करनेकी। बस, किसी प्रकार तुम्हारी अनन्त कृपामयतापर विश्वास हो जाय; समयपर प्राप्त हुए सुख-सम्पत्तिके समुदायमें, दुःख-दारिद्र्यके झंझावातमें समानरूपसे सतत तुम्हारी कृपाकी निराविल धाराके ही दर्शन होने लगें; और कदाचित् यह न हो सके तो तुम्हारी अनुकम्पाकी प्रतीक्षा ही जाग्रत् हो जाय—'कब प्रभुकी कृपा मुझपर ढलक पड़ेगी' इस ओर ही दृष्टि केन्द्रित हो उठे; चातक जिस प्रकार निर्झरकी, सरिताकी, सागरकी, वारिधाराकी ओरसे मुँह मोड़कर एकान्त मनसे स्वातीबूँदोंकी ही प्रतीक्षा करता है; तृषाकी ज्वालासे उस विहंगमके प्राण भले झुलस जायँ, पर अपने अभिलषित मेघके अतिरिक्त किसी भी अन्य ओर वह ताकता ही नहीं—**'सम्यगीक्षमाणश्चातकवृत्तिरित्यर्थः'** *; इस प्रकार सबकी आशा परित्यागकर तुम्हारी कृपाकणिकाको पा लेनेकी उत्कण्ठा प्राणोंमें निरन्तर जाग्रत् हो जाय; तथा जबतक तुम्हारी उस कृपाकी अनुभूति न हो, तबतक घोर तप आदिसे शरीर क्षीण करनेके बदले जन्मान्तरमें अपने ही अर्जित विविध कर्मफलोंको, प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखरूप भोगोंको विकृतिशून्य, अम्लानचित्तसे भोगते रहनेकी वृत्ति उदय हो जाय; साथ ही तुम्हारी स्फूर्ति होते रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, गद्गदवाणीसे, रोमाञ्चित हुए शरीरसे अपने-आपको तुम्हारे चरणसरोजोंमें समर्पित करते रहनेकी भावना अखण्डरूपसे बनी रहे—जीवन इस उपर्युक्त दिनचर्याके साँचेमें ही ढल जाय, जो कोई भी अपना ऐसा जीवन बना ले, नाथ! फिर तो वह तुम्हारे चरणसेवाधिकारको पा लेनेका अधिकारी बन ही जाता है, प्रभो! जीवित पुत्र पितृसम्पत्का अधिकारी हो जाय—इसमें आश्चर्य ही क्या है, भगवन्! वञ्चित तो वे होते हैं, जो मृत पुत्र हैं, पतित पुत्र हैं अथवा पोष्य पुत्र हैं। तुम विश्वपिताकी संतान ही तो जगत्के ये असंख्य जीवगण हैं। इनमें तुम्हारे पाद-पङ्कजका भजन जिनके जीवनका अवलम्बन है, वे ही तो वास्तवमें जीवित हैं, उनका ही जीवन-धारण सफल है, वे ही तुम्हारे चरणसरोरुहकी सेवारूप महासम्पद्के अधिकारी हैं, स्वामिन्! तथा जो तुमसे विमुख हैं, वे तो मृत ही हैं। भस्त्रा—धोंकनीमें भी तो वायु आती-जाती है। तुम्हारे चरणोंसे पराङ्मुख रहनेवाले प्राणियोंका श्वास लेना ठीक ऐसा ही है, देव! व्यर्थ है इनका जीवन—

'दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधाः।' †

अथवा ये पतित पुत्रकी श्रेणीमें हैं, या तुम्हारी मायाके पोष्य पुत्र हैं, प्रभो! ये पितृसम्पत्के अधिकारसे वञ्चित रहेंगे ही, रहते ही हैं। इन्हें कैसे मिले तुम्हारे भवज्वालाहारी पादारविन्दकी शीतल शंतम छाया। और भगवन्! वे तुम्हारे अनुग्रहके अनुभवमें ही निमग्न रहनेवाले अथवा तुम्हारी अनुकम्पाकी ही प्रत्याशा लिये बैठे रहनेवाले, प्रारब्धको निर्विकारभावसे भोगनेवाले, तुमपर ही अपने कायमनोवाक्यसे न्योछावर होकर जीवन धारण करनेवाले भक्तगण कैसे न कृतार्थ हों। बिना परिश्रम बड़ी सुगमतासे ही वे तो हो ही जायँगे तुम्हारे नलिन-सुन्दर श्रीचरणोंकी सेवा-प्राप्तिरूप महासम्पत्के दायभागी (अधिकारी)। उनके अनादि संसरणका अन्त हो जाय, भवबन्धनसे वे मुक्त हो जायँ—तुम्हारे चरणाश्रयका यह आनुषङ्गिक फल भी उन्हें मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, नाथ!

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

तातैं तव भगतिहि अनुसरै।
तुम्हरी कृपा मनायौ करै॥
कब मो पर नँदनंदन ढरिहैं।

* श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्।

† वेदस्तुति श्रीमद्भा० १०। ८७। १७।

मधुर कटाच्छ चितै, रस भरिहैं॥
निज प्रारब्ध कर्म-फल खाइ।
अनासक्त, नैक न ललचाइ॥
अरु अति तप कलेस नहिं करै।
श्रवन-कीर्तन रस संचरै॥
इहि बिधि जियै सुभागहि पावै।
मर्यौ कहा कोउ झगरन आवै॥

× × ×

एहि ते हे जगदीस, भक्ति सुगम तव जीव कहुँ॥
अपर न मोहि कछु दीस, भक्ति बिना हे नंदसुत॥
जो नर चतुर होइ जग कोई।
तव कटाच्छ चाहै मन सोई॥
कब कटाच्छ करिहैं जदुनाथा।
यह बंछै नित सुनि हरि-गाथा॥
निज अर्जित जे कर्म पुराने।
भल अरु मंद किए जस जाने॥
तस फल लहै, करै सो भोगा।
अनासक्त भोगै बिनु सोगा॥
अति कलेस तप आदिक त्यागी।
तव पद संतत ह्वै अनुरागी॥
एहि बिधि जे जीवत हैं प्रानी।
भए मुक्तिभागी ते जानी॥

भक्तिरससे सिक्त हुए मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका यह एक स्वाभाविक लक्षण है—मानका सर्वथा अभाव होकर सच्चे दैन्यका संचार हो जाय, अपनी हीनताका, दोषमयताका भान होने लगे। पितामह इसी स्थितिमें आ पहुँचे हैं।

इसके अतिरिक्त व्रजराजकुमारके अमृतस्यन्दी अधरोंपर एक स्मित नित्य विराजित रहता है, उनके दृगोंमें एक विचित्र स्पन्दनकी रेखा-सी सतत रहती है। कब क्या अर्थ रखते हैं ये—इसका अन्त आजतक किसीको मिला ही नहीं। हाँ, भावदर्पणमें इन स्मित एवं स्पन्दनकी छाया पड़ती है; तथा दर्पणके अनुरूप ही इस छायासे प्राणोंमें कुछ-न-कुछ अभिनव संकेत झर पड़ता है। प्रत्येकके लिये प्रत्येक झाँकीमें ही। यही बात पद्मयोनिके लिये हुई। उन्होंने देखा श्रीकृष्णचन्द्रके चारु-चञ्चल नयनोंकी ओर, मन्दस्मितकी ओर तथा देखते ही उनके मनने इस बार एक नया अर्थ ले लिया उनसे। ये मानो कह रहे हों—'पितामह! मेरे भक्त तो तुम भी हो, अतः मेरे महासम्पत्के 'दायभाक्' भी तुम हो ही।' फिर तो वेदगर्भ व्याकुल हो उठे इस भावनासे। अपनी दीनता, तुच्छता, व्रजराजकुमारके असमोर्ध्व ऐश्वर्यकी स्फूर्ति, उनके प्रति किये हुए अपराधकी स्मृति, आत्मग्लानि—एक साथ अनेक भावोंका प्रवाह बह चला उनके अन्तस्तलमें। इसीलिये स्तवनकी धारा भी बदल गयी और वे कहने लगे—'ओह! प्रभो! भक्त मैं नहीं हूँ, नाथ! होता तो मेरे द्वारा ऐसी धृष्टता नहीं होती; मैं ऐसी मूढ़ता नहीं कर बैठता। स्वयं देख लो, अन्तर्यामिन्! मेरी दुर्जनोचित चेष्टाकी, मूढ़ताकी सीमा नहीं रही है। तुम सर्वकारणकारण हो, इस नाते एवं साक्षात् सम्बन्धसे भी तुम मेरे पिता हो। तुम्हारे नाभिकमलसे ही तो मैं उत्पन्न हुआ हूँ, देव! भला, अपने पिताके प्रति—सो भी उस समय, जब वे सुखपूर्वक अपने सहचरोंके साथ भोजनपर बैठे हों—ऐसा अपराध करनेवालेसे बढ़कर दुर्जन और कौन होगा? और मेरी मूर्खताका तो कहना ही क्या है! देखो सही, तुम अनन्त अपरिच्छिन्नैश्वर्य हो; तुम्हारे स्वरूप, ऐश्वर्य, महिमा आदिका अन्त नहीं, तुम्हारा सब कुछ अपरिसीम है। परमात्मा हो तुम—नियामकरूपसे, सर्वत्र सबके बाहर-भीतर अवस्थित हो; आत्माओंके भी आत्मा हो तुम। इतना ही नहीं, तुम सर्वमायाधीश हो, स्वामिन्! शेष, शंकर आदि भी तुम्हारी मायासे विमोहित हो जाते हैं। भला, ऐसे महामहिम सर्वकारणकारण, सर्वनियन्ता, सर्वमायापति तुमपर अपनी मायाका विस्तार करने चला था मैं, तुम्हें अपनी मायासे मुग्ध करके तुम्हारे वैभवका दर्शन करनेकी इच्छा की थी—नहीं-नहीं, देवसमाजके समक्ष अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करने गया था, 'अखिल

ब्रह्माण्डनायक स्वयं भगवान्‌को भी पितामहने अपनी मायासे मुग्ध कर दिया'—इस सुयशका प्रसाद—इस रूपमें अपने ऐश्वर्यका दर्शन करने गया था। ओह! इस मूढ़ता—महामूढ़ताकी भी कोई सीमा है? तुम्हारी तुलनामें मेरा अस्तित्व ही क्या है, नाथ! प्रज्वलित अग्निपुञ्जके सामने उसीसे उत्थित एक स्फुलिङ्गकणकी भी कहीं गणना होती है? इतने महान् हो तुम और इतना तुच्छातितुच्छ हूँ मैं! फिर भी मेरी ऐसी कुटिलता! क्या कहूँ, प्रभो!'

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ९)

देखु नाथ! दुर्जनता मेरी।
महिमा चह्यौ चह्यौं प्रभु केरी॥
अगिनि तैं बिस्फुलिंग ज्यों जगै।
अगिनिहि बिभव दिखावन लगै॥
पटबिजना ज्यौं पंख डुलाइ।
लयौ चहत रबि-मंडल छाइ॥
और सुनहु, प्रभु! उपमा आछी।
गरुड़हि आँखि दिखावै माछी॥

× × ×

देखहु ईस दुष्टता मोरी।
छमा कहाँ लगि बरनौं तोरी॥
तुम मायिक के ईस, नियंता।
पुनि माया पति हरि भगवंता॥
मैं मति मंद अल्प निज माया।
सो प्रभु कौं मैं आनि देखाया॥
ता करि तब ऐश्वर्य मैं, देखन चहौं अनंत।
किमि देखौं मैं मूढ़ मति, तव महिमा कौ अंत॥

'परंतु जो महान् हैं, वे कहाँ देखते हैं छोटोंके अपराधोंकी ओर।'—पद्मयोनि व्रजेन्द्रनन्दनसे क्षमा-याचना करते हैं। 'और फिर उनके द्वारसे क्षमादानके लिये अञ्चल फैलानेवाले कभी निराश लौटें, यह तो असम्भव है। अतएव, हे अच्युत! तुम भी मुझे क्षमा कर दो। अपनी अनन्त कृपामयताके स्वरूपसे तुम कदापि स्खलित नहीं हो सकते, इस शाश्वत सत्यकी आशासे मैं भी अञ्जलि बाँधे तुम्हारे श्रीचरणोंकी शरणमें आया हूँ, भगवन्! तुच्छ-से-तुच्छ हूँ मैं और तुम महान्‌से भी सुमहान् हो। मेरे-जैसे नगण्यके द्वारा किये गये अपराधोंकी ओर, हे महामहिम! तुम दृष्टिपात मत करो। सच तो यह है, स्वामिन्! मेरी-सी स्थितिमें अवस्थितके द्वारा अपराध न होंगे तो और होंगे ही क्या? देखो न, रजोगुणसे तो उत्पन्न हुआ हूँ मैं, रजोमयी सृष्टिके निर्माणमें ही सतत निरत रहता हूँ। प्राकृत रजमें तमका अंश न रहे, यह सम्भव नहीं। इसलिये तमकी छाया भी मुझपर रहेगी ही, तमोगुणजनित अज्ञता भी मेरी चिरसङ्गिनी बनी ही रहेगी। यही कारण है—मैं तुम्हारे स्वरूपको नहीं देख सका, नहीं जान पाया। तथा इसीका परिणाम है कि अपने-आपको तुमसे पृथक् ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, संसारका स्वामी मान बैठा था। ओह! प्रभो! क्या दशा हो गयी थी मेरी!' मैं अजन्मा जगत्कर्त्ता हूँ—इस मायाकृत मदके घनीभूत अँधेरेसे गाढ़—तमोमय आवरणसे मेरी आँखें अंधी हो चुकी थीं! कैसे मैं देख पाता तुम्हें? ऐसी तमोमयी स्थितिमें मुझसे अपराध बने हैं, नाथ! बस, अब तो अपनी करुणाका चन्द्रोदय हो जाने दो; मेरे मदका अन्धकार सदाके लिये विलीन हो जाय उस परम दिव्य शुभ्र ज्योत्स्नामें, और मैं सतत देख सकूँ तुम्हें, सर्वेश्वर!

'मयि त्वत्कारुण्यचन्द्रोदयेनैव मद्गर्वतमस्यपहृते सति त्वं दृश्यो भविष्यसि नान्यथेति भावः'

—सारार्थदर्शिनी।

साथ ही घटित अपराधोंके लिये क्षमा-दान दे दो। अपने अतिशय सदयहृदयसे मेरे लिये, हे नाथ! तुम यह सोच लो—'यह भले सबका पितामह है, पर इसका स्वामी तो मैं ही हूँ। मेरे ही आश्रित रहनेसे यह सनाथ है! मुझसे उपेक्षित हो जानेपर इसका कोई अन्य रक्षक नहीं, इसके लिये कहीं तनिक

तनिक भी स्थान नहीं। इसलिये यह मेरा भृत्य मेरी कृपाका पात्र है ही, इसपर मेरी अनुकम्पा होनी ही चाहिये।'—यह विचारकर, हे कृपासिन्धो! अपनी करुणा उच्छलित हो जाने दो मेरे लिये। बह चलूँ मैं तुम्हारी करुणाकी इन ऊर्मियोंमें। मेरे समस्त अपराध धुल जायँ इस निर्मलतम प्रवाहमें—

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १०)

अब कहत कि मेरौ अपराधु।
छमा करहु, हौं निपट असाधु॥
रज गुन तैं उपज्यौ अग्यानी।
तुम तैं भिन्न ईस अभिमानी॥
मायामद उनमद ह्वै गयौ।
सूझ न कछू, अंध तम छयौ॥
यातैं अनुकंपा ही करौ।
भृत्य जानि, कछु जीय न धरौ॥

× × ×

वैगुन छमहु मोर हे ताता।
कृपासिंधु तुम, सब जग त्राता॥
रजगुन-संभव मैं मति-हीना।
पृथक ईस मानी अति दीना॥
अति अजान तें किय अपराधा।
दीनबंधु! तव कृपा अगाधा॥
अजारूप तम छाएउ लोचन।
सूझ न कछु मोहि, हे भवमोचन॥
जद्यपि अपर ठाम यह नाथा।
तदपि दास मम श्रुति यह गाथा॥
एतनौ जानि चूक सब मेरी।
छमा करहु पद-किंकर हेरी॥

पितामहका दैन्यभाव गभीर, गभीरतर हो चला। वे अनुभव करने लगते हैं—'व्रजेन्द्रनन्दनसे क्षमायाचना करनेका भी अधिकार मुझे नहीं है—इतना तुच्छ, नगण्य हूँ मैं!' और इसी आवेशमें वे अपनी क्षुद्रताका चित्रण कर रहे हैं—'सर्वैश्वर्यनिकेतन! स्वामिन्! कहाँ तुम, और कहाँ मैं हूँ! एक ओर तो मेरा क्षुद्रस्वरूप यह है—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—इन आवरणोंसे वेष्टित ब्रह्माण्डरूप घटमें अपने नापमानसे साढ़े तीन हाथ परिमित शरीरधारी हूँ मैं; और तुम्हारा ही एक रूप वह है, ऐसा है जहाँ तुम्हारे प्रत्येक रोमकूपके छिद्रमें जैसे गवाक्षरन्ध्र (खिड़कीकी जाली)-से सूर्यकी किरणोंमें त्रसरेणु उड़ते दीखते हैं, उस प्रकार—ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंका आवागमन होता रहता है! तुम्हारे नासापुटोंसे श्वास बहिर्गत होते समय रोमकूपोंसे ऐसी असंख्य ब्रह्माण्डराशि प्रकाशित हो उठती है और पुनः प्रश्वासके अन्तःप्रवेशके साथ यह अनन्त अण्डश्रेणी तुम्हारे रोमच्छिद्रोंमें ही प्रविष्ट हो जाती है! यह है तुम्हारी महिमा! कहाँ मेरी यह क्षुद्रता और कहाँ तुम्हारी यह अनन्त महत्ता! मेरे-जैसे नगण्यतमके द्वारा किये अपराधकी ओर तुम सुमहत्तमकी दृष्टि जानेकी भी सम्भावना है या नहीं, यह कौन बताये, नाथ! और यदि कहीं तुमने अपराध माना है तो मुझ तुच्छातितुच्छका अस्तित्व इस योग्य भी नहीं कि क्षमाकी याचनाके लिये तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो सकूँ, स्वामिन्! तुम स्वयं अयाचित अनुकम्पा मुझपर कर दो, तभी कृतार्थ हो सकूँगा, देव!

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ११)

कित हौं कित महिमा नाथ की, कहत हौ चींटी हथी साथ की।
प्रकृति, महदहंकार, अकास; वायु, बारि, बसुमती, हुतास॥
सप्तावरन जु यह इक भौन, तुम ही कहौ तहाँ हौं कौन।
सप्त बितस्ति काइ कौं कस्यौ, रहत बहुत कहाँ धौं पस्यौ॥
ऐसे कोटि कोटि ब्रह्मंड, तुमरी एक रोम के खंड।
उपजत भ्रमत फिरत नहिं चैन, जैसैं जालरंध्र त्रिसरैन॥

निपटहिं तुच्छ, न काहू लाइक; कृपा करौ, न लरौ, ब्रजनाइक।

× × ×

पूरन ब्रह्म नाथ! तुम एका।
तुम तें यह जग भएउ अनेका॥
तव इच्छा ते अग-जग-रचना।
होत सकल, इमि श्रुति के बचना॥
प्रथम महत मायाकृत भएऊ।
अहंकार गुन कृत त्रय ठएऊ॥
बायु अग्नि जल भू सहित, यह प्रभु अंडकटाह।
अपने सप्त बितस्ति करि, सब काहू कर आह॥
पुनि रचना तेहि माहिं अनेका।
जीव बुद्धि मन कर्म न एका॥
इंद्रीगन बिषया पुनि पाँचू।
तहाँ देवगन हैं पुनि साँचू॥
मरुत पंच बिधि रचित सरीरा।
धातु सप्त पुनि पंच समीरा॥
अरु नारायन नाम तुम्हारा।
नर सब अयन, बेद निरधारा॥
एक अंड कौ मैं अधिकारी।
महा दीन, पुनि अहमिति भारी॥
ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्मंडा।
रोम-रोम तव भ्रमत अखंडा॥
सोउ त्रसरेनु सरिस तहँ सोहत।
ऐसे ईस नाथ मन मोहत॥
मैं तव दास तुच्छ मतिमंदा।
कृपा करहु, हे करुनाकंदा॥

व्रजेन्द्रनन्दनके इस असमोद्ध्र्व ऐश्वर्य एवं अपने नगण्यतम स्वरूपकी स्मृति स्रष्टाके मनमें सहसा एक आशामयी, कोमल, प्रेमिल भावनाका सृजन कर देती है। मानो दैन्यके अनुषङ्गी आशाबन्ध अनुभावकी छाया-सी पड़ जाती है उनके मनपर और वे सोचने लगते हैं—'नहीं-नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर प्रभु मेरी इस चेष्टाको अपराधकी श्रेणीमें ग्रहण करेंगे ही नहीं।' तथा उल्लासमें भरकर वे कह उठते हैं—'अधोक्षज! इन्द्रियोंकी सामर्थ्य नहीं कि वे तुम्हें जान सकें, उनके नियामक तो तुम हो प्रभो! मेरी प्रत्येक स्फुरणाका नियन्त्रण तुमसे ही होता है, नाथ! तुम्हीं निर्णय करो, स्वामिन्! मेरी यह स्फुरणा—जिसे मैं निवेदन कर रहा हूँ—सत्य है या नहीं। हे महामहेश्वर! सोचो तो सही—जननी अपने गर्भगत शिशुके पादप्रहारसे रुष्ट भी होती है क्या? वह अबोध शिशु गर्भमें अवस्थित रहकर अपने पैर उछाल देता है, उसे माता अपराधके रूपमें कदापि ग्रहण करती है क्या? गर्भस्थ शिशुके द्वारा यह चरण-संचालन क्या अपराधकी श्रेणीमें परिगणित होता है, प्रभो! अपितु जिस समय यह पैरोंकी हलनचलनकी गति परिलक्षित नहीं होती, उस समय स्नेहमयी जननी अनिष्टकी आशङ्कासे चञ्चल होने लगती है। इसी प्रकार, नाथ! अनन्त जीवसमुदायको लिये हुए असंख्य ब्रह्माण्ड भी तो तुम्हारे ही विशाल गर्भमें अवस्थित हैं। तुम्हीं बताओ, हे सर्वाधार! 'है' और 'नहीं है'—इन भाव एवं अभाववाचक शब्दोंसे, अथवा स्थूल-सूक्ष्म-कार्य-कारण-द्योतक शब्दोंसे अभिहित कोई भी वस्तु ऐसी है क्या, जो तुम्हारी कुक्षि—कोखके बाहर अवस्थित हो? सब कुछ ही तो तुम्हारे उदरमें, तुम्हारे रोमकूप-विवरमें स्थित है, स्वामिन्! कोई कितना भी अपराध कर ले, पर वह अपराधी आखिर है तुम्हारी कोखका ही शिशु। स्नेहमयी जननीकी भाँति तुम भी उसके अनन्त अपराधोंको नहीं ही ग्रहण करोगे, नाथ! मेरे द्वारा—तुम्हारे ही उदरमें रहनेवाले अबोध शिशुके द्वारा घटित अपराधोंकी ओर भी वात्सल्यमयी माताके समान तुम्हारी दृष्टि नहीं जायगी, दयामय! हे सर्वाधिष्ठान! तुम मेरा भी सब कुछ सहन करोगे ही।'—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १२)

हो प्रभु जैसैं जननी-गर्भ, रहत है निपट अबुध है अर्भ।
कूखि बिषै कर-चरनन तानै, तौ कहा मात बुरौ है मानै॥

तैसें हौं तव कूखिके माहीं, करत कलोल कछू सुधि नाहीं।

× × ×

मातु-गर्भ बालक जब रहई।
बहु अपराध तहाँ सोइ करई॥
जननी कछु अपराध न माना।
त्यौं सब जग तव उदर सुजाना॥
बाहर किमपि न बस्तु लखाई।
सब तव हृदिगत, हे जदुराई॥
तौ मम अघ छमिये, जग-त्राता।
जननी इव तुम सब जग माता॥

'और विशेषतः यह तो प्रसिद्ध ही है, प्रभो! कि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ।'—पद्मयोनि उसी प्रवाहमें कहते चले गये। 'यह समस्त विश्वप्रपञ्च तो परम्परासे ही तुमसे उत्पन्न हुआ है, नाथ! किंतु मेरा जन्म तो साक्षात् तुम्हींसे हुआ है, देव! उस समयकी बात है—प्रपञ्चका प्रलय हो चुका था; ऊर्ध्व, मध्य, अधः—तीनों लोक, आवरणके सहित ब्रह्माण्ड लीन हो चुका था समुद्रोंके उस महाप्लावनमें, प्रलयकालीन अम्बुराशिमें। तथा उस एकार्णवमें अपने शेषकी शय्यापर श्रीनारायणदेव शयन कर रहे थे। उन नारायणके उदरस्थ नाभिकमलसे ही ब्रह्मा विनिर्गत हुए ये वेदादि-शास्त्रवाक्य निश्चितरूपसे मिथ्या नहीं हो सकते नाथ! नारायणसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, **'नारायणाद् ब्रह्मा जायते'**—यह श्रुति एवं—

स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम्।
नाभेर्विनिस्सृतं तस्य तत्रोत्पन्नः पितामहः॥

'सोते हुए श्रीनारायणदेवकी नाभिसे सूर्यके समान प्रभाशाली एक पद्म विनिस्सृत हुआ और वहाँ उस पद्मपर ही पितामह उत्पन्न हुए।'

मार्कण्डेयकी यह उक्ति तथा ऐसे ही अनेक उपाख्यान असत्य नहीं हैं, स्वामिन्! अच्छा, तुम्हीं बताओ, हे सर्वेश्वर! क्या मैंने तुम्हारे नाभिकमलसे जन्म ग्रहण नहीं किया है?

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे
नारायणस्योदरनाभिनालात्।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा
किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १३)

अब कहत कि हौं तुम्हरौ चेरौ, तुम तैं प्रगट जनम यह मेरौ।
जब सब लोग चराचर जितौ, प्रलय-उदधि मधि मज्जत तितौ॥
तब हौं तुम्हरी नाभि-कमल तैं, निकस्यौ नहिं इहि उदर अमल तैं।
'कमलज कमलज' मेरौ नाम, मृषा आहि जानै सब ग्राम॥

× × ×

प्रलय समैं सब सिंधु मिलि, होत बारि अति घोर।
ताहि उदक महँ श्रीरमन करत सयन इक ठौर॥

तब तेहि नाभि सुभग तैं कंजा।
प्रगट भयो अति छबि कौ पुंजा॥
तहँ तैं मैं प्रगट्यौ जदुनाथा।
यह श्रुति सत्य गिरा जो गाथा॥
हे ईस्वर! मैं सुत तव जानू।
तुम पितु, मम नाता यह मानू॥
कृपादृष्टि प्रभु! मोहि निहारी।
कीजिय प्रनतपाल सुखकारी॥

पद्मयोनिको प्रतीत हुआ कि कहीं लीलामय व्रजराजकुमार यह न कह दें—'ब्रह्मन्! ठीक है, नारायणपुत्र हो तुम। पर इससे मेरा क्या सम्बन्ध?' इसी आशङ्काका निवारण करते हुए कहते हैं वे—'बताओ अधीश्वर! हे सबके मूलस्वरूप! क्या तुम्हीं नारायण नहीं हो? तुम्हीं हो, नाथ! सभी प्रकारसे 'नारायण' शब्द तुम्हारे लिये ही सार्थक है, स्वामिन्! तुम समस्त जीवोंके आत्मा हो, इसलिये तुम नारायण (नार—जीवसमूह; अयन—आश्रय) हो। अथवा समस्त जीवोंके दर्शन-श्रवण-वचन, गमनादि कार्योंकी प्रवृत्ति तुमसे ही होती है। इसलिये भी तुम नारायण (नार—जीव-समूह; अयन—प्रवृत्ति) हो। अतएव सर्वभूतस्थ तृतीय पुरुषावतारके रूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हीं हो। तुम अखिल लोकके साक्षी हो। इसलिये भी तुम नारायण (नार—जीवसमूह; अयन—ज्ञान) हो; ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी द्वितीय पुरुषावतारके रूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हीं हो,

देव! नर (भगवान्)-से उत्पन्न जलमें अवस्थान करनेके कारण जो नारायण (नार—जल; अयन—निवासस्थान) नामसे प्रसिद्ध हैं, वे कारणार्णवशायी, प्रकृतिके अन्तर्यामी प्रथम पुरुषावताररूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हारी ही मूर्ति हैं, प्रभो! इस रूपमें तुम्हारा कारणार्णव-जलमें अधिष्ठान सुनकर तुम्हारी परिच्छिन्नताका भ्रम हो सकता है, स्वामिन्! किंतु तुम तो नित्य अपरिच्छिन्न हो। सीमाबद्ध वस्तुकी भाँति जलमें तुम्हारा यह शयन होनेपर भी तुम नित्य असीम ही हो। तुममें परिच्छिन्नताकी प्रतीति सत्य नहीं है, भगवन्! यह तो तुम्हारी ही अचिन्त्य मायाशक्तिका प्रभाव है, जो तुम असीम रहते हुए सीमाबद्धकी भाँति, नित्य अपरिच्छिन्न रहते हुए भी परिच्छिन्नके समान अवस्थित रहते हो।'

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १४)

जो कहहु कि वे तौ हम नाहीं, सो वह नारायण जल माहीं।
हमरौ ब्रज बृंदाबन धाम, तहीं जाहु, ह्याँ नहिं कछु काम॥
क्यौं आयौ हमरे ब्रज इहाँ, कहत है बिधि तव बातहि तहाँ।
तुम नहिं नहिं नाराइन स्वामी, अखिल लोक के अंतरजामी॥
नार कहावत जीव जितेक, बहुरि नार ये नीर तितेक।
तिन में नहिंन अयन रावरौ, हो प्रभु! मोहि करत बावरौ॥
नीरहि में नाराइन जोई, हो प्रभु! तुम्हरी मूरति सोई।

× × ×

जो कदाचि इमि कहिय गोसाँई।
रमारवन सुत तैं श्रुति गाई॥
मोहि कहाँ तैं सुत है जासू।
कृपा करिहि तो कहँ सो आसू॥
तहाँ सुनिअ तुम, हे ब्रजनाथा।
तुम नारायन, यह श्रुति-गाथा॥
नार अयन तव कृपानिधाना।
नारायन तुम श्रीभगवाना॥
'नार' सब्द सब जीव कहावै।
तहाँ बास तव पुनि श्रुति गावै॥
जो अधीस! ऐसी पुनि कहहू।
नार-प्रवर्त्तक सो प्रभु चहहू॥
सूत्रधार तुम सबहि नचावत।
नाथ! सकल श्रुति ऐसेंहि गावत॥
जो कदाचि ऐसी कहौ, जन जानै सो नार।
तौ अग-जग जहँ लौं अहै, तुम द्रष्टा निरधार॥
नहिं याकी बितपत्ति सुजाना।
'नार' सब्द जो तुम किय गाना॥
तहाँ कहत ऐसैं अब जानिय।
कहै बेद मुनि-जन सब गानिय॥
चौबिस तत्व अजा कृति आही।
ता करि अग-जग सकल सुहाही॥
केवल नार अयन जिन कीन्हा।
रमारवन सब कौं सुख दीन्हा॥
सो तुम्हही हौ कृपानिधाना।
अपर न कोउ इमि श्रुति कर गाना॥
अपरिछिन्न नहि मोर सरीरा।
अति प्रकासमय अद्भुत नीरा॥
चर अरु अचर जहाँ लगि जेते।
ओत-प्रोत जग श्रुति हु कहे तें॥
सो जल आश्रय घटै न कबहूँ।
कहै बचन जैसे तुम सबहूँ॥
तहाँ कहत सुनिये मम बचना।
तव माया की सब यह रचना॥
घटै सकल अघटित सब बाता।
तुम अखिलेस सकल जग त्राता॥

'सत्य तो यह है, स्वामिन्! तुम्हारा श्रीविग्रह अपरिच्छिन्न है अथवा परिच्छिन्न है, इन शब्दोंसे वर्णनके योग्य ही नहीं; तुम्हारे स्वरूपतत्त्वको, श्रीविग्रह-रहस्यको कोई वास्तवमें समझ ले, यह सामर्थ्य किसमें है, नाथ! बताओ तो सही, जगदाश्रयभूत तुम्हारा वह श्रीनारायणविग्रह यदि परिच्छिन्न वस्तुकी भाँति जलमें ही अवस्थित है तो उस दिन मुझे उसके

दर्शन क्यों नहीं हुए?'—स्रष्टाको स्मृति हो आयी अपने जन्मकालकी अद्भुत रहस्यमयी घटनाओंकी। वे एक अम्भोरुहकी कर्णिकापर अवस्थित थे। किसी भी लोकका दर्शन उन्हें नहीं हुआ। दर्शन हुए केवल प्रलयकालीन पवनके झोंकोंसे जलकी उछलती हुई तरङ्गमालाओंके एवं अपने आसनभूत उस पद्मके। वे आदिदेव इसका कुछ भी रहस्य न जान सके थे। सोचने लगे थे—'इस कमल-कर्णिकापर आसीन मैं कौन हूँ? और यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके इस जलराशिमें कहाँसे उत्पन्न हो गया? इसके निम्नदेशमें अवश्य ही कुछ ऐसी वस्तु है, जिसपर अवस्थित रहकर यह व्यक्त हुआ है।' तथा यह सोचकर वे कमलनालके सूक्ष्म छिद्रोंके पथसे जलमें प्रवेश कर गये थे, कमलनालका मूल ढूँढ़ने चले थे। बहुत अधिक काल—शतसंवत्सर-परिमित समय व्यतीत हो गया उस अपार अन्धकारमें उत्पत्तिस्थानको खोजते-खोजते। पर निराशामात्र हाथ लगी थी, विफलमनोरथ हुए वे लौटे थे। उस मृणालका मूल वे नहीं ही पा सके। पुनः चले आये अपने आधारभूत उस पद्मासनपर ही। और तब प्राणवायुको जीतकर चित्तको संकल्पशून्य कर लिया उन्होंने, तथा समाधियोगमें स्थित हो गये। दिव्य सौ वर्ष व्यतीत हो जानेपर उन्हें ज्ञानका आलोक प्राप्त हुआ था और फिर तो अपने-आप अन्तर्हृदयमें ही उस अधिष्ठानका प्रकाश हो गया। ओह! कितना अद्भुत दर्शन था वह! उस प्रलय-पयोधिमें मृणालगौर, अत्यन्त विशाल श्रीशेषकी शय्यापर श्रीनारायणदेव शयन कर रहे थे। श्रीशेषके सहस्रों फण तो छत्रके समान फैल रहे थे। शेष-मस्तकपर विराजित मणियोंकी प्रभासे सर्वत्र अन्धकारका अस्तित्व विलीन हो चुका था। श्रीनारायणदेवके श्रीअङ्गोंकी शोभाका तो कहना ही क्या था। शरीरकी श्यामल आभा-मरकत-शिलामय पर्वतकी शोभाका तिरस्कार कर रही थी। पीताम्बरका परिधान नीलमहीधरके प्रान्तदेशमें छाये हुए संध्याकालीन पीताभ मेघकी कान्तिको लज्जित कर रहा था। किरीट अपनी प्रभासे स्वर्णिम शृङ्गोंको मलिन कर दे रहा था। रत्नमाला पर्वतके हृद्देशपर बिखरी रत्नराशिकी, मुक्तामाला शैलके वक्षःस्थलपर प्रवाहित जलधाराकी, तुलसीमाला ओषधि-पङ्क्तियोंकी एवं वनमाला सुमन-समूहोंकी शोभाको प्रतिहत कर रही थी। भुजदण्ड वेणुदण्डोंके एवं चरण वृक्षोंके सौन्दर्यको हेय बना दे रहे थे। श्रीनारायणदेवका वह श्रीविग्रह त्रिलोकीका संग्रह किये हुए था, दीर्घ था, विशाल था, अपने अनुरूप परिमाणका ही था। अपने सौन्दर्यसे विचित्र, दिव्य वस्त्र एवं आभूषणोंको भी शोभाशाली बना देनेवाला था—इतना सुन्दर, निरुपम था वह। फिर भी—स्वतः परम रमणीय होनेपर भी—अलंकार धारण किये गये थे उसमें, पीताम्बर एवं विविध आभरणसे भूषित था वह! अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्गोंसे अर्चना करनेवाले भक्तजनोंको कृपापूर्वक समस्त मनोरथ दान करनेवाले अपने पादपंकजोंका दर्शन करा दे रहे थे वे प्रभु! स्पष्ट दर्शन हो रहे थे चरण-सरोरुहके! उनकी नख-चन्द्रिकासे उद्भासित हो रही थीं कमलदलसदृश अङ्गुलियाँ! अद्भुत थी वह नख-चन्द्रिका और अद्भुत थे वे अङ्गुलिदल! सुघड़ नासा, सुन्दर भौंहें, झलमल-झलमल करते हुए कर्णकुण्डल, बिम्बविडम्बि अरुणिम अधरोंकी कान्ति, लोकव्यथाहारी स्मित—इनसे मण्डित हुए अपने मुखारविन्दके द्वारा भक्तजनोंका अभिनन्दन कर रहे थे वे श्रीनारायणदेव। उनका नितम्बदेश कदम्बकिञ्जल्कके समान सुन्दर पीतवस्त्रसे एवं मेखलासे अलंकृत था। वक्षःस्थल श्रीवत्ससे, बहुमूल्य हारसे परिशोभित था। चन्दनवृक्षके समान शोभा थी उन अव्यक्त-मूल प्रभुकी। अमूल्य केयूर, अङ्गद—इनमें उत्तमोत्तम मणिराजि—इनसे परिशोभित उनका विशाल भुजदण्ड ही मानो चन्दनतरुकी सहस्रों शाखाएँ थीं। शेषफणोंसे संवेष्टित स्कन्धदेशकी शोभा भी ऐसी थी, मानो चन्दनवृक्षमें सर्पसमूह लिपटे हों! नागराज शेषके बन्धु वे श्रीनारायणदेव ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो जलसे आवृत एक पर्वत हो। गिरिराज

जैसे विविध जीवसमुदायको आश्रय दान करता है, वैसे ही वे सम्पूर्ण चराचरके आश्रय थे। शेषफणोंको विभूषित करनेवाले सहस्रों किरीट ही मानो स्वर्णिम शैलशिखर थे एवं कौस्तुभ उस गिरीन्द्रके गर्भसे निस्सृत रत्न था। श्रीनारायणके ऐसे विचित्र महिमामय परम शोभाशाली रूपके दर्शन हुए थे स्रष्टाको। मृणालका मूल मिल गया था उन्हें उनके नाभिसरोवरमें और उन्होंने स्तवन किया था उनका। तथा फिर देखते-ही-देखते स्रष्टाको आश्वासन देकर, कुछ आदेश देकर वे नारायणदेव अन्तर्हित हो गये थे (श्रीमद्भा० ३। ८)।

प्रलय-काल कौ सलिल अपारा।
तहाँ कंज प्रगट्यौ बिस्तारा॥
तहँ बिधि तासु करनिका माँहीं।
बैठौ है, तेहि सुधि कछु नाहीं॥
अखिल लोक कौ तत्व वह, कमल-कोस नहिं जानु।
आपुन को जानै नहीं, भुल्यौ भागवत ग्यानु॥
प्रलय काल कौ पौन, ता करि कंपित कंज वह।
जल-तरंग तर गौन, बिसमित मन तहँ बैठि रह॥
अबिदुष तासु बितर्क अनूपा।
कहौं, बिदुर! तैं सुनु सुखरूपा॥
कमल मध्य बैठौ सो आपू।
करै तर्क मन बहु संतापू॥
एकाकी मैं कित ते आयौ।
पुनि मन गुनै, कमल ते जायौ॥
कमल कहाँ ते भा यह आही।
एहि अध अधिष्ठान कछु चाही॥
सत पदार्थ कछु है तेहि ठामा।
जहँ ते कंज प्रगट सुखधामा॥
अस बिचारि बिधि आपु तुरंता।
कमलनाल पैठ्यौ बुधिवंता॥
तासु छिद्र गत सो चलि गएऊ।
अधिष्ठान खोजत सो भएऊ॥
बल अनुमान गयौ चलि दूरी।
भयौ महाश्रम अतिसै भूरी॥
हरि ते बिमुख जीव जो कोई।
उद्यम तासु विफल सब होई॥
सत संबत्सर खोजत फिरेऊ।
अधिष्ठान कतहूँ नहिं लहेऊ॥
निज उपजन कौ कारन जोऊ।
मिलेउ न फिरि आयेउ तब सोऊ॥
पंकज कोस करनिका माहीं।
बैठौ ह्वै निबृत्त, सुख नाहीं॥
बैठि तहाँ बिधि जतन करि, जित स्वासा जित बैन।
कीन्यौ चित्त समाधि दृढ, बैठि ताहि सुख-ऐन॥
सत संबत्सर जोग, कियौ बिधाता जतन करि।
भयौ बोध संजोग, तब तेहि उपज्यौ सुख महा॥
पूरब जेहि खोज्यौ बहु काला।
नहिं पायौ फिरि आउ बिहाला॥
सोइ प्रभु अंतर हिय तिन देखा।
भयउ तासु हिय हरष बिसेषा॥
जो देखा उन बरनौं तोही।
दिब्य गुनादि सहित हिय जोही॥
गौर मृनाल अहीस सरूपा।
सोइ बर सज्या सुभग अनूपा॥
तहँ एक पुरुष सयन सुख करई।
रमा रवन तहँ अपर न रहई॥
सो सहस्त्र फन सुभग सुहावन।
आतपत्र सोइ छबि मन भावन॥
फनि महँ मनि सोइ परम अनूपा।
सोइ किरीट छबि सुखद सरूपा॥
तासु तेज अति परम प्रकासू।
प्रलय नीर कौ तम किय नासू॥
तहँ वह पुरुष सोह छबि कैसौ।
मरकत मनि दुति गिरिबर जैसौ॥
पीत बसन सोहत अति नीकौ।
संध्या-काल अभ्र छबि फीकौ॥
बहु कंचन के सिखर अनूपा।

सोइ किरीट छबि अद्भुत रूपा॥
रतन-समूह सुमन बर सोई।
बनमाला छबि अतिसै जोई॥
अति बिस्तर बपु सोभन-रूपा।
तीनि लोक हिय धरें अनूपा॥
स्वतः देह अति रम्य सोहावन।
अलंकार अंगीकृत पावन॥
ऐसौ रूप लख्यौ बिधि जबहीं।
अति प्रसन्न मन महँ भा तबहीं॥
अभिमत फल चाहै जु कोउ, प्रभु-पद-पंकज सेउ।
बेद बिहित पूजै निपुन, ताहि सकल फल देउ॥
ताहि हेतु पद कंज कछु एक उन्नत से किये।
निरखि होइ सुख पुंज, नख दुति कोटिक इंदु सम॥
बदन अमित छबि को कहि सकई।
मुसुकनि मंद-मंद जत लसई॥
अखिल लोक आरति कौ हरता।
कुंडल-मंडित, जन-सुख करता॥
अरुन अधर बिंबा-दुति-हारी।
सोभन नासा जग-हितकारी॥
सोभन भृकुटी आनँद-कंदा।
पूजक जन कहँ दानि अनंदा॥
जिमि कदंब-किंजल्क सुहावनि।
पीत बास मुनि-जन मन-भावनि॥
धरें नितंब मेखला रूरी।
तासु प्रभा अतिसै गुन भूरी॥
उर श्रीरेख महाछबि छाजै।
हार अमोलिक कंठ बिराजै॥
चंदन-तरु सम भगवत-रूपा।
बरनत पुनि तेहि सुभग अनूपा॥
पीन प्रलंब भुजा बर चारू।
मनि अमोल जुत अंगद सारू॥
भुज सोइ लखहु अमित भइ साखा।
चंदन-बृच्छ सरिस तेहि भाखा॥
फल-पुष्पादि सहित अति सोभा।
अंगदादि सोइ लखि मन लोभा॥
भुवन आतमक बृच्छ अनूपा।
है अब्यक्त-मूल सुखरूपा॥
सो अनंत के फननि करि, बेष्टित हैं सब डार।
चंदन तरु के माहिं बहु, सरप करत संचार॥
पुनि प्रभु सुभग सरूप, गिरि की समता करि कहत।
सोभा लखी अनूप, रमारवन कौ बपुष बर॥
सोइ अग-जग कौ ओक अनूपा।
अहै अहींद्र-बंधु सुखरूपा॥
जल-आबृत चहुँ ओर अपारा।
जिमि मैनाक आदि सुखसारा॥
सहस किरीट सुभग अति भारी।
सोइ गिरि-सृंग सरिस सुखकारी॥
मेरु आदि जे गिरि सुखकारे।
तासु गरभ मनि होत सुखारे॥
तिमि प्रभु गरभ कउस्तुभ राजै।
बिधना लखि मन कौतुक भ्राजै॥
ऐसी श्री जुत प्रभु कहुँ देखी।
बिस्मयजुत हिय भएउ बिसेषी॥
भगवत-नाभी सरसि अनूपा।
तहँ उपज्यौ बनरुह सुखरूपा॥
लोक-सर्ग के हेतु, बिधि-मन चिंता-ग्रसित अति।
देख्यौ रमानिकेतु, तासु लग्यौ अस्तुति करन॥

× × ×

जथासक्ति अस्तुति उन करेऊ।
मनहुँ श्रांत इव चुप ह्वै रहेऊ॥

× × ×

बोले प्रभु अगाध बर बानी।
तासु मोह नासक हिय मानी॥

× × ×

बिधि! कल्यान होउ सब तोरा।
मानेहु अग्या सिर धरि मोरा॥

× × ×

हे बिधि! तुम कृतकृत्य सुजाना।

मम हित करहु सृष्टि यह नाना॥
सर्ब बेदमय तनु तव आही।
रचहु त्रिलोकी निज चित चाही॥

× × ×

एहि बिधि बिधना कहँ सकल, करि उपदेस बनाइ।
अंतरहित तेहि छन भए, रमानाथ सुख पाइ॥

—पितामहके मानसनेत्रोंके सामने नाच उठता है अतीतका वह सम्पूर्ण दृश्य और वे व्रजराजकुमारसे निवेदन करने लगते हैं—'प्रभो! तुम्हीं निर्णय दे दो, यदि तुम्हारा वह श्रीविग्रह परिच्छिन्न—सीमाबद्ध होता, जलमें अवस्थित होता तो उस पद्मतन्तुके मार्गसे भीतर प्रवेश करनेपर मुझे क्यों नहीं दीख गया? और फिर किस हेतुसे मेरे श्रान्त हो जानेपर, अपने प्रयाससे उपरत होकर समाधियोगके द्वारा तुम्हारे चिन्तनमें निमग्न हो जानेपर अपने हृदयमें ही उसकी स्फूर्ति हो गयी? मैं स्वयं ब्रह्मा भी उसका अनुसंधान न पा सका, इसलिये उसे अपरिच्छिन्न मान लूँ तो फिर मेरे हृद्देशमें ही उसके दर्शन कैसे हो गये? पुनः तत्क्षण ही वह मूर्ति किस कारणसे अदृश्य हो गयी? इन सबका सामञ्जस्य कैसे होगा, स्वामिन्! तुम्हारी अचिन्त्य महाशक्तिसे ही ये सब संघटित होते हैं। अनिर्वचनीय है—अचिन्त्य है तुम्हारे श्रीविग्रहका रहस्य, तुम्हारा स्वरूप—बस, इतना ही कहना सम्भव है, भगवन्!'

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १५)

जब हौं कमल-नाल ह्वै गयौ, मन कें बेग, बरष सत भयौ।
जौ तुम जल करि आवृत होते, रहते दुरे कितक लौं मो ते॥
पुनि जब तुमहिं दया करि कह्यौ, तप, तप, सो मैं दृढ़ करि गह्यौ।
तब रंचक तुम हिय मैं आइ, बहुर्‌यौ गए चटपटी लाइ॥
ये तुम्हरी माया की गुरझैं, सब जन अरझे, नाहिंन सुरझैं।

लीलामयकी इच्छा! व्रजराजकुमारका अयाचित कृपादान! अकस्मात् स्रष्टाका मन श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें व्रजरानीके विश्वदर्शनकी घटनासे जा जुड़ता है। वे करामलकवत् देखने लगते हैं इसे। तथा फिर इस भावनासे भावित होकर अपने स्तवनमें इसका भी उद्धरण दे बैठते हैं—'हे मायाधमन! अपने प्रपन्नजनोंके मायाबन्धनको हर लेनेवाले प्रभो! इस अवतारमें ही, अपने व्रजराजनन्दन-स्वरूपकी लीलाका विस्तार करते हुए तुमने जिस अचिन्त्य मायावैभवका प्रकाश किया है, वह कितना रहस्यमय है! व्रजराजमहिषी तुम्हारे मुखविवरका निरीक्षण कर रही थीं। अनन्तकोटिब्रह्माण्डभाण्डोदर होकर भी तुमने बाल्यलीलाके आवेशमें मिट्टी जो खा ली थी। गोपशिशुओंका वह आरोप सत्य है या मिथ्या—इसका तथ्य पा लेनेके लिये वात्सल्यमयी जननीने तुम्हारे मुखके अन्तर्भागकी ओर देखा था और फिर उन्हें जो कुछ दीखा था, वह कितना अद्भुत है, नाथ! सबके लिये प्रत्यक्ष सिद्ध, इस परिदृश्यमान सम्पूर्ण जगत्को ही तुमने अपने उदरमें अवस्थित दिखलाया था जननीको। उस समय तुम्हारा मायावैभव कितने विशदरूपमें व्यक्त हुआ था, नाथ! ओह! देखो, सही—तुम्हारे उदरके भीतर भी यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है, इतना ही नहीं, तुम भी वहाँ विराजित हो रहे हो; और फिर यहाँ—उदरके बाहर भी—वैसे-के-वैसे समस्त प्रपञ्च स्फुरित हो रहा है; तुम भी अवस्थित हो रहे हो! व्रजराजमहिषीने स्पष्ट देखा—तुम्हारे उदरके अन्तरालमें चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, कालिन्दी प्रवाहित हो रही है, व्रजपुर है, व्रज-गो-गोप-गोपिकाएँ हैं, व्रजेन्द्रप्रासाद है, उद्यान है, उनके नीलसुन्दर तुम हो, वे तुम्हारा मुखविवर देख रही हैं! ओह, अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, एक-से अनन्त व्रजपुर हैं, एक-से अनन्त उद्यान हैं, एक-से अनन्त उनके नीलसुन्दर तुम हो, एक-सी अनन्त यशोदाएँ अपने नीलसुन्दरका मुखविवर देख रही हैं, मुखमें मृत्तिका-कण ढूँढ़ रही हैं! तथा ठीक भीतरकी भाँति ही तुम्हारे उदरके बाहर भी वैसा ही जगत् प्रकाशित है, उसमें भी तुम हो ही, जननी यशोदा भी वैसे ही मिट्टीका चिह्न तुम्हारे मुखमें खोज ही रही हैं—भला, यह रहस्यमयी घटना तुम्हारी अचिन्त्य महाशक्तिके

वैभवके अतिरिक्त और है ही क्या, स्वामिन्!'—

अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते॥
यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।
तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया बिना॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १६-१७)

अरु अबहीं, याही अवतार।
हो ईस्वर ब्रजराजकुमार॥
जननी कौं माया दिखराई।
चकित भई, अति बिस्मय पाई॥
बिस्व चराचर है यह जितौ।
बाहिर प्रगट देखियै तितौ॥
सो तुम जठर मध्य दिखरायौ।
तहँ इक कौतुक और बतायौ॥
तामें तुम देखे इहि भाइ।
साँट लिऐं डाँटति जसु माइ॥
बिंब मध्य प्रतिबिंब तौ होइ।
जाकौं कहैं-चहैं सब कोइ॥
प्रतिबिंब में बिंब दिखरावै।
माया बिन यह क्यों बनि आवै॥

'और आज अभी-अभी मुझे भी जो तुमने अपनी अपरिसीम महाशक्तिके वैभवका दर्शन कराया है, वह कितना आश्चर्यमय है, स्वामिन्!'—पितामहके स्मृतिपथमें व्रजरानीके विश्वदर्शनकी चर्चाने सजातीय स्फुरणाएँ जाग्रत् कर दीं और वे उन्हें भी व्यक्त किये बिना रह नहीं सके—'इस अद्भुत दर्शनके द्वारा प्रभो! तुमने यह भी दिखला दिया कि यहाँ तुम्हारे अतिरिक्त प्रपञ्चकी भिन्नतया जो प्रतीति है, वह मायाकी क्रीड़ा है। नाथ! जिस समय गोपशिशु एवं गोवत्सोंको मायामुग्ध करके, उन्हें स्थानान्तरितकर मैंने तुम्हारी ओर क्षणभरके लिये दृष्टि डाली तो देखा कि तुम एकाकी व्रजराजनन्दनके रूपमें, मुग्धशिशुकी भाँति उस अरण्यमें विराजित हो, अन्य कोई नहीं हैं तुम्हारे पास। इसके अनन्तर ब्रह्मलोक जाकर अनुतापभरे चित्तसे लौट आनेपर देखता हूँ कि मेरे द्वारा स्थानान्तरित किये हुए उन समस्त गोपशिशु एवं गोशावकोंके रूपमें—और तो क्या, उनके वेणु, विषाण आदिके रूपमें भी तुम्हीं अपने-आपको प्रकट कर क्रीड़ा कर रहे हो, और तब फिर दृश्य बदला—देखते-देखते ही गोपशिशु, गोवत्स आदि सब-के-सब चतुर्भुज ब्रह्माण्डाधिपतिके रूपमें परिणत हो गये और उस समय आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त अखिल चराचर जीवसमूह अपने अधिष्ठातृ-देवताके रूपमें मूर्तिमान् होकर उन चतुर्भुज प्रभुओंकी उपासनामें संलग्न था तथा जितनी चतुर्भुज मूर्तियोंके दर्शन हो रहे थे, उतने-के-उतने—असंख्य ब्रह्माण्ड भी दीख रहे थे। तुमने ही अपने-आपको उन-उन रूपोंमें प्रकाशित किया था और इसके पश्चात् अब तुम्हीं अद्वय, अपरिच्छिन्न नराकृति परब्रह्मरूपसे शेष रह गये हो। इस प्रकार अपने इस चिद्विलासका दर्शन कराकर तुमने स्पष्ट कर दिया कि यहाँ तुमसे भिन्न जगत्की कोई सत्ता नही है, सब कुछ तुम-ही-तुम हो, नाथ!'

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद् वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १८)

प्रथमहिं मैं तुम देखे एक।
बहुरचौ बालक-बच्छ जितेक॥
बेनु, बिषान, बेत्र, दल जिते।
ह्वै रहे चारु चतुर्भुज तिते॥
पुनि इक-इक ब्रह्मांड के नाइक।
सेवत मो समेत सब लाइक॥
पुनि अति एक-एक छबि बाढ़े।
देखे मैं मनमोहन ठाढ़े॥
तव महिमा-कौतुक जो आहि।
को समरथ, जानै जो ताहि॥

किंतु जो लोग तुम्हारी ऐसी अनन्त अपरिसीम महिमासे अनभिज्ञ हैं, उन्हें तुम कुछ और ही प्रतीत

होते हो, नाथ!'—पितामहके हृदयकी ज्ञानज्योति मानो दीप बनकर अब व्रजराजनन्दनके चरण-नख-चन्द्रका निर्मञ्छन करने बाहर आती है और उसके आलोकमें वस्तुतत्त्वका विश्लेषण होने लगता है—'अज्ञान छाया रहता है उन लोगोंपर और इसीलिये, प्रभो! वे तुम्हारे स्वरूपको नहीं जान पाते। उन्हें तुम जड-देहमें अवस्थित जीवके रूपसे ही प्रतीत होते हो। नाथ! तुम्हीं मायाका आवरण डालकर सृजनके समय मेरे (ब्रह्मा) रूपसे, पालनके समय अपने (विष्णु)-रूपसे एवं संहारके समय रुद्रके रूपसे प्रतीत होते हो। हे अचिन्त्यैश्वर्यशालिन्! परमस्वतन्त्र! नानावतारविधायक! वास्तविक जगद्विधाता! जगत्पते! तुम नित्य अजन्मा हो; प्राकृत जीवकी भाँति तुम्हारा कदापि जन्म नहीं होता, नाथ! फिर भी असाधु पुरुषोंका गर्व चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये एवं साधु पुरुषोंको अपनी कृपाकी धारामें निमग्न कर देनेके लिये तुम देव, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी, जलचर आदि रूपोंमें यहाँ अवतरित होते हो। वामन, परशुराम, राम, वराह, मत्स्य, कूर्म प्रभृति रूपोंमें तुम्हारा आविर्भाव होता है। धरापर लीलामन्दाकिनी प्रवाहित होती है। उसके प्रबल प्रवाहमें दुर्मदोंका गर्वपर्वत छिन्न-भिन्न होकर बह जाता है और सत्पुरुषगण सिक्त होते हैं उसकी त्रितापहारी ऊर्मियोंसे। हे भूमन्! भगवन्! सर्वान्तर्यामिन्! योगेश्वर! कौन बताये कि सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, अचिन्त्य महाशक्तिनिकेतन होकर भी तुम ऐसे साधारण देव-ऋषि-पशु-प्रभृति रूपोंमें जन्म ग्रहण क्यों करते हो? कहाँ किस हेतुसे, किस समय, कितनी बार तुम अपनी योगमाया—अचिन्त्य महाशक्तिका विस्तार कर लीला करते हो, की है—यह त्रिलोकीमें किसे ज्ञात है, नाथ! यह जान लेनेमें कौन समर्थ है, स्वामिन्! कोई भी तो ऐसा नहीं कि इसका विवरण बता दे। इसीलिये—तुम्हारे अचिन्त्य योगमाया-वैभवके कारण ही, हे प्रभो! यह बात है कि यह परिदृश्यमान, असत्स्वरूप, स्वप्नाभ, बुद्धिव्यामोहक, अशेषदु:खप्रद सम्पूर्ण जगत् तुम सच्चिदानन्दस्वरूप, अपरिच्छिन्न अधिष्ठानमें मायासे उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहनेपर भी—तुम्हारी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है। वास्तवमें सत्य तो एकमात्र तुम हो, नाथ! तुम परमात्मा हो, पुराणपुरुष हो, स्वयंज्योति हो, अनन्त एवं अनादि हो, नित्य हो, अक्षर हो, पूर्णानन्दमय हो, निरञ्जन एवं निरपेक्ष हो, अद्वय हो, निरुपाधि हो, अमृतस्वरूप हो। जो तुम्हारे इस उपर्युक्त स्वरूपका साक्षात्कार कर लेते हैं, श्रीगुरुदेवरूप सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूपी दिव्यदृष्टि पाकर सब जीवोंके अपने ही आत्मस्वरूप तुमको, परमप्रेमास्पद अपने स्वरूपके रूपमें अनुभव कर लेते हैं—जिनके लिये 'अहम्' के स्थानमें तुम-ही-तुम बच रहते हो, वे मिथ्याभूत संसारसागरको गोवत्सपदकी भाँति अनायास पार कर जाते हैं, परमात्मन्! अपने आत्मस्वरूपको यथार्थरूपसे जाननेवालोंके लिये ही तो इस अज्ञानके कारण देह आदिमें अहंता-ममतात्मक यह निखिल प्रपञ्च बन गया है; उन्हें इसकी प्रतीति हो रही है, भगवन्! किंतु जहाँ ज्ञान हुआ कि यह प्रतीति भी सदाके लिये समाप्त हुई। जैसे भ्रान्तिवश रज्जुमें सर्पबुद्धि हो जानेपर सर्पके फन आदि सभी दीख पड़ते हैं, पर भ्रम निवृत्त हुआ, यथार्थ वस्तु रस्सी दीखी कि सर्प एवं उसके फन आदि कुछ भी नहीं रह जाते, प्रभो! यह अहंता-ममतात्मक संसार कल्पित वस्तु ही तो है, नाथ! संसारबन्धन एवं संसारसे मोक्ष—ये दोनों नाम अज्ञानके ही तो रूपान्तरमात्र हैं; अज्ञानसे ही तो इनकी कल्पना हुई है, देव! सत्य एवं ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वसे भिन्न सत्ता ही जो इनकी नहीं है, स्वामिन्! तत्त्वत: मिथ्या हैं ये। सूर्यके स्वरूपमें जैसे न तो दिन है और न रात्रि; वैसे ही विचार करनेपर नित्यज्ञानस्वरूप शुद्ध प्रपञ्चातीत आत्मतत्त्वमें भी न तो संसारबन्धन है और न मुक्ति। यहाँ व्यवहारमें सूर्यके अप्रकाशसे रात्रि है एवं प्रकाशसे दिन है; वैसे ही आत्मस्वरूपके अप्रकाशसे अहंता-ममतात्मक बन्धन है, एवं उसके प्रकाशसे मोक्ष है। अत: इस मिथ्या संसारको तर जानेकी बात भी केवल कथनमात्रके लिये ही है, भगवन्! फिर भी जबतक आत्मस्वरूपके

अज्ञानका अँधेरा है, तबतक यह संसार-बन्धन भी है ही, ज्ञानके प्रकाशसे उसकी निवृत्ति भी अपेक्षित है ही। किंतु आश्चर्य है! ओह! अज्ञ जीवोंकी आश्चर्यजनक भ्रान्ति है! देख लो, नाथ! तुम जो अपने परम प्रेमास्पद आत्मा हो, उसे तो वे पराया मान लेते हैं एवं जो देह आदि सर्वदा अपनेसे पराये हैं, उन्हें आत्मा जानते रहते हैं और इसके अनन्तर वे आत्मानुसन्धान करने चलते हैं बाहरकी ओर! कैसे पा सकेंगे वे तुम्हें, प्रभो! कहाँ मिलेगा उन्हें आत्मप्रकाश। उनके अज्ञानकी निवृत्ति क्योंकर होगी? इसीलिये, हे अनन्त! जगत्‌के जो विवेकवान् (ज्ञानमार्गी) साधक संत हैं, उनका पथ और ही होता है। वे सर्वात्मस्वरूप तुमको अपने भीतर ही अभिन्न भावसे ढूँढ़ते रहते हैं। उनके ढूँढ़नेकी पद्धति यह होती है—तुम्हारे अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी प्रतीत होता है, उन सबको वे अतथ्य, असार समझकर छोड़ते चले जाते हैं। क्या करेंगे उन्हें लेकर वे, जिनसे तुम्हारा दर्शन न हो? उनकी यह प्रणाली उचित ही है, नाथ! ऐसा करके ही वे तुम्हें जान सकेंगे; क्योंकि यह स्पष्ट है—रज्जुमें यद्यपि सर्प विद्यमान नहीं है, तथापि जिन्हें वहाँ सर्पदर्शनकी भ्रान्ति हो चुकी है, वे व्यक्ति विवेकी होनेपर भी उस सर्पप्रतीतिका अपवाद किये बिना, उसे छोड़े बिना समीपमें ही पड़े हुए उस वास्तविक रज्जुको कैसे जान सकते हैं?'—

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः॥
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्राभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्॥
आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा॥
अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥
त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता॥
अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १९—२८)

अज्ञानी जे जड मति कोई।
तुम्हहि न जानत ईस्वर सोई॥
ते इमि गावत जगत कहँ, संभव पालन नास।
अज-गिरीस मिलि जग रचैं, कहहिं न जिनहि प्रकास॥
सुर रिषि तिर्जग रूप, मत्स्य आदि तुमही धरौ।
दुर्मद, बिकट, अनूप, तासु मान-मर्दन करन॥
साधु-अनुग्रह हित सुख-कंदा।
माया गहन करत जदुनंदा॥

धर्म सेतु पालन के हेतू।
कृपा करहु तुम, कृपानिकेतू॥
प्रभु-लीला को लखै बनाई।
गाइ सकै को गुन-समुदाई॥
निज जन त्राण हेतु बहु बारा।
धरहु स्वरूप अनेक प्रकारा॥
नहि त्रिलोक महँ अस कोउ प्रानी।
तव गुन-लीला कहै बखानी॥
कैसें कब केतिक केहिं ठामा।
रचना रचत, नाथ! अभिरामा॥
यह जग असत असेष बिधि, सपन-सरिस कह बेद।
या महँ सुख रंचक नहीं, अति दुख संतत खेद॥
तुम तें संभव होइ, लय पावै प्रभु! तुम बिषे।
लगत सत्य इव सोइ, सत्य नहीं, दुखरासि प्रभु॥
नित्य-सरिस इव, नित्य न आही।
सुख इव लगै, दुखद सब काही॥
चेतन इव, नहिं चेतन रूपा।
है बिकल्प बहु चित्र अनूपा॥
तुम हरि! सत्य रच्यौ बहु भाँती।
लगत सत्य सो सबहि सुहाती॥
सत्य एक तुम, नंदकुमारा।
आतम-रूप, सकल आधारा॥
आदिपुरुष तुम पूरनकामा।
सब जग भिन्न, सदा अभिरामा॥
नित्य, सनातन, सुखमय रासी।
अच्छर, अमृत, अघट, अबिनासी॥
अंजन-रहित, प्रकास सरूपा।
दूरि उपाधि सरूप अनूपा॥
एहि बिधि लखत सुघर नर कोई।
जिन कें कछु तुम में मति होई॥
नंद-सुअन! तुम कौं सब ठामा।
लखत चराचर में अभिरामा॥
हरि गुर-रूप तरनि-सम पाना।
बेद-उक्त चख लहि सुख-धामा॥
ताहि नयन करि लखत जब, आतम एक प्रबीन।
तब तिन कहँ संसार सब होइ जात जनु लीन॥
तब तिन कहँ यह जगत न साचा।
पहिलें रह्यौ जहाँ मन राचा॥
निरखि दाम अहि अति भयकारी।
रजु जान्यौ, तब भयौ सुखारी॥
बंध-मोक्ष, भव-मरन बिचारी।
अति भयभीत सो भयौ दुखारी॥
जब समुझै, तब ह्वै दुख दूरी।
ना तरु सोक-दोष रह पूरी॥
सुद्ध सचेतन रूप अनूपा।
आतम सदा एकरस रूपा॥
बंध-मोच्छ नहिं ता कहँ कबहूँ।
भयौ न है, ह्वैहै नहिं तबहूँ॥
रज्जु-सर्प जिमि सत्य न होई।
तिमि आतप सुख-दुख नहिं कोई॥
तरनि एक रस संतत आही।
उदय-अस्त कहियत है ताही॥
बंध-मोच्छ, निसि-दिन समतूला।
सब कहँ लखु अग्यान समूला॥
मानहिं तन कहँ आतम मूढ़ा।
जे नर ममता-मद-आरूढ़ा॥
बाहर खोजत आतमा, अहो अग्य-जन मूढ।
सब घट ब्यापी नहिं लखत, सदा मोह आरूढ॥
वस्तु हेरानी गेह, खोजत गहन मझार सठ।
मिलै, कहौ, किमि तेह, करि प्रयास पचि-पचि मरौ॥
कोउ एक बिदुष सरीर मझारा।
खोजत जडता करि निरधारा॥
करै सर्प अपबाद बिनासू।
रज्जु-ग्यान तब उपजै आसू॥
ऐसें मुक्ति-हेतु एक ग्याना।
अपर उपाइ न अहै सुजाना॥

इस प्रकार अपने ज्ञानदीपकी ज्योति जगाकर पितामहने मानो व्रजराजकुमारकी आरती उतारी। इतनेमें पुनः दृष्टि चली गयी नन्दनन्दनके चरण-नख-चन्द्रकी ओर। फिर तो एक विचित्र-सी ज्योत्स्ना

आँखोंमें भर गयी। अन्तस्तल पुनः प्लावित हो उठा भक्तिकी विमल धारासे ही। स्रष्टाकी ज्ञानगरिमाका उपर्युक्त प्रवचन डूब गया इस धारामें, ज्ञानकी वह लौ समा गयी इसकी स्निग्धतामें—यह व्यक्त कर देनेके लिये कि 'देखो, भक्तिकी स्निग्धता ही मेरी जननी है और यही सान्द्र, सान्द्रतर होती हुई मुझे पुनः आत्मसात् कर लेती है; भक्तोंको अपने भावानुरूप श्रीकृष्णचरण-सरोजकी निर्बाध सेवाका अवसर दान करनेके लिये यह मुझे अपने अञ्चलमें छिपा लेती है। जिन्हें मेरी चाह हो—मेरे प्रकाशमें भगवान्‌की महिमाका तत्त्व जाननेमात्रकी अभिलाषा हो, उनके लिये भी भक्तिके स्निग्ध प्रवाहमें निमग्न हो जाना अनिवार्य है; अन्यथा वे मुझे पानेसे रहे।' तथा बाहर पितामहकी वाणी भी इसी तथ्यका कुछ अंश प्रकट कर देती है। वे कहने लगते हैं—'हे देव! हे भगवन्! यह ठीक है कि अज्ञानजन्य संसार ज्ञान होते ही तत्क्षण विनष्ट हो जाता है; तथापि जो व्यक्ति तुम्हारे युग्म पादपद्मोंके अनुग्रहबिन्दुसे सिक्त हो चुका है, कृपाप्रसादकी कणिकामात्र जिसने पा ली है, वही तुम्हारी अनन्त अपरिसीम महिमाका यत्किंचित् तत्त्व जान सकता है। किंतु जिसने तुम्हारी कृपा नहीं प्राप्त की, वह ज्ञानके साधनोंका आचरण करके, वैराग्यकी भूमिमें प्रतिष्ठित होकर, योगका अनुष्ठान करके—इन-इन साधनोंके द्वारा इनकी परमोत्कृष्ट दशाको प्राप्त हुए व्यक्तियोंमें परिगणित होकर भी चिरजीवन अपने प्रयत्नसे अनुसंधान करते रहनेपर भी—तुम्हारी महिमाके यथार्थ ज्ञानकी उपलब्धि नहीं कर पाता। तुम्हारी कृपाके बिना कोई भी तुम्हारी महिमाके तत्त्वको नहीं जान सकता, नाथ!'

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। २९)

हो प्रभु! तव-पद-कमल सुदेस।
ताके रसप्रसाद कौ लेस॥
कबहूँ काहू पै ढुरि आवै।
तब भल महिमा-तत्वहि पावै॥

× × ×

जद्यपि ग्यानवंत भयहारी।
तद्यपि एहि बिधि होइ सुखारी॥
तव पद-पंकज लेस पसाऊ।
जिन काहू यह जग महँ पाऊ॥
तासु अनुग्रह जा पर होई।
तत्वग्यान जानै नर सोई॥
बिनु पद-कंज अनुग्रह-पाऐं।
करत जतन बहु अति मन लाएँ॥
तत्वग्यान उपजै नहिं कबहूँ।
कैसेउँ निपुन होइ किन जबहूँ॥

भक्तिकी इस महिमाका गान करते हुए स्रष्टा अब स्वयं लालायित हो उठते हैं अपनेमें उसकी अचल प्रतिष्ठा हो जानेके लिये—इसके द्वारा व्रजराजकुमारकी महिमाका तत्त्व जाननेके उद्देश्यसे नहीं, अपितु उनके पदपल्लवका सेवाधिकार प्राप्त कर लेनेके लिये। किंतु यह वशकी बात जो नहीं। यदि कृपापरवश हुए नीलसुन्दर ही 'एवमस्तु' कर दें, तभी सम्भव है। तथा उनसे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त इसके लिये और मार्ग ही क्या है—

पुनि प्रार्थत सब सुरन कौ रानौ।
भक्ति-बिभौ जु देखि ललचानौ॥

अतः आतुर कण्ठसे पितामह अपनी अभिलाषा निवेदन कर दे रहे हैं—'हे नाथ! इसीलिये वह सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हो जाय—इस ब्रह्मशरीरसे हो अथवा इसे छोड़कर पशु-पक्षी-कीट-भृङ्ग आदि किसी भी योनिमें हो, किंतु उस महासौभाग्यका दान है देव! मुझे भी मिल जाय अवश्य कि जिससे मैं तुम्हारे दासवर्गमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर सदा दास ही बना रहकर तुम्हारे चरणपल्लवकी सेवामें ही संलग्न रहूँ। ओह! वह भ्रमर—कीट मेरी अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है, स्वामिन्! जो तुम्हारे चरणसरोरुहमें न्योछावर हो रहा है। पशु ही है वह गोशावक, पर तुम्हारे श्रीअङ्गलेहन (चाटने)-

का सौभाग्य उसे प्राप्त है। मैं अभागा, भला, उस पशुकी तुलनामें भी नहीं हूँ, नाथ! वे बड़भागी शुक-पिक आदि विहंगम मधुर कण्ठसे गीत सुनाकर तुम्हारा आनन्दवर्धन करते हैं। इन पक्षिसमूहोंके सामने मेरा ब्रह्मपद कितना हेय, तुच्छ, सारहीन है, स्वामिन्! और यह नवोद्भिन्न सुकोमल तृणाङ्कुर-राशि तुम्हारे चरणतलको अपना मृदुल स्पर्श दान कर रही है! धन्य है यह तृण-पङ्क्ति। क्या मूल्य है मेरा इन उद्भिज्ज प्राणियोंके समक्ष, भगवन्? इसीलिये हे करुणामय! इतनी-सी कृपा कर दो, मेरी विनय सुन लो—इस जन्ममें हो या इसे परित्यागकर किसी ऐसे ही पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, तरु, गुल्म, लताकी योनिमें हो—जहाँ जिस योनिसे सम्भव हो, वहीं मुझे अपने चरणपल्लवके सेवनका सौभाग्य दे दो, दयानिधे!'

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०)

अहो नाथ! मो कहुँ यौं करौ।
जौ तरुना करुना रस ढरौ॥
इही जनम में, और जनम में।
मनुष्य जनम में, तृजग जनम में॥
तुमरे भक्तन में कछु ह्वै कै।
सोऊ चरन-सरोजन छ्वै कै॥

× × ×

अपर जन्म तिरजग कोउ जोनी।
धरउँ, जहाँ जसि निज गति होनी॥
तुमरे जनन माँझ तनधारी।
होउँ दास कर दास बिचारी॥

सच्चे भक्तोंकी भावना—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रपर ही अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुकनेवाले प्रेमीजनोंके चिरजीवनकी लालसा पितामहके भक्तिपूरित अन्तस्तलकी सरितामें हिलोरें ले रही है। सचमुच जिनके जीवनमें श्रीकृष्णसेवाधिकार प्राप्त होनेका उपक्रम होता है, उनमें एकमात्र इतनी-सी चाह ही बच रहती है—

किए मानुस पशु पखि भए जनमिए अथवा कीट-पतंग।
करम बिपाक गतागत पुनु-पुनु, मति रह तुअ परसंग॥

ब्रह्माजीके द्वारा व्रजवासियोंके भाग्यकी सराहना

'अहो! अतिशय धन्य हैं ये व्रजकी गायें और ये व्रजपुरवासिनी गोप-सुन्दरियाँ!'—पितामह अब गोकुलवासियोंके भाग्यका अभिनन्दन करने लगते हैं, वह व्यक्त हुई लालसा—भक्त बनकर जन्म पा लेनेकी उनकी अभिलाषा केन्द्रित हो जाती है व्रजराजकुमारके अत्यन्त प्रिय पात्रोंकी ओर ही—'ये सौभाग्यशालिनी गौएँ, गोपाङ्गनाएँ परम कृतार्थ हो चुकीं, प्रभो! देखो-क्या ही आश्चर्य है, नाथ! अनादिकालसे अबतक बड़े विधि-विधानसे सम्पादित हुए समस्त यज्ञसमूह तुम्हें तृप्त कर देनेमें समर्थ न हो सके; स्वर्गके देवगण अमृतका नैवेद्य समर्पितकर, वेद-मर्मज्ञ, कुशल कर्मकाण्डी द्विजवृन्द सम्पूर्ण विविध विधियोंसे यज्ञका उपहार निवेदित कर तुम्हें तृप्ति प्रदान न कर सके; तुम सर्वथा परिपूर्णको, नित्य तृप्तको उन-उन अर्पित द्रव्योंसे तृप्त होते न देख सके। परंतु आज उन्हीं तुमने, नित्य पूर्णस्वरूप होनेपर भी, गोवत्स एवं गोपबालक-रूपसे इन गायोंका, गोपिकाओंका स्तन्य-पान किया है, अतिशय हर्ष एवं उमंगमें भरकर—इनके स्तनक्षरित दुग्धामृतका स्वयं अपने श्रीमुखसे चूस-चूसकर स्वाद लिया है, वात्सल्य-प्रेमपरिपाकरूप इस अप्राकृत-सुधासे अपनी उदरपूर्ति की है। सबके देखते हुए ही यह आश्चर्य घटित हुआ है। गायोंका, गोप-रमणियोंका स्तन-दुग्ध—स्थूल दृष्टिसे देखनेपर अन्न-पान आदिसे उद्भूत देह-विकारमात्र वस्तु, स्वयं निर्विकार नित्यतृप्तको पीते, ग्रहण करते सबने प्रत्यक्ष देखा है! उन गौओं एवं व्रजरमणियोंके जीवनधारणकी सफलता—कृतार्थताकी पराकाष्ठा ही तो यह है, भगवन्!'—

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३१)

हो प्रभु! धन्य-धन्य ये गोपी, धनि ये धेनु परम रस ओपी।
बालक ह्वै, बछ ह्वै प्रभु जिन के, पीवत भए पयोधर तिन के॥
बहुरयौ तनक स्तन्य-पय पाइ, बार-बार तुम रहत अघाइ।
कब के जग्य-भाग हौ खात, तहँ तुम तनकौ नहिंन अघात॥

'केवल गायोंका एवं गोपरमणियोंका ही नहीं, नन्दव्रजके अधिवासीमात्रका भाग्य अनिर्वचनीय है, नाथ!'—पद्मयोनि उसी भावनामें डूबकर कहते चले जा रहे हैं—'गोपराज नन्दके व्रजमें स्थान पाये हुए जीवमात्रको तुमने अपने जिस कृपाप्रसादका दान किया है, उसकी अन्यत्र कहीं भी तुलना सम्भव नहीं है, स्वामिन्! इससे पूर्व ऐसा निरुपाधि प्रेमदान कहाँ किसे प्राप्त हुआ है, प्रभो! अवाङ्मनसगोचर परमानन्दस्वरूप, सनातन परिपूर्ण ब्रह्म तुम स्वयं इनके—ओह! व्रजके पशु-पक्षी, गुल्म-लता-वल्लरियोंतकके परम सुहृद्रूपमें प्रत्यक्ष अवस्थित रहकर इन्हें अपने साथ लेकर अनन्त, पारावार-विहीन प्रेमसिन्धुमें संतरण कर रहे हो—यह अप्रतिम सौभाग्य इससे पूर्व कहाँ, किनका हुआ है, देव! सच्चिदानन्द, परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेके लिये अनेकोंको दौड़ते हुए देख लेना सम्भव है; पर उस परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको ही गोपशिशुओंके, गोवत्सोंके पीछे, उन्हें ढूँढ़नेके लिये दौड़ते हुए दर्शन कर लेना यहाँ इस नन्दव्रजके अतिरिक्त और कहीं भी सम्भव नहीं है, स्वामिन्! कितना अनुराग है तुम्हारा इन गोपबालकोंके प्रति, गोवत्सोंके प्रति, भगवन्! अभी-अभी तुम परमानन्दस्वरूप होकर भी कितनी आतुरतासे इन्हें वनप्रान्तरोंमें दौड़-दौड़कर ढूँढ़ रहे थे, नाथ! और तुम्हारी वह दैनंदिनी दिनचर्या—जब अल्पवयस्क गोवत्स द्रुतगतिसे चलनेमें श्रान्त-से दीखने लगते हैं, उस समय दौड़कर उन्हें अपनी नन्हीं-सी गोदमें धारण कर लेनेका तुम्हारा प्रेमिल प्रयास—अपने परम सौहार्दका ऐसा दान यहाँके अतिरिक्त कहाँ उपलब्ध है, देव! इसे भी जाने दो, चञ्चल गोप-शिशुओंके द्वारा पुष्पचयनके समय किसी पुष्पवृक्षको खण्डित हुए देखकर तुम कितने व्यथित हो जाते हो!

उस समय अपने कोमल करस्पर्शसे वृक्षकी वेदना हर लेनेकी तुम्हारी चेष्टा, वृक्ष-गुल्म-लताओंके प्रति भी स्नेहदानका यह अद्भुत निदर्शन इस व्रजके सिवा और कहाँ सम्भव है, विभो! बस, धन्य हैं व्रजराज महाराज नन्द! धन्य हैं गोप! धन्य हैं व्रजके अधिवासी! अहोभाग्य है व्रजवासीमात्रका—यहाँके पशु-पक्षी-कीट-पतंग-भृङ्ग-तरु-लता-गुल्म प्रभृति-तकका, जिनके पूर्णब्रह्म, सनातन, परमानन्दस्वरूप तुम स्वयं मित्र हो।'—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

इह ब्रजजनकी भाग बड़ाई।
हो प्रभु, मो पै नहिं कहि जाई॥
जा प्रभु के आनँद कौ लेस।
बर्तत अज पुनि सेस-महेस॥
सो तुम निरवधि परमानंद।
जिनके मित्र परम सुख-कंद॥

× × ×

अहो भाग्य सुनंद गोपन दान कह पूरब दियौ॥

× × ×

ब्रह्म सनातन कृष्न प्रभु, पूरन परमानंद।
मित्ररूप भए जासु के, अहोभाग्य सुख-कंद॥

यह कहते-कहते, व्रजपुरवासियोंके इस असमोर्ध्व सौभाग्यका कीर्तन करते-करते चतुर्मुख उन्हींमें तन्मय-से होने लगते हैं। प्रेमकी एक विचित्र लहर उठती है अन्तस्तलमें और वह छा लेती है उनके निर्भ्रान्त वेद-ज्ञानके आलोकको। वेदगर्भ भूल जाते हैं इस सिद्धान्तको कि व्रजराजकुमारके लीलापार्षद ये व्रजवासीजन भी उन्हींकी भाँति सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। इनके शरीर, नेत्र, नासिका आदि इन्द्रियाँ, मन-प्राण प्राकृत जगत्के प्राणियोंके-जैसे नहीं, पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं, अपितु उनके वे सब कुछ—इन्द्रिय आदि समस्त पदार्थ सच्चिदानन्दमय उनके स्वरूपके ही पृथक्-पृथक् संनिवेशमात्र हैं। प्राकृत इन्द्रियोंसे तो केवल जड वस्तुका ही ग्रहण सम्भव है, सच्चिदानन्दमय वस्तुका ज्ञान सम्भव नहीं। किंतु यहाँ ये व्रजवासी तो सदा-सर्वदा अपनी समस्त इन्द्रियोंके द्वारा सर्वान्तरात्मा, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्‌को ही ग्रहण कर रहे हैं। इनकी सच्चिदानन्दमयी इन्द्रियोंका नियन्त्रण—प्राकृत इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवतागण कर सकें, यह तो सर्वथा असम्भव है। इन चिदानन्दमय पार्षदोंकी इन्द्रियोंको आवश्यकता नहीं है इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवोंकी शक्तिकी—ये तो स्वशक्तिसे ही भगवद्रूपरस आदिको ग्रहण करती हैं। किंतु पितामहको प्रेमके आवेशमें इस सत्यकी विस्मृति-सी हो जाती है। वे अनुभव-सा करने लगते हैं कि 'हम इस प्राकृत जगत्के देवगण—एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता भी कृतार्थ हो रहे हैं इन व्रजवासीजनोंकी इन्द्रियोंकी ओटसे।' और यह भी सम्भव है, उपर्युक्त सत्यकी छाया स्मृतिपथमें वर्तमान रहनेपर भी प्रेमपरवश हुए पितामहके आकुल प्राण अभिलाषाकी लहरोंपर—व्रजपुरवासियोंसे सम्बद्ध हो जानेकी लालसाके प्रबल प्रवाहपर बहते जा रहे हैं। उन प्राणोंमें स्पन्दन हो रहा है—'इस चिन्मय व्रजपुरसमाजसे हम प्राकृत इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंका साक्षात् सम्बन्ध तो होनेसे रहा। किंतु इनके भी इन्द्रियवर्ग देखनेमें तो यहाँ-जैसे ही हैं; आकृति, बाह्यसंस्थान, संचरणप्रक्रियामें तो साम्य है ही; नयन, नासा आदि नामोंकी समता तो है ही। बस, बस, इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है; किसी भी प्रकारसे सादृश्य-लेशगन्धकी भावना करके गौरवान्वित होनेका आधार तो प्राप्त हो गया।' इस प्रकार पितामह इस आवेशमें ही कहने लग जाते हैं—'हे अच्युत! इन व्रजपुरवासियोंके अनिर्वचनीय परम सौभाग्यकी बात तो अलग रही—मन, बुद्धि, अहंकार, कर्ण, त्वक्, चक्षु, रसना, नासिका, वाक्, हस्त, पद—इन एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-

देवतास्वरूप महादेव*, मैं (ब्रह्मा), चन्द्र, दिक्, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र—हम एकादश व्यक्ति भी धन्य हैं; अतिशय भाग्यशाली हैं हम सब भी नाथ! देखो इन व्रजपुरवासियोंकी इन्द्रियोंको हम सबने पानपात्र (प्याला) बनाया है। इन पात्रोंमें तुम्हारे चरणसरोजका मधुर मकरन्दरस नित्य पूरित होता रहता है। यह रस-सुधासे भी अतिशय सुमधुर एवं आसवसे भी अत्यधिक मादक है—इसे पी लेनेके अनन्तर अन्यत्र कहीं रसानुभूति नहीं होती, अन्य सब कुछकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है। ऐसा मधुमय एवं उन्मादी रस है यह! और उसे ही हम सब पान करते रहते हैं, प्रभो! इन व्रजवासियोंका मन तुम्हारे साथ अपने यथायोग्य सम्बन्धका मनन करता है। इनकी बुद्धि तुम्हारी सेवाके लिये तुम्हारे साथ विविध क्रीड़ा कर तुम्हें सुख पहुँचानेके लिये अध्यवसाय करती है। इनका अहंकार तुम्हारे रुचिकर कार्योंके संकल्पमें ही संलग्न रहता है। इनके कर्णपुटोंमें तुम्हारी मधुस्यन्दिनी वाणी एवं वंशीरव ही पूरित रहता है। इनकी त्वचामें यथायोग्य भाव एवं अधिकारके अनुरूप तुम्हारे श्रीअङ्गोंका स्पर्श ही समाया रहता है। इनके दृग् तुम्हारे अनिन्द्य-सुन्दर रूपमें ही उलझे रहते हैं। इनकी रसना तुम्हारे अधरामृतसे सिक्त प्रसादका ही रस लेती है। इनके नासारन्ध्रोंमें तुम्हारे श्रीअङ्गोंका सौरभ ही परिव्याप्त रहता है। इनकी वागिन्द्रिय व्यस्त रहती है तुमसे प्रेमालाप करनेमें ही, तुम्हारे अनन्त गुणोंका मधुर गान करनेमें ही। इनके हस्त आहरण करते हैं एकमात्र तुम्हारी सेवोपयोगी वस्तुओंका ही। इनके पदयुगलमें गति रहती है केवल तुम्हारी ओर जानेके लिये अथवा वहाँ उस दिशामें दौड़ते रहनेके लिये, जहाँ जिधर जाकर तुम्हारी सेवा सम्भव हो सके।—इस प्रकार व्रजवासीजनोंकी ये एकादश इन्द्रियाँ तुमसे जुड़ी रहनेके कारण सतत पूर्ण रहती हैं तुम्हारे असमोर्ध्व माधुर्यके अमृतसे ही। और इसीलिये नाथ! इन इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवगण हम सब भी—साक्षात् सम्बन्धसे न सही, सम्बन्ध-गन्धलेशाभासकी भावना करके ही—इस चिन्मय सुधारसका बार-बार पान कर रहे हैं। अहा! जब एक-एक इन्द्रियसे पान करके हम देवगण धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियोंसे ही इस अप्राकृत पीयूषरसका सतत सेवन करनेवाले व्रजवासियोंकी स्थितिका चित्रण कौन कर सकेगा, स्वामिन्!—

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३३)

इन की भाग-महिम तौ रहौ।
हमरे भूरि भाग तन चहौ॥
जद्यपि इन की इंद्री जिती।
हम करि नाहिंन कीनी तिती॥
तदपि तनक अभिमान के साथ।
हम सब कृत्यकृत्य भए, नाथ॥
नेत्रादिक इंद्रियगन जिते।
हमरे पान-पात्र प्रभु! तिते॥
तुम्हरे सुंदर सुंदर अंग।
छिन छिन उठति जु अमृत-तरंग॥
तिन करि पुनि-पुनि पियत जथारथ।
सूर्जादिक सब भए कृतारथ॥
बहुर्‌यौ इक-इक इंद्रिय केरे।

* महादेव अहंकारके अधिष्ठाता हैं, ब्रह्मा बुद्धिके एवं चन्द्रमा मनके। इन तीनोंके अतिरिक्त शेषको उपर्युक्त क्रमसे समझना चाहिये। महादेवजीका नाम पितामहने सर्वप्रथम इसलिये लिया है कि अभी भी उनके मनमें अपने किये हुए अपराधका पर्याप्त संकोच वर्तमान है। साथ ही 'भक्तचूडामणि महादेवका नाम व्रजराजकुमारको उल्लसित कर देगा, द्रवित हो उठेंगे प्रभु और मुझ अपराधीके नामका प्रथम उल्लेख शोभाजनक भी नहीं'—यह भावना भी काम कर रही है।

धन्य भए हम-से बहुतेरे॥
जिन की सब इंद्रिय रस-पगी।
सब ही बिधि ते तुमहीं लगी॥
तिन के भाग कि महिमा जौन।
हो प्रभु! ताहि कहि सकै कौन॥

× × ×

तासु भाग्य की बात, को बरनै, केहि बुद्धि असि।
धन्य भाग्य सुर तात, जे इंद्री पति जगत के॥

मन अरु बुद्धि चित्तऽहंकारा।
चच्छु आदि ते रह निरधारा॥
सोइ भाजन करि करहिं जु पाना।
तव पद कंज अमृत रस जाना॥
छके रहत तेहिं आसव सोऊ।
अहो भाग्य कहि सकै न कोऊ॥
एक-एक के अधिपति मानी।
सौरभादि सेवहिं हियँ आनी॥
तदपि कृतारथ हम भए सबही।
एक देस चख आदिक तबहीं॥
सकल इंद्रियन करि निज सेवा।
तासु भाग्य किमि बरनों देवा॥
अहो भाग्य यातें ब्रजबासी।
जिनके गृह बिचरत अबिनासी॥

अतएव, 'हे भगवन्! मेरे प्राण अत्यन्त आकुल हैं इस वृन्दाकाननमें, गोकुलमें—गोगोपगोपीजनकी, इनके सेवकवर्गकी निवासस्थलीमें कहीं स्थान पा लेनेके लिये।'—चतुर्मुखकी आन्तरिक लालसा और भी विशद, निर्मल, निर्मलतररूपमें, भक्तोचित आदर्श दैन्यके सौरभसे सुरभित होकर व्यक्त होने लगती है—'ओह! अब मैं समझ पा रहा हूँ, प्रभो! मेरी वह पूर्वकी प्रार्थना मेरी धृष्टतामात्र थी। तुम्हारे साक्षात् चरणसेवनका अधिकार पा लेनेयोग्य मैं नहीं हूँ, नाथ! फिर भी प्राणोंकी अभिलाषा मिटती जो नहीं, स्वामिन्! अधिष्ठातृत्वकी भावनासे अपनेको धन्य-धन्य अनुभव करनेपर भी वे प्राण पुनः मचल उठे हैं तुम्हारे इन व्रजपार्षदोंके आवाससे ही संनद्ध हो जानेके लिये। ब्रह्मशरीरसे यह सम्भव नहीं, साथ ही तुम्हारी साक्षात् सेवाके अनुरूप पार्षदशरीर पा लेनेकी योग्यता नहीं। फिर भी तुम तो करुणावरुणालय हो, देव! बस, इतनी-सी कृपा कर दो, दयामय! सेवकका अधिकार न सही, तुम्हारे इन व्रजवासीजनोंमेंसे जिस किसीकी भी चरणधूलिकणिकासे अपने-आपको अभिषिक्त हुए देख लेनेका ही परम सौभाग्य मेरा हो जाय। ब्रह्मजन्मकी अपेक्षा कोटि-कोटि-गुणित अधिक सौभाग्यसम्पदा यह है, विभो! बस, इस गोपावासमें जहाँ कहीं भी इसी सौभाग्यसे भूषित होनेयोग्य स्थान मुझे मिल जाय—कीट, पतंग, तृण, गुल्म आदि कुछ भी बनकर यहाँ मेरा जन्म हो जाय और मुझपर व्रजपुरवासियोंकी चरणरज पड़ती रहे, मेरे समस्त अङ्ग सदा सिक्त होते रहें उनकी पावन पद-धूलिसे ही। अहा! अनादिकालसे अबतक श्रुतियाँ भी जिनकी पदरजका अन्वेषण ही कर रही हैं, वे स्वयं भगवान् मुकुन्द श्रीनन्दनन्दन तुम जिन व्रजवासियोंके जीवनस्वरूप सारसर्वस्व हो, उन व्रजजनकी चरणरजको प्राप्त कर लेनेपर मुझे तुम्हारे चरणसरोरुहकी रज तो मिल ही चुकी, भगवन्!'

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

तातैं यह माँगत प्रभु पहियाँ।
कै ब्रज, कै बृंदाबन महियाँ॥
ओषधि, बीरुध, तृन, द्रुम, बेली।
जहँ इन ब्रजबासिन की केली॥
तहँ कौ मोहि कछू अस करौ।
इन की पद-रज मो पै परौ॥
जा प्रभु की पद-पंकज धूरि।
ढूँढ़त निगम, सु अजहूँ दूरि॥

सो तुम जिन के जीवननाथ।
जैसें दीन मीन कें पाथ॥
इन कै भक्ति लहलहत ऐसी।
देखी सुनी न कितहूँ तैसी॥

× × ×

भूरि भाग्य मैं तब जगदीसा।
मागौं यह तव पद धरि सीसा॥
पावौं जन्म अवनि महँ जाई।
बृंदाबन गोकुल सुखदाई॥
जहाँ जीव सब रहहिं सुतंतर।
तहँ तव पद रज लहौं निरंतर॥
जुग तव चरन सरोज रज, जुग-जुग श्रुति जेहि खोज।
सो बृंदाबन भूमि सब, अंकित चरन सरोज॥
यातें ब्रज महँ नाथ! जन्म लहौं तृन द्रुम लता।
लहि रज होउँ सनाथ, मिटै फेरि संभव मरन॥
ब्रज महँ जीव जहाँ लगि कोई।
चर अरु अचर, मंद-भल जोई॥
तासु चरन-रज निज सिर धरऊँ।
जन्म अनेक दोष परिहरऊँ॥
जासु निखिल जीवित घनस्यामू।
ताहि बिना नहिं तेहि बिश्रामू॥
एहि तैं धन्य, धन्य तर जानूँ।
बाल-भाव ईस्वर महँ मानूँ॥

× × ×

करहु मोहि ब्रज-रेनु, देहु बृंदाबन बासा।
माँगौं यहै प्रसाद, और मेरें नहिं आसा॥
जोइ भावै सोइ करहु तुम, लता सिला द्रुम गेहु।
ग्वाल गाइ कौ भृत करौ, मानि सत्य ब्रत एहु॥
जो दरसन नर नाग अमर सुरपतिहुँ न पायौ।
खोजत जुग गए बीति, अंत मोहू न लखायौ॥
इहिं ब्रज यह रस नित्य है, मैं अब समुझ्यौ आइ।
बृंदाबन रज ह्वै रहौं, ब्रह्मलोक न सुहाइ॥

'देव! पता नहीं मेरा यह सौभाग्य होगा या नहीं, व्रजपुरवासियोंकी चरणरजसे अभिषिक्त होनेका सुदुर्लभ दान तुम मुझ अनधिकारी, अपराधीको दे सकोगे या नहीं'—पितामहकी दीनताभरी दृष्टि स्थिर हो जाती है व्रजराजकुमारके मुखचन्द्रपर एक प्रश्नका उत्तर पा लेनेके लिये, नहीं-नहीं, व्रजपुरवासियोंके अपरिसीम सौभाग्यका एक अभिनव चित्रपट सामने रखकर अपने आराध्यको परम उल्लाससे पूरित कर देनेके लिये। वे कहने लगते हैं—'किंतु प्रभो! यह तो बता दो कि अपने इन व्रजजनोंको इनकी सेवाके प्रतिदानमें तुम दोगे क्या? मेरी बुद्धि कुण्ठित हो रही है, मोहित हुई जा रही है इसका निर्णय कर लेनेमें, नाथ! तुम सर्वभवन-समर्थ हो; सब कुछ करनेकी, देनेकी तुम्हारी सामर्थ्य है—यह नितान्त सत्य है। पर साथ ही तुम्हीं तो सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप हो, तुमसे उत्कृष्ट कोई फल है जो नहीं, भगवन्! फिर तुम इन्हें—अपने व्रजवासी सेवकोंको इनकी सेवाका क्या फल दोगे? तुम्हारी अनन्त शक्तिमत्ताको स्वीकार करनेपर भी बुद्धि निश्चय नहीं कर पा रही है कि इन्हें, इनकी सेवाके अनुरूप कौन-सी वस्तु तुम प्रदान करोगे। सब कुछके उत्कृष्टतम फलस्वरूप अपने-आपको ही देकर भी तुम इनसे उऋण जो नहीं हो सकते, स्वामिन्! इन्हें तो, तुमसे भी उत्कृष्ट कदाचित् कोई वस्तु होती, वह दी जाती, तब न्याय होता; इनकी सेवाका, इनके प्रेमका सच्चा—समुचित प्रतिदान होता; तुम उऋण हो पाते; क्योंकि यह स्पष्ट है, कृपालो! तुम्हारे स्वरूपको—तुम्हें तो उस बालघातिनी यातुधानी पूतनाने भी केवल वात्सल्य-प्रेममयी व्रजपुरन्ध्रियोंके वेशका अनुकरणमात्र करके पा लिया, तुम्हारी धात्रीके अनुरूप गति पाकर कृतार्थ हो गयी वह; इतना ही नहीं, अपने समस्त कुलके लिये वह तरणतारण बन गयी, फिर जिन्होंने अपने गृह, धन, सुहृद्, समस्त प्रीत्यास्पद वस्तु, शरीर, पुत्र, प्राण, अन्त:करण—अपना सर्वस्व तुम्हारे लिये, तुमपर ही न्योछावर कर रखा है, सम्पूर्ण समर्पण करके तुम्हारे लिये तुम्हारी ऐकान्तिक आराधनामें ही जो संलग्न हैं, उन अपने व्रजजनोंको भी वही फल—वही पुरस्कार जो पूतनाको दिया, देकर कैसे उऋण हो सकोगे, स्वामिन्? मेरा

चित्त विमोहित होता जा रहा है इसका समाधान पा लेनेके प्रयासमें। योगी, ऋषि, न्यासी, ध्यानी, ज्ञानी, कर्मी, तपस्वी भक्तजनोंको प्राप्त होनेवाले फलोंपर—भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि आदि फलोंसे आरम्भ कर तुम्हारे चरणसेवनका अधिकार-पर्यन्त सबपर विचार कर लेनेपर भी निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ, नाथ! तुम्हीं बता दो—अपने इन व्रजके प्रेमपुजारियोंको इनके प्रेमके अनुरूप प्रतिदानमें तुम क्या दोगे देव!'—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३५)

मोहि तौ सोच पर्‌यौ है महा।
हो प्रभु! इन कौं दैहौ कहा॥
बड़ी बड़ाई मुकति तुम्हारे।
जाकौं चार्‌यौ बेद पुकारे॥
इन कें बेष मात्र पूतना।
महा पापिनी, जगत धूतना॥
बहुर्‌यौ प्रभु कौं मारन कारन।
आई थन लगाइ गर दारुन॥
सो वह बकी सकल कुल लै कै।
बैठी जाइ तनक बिष दै कै॥
जिन के देह गेह धन धाम।
लागे सकल रावरे काम॥
दैहौ कहा महा अरझेरौ।
मोह्यौ जात इहाँ मन मेरौ॥
हौं जानौं नित रिनी रहौगे।
टक-टक इन के बदन चहौगे॥

× × ×

घोष निवासी जन हैं जेते।
पुन्य पुंज जानिय सब तेते॥
रिनीवान इव जा घर बसहू।
ताहि देत सुख सब बिधि सबहू॥
अहो सकल फल रूप में, मोतें अधिक न कोइ।
देउँ कहा इन कौं जु मैं, यह बिचार चित जोइ॥
करि बिचार मन माहिं, तुम ते अधिक न जब लह्यौ।
एहि तें दीनी नाहिं, मोह पाइ मन चुप रहे॥
जननी इव सुभ बेष बनाई।
कपटी क्रूर पूतना आई॥
जननी-गति दीन्ही प्रभु वाही।
उरिनी कैसें तुम इन पाँही॥
सकुल बकादि दियौ निज धामा।
अति उदार, हे पूरन कामा॥
घोष निवासी जे, जदुनंदा।
तिन के बहु गुन आनँदकंदा॥
जिन के सुहृद तनय प्रिय प्राना।
तन-धन-धाम तुमहि एक जाना॥
तुम तें अपर अर्थ नहिं जिनहीं।
एहि तें रिनीवान इव तिनहीं॥

इसी समय स्रष्टाको यह प्रतीत होता है, मानो व्रजराजकुमार संकेत-सा कर रहे हों—'ब्रह्मन्! भूल तो नहीं रहे हो? अरे, ये व्रजपुरवासी रागी हैं, गृहका निर्माण कर जीवनयापन करनेवाले हैं, मोह भरा है इनके मनोंमें। भला, इनकी ऐसी—इतनी महिमाका गान कर रहे हो!' किंतु अब पितामह भ्रान्तिकी सीमासे पार जा पहुँचे हैं, वहाँ उस स्तरमें अवस्थित हैं जहाँ व्रजराजकुमारके चरणनखचन्द्रसे झरते हुए पीयूषसे सनकर राग अनन्त दैवी सम्पदाओंका निर्झर बन जाता है; जहाँ गृहका निर्माण ही होता है उसके प्राङ्गणको श्रीकृष्णचरणनूपुरसे सतत झंकृत देखनेके लिये; जहाँ मोह इतना सान्द्र (गाढ़ा) हुआ रहता है कि उसमें लिपटे हुए मन-प्राण श्रीकृष्णपादपद्मोंसे ही अनन्तकालतक सटे रहते हैं—इस परमानन्दमयी अनिर्वचनीय स्थितिको पितामह प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे भूल सकें, यह सम्भव जो नहीं रहा है; इसीलिये वे कह उठते हैं, 'मुझमें क्षमता नहीं है, नाथ! कि मैं प्रेमपरिणतिके अगाध महासिन्धुमें अवगाहन कर सकूँ; अवगाहन दूर, व्रजमें उमड़े हुए इस रस-सिन्धुके एक कणका भी स्पर्श पा ले सकूँ। यह

योग्यता, यह अधिकार भी नहीं। इन व्रजपुरवासियोंके रागका, इनके घर बसानेका, मोहका—इनकी प्रेमविकृति एवं तज्जन्य प्रवृत्तिका विश्लेषण कर सकूँ—नहीं-नहीं, हृदयंगम करके कृतार्थ हो सकूँ, यह सौभाग्य मेरा नहीं है, स्वामिन्! मैं तो इतना ही निवेदन कर सकता हूँ कि इस प्रपञ्च-जगत्में भी ये राग आदि तभीतक रहते हैं, प्रभो!—ये बटमार तभीतक प्राणियोंके स्वरूपभूत आनन्दका, ज्ञानका अपहरण करते रहते हैं, जबतक वे प्राणी तुम्हारा आश्रय ग्रहण नहीं कर लेते, तुम्हारे ही नहीं बन जाते। गृह तभीतक बन्धनागार बना रहता है, मोह पादबन्धनके लिये शृङ्खला (बेड़ी)-रूप हुआ होता है, जबतक ये जीव तुमपर न्योछावर नहीं हो जाते, तुम्हें ही अपना सर्वस्व नहीं बना लेते। तुम्हारा आश्रय ले लेनेके अनन्तर जीवके इस रागकी, उसकी विषयप्रीतिकी दिशा ही बदल जाती है, भगवन्! इसका प्रवाह जगत्से मुड़कर तुम्हारे पादपद्मोंकी ओर हो जाता है। फिर हर्ष-शोक-विषाद आदिके स्रोत भी बह चलते हैं तुम्हारी ओर ही। उस बड़भागी प्राणीके गृहका—विषयमात्रका रूप ही सर्वथा परिवर्तित हो जाता है। पद-पदपर अनुतापसे भर देनेवाले वे विषय—जिनके सम्पर्कमें आकर मन-प्राण झुलस उठते थे—अब प्रतिक्षण आनन्द-मन्दाकिनीका सृजन करते रहते हैं, विषयोंका वह कारागार आनन्दभवनमें परिणत हो जाता है। उसका मोह—अविवेक भी विचित्र रूपान्तरित हो जाता है; उसे—उस प्राणीको तुम्हारे चरणसरोरुहके चिरबन्धनमें बाँधकर, इन पादपद्मोंके अतिरिक्त कोई सत्ता है, हो सकती है—इस मिथ्या सारहीन स्मृतिका द्वार ही वह सदाके लिये आवृत कर देता है। और इस प्रकार वह जीव अनादि संसृतिसे त्राण पा लेता है तुम्हें पाकर, प्रभो! इतना ही नहीं, तुम्हारे चिन्मय, आनन्दमय, अनन्त—पारावारविहीन लीलारससिन्धुमें वह सदाके लिये समा जाता है, स्वामिन्! श्रीकृष्णचन्द्र!'

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

हे सुंदर बर नंदकिसोर।
रागादिक तबई लगि चोर॥
तबई लगि बंधन आगार।
देह, गेह अरु नेह बिथार॥
तबई लगि दिढ़ जंजर जेरी।
मोह-लोह की पाइनि बेरी॥
तब लौं मननि बासना छए।
जब लगि तुम्हरे नाहिंन भए॥

× × ×

सुनहु, नाथ! मम बचन बिनीता।
तब लगि नर कहँ सब बिपरीता॥
जब लगि तव पद चित नहिं जोरा।
रागादिक लूटहिं बहु चोरा॥
तब लगि गृह कारागृह जानू।
मोह-निगड़ तब लगि पद मानू॥
जब तें तव पद भक्ति न होई।
तब तें जगदुख मिटै न कोई॥

ब्रह्माजीका श्रीकृष्णसे विदा माँगकर सत्यलोकमें लौट जाना; पुनः वन-भोजन; योगमायाके द्वारा गोपबालकों एवं गोवत्सोंका व्रजमें प्रत्यावर्तन; उनके सामने उसी दृश्यका पुनः प्रकट होना, जिसे छोड़कर श्रीकृष्ण बछड़ोंको ढूँढ़ने निकले थे, तथा उन्हें ऐसा प्रतीत होना मानो श्रीकृष्ण अभी-अभी गये हैं

'तुम्हारे इस लीलाविलासकी आड़में एक साथ मुझे दो वस्तुओंके दर्शन हो रहे हैं, देव!' स्रष्टा व्रजराजकुमारके असमोर्ध्व ऐश्वर्य एवं माधुर्यके बीचमें झूलते हुए पुकार उठते हैं—'प्रभो! एक ओर तुम सर्वकारण कारण हो; पर साथ ही उसी समय इस व्रजपुरमें, व्रजेन्द्रसदनमें व्रजराज व्रजरानीके पुत्ररूपमें, उनके नीलसुन्दर होकर तुम्हारा जन्म है। तुममें समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव है, सच्चिदानन्दविग्रह हो तुम; पर साथ ही यहीं इस व्रजपुरमें ही, ओह! क्षुधाकी वेदनासे अभिभूत होकर क्रन्दन करते हुए तुमने जननीसे नवनीतकी याचना की है। प्रपञ्चके दोषोंकी गन्ध भी तुममें नहीं है, परम विशुद्ध हो तुम; फिर भी व्रजसुन्दरियोंके आवासमें जाकर तुमने नवनीतका अपहरण किया है। स्वयं आत्माराम होकर भी इन गोपशिशुओंके साथ मिलकर नित्य नवीन कौतुक-रचनाका लोभ तुम संवरण नहीं कर पाते। इस प्रकार एक ओर तो तुम प्रपञ्चसे सर्वथा अतीत हो, जगत्—जागतिक भावोंका कहीं किंचिन्मात्र कोई भी सम्बन्ध तुमसे नहीं है; तथापि ठीक उसी समय तुम्हारा जन्म है; दिवस, रजनी, पक्ष, मास एवं वर्षके अनुक्रमसे तुम्हारे श्रीअङ्गोंमें वृद्धिके दर्शन हुए हैं, होते हैं; क्षुधा, शिशुसुलभ चञ्चलता आदि अनेकों जागतिक भावोंके स्रोतसे संगमित तुम्हारी लीलामन्दाकिनी प्रसरित होती रहती है—विश्वके इन समस्त भावोंके अनुरूप ही तुम सदा अपने लीलाविलासका विस्तार करते रहते हो! ऐसा इसलिये, नाथ! कि अपने स्वजनोंके प्रति तुममें अपरिसीम कृपा भरी है। और इसीलिये जो एकमात्र तुम्हारे ही पादपद्मोंके आश्रित हैं, तुम्हारे चरणसरोरुहकी शीतल छायामें ही जिनका नित्य निवास है, उन अपने निजजनोंको, शरणागत भक्तोंको अपरिसीम अनन्त आनन्दका दान करनेके लिये ही तुम्हारी यह सब रचना है। उनका नित्य-निरन्तर आनन्दसंवर्धन करते रहनेके लिये ही तुम सर्वथा निष्प्रपञ्चका इस जगत्में भूतलपर अवतरण है, प्रापञ्चिक लोकव्यवहारका, लीलाविलासका विस्तार है, विभो!'—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३७)

रहित प्रपंच नाथ सब काला।
पुनि अनुकरन करहु जिमि बाला॥
जे प्रपन्न जन, तिन के हेतू।
लीला करि तिन कहँ सुख देतू॥

'किंतु इस विषयमें ऊहापोहका मेरा यह प्रयास सचमुच कोई अर्थ नहीं रखता, स्वामिन्!' व्रजराजकुमारकी अचिन्त्य महिमाके सम्बन्धमें पितामह कुछ भी 'इत्थम्भूत' निर्णय दे देनेसे शङ्कित होकर कहने लगते हैं—'तुम्हारा स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, लीलाविलास—सब कुछ अचिन्त्य, अतर्क्य है प्रभो! तुम्हें, तुम्हारे सम्बन्धमें मन-बुद्धिके द्वारा कोई भी कुछ भी जान ले—यह सम्भव नहीं है, महामहिम! यदि कोई तुम्हें जानते हैं—भगवत्-तत्त्व जान लेनेका किन्हींको अभिमान है तो वे जानते रहें। क्या लाभ है उनके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें कहकर उनकी मूढ़ताका प्रदर्शन करनेसे! आवश्यकता भी नहीं है इस सम्बन्धमें बहुत बात बढ़ानेकी। बस, मैं तो अपने लिये कह सकता हूँ और इतना ही पर्याप्त है, भगवन्! सचमुच चतुर्वेदके

आदिप्रवर्त्तक मुझमें, मेरे मनमें, मेरी वाणीमें, मेरे शरीरमें यह सामर्थ्य नहीं कि उसके सहारे तुम्हारी महिमाका ज्ञान प्राप्त हो जाय। मेरा मन तुम्हारे अचिन्त्य वैभवसिन्धुकी बिन्दुकणिकाका भी स्पर्श पा लेने योग्य नहीं, स्वामिन्! तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शन कर लेनेपर भी मेरे चक्षु आदि इन्द्रियोंके लिये तुम अगोचर ही बने हो, देव! मेरी वाणी तुम अनन्तका यथार्थ प्रवचन कदापि नहीं कर सकती, प्रभो!'—

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३८)

जो कोउ कहै प्रभु-बैभव जितौ।
हम सम्यक जानत हैं तितौ॥
जानहुँ ते जानहुँ जो जब चर।
मो तैं तौ मन-बचन-अगोचर॥

× × ×

कहत मूढ नर कोइ, प्रभु-बैभव हम जानि सब।
तन मन बचनहुँ जोइ, मो कहँ तव महिमा अगम॥

अस्तु, इतनी देरतक किये हुए स्तवनके प्रभावसे अब स्रष्टापर व्रजराजकुमारकी कृपा विशेषरूपसे लहरा उठती है। जगत्-कर्तृत्व, जगदीशत्व आदिका अभिमान तो कभीका विगलित हो चुका था, इस कृपावारिने उसके चिह्नतक धो दिये! परम दैन्यकी सदाके लिये प्रतिष्ठा हो गयी वहाँ। व्रजेन्द्रनन्दनके नित्य दास होनेका विशुद्ध अभिमान जाग उठा। स्रष्टाकी समस्त धारणाएँ बदल गयीं। फिर तो और कुछ अधिक कहनेकी, निवेदन करनेकी आवश्यकता ही कहाँ रही। हाँ, स्वामीकी अनुमति लेकर ही, पूर्ण समर्पण एवं निर्भरताकी भावनामें निमग्न होकर ही अपने स्थानपर लौटा जा सकता है। यही दासोचित आचार है और इसीका पालन करते हुए पितामह कहने लगते हैं—'श्रीकृष्णचन्द्र! स्वामिन्! अब मुझे आज्ञा करो, मैं अपने स्थानपर ही केवल तुम्हारी सौंपी हुई सेवाका निर्वाह करनेके लिये लौट जाऊँ। अब और कुछ नहीं कहना है, नाथ! आवश्यकता ही नहीं है कहनेकी। तुम सर्वसाक्षी जो हो! सब कुछ पहलेसे ही तुम जानते रहते हो, भगवन्! साथ ही यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुममें ही तो अधिष्ठित है, विभो! एकमात्र जगन्नाथ तुम्हीं तो हो! मेरे स्वामी भी तुम्हीं हो, श्रीकृष्णचन्द्र! आजतककी मेरी ममतास्पद, अहंतास्पद वस्तुएँ—मेरा जगत्, मेरा यह शरीर—सब कुछ तुम्हें ही समर्पित है, मेरे परमाराध्य! तुम्हारी ही वस्तुएँ तुम्हें अर्पित हैं, भगवन्! अब आगे मुझ दासके लिये मेरे शक्ति-सामर्थ्य, अधिकारके अनुरूप सर्वोत्तम व्यवस्था तुम स्वयं अपने-आप करोगे ही, नाथ!'—

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३९)

जग-अधीस कौ तजि अभिमाना।
अज बोल्यौ, सुनु! कृपानिधाना॥
तुम सर्बग्य, अग्य मैं, नाथा।
यातें बिनय सुनिय, जदुनाथा॥
किंकर जानि, नाथ! निज मोही।
आयसु कछु कीजै जिय जोही॥

और अब अन्तमें वेदगर्भका यह बृहत् स्तवन सम्पुटित हो जाता है श्रीकृष्णनमस्कारसे ही। इसका उपक्रम भी हुआ था व्रजेन्द्रनन्दनकी चरणवन्दनासे; उपसंहार भी हो रहा है उनके ही पादपद्मोंमें प्रणामसे। पितामह अपना नमस्कार निवेदन करते हुए—कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं अनुभव करनेपर भी—दासोचित दीनतासे सनकर इतना और कह जाते हैं—'श्रीकृष्णचन्द्र! अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे सबके चित्तको आकर्षित करनेवाले नीलसुन्दर! मेरे मन-प्राण भी अब सदाके लिये आकर्षित होकर निमग्न हो जायँ इसी श्यामलसौन्दर्य-सिन्धुमें। और जैसे यदुवंशरूप पद्म विकसित हुआ है तुम्हारे दर्शनसे ही, भुवन-भास्कररूप हो तुम इस वृष्णिकुलकमलको प्रस्फुटित कर देनेके लिये, वैसे ही तुम्हारी यह पद्मज-संतान मैं भी सतत प्रफुल्लित हो जाऊँ तुम्हारे कृपाकटाक्षको निहारकर। अहा! तुम्हारे आविर्भावसे ही धरा, देवगण, द्विजवृन्द, धेनुसमूहरूप सागर उद्वेलित हुआ है, इन्हें

तुमने अपूर्व समृद्धिका दान किया है, इनकी अभिवृद्धिके लिये तुम चन्द्ररूप हो गये हो, प्रभो! अतएव मुझ देवाधमका संवर्धन भी तुम नन्दकुलचन्द्रके द्वारा ही सदैव होता रहे—यह उचित ही है, नाथ! प्रभो! पाखण्डधर्मरूप रजनीके घोर अन्धकारको विनष्ट कर देनेके लिये तुम सूर्यरूप हो, चन्द्ररूप हो। मेरा हृत्तल भी अब सदाके लिये आलोकित रहे तुम्हारे दक्षिणनेत्ररूपी सूर्यदेवकी निर्मल रश्मियोंसे, मेरा कण-कण उद्भासित बना रहे इस वामदृग्रूप चन्द्रकी शुभ्र ज्योत्स्नासे, जिससे कि मैं फिर कभी भ्रान्त न हो सकूँ; कभी अपने स्वामीपर मायाविस्तार करनेकी, अपने प्रभुके प्रति पाखण्ड रचनेकी वृत्ति मेरी चित्तभूमिमें उदित न हो सके, यह तिमिर कदापि प्रविष्ट न हो सके मेरे मानसतलमें। स्वामिन्! पृथ्वीके भार होकर उत्पन्न होनेवाले राक्षसोंका विमर्दन करनेवाले हो तुम, ऐसा सूर्यके समान दुष्प्रधर्ष तेज है तुम्हारा। किंतु इनसे द्रोह करके भी तुम इन्हें सुदुर्लभ अपनी गतिका ही दान करते हो, दयामय! कितनी अनुकम्पा भरी है इस दण्ड-विधानमें! बस, तुम्हारा यह तेज सदा मुझे भी अभिभूत किये रहे। तुम्हारा कृपासे परिपूर्ण यह शासन मुझपर भी अनन्तकालतक बना रहे। ब्रह्मराक्षसके तुल्य ही आचरण करनेवाला—तुम्हारे प्राणस्वरूप पार्षद गोपशिशु एवं गोवत्सोंसे विद्रोह करनेवाला सत्यलोकका यह उच्छृङ्खल दास भी सदा इस शासनरूप अनुग्रहकी छायामें ही स्थित रहे। हे महामहिम! महान्-से-महान्के लिये सूर्य-चन्द्र-जैसे अत्यन्त तेजस्वी देवगणके लिये—सबके लिये तुम परम पूज्य हो। सभी निरन्तर तुम्हारी पूजा ही करते हैं। मेरी पूजा भी अङ्गीकार हो जाय, स्वामिन्! बस, इतनी-सी पूजा—मेरे जीवनके शेष क्षणतक, महाकल्पपर्यन्त तुम्हारे पादपद्मोंमें मेरा असंख्य प्रणाम स्वीकृत होता रहे, भगवन्!'—

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४०)

इतनी माँगत, अहो अनंत।
बंदन करौं कल्प परजंत॥

× × ×

जदुकुल जलरुह नवल इव, ताहि सुखद जनु सूर।
धेनु बिप्र छिति सिंधु हित, सुखकर जनु बिधु पूर॥
छिति पर निसिचर घोर, कंसादिक तम सरिस जग।
तिन कहँ रबि कर जोर, तुम नासे प्रभु छिनक महँ॥
जग पाखंड धर्म तम भारी।
तिन कहँ रबि-ससि सम असुरारी॥
तरनि आदि जग तेज जहाँ ते।
तव कटाच्छ लहि भास तहाँ ते॥
बार-बार प्रभु! बिनवौं तोही।
करेहु अनुग्रह अतिसै मोही॥

इस प्रकार पितामहके स्तवनका विराम हुआ और तब उनके आठों नेत्र व्रजराजकुमारके मुखचन्द्रसे जा लगे। वहाँ तो सदा सबके लिये—जो भी कातर होकर आँखें उठाता है, उसके लिये परम आश्वासन भरा ही है। अनादिकालसे अबतक किसे निराशा मिली है नीलसुन्दरके उन सलोने दिव्य दृगोंसे? इसीलिये स्रष्टाके प्राण भी शीतल हो गये। किंतु अब उन्हें शीघ्रातिशीघ्र इस स्थलका परित्याग कर देना है, यह संकेत भी प्राप्त हो चुका है। इसीका अनुगमन वे करते हैं। अपूर्व लहराती हुई भक्तिके आवेशमें वे भूमापुरुष बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी तीन बार परिक्रमा करते हैं, यह सम्पन्न होनेके अनन्तर उनके पादपद्मोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते हैं। बस, अब उन्हें यहाँसे चलना है अपने गन्तव्य स्थान सत्यलोककी ओर। इसीके लिये मौन आदेश है महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका। किंतु ठीक इसी क्षण प्राणोंमें एक स्नेहार्द्र स्पन्दन होने लगा—'अधिक नहीं, दो-एक शब्द भी प्रभुके मुखारविन्दसे मेरे लिये निस्सृत हो

जाते, अहा! श्रवणेन्द्रिय सदाके लिये कृतार्थ हो जाती।' कहना नहीं है कि वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजराजकुमार अपने नाममात्रके भृत्योंके सूक्ष्मतम, नगण्य-से-नगण्य मनोरथका भी कितना आदर करते हैं। और चतुर्मुख तो आज अपना सर्वस्व न्योछावर कर उनके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं। उनके प्राणोंकी यह वृत्ति असफल लौट आये, सो भी व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर ताककर—यह भी सर्वथा असम्भव है। देखते-ही-देखते बाल्यावेशके अन्तरालसे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य झाँककर स्रष्टाके कर्णपुटोंमें पीयूष-सागरका सृजन कर देता है। पितामहके नेत्र तो स्थिर हैं श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंके कम्पयुक्त स्मितपर तथा श्रोतोंमें भर रही है उनकी सुधास्यन्दिनी वाणी। स्रष्टा एक बार तो स्तब्ध हो गये, पर प्राणोंको वाञ्छित प्राप्त हो गया। व्रजराजकुमारने स्रष्टाके उद्देश्यसे इतना-सा कह ही दिया—

तुम ग्याता सब धर्म के, तुम तैं सब संसार।
मेरी माया अति अगम, कोउ न पावै पार॥

श्रीमुख बानी कही, बिलँब अब नैकु न लावहु।
ब्रज परिकर्मा करहु, देह कौ पाप नसावहु॥

ओह! इस समयकी अनुभूति उनके वेदज्ञानके आधारपर निर्मित किसी भी शब्दसे तो व्यक्त होनेसे रही। फिर तटस्थ कोई कहे तो क्या कहे। सचमुच कुछ ऐसा-सा हुआ, मानो पितामहके मन-प्राण विलीन हो गये वहीं, उस वृन्दाकाननके आकाशमें, उन श्रीकृष्णचन्द्रके सुधारसपूरके समान कतिपय शब्दोंकी तरंगोंमें। मन-प्राणकी छायामात्र अवशिष्ट रही स्रष्टाके उस कलेवरमें, जिन्हें लेकर वे सत्यलोककी ओर चल पड़े—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४१)

बार बार परिकर्मा दै कै।
सुंदर बदन बिलोकन कै कै॥
चल्यौ नाथ कौं माथ नवाइ।
अधिकारी पै रह्यौ न जाइ॥

× × ×

एहि बिधि बिधि अस्तुति बहु करेऊ।
तीनि प्रदच्छिन करि पग परेऊ॥
प्रभु-स्वरूप निज हिय महँ राखी।
भवन गयौ, बहु बिनती भाखी॥

इतना ही नहीं, व्रजराजकुमारकी अपरिसीम कृपाका एक निदर्शन पितामहको और भी प्राप्त हुआ था—जिसे वे उनके समक्ष उपस्थित रहते समय जान नहीं पाये, देख नहीं सके। कैसे, कब हुआ, इसकी मीमांसा तो सम्भव नहीं हुई; किंतु जब जगद्विधाता व्रजराजकुमारके चरणप्रान्तसे चलकर, वृन्दारण्यकी, व्रजपुरकी प्रदक्षिणा कर स्वधाम—सत्यलोकके पथमें अग्रसर हो रहे थे, उस समय उन्हें दीखा—वृन्दावनविहारी नीलसुन्दरने अपने वक्षःस्थलको सुशोभित करनेवाली वनमाला उनके उरपर झुला दी है—

करि अस्तुति ब्रह्मा चले, हरि दीन्हौ उर हार।

इस वनमालाके दर्शनसे स्रष्टाकी क्या दशा हुई, इसे कौन बताये। इसे वे ही जानते हैं और जानते हैं अन्तर्यामी। शरीरमें अवशिष्ट वह चेतनाकी छाया भी मानो पुनः लौट आयी व्रजपुरकी रजकणिकामें ही समा जानेके लिये। किंतु सृजन-व्यवहारका निर्वाह भी तो अनिवार्य है। महाकल्पके मध्यमें अनादिकालसे आजतक किसी भी ब्रह्माका परिवर्तन हुआ जो नहीं। इसीलिये व्रजराजनन्दनकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने स्रष्टामें समयोचित धैर्यका विकास किया। वे प्रकृतिस्थ कर दिये गये। अवश्य ही अभी भी उनका अणु-अणु पुकारता जा रहा है—

धनि बछरा, धनि बाल, जिनहिं तैं दरसन पायौ।
उर मेरौ भयौ धन्य, कृष्न माला पहिरायौ॥
धनि जसुमति, जिन्ह बस किये अबिनासी अवतारि।
धनि गोपी, जिनकैं सदन माखन खात मुरारि॥

धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्य ये ब्रजके बासी।
धन्य जसोदा-नंद, भक्ति-बस किय अबिनासी॥
जोगी जन अवराधि फिरत जिहि ध्यान लगाऐं।
ते ब्रजबासिनि संग फिरत अति प्रेम बढ़ाऐं॥

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने अनन्त ऐश्वर्यके आवरणको वहीं, पूर्वकी भाँति, बाल्यावेश-रससिन्धुकी ऊर्मियोंमें ही डुबाकर उन्मुक्त विहार करने लग जाते हैं, उन लहरोंमें ही अवगाहन करने लगते हैं। बङ्किम नयनसरोजोंमें गोवत्सोंकी प्रतीक्षा झाँकने लगती है। एक वर्ष पूर्व जैसे उस दिन गोवत्स-अन्वेषणके प्रयाससे उनके सुन्दर भाल एवं सुचिक्कण कपोलोंपर प्रस्वेद-बिन्दुके दर्शन होने लगे थे, ठीक वैसी ही शोभासे श्रीकृष्णचन्द्रका मुखचन्द्र रञ्जित हो उठा। किंतु अब तो पट-परिवर्तन हो चुका था, दूसरे दृश्यकी अवतारणा अपेक्षित है। अतएव अविलम्ब वे सर्वथा सामनेके ही तृणसंवलित सुविमल भूभागकी ओर देखने लगते हैं और तुरंत उन्हें दीख जाता है—'अहा! यह रही गोवत्सराशि! नवतृणाङ्कुरोंका आस्वादन ले-लेकर ये मेरे वत्ससमूह परमोल्लासमें भरे कितने हर्षसे संचरण कर रहे हैं!'—

भुवि सुविमलायां नवतृणाङ्कुराचामोदारमोदा रभसेन चरन्ती पूर्ववत्सा वत्सावलिरथ रथचरणपाणिना ददृशे।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पितामहके द्वारा स्थानान्तरित किये हुए, किसी निभृत गिरिगह्वरमें स्थापित वे गोवत्स तुरंत वहाँ कैसे आ गये—इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि एक ओर पितामह रङ्गमञ्चसे अदृश्य होने चले, तथा दूसरी ओर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाने उन अनन्त गोशावकोंको उस मृदुल तृणमयी भूमिपर उपस्थित कर दिया, उनपरसे अपनी छाया अपसारित कर ली और वह वत्ससमूह पहलेके समान ही—सर्वथा एक वर्ष पूर्वकी, उस क्षणकी मुद्रा एवं स्वभावमें अवस्थित होकर ही—वहाँ घूमने लग गया। इतना ही नहीं, वे असंख्य गोपशिशु भी वहीं तरणितनयाके पुलिनपर उसी प्रकार विराजित कर दिये गये। भावसमाधिसे जागे हुए उन शिशुओंके नेत्रोंमें भी वैसे ही उनके कन्हैया भैया भर आये, सर्वथा वैसे ही वे देखने लग गये—'अरे, वह देखो, वहाँ है कन्नू, उस तमालश्रेणीके अन्तरालमें!' साथ ही पुलिनका सूक्ष्मतम अंशतक पूर्ववत् साज-शृङ्गारसे सुसज्जित हो उठा। वे शृङ्ग, वेणु, वेत्र, छीके, वे कमलपत्र, कमलदल आदिसे निर्मित भोजनपात्र—और तो क्या, विविध फलोंसे निकाले हुए, दूर निक्षिप्त हुए छिलकेतक—सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों यथास्थान व्यक्त हो गयीं।

अब एक बार वहाँका समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो उठता है श्रीकृष्णचन्द्रके सुमधुर वंशीरवसे। तृण चरते हुए उन असंख्य गोवत्सोंके कर्णपुटोंमें भी यह झंकृति जा पहुँचती है। वास्तवमें इस समय वंशी बजी ही है उनके उद्देश्यसे, उनका आह्वान करनेके लिये, उनको एकत्र कर लेनेके लिये। अपने चिरपालकके संकेतोंसे वे सर्वथा परिचित भी हैं। इसीलिये क्षणभरका भी विलम्ब नहीं होता। ओह! अर्द्धचर्वित तृणाङ्कुर मुखसे फेंक-फेंककर वे सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आकर उन्हें वेष्टित कर लेते हैं। और तब व्रजेन्द्रनन्दन भी उनको लेकर—जहाँ एक वर्ष पूर्व वे अपने सखा गोपशिशुओंके साथ वन-भोजनके परमानन्दमें विभोर हो रहे थे—उस यमुनापुलिनपर ही चले आते हैं—

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान्।
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४२)

कालमानसे एक वर्षकी अवधि समाप्त हो चुकी है, इतने समयके पश्चात् वे गोपशिशु अपने जीवनसर्वस्व प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्रसे मिल रहे हैं। किंतु उन्हें तो यही अनुभूति है कि आधा क्षण बीतते-न-बीतते उनके कन्हैया भैया गोवत्सोंको ढूँढ़कर साथ लिये वहाँ उनके समीप आ पहुँचे हैं। वर्षव्यापी श्रीकृष्णवियोगकी गन्धतक उन्हें नहीं मिली; क्योंकि योगमायाशक्तिके

अमित प्रभावसे उनके ज्ञानका वह अंश आवृत हो चुका था। ऐसी कल्पना उदय होनेतकके द्वार रुद्ध कर दिये गये थे। कालजनित अवश्यम्भावी परिणामपर भी योगमायाने अपनी तूलिका फेर दी थी। बालकोंकी भोजन-सामग्री, मोदक, शाक, व्यञ्जन आदि भी पर्युषित न हो सके, सर्वथा अविकृत ज्यों-के-त्यों वे सब-के-सब हैं। पुष्पपल्लवरचित भोजनपात्रोंकी चमक-दमक भी वैसी ही है, यहाँतक कि उनके मुखके अर्द्धचर्वित ग्रासका स्वाद भी वैसा ही बना है। कोई चिह्न नहीं जिसके आधारपर वे इस वियोगका आभास पा ले सकें। फिर भी इसमें विस्मयके लिये कोई स्थान नहीं। प्राकृत मन भले ही श्रीकृष्णचन्द्रकी योगमायाके अनन्त अघटनघटनसामर्थ्यका अनुसंधान पानेमें कुण्ठित हो जाय, उस चिन्मय वैभवके कणमात्रको भी छू लेनेमें सदा असमर्थ बना रहे; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी दुरत्यय गुणमयी मायाशक्तिके प्रभावसे तो वह चिरपरिचित है ही। ओह! उससे मोहित हुए जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते? जगत्के समस्त जीवोंकी कैसी दशा है! अनादि बहिर्मुखताके कारण इसी मायासे वे सब-के-सब मोहित हो रहे हैं, मोहित होकर अपने आत्मस्वरूपको ही भूले हुए हैं तथा इसी आत्मविस्मृतिका यह परिणाम है कि देहको 'मैं' एवं पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, विषय-सम्पदाको ही 'मेरा' अनुभव कर वे अशेष भवयन्त्रणाकी पीड़ा निरन्तर सह रहे हैं! अनन्त शास्त्र अपने आलोकका दान कर रहे हैं जीवोंकी अनादि अज्ञान-रात्रिका तिमिर हर लेनेके लिये। अगणित आचार्य, संत-महंत द्वारपर आते हैं अज्ञाननिद्रासे जगाकर उसे प्रबुद्ध कर देनेके लिये। पर जीवकी मोहनिशा समाप्त नहीं होती, वह जागता नहीं। आँखें खोलकर वह देखता नहीं, महाप्रबोधको सुनकर भी उसे अपने स्वरूपकी अनुभूति नहीं होती, इतना समझानेपर भी वह निरन्तर अपने-आपको भूले ही रहता है। ऐसा दुरन्त प्रभाव है श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बहिरङ्गा मायाशक्तिका ही। फिर उनकी योगमायाके विलासका—उनकी अन्तरङ्गा शक्तिकी महामोहनताका रूप कितना अद्भुत है, हो सकता है—यह कौन कह सकता है? जो हो, व्रजेन्द्रनन्दनकी योगमायाके महाप्रभावसे ही गोपशिशुओंको इस श्रीकृष्ण-विच्छेदका अनुभव ही नहीं हुआ तथा एक वर्षकी अवधि उन्हें क्षणार्धमात्र प्रतीत हुई—

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः।
कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः॥
किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः।
यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४३-४४)

बीत्यौ जदपि बरष इक काल, बिछुरे सुंदर मोहनलाल।
तदपि अर्द्ध छिन मानत भए, अद्भुत प्रभुकी माया छए॥
कवन-कवन माया नहिं भूले, जगत-हिंडोरे बड्डे झूले।
ये कछु माया करि नहिं मोहे, प्रभु की इच्छा करि अति सोहे॥

किंतु उनके अनुभवका वह आधा क्षण ही उनके समस्त आनन्दोच्छ्वासको प्रशमित कर देनेके लिये पर्याप्त था। भोजन करते-करते बीचमें ही उनके प्राणाराम कन्नू भैयाका उन्हें छोड़कर चला जाना साधारण घटना नहीं है। यद्यपि निर्निमेष नयनोंसे वे मानो सतत देख-से भी रहे थे अपने कन्हैया भैयाको ही, पर पुलिन-भोजनके उल्लासका स्रोत तो सर्वथा रुद्ध हो चुका था। इसीलिये अब इस समय जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उनके समीप आते हैं कि बस, प्रत्येक शिशुकी धमनीमें तड़ित्-लहरी-सी दौड़ जाती है। ओह! उनके प्राणोंकी वह उत्कण्ठा, नीलसुन्दरके स्वागतकी प्रेमिल त्वरा, उनके रोम-रोमसे प्रसरित आनन्दकी वह कल्लोलिनी—श्रीकृष्णचन्द्र तो बहने-से लग जाते हैं इसी धारामें! एक साथ समस्त शिशु अपने-अपने आसनसे उठ पड़ते हैं। किसीने नीलसुन्दरके करपल्लवको अपने हाथमें लिया। एकने उनकी ग्रीवामें अपनी भुजाएँ डाल दीं; उसके युग्म करतल विभूषित हैं अन्नग्राससे, मुट्ठियाँ बँधी हैं और वह झूल रहा है अपने कन्हैया भैयाके कण्ठदेशमें! कुछ शिशुओंने पीत दुकूलके भिन्न-भिन्न अंश धारण कर लिये। कैसे हुआ, इसका समाधान बहिर्मुख मन तो पानेसे रहा;

पर सचमुच हुआ यह कि क्षणमात्र पूर्ण होनेसे पूर्व ही वे असंख्य शिशु अपने प्राणसखाके श्रीअङ्गोंसे जा चिपटे; सबने स्पर्श पा लिया, प्राणोंकी प्रथम ललक पूरी कर ली। श्रीकृष्णचन्द्र भी उनके मध्यमें विराजित रहकर, स्वयं भी इस अप्रतिम सख्यरस-सुधाका अविराम पान करते हुए झूल रहे हैं; तुमुल आनन्दकोलाहलके नादसे निनादित होकर वहाँकी वनस्थली भी झूम रही है। चर, अचर, स्थावर, जंगम—सभी स्पन्दित हो रहे हैं। अस्तु, मिलनसुखका आवेग शान्त होनेसे पूर्व ही कतिपय वयस्क शिशु अतिशय उतावले होकर बोल उठे—'अरे भैया कन्नू! तुम भले आये। आशा नहीं थी, पर तुम तो इतनी शीघ्रतासे वत्सोंको लेकर लौट आये कि क्या कहें!' इतनेमें तोक अतिशय सरस स्वरमें कहने लगता है—'इसीलिये तो मैंने स्वीकृति दी थी, मैं तो जानता ही था कि कन्हैया भैयाने वंशी बजायी और बस, तरुश्रेणीकी ओटमें बिखरे हुए, दूर चले गये गोवत्स दौड़कर बाहर आ जायँगे, मिल जायँगे और तब हमलोग कन्हैया भैयाके साथ भोजन करेंगे!' फिर तो अपने प्राणोंका समस्त प्यार लेकर सभी शिशु एक स्वरमें पुकार उठते हैं—'भैया रे! आ जा, देख ले, तेरे बिना एक भी ग्रास हम अपने मुखमें न रख सके। और यह ले, आह! अबतक तूने भी एक कौर नहीं खा पाया, हाथका ग्रास हाथमें लिये ही तू लौट आया। नहीं-नहीं, अब तनिक भी विलम्ब मत कर, चल, अब सुखपूर्वक भोजन तो कर ले।'

ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४५)

मोहे-से तब कहत हैं बाल, बेगिहिं आए मोहनलाल।
एकौ कवल न पावन पायौ, भैया! तो बिनु जाइ न खायौ॥
तैंहूँ तौ हम बिन नहिं खायौ, हाथ कवल वैसैं ही आयौ।
आवहु, बैठहु, भोजन करैं, इत ये बच्छ कच्छ में चरैं॥

शिशुओंकी इस उक्तिके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर एक समुज्ज्वल हास भर जाता है—

जब ऐसैं बोले ब्रजबाल, बिहँसन लागे नँदके लाल।

भुवनभास्कर पश्चिम गगनमें ढल चुके हैं। श्रीकृष्णचन्द्र कलिन्दनन्दिनीके उस पुलिनपर अपने पूर्वके आसनपर ही सखाओंसे आवृत होकर उनके साथ भोजन करते हैं! परमानन्दमें भरकर शिशु अपने इच्छित भोजनद्रव्योंको पूर्वकी भाँति ही कन्हैया भैयाके हाथपर, मुखमें रखते जा रहे हैं और बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र, उनकी प्रीतिके उपहारका रस लेते हुए, सराहना करते हुए हँस-हँसकर भोजन कर रहे हैं; साथ ही अपनी रुचिकी खाद्य वस्तु अपने सखाओंके होठोंपर रखकर सुखसे विभोर होते जा रहे हैं—

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः।

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४६)

मंडल करि बैठे पुनि आछें, जैसें बान बन्यौ हौ पाछें।
अति रुचि सौं मिलि भोजन कर्यौ, इहि बिधि वा बिधि कौ मद हर्यौ॥

उधर सत्यलोकमें अभी भी स्रष्टाकी विचित्र ही दशा है। वे ब्रह्मपदके आसनपर आसीन अवश्य हैं; किंतु उनके सामनेसे इस समय 'तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः'—इन लोकोंका व्यवधान अन्तर्हित हो चुका है और वे व्रजराजकुमारके पुलिन-भोजनके प्रत्यक्ष दर्शन पा रहे हैं। पुनः उनका धैर्य शिथिल हो गया है एवं प्राणोंमें एक रसमय हाहाकारकी लहर-सी उठ रही है—'आह! कदाचित् मेरा कौएका शरीर होता! फिर तो मेरे सौभाग्यकी सीमा नहीं रहती! प्रभु व्रजराजकुमारके अधरामृतसे सिक्त दधिमिश्रित इन बिखरे हुए अन्नकणोंको अपनी चोंचसे चयनकर, इस सुविमल दिव्यातिदिव्य सीथ-प्रसादसे उदरपूर्ति करके मैं कृतार्थ हो जाता।'

सीथ जु परैं दही-रस भरे, सदन जाइ बिधि लालच खरे।
काक न भयौ, फिर्यौ इतरातौ, चुनि-चुनि सुंदर सीथन खातौ॥

एक वर्षके व्यवधानके बाद श्रीकृष्णका पुनः ब्रह्माजीके द्वारा अपहृत गोपबालकों एवं गोवत्सोंके साथ व्रजमें लौटना और बालकोंका अपनी माताओंसे अघासुरके वधका वृत्तान्त इस रूपमें कहना मानो वह घटना उसी दिन घटी हो; व्रजगोपियों तथा व्रजकी गायोंके स्नेहका अपने बालकों एवं बछड़ोंसे हटकर पुनः पूर्ववत् श्रीकृष्णमें ही केन्द्रित हो जाना

श्रीकृष्णचरण-सरोजोंसे स्पृष्ट हुआ अजगरका वह मृत शरीर अभी भी ज्यों-का-त्यों बना है—ठीक इस प्रकार, मानो आज अभी कुछ समय पूर्व ही अघासुर-मोक्षकी लीला सम्पन्न हुई हो। एक वर्षपर्यन्त व्यतीत हुए कालकी प्रतिक्रिया उसपर भी तनिक-सी नहीं हुई। योगमायाकी छायाने उसे ढककर वैसे ही अविकृत बने रहने दिया—

योगमाययैव तावत्कालपर्यन्तं तत्तदाच्छादितमासीदिति ज्ञेयम्।

(सारार्थदर्शिनी)

अस्तु, इसीकी ओर व्रजेन्द्रनन्दन अपने सखाओंका ध्यान आकर्षित करने लगते हैं। वन-भोजनके अनन्तर वनसे व्रजमें लौटते हुए वे जान-बूझकर इसी पथसे आये और उस महाविशाल सर्पके मज्जारक्तपङ्किल प्राणशून्य कलेवरकी ओर संकेत कर बोले—'अरे भैयाओ! मरा हुआ साँप तो वैसे ही पड़ा है, उधर भी पुनः देख भर लो तो सही।' फिर तो कतिपय चञ्चल शिशु उसी ओर छूट पड़े, हर्षातिरेकवश उच्चस्वरसे पुकार उठे—

अहो महोज्ज्वलं नः खेलागह्वरमिदं जातमिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे, रे, भैया! यह तो हमलोगोंके खेलके लिये एक बड़ी ही सुन्दर गुफा बन गयी रे!'

किंतु अब संध्याके किञ्चित् रक्ताभ श्याम परिधानकी आभा वनप्रान्तरोंमें, आकाशमें परिव्याप्त हो चुकी थी। कौतुकका अब समय जो नहीं रहा था। साथ ही अजगरके चर्मको दिखानेका उद्देश्य तो था कि बस, अतीतका संस्मरणमात्र उद्बुद्ध हो जाय। वह हो चुका। अतएव श्रीकृष्णचन्द्र उन शिशुओंको निवारणकर झूमते हुए आगे ही बढ़ते चले गये, वे व्रजकी ओर ही अग्रसर होने लगे—

दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम्।

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४६)

चले घरनि अजगरहि दरसते, हियनि सरसते, सुखन बरसते।

× × ×

गृह कहुँ चले बाल लिएँ साथा।
अजगर-चर्म देखावत नाथा॥

और इस व्रजप्रवेशके समय उनके महामरकत-श्याम श्रीअङ्गोंकी निराली शोभा, उनकी विविध रसमयी चेष्टाएँ और व्रजपुरन्ध्रियोंकी प्रतीक्षा—बस, देखते ही बनती है। मस्तक तो मयूरपिच्छनिर्मित मनोहर मुकुटसे मण्डित है। घुँघराली अलकोंमें विविध वर्णके मँह-मँह करते हुए कुसुमसमूह गुम्फित हो रहे हैं। अन्य अङ्गोंमें भी यथायोग्य कुसुमोंके ही आभरण सुशोभित हैं। अत्यन्त नवीन, रंग-बिरंगी गैरिक आदि वन्यधातुओंसे श्याम कलेवरपर सुन्दरातिसुन्दर विविध चित्रोंका निर्माण किया हुआ है। अपने बिम्बविडम्बी अधरोंपर कभी तो वे वंशीको धारणकर उससे अनेक रसमय अत्यन्त स्फुट स्वरोंका सृजन करते हैं, कभी तरुपत्रोंको मोड़कर बनाये हुए वाद्ययन्त्र (सीटी)-में अपने परम सुरभित मुखश्वास भरकर

अद्भुत मनोहर रागकी एक ऊँची अतिशय मधुर तान छेड़ देते हैं और कभी गूँज उठता है उनका मेघगम्भीर शृङ्गनाद। इस प्रकार वाद्योत्सवमें वे निमग्न हो रहे हैं। उनकी वह सखामण्डली परमानन्दमें डूब रही है। प्रत्येक शिशु अपने हृत्तलके सुखको अवरुद्ध करनेमें असमर्थ होकर मधुर उच्च स्वरसे उनकी ही पवित्र कीर्तिका गान कर रहा है, प्रत्येकके कण्ठसे व्रजेन्द्रनन्दनकी ही प्रशंसाके गीत झर रहे हैं; सर्वथा अपनी ही प्रतिभासे रचित एवं तालबन्धके साथ गाये हुए उन मधुर गीतोंमें एकमात्र भरा है नन्दनन्दनके सुयशका वर्णन, अघासुर आदिके उद्धारके समय व्यक्त हुई उनकी बाल्यचेष्टामयी पुनीत कीर्तिका चारु चित्रण और फिर वे नन्दलाडिले सहसा कभी इन समस्त गान-वाद्यके राग-रंगका विराम करके उन गोवत्सोंका नाम ले-लेकर आह्वान करने लगते हैं, इस अद्भुत गान-वाद्यके उत्सव-सुखसे विभोर, विह्वल, उच्छृङ्खल हुई अपार गोवत्सराशिको संयत करने लगते हैं; अपने परम सुखद करस्पर्शके दानसे, अनेक नवीन-नवीन प्रेमिल चेष्टाओंसे इनका उपलालन करते हुए इन्हें बुला-बुलाकर गन्तव्य दिशाकी ओर प्रेरित करने लगते हैं। उधर प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये वात्सल्यवती गोपसुन्दरियाँ अपने समस्त कार्य स्थगितकर, सब कुछ विसर्जितकर—भूलकर एकमात्र इनकी ही आकुल प्रतीक्षामें उन्मादिनी-सी हुई अपने द्वारोंपर आकर खड़ी हैं; उनके नेत्र केन्द्रित हैं उस दिशामें, वनके उस पथकी ओर ही, जिधरसे ये व्रजेन्द्रनन्दन आयेंगे—नहीं-नहीं, आ रहे हैं। वंशीनाद गूँज जो रहा है। अहा! वह देखो, वे रहे उनके प्राणाराम श्रीकृष्णचन्द्र! दृगोंमें वह श्याम-ज्योति पूरित हो गयी। फिर कहाँ सम्भव है इससे आगेकी दशाका चित्रण। जो हो, इस प्रकार अद्भुत—विचित्र साज-शृङ्गारसे विभूषित हुए, अपनी परम रमणीय चेष्टाओंसे पद-पदपर सुख-सरिताका सृजन कर उसमें अवगाहन करते हुए, सखाओंको निमग्न करते हुए गोपीजन-नयनानन्दवर्धन श्रीकृष्णचन्द्रने व्रजपुरमें प्रवेश किया—

बर्हप्रसूननवधातुविचित्रिताङ्गः
प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति-
र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४७)

गातनि धात के चित्र बनाए।
सीसनि मोर के चंद सुहाए॥
बेनु-सृंग-दल ललित बजावत।
नव-नव गीत पुनीतन गावत॥
पंकज फेरत, बछरन घेरत।
लै-लै तिन के नाम निबेरत॥
गोपि-दृगन के उत्सव रूप।
ब्रज आए नँद-नंद अनूप॥

× × ×

बरह, सुमन, नव धातु अनूपा।
तिन करि तन चित्रित बहु रूपा॥
बेनु-सृंग-दल-रव अति सोहन।
करत हास-रस आवत मोहन॥
गनत बत्स, पोंछत करनि, मंद मंद मुसुकात।
गुन गावत आवत सखा, गोपिन सुखप्रद तात॥
एहि बिधि करत केलि जदुनंदा।
आए निज गृह आनँदकंदा॥

व्रजरानी एवं व्रजराजके कर्णपुटोंमें भी अपने नीलमणिके वंशीनादकी सुधा पूरित हो चुकी थी। दोनोंपर ही उसका उन्मादी प्रभाव व्यक्त हो चुका था। ध्वनिने उसके मन-प्राणोंको भी आकर्षित कर लिया था। और फिर वात्सल्य-स्नेहकी ऐसी प्रखर धारा उमड़ी कि हृदय विगलित हो उठा, मन-प्राणोंके पीछे वह भी बह चला उसी दिशामें तथा अब उनके शरीर प्रासादमें, गोष्ठमें अवरुद्ध रहें—यह कहाँ सम्भव था। और दिन तो गृहतोरणके समीप ही नीलसुन्दरकी बाट देखी जाती, पर आज देखते-ही-देखते व्रजदम्पति भी तोरणसे बहुत आगे विस्तीर्ण, उन्मुक्त राजपथपर आकर अवस्थित हो गये हैं—

स्नेहभरनिर्भरनिर्भुग्रहृदयाभ्यां तन्मुरलीनाद-गुणेनाकृष्टाभ्यां पितृभ्यां प्रतोलीतलमुपसेदे।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

वे न जाने और भी कितनी दूर आगे बढ़ जाते, पर उनकी आँखोंमें भी पूर्ण हो गयी वह इन्द्रनीलद्युति; वहींसे उन्हें मानो अपने प्राणोंकी एकमात्र निधि प्राप्त हो गयी। साथ ही सात्त्विक भावोंका उन्मेष हो आया। जडिमासे समस्त अङ्ग अवश हो गये। जहाँ-के-तहाँ वे शान्त खड़े ही रह गये। उनमें गतिका संचार तो तब हुआ, जब नीलसुन्दर सर्वथा सामने निकट-से-निकट आकर उपस्थित हो गये अपनी जननीके भुजपाशमें बँध जानेके लिये। व्रजेश्वर तो एक-दो पग चलकर भी सजल नेत्रोंसे देखते ही रहे, पर व्रजरानी प्राणोंकी ललक लेकर दौड़ीं और श्रीकृष्णचन्द्रको उन्होंने अपने अङ्कमें धारण कर लिया। ओह! इस मिलन-सुखका वर्णन कोई कैसे करे। इसमें एक विचित्र विशेषता है। यह मिलन है तो एक दैनंदिनी घटना, पर प्रतिदिन ही इसमें गत दिवसकी अपेक्षा सुखकी एक ऐसी अभिनव अप्रतिम लहर परिव्याप्त हो जाती है, जिसकी झाँकी इस प्राकृत जगत्में कहीं सम्भव जो नहीं। कदाचित् वे चञ्चल असंख्य शिशु श्रीकृष्णचन्द्रके साथ न हों, अपनी विविध चेष्टाओंसे, तुमुल आनन्द-कोलाहलसे प्रतिदिन ही भावान्तर उत्पन्न कर देनेमें हेतु न बन जायँ, तो कहना कठिन है कि मैयाकी यह नित्य-नूतन सुखमयी मिलन-समाधि कितने कालके पश्चात् टूट पाये। और आज तो इन बालकोंको बड़ी त्वरा है वनकी एक विशेष घटना सुना देनेकी। इसीलिये शीघ्र-से-शीघ्र मैयाका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयास आरम्भ हो जाता है।

इन अगणित शिशुओंकी माताएँ वहीं खड़ी हैं। आज उन माताओंका ध्यान पुनः अपनी संतानकी ओर नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर है। निरन्तर एक वर्षतक अपनी ही संतानके प्रति उमड़ता हुआ प्यार आज सहसा अन्तर्हित क्यों, कैसे हो गया—इस ओर उनकी वृत्ति ही नहीं। मानो क्षणभरके लिये कभी कोई भी अन्तर उनके भावप्रवाहमें हुआ ही न था, सदा श्रीकृष्णचन्द्र ही उनके मन-प्राणोंमें समाये हुए हैं, इस प्रकार आकुल नेत्रोंसे वे नन्दनन्दनको निहार रही हैं। यन्त्रकी भाँति कतिपय गोपसुन्दरियोंने अपनी गर्भजात संतानको गोदमें भी उठा लिया, स्वाभाविक वात्सल्यवश हाथसे पुत्रके अङ्गका धूलि-सम्मार्जन भी वे करती जा रही हैं; पर उनके नेत्रोंमें भी भरे हुए हैं श्रीकृष्णचन्द्र। उनके प्राणोंकी वृत्ति भी समायी हुई है श्रीकृष्णचन्द्रमें ही, पर आज शिशुओंने इन अपनी माताओंको ही माध्यम बनाया व्रजरानीको अपनी ओर अभिमुख कर लेनेके उद्देश्यसे। अपनी माताओंका अञ्चल धारणकर, बड़े उल्लासमें भरकर वे सब कहने लगते हैं—'री मैया! क्या कहूँ? ऐसी बात है कि सुनते ही सबका मन अत्यन्त आश्चर्यसे भर उठेगा और हम सबोंके लिये भी थोड़ी हँसनेकी-सी बात हो गयी। हमारे कन्नू भैयाने काम तो बड़े ही साहसका किया। ओह! बलिहारी है इसके साहसकी! बस, पूछ मत, दूसरेके लिये तो वह अत्यन्त दुष्कर है—अरे दुष्कर क्या, दूसरा उसे कर ही नहीं सकता। पर है वह बहुत ही विनोदकी बात। इतना ही नहीं, हमलोग तो आज सब-के-सब मूर्ख सिद्ध हो गये, ठगे गये थे, भीषण विषकी प्रचण्ड अग्निमें भस्म हो गये थे; पर धन्य है कन्हैया भैयाकी चतुराईको! यह चतुरशिरोमणि जो ठहरा। इसने तुरंत हम सबोंको जीवित कर लिया।'

जननि! जननितान्तविस्मापकं स्मापकं चास्माकमतिसाहसपुष्करं दुष्करं दुरासदं रासदं कर्म कृतवान् अस्मानपि विषमविषमहानलदग्धा-नविदग्धानविलम्बेनैव जीवयामास च स चतुरशिरोमणिः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

यह सुनते ही माताएँ तो सन्न रह गयीं। केवल दो-एक अपने दुर्-दुर् करते हुए हृदयको दबाकर—'हैं! क्या हुआ? कैसे हुआ?'—कहकर चिल्ला उठीं। शिशु तो कहनेके लिये उतावले थे ही। उन सबने अतिशय उच्च स्वरसे सबको सुना-सुनाकर कहना आरम्भ

किया—'री! तुम सब ध्यानसे सुनो, आज यशोदा मैयाके लाड़िलेने, इस नन्दनन्दनने एक महाविशाल अजगरको मार डाला और हम सबोंके प्राण बचा लिये।'

अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना।
हतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४८)

बीत्यौ एक बरष जिहिं काल, ब्रज में कहत भए ब्रजबाल।
आज एक नंद-जू के लाल, मार्‌यौ ब्याल महा बिकराल॥

फिर तो व्रजरानी भी भावसमाधिसे जागीं ही। उन्होंने भी आदिसे अन्ततक वनमें घटित आजकी इस घटनाका पूर्ण विवरण सुन ही लिया। अपने नीलमणिको वामहस्तसे अङ्कमें धारण किये एवं दक्षिण हस्तकी तर्जनी होठोंपर रखकर विस्फारित नेत्रोंसे वे पासमें खड़े श्रीव्रजेश्वरकी ओर देखने लग जाती हैं, किंतु व्रजेश्वरके नेत्र निमीलित हैं। वे मन-ही-मन अपने एवं अपनी प्रजा व्रजवासीजनोंके पुत्रोंकी अयाचित ऐसी रक्षाके लिये अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें न्योछावर हो रहे हैं! जो हो, परस्पर बड़ी देरतक यही चर्चा चलती रहती है, किंतु इसी बीचमें व्रजरानीको अपने नीलमणिके मुखपर वन-भ्रमणकी श्रान्ति दीख गयी और वे तनिक भी विलम्ब न कर अपने गृहकी ओर चल पड़ीं। नीलसुन्दर उनके अङ्कमेंसे उतरकर आगे-आगे चले और जननी स्नेह-विह्वल हुई पीछे चलीं। सामने रोहिणी मैयाके दर्शन हुए। श्रीरोहिणीने भी प्राणोंकी ललकसे श्रीकृष्णचन्द्रको अपने अङ्कमें भर लिया। पर दाऊ भैया कहाँ गये?—नीलसुन्दरने एक ही प्रश्नकी झड़ी लगा दी। रोहिणी माताके अन्य समस्त स्नेह-मनुहारकी ओर जैसे आज इस समय उनका ध्यान ही नहीं। बलराम-जननीने भी किञ्चित् हँसकर गृहालिन्दकी ओर संकेत कर दिया। मैयाके संकेतका तात्पर्य स्पष्ट था, श्रीकृष्णचन्द्र जान गये—दाऊ भैया रूठे बैठे हैं। आज वन न जानेका, रोक लिये जानेका इतना दुःख बलरामको हुआ कि उन्होंने भोजनतक नहीं किया—यहाँतक कि वंशीनाद सुनकर भी अपने अनुजका स्वागत करने भी वे नहीं आये। क्यों आयें? वास्तवमें उन्हें दोष तो अनुजका ही प्रतीत हुआ। 'कन्नू यदि मुझे भी साथ ले चलनेका हठ कर लेता अथवा मेरे शास्त्रोचित कृत्य जन्म-नक्षत्रोत्सवके अनन्तर किञ्चित् विलम्बसे वन जाता तो मैया बाध्य हो ही जाती मुझे भी साथ भेज देनेके लिये।' यह भावना रह-रहकर उनके नेत्रोंमें अश्रुसंचार कर देती और वे अलिन्दपर ही मुँह फुलाये बैठे रहते। पर अब धैर्य कहाँ, श्रीकृष्णचन्द्र 'दाऊ भैया' कहकर उन्हें पुकार जो रहे हैं। स्तम्भकी ओटसे एक परम सुन्दर समुज्ज्वल गौर तेजोमयी चञ्चल ज्योति-सी निकली और श्रीकृष्णचन्द्रके कण्ठसे जा लगी। अग्रज-अनुजको इस प्रकार मिलते देखकर दोनों माताओंके नेत्र पुनः छलक उठे।

अब पर्याप्त अतिकाल हो चुका है। इसलिये जननी पुत्रसंलालनमें लग जाती हैं। इतनी देर गोपसुन्दरियोंकी—नहीं-नहीं, वहाँ उपस्थित समस्त व्रजवासियोंकी दृष्टि तन्मय हो रही थी श्रीकृष्णचन्द्रमें; पर अब तो व्रजरानी अपनी इस अप्रतिम निधिको लेकर प्रासादके अन्तर्भागमें प्रविष्ट हो गयीं। अब चार पहरके लिये यह अवसर नहीं कि निकटसे नील-सुन्दरको निहारकर उनके नेत्र शीतल होते रहें। अतएव वे सब भी अपने आवासकी ओर चल पड़ते हैं; पर जा रहे हैं यन्त्रवत्, केवल शरीरसे ही। उनका मन तो वहीं नन्दभवनमें ही संनद्ध है, श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वह मन अन्यत्र जा जो नहीं सकता। एक वर्षके लिये श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने एक रचना रच दी थी। स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन ही उन सबके गृहोंमें उनके पुत्र होकर क्रीड़ा कर रहे थे। केवलमात्र नाम एवं आकृति उनके गर्भजात संतानकी थी, पर वास्तवमें वहाँ नन्दनन्दनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था, कोई नहीं था; उन असंख्य शिशुओंके स्थानपर केवल सर्वत्र भरे थे श्रीकृष्णचन्द्र ही। इसलिये बाह्यदृष्टिमें उनकी वृत्ति अपने पुत्रोंके प्रति ही सम्पूर्णतया आकर्षित हो जानेपर भी वह वस्तुतः केन्द्रित थी—तन्मय थी यशोदानन्दनमें ही। किंतु आज

उस एक वर्ष पूर्वकी ही धाराका संगम हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र पितामहके मनोरथ पूर्णकर अपने स्थानपर अवस्थित हो गये। शिशु ब्रह्ममोहनका अभिनय हो जानेके अनन्तर अपने स्थानपर आ गये। तब गोपसुन्दरियाँ भी अपने उस पूर्वके भावमें निमग्न होंगी ही, हो ही गयीं। सब कुछ वैसे-के-वैसे हो ही गया। जिस प्रकार आजसे एक वर्ष पूर्व वे संध्या-समय श्रीकृष्णचन्द्रको नन्द-भवनतक पहुँचाकर, उनका अनुगमन कर गृह लौटती थीं, ठीक वैसे ही, उसी भावनामें बहती हुई वे आज भी अपने गृहकी ओर लौटी जा रही हैं, लौट आयी हैं। स्वाभाविक वात्सल्यवश अपने-अपने पुत्रोंको अङ्कमें धारण करके आयी हैं तथा आकर उनका संलालन भी कर रही हैं, पर उनकी आँखोंमें भरा है नन्दप्राङ्गण और वे वहींसे स्पष्ट देखती जा रही हैं—'वह देखो, व्रजरानी नीलमणिको स्नान करा रही हैं, उनका गात्र-सम्मार्जन कर रही हैं, केश-संस्कार कर रही हैं आदि।'

व्रजवासियोंकी, विशेषतः इन वात्सल्यवती गोप-सुन्दरियोंकी यह भावना—अपनी गर्भजात संततिकी अपेक्षा भी अत्यधिक, अपरिसीम मात्रामें व्रजेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उनके स्नेहका यह प्रवाह आपाततः आश्चर्यका विषय अवश्य है; क्योंकि सौन्दर्य, माधुर्य एवं दैहिक सम्बन्धको लेकर ही तो प्राणोंका प्यार प्रसरित होता है। इसमें भी दैहिक सम्बन्धकी ही प्रधानता रहती है। अपनी संतान सुन्दर न हो, गुणहीन हो, एवं किसी अन्य व्यक्तिका शिशु रूप एवं गुणोंकी खान हो; फिर भी प्यारका उन्मेष जितना जैसा अपने शिशुपर होता है, उतना वैसा अन्यकी सलोनी संततिपर नहीं। किंतु इन वात्सल्यमयी व्रजसुन्दरियोंके प्यारकी प्रखर और निर्मल धारा तो अपने शिशुओंको एक ओर रखकर सदा बहती रहती है श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही, व्रजेश्वरके पुत्रपर ही। यह भी नहीं कि ये व्रजेन्द्रनन्दनको परब्रह्म पुरुषोत्तमके रूपमें अनुभव करती हों। उनके वात्सल्यमसृण हृदयमें इस तत्त्वज्ञानके लिये टिकनेतकको स्थान जो नहीं। वे तो निरन्तर अनुभव करती हैं श्रीकृष्णचन्द्रको व्रजरानीके नीलमणिके रूपमें ही। और कदाचित् सौन्दर्य ही उनके प्यारमें हेतु होता तो फिर इस एक वर्षके लिये स्नेहका वह प्रवाह, ठीक श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उमड़ते हुए कोटि प्राणोंका वह प्यार अपनी संततिके लिये ही लौट क्यों आता? अतएव स्पष्ट है कि व्रजरामाओंका स्नेह है निरन्तर श्रीकृष्णके उद्देश्यसे ही, वे भले ही किसी भी रूपमें उनके समक्ष क्यों न आयें। और इसीलिये यह विस्मयकी बात है ही कि आखिर व्रजपुरवासियोंका अपने शिशुओंकी अपेक्षा भी यशोदारानीके नीलसुन्दरके प्रति ऐसा अपरिसीम स्नेह किस हेतुसे है। सौन्दर्य-निर्बन्धन, भगवत्ताकी स्फूर्ति, दैहिक सम्बन्ध—ये हेतु नहीं, फिर उनका प्रेम सतत इस दिशामें ही, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही क्यों बहता रहता है? किंतु इसका समाधान भी अत्यन्त स्पष्ट है। जगत्में सर्वत्र सबके प्रेमकी धारा—भले ही अनजानमें हो—बहती रहती है एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रको ही पा लेनेके उद्देश्यसे। जगत्के समस्त प्राणी वास्तवमें प्रेम करते हैं अपनी आत्मासे ही। सबके लिये परम प्रिय वस्तु है अपनी आत्मा ही। पुत्र, वित्त आदिसे भी जो प्रेम है, वह सब है आत्मसुखके हेतुसे ही। इसीलिये अपनी अहंकारास्पद आत्माके प्रति जिस प्रकारका प्यार होता है, उस प्रकारका प्यार ममतास्पद वस्तु—पुत्र, धन, गृह आदिके प्रति कदापि नहीं होता। जिनके मन-बुद्धिपर अविवेकका आवरण है, उनके जीवनमें भी इस सत्यके प्रत्यक्ष दर्शन होते ही हैं। वे अपने इस नश्वर देहको ही आत्माके रूपमें अनुभव करते हैं तथा इसीलिये उनमें भी जो प्रेम अपने शरीरके प्रति होता है, वह दैहिक वस्तु—पुत्र-कलत्र आदिके प्रति नहीं ही होता। और कदाचित् विवेकके किञ्चिन्मात्र आलोकसे अन्तस्तलका तिमिर क्षीण होने लगे, सत्यकी स्फूर्तिका अवकाश आ जाय, सचमुच तनिक-सा यह भान होने लगे कि 'मैं यह शरीर नहीं, शरीर मेरी वस्तु है',—अविवेकके कारण मानी हुई अहंतास्पद वस्तु, ममताका विषय बन जाय, फिर उस समय देहसे भिन्न निश्चय

किये हुए, अहन्तास्पद आत्माके समान यह शरीर प्यारा नहीं होता। आसन्न मृत्युके समय भी अविवेककी दशामें अपने-आपको देह माननेके कारण जो जीवनकी प्रबल आशा होती थी, वह विवेकके जाग उठनेपर नहीं होती; शरीर जीवित रहे या नष्ट हो जाय, इस सम्बन्धमें आग्रह नहीं रह जाता। इस प्रकार यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि अपनी आत्मा ही सबके लिये प्रियतम वस्तु है, आत्मसुखके लिये ही यह समस्त परिदृश्यमान चराचर जगत् प्रिय प्रतीत होता है। और ये श्रीकृष्णचन्द्र कौन हैं? ये नराकृति परब्रह्म ही तो समस्त आत्माओंके आत्मा हैं। जगत्का परम मङ्गल करनेके लिये ही ये योगमायाका आश्रय लेकर यहाँ पधारे हैं। इनमें देह-देहीका भेद नहीं, फिर भी लीलापुरुषोत्तम ये व्रजेन्द्रनन्दन जनसाधारणकी दृष्टिमें देहधारीके समान ही प्रतीत होते हैं। जब कभी किन्हींपर इनकी कृपाकी एक कणिका ढुलक पड़ती है और वे इनके तत्त्वका अनुसंधान पा लेते हैं, फिर उनके लिये इन श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं बचती। उनके लिये स्थावर-जंगम अखिल जगत् श्रीकृष्णस्वरूप है; इससे परे भी ब्रह्म, परमात्मा, नारायण—सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी ही अभिव्यक्ति हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त प्राकृत-अप्राकृत अन्य कोई वस्तु है जो नहीं। सभी वस्तुओंकी सत्ता अपने कारणमें ही तो है। कारण-सत्तासे ही कार्यकी सत्ता है। और ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उस कारणके भी परम कारण जो ठहरे। फिर कौन-सी वस्तु श्रीकृष्णसे भिन्न है?—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्॥
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५०—५७)

अब ऐसे स्वयं इन श्रीकृष्णचन्द्रको ही पा लेनेके अनन्तर व्रजपुरवासी क्यों नहीं अपने समस्त प्राणोंका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र इन्हींको समर्पित कर दें। नीलसुन्दरको एक बार प्यार कर लेनेके अनन्तर फिर अन्य किसी प्रीत्यास्पद वस्तुकी सत्ता ही कहाँ है कि जिसमें मन उलझे? इसीलिये व्रजसुन्दरियाँ भूल गयी हैं अपने शिशुओंको और तन्मय हो रही हैं नन्दप्राङ्गणमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रमें!

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्रकी आजकी दिनचर्या समाप्त हुई। वे शयन करने चले जाते हैं व्रजरानीके अङ्कमें, शारदीय प्रसाधनोंसे विभूषित व्रजेन्द्रगेहिनीके शयनमन्दिरमें। और जब किरणमाली अबसे चौदह घड़ीके पश्चात् पुनः अपने अंशुजालका विस्तार कर वृन्दाकाननको उद्भासित करने आयेंगे, तब उस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी पौगण्डोचित लीलाकी एक सुन्दर योजना निर्मित होगी। कौमारलीला-रसका आस्वादन कर चुके बाल्यलीलाविहारी। एक-से-एक बढ़कर परम मनोहारिणी लीलाओंकी अवतारणा कर व्रजपुरवासियोंको इन्होंने परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर दिया है। उनकी वह निलायन-क्रीड़ा—ओह! कोई कैसे भूले अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उस अद्भुत प्रेमाधीनताको! श्रीकृष्णचन्द्र अपनेको छिपा लेते, पर शिशु उन्हें अनायास ढूँढ़ लेते। और जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें ढूँढ़ने चलते, तब देखने ही योग्य होती व्रजराजकुमारकी बाल्यभङ्गिमा, सर्वज्ञ सर्वेश्वरकी वह बाल्यरसमत्तता! क्या कहना है, अथक परिश्रम करके भी वे एक

शिशुको भी ढूँढ़ निकालनेमें असफल ही रहते। सर्वज्ञशिरोमणि प्रभुकी वह असमर्थता एवं शिशुओंका योगीन्द्र मुनीन्द्रगणोंके लिये निर्विकल्प समाधिमें भी प्राप्त न होनेवाले स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़कर बाहर लाते समयका वह उल्लास कितना आश्चर्यजनक है। और जिस समय नीलसुन्दर रविनन्दिनीसे संगमित किसी क्षुद्र स्रोतपर अथवा गिरिराजसे प्रसरित हुई किसी निर्झरकी एक छोटी धारापर सेतुकी रचना करते और उस सेतुपर श्रीराघवेन्द्रकी लङ्काविजय-लीलाका अभिनय करने लगते, उस समय जो भी उस क्रीड़ाका दर्शन करता, उसके नेत्र प्रेमावेशसे बहने लगते, शरीर अवश हो जाता। व्रजरानी, व्रजेश भी देखने जाते और देखकर स्तब्ध रह जाते। तथा फिर भावावेश शिथिल होनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके कपोलोंपर चुम्बन अङ्कित करते हुए पूछते—'नीलमणि! तू रघुकुलचन्द्रकी लीलाओंका इतना सुन्दर अनुकरण कैसे सीख गया? बता तो सही, मेरे लाल।' श्रीकृष्णचन्द्र उत्तरमें केवल हँस देते। इसके अतिरिक्त जिस समय वे वानरोंका अनुकरण करते हुए तरुशाखाओंपर कूदने लगते, उस समयकी झाँकी व्रजपुरके वृद्ध, वयस्क, शान्त, गम्भीर गोपोंतकको चञ्चल बना देती। जो जहाँ सुनता, वहींसे दौड़ पड़ता एक बार नन्दनन्दनको उल्लासमें भरकर वृक्षोंपर वानरोंकी भाँति कूदते हुए देख लेनेके उद्देश्यसे। इस प्रकार व्रजमें मधुरातिमधुर विविध परम रसमय संस्मरणकी निधि बिखेरते हुए व्रजराजकुमार लीलासिन्धुमें संतरण कर रहे थे और अब उनके बाल्यवयस्का अवसान हो चुका था।

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ६१)

चौर भाव बहु आनि, सेतुबंध, मरकट-क्रिया।
अपर खेल सुख मानि, खेलत गयौ कुमार वय॥
इमि बिहार करि कृष्न ब्रज, सब काहू सुख दीन।
यह कुमार वय की कथा, बरनी तोहि प्रबीन॥

श्रीकृष्णका प्रथम गोचारण-महोत्सव

उस समयकी बात है जब गोपेन्द्र नन्दका व्रजपुर बृहद्वनमें बसा था। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दाकानन नहीं पधारे थे। कलिन्दकन्याके उस पार ही लीला-रसका प्रवाह सीमित था। पुर-सुन्दरियोंके प्राङ्गणमें ही वे खेला करते थे। स्वभावमें चञ्चलता अवश्य आ चुकी थी।

अचानक एक दिन जब भुवनभास्कर वृक्षोंसे ऊपर उठ आये थे, वे खेलते हुए अपने गोष्ठमें जा पहुँचे। वहाँ अभी गोदोहन समाप्त नहीं हुआ था। पंक्तिबद्ध गायोंके थनोंसे क्षरित दुग्धका 'घर-घर' नाद उन्हें आकर्षित करने लगा। कौतूहलभरी दृष्टिसे देखते हुए वे दूर—बहुत दूरतक चले गये। एक वृद्ध गोप गाय दुह रहा था। साथ ही मन्द-मन्द स्वरमें उनके ही बालचरितके गीत उसके कण्ठ-निर्झरसे झर-से रहे थे। पर अब गाय सहसा चिहुँक उठी। नीलसुन्दरको देखकर हम्बारव करने लग गयी। वृद्ध गोपने भी पीछेकी ओर दृष्टि डाली। नन्दनन्दन उसे भी दीख गये। फिर तो गोदोहन हो सके, यह सम्भव ही कहाँ था। बस, निर्निमेष नयनोंसे वह नन्दनन्दनकी ओर देखता ही रह गया।

यह गोप व्रजराजका बालसखा है। ब्याह इसने किया नहीं। आजीवन नन्दरायके साथ ही इसके दिन बीते तथा व्रजेशने भी आदर्श प्रेम निभाया। मित्रके रूपमें तो क्या, सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताके समान ही वे इसे सम्मानका दान करते आये हैं। पर नन्दनन्दनके जन्म-दिनसे ही यह अर्द्धविक्षिप्त-सा रहने लगा था और व्रजेन्द्रको इसकी स्नेहोचित चिन्ता-सी लग गयी थी। गोसेवाके कार्य तो इसके द्वारा ज्यों-के-त्यों

सम्पन्न हो जाते थे। पर इसके अतिरिक्त उसे अपने शरीरका भान नहीं-सा ही है, ऐसा ही लगता था। अस्तु, नन्दनन्दन उसीके पास आकर बैठ गये। इतना ही नहीं, अपने हस्तकमलोंसे उसके स्कन्ध एवं चिबुकका स्पर्श कर बोले—'ताऊ! मुझे भी दुहना सिखा दो।'

वृद्धके कर्णपुटोंमें पीयूषकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके इस मधुभरे कण्ठस्वरका उन्मादी प्रभाव देखने ही योग्य था। दूधसे आधी भरी हुई दोहनी हाथोंसे छूटकर पृथ्वीपर जा गिरी तथा नन्दनन्दनको भुजपाशमें बाँधकर वह गोप बेसुध हो गया! और जब चेतना आयी— कहना कठिन है कि बाह्य दृष्टिमें दो ही क्षण बीतनेपर भी सचमुच वह कितने समयके पश्चात् जागा—उस समय भी उसकी प्रेमविवश आँखें झर रही थीं तथा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी छोटी-छोटी अँगुलियोंसे उसके नेत्र पोंछते हुए कह रहे थे—'क्यों ताऊ! मुझे नहीं सिखा दोगे?'

किंतु आज तो अबतक सभी गौएँ दुही जा चुकी थीं। गोपके ध्यानमें एक भी गाय दुहनेको अवशिष्ट नहीं। गोदोहनकी शिक्षा आज सम्भव नहीं। गद्गद कण्ठसे गोपने कहा—'मेरे लाल! कल सिखा दूँगा।' अब भला, श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका कहना ही क्या था! आनन्दविह्वल-से हुए वे बोल उठे—'ताऊ! बाबाकी सौंह है, कल अवश्य सिखला देना, भला! मेरे आनेतक कम-से-कम एक गाय बिना दुहे अवश्य रखना।' गोपने नीलसुन्दरके इस प्रेमिल आदेशका कोई उत्तर न दिया। उसकी वाणी अश्रुके आवेशमें रुद्ध थी। स्थिर पलकोंसे वह देख रहा था अपने प्राणधन नन्दनन्दनकी ओर ही। श्रीकृष्णचन्द्र पुनः बोले—'ताऊ! अब तो मैं सयाना हो गया! अपनी गायें अपने-आप दुह लूँगा!' गोप प्रस्तरमूर्तिकी भाँति निश्चल रहकर सुनता जा रहा था और श्रीकृष्णचन्द्र तनिक-सा रुककर फिर कहने लगे—'अच्छा, ताऊ! आज संध्याको सिखा दो तो कैसा रहे?' अब तो वृद्ध गोपके प्राण बरबस मचल-से उठे नीलसुन्दरके इस प्रस्तावका उत्तर दे देनेके लिये। किंतु ओह! उमड़े हुए स्नेहाश्रुको भेदकर वाणी कण्ठसे बाहर आ जो नहीं पाती थी। विचित्र-सी दशा हो गयी उसकी। इतनेमें व्रजराजनन्दनने चटपट स्वयं ही अपना समाधान कर लिया, वे बोल उठे—'नहीं ताऊ! सायंकाल तो मैया आने नहीं देगी, कल ही सिखा देना। कल तुम गोशाला गायें दुहने जब आओ, तब मुझे पुकार लेना।'—यह कहकर वे कुछ सोचने-से लग गये तथा फिर बोले—'नहीं, पुकारनेकी आवश्यकता नहीं, मैं अपने-आप ही आ जाऊँगा; पर तुम भूलना मत, ताऊ!'—इस बार अपनी सारी शक्ति बटोरकर गोपने उन्हें पुचकार मात्र दिया। पुचकारके द्वारा ही उसने सिखा देनेकी स्वीकृति दे दी और श्रीकृष्णचन्द्र अत्यन्त उल्लसित होकर लौट आये—

धेनु दुहत देखत हरि ग्वाल।
आपुनु बैठि गए तिन के ढिंग, सिखवौ मोहि—कहत गोपाल॥
कालि तुम्हैं गौ दुहन सिखावैं, आज दुहीं सब गाय।
भोर दुहौ जिन, नंद दुहाई, उन सौं कहत सुनाय॥
बड़ौ भयौ, अब दुहत रहौंगौ, अपनी धेनु निबेरि।
सूरदास प्रभु कहत सौंह दै, मोहि लीजियै टेरि॥

इसके दूसरे दिन, जितना शीघ्र सम्भव हो सका, वे उस गोपके समीप पहुँचे। आज उनके साथ बलराम भी थे। आते ही उन्होंने गोपकी दोहनी थाम ली और बड़ी उत्सुकतासे बोले—'चलो, ताऊ! गाय कहाँ है? सिखा दो।'—तथा अग्रज श्रीरोहिणीनन्दन भी अपने अनुजका अनुमोदन करने लगे—'हाँ, हाँ, ताऊ! इसे आज अवश्य सिखा दो।'

वृद्धका रोम-रोम एक अभिनव विशुद्ध स्नेहावेशसे पूरित हो उठा। नीलसुन्दरको अपने स्निग्ध हृदयसे लगा लिया उसने, मानो वात्सल्यमसृण हृदयकी प्रथम भेंट समर्पण कर दी। तदनन्तर उसने उनके हस्तकमलोंमें एक छोटी-सी दोहनी दे दी। नीलसुन्दर भी उसी गोपका अनुकरण करते हुए दुहनेकी मुद्रामें गायके थनके पास जा बैठे। गोपकी शिक्षा आरम्भ हुई।

श्रीकृष्णचन्द्रकी अँगुलियोंको अपनी अँगुलियोंमें धारणकर उसने थनको दबाना सिखाया। थनसे दुग्ध तो तभी क्षरित होने लगा था, जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र गायके समीप आकर बैठे मात्र थे। और अब तो दूधकी धारा बड़े वेगसे निकलने लगी थी। अवश्य ही वह दोहनीमें न गिरकर गिर रही थी कभी तो नीलसुन्दरके उदर-देशपर और कभी पृथ्वीपर। बड़ी तत्परतासे वे दोहनीको कभी पृथ्वीपर रख देते, कभी घुटनोंमें दबा लेते तथा इस चञ्चल प्रयासमें एक-दो धार दोहनीमें गिरती, एक-दो नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका अभिषेक करती तथा एक-दो धरतीपर बिखर जा रही थी। फिर भी कुछ दूध तो दोहनीमें एकत्र होकर ही रहा। श्रीकृष्णचन्द्रके हर्षका पार नहीं। दोहनी लेकर वे उठ खड़े हुए। नाच-नाचकर वे अपने दाऊ दादाको यह दिखा रहे थे—'देखो, मैं दुहना सीख गया।'

इसके पश्चात् क्रमशः दिवस-रजनीका अवसान होकर पुनः प्रभात हुआ। तीस घड़ीके अनन्तर जब श्रीकृष्णचन्द्रकी दैनंदिनी लीलाका आरम्भ होने चला, प्रातः समीरका स्पर्श पाकर जननीने उन्हें जगाया और वे जागे, तब वे जननीका अञ्चल धारण कर मचल उठे—

दै मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया।
माखन खाऐं बल भयौ, तोहि नंद दुहैया॥
सैंदुरि काजरि धूमरी धौरी मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ तुरतहिं तबै, मोहि कर दै घैया॥
ग्वालन की सँग दुहत हौं, बूझौ बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति बलैया॥

व्रजरानीने समझाया, शत-शत मनुहारके द्वारा अपने नीलमणिको आप्यायित करके इस गोदोहनके प्रस्तावको भुला देनेकी चेष्टा की, 'अरे, मेरा नीलमणि तो अभी निरा अबोध शिशु है, किसी गायने दुहते समय लात मार दी तो?'—इस भावनासे भयभीत हुई जननीने बहुत कुछ कहा, किंतु हठीले मोहन बात पकड़ लेनेपर छोड़ना जानते जो नहीं। बाध्य होकर जननीने अन्तिम निर्णय यह दिया—'मेरे प्राणधन नीलमणि! पहले अच्छी तरह बाबाके पास जाकर दुहना सीख ले, तब मैं दोहनी दूँगी और तब तू दूध दुह लाना!' ठीक है, बाबाकी शिक्षा भी सही! श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रके समीप चले आये, उनसे बारम्बार हठ करने लगे—

बाबा जू! मोहि दुहन सिखावौ।
गाय एक सूधी सी मिलवौ, हौहुँ दुहौं, बलदाउ दुहाऔ॥

महाराज नन्दने किसी शुभ मुहूर्तमें सिखा देनेका वचन दिया। पर इतना धैर्य नन्दलाडिलेमें कहाँ! वे तो गोदोहन करेंगे, और इसी दिन, इसी समय करेंगे। आखिर उपनन्दके परामर्शसे यह निश्चित हुआ कि नारायणका स्मरण करके नीलमणिकी साध पूरी कर दी जाय। अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उमंगमें भरकर जननीके पास दोहनी लेने आये—

तनक कनक की दोहनी मोहि दै री, मैया।
तात दुहन सिखवन कह्यौ मोहि धौरी गैया॥

मुखचन्द्रपर स्वेदकण झलमल कर रहे थे एवं नेत्रसरोजोंमें भरी थी दोहनी लेकर गोष्ठमें पहुँच जानेकी त्वरा। जननीने अञ्चलसे मुख पोंछा, हृदयसे लगाया, फिर छोटी सुवर्णकी दोहनी हाथमें दे दी और स्वयं साथ चल पड़ीं। उनके पीछे यूथ-की-यूथ व्रजपुरसुन्दरियाँ एकत्र हो गयीं—नीलसुन्दरकी गोदोहनलीला देखनेके लिये। जो हो, अपने इष्टदेव नारायणका स्मरण करके व्रजेन्द्रने पुत्रका सिर सूँघा और फिर गोदोहनकी शिक्षा—शिक्षाका अभिनय सम्पन्न हुआ। गोपेन्द्रतनय गौ दुहने बैठे—

हरि बिसमासन बैठि कै मृदु कर थन लीनौ।
धार अटपटी देखि कै ब्रजपति हँसि दीनौ॥
गृह गृह ते आयीं देखन सब ब्रज की नारी।
सकुचत सब मन हरि लियौ हँसि घोषबिहारी॥

उस दिन व्रजेशके आदेशसे नन्दप्रासाद सजाया गया था। मङ्गलगान, मङ्गलवाद्यसे सम्पूर्ण व्रजपुर नादित होने लगा था। मणिदीपोंसे उद्भाषित हुई व्रजपुरकी वह रजनी दिन-सी बन गयी थी।

इस प्रकार चार-पाँच दिनोंके लिये बाल्यलीलाविहारी

श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ामन्दाकिनीका यह नवीन स्रोत प्रसरित होता रहा। पर सहसा मानो उनके अद्भुत शैशवकी चञ्चल लहरियोंने, नवनीत-हरणलीलाके प्रबल प्रवाहने इसे आत्मसात् कर लिया और वे इस गोदोहनके खेलको कुछ समयके लिये भूल-से गये, इस ओर उनका आकर्षण नहीं रहा। अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने उद्देश्यविशेषसे—आगे पौगण्ड आ जानेपर उनकी गोचारणलीलाकी भूमिका प्रस्तुत करनेके लिये—इसपर एक क्षणिक आवरण डाल दिया।

अस्तु, यह हुआ बृहद्वनमें विराजित रहते हुए व्रजराजकुमारकी उल्लासमयी गोदोहनक्रीड़ाका एक संक्षिप्त चित्र। और अब इस समय तो वे वृन्दावनविहारी हैं। उनकी आयुका प्रवाह भी आगेकी ओर बढ़कर कौमारकी सीमाको पार कर चुका है, वे पौगण्डवयस्में अवस्थित हैं। तदनुरूप ही मेधा एवं बलका विकास हो चुका है। वक्षःस्थल पहलेकी अपेक्षा विस्तीर्ण हो चुका है। नेत्रसरोजोंमें एवं महामरकतश्याम शरीरके समस्त अवयवोंमें पौगण्डोचित चिह्न स्पष्ट परिलक्षित होने लगे हैं। स्वभावका सूक्ष्म परिवर्तन भी स्वयं व्रजमहाराज्ञी यशोदा मैयासे छिपा न रह सका। उस दिनकी बात है, श्रीअभिनन्दपत्नी आकर मैयासे बोलीं—

कृष्णमातरद्य सद्यः प्रातरेव कुत्र वा भवज्जातः प्रयातः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'कृष्णजननि! आज अत्यन्त प्रातःकाल ही आपके लाल कहाँ चले गये?'

इसका उत्तर मैयाने हँस-हँसकर यह दिया—

हन्त! तदेतद् वर्तमानसमयपर्यन्तं तस्योद्वर्तन-स्नानपरिधानमयानि कर्माणि मया निर्मीयन्ते स्म। सम्प्रति मदपि लज्जामासज्जन् स्वकसवयःसेवकप्रियः पृथगेव कृततत्तत्क्रियः स मा समया समायाति। आगत्य च प्रत्यहं मां पितरं यथायथमितरं च गुरुजनं पुरुगौरवं नमस्कारेण पुरस्करोति। किंच तदवधि यदा संध्यायां मया ध्यायमानागमनः सहवत्सः समागच्छति तदा तदुपरि वारि वारत्रयं भ्रामयित्वा पिबन्ती जीवन्ती भवामि स्म। सम्प्रति तु सशपथमेधमानयत्नवता तत्प्रतिषेधता तेन मम हस्तौ विहस्तौ क्रियेते। एवमेव रौहिणेयश्चेति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अजी! क्या कहूँ, अबतक तो उसके उबटन, स्नान, वस्त्रपरिधान आदि कार्योंको मैं स्वयं अपने हाथों किया करती थी; पर इधर वह मुझसे भी लजाने लगा है। और इस कारण अपनी आयुके सेवकोंसे बहुत ही हिल-मिल गया है तथा अलग ही इन नित्यकर्मोंका समाधान कर लेनेके अनन्तर निश्चित समयपर मेरे पास आता है। आकर प्रतिदिन ही मुझे, अपने बाबाको तथा यथायोग्य अन्य गुरुजनोंको अतिशय गम्भीरतापूर्वक प्रणाम करके सम्मानित करता है। इतना ही नहीं, और सुनो; पहले तो यह बात थी—संध्या होने लगती, मैं उसके वनसे लौटनेकी प्रतीक्षामें रहती और जब गोवत्सोंके साथ वह आ जाता, तब उसपर तीन बार जल औंछकर पी लेती तथा मुझमें नवजीवनका संचार हो जाता। किंतु अब तो वह मुझे शपथ दे डालता है, उत्तरोत्तर अनेकों उपाय रचकर ऐसा करनेसे रोक देता है; उसके द्वारा मेरे दोनों हाथ इस क्रियाके लिये अक्षम कर दिये जाते हैं और मैं वह संजीवन जल पी नहीं पाती! तथा ठीक यही दशा रोहिणीनन्दन बलरामकी हो गयी है।'

जननीका यह उत्तर सुनकर अभिनन्दपत्नी तथा वहाँ उपस्थित अन्य पुरवनिताएँ हँसने लगीं। इधर व्रजेशकी दृष्टि भी श्रीकृष्णचन्द्रमें आयी हुई इन अस्फुट संकोचवृत्तियोंको भाँप लेती है। एक दिन राजसभामें मन्द-मन्द हँसते हुए वे भी सन्नन्द एवं नन्दनसे बोले—

भो! आयुष्मन्तावद्यजात इव युष्मद्भ्रातृजातः स यथा सम्प्रति युवां प्रति वर्तते न तथा मामिति लक्ष्यते। यतः किंचित्संकुचितविलोचनेन मामवलोकयन्नालोच्यते। युवाभ्यां सह तु मधुरवार्त्ता वर्त्तयन्नेव दृश्यते।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे आयुष्मान् लघु भ्राताओ! तुम्हारे बड़े

भाईका यह पुत्र (श्रीकृष्णचन्द्र)—सच पूछो तो—ऐसा ही लगता है कि मानो आज ही उत्पन्न हुआ हो। पर देखो सही, आजकल तुम दोनोंके प्रति जैसी उसकी निर्बाध चेष्टाएँ होती हैं, वैसी अब मेरे प्रति नहीं—ऐसा प्रतीत हो रहा है; क्योंकि जब वह मेरे समक्ष आता है, तब उसके नेत्रोंमें कुछ संकोच भरा होता है, किञ्चित् संकुचित नेत्रोंसे ही वह मेरी ओर देखता है। पर तुम दोनोंके साथ तो वह अभी भी उसी प्रकार मधुर वार्ता—मीठी बातें करता रहता है—मैं ऐसा ही देखता हूँ।'

व्रजेन्द्रकी यह उक्ति गोपसदस्योंको हर्षोत्फुल्ल बना देती है। नीलसुन्दरके दोनों पितृव्य (चाचा) तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं। सब सुन लेनेके अनन्तर व्रजराजने पुनः प्रेममसृण स्वरमें कहना आरम्भ किया—'भैया सन्नन्द एवं नन्दन! अहो! परसोंकी ही तो बात है। तुम दोनों जा रहे थे एवं तुम्हारे पीछे थे राम-श्याम। जब मेरे उन दोनों पुत्रोंने यह देख लिया कि अब एकान्त है, तब तुमसे प्रार्थना-सी करने लगे। अहा! उनकी सुन्दर आँखोंमें दीनता भरी थी और वे दोनों बार-बार—प्रातःसे आरम्भकर न जाने कितनी बार—तुमसे कुछ निवेदन-सा कर रहे थे। मैं बहुत दूरसे चारों ओर घूम-घूमकर उन दोनोंको देख रहा था। वह क्या बात थी हो! बताओ तो सही—

भवन्तावेकान्तमनुभवन्तावनुगम्य तौ रम्यकानराक्षिप्रान्तावसकृत् प्रातरारभ्य प्रार्थितवन्ताविति ह्यः प्रर्वेऽहनि समन्ताद्भ्रातरावतिदूराददृक्षाताम्; तत्किमुच्यताम् ?

(श्रीगोपालचम्पूः)

तथा लघुभ्राता श्रीनन्दनगोपने भी व्रजराजकी इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार किया—

तदानीमेवेति किं वक्तव्यम्। किंतु चिरादेव तयोस्तदभिरुचितमुपचितमस्ति। संकुचितभावाभ्या-मावाभ्यां तु भवत्सु न श्रावितम्।

'यह केवल उस समयकी ही बात थोड़े है, यह तो उन दोनोंकी चिरकालीन लालसा है, जो निरन्तर बढ़कर दृढ़-दृढ़तर हो चुकी है। हम दोनोंको ही संकोच घेर लेता और इसीलिये आपको अबतक सूचित न कर सके।'

फिर तो महाराज नन्दने स्पष्टतया जान लेना चाहा तथा उपयुक्त अवसर देखकर श्रीसन्नन्दने भी मन्द-मन्द मुसकाकर बात खोल दी—

स्वयमेव गवां सेवनमिति यत्।

'और तो क्या, वे दोनों समस्त गायोंकी सेवा स्वयं ही करना चाहते हैं।'

परम गम्भीर उपनन्दजीके पूछनेपर सन्नन्दने इतना और कह दिया कि राम-श्याम कहते हैं—

आवयोः प्रथमवयोऽतीतयोस्तातचरणानां स्वयं गोचारणमनाचारतामाचरतीति।

'अब जब हम दोनोंकी प्रथम आयु—कौमारका अवसान हो चुका है, तब स्वयं पितृचरणोंके द्वारा गोचारणका कार्य सम्पादित होते रहना अनुचित है।'

अपने पुत्रोंकी यह भावना सुनकर व्रजेशका मुख विस्मयसे पूर्ण हो उठता है। वे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देते, मौन हो जाते हैं; किंतु उपस्थित गोपसमाज उल्लासमें भरकर कहने लग जाता है—

यद्यप्यद्यजाताविव सुजातावमू तथापि क्रमं विना बुद्धिनिष्क्रमस्य बलसंवलनस्य च सद्भावादस्माकं विस्मापकावेव भवतः। इतस्तु न विस्मायकौ भवतस्तपःप्रभाव एव खल्वेवं भावमावहतीति। न खलु तत्तत्खलानां यत्परिमलनं जातं तत्र सहायतानां सहायता काचिदपि परिचिता। तस्मान्मङ्गलमेव संगतं भविष्यतीति।

'व्रजराज! यद्यपि ये दोनों सुकुमार बालक सचमुच लगते तो ऐसे हैं कि मानो आज ही इनका जन्म हुआ है, फिर भी इनमें—क्रमशः नहीं, बिना किसी क्रमके ही—कुछ ऐसी विलक्षण बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, इतने बलका संचार हो गया है कि ये दोनों हम सभीको आश्चर्यमें भर दे रहे हैं। एक दृष्टिसे तो यह बात है। उधर पुनः विचारनेपर इनको लेकर

कोई आश्चर्य भी नहीं होता; क्योंकि निश्चितरूपसे यह तो आपके तपका ही प्रभाव है जो ऐसा सम्भव हो गया है। देखिये न, उन-उन दुष्ट राक्षसोंका जो संहार हुआ है, उसमें इन अगणित साथियोंकी कोई भी सहायता ली गयी हो, यह बात भी नहीं है। इसलिये आगे भी मङ्गलके ही दर्शन होंगे।'

यह कहकर गोपमण्डलने नीलसुन्दरके प्रस्तावका प्रकारान्तरसे अनुमोदन कर दिया। अवश्य ही गोपराज तो मौन ही रहे। इसके दो-तीन दिन पश्चात् महाराजने एकान्तमें व्रजरानीसे भी इस प्रस्तावपर मन्त्रणा की; पर व्रजदम्पतिका वात्सल्य-रस-यन्त्रित हृदय इसे सहजमें ही स्वीकार कर ले, यह कहाँ सम्भव है। दोनोंने मिलकर यही स्थिर किया कि अवसर-विशेषकी प्रतीक्षा की जाय—

निजगृहिण्यापि सह रहसि श्रीव्रजराजस्य स एष प्रस्तावविशेष आसीत्। यत्र च तौ पुत्रप्रेमयन्त्रिततया तदेतन्मन्त्रितवन्तौ। पश्यामः समयविशेषमिति।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको अब इसमें अधिक विलम्ब अपेक्षित नहीं है। अतएव उन्होंने तो उपक्रम कर ही दिया—सर्वथा स्वाभाविक ढंगसे ही। जिस असंख्य गोवत्सराशिका संचारण आरम्भ हुआ था, नन्दलाल वत्सपाल बनकर गोपशिशुओंके साथ वनमें जिसे ले जाया करते थे, वह वत्सश्रेणी अबतक अधिकांशमें नवप्रसूता गौएँ जो बन चुकी हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा, दोहन आदि कार्य तो राम-श्यामके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। भला, जिसने अपने शैशवमें नीलसुन्दरके करपल्लवोंसे चयन किये हुए हरित सुकोमल तृणराजिका ग्रास पाया है, जिसके अङ्ग सदा सम्मार्जित होते आये हैं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलोंसे ही, जिसका अबतक सतत संवर्द्धन हुआ है व्रजेशतनयके रसमय संरक्षणमें ही, मूकवाणी व्यक्त न कर सके, इससे क्या—पर जिसके अन्तस्तलमें व्रजराजकुमारके द्वारा पाये हुए प्यारकी असंख्य स्मृतियाँ सुरक्षित हैं—वह वत्सराशि आज अपने प्रथम यौवनके उन्मेषमें स्वयं भी वत्स प्रसव करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त किसी अन्य गोपकी सेवा स्वीकार कर ले, यह भी कभी सम्भव है? उन-उन नवप्रसूता गायोंने किसी गोपसेवकको अपने शरीरका स्पर्शतक करने नहीं दिया है। अपने पार्श्वमें किसी भी गोपको देखते ही वे बिझुक जातीं। तथा जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र आये कि 'हम्बारव' गोष्ठको निनादित करने लगतीं, उनके थनसे दूध बरसने लगता; दोहनी नीचे रख भर देनेकी बात थी, क्षणोंमें वह कण्ठतक पूरित हो जाती और फिर एक सुन्दर धवल प्रवाह नीचेकी ओर बह चलता। सुरभि-थनमें इतना दुग्ध कहाँसे संचित हो जाता—इसे कौन बताये। और वह अभी-अभी व्रजपुरमें भूमिष्ठ हुआ वत्स भी तो भूल जाता अपनी जननीको। वह तो सरल भोली चितवनसे केवल नीलसुन्दरकी ओर देखता रहता। अपने करपल्लवमें वत्सका मुख लेकर नन्दलाल उसे थनसे सटा देते, फिर भी वह दृष्टि फेर लेता; नन्दलाड़िलेके श्यामल अङ्गोंमें ही उसकी आँखें उलझी रहतीं। यदि अघटन-घटनापटीयसी योगमायाके अञ्चलकी छाया यथासमय उनकी स्मृतिको आवृत न कर लेती तो कोई वत्सतर अपनी जननीका स्तनरस पान कर सके, यह नवीन धेनुसमूह श्रीकृष्णचन्द्रका सङ्ग त्याग सके—यह सर्वथा असम्भव है। जो हो, इस प्रकार इनकी सेवा तो एकमात्र राम-श्यामके द्वारा ही होने लगी है। इन्हें तृणदान आदिका भार रोहिणीनन्दन रामपर है और दोहनकी क्रिया सम्पन्न होती है नीलसुन्दरके द्वारा। कौमारका वह गोदोहन-खेल—लीलासुरधुनीका वह सुन्दर स्रोत इतने कालतक मूकके विभिन्न प्रवाहोंमें ही विलीन रहकर अब पुनः पृथक् होकर प्रसरित होने लगा है—व्रजेशका ध्यान आकर्षित करनेके लिये, उन्हें सूचित कर देनेके लिये कि 'व्रजेश्वर! अब विलम्ब मत करो, नीलसुन्दरकी योग्यताका इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहते हो? अपने संरक्षणमें अवस्थित इस अपार नवीन गोधनका तनिक-सा भी बिझुके बिना ही दोहनकर्म समाधान कर लेनेकी कलामें निज तनय नीलमणिकी निपुणता

देख लो। अब क्यों नहीं इन्हें अपने राजकुलके अधिकृत समस्त गोधनके ही संरक्षणका भार सौंप देते? लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती!' पर व्रजराजके श्रीकृष्णरसभावित प्राणोंमें तो झंकृति है—'**पश्यामः समयविशेषम्**'—अवसरविशेषकी बाट देखें। वे गोपोंसे सुनते हैं, स्वयं देखते भी हैं, अनुभव करते हैं—'सचमुच मेरे पुत्रकी योग्यता—गोसंरक्षणकी कुशलता गोपवंशकी परम्परामें अद्वितीय ही है।' फिर भी उनका वात्सल्यपरिभावित हृदय विलम्ब करनेमें ही रस ले रहा है और इसलिये वे इस प्रश्नपर मौन ही रह जाते हैं।

आखिर सीमा आ गयी, लीलाशक्तिका निर्धारित क्रम सामने जो आ गया। अबतक श्रीकृष्णचन्द्र वन जाते थे उन अपने अधिकृत नवीन गोधनको लेकर ही। उनमें कुछ गोवत्स थे, कुछ प्रथम-प्रसवोन्मुख गौएँ थीं और अधिकांश थीं नवीन-वत्सवती। गोवत्स इसलिये कि समय-समयपर मुक्तस्तन्य वत्स श्रीकृष्णचन्द्रके संरक्षणमें सम्मिलित होते आये हैं। और वत्सवती तो श्रीकृष्णचन्द्रका संरक्षण परित्याग करनेसे रहीं। गोपरक्षकोंने अथक चेष्टा की कि भले ही गोष्ठमें इनकी सेवा राम-श्याम कर लें, गोदोहन आदि भी वे ही करें; पर इनका संचारणकार्य तो हम सबोंके ही द्वारा हो, ये सब भी वयस्क गोधनकी टोलीमें ही परिगणित हो जायँ। किंतु वे सर्वथा असफल रहे। ये गायें किसी भी परिस्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रके बिना वन जानेको प्रस्तुत न हुईं। अतएव सदासे आया हुआ दो विभाग अबतक चलता ही रहा। गोपरक्षक अपने अधिकृत व्रजेशके अपार गोधनका संचारण करते एवं श्रीकृष्णचन्द्र उसीके अंशभूत अपने अधिकृत गो-गोवत्समिश्रित समूहका। अस्तु, आज सहसा प्रातःकाल एक विशेष घटना घटी। उपक्रम तो कल ही हुआ था, आज सबोंने प्रत्यक्ष देख लिया। वनसे लौटते हुए गोचारकवर्गके दोनों ही दल कल मिल गये। अन्यथा इससे पूर्व रक्षकोंका वर्ग तो श्रीकृष्णचन्द्रसे पूर्व ही प्रस्थान कर जाता एवं श्रीकृष्णचन्द्र लौटते थे उस वर्गके गोष्ठमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर। विगत संध्याके समय गोपरक्षकोंने गायोंकी उस अभूतपूर्व प्रेमसम्पुटित आर्ति—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अद्भुत आकर्षणको देखा अवश्य, पर देखकर भी वे रहस्यभेद न कर सके। किंतु आज प्रातःकाल वह स्पष्ट हो गया—इस अपार समस्त गोधनराशिने वन जाना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। वे वनकी ओर तभी चलीं जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें आगे खड़े होकर पुकारने लगे। व्रजेशकी राजसभामें आज चर्चाका विषय, बस, एकमात्र यही था। गोपवर्गने विस्मयसे पूर्ण होकर यह सूचना व्रजेन्द्रको दे दी—

सर्वं गोजातं न तु भवज्जातमन्तरा पदमपि पदः प्रददाति। कथंचित्तेनैवाग्रावस्थितेनाद्य ताः प्रस्थापिताः सन्ति॥

'व्रजराज! देख लें, समस्त गायोंकी ही यह दशा हो गयी है कि आपके पुत्रके बिना वे अब एक पद भी वनकी ओर अग्रसर नहीं होतीं। आज जब वह स्वयं उनके आगे जाकर खड़ा हो गया, तब कहीं—उसकी सहायतासे ही वे किसी प्रकार वनमें भेजी जा सकी हैं।'

गोपेश सुनकर आश्चर्यमें भर गये। उन्होंने इस आकस्मिक परिवर्तनका कारण जानना चाहा। फिर तो समस्त सभासद् एक स्वरसे पुकार उठे—

भवत्पुत्रः कुत्रचिद्यत्र स्नेहं व्यञ्जयति तत्र सर्वत्र चैवं दृश्यते।

'यह तो जानी हुई बात है, व्रजेश्वर! जहाँ कहीं जिसके प्रति भी आपका पुत्र प्रेम प्रदर्शित करता है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र यही परिणाम सामने आता है।'

उस दिन अनेक युक्तियोंसे गोपमण्डलने व्रजेशको समझा-बुझाकर नीलसुन्दरपर ही समस्त गोसंरक्षणका भार सौंप देनेके लिये उन्हें बाध्य कर दिया। सबकी एक ही राय, एक ही माँग थी—

तस्माद्भवताद्भवतामनुज्ञा।

'अतएव, अब आपकी आज्ञा हो जाय।'

तथा व्रजराजने भी—वाणीसे तो नहीं—अपनी हर्षभरी दृष्टिसे ही प्रस्तावका समर्थन कर दिया। उपनन्दजी तुरंत ही ज्योतिर्विदोंका परामर्श ले आये। उन सबोंने भी संनिकट योगका ही आदेश किया—'पण्डितजनोंके कर्णपुटोंके लिये सुखप्रद, मङ्गलयशपूर्ण, बुधवार श्रवण-नक्षत्र-विशिष्ट कार्तिक शुक्लपक्षकी अष्टमी गोपालनके लिये परम सुन्दर मुहूर्त है।'—

तैरपि बुधश्रवणसुखप्रदमङ्गलश्रवणसंगत-बुधश्रवणविशिष्टायामबहुलबाहुलाष्टम्यां बहुलापालनं बहुलमेतदिष्टमित्यादिष्टम्।

अस्तु, अंशुमाली जब उस दिन प्राचीको रञ्जित करने आये, क्षितिजकी ओटसे व्रजपुरके आकाशको झाँककर देखने लगे, उस अष्टमीके दिन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रथम-गोचारण महोत्सवके उपलक्ष्यमें वहाँ क्या-क्या हुआ, इसे कौन बताये। वाग्वादिनी स्वयं विथकित जो हो रही हैं। लीलादर्शीकी रसनाके अन्तरालमें हंस-वाहिनीके प्राणोंकी इतनी-सी झंकृति कोई भले ही सुन ले—'अरे! इस महा-महोत्सवका वर्णन करना चाहते हो? नहीं, नहीं कर सकोगे। सुनो, एक नहीं, इसके लिये अनेकों वक्ता चाहिये। उनमें प्रत्येक वक्ताके ही अयुत—दस सहस्र मुख हों, सभीकी आयु सर्वदा बनी रहे, कभी क्षय न हो, वे निरन्तर गाते ही रहें—तब वर्णन करनेका विचार करना, भला!'

एकस्यैकस्य चेद् वक्तुर्वक्त्राणि स्युः सदायुतम्।
तदा तद् वक्तुमिच्छन्तु यद्यायुः सर्वदायुतम्॥

इससे पूर्व नीलसुन्दरके कौमारवयस्में—शिशिर-वसन्तकी संधिपर—होनेवाले वत्सचारण-महोत्सवकी शोभा भी निराली ही थी, प्रायः उसके कार्यक्रमका ही अनुसरण आज इस गोचारण-प्रसङ्गमें भी हुआ है। अट्टालिका, गृहतोरण, गृह-द्वार, अलिन्द, वीथी, चतुष्पथ—इन सबका साज-शृङ्गार एवं देवपूजन आदि शास्त्रीय कर्म भी उस पूर्वकी अनुक्रमणीके साँचेमें ही ढले हैं; पर आजका रागरंग, पारावारविहीन आनन्दसिन्धुका यह अभूतपूर्व उद्वेलन—ओह! किसीके श्रीकृष्णचरणनखचन्द्रसे आलोकित दृगोंमें भले ही यह क्षणभरके लिये झलमल कर उठे, पर वाणी तो इसे व्यक्त करनेसे रही! केवल दिग्दर्शनमात्र सम्भव है—'देखो, श्रीकृष्णचन्द्र 'गोपाल' बननेके योग्य नवीन वेषभूषासे सुसज्जित हैं, उनका रक्षा-विधान सम्पन्न हुआ है, ब्राह्मण एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे उनके श्रीअङ्ग सिक्त हो चुके हैं; पुण्याहवाचन कर्म भी साङ्गोपाङ्ग समापित हो चुका है। व्रजरानी, श्रीरोहिणी एवं असंख्य व्रजरामाओंके द्वारा इनका वनगमनोचित नीराजनका मङ्गलकृत्य भी पूरा हो गया। अरे! सुन लो—असंख्य पुरसुन्दरियोंके कण्ठसे निर्गत मङ्गलगानकी सुमधुर ध्वनि; दुन्दुभि, ढक्का, पटह, मृदङ्ग, मुरज, आनक, वंशी, संनहनी, कांस्य आदि वाद्यसमूहोंका दिग्दिगन्तव्यापी नाद; आनन्दमत्त गोपोंके, गोपबालाओंके नर्तनका झंकार—'नन्दकुलचन्द्रकी जय! रोहिणीनन्दन बलरामकी जय!! राम! राम! श्याम! श्याम! चिरंजीव! चिरंजीव!' आदिका तुमुल घोष। और अब देखो, अहा! वे चले अपने अग्रज बलरामसे संवलित श्रीमान् गोपमहेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्र गायोंके पीछे-पीछे। ओह! कैसी अनिर्वचनीय शोभा है!

गोपालोचितनव्यवेषवलनै रक्षाविधानैर्द्विजा-
द्याशीर्भिः सुदिनादलभ्यरचनैर्व्रज्यार्हनीराजनैः।
संगानान्वितवाद्यनृत्यनिकरैः शश्वज्जयाद्यारवैः
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्रामेण धेनूरनु॥

'ओह! बलिहारी है श्रीकृष्णचन्द्रके इस अप्रतिम सौन्दर्यकी।

सखा साथ, बल भैया साथ।
राजत रुचिर मंगली माथ॥
बीच अछत सु कवन छबि गनौं।
मोती जमे चंद मधि मनौं॥

'अरे! धेनुसमूहका शृङ्गार, चमक-दमक देखो—

गाइन की छबि नहिं कहि परै।
रूप अनूप सब के हिय हरै॥
कंचन भूषन सब के गरै।
घनन घनन घंटागन करै॥

उज्जल बरन सु को है हंस।
कामधेनु सब जिन कौ अंस॥
दरपन सम तन अति दुति देत।
जिन मधि हरि झाँई झुकि लेत॥

'ओह! केवल दो अक्षिकोणोंमें, अत्यन्त लघु युग्म कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ दिग्दर्शनमात्र विवरणको भी सम्पूर्णतया कैसे धारण कर सकोगे? इसलिये ऊपर दृष्टि डालो, अन्तरिक्षचारी अमरवृन्दके नेत्र-गोलकोंमें समाकर देखो, वे इस समय क्या देख रहे हैं। अहा, उनके दृगञ्चलमें अभी भी वह चित्र वर्तमान है—श्रीकृष्णचन्द्र उस अपार गोधनके समीप गये हैं। उन्होंने पाद्य आदि अर्पण करके प्रत्येककी ही अर्चना की है। तृण, यवस एवं मोदक आदिके मधुर ग्राससे सबको परितृप्त किया है। उनका स्तवन किया है, अपने कुञ्चित कुन्तलराशिमण्डित मस्तकसे उनके खुरोंका स्पर्श करके अभिवन्दना की है। उनका मानवर्द्धन किया है। अनन्तर ब्राह्मणों एवं पुरोहितकुलको अपरिमित दान-दक्षिणा समर्पण करके उन्हें अक्षय आनन्दमें निमग्न कर दिया है। पितृचरण एवं गुरुजनवर्गको अपने मञ्जु-अञ्जलिपुटोंके संकेतसे उन्होंने पुरोभागमें विराजित किया है और स्वयं उनकी ओर मुखारविन्द किये अपने अग्रज बलरामके सहित अवस्थित हो रहे हैं। व्रजराजने एक मणिमय लकुटी उनके हस्तकमलमें दे दी है—

'धेनूः संनिधाय ताश्च पाद्यादिभिरर्चिता विधाय मधुरग्रासैस्तासां समग्राणां तृप्तिमाधाय तासु नतिप्रभृतिभिर्मानमुपधाय पुनश्च प्रदानदक्षिणाभिः पुरोहितादीनक्षीणानन्दान् संधाय श्रीमत्पितृचरणादीन् मञ्जुलाञ्जलिवलितमग्रतो निधाय स्थितवति साग्रजे तस्मिन्व्रजे श्रीमांस्तत्पिता व्रजराजस्तावन्मणिमयलकुटीं तत्करे घटयामास।'

'अहो! जननी यशोदाका प्रेमावेश तो देखो! वे पुकार रही हैं—बलराम! बेटा! तू नीलमणिके आगे हो जा। अरे सुबल! तू मेरे लालके पीछे हो जा। अरे ओ श्रीदाम! ओ सुदाम! पुत्रो! तुम दोनों इसके दोनों पार्श्वमें अवस्थित हो जाओ। अरे शिशुओ! सुनते हो, देखो, तुम अपने इस आत्मीय सुहृद् नीलसुन्दरको सब ओरसे आवृत करके चलो! इस भाँति स्नेहविह्वल मैया प्रत्येक शिशुका हाथ पकड़कर आदेश दे रही हैं, साथ ही प्रत्येकको यथायोग्य श्रीकृष्ण-सेवासम्बन्धी उन-उन कार्योंका निर्देश करके सौभाग्य दान कर रही हैं और यह सब करते समय भी उनकी आँखें निरन्तर झर-झर बरसती रहती हैं।

राम! प्रागस्य पश्चाद्भव सुबल! युवां श्रीलदामन्! सुदामन्
दोःपार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीयबन्धोः।
इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता
तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्रनीरैरसिक्ता॥

बस, इससे अधिक वाणीकी सामर्थ्य नहीं जो और कह सके।

इस प्रकार पौगण्डवयस्क बलराम एवं नीलसुन्दर वृद्ध गोपोंका अनुमोदन पाकर आज वत्सपालसे गोपाल बन गये हैं। और अब वे असंख्य सखाओंके साथ गोचारण करते हुए जा रहे हैं वृन्दाकाननकी ओर। काननके उस भूभाग— वनस्थलीके प्रत्येक अंशपर ही अबसे—किसी अन्य पशुपालका नहीं—एकच्छत्र इन अनोखे गोपालका ही साम्राज्य है। और इसीलिये आज वनभूमि उनके ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्न-समन्वित पदाङ्कोंसे पूर्वकी अपेक्षा भी अत्यधिक समलङ्कृत हो रही है—

ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १)

जब पौगण्ड अवस्था आई।
पसु पालन संमत दोउ भाई॥
निज गोधन लै भ्रात समेता।
सखन संग नृप कृपा-निकेता॥
बन-बन धेनु चराइ प्रबीने।
बृंदाबन भू पावन कीने॥
निज पद अंकित करि जदुनंदा।
महापुन्यतम छिति सुखकंदा॥

श्रीकृष्णके द्वारा बलरामजीके प्रति वृन्दावनकी शोभाका वर्णन

व्रजेन्द्रनन्दनके बिम्बारुण अधरोंपर विराजित वेणुकी महामोहन स्वरलहरीसे, गोपशिशुओंके कण्ठसे निस्सृत श्रीकृष्ण-सुयशकी सुमधुर तानसे सम्पूर्ण वन-प्रान्तर मुखरित होने लगता है। वह असंख्य गोराशि भी प्रेमविह्वल हुई क्रमशः आगे बढ़ने लगती है। तथा उनके पीछे सखाओंसे परिवेष्टित हुए बलरामके सहित नीलसुन्दर झूमते हुए चले जा रहे हैं वन-विहारके उद्देश्यसे। रंग-बिरंगे राशि-राशि कुसुम-समूहोंसे समलङ्कृत होकर, साथ ही गोसंचारणके सर्वथा उपयुक्त बनकर वृन्दाकानन भी उनके स्वागतके लिये प्रस्तुत है। द्रुमवल्लरियोंके अगणित तोरण निर्माणकर एकमात्र उनकी ही प्रतीक्षा कर रहा है वह, और यह लो, वृन्दावनेश्वर भी उसका अभिनन्दन स्वीकार करने आ ही तो पहुँचे।

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो
गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्
विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। २)

बलजुत बेनु बजाय सुहावन।
निज गौ गनत गोप सब पावन॥
आगें करि गोधन सब ही के।
बन प्रबेस किय भावत जी कें॥
कुसुमाकर बन सुषमा धामू।
तहाँ गए प्रभु बिहरन कामू॥

वनके राजा पधारे हैं। कानननेे अपने कोशकी अपरिसीम सम्पदा चरणसरोजोंमें समर्पित कर दी, अपने अधिकृत समस्त चर-अचरको साथ लिये वह स्वयं ही न्योछावर हो गया। रसमत्त भ्रमरोंकी मधुर गुञ्जार, मृग एवं विहंगमोंका अव्यक्त सुमधुर रव, भगवद्भक्तके निराविल मानसतलके समान स्वच्छ शीतल सुमिष्ट जलसे पूर्ण सरोवरोंका सांनिध्य, उनपर 'झुर-झुर' करते हुए प्रवाहित, शीतल पद्मगन्ध-वासित मन्द समीरका आकर्षण—कानननेे एक साथ समस्त उपकरण सामने रख दिये। श्रीकृष्णचन्द्रने भी उस ओर मनोनिवेश किया। उस मञ्जुघोषसे उनके कर्णपुट पूरित हो उठे। सुखद अनिलने उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श पा लिया। सरोवरके स्वच्छ सलिलकी मधुरिमा उनकी रसनासे जा मिली। विकसित पद्मोंकी शोभा नेत्रकोणोंमें समा गयी। नानाविध कुसुमोंका सुवास उनकी घ्राणेन्द्रियमें सञ्चित हो उठा। सचमुच उनके कर्ण, त्वक्, रसना, दृगञ्चल एवं नासापुटोंका आनन्द-संवर्धन करनेके लिये ही तो अरण्यने यह समस्त सामग्री एकत्र की है और इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र—वनके देवताने भी इस प्रेम-भरित भेंटको स्वीकार कर लिया, वनकी सेवा स्वीकृत हो गयी। वृन्दावनेश्वर सोचने लगे—'बस, आज यहीं विहार हो।'—

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं
महन्मनःप्रख्यपयस्सरस्वता।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ३)

मंजु घोष अलि द्विज बहु जाती।
मृग, बराहगन नाना भाँती॥
सर सुंदर जल अति गंभीरा।
त्रिविध पवन, सौरभ पुनि नीरा॥
स्वच्छ स्वादु जनु सुधा समाना।
बिसद संतमन सरिस बखाना॥
देखि बिपिन सुंदर सर सोभा।
रमन हेतु प्रभु कौ मन लोभा॥

× × ×

बृंदाबन छबि कहत बनैं न।
भूलि रहैं जहँ हरि के नैन॥
जामें संतत बसत बसंत।
प्रफुलित नाना कुसुम अनंत॥
कंटक द्रुम एकौ नहिं जहाँ।
चिदाभास भासत सब तहाँ॥
चलत जु नहिं लीलारस-रले।
मति हरि आवैं इत ही चले॥

रटत बिहंगम रंगन भरे।
बात कहत जनु द्रुम रस ढरे॥
कोकिल कूजति इमि छबि पावति।
जनु मधु-बधू सुमंगल गावति॥
कुसुम धूरि धूँधरी सुकुंज।
गुंजत मंजु घोष अलि-पुंज॥
सुंदर सर निर्मल जल ऐसें।
संत जनन के मानस जैसें॥
तिन मधि अमल कमल अस लसे।
जनु आनंद भरे सर हँसे॥
जल पर परी पराग जु सोहै।
अबिर भरे नव दर्पन को है॥
जहँ लगि बृंदाबन की भूमि।
औरहि बिधि रहि जमुना झूमि॥
परमाधार, सु रस जो आहि।
बहति रहति निसि-बासर ताहि॥
जित देखिय, तित सुख की रैनी।
कनक करारे रतनन सैनी॥
मंजुल बृंदाबन की गुंजा।
कृष्न-नाम मुख सुख कौ पुंजा॥
तिनहि बिलोकि लटू ह्वै गए।
तुरतहिं तोरि हार गुहि लए॥

वृन्दावनेश्वरने उत्फुल्ल होकर वहाँकी सघन सुन्दर तरुराजिकी ओर दृष्टि डाली। सर्वत्र ही शोभाका अंबार लगा है। अरुणवर्ण कोमल पल्लवजालसे मण्डित हो रहे हैं ये गगनस्पर्शी वृक्षसमूह। अगणित फल-समूहों एवं पुष्पगुच्छोंके गुरुभारसे ये अवनत हो रहे हैं। मानो फल-प्रसूनोंका यह अतिशय भार उनके लिये असह्य हो गया है और वे सर्वंसहा वसुधाको इसे समर्पित करने जा रहे हों, नहीं-नहीं, सर्वथा भिन्न है इनकी भावना। ओह! ये तो वृन्दावनदेव श्रीकृष्णचन्द्रकी अर्चना कर रहे हैं। अपने भवनमें पधारे हुए आराध्यका दर्शन पाकर ये वनवासी वृक्षगण मस्तकपर सँजोये हुए पूजोपहार—फल-पुष्पोंको उतार-उतारकर उनके चरणसरोजोंमें निवेदन कर रहे हैं। नमित होकर, अपनी शाखावलीसे श्रीकृष्णपादपद्मोंकी संनिकट धराका स्पर्श करके ये मूक संकेत कर रहे हैं—'आओ, हमारे देवता! इस पथसे आओ, हमारा उपहार स्वीकार करो।' इस प्रकार वृन्दावनेश्वरका आवाहन कर रहे हैं ये। जो हो, वृक्षावलीकी यह मनोहर शोभा श्रीकृष्णचन्द्रमें एक अनिर्वचनीय हर्षका सञ्चार कर देती है तथा अपने अरुणिम अधरोंपर मृदु-मधुर हास्य-सा भरकर वे अग्रज बलरामके प्रति अपना मनोभाव प्रकट करने लग जाते हैं—

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा
स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ४)

सुंदर तरु-पल्लव अरुन, फल प्रसून उर भार।
पद परसत निज सिखनि तैं, देखेउ नंदकुमार॥
बोले श्री जदुनाथ, मंद मंद हँसि भ्रात सौं।
सुनिय तात यह गाथ-द्रुम सोभा निरखहु सजन!॥

× × ×

सुंदर तरु सुरतरु तहँ को है।
जे मनमोहन के मन मोहै॥
अरुन-अरुन नव पल्लव पात।
जनु हरि के अनुराग चुचात॥
निरखे द्रुम जु फूल-फल नए।
मधुकर निकर महा छबि छए॥
नए जु फल-फूलन कें भार।
लगि-लगि रहीं धरनि द्रुम-डार॥
बार-बार हरि तिन तन चहैं।
बल भैया सौं बातैं कहैं॥

उनके स्वरमें विनोदका पुट अवश्य है, पर वाणी प्रकाशित कर रही है परम सत्य तथ्यको ही। एक ओर इसमें तत्त्वका अनुसंधान करनेवालोंके लिये प्रचुर सामग्री भरी है, और उधर अपने उन गोपसहचरोंके लिये, प्रपञ्चमें उन्हींकी बाट देखनेवाले भक्तजनोंके लिये रसका स्रोत संनिहित है। यह आदिपुरुष व्रजेन्द्रनन्दनकी वाणी जो ठहरी! जिसकी जैसी रुचि, वैसी ही सामग्री वह ले ले इससे। किंतु लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र तो अपने स्वाभाविक बाल्यावेशके प्रवाहमें ही कहते जा रहे हैं।

उन्हें कौतुकविशेषकी अवतारणा करनी जो है। इसीलिये उनके अधरोंपर स्मित है, चञ्चल दृष्टिसे वे वनस्थलीकी ओर देख रहे हैं तथा विस्मययुक्त हुए-से बनकर उत्प्रेक्षा करते हुए, अपने अग्रज बलराम भैयाके प्रति आदरपूर्ण परिहासगर्भित वचनोंसे वनकी शोभा वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं—

ततश्च कौतुकविशेषलम्भनाय व्रजराजतनूजः सस्मितमीक्षमाणः सविस्मयवदुत्प्रेक्षमाणश्च निजाग्रजं प्रति सादरनर्मगन्धप्रबन्धि वनवर्णनं निर्ममे।

(श्रीगोपालचम्पूः)

वे बोले—'दाऊ भैया! नहीं-नहीं, देववर! सर्वदेवोत्तम! देखो सही, अहो! इन वृक्षसमूहोंकी चेष्टा तो देखो। ये तो तुम्हारे ब्रह्मादि-देववन्दित श्रीचरणाम्बुजकी वन्दना जो कर रहे हैं। अपने शाखाग्ररूप मस्तकोंपर विविध पुष्प-फलोंकी पूजोपचार-सामग्री लिये झुक-झुककर तुम्हें प्रणाम कर रहे हैं, देवशिरोमणे! तुमने अपने विहारस्थलमें वृक्षरूपसे जन्म धारणकर अपनी सेवा समर्पित करनेका इन्हें अवसर दिया है, इस परम सौभाग्यका दान किया है—यह देखकर ये अपनेको कृतार्थ अनुभव कर रहे हैं, देव! नमनके द्वारा अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं। सचमुच धन्य हैं ये कदम्ब, प्रियाल, पनस आदि वृक्षसमूह, जिनके हृत्तलमें ऐसे दिव्य भावोंकी लहरें हैं, जिनकी ऐसी पवित्रतम चर्या है। क्यों न हो, ये अज्ञानी—जड जो नहीं। अपितु इनके तो सौभाग्यके दर्शन-श्रवण करनेवालेका अज्ञान-तिमिर सदाके लिये विनष्ट हो जाता है। अहो! जिनके अन्तस्तलमें तुम्हारे श्रीचरणसेवनकी लालसा भरी है, उन्होंने ही तो ज्ञानके सारसिद्धान्तको हृदयंगम किया है! तुम्हारे चरणसेवनपरायण इन द्रुमसमूहोंमें कहाँ है तम अज्ञानका अंश। प्रत्युत तुम्हें सेवा समर्पित करके, आदर्श स्थापित कर, जगत्‌के तमोनाश—अज्ञान-निवारणके लिये ही इन्होंने इस वृन्दावनधाममें वृक्षयोनिको अङ्गीकार किया है—यही सत्य है।'

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५)

देखहु हो ये द्रुम या बन के।
सब सुख करने, हरने मन के॥
सिखा निकरि परसत तुव पाइ।
जानत हौ कछु इन कौ भाइ॥
कहत कि हो ईस्वर जगनाइक।
हौ तौ तुम सबहिन सुखदाइक॥
ऐ परि हम पर बहुतै ढरे।
जातें या बन के द्रुम करे॥

× × ×

बोले सुंदर स्याम, हे अग्रज बन कौं लखहु।
परम रम्य, सुखधाम, मिलि बसंत प्रफुलित तहाँ॥
प्यारी प्यारी मृदु द्रुम-लता मंजु रंजै नबेली।
देखौ झूमैं मिलि सुमन कौं स्वच्छ गुच्छै नबेली॥
फूले फूले नव बिटप ते पुष्प सौं भूरि भारैं।
मानौं चाहें तव चरन लै भूमि पै सीस धारैं॥

श्रीकृष्णचन्द्र वृक्षोंका सुयश वर्णन कर रहे हैं। पर इतनेमें ही वह मधुपानरत भ्रमरावली 'गुन-गुन' कर वहीं एकत्र होने लगती है। अब इस समय कुसुमोंके परागचयनमें इस भ्रमरश्रेणीको रस नहीं; क्योंकि इसने नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका सौरभ जो पा लिया है। इसीलिये पुष्पगुच्छोंका परित्याग कर यह भ्रमरकुल भी वनस्थलीके उस अंशका ही आश्रय ग्रहण करता है। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको एक नवीन माध्यम प्राप्त हो गया। अब इस अलिकुलका ही मिस लेकर उनके वर्णनकी धारा आगे चल पड़ती है। वही आदरपूर्ण परिहासगर्भित स्वर है और वे कहते जा रहे हैं—'हे मेरे आदिपुरुष! पुरुषोत्तम! देखो, इन समीपवर्ती भ्रमरोंकी ओर दृष्टि-निक्षेप करो। ये तुम्हारे अखिलभुवनपावन यशका गान कर रहे हैं। तुम्हारे पुनीत यशका गान करते हुए निरन्तर तुम्हारे भजनमें ही ये संलग्न हैं। हे परमकारुणिक! इन्हें पहचानो तो सही! ये अधिकांशमें तुम्हारे ही भक्तश्रेष्ठ मुनिगण हैं। तुम यहाँ इस वृन्दावनमें पधारे हो अपने अनन्त ऐश्वर्यपर आवरण डालकर ही, तथा बाल्यक्रीड़ा-

रसमत्त होकर ही विचरण कर रहे हो। फिर भी अपने इष्टदेव तुमको इन सबोंने पहचान ही तो लिया। इसीलिये ये सब तुम्हें छोड़कर जा जो नहीं पाते! 'गुन-गुन' की ओटमें निरन्तर इनके मुखसे झर रही है तुम्हारी ही अमल कीर्ति और इसे प्रसारित करते हुए ये यहीं सर्वत्र घूम रहे हैं।'

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ६)

अरु देखहु या बन के भृंग।
बोलत डोलत तुम्हरे संग॥
जनु ये मुनिगन अलि ह्वै आए।
जद्यपि गुपत, तदपि लखि पाए॥

× × ×

गावहिं तव जस अति चित चाही।
अखिल लोक तीरथ सम ताही॥
गूढ़ वेष धरि तव पद-कंजा।
भजहिं निरंतर भव-रुज गंजा॥

अब नीलसुन्दरकी दृष्टि आती है उनके ही दर्शनसे आनन्दविवश नर्तनशील मयूरोंकी ओर। तथा इधर आयी हैं दल-की-दल हिरणियाँ, जो निर्निमेष नयनोंसे देख रही हैं एकमात्र उनको ही। साथ ही ऊपर आम्र-शाखाओंपर कोकिल-कण्ठका पञ्चमस्वर भी प्राणोंमें रसका संचार कर दे रहा है। श्रीकृष्णचन्द्रने इन सबकी स्नेहभावनापर भी अपनी स्वीकृतिकी छाप डाल ही दी। वे इनका उल्लेख करते हुए कहने लगते हैं—'सर्वपूज्य मेरे भैया! समस्त वनवासी ही यथासाध्य तुम्हारी पूजा कर धन्य हो रहे हैं। देखो, ये मयूर तुम्हारे दर्शनसे परमानन्दमें निमग्न होकर नृत्य कर रहे हैं। ये मृगवधुएँ कुरङ्गनयनी गोपसुन्दरियोंके समान ही प्रेमपूरित स्निग्ध दृष्टिसे निहार कर तुम्हारा आनन्द-संवर्धन कर रही हैं। कोकिल-समूह अपने मधुर 'कुहू-कुहू' रवका विस्तार कर तुम्हारा स्वागत कर रहा है। अहा! धन्य हैं ये वनवासी प्राणी! धन्य है इनकी भावना! देखो, साधु-पुरुषोंकी भाँति ही तो इनके समस्त आचरण हैं। संतजनोंका यही नित्य स्वभाव है—गृहपर पधारे हुए अतिथिको वे अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी भेंट समर्पित करते हैं। उनकी सेवामें अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। भैया! मयूरोंने, हरिणियोंने, कोकिलने यही तो किया है। पक्ष-विस्तार कर आनन्द-नृत्य करनेके अतिरिक्त और है ही क्या इन मयूरोंके पास! स्निग्ध दृष्टिसे तुम्हें निरन्तर देखती रहें—बस, इतनी-सी ही क्षमता इन हरिणीगणोंमें है न! और अपने मधुपूरित कण्ठसे तान छेड़नेभरकी ही सामर्थ्य तो है इन कोकिलोंमें! देखो, स्पष्ट ही तो मानो ये कह रहे हैं—'तुम हमारे गृहपर पधारे हो, किंतु तुम्हारी सेवाके योग्य बस इतनी-सी ही वस्तु हमारे समीप है। इसे ही स्वीकार कर लो, देव!' अहा! साधुस्वभावके कितने सुन्दर निदर्शन हैं ये!—

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः॥

(श्रीमद्भा १०। १५। ७)

केकीगन नाचहिं मुद मानी।
गोपी इव सब मृगी सुहानी॥
पलक त्यागि निरखैं तव रूपा।
तव प्रिय करहिं बिना अनुरूपा॥
कोकिल कूकि-कूकि प्रिय बानी।
तव सतकार करहिं सुख मानी॥
साधुन कौ यह सहज सुभाऊ।
पूजहिं काय-बचन-चित चाऊ॥
गृह आगमन जानि जगदीसा।
अरपन करहिं जु बचन-पियूसा॥

'और तुम्हारी भी कितनी अपरिसीम कृपा है इन वनवासी चर-अचर प्राणियोंपर।'—श्रीकृष्णचन्द्र अबतक तो उन-उन स्थावर-जंगमोंकी सेवा-भावना, श्रीबलरामके प्रति उनके निश्छल अनुरागकी चर्चा कर उनके सौभाग्यका वर्णन कर रहे थे। किंतु अब उनके प्रति श्रीबलरामका अनुग्रह भी अद्भुत ही है, इस दृष्टिसे उनकी परम कृतार्थताका संकेत करते हुए

वे वन-वर्णनका उपसंहार करते हैं—'दादा, देखो काननकी इस धराको तुमने किस अद्भुत कृपाप्रसादका दान किया है। तुम्हारे आगमनसे यह कितनी धन्य-धन्य हो रही है। तुम्हारी वाराह-मूर्तिका स्पर्श पाकर यह कृतार्थ अवश्य हुई थी। पर उस समय कहाँ प्राप्त था इसे तुम्हारे चरणसेवनका परम सुदुर्लभ सौभाग्य। वाराहदेवके विशाल दंष्ट्राग्रपर ही इसे स्थान मिला था। तुम्हारे इन मृदुल सुकोमल चरणतलके स्पर्शका अवसर उस समय कहाँ था। किंतु आज तो तुम अनावृत-चरण हुए काननकी धरापर संचरण कर रहे हो। यह आज अनुक्षण तुम्हारे पादपद्मोंके स्पर्शसे अतिशय सौभाग्यशालिनी हो चुकी है। अहो! केवल धरा ही नहीं, धरासे सम्बद्ध सभी निहाल हो गये। देखो, ये क्षुद्र तृण-वीरुध—दूर्वा, कुश आदिने भी तुम महामहिमका चरणस्पर्श पा लिया। और ये हैं इधर द्रुम-लताएँ। तुम इन द्रुमोंसे फलोंका आहरण करते हो, लता-वल्लरियोंसे पुष्प-पल्लवका चयन करते हो। उस समय तुम्हारे नख-चन्द्रसे ये स्पृष्ट होते हैं। कितना, कैसा अपरिसीम सौभाग्य है इनका! अहा! उधर देखो, वह है तपनतनयाका मञ्जुल प्रवाह। बह रहा मानस-गङ्गाका शान्त स्रोत। सामने अवस्थित हैं गिरिराज गोवर्धन और अन्य पर्वतमालाएँ। ये रहे ऊपर, सामने, पीछे, दक्षिण वामपार्श्वमें उड़ते, बैठे, कलरव करते हुए विहंगम-कुल तथा सर्वत्र काननमें स्वच्छन्द विचरण करते हुए पशुसमूह। ओह! इन सरिता, सर, गिरि, खग-मृग—सबपर ही तो तुम्हारी प्रतिदिन सकरुण दृष्टि पड़ती है। कितने सौभाग्यशाली हैं ये! अहो! भाग्य देखो इस श्यामवर्णा गोपी नामकी लताका! कहाँ तो तुम्हारा यह सुविस्तीर्ण वक्षःस्थल वैकुण्ठवासिनी लक्ष्मीके लिये भी स्पृहणीय है तथा उसीपर पुष्पमाल्यके साथ ग्रथित होकर ये लताएँ भी झूल रही हैं! दादा! स्वयं देख लो! तुम्हारे इस अप्रतिम कृपाप्रसादका दान पाकर ये सब आज कितने धन्य-धन्य हो रहे हैं।'

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ८)

धन्य धरनि, तृन, बिरुध सब तव पद परस, सुजान।
करज परस करि द्रुम लता लहैं परम कल्यान॥

सरिता गिरि खग मृग बन जेते।
धन्य धन्य पसु तन ए तेते॥
मृगी एकटक बदन निहारी।
प्रेमसहित ए धन्य बिचारी॥
तव भुज मध्य रमा चह बासू।
गोपिन कहँ सो सहज सुपासू॥
धन्य भाग्य गोपिन के भूरी।
को बरनै महिमा अति रूरी॥

× × ×

धनि यह धर जापर पगु धरौ।
धनि ये कुंज, जहाँ संचरौ॥
धनि ये सर-सरिता, जहँ खोरत।
धनि ये कुसुम, जिनहि कर तोरत॥

श्रीकृष्णचन्द्र इतना कहकर रुक गये एवं अग्रजकी ओर सस्मित दृष्टिसे देखने लगे। श्रीबलरामके कर्णपुटोंमें मानो अबतक पीयूषकी धारा बह रही हो, इस प्रकार वे अत्यन्त प्रफुल्लित होकर अनुजके इस वृन्दावन-वर्णनकी वाग्मिताका रस ले रहे थे। पर जब यह विराम आया, नीलसुन्दरने दाऊ दादाका रुख जान लेनेके लिये उनके नेत्रोंसे अपनी चारु चञ्चल दृष्टि मिला दी, मौन होकर वे प्रतीक्षा-सी करने लगे, तब बलरामके अधरोंपर भी एक विचित्र मन्द मुसकानकी छाया आयी और वे कह उठे—'भैया रे श्रीकृष्ण! वन-वर्णनके मिससे तूने जो बातें कहीं, वैसे गुणगणोंसे समलङ्कृत तो तू ही है रे! ईश्वर तो तू है। दूसरेका नाम इस प्रसङ्गमें क्यों सान दे रहा है?'

अथाग्रजश्चानुजवाचममृतमिवाचम्य स्मित-माचरन्नुवाच। भवादृश एव तादृशगुणगणभागीश्वरः कथमन्यं तत्र गण्यं करोतीति॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

फिर तो नीलसुन्दरके दृगोंमें एवं मुखचन्द्रपर एक पवित्रतम संकोचकी छाया-सी आ ही गयी। कदाचित्

व्रजमहाराज्ञी यहाँ इस अवसरपर उपस्थित होतीं तो वे निश्चय ही उनके अञ्चलसे अपना मुखसरोज आवृत कर लेते। पर यह तो सम्भव नहीं। इसीलिये एक बार तो उन्होंने अपने ही अञ्जलिपुटसे अपने मुख-कमलको ढक लेना चाहा, करपल्लवोंने नेत्रोंको, सुचिक्कण कपोलोंके कुछ अंशको आवृत भी कर लिया। किंतु दूसरे ही क्षण उन्हें संकोचनिवारणके योग्य स्थानकी स्मृति हो आयी। अत्यन्त समीप ही तो दाऊ दादा खड़े हैं। बस, वे दौड़े, अपनी दोनों भुजाएँ दाऊ दादाकी ग्रीवामें झुला दीं और मुखचन्द्र तो उनके विशाल वक्षःस्थलकी ओटमें छिप ही गया। अग्रजने भी अनुजको अपने भुजपाशमें भर लिया! दोनों ही हँस रहे हैं—श्रीबलराम तो स्पष्टरूपसे एवं नीलसुन्दर अपना मुख छिपाये ही। वे असंख्य गोपशिशु भी हँसने लग जाते हैं—इसलिये नहीं कि उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी एवं बलरामकी इन उक्तियोंमें संनिहित तत्त्वविशेषकी गन्ध लगी हो; अपितु इसलिये कि उनके कन्नू भैयाने, दाऊ दादाके साथ विनोदकी होड़में हारकर अपना मुख छिपा लिया है! दाऊ दादाने अत्यन्त सुन्दर उत्तर कन्नूको दे दिया। वे सख्य-रस-मत्त शिशु इस बातको नहीं जानते, कभी जान पायेंगे ही नहीं कि उनके साथ खेलनेवाले ये व्रजेन्द्रनन्दन, ये बलराम भैया ही समस्त तत्त्वोंके सारभूत परम तत्त्व हैं, दोनों ही अभिन्न हैं। इसका विश्लेषण तो करते हैं, कर रहे हैं अन्तरिक्षचारी अमरवृन्द—जिनके नेत्रोंमें यह दिव्य झाँकी भरी है और कर्णपुटोंसे जिन्होंने अग्रज-अनुजकी इस चर्चाका अमृत पान किया है। बस, वे ही जानते हैं—'राम-श्याम तत्त्वतः अभिन्न अवश्य हैं'। साथ ही बलरामने भी इस समय यह कहा है सर्वथा बाल्यावेशके प्रवाहमें ही, फिर भी श्रीसङ्कर्षण बलरामका वह उत्तर कितना सत्य तथ्य है! परम सत्य है वह! किंतु गोपशिशुओंने तो उसमें आदिसे अन्ततक केवल परिहासका ही रस लिया है। और वे हँस रहे हैं इसीलिये कि उनका कन्नू भैया खेलमें तो बहुत बार हार गया है, पर बातोंमें कभी नहीं हारता, दाऊ दादा भी उसका उत्तर नहीं दे पाते। परंतु आज वह हार गया। दाऊ दादाको प्रत्युत्तर न दे पाया! कौन समझाने जाय उन्हें—'श्रीकृष्णचन्द्रके प्यारे सखाओ! वे तुमसे हारते हैं, सदा हारे ही रहेंगे; पर वे हैं नित्य अजेय।' और समझानेपर भी इस तत्त्वज्ञानके टिकने-योग्य स्थान ही कहाँ है उनके सख्यमसृण अन्तस्तलमें।

अस्तु, इस प्रकार हास-परिहासका रस लेकर, परम सुन्दर वृन्दावनकी शोभा निहारकर प्रसन्नचित्त हुए श्रीकृष्णचन्द्र अब गोपशिशुओंके सहित गिरिराज-परिसरमें अवस्थित मानसगङ्गा-तटपर गोसंचारण करते हुए विविध क्रीड़ाकी अवतारणा करने चले। उनका दिव्य नित्य नवीन दैनंदिन विहार आरम्भ हुआ—

एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून्।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ९)

एहि बिधि बल सौं बरनि कृपाला।
लखि बृंदाबन-प्रभा बिसाला॥
अति प्रसन्न मन सखन समेता।
रमत भए हरि कृपा-निकेता॥
गिरि समीप सरिता-तट सुंदर।
धेनु चरावत हरि गुन-मंदिर॥
सो छबि बरनि सकै नहिं कोऊ।
सेष आदि लखि छकि रहे सोऊ॥

× × ×

एहि बिधि बिहरत बृंदाबन में।
छिन-छिन अति रति उपजत मन में॥

श्रीकृष्णका वृन्दावन-विहार

उन अखिललोकपाल बालगोपालका वनविहार भी निराला ही है। वे जा तो रहे हैं अरण्यकी शोभा निहारते हुए—

राम स्याम आगें चले बन सोभा देखत।
संग सखा सुख कौं लहैं सुभ भाग बिसेखत॥
झुलत सुमन मधु स्त्रवत तहँ, धुंधर उड़त पराग।
बहतु गंध अलि बंध जे, लेत उमगि अनुराग॥

किंतु साथ ही एक-से-एक मनोरम कौतुकका निर्माण भी होता जा रहा है। कभी तो वे अपने ही श्रीअङ्गके सौरभपानसे मदान्ध हुए भ्रमरोंका 'गुन-गुन' रव सुनकर उस गुञ्जनका ही अनुकरण करने लगते हैं—इतनी सफल एवं सरस अनुकृति कि उनके नित्य सहचर अग्रज श्रीबलरामको भी अनुजके मुखसे निस्सृत गुञ्जन-स्वरका यह झंकार विस्मित कर देता है और वे उल्लासमें भरकर स्वयं भी इस क्रीड़ामें योगदान करने लग जाते हैं। तथा उन गोपशिशुओंके आनन्दका तो कहना ही क्या है। उनके सरल, सख्य-रसभावित हृदयकी भावना बरबस बाहरकी ओर उमड़ चलती है—अपने कोटि-कोटि-प्राणप्रिय कन्हैया भैयाके लिये प्रशंसाके गीतका एवं 'अहाहा! अरे! वाह रे, कन्नू भैया!' इस साधुवादका मञ्जुघोष पद-पदपर गूँजने लगता है। इतना ही नहीं, उन शिशुओंका हृत्तल न जाने नीलसुन्दरके कितने शतसहस्त्र पुनीत प्रेमिल रसमय चरितोंके संस्मरणसे नित्य पूर्ण है। किसका द्वार खुले, यह नियम थोड़े ही है। इसके अतिरिक्त वे बालक भी असंख्य जो हैं। आनन्दविभोर होकर—जिसके मनमें श्रीकृष्णचन्द्रकी जिस लीलाकी स्फूर्ति हो जाय, बस, उसीका गीत—सर्वथा अपनी विलक्षण प्रतिभासे ही रचकर वह गाने लगता है। और आश्चर्य तो यह है कि उसने कभी तालस्वरकी योजना सीखी नहीं, फिर भी कहीं स्खलन नहीं है। ठीक लयमें बँधी-सी उसके कण्ठकी धारा भी मानो दौड़ी जा रही है—नीलसुन्दरके श्रीअङ्गसे व्यक्त हुई उन-उन कौतुकमयी चेष्टाओंके पीछे-पीछे, उस चिन्मय रस-प्रवाहको छूती हुई-सी। उधर तो दल-के-दल मधुमत्त भौंरे मँडरा रहे हैं, कुछ व्रजेन्द्रनन्दनके कण्ठदेश एवं वक्षःस्थलपर झूलती हुई वनमालापर भी आ विराजे हैं—इन सबका एक स्वाभाविक गुञ्जन है, और इधर नीलसुन्दरकी अद्भुत अलौकिक परम मनोहारिणी अनुकृतिका रागमय स्वर स्पन्दित हो रहा है। तथा उनमें मिल रही हैं शिशुओंके आह्लादपूर्ण श्रीकृष्णसुयशसंगीतकी ललित लहरियाँ। तीनोंका विचित्र सुन्दर सम्मिश्रण है—

अत्र भ्रमराणां स्वजातीयस्य स्वरमात्रस्य गानं श्रीभगवतस्तदनुसारिस्वरस्य तदुचितरागस्य च अनुव्रतानां तु तयोर्गीतबद्धतच्चरितस्य चेति मिथोगानमेलनं ज्ञेयम्।

(वैष्णवतोषिणी)

विचित्र-सा समा बाँधा है वृन्दावनविहारीने।

क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमानचरितः स्त्रग्वी सङ्कर्षणान्वितः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १०)

जे मदांध अलि रव सुभ गाना।
तेहि अनु सुभग गान हरि ठाना॥
गोप सुजस गावत हरि केरे।
बिहरत बिपिन सुखन सुख हेरे॥

कभी व्रजराजनन्दनके कर्णपुटोंमें मधुर कोमल आलाप करते हुए शुककी वह मनोहारिणी ध्वनि भर उठती है और वे तत्क्षण उससे भी अधिक सरस स्वरमें कीरका ही अनुकरण करने लगते हैं। कभी कोकिल-कूजनकी मधुर पञ्चम तान सुनकर उसकी अपेक्षा भी मृदुलतर कण्ठसे ठीक वैसे ही राग वे भी भरने लगते हैं। और फिर तो कुछ ही क्षणोंमें वे शुक-पिक आदि विहंगम मौन धारण करेंगे ही, कर ही लेते हैं; शान्तस्थिर होकर वे अपने इस अनोखे प्रतिद्वन्द्वी

गायकको ओर मानो देखने लग जाते हैं, उन्हें लज्जा-सी लगने लगती है—आह! कहाँ हमारी यह कर्कश ध्वनि और कहाँ इन नीलसुन्दरका मधुस्यन्दी स्वर!—

अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यैः शुकं क्वचित्।
क्वचित्सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम्॥

कभी आनन्दमें भरे सुन्दर अस्फुट रवका सृजन करते हुए कलहंसोंका वह शब्द ही उनके कौतुकका विषय बनता है। उस हंसकुलके अत्यन्त समीप वे जा पहुँचते हैं, उनके कूजनमें ही अपना स्वर मिलाने लगते हैं। उस समय किसकी सामर्थ्य है, जो तनिक-सा भी अन्तर पा सके उन हंसोंके नैसर्गिक सुन्दर रवमें तथा व्रजेशके स्नेहजालमें नित्य उलझे हुए इन अद्भुत बालमरालके द्वारा रचित आश्चर्यमयी अनुकृतिमें। तथा इसी बीचमें कभी उनकी दृष्टि आकर्षित हो जाती है वनस्थलीके विभिन्न भू-भागोंपर नृत्य करते हुए मयूरोंकी ओर। बस, श्रीकृष्णचन्द्र उधर ही दौड़ चले, वहीं जा पहुँचते हैं। अतिशय शीघ्रतासे अपने पीताम्बरके उत्तरीयको उन्होंने हाथोंके सहारे पीछेसे फैलाकर ऐसा बना लिया मानो किसी नृत्यपरायण अभिनव मयूरका विस्तारित पीताभ पुच्छ हो। तथा यह हो जानके अनन्तर देखने ही योग्य रहता है उस मयूरदलके तालबन्धपर, उनके सम्मुख ही नीलसुन्दरका अनुकरण-नृत्य! उनके महामरकत-श्यामल श्रीअङ्गोंकी विचित्र भङ्गिमाएँ देख-देखकर वे असंख्य गोपशिशु उच्च कण्ठसे हँसने लग जाते हैं। उनकी वह उन्मुक्त हँसी गिरिपरिसरमें सर्वत्र गूँज उठती है। मयूरदलको संकोच होने लगता है। पुच्छ संकुचितकर, नृत्यका विराम कर वे देखने लग जाते हैं श्रीकृष्णचन्द्रको ही। उन्हें सचमुच यही अनुभूति होती है—ऐसा सुन्दर नृत्य वे कर जो नहीं सकते!—

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ११)

कबहुँक कल हंसनकी बानी।
सुनि तेहि आपु सरिस मन जानी॥
बिधि बाहनकी सुभ गिरा, तेहि सम बोलत बैन।
कबहुँक केकी नृत्य लखि, नाचत हरि सुख ऐन॥

× × ×

कहुँ कहुँ हंसन मिलि सु-कलोलत।
वैसैंहि डोलत, वैसैंहि बोलत॥
कहूँ मत्त निरतत दिखि मोर।
तैसैंहि निरतत नंदकिसोर॥

और कदाचित् बाल्य-विहारके इस रसमय आवेशमें श्रीकृष्णचन्द्र आत्मविस्मृत-से हो गये, क्रीड़ा-दर्शनके उन्मादी सुखमें डूबकर शिशु अपनी सुध-बुध खो बैठे तथा गायें संरक्षणके अभावमें पूर्णतया स्वतन्त्र होकर विचरण करती हुई बहुत दूर चली गयीं, उस समय व्रजेन्द्रनन्दन अकस्मात् जाग-से उठते, उनके नित्य-नवसुन्दर मुखारविन्दपर एक विचित्र-सी व्याकुलताका चिह्न परिलक्षित होने लगता, 'अरे भैयाओ! देखो तो सही, गायें कहाँ-से-कहाँ चली गयीं।' कहकर सखाओंको सावधान करते। शिशुओंके नेत्रोंमें किञ्चित् भयकी छाया-सी भर जाती; किंतु दूसरे ही क्षण नीलसुन्दरके बिम्बारुण अधर-पल्लवपर वह पूर्वका स्मित व्यक्त हो जाता, वे दौड़कर निकटवर्ती कदम्बकी ऊँची शाखापर चढ़ जाते। और फिर गूँज उठता उनका मेघ-गम्भीर नाद—'अरी पिशङ्गि! मणिकस्तनि! री प्रणतशृङ्गि पिङ्गेक्षणे! अरी मृदङ्गमुखि! धूमले! हंसि! वंशीप्रिये! आ जा, आ जा री! हीओ! हीओ!' इस प्रकार प्रत्येकका नाम ले-लेकर, स्नेहविवश होकर वे आह्वान करने लगते। उनकी यह अतिशय मधुर मनोहर जलद-ध्वनि उस असंख्य गोराशिके, गोप-शिशुओंके कर्णपुटोंमें किस अनिर्वचनीय पीयूषस्रोतका सृजन कर देती, इसे कौन बताये?

पिशङ्गि मणिकस्तनि प्रणतशृङ्गि पिङ्गेक्षणे
मृदङ्गमुखि धूमले शबलि हंसि वंशीप्रिये।

इति स्वसुरभीकुलं मुहुरुदीर्णहीहीध्वनि-
र्विदूरगतमाह्वयन् हरति हन्त चित्तं हरिः॥

× × ×

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून्।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १२)

कबहुँक दूरि निहारि, गोधन निज अरु सखन के।
सखा संत हितकारि, जलद गिरा टेरत पसुन॥

× × ×

कबहूँ दूरि जाइ जब गाइ।
ललित कदंबन पर चढ़ि जाइ॥
आनँदघन सम सुंदर टेरनि।
इत उत वह हेरनि पट-फेरनि॥
हे गंगे, हे हे गोदावरि।
हे जमुने, हे भावरि, चावरि॥
हे मंजरि, हे कुंजरि, सीयरि।
हे हे धौरी धूमरि, पीयरि॥

अन्तरिक्षचारी अमरगण देखते—व्रजेन्द्रनन्दनकी पुकार सुनते ही गायोंने तत्क्षण अपने मुखका अर्धचर्वित तृणग्रास उगलकर सिरको ऊपर उठा लिया, प्रेमविवश हुई एक साथ सब-की-सब हाम्बारव कर उठीं तथा प्राणोंका सम्पूर्ण वेग लगाकर दौड़ चलीं अपने नित्यपालक नन्दनन्दनके समीप—

स्त्रवन नाद सुनि, मुख तृन धरि सब चितईं सीस उठाय।
प्रेम बिबस ह्वै, हूँक मारि, चहुँ दिसि ते उलटीं धाय॥

और नन्दनन्दन—जय हो महामहेश्वरकी उस प्रेमाधीनताकी! वे आनन्द-विह्वल होकर अपने पीताम्बरसे गायोंके मुखपर लगी हुई रजको पोंछते हैं—

चत्रभुज प्रभु पट पीत लिऐं कर, आनँद उर न समाय।
पोंछत रेनु धेनु के मुख तें गिरि गोवर्धन राय॥

गायोंकी आँखें छल-छल करने लगती हैं। गोपशिशु यह देखकर आनन्द-विभोर होने लगते हैं। विमानचारी देववर्गका हृदय भी भर आता है। साथ ही इन धेनुसमूहके सजल नयनोंमें उन्हें एक अतिशय रहस्यमय संकेत झाँकता-सा दीख पड़ रहा है; क्योंकि ये साधारण, प्रकृति-परम्परासे सम्भूत गोधनश्रेणी हों, ऐसी बात तो है नहीं। ये तो हैं परब्रह्म परमपुरुष श्रीकृष्णचन्द्रके सदंशमें विराजित संधिनी शक्तिकी नित्य परिणति। इनकी भी प्रत्येक चेष्टा कुछ विशेष अर्थ रखेगी ही—ठीक वैसे ही जैसे इनके पालक नीलसुन्दरके दृगोंका, अधरोंका, श्रीअङ्गोंका प्रत्येक स्पन्दन ही मर्त्यजगत्के लिये, स्थूल-सूक्ष्म कारण—सम्पूर्ण विश्वके लिये, असंख्य ब्रह्माण्डश्रेणीके लिये न जाने क्षण-क्षणमें ही कितने रहस्य-तथ्योंका संकेत करता रहता है। यह साधारणतः सम्भव ही कहाँ है कि ये गायें स्वेच्छापूर्वक अपने कोटि-प्राणप्रिय श्रीकृष्णचन्द्रके समीपसे दूर चली जायँ। और यदि गयी हैं तो निश्चय ही अचिन्त्य लीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे, अघटनघटनापटीयसी योगमायाके नियन्त्रणमें ही यह संघटित हुआ है। व्रजेन्द्रनन्दनके लीलाक्रमका साङ्गोपाङ्ग सुचारु निर्वाह होते रहनेके लिये ही ऐसा हुआ है। तथा उस परिस्थितिमें आश्चर्य ही क्या है कि कोई इनसे—इनकी किसी भावमयी चेष्टासे एक सुन्दर-सा संकेत पा ले। इसीलिये देवसमाजको प्रतीत हो रहा है, मानो वे गायें मूक इङ्गित कर रही हों—प्रपञ्चके जीवो! देखो, हमारी दशा! सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम गोपेन्द्रनन्दन नित्य हमारे साथ हैं, एक-से-एक बढ़कर मनोरम विहारकी अवतारणा कर वे नित्य हमारा आनन्दवर्द्धन कर रहे हैं; फिर भी पशुस्वभाववश हम सब उन्हें परित्याग कर मृदुल तृणोंके लोभसे चली ही जाती हैं। किंतु धन्य है करुणावरुणालयकी अहैतुकी कृपा! वे हमें कदापि भूलते नहीं, दूर हट जानेपर भी वे हमारा आह्वान करते ही हैं। और समीप आते ही अपने अपरिसीम स्नेहसिन्धुमें हमें निमग्न कर ही देते हैं। ठीक ऐसी-सी दशा तुम्हारी है। श्रीकृष्णचन्द्र नित्य तुम्हारे ही सहचर हैं। तुम्हारे सुखके लिये एक-से-एक सुन्दर रचनाओंका प्रकाश कर, तुम्हारे पीछे नित्य अवस्थित

रहकर खेल रहे हैं ये। कदाचित् तुम इनकी ओर दृष्टि केन्द्रित कर, इनके समीप ही स्थित रहकर उन रचनाओंका आनन्द ले सकते। फिर तो व्रजेन्द्रकुलचन्द्रका यह नित्य लीलाविहार तुम्हारा भी निजस्व होता। किंतु तुम भ्रान्त हो रहे हो, पशुता ही तुममें नित्य जागरूक है। इसीलिये तो अपने नित्य सखा नन्दनन्दनसे दृष्टि हटाकर, उनसे अत्यन्त सुदूर जाकर विषयोंके प्रलोभनमें उलझे हो! इतनेपर भी इन परम कृपालु नीलसुन्दरकी अनन्त, पारावारविहीन कृपा किसी-न-किसी—मिससे अत्यन्त सामान्य नगण्यतम अवसरको निमित्त बनाकर—तुमपर उमड़ ही चलती है, उनका प्रच्छन्न आह्वान तुम्हारी पशुताके निविडतम आवरणको भेदकर तुम्हें आकर्षित करने ही लगता है। अहा! कैसी अप्रतिम अपरिमित कृपाका दान है यह! जीवो! अब भी सचेत होकर अविलम्ब इन विषयोंके चाकचिक्यसे दृष्टि फेर लो, पीछेकी ओर—अन्तर्मुख होकर देखो, श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हें पुकार रहे हैं। उनके इन इन्द्रनीलद्युति श्रीअङ्गोंमें ही वृत्तियोंको विलीन कर दो, उनके सांनिध्यका कदापि परित्याग मत करो, उनके चरणसरोरुहमें ही नित्य अवस्थित रहो। यहाँ ही तुम्हें सम्पूर्ण अपेक्षित वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी। सत्य-सत्य—ध्रुव सत्य यह है—इन नीलसुन्दरके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी सुख है ही नहीं। इनसे विरहित सुखकी अनुभूति तो भ्रान्तिमात्र है। जो पशु—निर्बुद्धि, विवेकहीन हैं, उन्हें ही यह भ्रम होता है। वे ही श्रीकृष्णचन्द्रसे दूर-दूर हटते रहकर भी सुख ढूँढ़ते फिरते हैं—

पशूनिति श्लेषेण श्रीकृष्णपार्श्वतो दूरं गत्वा निर्बुद्धित्वमुक्तम्।

(वैष्णवतोषिणी)

अस्तु, दूर गयी हुई गायें निकट आ गयीं। बस, इतना-सा अभिप्रेत था लीलाविहारीको और यह हो चुका। अब फिर क्या कौतुक हो? यह लो, आगे-से-आगे शिशुओंका प्रस्ताव प्रस्तुत है। एकने कहा—'अरे कन्नू! चकोरकी बोली बोल सके तो जानूँ।' दूसरेने क्रौञ्चकी, तीसरेने चक्रवाककी, चौथेने लवाकी बोली सुननी चाही। एकने गम्भीर मुद्रा बनाकर कहा—'देख रे कन्हैया! मयूरके समान नाच लेना तो उतना कठिन मुझे नहीं दीखता। हाँ, उसके-जैसे बोलकर दिखा।' अनेक शिशु हैं, अलग-अलग रुचि है। और उधर श्रीकृष्णचन्द्रका आकर्षण किसपर नहीं है? ये चकोर, क्रौञ्च, चकवा-चकवी, भारद्वाज—सभी तो एकत्र हो रहे हैं उनके समीप। श्रीकृष्णचन्द्र सबका मनोरथ पूर्ण करते हैं, सबका अभिनन्दन स्वीकार करते हैं। शिशुओंने देखा—'अद्भुत कला जानता है यह कन्हैया! देखो न, क्षणोंमें ही पहले तो इसने इन सब पक्षियोंके रवका यथार्थ अनुकरण करके पृथक्-पृथक् दिखाया और अब न जाने कैसे इसके मुखमें एक साथ इन समस्त विहंगमोंका कलरव सुन पड़ रहा है।' तथा राशि-राशि वे वन-पक्षी शान्त सुस्थिर होकर देख रहे हैं उनके ही रवका अनुकरण करनेमें तन्मय-से हुए व्रजराजनन्दनकी ओर! वे सब वृन्दावनमें, अपने आवासस्थलमें वनेश्वरका आगमन जानकर, स्नेहके प्रबल आकर्षणसे खिंचकर उन्हें देखने ही तो आये हैं, उनका स्वागत करने ही आये हैं न। फिर क्यों नहीं वनके राजा भी उनकी ही भाषामें उनके स्वागतका उत्तर दें! प्रजाके प्राणोंमें अपना प्राण निरन्तर न मिला सके, वह राजा कैसा। किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे इन स्थावर-जंगम वनवासियोंको ऐसा ही राजा मिला है, जो सर्वथा उनके जीवनमें अपना जीवन मिलाकर शासन कर सके। इसीलिये ऐसे स्नेहमय सम्राट्को सामने देखकर, उन-उनकी भाषामें ही उन्हें बोलते देखकर विहगकुलके हर्षका पार नहीं, हर्षातिरेकवश ही वे सब इस समय शान्त स्थिर हो गये हैं। न जाने कितनी देर इस सघन वनमें विहंगोंकी यह प्रेमजन्य नीरवता तथा चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्रकी यह अनुकरण-क्रीडा बनी रहे यदि अचिन्त्यलीलामहाशक्ति

सदा सचेष्ट न रहें, लीलाका नवीन क्रम उपस्थित न कर दें। वे तो करेंगी ही—वह देखो, वनके सघनतम अन्तर्भागसे हिंस्र पशु व्याघ्र-सिंह भी बाहर उन्मुक्त वनस्थलीमें पगडंडियोंपर चले आये। नीलसुन्दरके प्रति कितना स्नेह भरा है उनकी आँखोंमें, यह देखते ही बनता है। किंतु नीलसुन्दर—बलिहारी है लीलाविहारीकी इस लीलाकी! वे तो भगे, 'अरे दादा रे दादा! सिंह आया रे, भैयाओ! भगो, भगो!'—इस प्रकार अत्यन्त भयभीत-से बनकर चीत्कार कर भागे जा रहे हैं। अवश्य ही उन शिशुओंको कोई भय नहीं। वे सब तो ताली पीट-पीटकर हँस रहे हैं, हँस-हँसकर आनन्दभरी दृष्टिसे इन हिंस्र पशुओंकी ओर निहारकर, उनके और भी समीप जाकर श्रीकृष्णचन्द्रको पुकार रहे हैं—'अरे कन्नू! नेक इधर आ!' तथा उनके कन्नूको भी तो लौटना ही है। यह तो भयका एक अभिनय था। किसे पता नहीं है—वृन्दावनके हिंस्र पशुओंमें अहिंसाकी नित्य प्रतिष्ठा है, निसर्गसे ही परस्पर वैरसम्पन्न जन्तुओंमें भी वहाँ श्रीकृष्णचरणसरोरुहके प्रभावसे सदा स्नेहकी सरिता उमड़ती रहती है। पर श्रीकृष्णचन्द्रको तो खेलना है। उन्होंने सोचा था—'सब सखा तो हँसेंगे ही; हाँ, एक-दो भी कहीं अचानक मेरे चीत्कारसे चञ्चल होकर मेरे साथ भाग चलें, तब देखना है……।' किंतु उनकी यह इच्छा इस समय पूर्ण न हो सकी। जिनके भृकुटीस्पन्दनमात्रसे असंख्य ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन, लय होता है, उन सत्यसंकल्प महामहेश्वर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका यह मनोरथ अपूर्ण रह गया! बस, यही आश्चर्यमयी, त्रिभुवनमोहिनी लीला है लीलामयकी! जो हो, श्रीकृष्णचन्द्र अधरोंपर मन्द मुसकान लिये लौट आये वहीं सखाओंके समीप तथा वे व्याघ्र, सिंह आदि स्नेहविह्वल होकर उनके चरणसरोजोंके निकट लोटने लगते हैं—

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १३)

चक्र चकोर क्रुंच अरु भारत।
मोरादिक द्विज जे बन राजत॥
तेहि अनुकरन बोल गति तासू।
एहि बिधि खेलत कृपानिवासू॥

इस प्रकार नये-नये कौतुक करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र वनमें न जाने कितनी दूर चले जाते हैं। क्षणभरके लिये भी कहीं विश्राम नहीं, उन शिशुओंको भी तनिक-सी श्रान्तिका भान नहीं। उनकी यह क्रीडा अविराम चलती ही रहती है। अग्रज श्रीबलराम भी अनुजके प्रत्येक खेलमें सम्मिलित हैं ही। इस मण्डलमें सबसे अधिक बलशाली भी वे ही हैं। पर आश्चर्य यह है कि यदि कहीं क्रीड़ाश्रमजन्य एक सुन्दर-सी क्लान्ति आती है तो वह आयेगी सर्वप्रथम श्रीरोहिणीनन्दनके गौर मुखारविन्दपर ही और जहाँ यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र सब कुछ छोड़कर अपनी वाम भुजासे श्रीबलरामके कण्ठको वेष्टित कर लेंगे एवं दक्षिण करपल्लवसे अपना पीताम्बर लेकर अग्रजका मुख पोंछते हुए पूछेंगे ही—'दादा! अब तो तुम थक गये दीखते हो!' तथा उस समय अग्रज वास्तवमें थके हैं या अनुजके प्रति उमड़ा हुआ अन्तस्तलका स्नेह ही स्वेदबिन्दुओंके रूपमें व्यक्त हुआ है, श्रीकृष्णचन्द्रको क्रीड़ासे विरत करके विश्राम करा देनेकी भावना ही क्लान्तिरूपमें बाहर आयी है—इसका कोई निर्णय न होनेपर भी श्रीबलरामके मुखसे निश्चय ही यह उत्तर मिलेगा—'हाँ रे भैया कृष्ण! मैं तो थक गया रे!' तो आज भी ऐसा ही हुआ और इसीलिये अब दूसरा आयोजन होना ही है। बस, तुरंत ही समीपवर्ती उस विशाल वटकी स्निग्ध शीतल छायामें मण्डली जा विराजती है। वहाँ अतिशय मनुहारपूर्वक श्रीबलरामकी परिचर्या आरम्भ होती है। एक वयस्क गोपशिशुके अङ्कमें अपना

मस्तक रखकर उन्हें लेट जाना पड़ता है। अनुजकी यही इच्छा है। इस इच्छाका सर्वथा अनुसरण करना उनके लिये अनिवार्य है। अन्यथा वे जानते हैं—इससे तनिक-सा प्रतिकूल चलनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चेष्टाओंका विराम तो होनेसे रहा, अनुजके प्रत्येक प्रेमिल आदेशका पालन करके ही वे उन्हें अपने पास कुछ समयके लिये बैठाये रखनेमें समर्थ हो सकते हैं। इसीलिये नीलसुन्दरकी प्रत्येक प्रार्थना किसी ननु, न च के बिना ही स्वीकृत होती जा रही है। उस शिशुका अङ्क तो सुन्दर उपधान (तकिया) बन ही चुका। हरित मृदुल तृणराजिका सुन्दर आस्तरण भी अरण्यमें वहाँ पहलेसे ही प्रस्तुत कर रखा है। श्रीबलरामके पृष्ठदेशसे संलग्न उनका सुन्दर नील दुकूल अपने-आप उस तृणशय्याका आवरणवस्त्र (बिछौनेकी चादर) बन रहा है। और अग्रजके पादपद्मोंको धारण कर लेते हैं नीलसुन्दर अपने अङ्कमें। यह व्यवस्था हुई है अपने कोटि-प्राणप्रिय दादाको विश्राम करानेकी और दादा भी बाध्य हैं इसे ज्यों-की-त्यों स्वीकार करनेके लिये। अस्तु, यह हो जानेके अनन्तर अब अपने सुकोमलतम करपल्लवोंसे नीलसुन्दर श्रीबलरामका पादसंवाहन आरम्भ करते हैं। इस समय श्रीरोहिणीनन्दनके हृदयकी क्या दशा है, इसकी थाह पा लेना सहज नहीं। कोई तटस्थ इतना ही कह सकता है—स्नेहके अतिशय प्रबल झंझावातको हृत्तलमें ही रुद्ध रखकर अनुजकी ऐसी प्रत्येक रसपूरित सेवाको स्वीकार करते चले जाना, बस, एकमात्र उन्हींके लिये सम्भव है! जो हो, बड़ी देरतक पादसेवाके द्वारा अग्रजका श्रम हरणकर श्रीकृष्णचन्द्र देखते हैं—'दादाको निद्रा आयी या नहीं?' किंतु दादा तो वैसी ही मुग्ध-दृष्टिसे अनुजको निहार रहे हैं। 'ठीक है, अरे सुबल! दादाके चरणतलको मेरी ही भाँति तू अपने अङ्कमें लेकर दबा, मैं व्यजन करूँगा; अभीतक दादाको नींद नहीं आयी रे!'—इस आदेशके साथ नीलसुन्दरने वटपत्र-निर्मित एक छोटी सुन्दर-सी पंखी दाहिने हाथमें ले ली और श्रीबलरामके मुखपर बयार करने लगे वे। पर दादाके नेत्रसरोजोंमें अब भी तन्द्राका संचार न हो सका। 'अच्छा दादा! मैं तुम्हारा सिर सहलाऊँ, फिर तो तुम्हें नींद आ ही जायगी!'—व्यजन तो चल ही रहा है, साथ ही वाम करपल्लवसे श्रीकृष्णचन्द्र बड़े भैया बलरामके सुन्दर केशोंको सहलाने लगते हैं। ओह! कितनी अनुरागपूरित आतुरता समायी हुई है श्रीकृष्णचन्द्रके उन सलोने दृगोंमें—'कैसे मेरे दादाकी आँखोंमें थोड़ा-सा आलस्य भर आये!'

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १४)

जुगल बन्धु बन भ्रमन में, राम श्रमित कछु गात।
पग चाँपत करुना-अयन, कोमल कर-जलजात॥

इस बार अग्रजके नेत्र अर्द्धनिमीलित अवश्य हो गये—तन्द्रासे नहीं, स्नेहकी बाढ़से। किंतु रह-रहकर वे पूर्वकी भाँति ही आँखें खोलकर अब भी अनुजको देखने लग जाते हैं। इसी समय सहसा श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उत्फुल्ल होकर मधुमय कण्ठसे कह उठते हैं—'बस-बस, दादा! अब उपाय ध्यानमें आ गया, तुम निश्चय ही सुख-निद्रामें सो जाओगे!'—अविलम्ब व्रजेन्द्रनन्दनने अपनी मुरली कटिसे निकालकर होठोंपर रख ली और उसमें स्वर भरना आरम्भ किया। दूसरे ही क्षण श्रीबलरामके नेत्रकमल मुकुलित हो गये। इसके अतिरिक्त एक साथ ही ध्वनि प्रसरित होने लगी वनस्थलीके सब अंशोंमें। और फिर इसके महादिव्योन्मादमय प्रभावको कोई सह ले सके, यह सम्भव ही कहाँ है। चर-अचर—सभी वनवासी विमोहित होने लगते हैं। सबके कर्णपुटोंके पथसे हृत्तलमें एक अनिर्वचनीय सुधाकल्लोलिनी उमड़ी आ रही है तथा दृगञ्चल भर रहा है उस मुरलीवालेकी महामरकत श्यामल छबिसे। और तो क्या, स्वयं मुरलीमनोहर वृन्दारण्यविहारी भी अग्रजके निकट विराजित रहकर, आनन्दविवश हुए झूम रहे हैं—

मुख मुरली सुर साधियौ तहँ रूप उज्यारे।
सुनि मोहे बन जीव, जे सुर श्रवननि धारे॥
मगन महा मन मोद में ब्रज-बिपिन-बिहारी।
खग म्रग पसु सब मोहियौ प्रभु-छबिहि निहारी॥

तरु-शाखाएँ परस्पर जुड़कर हरित पत्रोंका सुन्दर वितान निर्माण किये रहतीं और उसके नीचे गोपशिशुओंका मधुर नृत्य, रसमय संगीतप्रवाह चलता रहता। अरण्यकी इस रङ्गभूमिके नेता, प्रधान नट, प्रमुख गायक तो हैं नीलसुन्दर; किंतु उनकी तो प्रेरणामात्र होती, मङ्गलाचरणभर वे कर देते, नीलाक्त-सी हुई अपनी अरुण अञ्जलिमें पूरित सुन्दर अतिशय सुरभित लघु-लघु वन्य कुसुमोंको वहाँ वे बिखेर देते और फिर तत्क्षण ही असंख्य गोपशिशुओंका 'बन्ध' नृत्य आरम्भ हो जाता। आकाशपथमें अवस्थित विद्याधरियाँ, विद्याधर पल्लवजालके छिद्रोंसे यह देखते और अनुभव करते—'इन शिशुओंके अङ्गोंसे व्यक्त हुई कलाकी तुलनामें व्यर्थ है हमारा 'चालक' 'चारी' आदि नृत्य-सम्बन्धी विषयोंका ज्ञान! नृत्यज्ञ होनेका मिथ्या अभिमानमात्र हममें है, वस्तु तो एकमात्र सीमित है व्रजेन्द्रनन्दनके इन लीलापरिकरोंमें ही!' और ठीक यही स्थिति होती गन्धर्व-वनिताओंकी, गन्धर्वोंकी—जब वे शिशु उल्लासमें भरकर राग-रागिनियोंके विभिन्न स्वर अलापने लगते, परस्पर संगीतप्रतियोगिता चल पड़ती उनमें। वे शिशु राग-रागिनियोंका नाम-निर्देश भले न कर सकें; पर यह तो सर्वथा स्पष्ट हो जा रहा है, मानो रागकर्त्री भगवती शैलेन्द्रनन्दिनीके रागसृजनका समस्त कौशल मूर्त है केवल यहाँ, इन गोपशिशुओंके मधुमय कण्ठकी ओटमें। जो हो, क्या दशा होती उन विद्याधर-गन्धर्व-समुदायकी—यदि यह नृत्योत्सव, संगीतोत्सव पर्याप्त देरतक चलता रहे! किंतु वे सब आखिर शिशु ही तो ठहरे, इनके भावपरिवर्तनमें विलम्ब नहीं होता। किन्हीं अपेक्षाकृत अल्पवयस्क शिशुओंने नृत्य-संगीतसे विरत होकर एक विचित्र-सी गतिभङ्गीका प्रकाश करते हुए ताल ठोक ली। फिर तो लो—देखो, वही रङ्गशाला मल्लशालाके रूपमें परिणत हो गयी, शिशुओंकी अगणित सुन्दर जोड़ियाँ मल्लयुद्धमें तन्मय होने लगीं—ठीक ऐसे मानो क्षणभर पूर्व शृङ्गारमयी कल्लोलिनीकी श्रुतिमनोहर 'कल-कल' धारा ही अब पावसके सम्मेलनसे गरज उठी हो, वहाँ उसी स्थानपर अब रौद्ररसका उद्दाम प्रवाह बह रहा हो! और वे नटराज, दलपति, इस शिशुमण्डलके कोटिप्राणप्रिय नायक श्रीकृष्णचन्द्र कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं? वे तो रङ्गशालामें वह प्रारम्भिक कृत्य कर लेनेके अनन्तर—अपने प्राणसखाओंके नर्तनकी सूचना देकर, प्रसूनोंका आस्तरण आस्तृतकर* अग्रज श्रीबलरामके समीप जा पहुँचे; और उनके करपल्लवको अपने नलिन-सुन्दर हस्तमें लिये तबसे खड़े ही हैं। उज्ज्वल हास्यसे रञ्जित हैं अग्रज एवं अनुजके वदनारविन्द और रह-रहकर गूँज रहा है उनके श्रीमुखसे निस्सृत प्रत्येक सखाके लिये पृथक्-पृथक् एवं सामूहिक साधुवाद! इससे पूर्व अभी-अभी तो नीलसुन्दरने अपने इन प्राणबन्धुओंके मुखसे शत-सहस्र प्रशंसावाक्य अपने लिये सुने हैं। इसका यत्किञ्चित् भी प्रतिदान वे दे सकें, यह लालसा उनके अन्तस्तलमें कितनी प्रबल रहती है, इसे कौन बताये और यह तो सुन्दर अवसर है। इसीलिये अतिशय उमंगमें भरकर राम-श्याम दोनों भाई पुकार रहे हैं परिहासगर्भित स्वरमें ही, किंतु नित्य सत्य तथ्यकी घोषणा करते हुए उत्साहित कर रहे हैं वे अपने क्रीड़ापरायण प्राणसहचरोंको—'अहा हा! देखो, गन्धर्वगणोंका मान गया, ले लिया इनके संगीतने! ओह! विद्याधरो! उपहासके पात्र बन गये तुम इनके नृत्यके सामने! अरे मेरे त्रिलोकविजयी सखाओ! युद्धमें कौन ठहरेगा तुम्हारे समक्ष?'—

* नृत्यकी शास्त्रीय प्रथा यह है कि नर्तक या नर्तकी अपने नृत्यसे पूर्व नृत्यस्थलमें सुगन्धित वस्तु बिखेर दे।

अहो इमे गानेन गन्धर्वगणतिरस्कारिणो नृत्येन विद्याधरगणविडम्बका युद्धेन त्रिलोकीजित्वराः॥

(वैष्णवतोषिणी)

इस प्रकार व्रजेन्द्रनन्दनके लीलाविहारका कभी यह उपर्युक्त कार्यक्रम होता और वे आनन्दसे फूले न समाते—

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १५)

'किंतु भैयाओ! मल्ल-क्रीड़ाका आनन्द तो अधूरा ही रहा रे! यदि कन्नू अखाड़ेमें न उतरा तो फिर इस दाँव-पेचसे क्या लाभ! कन्नू आये, दाऊ दादा भी आ जायँ, तब देख............।'—उन शिशुओंके प्राण एक तारमें बँधे होते हैं। कहीं स्पन्दनमात्र होनेकी देर है, सर्वत्र एक-सी झंकृति परिव्याप्त होगी ही। अबतक तो नृत्य करते समय तालोंकी प्रत्येक संधिपर नीलसुन्दरके नूपुर भी 'झुन्' से बज ही उठते, प्रत्येक शिशुके कण्ठकी संगीतस्वरलहरीको मानो आत्मसात् कर लेनेके उद्देश्यसे मुरलिका रह-रहकर श्रीकृष्णचन्द्रके अधरोंसे क्षणभरके लिये जा लगती, प्राणमन्थनकारी वह चिर-परिचित रव छिद्रोंसे बिखर जाता तथा इसीलिये प्रत्येक शिशुका ही अनुभव था—केवल मौखिक ही नहीं, उनके कन्हैया-भैयाका क्रियात्मक सहयोग भी उनके इस नृत्यमें, संगीतमें है ही। पर मल्लयुद्धके समय तो वे दर्शकमात्र-से बने दूर पृथक् खड़े प्रतीत हो रहे हैं। उन्हें अपने बीचमें लिये बिना आनन्द कहाँ। अतएव वह स्फुरणा स्पन्दित हो उठी और फिर तो तुरंत एकने नीलसुन्दरको खींच ही लिया। दूसरेने दाऊ दादाके हाथ पकड़ लिये, उन्हें चुनौती दे दी। श्रीबलराम तो तत्क्षण भिड़ गये, पर अनुजने देर लगायी। हँस-हँसकर वे अपनी सुन्दर काली घुँघराली बिखरी अलकोंको समेटने लगे, समेटकर पीछेकी ओर बाँध लिया। पीताम्बरके उत्तरीयको फेंटमें कसा। अधोवस्त्रको दोनों जानुओंसे ऊपर उठाकर बाँधा। इतना करके तब प्रतिद्वन्द्वी शिशुको लक्ष्यकर वे पैंतरा बदलने लगे। ओह! किसकी सामर्थ्य है जो इस समय उनके अधिकांश अनावृत श्यामल चञ्चल श्रीअङ्गोंकी शोभाको शब्दोंमें चित्रित कर दे सके! जो हो, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका यह मल्लयुद्ध आरम्भ हुआ—सो भी एकके साथ नहीं, अगणित—असंख्य सखाओंके साथ। प्राकृत मन तो इसका समाधान करनेसे रहा। पर घटना घटित हुई ठीक ऐसी ही। सभी शिशुओंका यह सत्य अनुभव है—'मेरा प्राणप्रिय कन्नू पहले मुझसे भिड़ा है अथवा एकसे भिड़कर, उससे पछाड़ा जाकर लाज छिपानेके लिये मुझे पछाड़ने आया है या उसे 'चित' करके गर्वमें भरकर मुझपर भी विजय करने आया है।' और अपनी दृष्टिमें नीलसुन्दरसे कम बल उसमें थोड़े है। तनिक भी संकोच उसे नहीं है कन्हैयाकी चुनौती स्वीकार करनेमें। 'अच्छा, आ जा!'—कहकर वह लिपट ही जाता है; मत्त गयंदको भी वह एवं नीलसुन्दर दोनों मिलकर मात कर देते हैं—

कबहूँ मल्लजुद्ध मिलि खेलत। मद-गज ज्यों ठेलत, पग पेलत॥

अस्तु, इनमें स्तोककृष्ण एवं उसके समवयस्क कुछ शिशु ऐसे अवश्य हैं, जिन्हें मल्लक्रीड़ा नहीं रुचती। इस खेलका प्रस्ताव आते ही वे सब तो अनुत्साहमें भर जाते हैं। उन्हें लगता है कि यह खेल तो उनके कन्हैया भैयाके सुकोमलतम श्रीअङ्गोंके प्रति भयानक अत्याचार है। पर वे सब करें तो क्या करें; इनी-गिनी संख्याकी सम्मति बृहत् समुदायके मतको दबा नहीं पाती। नीलसुन्दरको ये सब कितनी बार संकेत करते हैं कि वे स्वयं ही इस प्रस्तावको अस्वीकार कर दें। पर वे भी नहीं मानते, उनसे रहा नहीं जाता। विवश होकर वे कतिपय शिशु सकरुण दृष्टिसे अपने प्राणाधार कन्हैयाकी ओर तथा खीझभरे नेत्रोंसे इस उद्धत शिशुसमाजकी ओर देखते रहते। आज भी—जिस क्षण व्रजेन्द्रनन्दन अपनी चूर्णकुन्तलराशि सहेजने लगे थे, परिधान कसने लगे

थे—कितनी बार स्तोककृष्णने इङ्गित किया कि वे पूर्ववत् दूर अवस्थित रहें; पर नीलसुन्दर हँसकर, सलोने दृगोंको नचाकर, अपना वक्ष:स्थल छूकर एक ही संकेत कर देते—'तू देख सही, अभी-अभी सबको पछाड़े देता हूँ।' अब मौन रहनेके अतिरिक्त स्तोक कर ही क्या सकता था। मुँह फुलाये-सा होकर वह एक किनारे खड़ा देखने लगा। किंतु धैर्यकी भी एक सीमा होती है—विशेषत: उसके लिये, जिसके प्राण '**तत्सुखसुखित्वम्**' की रसमयी भावनासे निरन्तर भावित रहकर श्रीकृष्णचन्द्रमें ही समाये रहते हैं। इस भावकी घनताका तारतम्य ही धैर्यके सीमा-निर्धारणमें हेतु बनता है। और यह तो स्पष्ट है कि दास्य-रसकी अपेक्षा सख्यके प्रवाहमें अधिक घनता है ही। सख्यसे अधिक वात्सल्यमें, वात्सल्यसे अत्यधिक मधुर-रसकी धारामें सान्द्रता विद्यमान रहेगी। इनमें भी प्रत्येक धारासे ही अपने स्वभावके अनुरूप ही स्रोत फूट निकलते हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक रसकी धारा सर्वत्र समान रूपसे ही परिलक्षित हो। आलम्बनके अनुरूप ही यह ऋजु या वक्र प्रसारित होगी, धाराकी सान्द्रता भी आलम्बनके अनुरूप ही विकसित होगी। तथा यह नियम है—जहाँ सान्द्रताकी मात्रा जितनी अधिक है, धैर्यकी सीमा वहाँ उतनी ही अधिक संकुचित रहेगी। इस स्तोकमें सख्य-रसकी कोमलतम परिणतिकी नित्य प्रतिष्ठा है। अतएव सान्द्रताका अपेक्षाकृत अधिक विकास इसमें अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त आयुमें वह प्राय: सबसे छोटा है। साथ ही नन्दन-पुत्र* है वह। यह पारिवारिक सम्बन्ध भी उसके अपनत्वके सूत्रको मृदुल बना देता है। भला, उसके प्राण कबतक सहें अपने कन्हैया भैयापर प्रतिद्वन्द्वी शिशुके द्वारा बारम्बार होनेवाले मल्लयुद्धके इस आघातको। इसलिये आखिर वह गरज ही उठा—'अरे ओ सुबल भैया! दाऊ दादा! इन उद्दण्डोंको तो छोड़ो, इन्हें तो लाज नहीं रही। क्या तुम्हें भी नहीं दीखता—ओह रे, क्या दशा कर दी इन सबोंने मेरे कन्हैया भैयाकी!'

श्रीकृष्णचन्द्रके अतिशय प्रिय पात्र, देखनेमें उनकी ही प्रतिमूर्ति स्तोककी यह गर्जना एक साथ सबके कर्णकुहरोंमें निनादित हो उठी, सबका ध्यान उस ओर चला ही गया और फिर—'ओह! सचमुच भैया रे कन्नू! तू तो बहुत ही थक गया रे!' —इस प्रेमपूरित विचित्र-सी ग्लानिके प्रवाहमें एक साथ सब-के-सब बह गये। मल्लक्रीड़ा जहाँ-की-तहाँ, ज्यों-की-त्यों स्थगित हो गयी। वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रके केश पुन: बिखरकर अस्त-व्यस्त हो चुके थे। सम्पूर्ण श्यामल कलेवर घर्माक्त हो चुका था। श्रान्तिजन्य श्वास-प्रश्वासकी गति पर्याप्त तीव्र है, यह किसीसे छिपा न रहा। अब तो समस्त शिशुओंके प्राण तड़फड़-तड़फड़ कर उठे—'कैसे एक क्षणमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी यह सम्पूर्ण श्रान्ति हर ली जाय!' इस समय विलम्बका तनिक भी अवकाश नहीं है। मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धनने नीलसुन्दरकी भुजाएँ पकड़ लीं और चल पड़े उसे लेकर समीपवर्ती अश्वत्थकी सघन शीतल छायामें। गोभट, कुलवीर आदि सुहृद्वर्गके सखा उनके पीछे चले। श्रीकृष्णचन्द्र तो एक हैं, पर साथ ही यह नितान्त ध्रुव सत्य है—वह देखो, विशाल, वृषभ, जम्बी, देवप्रस्थ भी उन्हें दूसरी ओर उस वटके नीचे ले आये। वरूथप, मन्दार, कुसुमापीड़, मणिबन्ध आदि शिशुओंने उस अन्य तरुवरका आश्रय लिया और उनके साथ भी वास्तवमें एक श्रीकृष्णचन्द्र हैं। चन्दन, कुन्द, कलिन्द आदि उस कदम्बश्रेणीकी ओर अग्रसर हो रहे हैं और वे भी एक श्रीकृष्णचन्द्रको चारों ओरसे घेरे हुए ही चल रहे हैं। इसी प्रकार दाम, वसुदाम, श्रीदामका दल, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, अंश, भद्रसेन आदिकी मण्डली, सुबल, अर्जुन, गन्धर्व,

* महाराज नन्दके सबसे छोटे भाई नन्दनजीका लड़का।

वसन्तकी गोष्ठी—सभी जा रहे हैं अपने साथ एक-एक श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर—कोई उस अशोकको छायामें, कोई आम्रके उस सुन्दर-से आलवाल (गट्टे)-के समीप, कोई उस प्लक्षतरुके बृहत् आटोपके नीचे। असंख्य शिशुओंकी उस प्रेमार्तिने एक ही व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रको इतने रूपोंमें प्रकाशित कर दिया। अवश्य ही सबको यही अनुभव है—श्रीकृष्णचन्द्र हमारे ही साथ चल रहे हैं। अस्तु, विश्राम करानेकी पद्धति तो सबको ज्ञात है ही। स्वयं नीलसुन्दरने ही तो अग्रजकी परिचर्या करके शिक्षा दे रखी है। उसीका अनुसरण सबने किया, पर इस बार कुछ और भी विशेष आयोजनके साथ। क्षणोंमें ही राशि-राशि वृन्तहीन पुष्पदल, सुकोमल नवपल्लवकी पंखुड़ियाँ सबने एकत्र कर लीं। उस उत्तुङ्ग तरुवरके मूल देशमें उन्हीं पल्लवाग्र एवं पुष्पदलोंसे अतिशय सुन्दर सुखद शय्याका निर्माण हुआ और फिर उस शय्यापर श्रीकृष्णचन्द्र अपने किसी प्रिय सखाके अङ्कमें सिर रखकर लेट गये। पुष्पोंका ही सुन्दर-सा उपधान (तकिया) भी सखाओंने प्रस्तुत अवश्य किया था। किंतु नीलसुन्दरको उसकी अपेक्षा अपने प्राणसखाकी गोदमें अधिक सुखकी अनुभूति हुई, उसपर ही अपना मस्तक स्थापितकर उन्होंने नेत्र निमीलित कर लिये—

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १६)

श्रमित होत आवत तरु तरे।
किसलय सयन सुपेसल करे॥
कबहुँ बनावत दलन की, तल्प मूल तरु जाइ।
गोप गोद उपबरह करि, सोवत त्रिभुवनराइ॥

एक ही समय एक ही श्रीकृष्णचन्द्र अगणित स्थानोंमें समान भावसे सखानिर्मित पुष्प-पल्लव-तल्पपर विश्राम कर रहे हैं, सबका मनोरथ एक साथ पूर्ण हो रहा है, सबकी प्रीतिका उपहार अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र एक साथ ही स्वीकार कर ले रहे हैं। सखाओंके प्रेमानुबन्धने ही उनके बाल्यावेशके दुकूलको किञ्चित् आकर्षित-सा कर लिया है, जिससे उनके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यपर विराजित वह स्वेच्छामय आवरण मानो किसी अंशमें तनिक हट-सा गया है। और इसीलिये महामहेश्वर व्रजेन्द्रनन्दन अगणित आत्मप्रकाशके द्वारा यह विश्रामकी लीला सम्पादन कर रहे हैं। अवश्य ही किसी भी शिशुको यह किञ्चिन्मात्र भी भान नहीं है कि यहाँ कोई ऐसी आश्चर्यमयी घटना घटित हो रही है। यह भान हो जाय, फिर तो आनन्द ही जाता रहे। एक साथ उन सबको समान आनन्ददान करनेके लिये ही नीलसुन्दरकी यह अभिनव योजना बनी है। अतः —'मैंने जिस पुष्पशय्याकी रचना की, उसीपर मेरा प्राणप्यारा कन्नू विश्राम कर रहा है'—शिशुके प्राणोंका यह अनिर्वचनीय सुख ही समाप्त हो जाय—यदि उसका मन कहीं किसी अंशमें स्पर्श कर ले श्रीकृष्णचन्द्रके इस ऐश्वर्य-वैभवको। इसीलिये वे शिशु तो जान नहीं सके, कदापि जान पायेंगे भी नहीं। पर सत्य तो यह है ही कि एक ही व्रजेशपुत्र एक ही समयमें अगणित वृक्षमूलोंके नीचे शिशुओंद्वारा आस्तृत पुष्पशय्यापर सो रहे हैं—

तेषां प्रीत्यै तत्तदलक्षितस्तत्तत्प्रेमोद्बोधितेन निजशक्तिविशेषेण बहुरूपतयैव शेत इति।

(वैष्णवतोषिणी)

××× तेषां सर्वेषामेव युगपत् सौख्यसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव तल्पेषु भगवान् शयानो जातः।

(सुबोधिनी)

अस्तु, अब अपरिच्छिन्न-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रकी चरण-सेवा आरम्भ हुई। गोप-बालकोंने अतिशय लाड़से उनके चरण-सरोजोंको अपने क्रोड़में धारण कर लिया तथा अपनी कोमल अङ्गुलियोंसे स्पर्श करके मन्द-मन्द—अत्यन्त सुखद भावसे दबाकर उनका श्रम हरने लगे। कुछ शिशु नवपल्लव-पुष्प-

रचित आर्द्रव्यजन लेकर उनके नीलसरोरुह-से विकसित मुखपर, इन्द्रनीलद्युति श्रीअङ्गोंपर शीतल-मन्द-सुगन्ध बयार करनेकी सेवामें लगे। कुछ उनके पार्श्वदेशमें बैठकर बाहुयुद्धके अनन्तर की जानेवाली प्रणालीसे उनके स्कन्धोंका, भुजाओंका, करपल्लवोंका, कटिदेशका यथायोग्य मधुर रुचिकर सम्मर्दन करके सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षणमें ही मिटा देनेके प्रयासमें संलग्न हुए। उन बालकोंके शारदीय शुभ्र आकाश-जैसे निराविल मानसतलमें बस, इस समय एक ही वासना है—'कौन-सी सेवा हो, जिससे मेरा प्राण-प्यारा कन्हैया अविलम्ब विगतश्रम हो जाय।' कौन उन्हें समझाये—'शिशुओ! तुम्हारे इन कन्हैयाके इस सच्चिदानन्दमय शरीरमें श्रान्ति, व्यथा, आमयके लिये तनिक भी कहीं त्रिकालमें भी अवकाश नहीं। प्रकृति एवं कालसे परेकी वस्तु है यह देह और तुम भी ऐसे ही हो, तुम्हारी देह भी ऐसी ही है।' तथा सुन लेनेपर भी, अनादि कालसे नित्य '**हतपाप्मा**'—सर्वथा पापशून्य होनेपर भी ये कहाँ हृदयङ्गम करनेवाले हैं इस सत्यको। इनके समान निर्मल कौन है? अनादि कालसे इनके मानसतलमें स्वसुखवासनाका कलुष—पापबीज कदापि अङ्कुरित होता ही नहीं। फिर भी—इतने, ऐसे नित्य अमल होनेपर भी अपने कन्हैया भैयाके देहतत्त्वको ये ग्रहण नहीं करेंगे, नहीं कर सकते। क्यों नहीं कर सकते? इसीलिये कि इनका अनादि एवं अन्तविहीन अस्तित्व ही है इसे लेकर—'मेरा प्राणप्यारा कन्हैया मुझसे सुखी हो।' वैसी सच्चिदानन्दमयताकी स्फूर्ति होते ही इस रस-निर्यासका द्वार ही रुद्ध जो हो जायगा, मनोरथ अपूर्ण रह जायँगे इनके, साथ ही लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके भी—जो आये ही हैं, नहीं-नहीं, जो अनादिकालसे ही अवस्थित हैं, अनन्तकालतक अवस्थित रहेंगे अपने इस स्वरूपभूत नित्यलीला-रससुधाको निरन्तर अतृप्त-भावसे पीते रहनेके लिये। तथा यही कारण है कि परब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र इनके समक्ष तो इनकी सेवा-भावनाके अनुरूप स्वरूपसे ही नित्य विराजित रहते हैं एवं इनकी श्रीकृष्णसेवामें भी कभी कोई प्रतिबन्धक नहीं, सदा इनके प्राणोंकी लालसाके अनुरूप ही इनकी सेवा निर्बाध चलती रहती है। इस समय भी चल रही है अपने प्राणसखाके श्रमापनोदनकी सेवा—

पादसंवाहनं चक्रुः केचित् तस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १७)

पौढ़त सखा सथन सिर नाइ।
कोइ बड़भाग पलोटत पाइ॥
कोइ कोमल पद लै कर मींजत।
कोइ लै कुसम-बीजना बीजत॥

× × ×

भूरि पुन्यकृत कोउ जन भूपा।
करत पवन तेहि सुख अनुरूपा॥

आश्चर्य है—इतने शान्त वातावरणका निर्माण ये अतिशय चञ्चल गोपशिशु भी कर सकते हैं! वन्य-विहंगमोंके रवके अतिरिक्त कहीं कोई भी शब्द नहीं; क्योंकि तनिक-सा बोलते ही उनके कन्हैया भैया सो जो नहीं पायेंगे—यह प्रेमजनित भय सबके मनमें भरा है। अद्भुत नीरवताके बीच सभी सेवाएँ सम्पन्न हो रही हैं। किसी शिशुके चलनेसे शुष्क पत्रोंकी 'मर्मर' ध्वनि भी न हो—इतनी सावधानी रखी जा रही है। किंतु यह लो, श्रीकृष्णचन्द्रने तो आँखें खोल लीं और वे हँसने लगे। पूछनेपर यह कह दिया—'भैयाओ! क्या करूँ, नींद आयी नहीं तो कितनी देर नेत्र बंद रखूँ, तुम्हीं बताओ!' सचमुच नीलसुन्दर सो ही कैसे सकते थे। अग्रज बलरामकी जैसे-जैसे जो-जो परिचर्याएँ उन्होंने की हैं, वैसी-की-वैसी सब विधियाँ हुए बिना ही यदि वे तन्द्रित हो जायँ, तब तो अचिन्त्यलीलामहाशक्तिके हृत्पटपर अङ्कित शिशुओंके मनोभावके चित्रोंका कोई मूल्य ही नहीं रहे। स्पष्ट तो है—शिशुओंने निर्निमेष नेत्रोंसे देखा है, किस प्रकार कन्हैया भैयाने दाऊ दादाको विश्राम कराया।

तथा तत्क्षण उसमें वासना जाग उठी थी—'हम भी कन्हैयाकी ऐसी ही सेवा करेंगे।' फिर कन्हैया कैसे भूल जायँ उनकी प्रेमसेवा स्वीकार करनेकी बात। और कदाचित् बाल्यावेशके प्रवाहमें वे भूले ही रहें, तो भी क्या हुआ; अचिन्त्यलीलामहाशक्ति नहीं ही भूलेंगी। समयपर अपने-आप वैसा सब कुछ हो ही जायगा, हुआ ही। शिशु व्यग्र होकर विचार करने लगे। किंतु नीलसुन्दरकी भाँति वंशीमें लोकोत्तर स्वर भरना तो उन्हें आता नहीं। आजसे बहुत पूर्व—जिस दिन अघासुरके संसरणका अन्त हुआ था—यह निर्णय हो चुका है—'देखो, जब कन्नूकी वंशी बजे, तब हममेंसे कोई भी उस समय उसका अनुकरण न करे। अन्यथा हम सभी इस परम सुखके पूर्ण उपभोगसे वञ्चित रह जायँगे। और बातोंमें कन्नूको हरायें, वह तो हारेगा ही; पर वंशीवादनमें उसकी होड़ करने न जायँ।' फिर अपने कन्नूको वे कैसे किस उपायसे सुलायें? 'इसने दाऊ दादाको तो मुरलीके स्वरसे ही सुलाया था!'—सरल स्नेहार्द्रचित्त हुए शिशुओंकी इस चिन्ताका पार नहीं। आखिर सोचते-सोचते उपाय ध्यानमें आ ही गया—'वंशी न सही, हम गीत गाकर ही कन्नूको सुला देंगे!' तथा यह विचार उदय होते-न-होते उन बालकोंके कण्ठसे पीयूषकी वर्षा-सी आरम्भ हुई। अपनी भावनाके गीत, व्रजसुन्दरियोंके मुखसे सुने हुए श्रीकृष्ण-सुयशके गान, व्रजराजके वन्दीजन-चारण-नटोंसे सुनी हुई गीति-रचनाएँ—इनमें जहाँ जिसका मन डूबा, उसीको वह अतिशय मनोहर मन्द मधुर प्रेमार्द्र स्वरमें गाने लग गया—

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १८)

कोइ अति मधुर-मधुर सुर गावत।
साँवरे कुँवरहि नींद अनावत॥

शिशुओंके नेत्र समाये हुए हैं श्रीकृष्णचन्द्रके अर्द्धनिमीलित नयन-सरोरुहमें तथा मानसतल पूरित हो रहा है अपने ही मुखसे बाहर प्रसरित एवं पुनः श्रुतिपथके द्वारा झरती हुई श्रीकृष्णगीतकी मधु-धारासे। साथ ही समस्त वन-प्रान्तरमें— नहीं, नहीं, अतीत-अनागत विश्वके कण-कणमें यह ध्वनि एक अद्भुत सुरधुनीकी धारा-सी बिखेरती जा रही है—जो चाहे, पी-पीकर अपने प्राणोंकी प्यास बुझा ले! —

जय कृष्नचंद्र करुनानिधान।
ब्रजजन पंकज-बन सुखद भान॥
नव-नव जलधर सम अंग स्याम।
लावन्य-धाम छबि कोटि काम॥
सुर अभय दैन भुजदंड-मूल।
दामिनि समान राजत दुकूल॥
मद छके असित सित अरुन नैन।
मृदु हँसन सुधा बरसत सुबैन॥
कुंडल मंडित श्रुति दुति अतोल।
परि छलक गंड सोभित कपोल॥
मुख मुरलि-सुधा बरसत उछंद।
निज जन जीवन, आनंदकंद॥

× × ×

नंदसुत नित्य रस बाललीला मगन
उदधि आनंद गोकुल कलोलैं।
गौर अरु स्याम अभिराम भैया दोऊ
ललित लरिकान लिऐं संग डोलैं॥
भवन-प्रति-भवन चलि चोरहीं दूध-दधि,
रतन-भूषन बदन तन उजैरें।
खात, लपटात, ढरकात, फिरि हँसि भजत,
चकृत ह्वै भवन निज भवन हेरैं॥
कबहुँ गहि-गहि फिरत पूँछ बछियान की,
किंकिनी कनक कटि मधुर बाजैं।
गोप-गोपीन मन-दृगनि के खिलौना खिलत-मुख,
कमल मोरि मुरि हँसनि भ्राजैं॥
बदन दधि-छींट, छबि, धूरि-धूसरित अंग
अबहिं ते मदन-गति पगनि पेलैं।

कंठ बघना दिऐं पायँ पैजनि-झनक
दास नागर हिऐं अँगन खेलैं॥

× × ×

मुकट की चटक, लटक बिबि कुंडल की,
भौंह की मटक नैक आँखिन दिखाउ रे।
ए हो बनवारी! बलिहारी जाउँ तेरी,
मेरी गैल कि न आइ नैक गाइन चराउ रे॥
आदिल' सुजान रूप गुन के निधान कान्ह!
बाँसुरी बजाइ तन तपन बुझाउ रे।
नंद के किसोर चितचोर मोर-पंखवारे
बंसीवारे साँवरे पियारे, इत आउ रे॥

× × ×

माथे पै मुकुट देखि, चंद्रिका चटक देखि,
छबि की छटक देखि, रूप-रस पीजियै।
लोचन बिसाल देखि, गरें गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि चित्त चुप कीजियै॥
कुंडल-हलनि देखि, पलक-चलनि देखि,
अलक-बलनि देखि सरबस दीजियै।
पीतांबर-छोर देखि, मुरली की घोर देखि,
साँवरे की ओर देखि, देखिबौई कीजियै॥

यह है श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्यातिदिव्य परम मनोहर अरण्य-विहारका एक अत्यन्त संक्षिप्त प्रतिचित्र। अनन्तैश्वर्यनिकेतन व्रजेन्द्रनन्दनको और विहार करते समय ठीक-ठीक पहचान लेनेकी क्षमता किसमें है? अपनी अघटघटनी योगमायाका आवरण जो है उनके उस ऐश्वर्यमय स्वरूपपर। लीला-रस-पान करने जो आये हैं वे! इसीलिये सर्वथा प्राकृत गोपशिशुकी भाँति बनकर ही लीला कर रहे हैं। यद्यपि वैकुण्ठधाममें रमा उनके चरणसरोजोंकी परिचर्यामें नित्य संलग्न हैं, असमोर्ध्व ऐश्वर्य उनका नित्य सहचर है, फिर भी—जिस प्रकार प्राकृत शिशु अपने बन्धुगणोंके साथ अनेकों खेल खेले, खेलता ही रहे, वैसे ही—वे श्रीकृष्णचन्द्र अपने इन सखाओंके साथ विविध क्रीड़ाओंमें—बाल्यलीला-विहारमें तन्मय हो रहे हैं। असुरोंको परमगतिका दान वितरण करते समय वह आवरण कहींसे किञ्चित् संकुचित हो जाय, एक छिद्र-सा निर्मित हो जाय एवं उस छिद्रके अन्तरालसे उनका अपरिसीम ऐश्वर्य क्षणभरके लिये झाँक भले ले। अन्यथा नीलसुन्दर तो लीला-रसपानमें ही नित्य मत्त रहते हैं—

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १९)

एहि बिधि निज माया करि गूढ़ा।
रहे काल, बहु, समुझ न मूढ़ा॥
बिच-बिच भए प्रगट हरि कबहूँ।
दनुज हने जब, तेहि छिन तबहूँ॥
जिमि प्राकृत बालक गुन-सीला।
करत रहे प्रभु ब्रज नित लीला॥

× × ×

बिहरत इहि परकार बिहार।
ज्यौं गाइन सँग ग्वार गँवार॥
जा कहुँ मुनि मन करत बिचार।
निगम अगम पावत नहिं पार॥
लछिमी ललना ललित सु पाइ।
लालति ज्यौं निधनी धन पाइ॥
बड़ी बेर आवत सिव-मन में।
सो प्रभु यौं बिहरत या बन में॥

वनमें गौओंका भटककर कालिय-ह्रद (कालीदह)-के समीप पहुँचना और प्यासी होनेके कारण वहाँका विषैला जल पीकर प्राणशून्य हो गिर पड़ना, गोप-बालकोंका भी उसी प्रकार निश्चेष्ट होकर गिर पड़ना; श्रीकृष्णका वहाँ आकर उन सबको तथा गौओंको करुणापूर्ण दृष्टिमात्रसे पुनर्जीवित कर देना और सबसे गले लगकर एक साथ मिलना

काननके उस भूभागपर हरित मृदुल तृणाङ्कुरोंका अम्बार-सा लग रहा था। ग्रीष्मका साम्राज्य होनेपर भी मानो उसकी छायातक उसे छू न सकी हो, इस प्रकार वह तृणराजि लह-लह कर रही थी और वहींपर श्रीकृष्णचन्द्र अपने गोपसखाओंके साथ गोसंचारण कर रहे थे। साथ ही उनकी परम मनोहारिणी क्रीड़ाएँ भी चल रही थीं। उनके श्यामल सुन्दर श्रीअङ्गोंसे एवं शिशुओंकी प्रेमिल भावभङ्गिमाओंसे आनन्दका स्रोत झर-झर कर वन-प्रान्तरके कण-कणको प्लावित कर रहा था—

चरावत बृंदाबन हरि गाइ॥
सखा लिऐं सँग सुबल-सुदामा, डोलत हैं सुख पाइ।
क्रीड़ा करत जहाँ-तहँ सब मिलि, अति आनंद बढ़ाइ॥

अचानक तृणग्रास मुखमें लिये ही गौएँ बिदक गयीं। वे अबतक तो शान्तभावसे तृण चरती रहकर भी अपने पालक नीलसुन्दरकी ओर सिर उठाकर देख लेती थीं; किंतु हठात् उनकी आँखें इससे भी अधिक सुन्दर एक अन्य तृणसंकुल भूमिखण्डकी ओर बरबस जा लगीं—नहीं-नहीं, आकर्षित कर दी गयीं। अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने निर्धारित योजनाके अनुरूप डोरी खींच ली थी और इसलिये वे उस ओर ही भाग चलीं, बिखर गयीं। पर उस ओर तो सघन वन है, उनको उस ओरसे नियन्त्रित कर लेना नितान्त आवश्यक है। अतएव नीलसुन्दरकी क्रीड़ा भी स्थगित हो गयी और गोपशिशु भी गायोंको लौटा लेनेके उद्देश्यसे उस ओर ही दौड़ चले—

बगरि गईं गैयाँ बन-बीथिनि, देखीं अति बहुताइ।
कोउ गए ग्वाल गाइ बन घेरन, कोउ गए बछरु लिवाइ॥

श्रीकृष्णचन्द्र हँस रहे हैं। उनके नेत्रसरोजोंमें उत्सुकता भी है। वे रह-रहकर पुकार भी उठते हैं—'अरे भैयाओ! भागते क्यों हो? धीरे चलकर ही उन्हें घेर क्यों न लेते!' किंतु वे शिशु तो सुननेसे रहे। इधर उन्हें एक साथ दौड़ते देखकर गौएँ और भी वेगसे भागीं। देखते-ही-देखते वह गोराशि तथा वे शिशु—दोनों ही लता, द्रुम, वल्लरियोंकी ओटमें हो गये। यहाँ बच गये एकाकी नीलसुन्दर। बायें हस्तकमलमें एक वन्य विटपकी डाल धारण किये हुए तथा दाहिनी मुट्ठीको अरुणिम अधरोंसे सटाकर दक्षिण तर्जनी उठाये वे उस ओर ही कुछ संकेत-सा कर रहे हैं। क्या पता वे वनमाली किस धुनमें हैं। क्योंकि सदाकी भाँति सखाओंका अनुसरण उन्होंने आज नहीं किया। प्रत्युत कुछ विलम्ब हो जानेपर समीपमें ही कलिन्दनन्दिनीके तटपर स्थित उस विशाल वटकी छायामें वे जा विराजे हैं। शिशुओंके अबतक न आनेका कारण सोच रहे हैं—

बंसीबट, सीतल जमुना तट अतिहिं परम सुखदाइ।
सूर स्याम तहँ बैठि बिचारत, सखा कहाँ बिरमाइ॥

'अरे! कितनी देर लगा दी उन सबोंने!'—चिन्ताहरण विश्वनियन्ता प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रको अब अपने सखाओंके लिये चिन्ता होने लग गयी; क्योंकि

क्षण-क्षण करते ही वहाँ आये भी उन्हें प्राय: दो दण्ड हो चुके। सखाओंके अभावमें उनका चित्त वहाँ लग न सका। अन्यमनस्क-से हुए वे भी उस ओर ही चल पड़े। उनकी चिन्ताका पार नहीं—

बार-बार हरि कहत मनहिं मन, अबहिं रहे सँग चारत धेनु।
ग्वाल-बाल कोउ कहूँ न देखौं, टेरत, नाउँ लेत, दै सैनु॥
आलस-गात जात मन मोहन, सोच करत, तनु नाहिंन चैनु।
अकनि रहत कहुँ, सुनत नहीं कछु, नहिं गो-रंभन बालक-बैनु॥

इधर गायें तो सघन वनकी सीमाके उस पार जा पहुँची थीं तथा इतनी दूर बड़े वेगसे दौड़कर तृषित हो चुकी थीं। यही हाल उनके पालकवर्ग गोप-शिशुओंका था। ऊपर निदाघके सूर्य तप रहे थे। वनस्थलीके इस भागमें वृक्षोंकी शीतल छाया भी समाप्त हो चुकी थी। उन्मुक्त गगन था और नीचेकी धरती वहाँ—बस, सम्पूर्ण वृन्दावनमें एकमात्र उस देश-विशेषमें ही—हरितिमाशून्य-सी हो रही थी। अत्यन्त निकटमें ही तपनतनयाके सुन्दर मञ्जुल प्रवाहके दर्शन अवश्य हो रहे थे। पर वहाँ तटपर भी केवल एक कदम्बतरुके अतिरिक्त किसी भी वृक्षका चिह्नतक न था। आश्चर्य है, वहाँ तृण, वीरुध, उगतक नहीं सके थे। बस, केवल रविनन्दिनी श्रीयमुनाकी लहरें ही वहाँ एकमात्र आकर्षणकी वस्तु थीं। विशेषत: तृषित गायें उन्हें देख लेनेके अनन्तर, इस मध्याह्नके समय वहाँ जाकर जलपानके द्वारा अपनी तृषा शान्त करनेका लोभ संवरण कर सकें—यह कैसे सम्भव था। इसीलिये स्वाभाविक ही गायें उस ओर ही मुड़ीं और पालक तो उनके पीछे चलेंगे ही। इस प्रकार सभी उस निर्वृक्ष तटपर ही जा पहुँचे; व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य-लीला-महाशक्ति उन्हें वहाँ उस प्रसिद्ध कालिय-ह्रदपर ले आयीं, जहाँ नीलसुन्दरकी कालियदमन-लीलाका प्रकाश होगा—

सिसु-सुरभीं तिहि बेर, त्रषावंत जल के भए।
कालीदह कहँ हेरि चले, सीघ्र पहुँचे तहाँ॥

अस्तु, ग्रीष्मतापसे व्यथित वे गायें आते ही उस जल-प्रवाहमें मुँह डालकर प्यास शान्त करने लगीं। श्रीयमुनाकी उस अमृततिरस्कारिणी धाराका ही वे सदा पान करती आयी हैं, इस धाराने सदा ही उनके प्राणोंमें शीतलताका संचार किया है; इसलिये ही नित्यके अभ्यासवश सबने जल पीना आरम्भ किया। किंतु आज वह चिरपरिचित तृप्ति उन्हें न मिली—तृप्ति दूर, वारिस्पर्शमात्रसे कण्ठमें कुछ बूँदें उतरनेभरसे उनके प्राण झुलसने लगे। वे पशु इस बातको नहीं जानते कि यहाँ—तपनतनयाके इस ह्रदमें ही कालिय नागका निवास है, उसके सम्पर्कसे इस ह्रदका प्रत्येक जलकण विषपूर्ण हो चुका है; उन्हें इसका जलपान तो क्या, इसकी सीमामें भी प्रविष्ट नहीं होना चाहिये था। और इस ज्ञानके अभावमें ही स्वभाववश वे इस सद्य: प्राणहारक जलको स्पर्श कर चुके थे, उसका कुछ अंश पी चुके थे। इसीलिये जो परिणाम होना था, वही हुआ। एक ही साथ सबके शरीरोंमें, उनके स्नायुजालके प्रत्येक कणमें आग-सी जल उठी और देखते-ही-देखते वे सब-की-सब गायें वहीं—उस तटपर ही प्राणशून्य होकर गिर पड़ीं तथा उनके पालकवर्ग, ओह! लीलाशक्तिकी भी विचित्र महिमा है। उन मूक गो-समूहोंके लिये तो, पशुस्वभाववश उन्होंने जलपान कर लिया, यह हेतु किसी अंशमें समीचीन बन सकता है—किसी अंशकी बात इसीलिये कि सचमुच ही सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलामें उपकरणभूता ये गायें प्राकृत सृजनकी वस्तुएँ नहीं हैं; किंतु वे श्रीदाम, सुबल आदि गोपशिशु तो प्राय: सभी जानते थे कि एक महासर्पका उस ह्रदमें निवास है। वे अपने पिता-पितृव्योंसे सुन चुके थे; वहाँ उस स्थानकी ओर पैर रखनेके लिये सर्वथा निवारित हो चुके थे। फिर भी उनका वह ज्ञान उस समय लुप्त हो गया। हतबुद्धि-से हुए वे भी अतिशय द्रुतवेगसे दौड़कर उन गायोंके पीठ-पीछे आ पहुँचे। इतना ही नहीं, वे आये थे इस उद्देश्यसे कि

शीघ्र-से-शीघ्र इन पशुओंको पीछेकी ओर हाँक लायेंगे, किंतु यहाँ आनेपर वह स्मृति भी किसीने पोंछ दी। उन्हें प्यास तो थी ही, उन सबने भी अपनी अञ्जलि उस प्रवाहमें डाल ही दी, अञ्जलिका किञ्चिन्मात्र जल अपने कण्ठमें भी डाल ही लिया। बस, जैसे इधर गिरीं गायें, वैसे ही, सर्वथा साथ-ही-साथ क्षणभरमें वहीं गिर पड़े, प्राणशून्य हुए वे सब-के-सब गोपशिशु!

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम्॥
विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ४८-४९)

गोप-धेनु रबि-कर लहि तापा।
ग्रीषम-धूप घोर तन ब्यापा॥
तृषित महा ब्याकुल मन तासू।
गरल-बिदूषित जल पिय आसू॥
दैवीहत चित विष जल जबहीं।
परसत मृतक भए सब तबहीं॥
गिरि गे सकल सखा अरु धेनू।
जमुना तीर तीर सुभ रेनू॥

वास्तवमें तो सृजन-संहारसे परे, आदि-अन्तविहीन नित्य जीवनमें अवस्थित इन भगवत्पार्षदोंके लिये प्राणशून्य होनेकी बात बनती नहीं। यह तो अघटनघटना-पटीयसी योगमायाका ही वैभव है। नीलसुन्दरकी लीलामन्दाकिनीका, उससे निस्सृत प्रतिक्षण नूतन रस-प्रवाहका सौन्दर्य और भी निखर उठे, इस उद्देश्यसे उनके प्राण आच्छादित हो गये हैं। योगमायाके अञ्चलकी छायामें उनके उन चिन्मय प्राणोंका व्यापार अदृश्य बन गया है, स्थगितमात्र हो गया है, और वे उस रूपमें दीख पड़ रहे हैं। यह एक विचित्र-सी मूर्च्छा है उनकी—

व्यसव इति लीलासौष्ठवार्थं योगमाययैव नित्यानामपि तेषामसूनाच्छाद्य तथा दर्शनात्।

(सारार्थदर्शिनी)

जो हो, यहाँ जब इतना हो चुका, तब कहीं श्रीकृष्णचन्द्र सखाओंको ढूँढ़ते हुए सघन वनकी सीमा पारकर इस शुष्क वृक्षशून्य भूभागपर आये और तत्क्षण दूरसे ही उनकी दृष्टि इस करुण दृश्यपर भी जा पहुँची। उस समय व्रजेन्द्रनन्दनकी कैसी दशा हुई—ओह! स्वयं वाग्वादिनीमें भी शक्ति कहाँ है जो इसपर किञ्चिन्मात्र प्रकाश दे सकें। करुणासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दनके अन्तस्तलमें उच्छलित कृपामयी ऊर्मियोंका, किसी एक करुणालहरीके एक कणका भी वास्तविक चित्रण आजतक कहीं किसीके द्वारा भी हुआ जो नहीं। यत्किञ्चित् चित्रण हुआ है, हो सकता है तो केवल उनके बाह्य अनुभावोंको लेकर ही—सो भी उनकी चरणनखचन्द्रिकाका प्रकाश बुद्धिमें, मन-प्राण-इन्द्रियोंमें परिव्याप्त हो जाय और उस आलोकमें उन चिन्मय अनुभावोंके दर्शन हों तब। अतएव किसी भी बड़भागी लीलादर्शीके प्राणोंकी झंकृति भी वाणीद्वारसे इतना ही व्यक्त कर सकती है—एक मुहूर्तके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आये थे और तुरंत दूरसे ही उन्होंने उन सबको प्राणरहित देख भी लिया। विद्युत्-वेगसे घटनास्थलपर भी वे आ पहुँचे। पर हाय! उनकी उस नवनीरदश्यामल मूर्तिपर, आह! सौन्दर्यनिधि उस नील कलेवरपर क्षणभरमें ही, अन्तस्तलकी व्यथाके न जाने कितने शत-सहस्र काले आवरण जो आ गये! हाय रे! उनके श्याम श्रीअङ्गोंपर एक कैसी-सी, पहलेसे सर्वथा भिन्न जातिकी एक विचित्र श्यामता, नहीं-नहीं, व्यथाजन्य म्लानताका पुञ्ज जो बिखर गया। ओह!.........

अथ मुहूर्त्तपूर्त्तावागतोऽयं तोयदश्यामलमूर्त्तिर्मूर्त्तानिव तान् पश्यन्नन्यादृशश्यामलतामाजगाम।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और तब आयी जडिमा। श्रीकृष्णचन्द्र स्तब्ध खड़े हैं और सामने पड़ी हैं सर्वथा स्पन्दनशून्य असंख्य गायें और प्राणप्रिय सखाओंकी देह; किंतु मानो जडिमाके लिये भी श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणोंका

ताप इस समय असह्य बन गया और वह भी मानो भाग निकली। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र चीत्कार कर उठे —

या गावः खलु देवता व्रजसदामस्माकमुच्चैस्तरां ये बालाश्च सदैव जीवतुलितास्तेऽमी विपन्नाः पुरः। हा! हन्त! स्वयमस्मि तत्सहचरः किं भ्रातरं मातरं तातं सर्वजनं च वच्मि मम धिक् चापल्यतः साहसम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'ओह! ये गायें—नहीं-नहीं, निश्चितरूपसे हम व्रजवासियोंके सर्वाधिक आदरणीय देवता! तथा ये हमारे नित्य प्राणतुल्य बालक! आह! कैसी विपन्न दशामें ये सामने पड़े हैं! और मैं स्वयं, हाय रे! इनका सहचर हूँ! अब मैं क्या उत्तर दूँगा दाऊ भैयाको? मैयासे, बाबासे क्या कहूँगा? समस्त पुरवासियोंको क्या बताऊँगा? आह! मैं गोसंचारण करने आज इस पथसे—कालियह्रदकी ओर आया ही क्यों? धिक्कार है मेरे चञ्चलताजन्य ऐसे साहसको।'

श्रीकृष्णचन्द्रका हृदय अनुतापवश विगलित हो उठा। वे क्रमशः एक-एकका मुख देखने लगे। फिर तो हृदयका वह द्रवभाव दृगोंमें भर आया। उनके नयनसरोरुह आर्द्र हुए एवं अश्रुवारिधारा कपोलोंपर बह चली—

श्रीव्रजकुलचन्द्रमसः क्रमशः सर्वेषां मुखमभिदत्तदृशः स्तिमितीकृतनिजाधारा नेत्राम्बुधारा निपेतुः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और यह लो! जिस गोपशिशुपर, गायपर, उनकी वह अश्रुस्राविणी, नहीं-नहीं अमृतवर्षिणी, दृष्टि पड़ती जा रही है, वे सब जीवित होकर उठते जा रहे हैं।

× × × **यथाक्रमं सर्वं चेतयामासुः।**

(श्रीगोपालचम्पूः)

इसमें आश्चर्य ही क्या है? अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भले कितने ही मुग्ध वेशमें, अपने समस्त ऐश्वर्यको बाल्यावेशके अतल तलमें डुबाकर अपने स्वरूपभूत लीलारसका पान क्यों न करें, किंतु समयपर ऐश्वर्यशक्ति जाग उठेगी ही। श्रीशेष, शिव आदि योगेश्वरोंके भी ईश्वर व्रजराजनन्दनका वह अप्रतिम ऐश्वर्य ठीक अवसरपर क्रियाशील हो ही जायगा। बाल्यलीलाविहारीकी तो आँखें झर रही थीं, बालकोंको उस अवस्थामें देख-देखकर अनुताप-विह्वल हुए वे क्रन्दन कर रहे थे, किंतु उसी अश्रुपथसे उनका स्वरूपभूत ऐश्वर्य भी तो निस्सृत हो रहा था। फिर वे अनन्यगति—एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रपर ही निर्भर करनेवाली गायें, सर्वथा उनपर ही आश्रित वे गोपशिशु क्यों न पुनर्जीवन लाभ करें? उन्होंने किया ही, श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें नवजीवन प्रदान किया ही—

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५०)

अब उनकी आँखें मिलनेभरकी देर थी, बस, श्रीकृष्णचन्द्रने लपककर प्रत्येकको ही—सर्वथा एक समयमें ही एक साथ पृथक्-पृथक्—अपने भुजपाशमें बाँध लिया। प्राकृत बुद्धिमें यह शक्ति नहीं कि उसका समाधान कर दे, पर वास्तवमें यह आलिङ्गन संघटित हुआ इस रूपमें ही—

युगपदेव सर्वान् कृष्ट्वा पृथक् पृथगेवाश्लिष्टवान्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

शिशु एवं श्रीकृष्णचन्द्रका यह मिलन भी देखने ही योग्य है—

दृष्टिर्बाष्पमिता तनुस्तिमिततामन्तर्मतिर्लीनता-
मित्थं संगतिसाधने तु निखिलेऽभीक्ष्णं गते व्यर्थताम्।
किं सौख्यं किमसौख्यमेतदिति च स्फूर्तिं विनावस्थितौ
किञ्चित्कोऽपि न किञ्चिदुज्झितुमभूच्छक्तिप्रयुक्तश्चिरम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'उन बालकोंकी दृष्टि बाष्पधारासे अवरुद्ध हो गयी। शरीर निश्चेष्ट हो गया। अन्तश्चेतना लुप्त हो गयी। इस प्रकार मिलनेके सभी साधन जब बारम्बार व्यर्थ होते गये—यहाँतक कि उन्हें इस बातका भी

भान नहीं रहा कि यह सुखकी अवस्था है या दुःखकी। उस समय बड़ी देरतक तो कोई किसीको किञ्चिन्मात्र भी छोड़नेमें समर्थ ही न हुआ।'

और वे जब प्रकृतिस्थ हुए तब गायोंकी दशा भी निराली ही बन गयी—

गावो हुङ्कृतिघोषणावलयिताः कृष्णं लिहन्त्यश्चिरा-
त्तद्बाहुद्वयवेष्टनेन विलसत्कण्ठ्यः समुत्कण्ठिताः।
यत्नात्त्याजिततद्ग्रहाश्च पशुपैः क्षिप्ताश्च तस्थुश्चिरं
तास्तद्वक्त्रसुधाकरद्युतिसुधा पीतावतृप्तेक्षणाः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'वे गायें उच्च स्वरसे हुङ्कार करती हुई श्रीकृष्णचन्द्रको घेरकर खड़ी हो गयीं, उत्कण्ठायुक्त होकर उन्हें बड़ी देरतक चाटती रहीं। नीलसुन्दर उन्हें गलबाहीं देकर खड़े थे, इससे उनकी ग्रीवा अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। उनके पालक शिशुओंने आकर अत्यधिक प्रयास कर उन्हें श्रीकृष्णके बाहुपाशसे मुक्त किया, वे उन्हें वहाँसे हटाने लगे; किंतु गौएँ तो उनके मुखचन्द्रसे अपने अतृप्त नेत्रोंको हटा न सकीं, बड़ी देरतक ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं। उस अनुपम सुधाकरकी सुधाका पान करके भी वे तृप्त न हो सकीं।'

अस्तु, उन बालकोंके नेत्रोंमें आश्चर्य तो अब भी भरा है, अतिशय विस्मित हुए वे सब परस्पर एक-दूसरेको देख रहे हैं—

आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्।

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५१)

अवश्य ही उन सरलमति बालकोंको यह अनुमान होते देर न लगी कि वे पुनर्जीवित कैसे हो गये। विषकी ज्वालासे उनके प्राण समाप्त हो ही चुके थे, उन्हें मृत्युके इस पार तो पुनः लौटा लाये हैं उनके कन्हैया भैया ही—

अन्वमंसत तद्राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५२)

सखन इहै मन आनि, मरे जिए एहिं काल हम।
कृष्न-अनुग्रह जानि, मन हरषे अति प्रेम भर॥

फिर तो कन्हैया भैयाकी जय होनी ही है—

आपुस में सिसु मिलि कह्यौ, धनि धनि नंदकुमार।

नीलसुन्दरके अधरोंपर मन्द मुसकान है; किंतु उनकी दृष्टि केन्द्रित है कालियह्रदकी ओर। वे सोच रहे हैं कुछ और ही; कालियह्रदमें विहार करनेका मनोरथ निर्मित हो रहा है तथा शिशु व्यस्त हैं अपने कोटि-प्राणप्रतिम कन्नू भैयाके प्रति अपने स्नेहपूरित अन्तस्तलका आभार व्यक्त करनेमें—

प्रान बिनु हम सब भए ते, तुमहिं दियौ जिवाइ।
सूरके प्रभु! तुम जहाँ, तहँ हमहिं लेत बचाइ॥

श्रीकृष्णका कालियनागपर शासन करनेके उद्देश्यसे कालियह्रदके तटपर अवस्थित कदम्बके वृक्षपर चढ़कर वहाँसे कालियह्रदमें कूद पड़ना

नीलसुन्दरके सलोने दृगोंमें मानो कालियह्रदकी वह भयंकरता प्रतिबिम्बित हो उठी—नहीं-नहीं, चुभने-सी लगी—'अरे! यह विषपूर्ण गर्त तो एक योजन परिमित दीर्घ एवं विस्तृत है! देवगण भी इसको पार कर जायँ, यह दुस्साध्य ही है। यह अत्यन्त गम्भीर है, ह्रासवृद्धिविहीन सागरके समान ही इसका जल भी है। फिर भी जल-जन्तुओंसे, जलचर पक्षियोंसे यह शून्य है; इसकी अगाध जलराशि मेघावृत आकाश-सी प्रतीत हो रही है। इसकी तीरभूमि सर्पोंके आवासभूत अनेकों बिलोंसे पूर्ण है, इतना ही नहीं, सर्पगण इनमें निवास भी कर रहे हैं; अतएव अगम्य बन गया है यात्रियोंके लिये ह्रदका यह तट। सर्पोंके श्वाससे उद्भूत अग्निधूम इसे परिवेष्टित किये हुए है। व्रजपुरवासियोंके पशुगण इसके जलका भोग नहीं कर सकते, तृषार्त एवं जलकी आशा लेकर आनेवालोंके लिये इसका जल अपेय बन रहा है। और तो क्या, त्रिषवणार्थी (तीन बार स्नान करनेवाले) अमरवृन्दने भी इसका उपभोग करना त्याग दिया। आकाशपथसे पक्षियोंके लिये भी इसके ऊपरसे संचरण करना सम्भव नहीं है। झंझावातके झोंकोंमें उड़कर गिर जानेवाले तृण-पत्रतक इसके विषके तेजसे तत्क्षण भस्म हो जाते हैं। ह्रदके चारों ओर चार कोस भूमितलकी कैसी भीषण दुर्दशा है! किसकी सामर्थ्य है कि इस सीमामें प्रविष्ट हो जाय; सामर्थ्यशाली देवोंके लिये भी यह दुर्गम है! ओह! इस घोर विषाग्निकी ज्वालासे समस्त द्रुम, वीरुध आदि जल जो गये हैं—

दीर्घं योजनविस्तारं दुस्तरं त्रिदशैरपि।
गम्भीरमक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम्॥
तोयजैःश्वापदैस्त्यक्तं शून्यं तोयचरैः खगैः।
अगाधेनाम्भसा पूर्णं मेघपूर्णमिवाम्बरम्॥
दुःखोपसर्पतीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलैः।
विषारणिभवस्याग्नेर्धूमेन परिवेष्टितम्॥
अभोग्यं तत्पशूनां हि अपेयं च जलार्थिनाम्।
उपभोगैः परित्यक्तं सुरैस्त्रिषवणार्थिभिः॥
आकाशादप्यसंचार्यं खगैराकाशगोचरैः।
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु ज्वलन्तमिव तेजसा॥
समन्ताद्योजनं साग्रं देवैरपि दुरासदम्।
विषानलेन घोरेण ज्वालाप्रज्वलितद्रुमम्॥

(हरिवंश, विष्णुपर्व ११। ४२—४७)

अरे! देखो सही, अभी इस समय ही तपनतनयाके इस कालियह्रदका जल कैसा उबल रहा है! मानो चूल्हेपर स्थित विशाल जलपात्रका अत्युष्ण जल आलोडित एवं आवर्तित हो रहा हो! तथा ऊपरकी ओर, ओह! वह देखो, वे भूले-भटके कुछ विहंगम उड़ते हुए आये, विषजलसे स्पृष्ट वायुने उन्हें छू लिया और वे मूर्छित होकर, हाय! उस ह्रदमें ही जा गिरे। इसके परिसरमें अवस्थित स्थावर प्राणी भी जीवित रह ही कैसे सकते थे। दैवप्रेरित जंगम-मृग आदि इस ह्रदके तीरकी ओर आकर जीवित रह जायँ, यह सम्भव ही कहाँ है। बस, पवन इन विषाक्त तरंगमालाओंको स्पर्शकर, विषजलकणोंको वहन करते हुए उन्हें छू लेता है और वे जल जाते हैं, प्राणशून्य हो जाते हैं—

कालिन्द्यां कालियस्यासद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः॥
विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ४-५)

जमुनहिं मिल्यौ निकट ही महा।
अति अगाध ह्रद कहियै कहा॥
बिष की आगि लागि जल जरै।
उड़ते खग जहँ गिरि गिरि परै॥
पवन रासि उठि सुठि जल लहरैं।
तिन तैं विषकी फुही जु फहरैं॥
इक जोजन के थिर-चर जंत।

जरि-जरि, मरि मरि गए अनंत॥
जो बृंदाबन योग्य न हुते।
ते तब बिष-जल-ज्वाला हुते॥

× × ×

जमुन धार कहँ तजहिं अगम दह भरिब धनुष सत।
तहँ अहि करहिं प्रबास कोह काली दुर्मद मत॥
लहरि लोल मिलि अनिल चलत, जब तपतु सकल बन।
उठति बिसम बिस ज्वाल जरत नभ उड़त बिहगगन॥
तट निकट बिटप झौंके जहर, झार-भार नहिं सहि सकत।
इहि भाँत अमित उतपात लखि जगत-तात कूदन तकत॥

किंतु साथ ही ऐसे सूने निरानन्द कालियह्रदके तटपर भी वह एक कदम्बतरु अवस्थित अवश्य है तथा उसकी निराली हरितिमा भी व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें समा जाती है। ओह! उसकी शत-शत सुन्दर शाखाएँ—कभी एक क्षणके लिये भी इस विषम विषकी ज्वालासे म्लान नहीं हुईं, उसका एक पल्लव भी झुलस न सका। यह तरुराज निरन्तर एक पुण्यसौरभका संचार करता रहता है, व्रजपुरवासी दूरसे उसका घ्राण पाकर हर्षित होते हैं। इतना ही नहीं, कालके नियमोंका सर्वथा अतिक्रमण कर वह सदा एकरस मनोज्ञ एवं सुखशीतल बना रहता है। पावस, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त-ग्रीष्म—इन सब ऋतुओंमें ही, बारहों मास निरन्तर उसके अङ्ग पुष्पभारसे नमित रहते हैं, सदा ही वह कुसुमित रहता है एवं उसकी शोभासे दसों दिशाएँ उद्‌भासित रहती हैं; किंतु ऐसी असम्भावित घटना क्यों? अत्यन्त घोर विषकी इस तरुके प्रति ऐसी प्रभावहीनता कैसे? बस, इसीलिये कि यह बड़भागी कदम्ब तरुराज श्रीकृष्णचन्द्रके भावी चरण-सरोज-स्पर्शकी परम पुनीत प्रतीक्षामें जो अवस्थित है; व्रजराजनन्दनके नलिन-सुन्दर श्रीचरणोंका स्पर्श उसे भविष्यमें प्राप्त होगा, इस अप्रतिम सौभाग्यसे वह विभूषित है—

भाविना श्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन स एकस्तत्तीरे न शुष्कः।

(भावार्थदीपिका)

ऐसी ही है श्रीकृष्णचरणस्पर्शकी महिमा! यह स्पर्श प्राप्त हो, फिर तो कहना ही क्या है; किसीके लिये केवलमात्र यह सौभाग्य निर्धारित ही हो जाय, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपाशक्ति भविष्यमें, सहस्र-सहस्र युगसमूह व्यतीत होनेके अनन्तर भी यदि किसीके लिये ऐसे परम सुदुर्लभ संयोगका विधानमात्र कर दे तो इससे अधिक जीवनकी कृतार्थता और है ही क्या। व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्तिके कटाक्षकोरमें एक अद्भुत अनादि अनन्त लीलोपकरणसूचिका सुरक्षित रहती है। उसमें यह कदम्बतरु भी स्थान पाये हुए है। सुदूर भविष्यमें, अमुक द्वापरके अन्तमें व्रजेन्द्रनन्दन अपने बाल्यावेशकी मौजमें इस कदम्बपर आरोहण करेंगे और पश्चात् इसीपरसे ही कालियदमनकी लीला संघटित करनेके लिये कलिन्दनन्दिनीके उस विषमय ह्रदमें कूद पड़ेंगे—यह विवरण इस तरुराजके लिये अङ्कित है। फिर कालियका विष इसका कभी कुछ भी बिगाड़ कर सके, यह तो असम्भव है। भला, जिन व्रजेन्द्रनन्दनका एक नाम जिह्वाग्रपर उपस्थित होनेमात्रसे, कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होनेभरसे, उनके त्रिभुवनमनोहर रूपकी एक काल्पनिक आभा भी मानसतलपर उदय होनेमात्रसे, परिस्थितिविवश हुए आकुल प्राणोंकी सर्वथा असहाय अवस्थामें एक बार 'नाथ! मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार मन-ही-मन जिनके शीतल शंतम चरणसरोरुहकी शरण ग्रहण कर लेनेसे—संक्षेपमें कहनेपर अचिन्त्य सौभाग्यवश, उनके नाम-रूप-लीला-गुण आदिके सम्पर्कमें किसी प्रकार चले आनेमात्रसे जब संसार-सर्प-विषकी ज्वाला सदाके लिये शान्त हो जाती है, तब फिर जिसे व्रजराजनन्दन अपने श्रीचरणोंसे स्वयं स्पर्श करेंगे, उसका कालियके विषकी ज्वाला क्या कर सकती है।

या पर कृष्न-चरन परसिहैं।
इहि चढ़ि या दुष्टहि करसिहैं॥
भावी जा कदंब की ऐसैं।
बिष-जल परसि सकै तिहि कैसैं॥

इसीलिये यह कदम्ब-तरुवर विषकी कराल शिखाओंसे निरन्तर परिवेष्टित रहकर भी सर्वथा अक्षत बना है, अपने अन्तस्तलमें नित्य नवीन उल्लास लिये निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित रहता है। न जाने कबसे यह कदम्ब पल्लवोंका शृङ्गार धारणकर, अपने कुसुमरूप

नयनोंके पाँवड़े बिछाकर नीलसुन्दरका आवाहन कर रहा है—'आओ मेरे देवता! मेरे चिरजीवनकी अभिलाषा पूर्ण हो।'

इसके अतिरिक्त इसका एक और भी समाधान है कि इस कदम्बको कालियकी विषाग्नि क्यों नहीं जला सकी। और नीलसुन्दर तो इस समाधानको ही अपने बाल्यावेशसे निस्सृत लीलारस-तरङ्गिणीमें स्थान देंगे। शालीनता गुणका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन यदि पुरुषोत्तम प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रमें व्यक्त न हो तो और कहाँ हो? वे भला इस निराविल लीलारससिन्धुमें अवगाहन करते हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको सर्वथा पीछे रखकर, डुबोकर एक अभिनव मुग्धताके साजसे सज्जित हुए जब इसकी रसमयी ऊर्मियोंका आस्वादन ले रहे हैं, अपने स्वजनोंको स्वरूपभूत परम आनन्दका दान कर रहे हैं, उस समय अपने चरणस्पर्शकी महिमाको अपने ही श्रीमुखकी वाणीद्वारा इस कदम्बके साथ सम्बद्ध करें—यह भी कभी सम्भव है? अतएव वे तो इस दूसरे समाधानको ही उस अवसरपर महत्त्व देंगे तथा लीलारङ्गमञ्चपर झूलता हुआ आवरण-पट इस सूत्रके सहारे ही सरककर दूसरे दृश्यकी अवतारणा करेगा। जो हो, वह समाधान यह है—'उस दिन जब कि स्वर्गके देवगण पराजित हो चुके थे तथा विजेता पक्षिराज गरुड़ अमृतभाण्ड लेकर नागलोककी ओर अग्रसर हो रहे थे, उस समय—उस अमृतकलशके साथ ही—वे इस कदम्बतरुकी शाखापर क्षणभरके लिये अन्त:प्रेरित-से हुए जा विराजे थे, क्षणिक विश्राम-सा किया था उन्होंने इस वृक्षपर। तथा इस प्रकार अमृत-स्पर्शसे उस कदम्बने अमरत्व लाभ कर लिया और इसीलिये कालियविषकी अग्निसे उसकी किञ्चिन्मात्र भी क्षति न हो सकी।'—

अमृतमाहरता गरुत्मता क्रान्तत्वादिति च पुराणान्तरम्।

(भावार्थदीपिका)

अस्तु, गोपशिशुओंके द्वारा प्रशंसा-गीतका विराम होते-न-होते—और कुछ भी लीला होनेसे पूर्व ही—श्रीकृष्णचन्द्रने कालियह्रदकी ऐसी भयावह परिस्थितिपर एवं साथ ही आकुल प्रतीक्षामें अवस्थित उस सुन्दर मनोहर कदम्बतरुपर अपनी कृपाभरी दृष्टि डाल ही दी—नहीं-नहीं, उनकी ऐश्वर्यशक्तिने ही अवसर देखकर अपनी विनम्र सेवा समर्पित करनेकी भावनासे नीलसुन्दरके नेत्र उसकी ओर फेर दिये। फिर तो तत्क्षण ही उनके हृत्तलके स्रोत कुछ क्षणोंके लिये ऐश्वर्यसंवलित हो उठे, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अन्तस्तलमें अब यह झंकृति होने लग गयी—

एतदर्थं च वासोऽयं व्रजेऽस्मिन् गोपजन्म च।
आमीषामुत्पथस्थानां निग्रहार्थं दुरात्मनाम्॥
एनं कदम्बमारुह्य तदेव शिशुलीलया।
विनिपत्य ह्रदे घोरे दमयिष्यामि कालियम्॥

(हरिवंश, विष्णुपर्व ११। ५८-५९)

'इसी उद्देश्यसे तो इस व्रजमें मेरी यह प्रकट लीला है, मैंने गोपजन्म स्वीकार किया है कि इन कुमार्गगामी दुरात्माओंका निग्रह करूँ। बस, ठीक है; शिशुलीलाके आवेशमें ही मैं इस कदम्बपर चढ़ जाऊँगा और फिर इस कालियह्रदमें कूदकर कालियसर्पका दमन करूँगा।'

बस, ऐश्वर्यशक्तिकी इतनी-सी सेवा ही नीलसुन्दरने इस समय स्वीकार की और फिर पूर्वकी भाँति ही वे सरस ऊर्मियोंमें बह चले। लीलाविहारी व्रजराजदुलारेका यही स्वभाव है। उनकी नित्यसहचरी ऐश्वर्यशक्ति अपने-आपको आवृत रखकर जो-जो सेवाएँ समर्पित करती हैं, उन्हें तो वे स्वीकार करते हैं; किंतु व्यक्तरूपसे वे नीलसुन्दरके हृत्तलको बार-बार स्पर्श करती रहें, यह सम्भव नहीं है। अपने विश्वविमोहन, मुग्ध, रसमय लीलाप्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रको ऐश्वर्यका सम्मिश्रण अभिप्रेत जो नहीं है। इसीलिये वृन्दावनविहारी उपर्युक्त ऐश्वर्यमय चिन्तनको तत्क्षण विराम देकर पहलेकी भाँति ही अपने बाल्यावेशकी तरंगोंसे उच्छलित लीलासिन्धुमें डूबने-उतराने लगे। अवश्य ही इसकी लोल लहरें उन्हें अतिशय वेगसे बहाये लिये जा रही हैं कालियदमनलीलाकी ओर ही। वे अगणित सखा भी उनके पीछे बहते जा रहे हैं। साथ ही उन शिशुओंका उत्साह भी प्रतिक्षण नवीन होता जा रहा है। कदाचित् वे सरलमति बालक जानते होते, अपने कन्हैया भैयाकी भावी योजनाका आभास भी उन्हें प्राप्त हो जाता, फिर तो उनकी वह उमंग तत्क्षण समाप्त हो जाती, वे अपने प्राणप्रिय कन्नूको एक पग भी उस ओर बढ़ने नहीं देते, किंतु

वे जानें कैसे, श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चितवनकी ओटमें ऐसे समस्त अवसरोंपर ही अचिन्त्यलीला-महाशक्तिका अञ्चल स्पन्दित जो होने लगता है; इसी स्पन्दनके बयारसे उनके ज्ञानकी परमोज्ज्वल आलोकशिखा सचमुच झिलमिल करने लगती है और इसीलिये वे वस्तुस्थितिको देखकर भी नहीं देख पाते। इसके अतिरिक्त अपने कन्नू भैयाके किसी प्रस्तावका समर्थन वे न करें—यह तो उन्होंने सीखा ही नहीं। अपने प्राणोंका समस्त उत्साह लेकर वे सदा ही नीलसुन्दरकी प्रत्येक इच्छाका अनुसरण करते हैं। इसीलिये आज भी इस कालियह्रदके विषमय तटपर, अभी-अभी इस विषके प्रभावसे मृत्युके उस पार जाकर लौट आनेपर भी उन्हें कोई भय नहीं है; अपितु प्रत्येक शिशु ही मन-ही-मन कुछ-न-कुछ नवीन मनोरथका निर्माण कर रहा है, सबकी आँखोंमें एक पवित्रतम सरल उत्कण्ठा भरी है—'देखें! अब मेरा कन्नू क्या कहता है, क्या करता है!'

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर नित्य विराजित स्मितकी आभा किञ्चित् बदली; वे तनिक गम्भीर-से दीखे! किंतु पुनः निमेष गिरते-न-गिरते उनके नेत्र पहलेसे भी अधिक चञ्चल हो उठे। दक्षिण भुजा कालियह्रदकी ओर केन्द्रित हो गयी तथा तर्जनीसे कालियनागके उस आवासकी ओर संकेत करते हुए नीलसुन्दरने कहना प्रारम्भ किया। स्वरमें एक अभिनव गम्भीरताका पुट अवश्य है, पर बाल्यावेशकी सरलता, वीणाविनिन्दित स्वरकी सरसता भी निरन्तर झर ही रही है और वे मानो एक श्वासमें ही इतनी बातें कह गये—

अहो वयस्याः! पश्यथ अत्रोदकस्तम्भ-विद्याकृतावकाशप्रकाशमानह्रदिनीह्रदस्थितस्वसदने कालियाख्यमन्द दंदशूकस्तिष्ठति। तेन च दुष्टनिष्ठ्यतया सर्व एवाखर्बविषज्वालया ज्वलिताः पर्य्यग्देशा दृश्यन्ते। उपर्य्यप्युत्पतिताः पतत्रिणश्चात्र पतिता इत्यात्मनेत्राभ्यां प्रतीयताम्। येभ्यस्तु प्राणा जगत् प्राणाशनभयतः सद्य एव विप्रतिपद्येव स्वयमुत्पतन्तः कदापि न न्यवर्त्तन्त। सोऽयं पुनर्गरुतमत्कृतामृतसेक एक एव कालकूटज्वालयापि कृतालम्बः कदम्बः सुललितदलादितया लालसीति। तस्मादस्योपरिग-कोटरपिठरे स्फुटं तदनवद्यममृतमद्यापि विद्यत इति प्रसह्याहमारुह्य पश्यानि। भवन्तस्तु गाः किञ्चिद्दूरचरतया चारयन्तश्चरन्तु।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे भैयाओ! देखो तो सही, यहाँ चमचम करती हुई यमुनाके वक्षःस्थलसे सटे हुए ह्रदमें एक बहुत बड़ा सर्प रहता है हो! महादुष्ट है वह। उसका नाम कालिय है। इतना ही नहीं, वह जलस्तम्भनविद्या जानता है। उस विद्याके प्रभावसे उसने जलमें ही स्थान बना लिया और फिर इस ह्रदमें गृहका निर्माण कर निवास करने लगा है। और सुनो, इसकी फुफकार इतनी दूषित है, इसकी फुफकारसे ऐसी एवं इतनी अधिक भयंकर विषज्वाला निकलती है कि चारों ओरकी भूमि झुलस गयी, जल गयी है। सचमुच, सब ओरकी पृथ्वी जली हुई प्रतीत हो रही है। और यह तो अपनी आँखोंसे अभी-अभी प्रत्यक्ष देख लो, ऊपर ऊँचे आकाशमें उड़ते हुए पक्षी सब-के-सब इस ह्रदमें गिर पड़े। हाय! इन पक्षियोंके प्राण इस सर्पके भयसे इन्हें छोड़कर ऐसे उड़ गये मानो इनका इनसे मेल है ही नहीं, परस्पर विरोध हो गया है—सब-के-सब पक्षी बेचारे मर ही गये। इनके प्राण (तुम्हारी भाँति) लौटनेके नहीं। किंतु भैयाओ! अरे देखो, यह अकेला कदम्ब ही ज्यों-का-त्यों बना है हो! इस सर्पकी कालकूट-ज्वालाके सम्पर्कमें भी यह अपने-आपको धारण किये हुए है —यही नहीं, अत्यन्त सुन्दर पल्लव आदिसे विभूषित रहकर अतिशय चमक रहा है। इसका कारण बताऊँ? अच्छा सुनो, गरुड़ जब अमृत लिये जा रहे थे, उस समय इसपर भी अमृतके छींटे पड़ गये थे। और सुनो, भैयाओ! मुझे स्पष्ट ही ऐसा लगता है कि उसी कारणसे आज भी इस वृक्षके ऊपरके कोटरमें वह विशुद्ध अमृत सुरक्षित पड़ा है। मेरी तो इच्छा है कि साहसपूर्वक मैं इस कदम्बपर चढ़ जाऊँ और देखूँ तो सही कि वहाँ उस कोटरमें सचमुच अमृत है या नहीं। हाँ, तुम सब यहाँसे किञ्चित् दूर हटकर गोचारण करते हुए विचरो!'

श्रीकृष्णचन्द्र इतना कह लेनेके अनन्तर अपने सखाओंकी ओर देखने लगे। प्रत्येक शिशुने ही देखा, ठीक ऐसी ही अनुभूति उसे हुई—'मेरा कोटिप्राणप्रिय कन्नू केवल मेरी ही आँखोंमें अपनी आँखें मिलाकर मेरी

अनुमति चाह रहा है!' सचमुच मानो स्नेहकी शत-सहस्र स्रोतनियाँ नीलसुन्दरके इन दृगोंसे एक साथ प्रसरित हो रही हों, ऐसी स्नेहपूरित दृष्टिसे वे उन शिशुओंकी सम्मति माँग रहे हैं। किंतु उन बालकोंका हृदय—न जाने क्यों—आज भर आया। क्षणभर पूर्वका वह अप्रतिम उल्लास भी सहसा, न जाने कैसे, सर्वथा प्रशमित हो गया! वे कुछ बोलने चले, पर इतनेमें तो उनके नेत्र भी छल-छल करने लगे? व्रजेन्द्रनन्दनने उन्हें दूर हटकर गोचारण करनेकी बात कह दी—इस हेतुसे यह बात हुई क्या? नहीं-नहीं, यह तो कितनी बार हो चुका है। आज तो बिना किसी प्रत्यक्ष कारणके ही उनके हृदयका बाँध ही टूटा-सा जा रहा था। पर, इधर नीलसुन्दरको भी अब अत्यधिक त्वरा है। यह कहना सम्भव नहीं कि उन शिशुओंने उन्हें मूक सम्मति दी या असम्मति प्रकट की; क्योंकि सहसा व्रजेन्द्रनन्दन उनकी ओर देखना स्थगितकर कदम्बतरुकी ओर देखने लग गये। साथ ही उनके अधरपल्लव भी उनकी शुभ्र दशनकान्तिसे उद्भासित हो उठे तथा सर्वत्र एक विचित्र मनोहर हास्य गूँज उठा और फिर नादित होने लगी उनकी यह रहस्यपूर्ण अभय वाणी—'भैयाओ! डरना मत, डरना मत; मेरे लिये शोक मत करना, भला! अच्छा, दूर मत जाओ। यहीं—इस स्थानपर ही गायोंको सँभालनेकी दृष्टिसे स्थित रहना।'

मा भेतव्यं मा भेतव्यमिहैव धेनुसम्भालनया स्थातव्यमिति हसितसितदशनरुचिरुचिराधरमाभाष्य।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, अपलक दृष्टिसे वे शिशु देखते ही रहे तथा श्रीकृष्णचन्द्र दौड़कर कदम्बके समीप जा पहुँचे। अत्यन्त शीघ्रतासे उन्होंने कटिवस्त्रको समेटकर दृढ़तापूर्वक बाँधा। यह बिखरी हुई अलकावलि भी चटपट सहेज ली—

किंकिनि सौं कटि-पटहि लपेटि।
कुटिल अलक मुकुट मैं समेटि॥

फिर दाहिने करतलसे वाम भुजाको ठोककर उन्होंने उस कदम्ब तरुपर चढ़ना आरम्भ किया, अरे नहीं, वह देखो—वे तरुके ऊपरकी सर्वोच्च शाखापर जा विराजे। ओह! इस समयका उनका वह उत्साह! वह अप्रतिम सौन्दर्य! बस, कहना ही क्या है—

चट दै जिहि कदंब पर चढ़े।
छाजत ता छिन अति छबि बढ़े॥

× × ×

खेलहिं प्रभु नाँध्यौ, कसि पटु बाँध्यौ,
हरि हर बर करि कदम चढ़े।
ठोकनि भुजदंडनि लीला मंडनि
अति उर उमगि उछाह बढ़े॥

मानो, इस समय अपने मत्स्य-कूर्म आदि स्वरूपोंसे अवतरित होनेकी घटना, उन-उन दुष्टोंके दमनकी बात, खलनिग्रहकी अपनी प्रवृत्ति—इन सबका श्रीकृष्णचन्द्रको स्मरण हो आया हो और वे उन भावोंसे भावित हो उठे हों—इस प्रकार उनकी दृष्टि नीचे अवस्थित कालियह्रदपर पड़ी, नहीं-नहीं स्वयं कालियपर ही पड़ी; तथा फिर क्षणार्धका सहस्रांशमात्र बीतनेसे कालियके अत्युग्र विषमय प्रभाव—पराक्रमकी समीक्षा करके लौट भी आयी। श्रीकृष्णचन्द्र अर्द्धनिमीलित नयनोंसे अब कलिन्दनन्दिनीके सुदूर कल-कल प्रवाहकी ओर देखने लगे। उन्होंने स्पष्ट देख लिया—केवल तीरभूमि ही नहीं, तपनतनयाका वह मञ्जुल प्रवाह भी कितने बृहत् अंशमें इस कालियने विषदूषित कर दिया है! अनन्त करुणार्णव व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र फिर विलम्ब क्यों करें! कदम्बकी वह तुङ्ग शाखा अतिशय वेगसे कम्पित हुई और नीलसुन्दर उस विषमय ह्रदमें ही कूद पड़े—

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।
कृष्ण कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६)

जिहि जल छुवत जात जन जरे।
तिहि जल कुँवर कूदि ही परे॥

श्रीकृष्णका कालियके शयनागारमें प्रवेश और नागवधुओंसे उसे जगानेकी प्रेरणा करना; नागपत्नियोंका बालकृष्णके लिये भयभीत होना और उन्हें हटानेकी चेष्टा करना

मानो ऊँचे आकाशमें उड़ता हुआ अत्यन्त वेगशील मत्स्यरङ्क (मछरलोका) पक्षी जलके अन्तरालमें संतरण करते हुए अपने लक्ष्यभूत मत्स्यको देख ले तथा उसे अपनी चोंचमें भर लेनेके उद्देश्यसे झपसे कूद पड़े—इसी प्रकार सर्वथा भयशून्य होकर श्रीकृष्णचन्द्र कदम्बतरुकी तुङ्गशाखासे उछलकर नीचे—कालियह्रदके जलमें समा गये—

दूरतरमुड्डीय झषं जिघृक्षन्नतितरस्वी मत्स्यरङ्क इव तरसा रसादम्भसि निपपात।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

साथ ही ह्रदके ऊपर चारों ओर चार सौ हाथतक विषमय जलका प्रवाह बह चला। एक तो पहलेसे ही वहाँ, उस जलराशिमें कालियविषजनित लाल-लाल, पीली-पीली-सी विविध वर्णोंकी ऊँची लहरें उठ रही थीं, सब ओरसे वह ह्रद अपने-आप क्षुब्ध हो ही रहा था और फिर उसपर अतिशय वेगसे कूद पड़े परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र! अत: ऊपर और भी चार सौ हाथ परिमित स्थानमें सहसा जल फैल जाय, उनके पतनके वेगसे जल इतना उछल जाय—इसमें आश्चर्य ही क्या है। बाल्यलीलाविहारी जिस समय व्रजेन्द्रगेहिनीके अङ्कमें विराजित होते हैं, सखाओंकी मनोहर क्रीडामें योगदान करते हुए किसी शिशुके स्कन्धपर आरोहण करते हैं, उस समय उनका वह महामरकत-नील कलेवर अतिशय सुकोमल कुसुमदलोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त मृदुल, मृदुलतर रहता है; एक लघु तूलपुञ्जमें जितना भार होता है, उससे भी कम भार नीलसुन्दरके श्रीविग्रहमें प्रतीत होता है। पर वे ही श्यामल-कोमल स्निग्ध लघुभारसमन्वित श्रीअङ्ग जब असुरोंके सम्पर्कमें आते हैं, व्रजराजनन्दनकी जब असुरदमनलीला आरम्भ होती है, तब फिर तो, देखनेमें ज्यों-के-त्यों रहनेपर भी, उन्हीं अवयवोंके अन्तरालमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी गुरुता, कोटि-कोटि वज्रसारकी रूक्षता भी व्यक्त हो ही जाती है। अनन्त-बलनिधान व्रजराजतनयका बल यथापेक्षित रूपमें प्रकाशित होकर ही रहता है। उनकी अपरिसीम ऐश्वर्यशक्ति आवश्यक मात्रामें क्रियाशील हुए बिना नहीं रहती। यहाँ भी जब लीलाविहारी कालियदमनलीलाकी अवतारणा करने चले हैं, तब तदनुरूप ही मङ्गलाचरण भी होना ही चाहिये। इसीलिये जल उनके कूदनेसे इतनी दूर उछल आया है। इसमें कुछ भी नवीनता नहीं। अपितु विस्मययोग्य यदि कुछ है तो यह है कि अनन्त-ब्रह्माण्डभाण्डोदरके अतिशय वेगसे कूदनेपर भी जल इतना-सा ही प्रसरित हुआ! सो भी बाह्यदृष्टिसे ही! अन्यथा स्पष्ट इसका समाधान दीख रहा है—वह देखो, इधर तो वे असंख्य गोपशिशु विस्फारित-नेत्र हुए अपने कोटि-कोटि प्राणधन नीलसुन्दरकी ओर देख रहे हैं, उनकी पङ्क्तियाँ खड़ी हैं, उन्होंने सीमा जो बाँध दी है। उनके पार तो क्या, उन्हें भी यह विषोर्मि स्पर्श नहीं कर सकती; उनके इस ओर ही कुछ हाथ दूर रहकर ही, स्थलपर लोट रही है—नहीं-नहीं कालियकी भावी विकलताकी मानो सूचना दे रही है। तथा उस ओर कालिन्दकन्याका मञ्जुल प्रवाह है, वह अब क्षणभरके लिये भी इससे अधिक सीमामें विषसिक्त क्यों हो! यह चार सौ हाथका विषप्लावन भी हुआ है उद्देश्यविशेषसे ही; यह तो आवश्यक है। उन विचरण करती हुई कालिय-पत्नियोंको श्रीकृष्णचन्द्र इसी मिससे एकत्र जो कर लेना चाहते हैं। इन नागवधुओंके ह्रदयमें अपने अनन्त ऐश्वर्य, अपनी सम्पूर्ण भगवत्ताकी भावना उदय हो जानेसे पूर्व वे उन्हें विशुद्ध लीलारसका दान देना चाहते हैं। महामहेश्वर व्रजराजनन्दनकी मुग्धता-सम्पुटित भङ्गिमाओंका रस—सुख निराला ही होता है। अतिशय महान् भाग्यशाली कतिपय जन ही एकमात्र उनकी कृपासे इसकी कदाचित् कोई झाँकी पाकर कृतार्थ होते हैं। अत्यन्त क्रूरह्रदय कालिय तो इसका

सर्वथा अनधिकारी है, उसका तो यह सौभाग्य ही नहीं कि वह अनन्तैश्वर्यनिकेतन गोकुलेन्द्रनन्दनके ऐश्वर्य-विहीन मधुर बाल्यलीला-रसका आस्वादन ले सके। हाँ, उन नागवधुओंके अन्तस्तलमें एक ऐसी चिरसञ्चित लालसा अवश्य है और उसके पूर्ण होनेका अवसर भी उपस्थित है। अतएव नागमन्थन होनेसे पूर्व भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र पहले उनका ही मनोरथ पूर्ण करने चलते हैं। और इसीलिये अकस्मात् ह्रदमें एक विशाल हिण्डन उत्पन्नकर, इसके द्वारा 'कालिय (उनका पति) निद्रासे जाग उठा है' यह भ्रम उत्पन्नकर उन्हें अपने पतिके शयनागारमें ही बुला लेनेके उद्देश्यसे यह जल इतना आलोडित कर दिया गया है—

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
संक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्यक् प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मि-
र्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ७)

बल अनंत है जासु, त्रिभुवन पति भगवंत हरि।
अचरज अहै न तासु, सत धनु जल गौ चारि दिसि॥

× × ×

बर बारन ज्यौं जल में धसरै।
सत-सत धनु चहुँ दिसि पय पसरै॥

अस्तु, क्षण भी न लगा, श्रीकृष्णचन्द्र कालियके उस शयनगृहमें जा पहुँचे। नागवधुओंकी दृष्टि भी उनके श्यामलकोमल श्रीअङ्गोंपर जा पड़ी! फिर तो ऐसे सौन्दर्यनिधि शिशुको देखकर वे कुछ क्षणोंके लिये हतप्रभ हो गयीं। सुन्दरता तो उन वधुओंके अङ्गोंसे भी झरती थी, अपने रूपका उन्हें गर्व भी था, स्वर्बालाएँ अपनी तुलनामें उन्हें हेय प्रतीत होती थीं; किंतु नीलसुन्दरके विश्वविमोहन सौन्दर्यके दर्शन तो उन्हें आज ही हुए हैं! अपलक नेत्रोंसे वे इस त्रैलोक्य-मनोरम रूपको देख रही थीं, किंतु देखते-देखते ही सहसा उनके प्राण स्पन्दित होने लग गये—'हाय रे! इस बालकका भविष्य! क्रूर पतिके सम्पर्कमें इस अप्रतिम सुन्दर शिशुकी क्या दशा होगी?'—

अति कोमल तनु धर्‌यौ कन्हाई।
गए तहाँ, जहँ काली सोवत, उरग-नारि देखत अकुलाईं॥

उन नागवधुओंका हृदय भर आया। सौन्दर्यका आकर्षण तो उन्हें बाध्य कर रहा था नीलसुन्दरका परिचय प्राप्त कर लेनेके लिये; गद्गद, पर अतिशय धीमे कण्ठसे एक प्रश्न उन सबोंने श्रीकृष्णचन्द्रसे कर भी दिया; किंतु उत्तर पानेका धैर्य वे न रख सकीं! अपनी कल्पनाके अनुसार इस सुन्दर बालककी आसन्न दुरवस्थाका चित्र उनकी आँखोंमें नाच उठा। आतुर होकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको उस स्थानसे शीघ्रातिशीघ्र भाग जानेके लिये संकेत करने लगीं, स्पष्टरूपसे कह भी बैठीं—

कह्यौ—कौन कौ बालक है तू, बार-बार कहि, भागि न जाई।
छनकहि मैं जरि भस्म होइगौ, जब देखै उठि जाग जम्हाई॥

किंतु श्रीकृष्णचन्द्र तो भागना दूर, हँस रहे हैं। हँस-हँसकर कह रहे हैं—

उरग-नारि की बानी सुनि कै, आपु हँसे मन में मुसुकाई।
मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याकौं अब देहि जगाई॥

लीलासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अनादि-अनन्त लीलाओंमें किसी एक लीलाका भी—उसके किसी स्वल्पतम अंशका भी 'अथ'-'इति' निर्देश कर देना, यहाँ इसका आरम्भ है, यहाँ इसकी परिसमाप्ति हुई,—इस प्रकार इत्थम्भूतरूप निर्धारित कर देना आजतक किसीके लिये भी सम्भव नहीं हुआ, अनन्त कालतक किसीके लिये होगा भी नहीं। इस अपरिसीम सिन्धुमें कहाँ किस समय कौन-सी ऊर्मि उठी, कहाँ कितने कालके अनन्तर वह विलीन हुई—यह आजतक किसीने नहीं जाना। वहाँ, उनके स्वरूपभूत वृन्दाकाननमें प्राकृत अवच्छेद नहीं, प्राकृत कालमान नहीं। लीला-निर्वाहके लिये वहाँ सब कुछ वस्तुएँ एवं अभिनव प्रतीयमान काल-नियन्त्रण है अवश्य; पर वे सब-के-सब सर्वथा सच्चिदानन्दमय हैं—इन्हीं शब्दोंमें यत्किञ्चित् उस अप्राकृत सत्ताको हम शाखाचन्द्रन्यायसे हृदयंगम कर सकें तो भले कर लें। अन्यथा सर्वथा अनिर्वचनीय, अचिन्त्य है वह। इसीलिये किसी भी लीलाका ओर-छोर पा लेना सम्भव नहीं। व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्ति

जहाँसे जिस लीलास्रोतको मोड़ देती है, अन्तर्हित कर देती है, एवं पुनः उसे उद्‌बुद्धकर प्रसरित कर देती है—इसे तो हम उनकी कृपाशक्तिसे अनुप्राणित होकर किसी अंशमें जान सकते हैं; पर उस स्रोतका मूल एवं उसका पर्यवसान कहाँ है, कहाँ होगा—यह सदा अज्ञात ही रहता है। अभी पाँच प्रहर पूर्वकी ही तो बात है—व्रजेन्द्रसदनमें इस कालियमन्थन-लीलाकी पृष्ठभूमिके रूपमें न जाने कितनी घटनाएँ घटित हो चुकी हैं। पर यह कौन जानता है कि वास्तवमें इनका आरम्भ कहाँ हुआ एवं इनके अवसानबिन्दुकी उपलब्धि कहाँ होगी। जिसे हम इनके मूलके रूपमें अनुभव करते हैं, जिसका हमें प्रसरित होते रहनेका भान होता है और जिसे हम समापकबिन्दु निर्धारित करते हैं, वे तो सचमुच लीलाशक्तिके नियन्त्रणमें अत्यन्त सुदूर—नहीं-नहीं अनादि अनन्त प्रवाहके बिन्दु हैं—जहाँ व्रजराजनन्दनका आनन्दवर्द्धन करनेके लिये, विश्वको उनके स्वरूपभूत निराविल चिन्मय आनन्दरसका दान करनेके लिये लीलाकी धारा अपेक्षित बिन्दुके पास मुड़कर व्यक्त हो गयी है, गन्तव्य दिशाकी ओर निर्धारित बिन्दुतक प्रवाहित हो रही है और फिर वहाँसे उद्देश्य-विशेषके लिये—रसपोषणके लिये अन्तर्हित कर दी गयी है तथा अवसर आते ही फिर व्यक्त हो जायगी। इसे और भी स्पष्टरूपसे हम इन घटनाओंमें देख लें—

इस क्षणसे लगभग साढ़े पाँच प्रहर पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र जननीके द्वारा आस्तृत शय्यापर शयन कर रहे थे—

सिव-सनकादि अंत नहिं पावत, ध्यावत अह-निसि-जामहिं।
सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन, सो सोवत नँदधामहिं॥

प्रेमविवश व्रजदम्पति भी वहीं सो रहे थे—तममें नहीं, स्नेह-समाधिमें उनका मन विलीन हो रहा था—

सेज मँगाइ लई तहँ अपनी, जहाँ स्याम-बलराम।
सूरदास प्रभु कें ढिग सोए, सँग पौढ़ी नँद-बाम॥

सहसा नीलसुन्दर चौंक उठे। व्रजरानी एवं व्रजेन्द्रने भी दीपकका प्रकाश और भी दीप्त किया और अपने प्राणधनके झिझक उठनेका कारण—वह अशुभ स्वप्न भी उन्होंने जान लिया—

जागि उठे तब कुँवर कन्हाई।
मैया कहाँ गई मो ढिग तैं, सँग सोवति बल-भाई॥
जागे नंद, जसोदा जागीं, बोलि लिए हरि पास।
सोवत झिझकि उठे काहे तैं, दीपक कियौ प्रकास॥
सपनें कूदि पर्‌यौ जमुना-दह, काहूँ दियौ गिराइ।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, जनि हो लाल! डराइ॥

अपने नीलमणिको तो मैयाने हेतु बताकर आश्वासन दे दिया; नीलमणि सुखकी नींद सो भी गये—

मैं बरज्यौ जमुना-तट जात।
सुधि रहि गई न्हात की तेरें, जनि डरपौ मेरे तात॥

× × ×

अब जनि जैहौ गाइ चरावन, कहँ को रहति चलाइ।
सूर स्याम दंपति बिच सोए, नींद गई तब आइ॥

पर स्वयं नन्दगेहिनीका हृदय दुर्‌दुर् कर उठा—

सपनौ सुनि जननी अकुलानी।

जैसे-तैसे इस चिन्तनमें ही निशाका अवसान हो गया। व्रजरानीके हृदयकी टीस भी किसी अचिन्त्य शक्तिने हर ली। अतिशय उमंगमें भरकर वे आज पुनः स्वयं ही अपने नीलमणिके लिये नवनीत प्रस्तुत करने चलीं—

इहि अंतर भिनुसार भयौ।
तारागन सब गगन छपाने, अरुन उदित, अँधकार गयौ॥
जागी महरि, काज गृह लागी, निसि कौ सब दुख भूलि गयौ।

× × ×

मथनहारि सब बगलि बुलाईं, भोर भयौ, उठि मथौ दह्यौ।
सूर नंद घरनी आपुनहू मथन मथानी-नेति गह्यौ॥

इधर तो यह सब हो रहा है, उधर परब्रह्म पुरुषोत्तमके इस स्वप्नकी सुन्दर-सी भूमिका भी ठीक उसी समय प्रस्तुत हो चुकी है। नराकृति परब्रह्म स्वप्न देख रहे थे तथा उसी समय उन्हींके परम भक्त देवर्षि नारदकी वीणा मधुपुरीके सम्राट् कंसके एकान्त कोष्ठमें झंकृत हो रही थी, प्रभुके हृदयस्वरूप देवर्षि उस नृशंसको परामर्श-दान कर रहे थे—

नारद रिषि नृप सौं यौं भाषत।
वै हैं काल तुम्हारे प्रगटे, काहें उन कौं राखत॥
काली उरग रहै जमुना में, तहँ तैं कमल मँगावहु।
दूत पठाइ देहु ब्रज ऊपर, नंदहि अति डरपावहु॥

यह सुनि कैं ब्रज-लोग डरैंगे, वे सुनिहैं यह बात।
पुहुप लैन जैहैं नँद-ढोटा, उरग करै तहँ घात॥
यह सुनि कंस बहुत सुख पायौ, भली कही यह मोहि।
सूरदास प्रभु कौं मुनि जानत, ध्यान धरत मन जोहि॥

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके यन्त्रभूत देवर्षिकी वह प्रेरणा तुरंत ही क्रियामें भी परिणत हो गयी—

पुनि-पुनि कंस मुदित मन कीन्हौ।
दूतहि प्रगट कही यह बानी, पत्र नंद कौं दीन्हौ॥
कालीदह के कमल पठावहु, तुरत देखि यह पाती।
जैसैं काल्हि कमल ह्याँ पहुँचैं, तू कहियौ इहिं भाँती॥
यह सुनि दूत तुरत हीं धायौ, तब पहुँच्यौ ब्रज जाइ।
सूर नंद कर पाती दीन्ही, दूत कह्यौ समुझाइ॥

व्रजेश उस समय तोरणके समीप अवस्थित थे। अंशुमालीकी किरणें व्रजपुरको उद्भासित कर रही थीं। प्रात:का शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर द्रुमवल्लरियोंकी ओटसे झर-झरकर व्रजेशको स्पर्श कर रहा था, किंतु उनकी आँखोंके आगे तो अँधेरा छा गया! अपने नीलमणिकी अनिष्टाशङ्कासे वे काँप उठे। शूलकी-सी वेदना होने लगी। शरीर दु:खभारसे जल-सा उठा। दूत तो चला गया और व्रजेश किसीसे कुछ भी न कहकर अपने शयनागारमें व्रजरानीकी शय्यापर कटे वृक्षकी भाँति आकर गिर पड़े। परिस्थितिकी गम्भीरताका अनुमान कर प्रमुख गोप आ पहुँचे। व्रजेश्वर अत्यन्त विह्वल होकर कहने लगे—

आपु चढ़ै ब्रज ऊपर काल।
कहाँ निकसि जैयै, को राखै, नंद कहत बेहाल॥
मोहि नहीं जिय कौ डर नैकहु, दोउ सुत कौं डर पाउँ।
गाउँ तजौं, कहुँ जाउँ निकसि लै, इनही काज पराउँ॥
अब उबार नहिं दीसत कतहूँ, सरन राखि को लेइ।

और व्रजरानी व्रजपुर-वनिताओंसे आवृत होकर सोच कर रही थीं। उनकी आँखोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह झर रहा था—

नंद-घरनि ब्रज-नारि बिचारति।
ब्रजहिं बसत सब जनम सिरानौ, ऐसी करी न आरति॥
कालीदह के फूल मँगाए, को आनै धौं जाइ।
ब्रजबासी नातरु सब मारै, बाँधै बलऽरु कन्हाइ॥
यहै कहत दोउ नैन ढराने, नंद-घरनि दुख पाइ।

अब आये नीलसुन्दर। उनके सुमधुर कण्ठकी सुधा-धारासे वहाँका जलता हुआ वातावरण शीतल हो गया—

सूर स्याम चितवत माता-मुख, बूझत बात बनाइ॥

जननी भी उनके बिम्बविडम्बि अधरोंपर आतुर स्नेहका चुम्बन अङ्कित कर बोल उठीं—

पूछौ जाइ तात सौं बात।
मैं बलि जाउँ मुखारबिंद की, तुमही काज कंस अकुलात॥

मैयाकी बात सुन लेनेके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र बाबाके पास चले, किंतु वहाँ पहुँचनेसे पूर्व ही उनके अपरिसीम ऐश्वर्यकी एक क्षीण रेखा प्रकाशित हो उठी, बाल्यलीलाविहारीकी वह मुग्धता बाहरसे अक्षुण्ण रहनेपर भी भीतर उसका आलोक परिव्याप्त हो उठा और तदनुरूप मन-ही-मन अग्रिम कार्यक्रमका निश्चय हो गया। बाबाने भी स्थिति स्पष्ट कर दी—

आए स्याम नंद पै धाए, जान्यौ मातु-पिता बिलखात।
अबहीं दूरि करौं दुख इनकौ, कंसहि पठै देउँ जलजात॥
मोसौं कहौ बात बाबा यह, बहुत करत तुम सोच-बिचार।
कहा कहौं तुम सौं मैं प्यारे, कंस करत तुम सौं कछु झार॥
जब तैं जनम भयौ है तुम्हरौ, केते करबर टरे कन्हाइ।
सूर स्याम कुल देवनि तुमकौं जहाँ-तहाँ करि लियौ सहाइ॥

फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रका दिया हुआ मधुरातिमधुर आश्वासन एक साथ सबके कानोंमें गूँज उठा—

तुमहि कहत, कोउ करै सहाइ।
सो देवता संग हीं मेरें, ब्रज तैं अनत कहूँ नहिं जाइ॥
वह देवता कंस मारैगौ, केस धरें धरनी घिसिआइ।
वह देवता मनावहु सब मिलि, तुरत कमल जो देइ पठाइ॥

और अन्तमें व्रजराजदुलारेके होठोंपर नित्य विराजित स्मित मानो किञ्चित् और भी विकसित हो उठा हो, इस प्रकार तनिक-सा हँसकर उन्होंने कुछ और भी कह दिया। पर सच तो यह है कि वे नहीं हँसे, उन्होंने यह बात नहीं कही, यह तो उनकी अघटनघटनापटीयसी योगमाया ही अधरोंके अन्तरालमें हँस पड़ीं और साथ ही अन्तर्हित होनेसे पूर्व व्रजरानी, व्रजेन्द्र, व्रजपुरवासी, व्रजवनिताएँ—सबके स्मृतिपथसे उन्होंने इस घटनाकी सम्पूर्ण स्मृतिको पोंछकर अपने अञ्चलमें भर लिया—

बाबा नंद झखत किहिं कारन, यह कहि मया-मोह अरुझाइ।
सूरदास प्रभु मातु-पिता कौ तुरतहिं दुख डार्‌यौ बिसराइ॥

सभी इस समय तो सर्वथा भूल गये—'नृशंस कंसका कोई दूत आया था, कमल भेजनेका आदेश है।' और तो क्या, स्वयं अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रने भी पहलेकी भाँति मुग्धताकी चादर ओढ़ ली। सर्वज्ञ सर्ववित् प्रभु भी इसे सर्वथा भूले-से होकर गोसंचारणके लिये वनमें पधार गये।

इस प्रकार लीलामहाशक्तिकी योजनाके अनुसार व्रजेन्द्रनन्दनके अनादि-अन्तविहीन चित्रपटमें यह दृश्य उद्भासित हुआ और फिर मानो ऐसा कुछ भी हुआ ही नहीं—इस रूपमें विस्मृतिका एक घन आवरण इसपर डाल दिया गया। अथवा ऐसे कहें—लीलाप्रवाह अनिर्देश्य-बिन्दुसे प्रसरित होकर दो भागोंमें विभाजित हो गया। एक स्रोत मधुपुरीके कंसप्रासादकी ओरसे होकर आया, अन्य नीलसुन्दरके स्वप्नको छूकर व्रजेश्वरीके वात्सल्यसिन्धुमें एक क्षीण कम्पनका सृजन कर अन्तर्हित हो गया—सदाके लिये नहीं, अपितु समयपर व्रज-दम्पतिकी वात्सल्यमन्थन-लीलामें उस वेदनाके मन्थनदण्डको अत्यधिक गतिशील बना देनेके उद्देश्यसे व्यक्त होनेके लिये। ऐसे ही मधुपुरीकी ओरसे प्रवाहित स्रोत भी कुछ देर तो प्रसरित होता रहा, पर सहसा यह भी अन्तर्हित हो गया। उसीकी भाँति यह भी उचित अवसरपर पुनः व्यक्त अवश्य होगा; किंतु यह होगा व्रजवासियोंको, व्रजेन्द्रदम्पतिको परम उल्लासमें भर देनेके लिये और उससे पूर्व नागवधुओंके हृदयमें करुण-भावका संचार करनेके लिये यह अभी-अभी यहाँ पुनः व्यक्त हो रहा है। श्रीकृष्णचन्द्र इसीलिये तो उस लीलास्रोतसे परिचालित—भावित होकर ही तो नागवधुओंसे कह बैठे हैं—'री! कंसने मुझे कालियके दर्शनके लिये ही तो भेजा है! तुम इसे जगा दो!'

अस्तु, नागवधुएँ कातर होकर बारम्बार आग्रह करने लगती हैं—'रे बालक! तू भाग जा!'—

पुनि-पुनि कहत सूर के प्रभु कौं, तू अब काहें न जाइ पराई।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्र तो वैसे ही हँस रहे हैं। इतना ही नहीं, निर्भय नेत्रोंसे नागपत्नियोंको ही समझा रहे हैं—

कहा डर करौं इहि फनिग कौ बावरी!

और वे सर्पवधुएँ उत्तरोत्तर व्याकुल होती जा रही हैं—कैसे शीघ्र-से-शीघ्र भगा दें इस हठी शिशुको! छलछलाती आँखोंसे वे बार-बार कंसको कोस रही हैं और नीलसुन्दरकी मनुहार कर रही हैं—

कह्यौ मेरौ मानि, छाँड़ि अपनी बानि,
टेक परिहै जानि सब रावरी॥
तोहि देखें मया मोहि अतिही भई,
कौन कौ सुवन, तू कहा आयौ।
मरौ वह कंस, निरबंस वाकौ होइ,
कर्‌यौ यह गंस, तोकौं पठायौ॥

इसी समय कालियने करवट ले ली। फिर तो स्नेहविवश नागवधुओंके हृदयका बाँध टूटने-सा लगा—'हाय रे! कैसी भीषण परिस्थितिमें फँसता जा रहा है यह बालक! कैसे समझायें इस सौन्दर्यनिधि हठीले सुकुमार शिशुको!' वे संकेत करती हैं मन्द स्वरमें बोलनेके लिये, पर श्रीकृष्णचन्द्र और भी स्फुट कण्ठसे पुकारने लगते हैं—'री! कंसको मारूँगा, मारूँगा……।' उत्तर सुनकर—सर्पवधुओंकी आँखें सजल तो पहले थीं ही, उनमें अत्यधिक निराशा भर जाती है और वे अस्फुट अश्रुपूरित कण्ठसे नीलसुन्दरकी 'भवितव्यताजनित' ऐसी बुद्धिको कोसने लगती हैं—

कंस कौं मारिहौं धरनि निरबारिहौं,
अमर उद्धारिहौं उरग-घरनी!
सूर-प्रभुके बचन सुनत उरगिनि कह्यौ,
जाहि अब क्यौं न, मति भई मरनी॥

श्रीकृष्णके द्वारा कालियह्रदके नीचेतक उद्वेलित होनेपर कालियका क्रुद्ध होकर बाहर निकलना, श्रीकृष्णको बार-बार कई अङ्गोंमें डसना और अन्तमें उनके शरीरको सब ओरसे वेष्टित कर लेना; यह देखकर तटपर खड़े हुए गोपों और गोपबालकोंका मूर्च्छित होकर गिर पड़ना

नागवधुओंकी उस स्नेहपूरित भर्त्सनाका भी श्रीकृष्णचन्द्रपर कोई प्रभाव न हुआ, अपितु हँस-हँसकर वे अब अपने चञ्चल कर-कमलोंसे जल बिखेरने लगे। इतना ही नहीं, पलक गिरते-गिरते वे ह्रदके वक्ष:स्थलपर उठ आये और मानो संतरण करने जा रहे हों, इस भावसे भुजा फैलाकर जलको थपथपाने लगे। और फिर उनका वह श्यामल कलेवर उस विशाल ह्रदमें सर्वत्र घूमने लगा। वे यथेच्छ विचरण करने लगे। मत्त गजेन्द्रकी भाँति उनका जलविहार आरम्भ हुआ। भुजाओंसे एवं पद-संचालनके द्वारा जल अत्यधिक आलोडित हो गया, एक साथ ही अगणित आवर्त बन गये, तलदेशका जल ऊपर एवं ऊपरका प्रवाह तलदेशकी ओर प्रसरित होने लगा। कालिय-आवासको अस्त-व्यस्त बनाती हुई सहस्रों धाराएँ परस्पर नीचे-ऊपर टकराने लगीं। उनकी चपेटमें आकर सर्पावास सब ओरसे उलटने-सा लगा, कालियके कुटुम्बी सर्पगण अर्धमृत-से होने लगे। तथा लीलाविहारी व्रजेन्द्रनन्दनकी तो यह क्रीड़ा थी, वे जलको पीट-पीटकर जल-वाद्यका स्वर निकाल रहे थे। किंतु कालिय-शयनागारमें यह ध्वनि भीषण वज्रपातके रूपमें व्यक्त हो रही थी, सबके कान फटे जा रहे थे।

अचानक एक उठे हुए आवर्तने निद्रित कालियको स्पर्श किया—ऐसे प्रचण्ड वेगसे कि उसे सर्वथा बाहरकी ओर फेंक दे। और फिर इस झकझोरसे जैसे ही उसकी कराल आँखें खुलीं कि वह अत्यन्त भयावह वज्रनाद-सा शब्द भी उसके कर्णछिद्रोंमें पूरित हो गया। नेत्र तो उसके खुले थे ही एवं उसी पथसे जलताड़नकी ध्वनि भी प्रविष्ट हो रही थी। पर वह कुछ भी निर्णय न कर सका कि यह जलीय झंझावात क्यों, कैसे उत्थित हुआ। साथ ही विविध आशङ्काओंसे अभिभूत होकर वह उद्विग्न हो उठा। 'गरुड तो नहीं आ गये? नहीं, वे नहीं आ सकते। सौभरिके शापका वे अतिक्रमण कर सकें, यह सम्भव नहीं! हाँ, गरुडकी अपेक्षा भी अत्यधिक पराक्रमशाली ही कोई यहाँ आनेका साहस कर सकता है! पर वह है कौन?'—इस चिन्तामें कालियके प्राण चञ्चल हो उठे। मनमें रोष भी भरने लगा; क्योंकि वह स्पष्ट देख रहा है—'इस उद्वेलनमें पड़कर सम्पूर्ण सर्पावास ही छिन्न-भिन्न जो होने जा रहा है। असह्य है यह। तथा क्षणभरका विलम्ब भी न जाने क्या परिणाम उपस्थित कर दे!'—इस प्रकार अधीर होकर कालिय अपने आवासगर्तसे चलकर आखिर बाहर निकल आया। ह्रदके ऊपर आकर उसने अपने फण विस्तारित कर लिये और तब उसकी कराल दृष्टि अपने प्रतिद्वन्द्वीपर पड़ी। फिर तो वह उस ओर ही लपक पड़ा—

अति ऊधम सुनि काली डर्‍यौ,
बज्र पर्‍यौ कि गरुर बल कर्‍यौ।
अरग अरग आयौ रिस भर्‍यौ,
कोमल कुँवर दिष्टि-पथ पर्‍यौ॥

तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ८)

बिष-कषाय जल घोर तरंगा।
ता महँ कृष्न खेल बहु रंगा॥
हरि-भुज-दंड-पात जल-घोषा।
जनु गज मत्त खेल सह रोषा॥
सो निज सदन सुन्यौ अहिराजू।
सहि नहिं सक्यो पराभव-काजू॥
रोष सहित धायौ खल आसू।
सीघ्र आइगौ कृष्न सुपासू॥

किंतु—'अरे! यह तो एक शिशु है। सौन्दर्यका निर्झर झर रहा है इसके अङ्गोंसे! कैसा नयन-सुखद सुकुमार है यह! नवजलधरकी श्यामलता भरी है इसकी अङ्गकान्तिमें! वह नीलिमा प्रतिबिम्बित हो रही है ह्रदकी ऊर्मियोंमें। सम्पूर्ण ह्रद ही उस श्याम द्युतिसे उद्भासित हो रहा है। कहाँ गयी इसकी वह विषज्वाला! अब यहाँ तो सर्वत्र सुधाका प्रसरण है, शिशुके अङ्गोंसे प्रसरित आनन्दका प्रवाह है। शिशुके श्याम कलेवरके कटिदेशमें पीताम्बर परिशोभित है। सुविस्तीर्ण वक्षःस्थलपर कैसी शोभा है, स्वर्णाभ दक्षिणावर्त सूक्ष्म रोमराजि (श्रीवत्सचिह्न) की। तथा वेगपूर्ण संतरणके आवेशमें श्रीवत्ससे सटे हुए पीताभ उत्तरीयकी। मृदु-हास्य-समन्वित कितना सुन्दर इसका मुखकमल है। कमलकोशसे भी अधिक सुकोमल कैसे इसके अरुण चरण हैं।'—कालिय एक बार तो विथकित-सा रह गया। आगे बढ़नेकी उसकी गति रुक-सी गयी। पर आसुरी सम्पदासे पूरित हृत्तलमें शुभ भावनाएँ स्थिर होतीं जो नहीं। वैसे निमित्त पाकर वस्तुशक्तिके प्रभावसे विद्युत्-रेखा-सी एक ज्योति जग उठती है, सत्यके प्रकाशसे हृत्तल आलोकित हो उठता है। किंतु पुनः तिमिरका घन आवरण पूर्वकी भाँति ही हृदयको छा लेता है और प्राणी प्राकृत प्रवाहमें ही बहने लगता है। यही दशा कालियकी हुई। लीलाशक्तिकी अचिन्त्य प्रेरणासे क्षणभरके लिये सर्पके तमोमय हृदयमें एक अत्यधिक छोटा-सा छिद्र बन गया, नीलसुन्दरके अप्रतिम सौन्दर्यकी एक रेखा उस छिद्रसे झलमल कर उठी। किंतु पुनः कालियने उस द्वारको रुद्ध कर लिया। पात्रके अनुरूप ही तो परिणाम होना चाहिये और हुआ ही। कालियने देखा—'इतना कर लेनेपर भी शिशुकी आँखोंमें भयका लेश नहीं, सर्वथा निर्भय रहकर वह उद्दाम क्रीड़ामें तन्मय हो रहा है।' बस, उसके रोषमें आहुति पड़ गयी, क्रोधकी अग्नि धक्-धक् कर जल उठी। अपने-आप उसके सभी फण ऊपर उठ गये, उसके जलते हुए श्वाससे ह्रद धूमिल हो उठा; मुखसे प्राणहारी विषकी धारा बह चली और इस भयंकर वेशमें वह श्रीकृष्णचन्द्रको काट खानेके लिये दौड़ चला। वह नहीं जानता—किसकी ओर, किसे भस्म करनेके उद्देश्यसे जा रहा है। वह जान ही कैसे सकता है—

ताकौं कह जानै यह नीच। लोचन भरे महा तम कीच॥

वह तो क्या, कोई भी इस वेशमें नीलसुन्दरको देखकर पहचान ही नहीं सकता। वे अपने अनन्त ऐश्वर्यको सर्वथा किनारे रखकर मुग्ध बाल्यलीला-विहारमें तन्मय जो हो रहे हैं—

बिहरत बिभु अपने रस-रंग। ईस्वरता कछु नाहिंन संग॥

अस्तु, अब कालियको देखते ही बाल्यलीलाविहारी तो भाग चले—भयसे नहीं, उसे और भी कुपित कर देनेके लिये। बायें, दाहिने मुड़ते हुए हँस-हँसकर जल पीटते हुए वे भागे जा रहे हैं तथा उनके पीछे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर कालिय दौड़ रहा है। पद-पदपर उन्हें छू लेनेकी सम्भावना नागको हो जाती है, पर पुनः तिलमात्रकी दूरी बचाकर नीलसुन्दर बच निकलते हैं। भला, युग-युगके साधनश्रमसे पूत हुए अपने समाधिसिद्ध चित्तमें अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी क्षणभरको जिनका साक्षात्कार कर लेनेके लिये लालायित रहते हैं, उन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रको काट खानेके लिये कालिय उनके पीछे प्रत्यक्ष भागा जा रहा है—यह कितनी आश्चर्यमयी घटना है। बलिहारी है बाल्यलीलाविहारीके इस कृपादानकी। और वह देखो, वहाँ उनके चरण-सरोजके स्पर्शका सौभाग्य भी उस नीचको मिल ही गया—उन अरुण चरण-सरोरुहमें अपने प्राणोंको अनन्तकालके लिये न्योछावर कर देनेके लिये नहीं, अपितु उसमें अपने विषमय दन्त चुभो देनेके लिये। लीला-महाशक्तिकी योजना भी कैसी विचित्र है। नीलसुन्दर हँसते हुए अपनी बङ्किम चितवनसे मुड़-मुड़कर कालियकी ओर देखते हुए—मानो श्रान्त हो गये हों, इस प्रकार—

अपशकुन देखकर नन्द-यशोदा एवं बलरामजीका तथा अन्य व्रजवासियोंका नन्दनन्दनके लिये चिन्तित हो एक साथ दौड़ पड़ना और श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंके सहारे कालीदहपर जा पहुँचना और वहाँका हृदयविदारक दृश्य देखकर मूर्च्छित हो गिर पड़ना

व्रजराजमहिषी अपने प्राणधन नीलसुन्दरके लिये रुचिकर भोग-सामग्रीका निर्माण करने चली थीं कि एक ग्वालिन छींक बैठी। तुरंत ही मुहूर्त-परिवर्तनके उद्देश्यसे जननी आँगनमें चली आयीं और कुछ क्षण विश्राम करनेके अनन्तर मङ्गल द्रव्योंका स्पर्श कर पुनः पाकशालाकी ओर लौटीं। पर यह लो, आगेके पथको काटती हुई वह बिल्ली भाग चली। व्रजरानीका हृदय दुर्-दुर् करने लगा। चिन्ताकुल हुई वे भवनसे बाहर आ गयीं, तोरणद्वारके समीप जा पहुँचीं, किंतु कुशकुन यहाँ भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगे। बायीं ओर अशुभ स्वरमें वह काक बोल रहा था और दाहिने गर्दभका रेंकना सुन पड़ा। फिर तो हृदय थामे जननी यशोदा, बाहरसे भीतर, भीतरसे बाहर गमन करती हुई रुँधे कण्ठसे अपने नीलमणिको पुकारने लग गयीं; मनमें शान्तिका लेश भी न रह गया—

जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छींकी।
ठठकि रही द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु नीकी॥
आइ अजिर निकसी नँदरानी, बहुरी दोष मिटाइ।
मंजारी आगें ह्वै आई, पुनि फिरि आँगन आइ॥
ब्याकुल भई, निकसि गइ बाहिर, कहँ धौं गए कन्हाई।
बाएँ काग दाहिनें खर-स्वर, ब्याकुल घर फिरि आई॥
खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आँगन इहिं भाँति।
सूर स्याम कौं टेरति जननी, नैंकु नहीं मन साँति॥

इधर प्रासादसे संलग्न गोष्ठमें विराजित व्रजेशका मन भी सहसा उत्साहशून्य हो गया। वे अन्यमनस्क-से हुए अविलम्ब गृहकी ओर चल पड़े तथा द्वारपर पैर रखते-न-रखते अनेक अशुभ शकुन उन्हें भी हो गये।

देखे नंद चले घर आवत।
पैठत पौरि छींक भई बाएँ, दहिनें धाह सुनावत॥
फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ, कुसगुन बहुतक पाई॥

सामने म्लानमुख यशोदारानी दीख पड़ीं। खिन्न-मन हुए व्रजेश उनसे बोले—

नंद घरनि सौं पूछत बात।
बदन झुराइ गयौ क्यौं तेरौ, कहाँ गए बल, मोहन तात?

अब तो नन्दगेहिनीकी आँखोंसे झर-झर अश्रु-प्रवाह बहने लगा; साथ ही अस्फुट कण्ठसे उन्होंने अपनी मनोव्यथा भी व्रजेशपर व्यक्त कर दी—

भीतर चली रसोई कारन, छींक परी तब आँगन आई।
पुनि आगे ह्वै गई मँजारी, और बहुत कुसगुन मैं पाई॥

व्रजदम्पतिकी दशा एक-सी हो गयी। आसन्न अमङ्गलकी प्रतिच्छाया दोनोंके हृत्पटपर झिलमिल कर उठी, दोनों ही पहलेसे भी अधिक चञ्चल हो उठे—

महर-महरि-मन गई जनाइ।
खन भीतर, खन आँगन ठाढ़े, खन बाहिर देखत हैं जाइ॥

इतनेमें व्रजपुरन्ध्रियाँ दौड़ती हुई आयीं। गोप भी आ पहुँचे। कारण स्पष्ट था; अत्यन्त भयंकर अशुभसूचक चिह्न समस्त व्रजपुरवासियोंको ही स्पष्ट दीख जो रहे हैं—'ग्रीष्मकालके मध्याह्नमें सूर्यकी ओर मुँह उठाकर उपवनके समीप शृगाल—अशुभकी सूचना देते हुए—बोलते ही जा रहे हैं! वायु-परिचालित धूलि-कणोंसे परिव्याप्त न होनेपर भी दिक्-सुन्दरियाँ—दिशाएँ धूएँसे धूमिल, अत्यन्त म्लान हो गयी हैं, महिष-शृङ्गके वर्णके समान वे काली पड़ गयी हैं! स्वयं दिनमणि सूर्य भी एक निस्तेज मणिके समान प्रतीत हो रहे हैं! सुख-स्पर्शी पवन भी एक झंझावातके रूपमें अनुभूत होने लगा है! व्रजकी धरा अभूतपूर्व रूपसे बारम्बार कम्पित हो रही है! पुरवनिताओंके दक्षिण नेत्र, दक्षिण अङ्गोंमें स्पन्दन हो रहा है एवं व्रजगोपोंके वाम नेत्र, वाम अङ्ग स्पन्दित हो रहे हैं!—

यथा दिनकरमुखाभिमुखमुखरताखरतार-ध्वनिध्वनिताशिवाभिः शिवाभिः। निर्धूलीधूलीढाभिरपि धूमधूमलतया मलीमसतया संवादिगवलाभि-र्दिगवलाभिः। विडम्बितनिर्महोमणिनाहोमणिना। खरतरस्पर्शनेन स्पर्शनेन। बभूवे भूवेपथुना पृथुना पृथगेव। पस्पन्दे वामनयनावामनयनादि पुंसां तु वामनयनादि।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस प्रकार गोपावासके अन्तरिक्षमें, भूमिपर, पुरवासियोंके अङ्गोंमें—तीनों प्रकारके ही अत्यन्त घोर, आसन्न-विपत्-सूचक चिह्न व्यक्त हो रहे हैं—

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १२)

ब्रज में त्रिविध भएउ उतपाता। दिवि भू अंतरीछ दुखदाता॥

व्रजेश्वरका, व्रजगोपोंका धैर्य जाता रहा। इन प्रलयंकर अपशकुनोंको देख-देखकर उनके प्राण भयसे प्रकम्पित होने लगे। उसी समय वहाँ कन्हैयाके अग्रज बलराम आ पहुँचे। सबकी दृष्टि उनपर पड़ी। फिर तो रही-सही आशा भी समाप्त हो गयी। ओह! कदाचित् नीलसुन्दरके साथ बलराम होते! श्रीरोहिणीका परम तेजोमय, मङ्गलमय यह शिशु नन्दनन्दनकी रक्षाके लिये वहाँ उपस्थित होता, तब तो कोई भी अनिष्ट अपने-आप निवारित होकर ही रहता! — पुरवासियोंकी अन्तश्चेतनाकी यह भावना, सरलमति व्रजरानी, व्रजराजकी यह प्रेमिल धारणा सदा ही उनके प्राणोंमें शीतलताका संचार करती आयी है; किंतु हाय रे दैवयोग! आज तो बिना बलरामको साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्र गौएँ चराने चले गये हैं—

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १३)

कहत कि आज राम बिनु स्याम,
बन जु गए, कछु बिगर्‌यौ काम।

'कुछ ही नहीं, सब कुछ नष्ट हो गया दीखता है! इन दुर्निमित्तोंका और अर्थ ही क्या है? बस, नीलसुन्दर हम सबोंको छोड़कर चला गया……।'—कृष्णगतप्राण, कृष्णाविष्ट-हृदय समस्त पुरवासियोंका, व्रजदम्पतिका एक-सा ही निर्णय हुआ; क्योंकि अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रके असमोर्ध्व माहात्म्यकी स्फूर्ति इनके वात्सल्य-परिभावित चित्तमें कभी होती जो नहीं। वहाँ निरन्तर वात्सल्य-सिन्धु ही उद्वेलित होता रहता है। अपना सर्वस्व न्योछावर कर वे सब-के-सब सतत नीलसुन्दरके सुखकी कामना लिये उस पारावार-विहीन सागरकी ऊर्मियोंमें ही अवगाहन करते रहते हैं। इसीलिये जिनके एक नामके उच्चारणमात्रसे ही समस्त अमङ्गलोंका अवसान हो जाता है, उन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये भी पद-पदपर उन्हें अमङ्गलका ही भान होने लगता है, उनके प्राणोंमें टीस चलने लगती है और फिर आज जब एक साथ इतने अधिक अमङ्गल-सूचक, घोर उत्पात समस्त व्रजपुरवासियोंको ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब फिर उनके कोटि-प्राण-प्रतिम नीलसुन्दरके सम्बन्धमें अनिष्ट-आशङ्काकी सीमा रहे, यह तो सोचना ही नहीं बनता। यही कारण है कि उनके मनमें नीलसुन्दरके निधनकी कल्पना ही जाग्रत् हुई तथा ऐसी स्फूर्ति होनेके अनन्तर वे पुरवासी एवं व्रजदम्पति प्रकृतिस्थ रह सकें—यह कहाँ सम्भव है! बस, एक साथ दुःख, शोक, भयके अनन्त भारसे अभिभूत हुए उनके प्राण मानो बाहरकी ओर भाग छूटे हों, प्राण-तन्तुओंसे संनद्ध शरीर बरबस उस ओर ही खिंचता जा रहा हो—इस प्रकार समस्त व्रजपुरवासी, व्रजदम्पति, सभी नितान्त विक्षिप्त-से हुए, गोकुलसे निकल पड़े। एक बार श्रीकृष्णचन्द्रको देख लेनेकी लालसा, अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणिको मानो अन्तिम बार ही जिस किसी अवस्थामें भी निहार लेनेकी वासनामात्र उनमें अवशिष्ट है—बस, इतना ही उन्हें स्मरण है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। उनके चिरजीवनकी साधना, उनके स्नेहकी स्रोतस्विनी एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही सदा अविराम गतिसे ही प्रसरित होती रही है। प्रतिदानमें नीलसुन्दरकी ओरसे स्नेह पानेकी वासनाका भी उनमें अत्यन्त अभाव रहा है। मानव-वात्सल्यमें तो फिर भी अपनी संततिके प्रति कर्तव्यकी भावना, कर्तव्यपालनसे उद्भूत आत्मतोषकी अनुभूति और भविष्यके गर्भमें संचित,

उस अपनी संततिके द्वारा स्नेह-प्रतिदानकी आशा न्यूनाधिकरूपमें परिव्याप्त रहती ही है; किंतु एक पशु अपने नवजात शावकको जिस निराविल अन्ध-स्नेहका दान करता है—उस पशुमें इतिकर्तव्यताका भान नहीं, कर्तव्यपूर्तिजन्य आत्मतोषको हृदयंगम करनेकी शक्ति नहीं, काल-प्रवाहमें अपने उस शावकके द्वारा उपकृत होनेकी सुप्त वासनाकी छायातक नहीं, फिर भी प्राणोंकी जिस उत्कण्ठासे वह दूर गये नवजात शावककी ओर धावित होता है,—ठीक उसी प्रकार ये व्रजपुरवासी, व्रजदम्पति नितान्त अन्धवात्सल्य-स्नेहकी धारामें बहते हुए—स्नेहदानमें उस पशुके शावक-वात्सल्यकी समता धारण किये हुए '**पशुवृत्तयः**'—दौड़े जा रहे हैं। कहाँ जाना है, किस स्थलपर जानेसे उन्हें अपने प्राणधन नीलसुन्दरके दर्शन होंगे—यह भी उन्हें पता नहीं। पर एक सूत्रमें बँधे हुए-से, आबाल-वृद्ध, सभी अत्यन्त द्रुतगतिसे एक ओर ही अग्रसर हो रहे हैं। पुर-सुन्दरियोंका केश-बन्धन उन्मुक्त हो चुका है, आवरक वस्त्र अस्त-व्यस्त हो चुके हैं, गोपोंकी शिखाएँ खुल गयी हैं—पद-पदपर स्खलित होते, भूमिपर गिरते-उठते वे सब चले जा रहे हैं। और उन अगणित कण्ठोंसे निःसृत 'हाय रे! कृष्ण रे!' का करुणनाद वन-प्रान्तरको प्रतिनादित कर दे रहा है—

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः।
निजग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १४-१५)

देखि बड़ौ उतपात कठोरा।
निधन मानि मन संक न थोरा॥
बाल-बृद्ध नर-नारि समेता।
ब्याकुल तजि-तजि चले निकेता॥
कृष्न प्रानधन जीवन जासू।
घर किमि रहैं दरस हरि प्यासू॥
जानत नहिं प्रभाव हरि केरा।
एहि तें मन दुख भएउ घनेरा॥

× × ×

अति कलमले बिरह दलमले, बाल-बिरध सब कानन चले।

× × ×

देखि यहाँ उतपात तहाँ ब्रजनंद जहाँ उर में दुख ल्याइ कैं।
राम बिना बन स्याम गए छबि-धाम, कहाँ फिरिहैं भय पाइ कैं॥
सो सुनि गोपबधू जसुधा फिरि रोहिनि ग्वाल उठे अकुलाइ कैं।
संक भरे सब धाइ परे, कब देखिबी मोहन-मूरति जाइ कैं॥

उनके साथ रोहिणीनन्दन श्रीबलराम भी हैं। अवश्य ही, उनके श्रीमुखपर क्लान्ति नहीं, व्यथा नहीं, चिन्ताकी छायातक नहीं; अपितु उनके अधरोंपर तो स्फुट हास्य भरा है। क्यों न हो? श्रीरोहिणी, व्रजरानी, व्रजेश, व्रजपुरवासियोंकी दृष्टिमें भले ही वे बलराम शिशु हों; पर वास्तवमें वे हैं भगवान् पुरुषोत्तमके द्वितीय व्यूह, मूल 'सङ्कर्षण' ही तो। उन सर्वशक्तिमान् सर्वविद्याधिपतिसे क्या छिपा है? अपने अनुजकी समस्त योजनाओंसे, उनके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यसे वे चिरपरिचित हैं। उनके विषयमें भय, विस्मय, चिन्ताके लिये अवसर ही कहाँ है? हाँ, जननी यशोदा एवं नन्दबाबाका म्लान मुख देखकर रोहिणीनन्दन शान्त स्थिर रह सकें, उनके कण्ठदेशमें अपनी भुजाएँ डालकर उनके प्राणोंको शीतल न करें, यह अबतक नहीं हुआ था; किंतु आज अपनी प्राणप्रिय मैयाको, बाबाको, स्वजनोंको एवं समस्त व्रजपुरवासियोंको श्रीकृष्ण-वियोगकी सम्भावनासे अत्यधिक व्यथित—व्याकुल देखकर भी वे कुछ नहीं बोले, केवल मृदु हँसी हँसकर रह गये। कौन जाने व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अग्रज सङ्कर्षणदेवकी अभिसंधिको!

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः।
प्रहस्य किंचिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १६)

तिन सौं कछु न कहत बलदेव, जानत हरि भैया कौ भेव॥

अस्तु, गोपावाससे बाहर आते ही पुरवासियोंकी दृष्टि नीलसुन्दरके मनोहर पद-चिह्नोंपर जा पड़ी। वृन्दाकाननकी धरापर अङ्कित वे चिह्न मानो स्पष्ट ही संकेत कर रहे थे—'आओ, आओ, अपने नीलमणिको हमारे सहारे ढूँढ़ लो।' उनमें संशयके लिये स्थान ही नहीं था, स्पष्ट ही उन पदचिह्नोंमें श्रीकृष्णचन्द्रके चरणतलके चिह्न व्यक्त हो रहे थे। साथ ही रविनन्दिनी श्रीयमुनाके तटकी ओर जानेवाले मार्गमें ही वे अङ्कित थे। फिर तो यह प्रत्यक्ष हो ही गया कि आज श्रीकृष्णचन्द्र गिरिराजकी ओर न जाकर

कलिन्दतनयाकी ओर गोसंचारण करने गये हैं। पुरवासियोंने उन चिह्नोंका ही अनुसरण किया और उसके सहारे ही देखते-देखते वे यमुनातटपर आ पहुँचे। यह बात नहीं कि केवल श्रीकृष्णचरण-चिह्न ही वहाँ व्यक्त हुए हों। असंख्य गोपशिशुओंके एवं उनसे परिचालित असंख्य धेनुसमूहोंके पदचिह्न भी वहाँ अङ्कित थे; और उनके अन्तरालमें सम्पृक्त हो रहे थे अब्ज, यव, अङ्कुश, वज्र, ध्वज आदि चिह्नोंसे विभूषित श्रीकृष्णचन्द्रके चरणचिह्न। इस प्रकार गोसंचारणका वह वनपथ असंख्य चिह्नोंसे परिव्याप्त था। किंतु समस्त पुरवासियोंकी, व्रजदम्पतिकी आँखें केन्द्रित हो रही थीं—एकमात्र गोपसमाजके उन अनोखे अध्यक्षके अब्ज-यवादि-परिशोभित ललित पदचिह्नोंपर ही; उनके प्राण स्पर्श कर रहे थे एकमात्र उनको ही। इसके अतिरिक्त, असंख्य गोधन भी इस मार्गसे ही अग्रसर हो चुका है, अन्य गोपशिशु भी इस पथसे ही गये हैं, उनके चिह्न भी यहाँ स्पष्ट व्यक्त हो रहे हैं—इसे वे देखकर भी न देख सके। कहीं भी वे भ्रमित न हुए। हो ही कैसे सकते, श्रीकृष्णचरण-चिह्नोंका प्रभाव ही निराला है; उनपर अपनी दृष्टि लगाये चलनेवालेके मार्गमें कहीं कदापि भ्रम होता जो नहीं। उन चिह्नोंको कोई भी प्राणी आच्छादित नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहता; सबके प्राणोंकी निधि हैं वे। और तो क्या, जड-भावापन्न पवनसे संचालित रज:कण भी उनकी स्पष्टताको लुप्त नहीं कर सकते। वे तो जहाँ जिस स्थलपर एक बार अङ्कित हो उठते हैं, वहाँ उनकी प्रतिष्ठा हो जाती है। अलंकार हैं वे उस स्थलके, भूमिके! तथा उनके सहारे, एकमात्र उन्हींका निरीक्षण करते हुए चलनेवालोंके लिये श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़ लेना सदा ही सहज है। इसीलिये वे गोप, गोपसुन्दरियाँ, व्रजराज, व्रजरानी—सभी केवल उन्हें ही देखते हुए शीघ्र-से-शीघ्र यमुना-तीरपर चले आये।

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम्॥

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः॥

(श्रीमद्भा १०। १६। १७-१८)

धुज-जव-अब्ज-गदादि तहँ, मत्स्य धनुष की रेख।
इन चिन्हन चिन्हित धरा चले सकल अवरेख॥

× × ×

चरन-सरोज-खोज ही लगे, जिनमें सुभ लच्छन जगमगे।
अरि, दर, मीन, कमल, जव जहाँ, अंकुस, कुलिस, धुजा छबि तहाँ॥
ता रज कहुँ सिव, अज नित बंछत, अनुदिन सनक-सनंदन इंछत।
तिहि सिर धारत अतिसय आरत, कृष्न-कृष्न-गोबिंद पुकारत॥

× × ×

इमि खोजत पहुँचे सरि-तीरा।
रबितनया, जेहि जल गंभीरा॥

किंतु यहाँ आनेपर, तटपर स्थित उस विशाल वटकी छायासे आगे होते ही—'हाय रे! यह मार्ग तो एकमात्र कालियह्रदकी ओर ही गया है।'—सबके प्राण एक साथ ही मानो ह्रदके उस विषम विषकी स्मृतिमात्रसे भस्म हो उठे। इसके अनन्तर उस सघन वनकी सीमाको श्रीकृष्णचरणचिह्नोंके सहारे ही उन सबने पार तो अवश्य किया और फिर इस पार आकर निर्वृक्ष स्थलपर भी अग्रसर होने लगे; किंतु अब उनके शरीरमें स्पन्दनकी शक्ति स्वाभाविक थी या सर्वथा किसी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा देहके उन स्नायुजालोंमें प्राणका संचार हो रहा था और उससे अनुप्राणित हुए वे दौड़े जा रहे थे—यह निर्णय कर लेना अत्यन्त कठिन है। कुछ भी हो, ह्रदके परिसरमें तो वे आ ही पहुँचे और दूरसे ही क्रमशः उनकी फटी-सी आँखोंमें वह कराल दृश्य भर गया—चारों ओर प्राणशून्य-से असंख्य गोपशिशु, मृतवत् अगणित तरुण गोप तथा सर्वथा ह्रदके जलके समीप प्रतिमा-सी अचल, अपलक असंख्य गायें, जिनमें जीवनका चिह्न इतना-सा ही अवशिष्ट है कि रह-रहकर वे अत्यन्त करुण स्वरमें डकार उठती हैं—

गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च संक्रन्दतः……।

(श्रीमद्भा० १०। १६। १९)

सुर उच्च राम्हतीं धेनुजाल। छिति परे मूर्छि गोपाल बाल॥

इसके पश्चात् तो सचमुच ही किसी अचिन्त्य शक्तिने ही उन पुरवासियोंके, व्रजदम्पतिके शरीरोंको आकर्षित कर ह्रदके कुछ और समीप पहुँचाया, जहाँसे ह्रदयविदारक घटनाका मुख्य अंश भी व्यक्त होकर ही रहा। नेत्र-कोयोंमें सबकी पुतलियाँ तो ऊपर टँग ही चुकी थीं, पर निर्वाणसे पूर्व मानो दीपकी ज्योति उद्दीप्त हो उठी हो, इस प्रकार ज्योतिकी एक क्षीण रेखा उन सबके दृग्गोलकोंमें अपने-आप झिलमिल कर उठी और सबने यह भी देख ही लिया—'उस ह्रदमें कालियके विशाल शरीरसे आकण्ठ लपेटे हुए, आवृत हुए नीलसुन्दर चेष्टाशून्य हो चुके हैं।'

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य"।

(श्रीमद्भा० १०। १६। १९)

दह मैं दिष्टि परे बनमाली, लपटि रह्यौ तन कारौ काली।

और अब—ओह! तटपर सबसे प्रथम गिर पड़े व्रजेश! गिरनेसे पूर्व उनके रुद्धकण्ठकी वह आर्त्तध्वनि वहाँ बिखर उठी—

हा तात! तातवत्सल! किं कृतमतिसाहसं सहसा.........। (आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'हाय! मेरे लाल! तू तो मुझे अतिशय प्यार करता था रे! तू सहसा ऐसा दुस्साहस कैसे कर बैठा—तू मुझसे पहले कैसे चला गया?'

फिर एक क्षणमें ही लुढ़क पड़े वे सब-के-सब गोप—

व्रजजनप्रिय! वत्स! विपद्यते व्रजजनस्तव दर्शय संनिधिम्।
अहह! हा! बत हेत्यनुलापिनस्तमभितः पतिता भुवि गोदुहः॥

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो! व्रजवासी तुझे कितने प्रिय थे। किंतु वत्स नीलमणि! तेरे वे प्रिय व्रजजन मृत्युके मुखमें, यह लो, चल पड़े! तू बता दे मेरे लाल! अब तेरा सङ्ग कहाँ मिलेगा? आह! अरे! हाय रे!........!—इस प्रकार विलाप करते हुए वे व्रजेशको घेरकर धराशायी हो गये।'

तथा व्रजरानी? ओह! मूर्च्छाके लिये भी उनकी अपरिसीम वेदनाका भार सर्वथा असह्य है। वे तो ह्रदके परिसरमें आकर न जाने कितनी बार गिर चुकी हैं, पर उनको स्पर्श करते ही वेदनाकी ज्वालामें मूर्च्छा स्वयं जलने लगती है—छोड़कर भाग खड़ी होती है। इसीलिये व्रजरानी कुछ क्षण विलम्बसे भी आयीं। पर आकर अपने नीलमणिको उस स्थितिमें देख लेनेपर उनकी क्या दशा हुई—ओह! वाग्वादिनीमें कहाँ सामर्थ्य है कि संकेततक कर दें। और यही दशा उनकी अनुगामिनी उन समस्त पुरसुन्दरियोंकी हुई। हाँ, किसीके श्रीकृष्ण-रस-भावित, पर अत्यन्त आकुल प्राण व्रजरानी एवं व्रजसुन्दरियोंकी करुण-दशाकी छायाकी प्रतिच्छायाको किसी नगण्यतम अंशमें इतना भर भले छू लें—'क्षणभरके लिये एक तुमुल आर्तनाद सर्वत्र गूँज उठता है और फिर एक अत्यन्त भयावह नीरवता छा जाती है।'

और यह सत्य है—कदाचित् अचिन्त्य-लीलामहाशक्तिकी योजनासे नाग-परिवेष्टित नीलसुन्दरके उन मनोहर कर्णकुण्डलोंमें रह-रहकर पर्याप्त कम्पन न होने लगता, सर्प-कुण्डलीका आवरण रहनेपर भी—न जाने कैसे—नीलसुन्दरकी वनमाला, उनके पीतपटकी आभा व्यक्त न होने लगती, तथा प्राणतन्तुओंके सहारे इनसे जुड़े हुए पुरवासियोंके, व्रजदम्पतिके ह्रत्पटपर ये प्रतिबिम्बित न होने लगते तो ह्रदके तटपर छायी हुई यह नीरवता समस्त व्रजपुरके महानिर्वाणमें परिणत हो जाती। किंतु वह लीला-क्रम है जो नहीं। इसीलिये सबके ह्रत्तलमें अमृत, विष—दोनोंका ही युगपत् संचार हो रहा है। एक ओरसे प्रवाहित हो रही है नीलसुन्दरकी रूप-सुधा तथा दूसरी ओरसे भरी जा रही है कालियकी करालता!—

झुकि रह्यौ मुकुट मंजुल अमोल।
कच बिथुरि श्रवन कुंडल बिलोल॥
सुभ बक्षमाल उरझी दिखाइ।
कटि कस्यौ पीत पट दृढ़ सुभाइ॥
सब अंग नाग लपट्यौ प्रचंड।
जनु सघन घटा मिलि घन घुमंड॥

श्रीकृष्णको कालियके द्वारा वेष्टित एवं निश्चेष्ट देखकर मैया और बाबाका तथा अन्य सबका भी ह्रदमें प्रवेश करने जाना और बलरामजीका उन्हें ऐसा करनेसे रोकना और समझाना; श्रीकृष्णका सबको व्याकुल देखकर करुणावश अपने शरीरको बढ़ा लेना और कालियका उन्हें बाध्य होकर छोड़ देना

'भुवनभास्करके बिना दिन कैसा, चन्द्रदेवके बिना रजनी कैसी? नीलसुन्दरके बिना व्रजमें रखा ही क्या है? उन्हें साथ लिये बिना ही हम सब गोकुलमें लौट जायँ—यह भी कभी सम्भव है? वारिहीन, सौन्दर्यविरहित सरोवरके समीप कौन जाता है?'—

दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा।
......विना कृष्णेन को व्रजः॥
विनाकृता न यास्यामः कृष्णेनानेन गोकुलम्।
अरम्यं नातिसेव्यं च वारिहीनं यथा सरः॥

(श्रीविष्णुपु० ५। ७। २७-२८)

'बस चलो, यशोदारानीके साथ हम सभी इस विशाल ह्रदमें डूब जायँ!'—

सर्वा यशोदया सार्द्धं विशामोऽत्र महाह्रदम्।

(श्रीविष्णुपु० ५।७।२६)

—इस प्रकार मूर्च्छामें लीन वात्सल्यवती व्रजपुरन्ध्रियोंके प्राणोंपर स्पन्दित होती हुई ये भावनाएँ उन्हें बाह्य चेतनाकी ओर ले चलीं।

इधर वे गोपबालिकाएँ, जिनका अभी-अभी नवविवाह हुआ था, विवाहके अवसरपर, अन्य किसीकी दृष्टिमें कुछ भी नवीनता संघटित न होनेपर भी जिन अधिकांश दुलहिन बनी बालिकाओंने ही एक अत्यन्त आश्चर्यमयी घटनाके दर्शन किये थे; विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न होते हुए, भाँवर फिरते समय आदिसे अन्ततक जो स्पष्ट अनुभव कर चुकी थीं कि वरके—उस भावी पतिके अणु-अणुमें नीलसुन्दर भरे हुए हैं, उनके साथ भाँवरें नीलसुन्दरने ही दीं, सर्वथा उनका पाणिग्रहण नीलसुन्दरने ही किया, क्षणभरके लिये भी वह वर उनकी दृष्टिमें न आया, जिसके साथ सगाईकी बात सुनी गयी थी और इस प्रकार अनुभव करके जो भ्रान्त-सी बन गयी थीं; जिनका जीवन ही कुछ और-सा बन गया था—कभी तो वे इस घटनाको स्मरण करतीं और कभी उन्हें सर्वथा इसकी विस्मृति हो जाती, पर निरन्तर एक विचित्र-सी वेदना जिनके प्राणोंमें भरी रहती; नीलसुन्दरको देखकर जो विथकित रह जातीं, और आज व्याकुल गोप-गोपी-समाजके साथ जो यहाँ दौड़ी आयी थीं; तथा ठीक इनकी छायाकी भाँति ही श्रीकृष्णचन्द्रकी समवयस्का वे गोपकुमारिकाएँ भी—जिनके प्राण मानो सदा श्रीकृष्णचन्द्रमें ही समाये रहते थे तथा न जाने क्यों जिनकी आँखें नीलसुन्दरको देखते ही सजल हो उठतीं—आज इस कालियह्रदपर आ पहुँची थीं; —ये दोनों ही नवविवाहिता गोपसुन्दरियाँ एवं नीलसुन्दरकी समवयस्का गोपकुमारिकाएँ सहसा मूर्च्छासे जगकर करुण चीत्कार कर उठीं—

भोगेनावेष्टितस्यापि सर्पराजस्य पश्यत।
स्मितशोभि मुखं गोप्यः कृष्णस्यास्मद्विलोकने॥

(श्रीविष्णुपु० ५। ७। ३२)

'अरी गोपकाओ! देखो तो सही, इस विशाल सर्पके शरीरसे वेष्टित रहनेपर भी नीलसुन्दरके मुखपर हम सबोंको देखकर स्मित आ ही गयी री! मन्द मुसकानसे परिशोभित इस मुखका दर्शन तो करो!'

इससे पूर्व ये नववधुएँ, ये कुमारिकाएँ एक शब्द

भी न बोल सकी थीं; ह्रदके तटपर आते ही नीलसुन्दरको कालियकुण्डलीसे आवृत देखते ही इनके लिये श्रीकृष्णविरहित त्रिलोक सचमुच ही शून्य बन चुका था—

ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहतं ददृशुस्त्रिलोकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २०)

—छिन्न हुई नन्ही-सी द्रुमलताकी भाँति वे गिर पड़ी थीं; करुण-क्रन्दनकी एक भी 'हाय' व्यक्त होनेसे पूर्व ही, हृत्कोश सर्वथा विदीर्ण न हो जाय, इस भयसे मूर्च्छा-सखीने सान्त्वना देनेके लिये उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया था—

स्खलिता भुवि मूर्च्छयैव सख्या कृतसान्त्वा इव नो तदा विलेपुः।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इनके इसी '**स्मितशोभि मुखं पश्यत**' चीत्कारकी ध्वनिको व्रजरानीके मूर्च्छित प्राणोंने ग्रहण कर लिया और वे आँखें फाड़कर अपने नीलमणिकी ओर देखने लगीं।

'नहीं रे! निश्चेष्ट होनेपर भी मेरा नीलमणि जीवित है, अन्यथा अधरोंपर यह स्मित कहाँ········?'—मैया प्रबलवेगसे अपने वक्षःस्थलको पीटकर आर्तनाद करती हुई ह्रदकी ओर दौड़ी और अपना वामपद ह्रदके जलमें डाल ही दिया; किंतु—आह! बलरामने पीछेसे दौड़कर उन्हें अपने भुजपाशमें बाँध लिया, जननी आगे न बढ़ सकीं—

यह दसा देखि जसुधा मलीन।
करि रुदन हृदय ताड़न सु कीन॥
सब गोप रहे कैसे डराइ।
नहिं लेत धाइ लालन छुड़ाइ॥
इमि ब्याकुल ह्वै चलि धसीं नीर।
तहँ धाइ धरी बलबीर धीर॥

किंतु इसी समय व्रजरानीका यह करुण आह्वान संज्ञा-शून्य व्रजेन्द्रके प्राणोंमें संजीवन-मन्त्र-सा बनकर गूँज उठा, उनके नेत्र उन्मीलित हो उठे। फिर तो उन्होंने छलाँग-सी मारी ह्रदके जलकी ओर। पर तुरंत ही श्रीअनन्तदेव बलरामने मानो द्वितीय प्रकाश स्वीकार कर लिया और बाबा भी उनकी भुजाओंमें ही रुद्ध हो गये। अवश्य ही शेषस्वरूप रोहिणीनन्दनका अपरिसीम बल सचमुच यहाँ कुण्ठित-सा होने लगा, अत्यन्त कठिनतासे ही वे व्रजेशको पीछेकी ओर खींच सके—

फिरि नंद चले जमुना समाइ। बलिदेव रोकियौ करि उपाइ॥

गोपसुन्दरियाँ, गोपगण—कोई भी ह्रदमें प्रविष्ट न हो सका; सबके आगे बलराम खड़े हैं, किसीको संकेतसे, किसीके कंधे छूकर, किसीको भुजाओंमें भरकर वे दूर कर देते हैं। और यह लो, अब एक अद्भुत अलौकिक तेजोमण्डल उनके मुखको आवृत कर लेता है और मेघ-गम्भीर स्वरसे वे पुकार उठते हैं—

हंहो तात! तातप्यमानमानसतया समेधमानेन मानेन शोकेन स्वदेहः खेदयितव्यो दयितव्योऽयं कृष्णस्य।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! बाबा! अहो! प्रतिक्षण वेगसे बढ़ते हुए इस अतिशय चित्तसंतापी शोकसे अपने शरीरको व्यथित मत करो। तुम्हारी यह देह श्रीकृष्णचन्द्रके प्यारकी वस्तु जो है, बाबा!'

भो मातर्मातः परं विलप लपनं मे निर्द्धारय धारय धृतिं भोः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरी मैया! अब तू विलाप मत कर! मेरी बात सुन ले, धीरज रख री!'

भोः पौरजानपदाः! विपदाविष्करणेन मापरं परं संतापमासुमर्हत।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे ओ पुरवासियो! अपनी अविचारपूर्वक चेष्टासे नयी विपत्तिका सृजन कर किसी अन्य महान् दुःखके भागी मत बन जाओ।'

रोहिणीनन्दनकी वाणीमें उत्तरोत्तर ओज बढ़ता ही जा रहा है। अब वे कालियबन्धनमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर—अपनी भुजाओंसे संकेत करते हुए कहने लगते हैं—

अस्य हि मदवरजस्य मदवरजस्य शौर्य्यस्य महिमानं हि माऽऽनन्दवर्द्धनं भवन्तो जानन्ति जानाम्यहमेव केवलं केऽवलम्बन्तताममरपरिवृढा अपि यल्लवावबोधम्।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'व्रजपुरवासियो! मेरे इस कनिष्ठ भ्राताके शौर्यकी महिमाको आपलोग निश्चय ही नहीं जानते। जब किसीके अहंकारको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इसमें भी एक महान् अहंकार जाग्रत् हो उठता है और फिर अहंकारजनित जिस शौर्यकी इसमें अभिव्यक्ति होती है, उसकी उस आनन्दवर्द्धिनी महिमासे आप सब सर्वथा परिचित नहीं हैं। केवलमात्र मैं जानता हूँ। औरोंकी तो बात ही क्या, ऐसे देवश्रेष्ठ भी कौन हैं, जो मेरे इस भाईकी उस महिमाके लवमात्रका भी ज्ञान प्राप्त कर सके हों?'

खल्वयमनेन पुंनागेन नागेनस्य पराभवः।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो! निश्चय समझो, अभी-अभी इस पुरुषकुञ्जर मेरे भाई श्रीकृष्णके द्वारा नागप्रमुख कालियका पराभव, बस, होने ही जा रहा है!'

नागेनपराभवः पवनेन कर्त्तुं शक्यते।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! महान् बलशाली कालियके बलकी चिन्ता मत करो। इसका बल श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति व्यर्थ है। पवन अत्यन्त बलवान् होनेपर भी गिरिराजको पराजित करनेमें कदापि समर्थ नहीं है!'

न मयूखमालिमालिन्यं तमसा कर्त्तुं प्रभूयते।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो! किरणमाली सूर्यमें मलिनताका संचार कर देना तमके लिये सम्भव ही नहीं है। तम तो सूर्यके सांनिध्यसे ही विनष्ट हो जायगा। परम तेजस्वी श्रीकृष्णके समक्ष प्रतिपक्षी, तमरूप इस कालियका विनाश अवश्यम्भावी है।'

किमस्य मकरकुण्डलिनः कुण्डलिनः क्षुद्रतमाद्भयसम्भावनम्। तदधुना संतापमुपश्यत पश्यत भुजंगापसदममुममुक्तशौर्यो मुक्तप्राणमिव कृत्वा समुत्थितप्रायोऽयम्……।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! मेरे इस मकरकुण्डलधारी भाई श्रीकृष्णके लिये ऐसे क्षुद्र सर्पसे भयकी बात क्या सोचनी है! अतः अब तो दुःख दूर कर दो। अरे, देखो—इस अधम सर्प कालियको प्राणहीन-सा बनाकर मेरा यह अखण्ड-प्रतापवान् भाई श्रीकृष्णचन्द्र, बस, उठ ही चला है।'

इतना कह लेनेके अनन्तर श्रीबलरामके गम्भीर नेत्र—गौर मुखारविन्दके वे सलोने दृग् पुनः फिर गये श्रीयशोदा-नन्द आदिकी ओर ही। उनका वह श्वेतसुन्दर शरीर झुक-सा पड़ा व्रजदम्पतिके चरणोंमें। और अभी भी वाणी यद्यपि लोकोत्तर तेजोमय पुटसे वैसी ही रञ्जित रही, फिर भी नेत्र किंचित् अश्रुपूरित हो गये, इसमें संदेह नहीं; एवं गद्गद-कण्ठ-से हुए वे इतना और कह गये—

सत्यं वः पदपङ्कजाश्रयरुचां कुर्याममुष्य क्वचि-
न्नैकस्मिन्नपि मूर्द्धजे क्षतिलवो भावौ यथा गर्गगीः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजेश! बाबा! व्रजरानी! मैया! अरी रोहिणी मैया! मैं तुम सबोंके समुज्ज्वल चरणोंकी शपथ कर रहा हूँ—श्रीकृष्णके एक केशतककी लवमात्र क्षति भी न होगी। और गर्गाचार्य भी तो यही कह गये हैं!'

अस्तु, रोहिणीनन्दनके उस आश्वासनका प्रभाव इतना अवश्य हुआ कि कृष्णगतप्राण व्रजेश, व्रजरानी, व्रजपुरवासी कालियह्रदमें प्रविष्ट न हुए; सबको रोक लिया बलरामने। किंतु यह भी वे कर सके अपनी भगवत्तामें अवस्थित होनेपर ही, ऐश्वर्यका बल लेकर ही। जो हो, व्रजरसकी यह विशुद्ध निराविल धारा सामने अनन्तदेवके लोकोत्तर-तेजसमन्वित मुखमण्डलसे निस्सृत आश्वासनको—ऐश्वर्य-पर्वतको लाँघ न सकी, एक बार रुद्ध हो गयी, यह सत्य है—

कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम्।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २२)

नंद आदि जे गोप घनेरे।
धसत नीर बलजू गहि फेरे॥
जानत प्रभु कौतुक भलि रीती।
सुंदर बचन कहे करि प्रीती॥

फिर भी उसका प्रवाह शिथिल हो गया हो, यह कहाँ सम्भव है! वह देखो—जननी यशोदाकी आँखें लगी हैं अपने नीलमणिकी ओर ही; उनकी अतिशय आकुल नेत्रभङ्गिमाको देखते हुए कौन कह सकता है कि मैया पुनः ह्रदमें कूद पड़नेका प्रयास न करेंगी। इसीलिये तो उन व्रजपुरन्ध्रियोंने उन्हें घेर रखा है, पकड़ रखा है। उन पुरसुन्दरियोंके प्राणोंमें भी जननीके समान ही व्यथाका भार अवश्य है, उनकी आँखें भी निरन्तर बरस रही हैं। पर मैयाके आकुल प्राणोंमें यत्किञ्चित् सान्त्वनाका संचार करनेके उद्देश्यसे वे पूतना-घटित घटनासे नीलमणिकी रक्षा होनेकी, तृणावर्त्तसे अक्षत बच जानेकी, वकके कराल कण्ठसे सकुशल बाहर निकल आनेकी बातका वर्णन कर रही हैं, ऐसे विविध प्रसङ्गोंका विवरण सुनाकर मैयामें आशाका संचार कर रही हैं। स्वयं भी उनके नेत्र तो समाये हुए हैं नागबन्धनमें आवृत हुए नीलसुन्दरके मुखसरोजमें ही, पर वाणी अपने-आप अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे—उन घटनाओंका वर्णन करती जा रही है तथा मैया आशा-निराशाके झूलेमें झूल रही हैं। और सच तो यह है कि ये कहनेभरको ही जीवित हैं। क्षण-क्षणमें इनका शरीर मृतवत् निष्पन्द हो जाता है। इन्हें वास्तवमें अपनी देहका भान है, यह कहना बनता नहीं!—

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २१)

कृष्न-मुखारबिंद दृग दीने।
रोवहिं बिह्वल बदन मलीने॥
बारिज-लोचन मोचहिं बारी।
संतत हिय जेहि बसत मुरारी॥
कहि कहि ललित गोपाल-गुन, ब्रज कीने जे ख्याल।
भूलीं तन सुधि मनहुँ सब मुईं सकल ब्रजबाल॥

वे गोपगण भी श्रीबलभद्रके द्वारा रोक अवश्य लिये गये, कालियह्रदके विषमय जलका स्पर्श कर जल मरनेसे उनकी रक्षा हो गयी; किंतु उनके अन्तस्तलकी ज्वाला ह्रदकी प्राणहारी ज्वालासे कहीं अधिक विषम है। उसकी कराल लपटोंमें उनका शरीर, मन, प्राण—सब कुछ झुलसता जा रहा है। क्या गोप और क्या गोपी—सभीका जीवनदीप मानो अब कुछ ही क्षणोंमें निर्वापित होने जा रहा है—

नर नारि मोह-पीड़ा अधीन।
जल तें बिहाति ज्यौं बिकल मीन॥

और वे अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र? क्या वे नहीं देख पा रहे हैं अपने निज जनोंकी यह परम दयनीय दशा? नहीं सुन पा रहे हैं वे उनका वह अत्यन्त करुण क्रन्दन? नहीं-नहीं, वे करुणावरुणालय सब कुछ देख-सुन रहे हैं! यह तो व्रजजनके हृत्सिन्धुकी, उनके भावसागरकी मन्थनलीला है। त्रितापसे नित्य जलते हुए असंख्य प्राणियोंके लिये महौषधिरूप बनकर इस सागरकी कुछ बूँदें, मन्थनजात अमृतकी कुछ कणिकाएँ प्रपञ्चके तटपर बिखर जायँगी। अनन्तकालतक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्कमें आ सकेंगे, उनकी त्रिताप-ज्वाला सदाके लिये प्रशमित होगी। इसी अभिसंधिसे—साथ ही अपने स्वजनोंके रसपोषण, रससंवर्धनके उद्देश्यसे—व्रजेन्द्रनन्दन कालियबन्धनमें विश्राम-सा करने लगे थे। पर यह तो हो चुका। अब आगे क्षणभरका भी विलम्ब, उरगबन्धनका यह विश्राम व्रजपुरवासियोंके जीवनतन्तुको छिन्न किये बिना न रहेगा, यह भी परम करुणामय प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। या तो ये सब विषमय ह्रदमें अपने शरीर होमकर उनसे आ मिलें या विरहकी ज्वाला उनके कलेवरको भस्म कर दे और फिर निरावरण वे अपने

प्राणाधारको प्राप्त कर लें—जैसे हो, ये सभी उनसे मिलकर ही रहेंगे, उनका सांनिध्य पा लेनेके अतिरिक्त उनके लिये अन्य गति नहीं, यह 'सर्वज्ञ सर्ववित्' प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रसे छिपा नहीं है। साथ ही जिनका नित्य स्नेहार्द्र हृदय अपने स्वजनोंकी तनिक-सी आर्ति सहनेमें भी सर्वथा असमर्थ बन जाता है;—यह प्रश्न नहीं कि उस आर्तिका क्या लक्ष्य है; बस, अपने निजजनकी वह आर्ति है, यह भावना उन्हें परिव्याप्त कर लेती है और अनन्त करुणार्णव अन्य सब कुछ भूलकर सम्पूर्ण आर्ति हर लेनेके उद्देश्यसे दौड़ पड़ते हैं—वे सर्वसुहृद् परम स्नेही, भला, स्वयं उनके लिये ही, एकमात्र उन्हें ही सुप्रसन्न देख लेनेकी वासनासे अत्यन्त दुःखित, व्यथित हुए निजजनोंको कबतक इस अवस्थामें देख सकते। अनन्त-शक्तिसम्पन्न श्रीकृष्णचन्द्रके भी धैर्यकी ऐसे अवसरोंपर सीमा आये बिना नहीं रहती। गायें वेदनाभारसे डकार रही हैं, वे उनके चिर सहचर शिशु सुबक-सुबककर रो रहे हैं; गोप करुण-क्रन्दन कर रहे हैं; मातृस्थानीया पुरन्ध्रियोंके प्राण उड़कर उनसे जा मिलनेके लिये अतिशय चञ्चल हो गये हैं; कुमारिकाएँ चिरनिद्रामें लीन होने चलीं; गोपसुन्दरियोंके दृगञ्चलपर अखण्ड समाधिकी शान्त रेखा अङ्कित-सी हो उठी—अब भी नीलसुन्दर कालिय-बन्धनमें निश्चेष्ट रहनेकी लीला कर सकेंगे? सदा सर्वसमर्थ रहनेपर भी व्रजेन्द्रकुल-चन्द्रमें इतना धैर्य है? नहीं-नहीं, कदापि नहीं! दो घड़ीका कालमान, नागबन्धनमें उनके वेष्टित रहनेकी वह अवधि—आगे त्रुटिमात्र भी बढ़नेका अर्थ है अपने स्वरूपभूत गोकुलका सम्पूर्ण ध्वंस—असमयमें ही तिरोधान! तथा सर्वेश्वरके द्वारा मनुष्यरीतिका अवलम्बन भी, 'दण्डनीय अपराधीके अपराध सबके लिये प्रत्यक्ष हो जायँ,—इस प्राकृत प्रथाका पालन भी तो इतनी देरमें सम्यक् रूपसे हो ही चुका, कालियकी क्रूरता सबपर व्यक्त हो गयी, रीति सम्पन्न हो चुकी। अतएव अब विलम्ब नहीं। वह लो, वहाँ देखो,—जय हो गोकुल-चन्द्रमाकी! जय हो नीलसुन्दरकी!—वे उस सर्पके बन्धनको फेंककर उठ खड़े हुए!—

इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्त्तमानः
स्थित्वा मुहूर्त्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २३)

प्रभु देखे ब्रज के नर-नारी।
बाल-बृद्ध सब भए दुखारी॥
मम हित इन कौं दुख अति भारी।
करुनाकर निज हृदय बिचारी॥
दंड एक नर-कौतुक कीना।
अहि-बंधन तैं कढ्यों प्रबीना॥

× × ×

जगनाह सकल जन दुखिय देखि।
मन मोहि लगे इन के बिसेषि॥
झहराइ अंग डार्‍यौ फनिंद।
बल तोर जोर छूटे गुबिंद॥

कालियके लिये यह सम्भव ही नहीं था कि अब वह श्रीकृष्णचन्द्रको अपने कुण्डलीबन्धनमें रख सके। कैसे हुआ, यह तो उसकी जडबुद्धि समाधान न कर सकी। पर हुआ यह कि देखते-देखते ही श्रीकृष्णचन्द्रका वह नील कलेवर, आकृतिमें पूर्वकी भाँति ही परिदृष्ट होनेपर भी, व्यवहारमें महत्—महत्तर हो चला, अत्यधिक विस्तृत हो गया; ज्यों-के-त्यों दृढ़ बन्धनमें बँधे रहनेपर भी एक विचित्र-सी बृहत्ताका प्रकाश उसमें हो गया—ऐसी बृहत्ता कि कालियका शरीर फटने लगा, दृढ़बन्धन शिथिल होते देर न लगी, कुण्डलीका एक-एक आवरण अपने- आप खुलने लगा। क्षणार्धके सहस्र-सहस्रांश समयमें ही यह आश्चर्यमयी घटना संघटित हो गयी और कालियकी आँखोंने अविलम्ब स्पष्ट अनुभव कर लिया—अकेला वह तो क्या, उसके जैसे कोटि-कोटि कालिय अपने सुविस्तृत देहको परस्पर सम्मिलित करके भी इस अनोखे शिशुके चरणाङ्गुलितकको भी वेष्टित करनेमें असमर्थ ही रहेंगे। इस प्रकार निरुपाय कालिय उन्हें

छोड़ देनेके लिये बाध्य था, छोड़ ही दिया उसने। किंतु अनादि, भगवद्विमुखजन-मोहिनी मायाका आवरण इतना झीना नहीं कि जीव सहजमें ही चिदानन्दमय, अनन्तैश्वर्यमय प्रभुके प्रकाशके दर्शन कर ले। इसीलिये महामूढ़ कालिय परब्रह्म पुरुषोत्तम व्रजेन्द्रनन्दनके असमोर्ध्व ऐश्वर्यका यत्किञ्चित् अनुसंधान प्रत्यक्ष पा लेनेपर भी अंधा ही बना रहा, उसकी आँखें न खुलीं। अपितु वह क्रोधसे अधीर हो उठा। पुनः अपने फन उठा लिये उसने। वह अत्यन्त दीर्घ श्वास फेंकने लग गया। उसके नासाविवरसे राशि-राशि विषका प्रवाह बह चला। कराल आँखें प्रज्वलित विषमय भाण्डकी भाँति स्तब्ध बन गयीं। मुख जलते हुए अङ्गारोंका आकर बन गया। और इस प्रकार मानो तमकी सम्पूर्ण परिणति उसमें एक साथ एक समय अभिव्यक्त हो गयी हो—इतना भयंकर बनकर, एक दृष्टिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते हुए, स्थिरभावसे वह स्थित हो गया—अगले दावँकी प्रतीक्षामें!

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २४)

बढ्यौ कृष्न तन अति बल-जोरू।
तज्यौ सर्प बंधन अति घोरू॥
फन उठाइ प्रभु ओर निहारू।
रोष मानि रह खरौ गँवारू॥
नासा बिबर स्वास अति घोरा।
बिष भाजन जनु पाक कठोरा॥
नैन कराल अनल जनु बरई।
मुख उलमूक रासि जनु जरई॥
एहि बिधि ठाढौ अहि लसत काली काल कराल।
तरु तमाल साखा मनहुँ लसत फननि कौ जाल॥

× × ×

उमंडे घुमंडे घनै सीस छाए।
घटाटोप ह्वै कैं मनौ मेघ आए॥
लसै तेज, आरक्तता नैन बाढ़े।
मनौ अग्नि के कुंड तें ताइ काढ़े॥
तहाँ तर्कि कैं उग्रता वक्त्र बायौ।
किधौं भूरि भंडार भै कौ बतायौ॥
कढ़ी बज्र की कील-सी काल डाढ़ैं।
बसै मीचु तामें, हसैं नीच गाढ़ैं॥
चलै जोर जीहा महा दुःखदानी।
किधौं म्यान तैं काल खैंची क्रपानी।
भरे स्वाँस छाँडै खरे रोस राती।
किधौं सूर के पुत्र की कोह कानी॥
छुटे ज्वाल बिसजालकी झार झूकैं।
चहूँ ओर दिग्दाह सौं ब्रच्छ सूकैं॥
रिसै आनि कैं घ्रान के रंध्र बाजैं।
किधौं काल तंत्रावलीं ताल साजैं॥
मदोन्मत्त ह्वै जुद्ध की रोपि पाली।
न जाने परब्रह्म ऐसौ कुचाली॥

जो हो, ह्रदके तटपर अवस्थित समस्त व्रजपुरवासियोंके जीवनशून्य-से हुए शरीरमें तो प्राण संचारित होने लगे हैं, सबके हाहाकारका विराम हो गया है। नीलसुन्दरकी अग्रिम योजनासे वे यद्यपि परिचित नहीं, फिर भी रोहिणीनन्दनकी बात सत्य होनेमें अब किसीको संदेह नहीं रह गया है।

एक ओर श्यामवर्णा कलिन्दनन्दिनीकी कल-कल नीली धारा प्रसरित हो रही है, दूसरी ओर अत्यन्त काले रंगका वह महासर्प कालिय फुफकार मार रहा है; सामने नवजलधरवर्ण श्यामवर्ण श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र अवस्थित हैं। भला, नीलसुन्दरकी भावी रंगशालाका क्या ही सुन्दर सुयोग लगा है!—

कारौ नीर कलिंदजा, कारौ अंग भुजंग।
कारे सुंदर स्याम घन, भलौ बन्यौ यह संग॥

श्रीकृष्णका कालियको अपने चारों ओर घुमाकर शान्त कर देना और फिर उसके फनोंपर कूदकर चढ़ जाना, ललित नृत्य करने लगना; देवताओंद्वारा सुमनवृष्टि तथा ऋषियोंद्वारा स्तवपाठ, गन्धर्वोंद्वारा गान एवं चारणोंद्वारा वाद्यसेवा; कालियका अन्त समयमें प्रभुको पहचान लेना और उनकी शरण वरण करना

हँस-हँसकर खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कालियके चारों ओर घूमने लगते हैं—इस प्रकार, मानो खगेन्द्र गरुड अपने भक्ष्य किसी क्षुद्र सर्पसे कौतुक करने लगे हों; तथा कालिय भी अवसरकी प्रतीक्षामें, पुनः अपने विषदन्तोंके द्वारा भीषण प्रहार करनेके उद्देश्यसे, नीलसुन्दरके समान ही चक्कर काट रहा है—

क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः।

(श्रीमद्भा० १०। १६। २५)

ताहि कृष्न घेर्‌यौ चहुँ ओरा।
मनहुँ खगेस घेर अहि घोरा॥
जेहि दिसि प्रभु तेहि दिसि ह्वै सोऊ।
एहि बिधि भ्रमत फिरे तहँ दोऊ॥

× × ×

ऐसें काली सौं बनमाली।
खेलन लगे सकल गुन साली॥
बाम भाग दिए तिहि उर मेलत।
जैसें गरुड़ सर्प सौं खेलत॥

किंतु कालियके बलकी तो एक सीमा है। अनन्त अपरिसीम बलशालीसे होड़ करने जाकर वह कबतक टिक सकता था। देखते-देखते उसकी सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी, घूम-घूमकर वह अत्यन्त श्रान्त हो गया। उसमें अब इतनी सामर्थ्य भी न रही कि अतिशय मन्द गतिसे भी नीलसुन्दरका अनुसरण कर सके। आखिर भ्रान्त-सा हुआ वह एक ओर खड़ा हो गया। दीर्घ निःश्वास आने लगे। आसन्नमृत्यु-जैसी उसकी दशा हो गयी। हाँ, उसके फन अब भी ऊपर ही उठे थे, जिनकी ओटसे अभिमान स्पष्टरूपसे झाँक रहा था। पर अब तो योजना दूसरी ही है। मदोन्मत्त कालिय स्वयं नतमस्तक न हो सका, न सही; करुणावरुणालय श्रीकृष्णचन्द्र उसे अपना चरणस्पर्श दान करनेके लिये चञ्चल हो उठे हैं, वे स्वयं उसे अतिशय विनम्र बनाकर ही छोड़ेंगे और यह लो, वे दौड़ चले, द्रुतिगतिसे उसके समीप आ गये। उनका वह वामहस्त-कमल ऊपर उठा, सबसे ऊपर उठे हुए कुछ फनोंपर एक अत्यन्त हलकी थपकी-सी उन्होंने लगा दी। फिर तो न जाने उस किसलय-कोमल करमें कितना भार कालियको प्रतीत हुआ और वे उन्नत फन उस भारसे नमित हो ही गये। इतना ही नहीं, उनका वह पीत दुकूल विद्युत् रेखा-सा झलमल कर उठा और पलक गिरते-न-गिरते नीलसुन्दर उन्हीं झुके हुए सुविस्तृत फनोंपर अनायास उछलकर चढ़ गये—ठीक ऐसे मानो उन्हें अपने शेषशायी स्वरूपकी स्मृति हो आयी हो और चिर अभ्यस्त होनेके कारण अपनी शय्यापर ही वे सुखपूर्वक आरोहण कर रहे हों!—

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः।

(श्रीमद्भा० १०। १६। २६)

बुझि गयौ ओज उरग कौ ऐसें।
नाग दवन के देखत जैसें॥

× × ×

फिरि झपटि चढ़े फन पकरि हाथ।
दै भार भरत गति अमित नाथ॥

× × ×

सोहैं नंद-सुवन तहँ ऐसें।
सेस उपर नाराइन जैसें॥

कालिय अपने इस अचिन्त्य सौभाग्यको अनुभव न कर सका, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीकृष्णचरण-सरोरुहका स्पर्श प्राप्तकर वह परम कृतार्थ हो चुका है, यह अनुभूति उसे नहीं हुई—यह सत्य है। पर अन्तरिक्ष तो 'जय-जय' नादसे तत्क्षण ही नादित हो उठा। ऐसे अत्यन्त अधम सर्पको भी अपनी कृपाका अयाचित दान व्रजेन्द्रनन्दन दे सकते हैं, यह प्रत्यक्ष देखकर देववृन्दके आनन्दका पार नहीं रहा है। उन सबके अपलक नेत्र केन्द्रित हो गये हैं—नीलसुन्दरके पदकमलोंपर ही। इस समय उन मृदुल चरणोंकी शोभा भी देखते ही बनती है। कालिय-मस्तकमें स्थित मणिसमूहोंके सम्पर्कमें आकर वे चरणाम्बुज अतिशय अरुणिम प्रतीत हो रहे हैं और अब देखो, नृत्यके तालबन्धका एक विचित्र-सा कम्पन उनमें भर आया है। ओह! स्पष्ट ही तो है—समस्त कलाओंके आदिगुरु ये व्रजेन्द्रनन्दन कालियफनोंपर नृत्य करने जो जा रहे हैं। एक प्राकृत नट भी अपनी कलाका प्रदर्शन करने जाकर, विविध आश्चर्यमय उपकरणोंके सहारे नाचकर अपने कौशलका परिचय देता है, मृत्तिकापात्रोंपर, आकाशमें टँगे रज्जु-खण्डपर, सूक्ष्म तारोंपर विविध तालबन्धोंकी रचना कर दर्शकको मुग्ध कर देता है। फिर अखिलकलाप्रवर्त्तक सकल-कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र कालिय-फनकी रङ्गशालामें ही अपनी कलाका दर्शन करायें, निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर ही देखते हुए अपने स्वजन व्रजपुरवासियोंके प्राणोंको शीतल करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है। अतिशय चञ्चल कालियफनपर अखण्ड सुमधुर तालबन्धकी रचना एक असाधारण अभूतपूर्व कौशल जो होगी। इसीलिये लीलाविहारी इसीकी अवतारणा करने जा रहे हैं—नहीं-नहीं कर चुके, उनका वह नृत्य आरम्भ हो गया—

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त।

(श्रीमद्भा० १०। १६। २६)

पुनि ताके फनपर चढ़ि गए।
सकल कला गुरु निर्तत भये॥
फनन तैं निकसि-निकसि मनि परै।
पगन में झलमल-झलमल करै॥
तैसिय हरि-नख-मनि की जोति।
सब दिसि जगमग-जगमग होति॥

अस्तु, नीलसुन्दरके बिम्बविडम्बी अधरोंपर नित्य व्यक्त स्मितकी वह रेखा सहसा और भी स्फुट हो गयी। सलोने चञ्चल दृग एक बार अन्तरिक्षकी ओर मुड़े और फिर दूसरे ही क्षण श्रीअङ्गोंसे एक विचित्र मनोहर नृत्यकी गतियोंका क्रमशः प्रकाश होने लगा। जिनकी चरणसेविका मायानटीके नियन्त्रणमें अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होकर निरन्तर नाच रहे हैं, ब्रह्माण्डके प्रत्येक क्षुद्रतम धूलि-कणसे आरम्भ कर अतिशय महान् सुमेरुपर्यन्त जडवर्ग एवं कीटाणुसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त चेतन-समुदाय अनवरत नृत्य कर रहा है, वे मायाधिपति व्रजेन्द्रनन्दन आज स्वयं कालिय-फनपर नृत्य करने चले हैं! और इस समय इन नटवर-नागरको इतनी त्वरा है कि वीणा-झंकृतिकी, मृदङ्ग आदिके तालकी सहायता प्राप्त हुए बिना ही मञ्चपर उतर आये और नृत्य आरम्भ कर दिया है उन्होंने! वाद्ययन्त्र नहीं है, न सही। उनके मधुमय कण्ठसे निस्सृत 'थै-थै' का अप्रतिम अभिनव झंकार ही पर्याप्त है। बस, दिग्‌दिगन्त गूँजने लगा है उनके श्रीमुखसे प्रसरित 'थैया तथ-तथ, थैया थै-थै, थैया तथ..........' के मधुर रवसे और वे स्वयं अपने मुखसे दिये हुए तालपर ही आनन्दित हुए नृत्य कर रहे हैं। अवश्य ही अन्तरिक्षमें अवस्थित उनके 'तदीय' जन—गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण, सुरसुन्दरियोंकी आँखें खुलते देर न लगीं। सबके प्राणोंमें नादित हो उठा नीलसुन्दरके मधुस्यन्दी कण्ठका 'थै-थै' नाद और साथ ही जाग उठी अग्रिम कर्तव्यकी स्फूर्ति—

वाद्यं विनैव स्वमुखेनैवोच्चारितैस्थैथैशब्दैः प्रभुर्नृत्यति तद्वयं कं समयं प्रतिस्थिता इति।

(सारार्थदर्शिनी)

'ओह! बिना वाद्यके ही अपने मुखसे उच्चारित 'थै-थै' शब्दके तालपर ही प्रभु नृत्य कर रहे हैं; फिर हमलोग किस समयकी बाट देख रहे हैं।'

अब तो कहना ही क्या है। प्रेममग्न उन गन्धर्वोंने नीलसुन्दरकी ताल एवं लयमें अपनी ताल-लय मिलाकर उनकी गुणावलीकी मधुर तान छेड़ दी। स्नेहपूरित हुए स्वर्ग-चारणगण मृदङ्ग, पणव, आनक आदि वाद्य-यन्त्रोंकी ताल श्रीकृष्णचन्द्रके चरणविन्याससे एककर ताल देने लगे। मधुर गीत गाते हुए देवगण एवं देववधुओंने नन्दनकाननसे मन्दार, पारिजात आदि पुष्पोंका चयन किया; क्षणभरमें सबने ही राशि-राशि कुसुमोंसे अपने दुकूल, अञ्चल-अञ्जलि भर लिये और श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें कुसुमोंकी अविरल धारा बरसने लगी। सचमुच ही सुरगण एवं सुरसुन्दरियोंके द्वारा प्रक्षिप्त, स्नेहसिक्त प्रसूनोंसे कलिन्दकन्याका प्रवाह, ह्रदका कूल सम्पूर्णतया आस्तृत होने लगा। व्रजेन्द्रनन्दनका माहात्म्य कीर्तन करते हुए सिद्धगणोंने हरिचन्दन, कुङ्कुम आदि दिव्य सौरभमय विविध चूर्णोंके उपहार बिखेर दिये; समस्त दिशाएँ आमोदित हो उठीं और उधर ऋषिगणोंका स्तवपाठ भी आरम्भ हो गया। सभी अपना सर्वस्व समर्पितकर श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवामें तत्क्षण उपस्थित हो गये—

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २७)

थैया तथतथ थैया थै थै थैया तथेति गन्धर्वाः।
तालं पाठं वादनमारेभिर उच्चकैर्मुदिताः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

प्रभु कहँ नचत देखि सुर-चारन।
आए बनि-बनि सेवा कारन॥
देवबधू गावहिं पिकबैनी।
अप्सर संग मिली मृगनैनी॥
पनव मृदंग आदि बहु बाजे।
भिन्न भिन्न नाना बिधि राजे॥
करि अस्तुति, सुरसिद्ध गन, सुमन बरषि हरखाइ॥
नचत सु कालीके फननि, कृष्ण देखि सुख पाइ॥

× × ×

सिर डुलति चंद्रिका सरिस माल।
कुंडलनि गंड मंडत रसाल॥
जुरि गंध्रप आए समय जान।
सुरबधू अपछरा करहिं गान॥
सुर भरहिं तार दै-दै उचार।
बीनादि जंत्र बाजैं अपार॥

श्रीकृष्णचन्द्र और भी उत्साहमें भरकर नृत्य करने लगते हैं। गन्धर्वोंका स्तवन जिस क्रमसे चल रहा है, उनकी गद्य-पद्यमयी स्तुति जिस प्रवाहमें व्यक्त हो रही है उसीके अनुरूप ही ताल-संकेतकी व्यञ्जना भी हो रही है तथा अखिल-कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र भी उसी ताल एवं वृत्तमें बँधे हुए ही नृत्य कर रहे हैं। कहीं भी स्खलन नहीं, स्वरका व्यतिक्रम नहीं। साथ ही कालियके एक फनसे दूसरे फनपर वे चले गये हैं, यह तो दीख पड़ता है और वे गये हैं ठीक तालके विरामके समय ही; परंतु स्थान-परिवर्तन करते समय सिद्ध, चारण, गन्धर्व आदि किसीने भी उन्हें सचमुच देखा हो, यह कहते बनता नहीं। बलिहारी है नीलसुन्दरकी इस कलाकी! —

उद्घाटयन्ति शब्दं तालं पाठं च ते यथा विरुदम्।
अयमपि तथैव नृत्यति फणिनः फणतः फणान्तरं गच्छन्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

और कुछ ही क्षणोंके अनन्तर गन्धर्व-चारणोंकी कला कुण्ठित होने लगी। नृत्य एक शास्त्र है, उसके निर्धारित नियम हैं। गति-विन्यासका कौशल तो कोई अपेक्षाकृत एक-दूसरेसे अधिक प्रदर्शित कर सकता है। दर्शकके हृत्तारोंको झंकृत कर देनेकी सामर्थ्य सभी नर्त्तकोंमें समान हो ही नहीं सकती; किंतु प्रत्येक नर्तक ही नृत्य-परम्पराकी सीमामें ही रहता है, कभी उसका अतिक्रमण नहीं करता। नृत्यविशेषमें जो

उसकी स्वतन्त्रता रहती है, एक नवीनताका भान जो वह अपने दर्शकोंको करा देता है, वह भी नृत्य-कलाकी एक नियमगत वस्तु ही है; किंतु यहाँ तो व्रजेन्द्रनन्दन देखते-देखते ही सर्वथा स्वकल्पित गतिसे ही नृत्य करने लगते हैं। परम स्वतन्त्र व्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा नृत्यकी यह गति-रचना है तो अत्यधिक मनोहर, अत्यन्त मोहक; पर चारण-गन्धर्वोंने कहाँ शिक्षा पायी है, ऐसी अद्भुत कलाकी! कब देखा है उन सबने ऐसा प्राणोन्मादी उद्दाम नृत्य? इसीलिये अब सम्भव ही नहीं रहा कि वे श्रीकृष्णचन्द्रके कण्ठमें कण्ठ मिलाकर उनके गीतमें योगदान कर सकें, वाद्ययन्त्रोंको उनके तालमें बाँधे रखकर चल सकें; यहाँतक कि वे ताल-पाठका संकेत भी उच्चारण कर सकें, यह क्षमता भी उनमें न रही—

निजकल्पितया गत्या नृत्यति कृष्णो यथा स्वैरी।
न तदनुरूपं गातुं पठितुमप्यमी शेकुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

कौन बताये उन चारण-गन्धर्वोंको—'अरे! कालियके अन्तस्तलके स्पन्दनपर ही तो व्रजेन्द्रनन्दनकी गति निर्भर करती है।' उसकी स्तब्धताको आत्यन्तिक रूपसे हर लेनेके लिये ही तो नीलसुन्दरने उसके फनोंपर अपनी रङ्गशालाका निर्माण किया है। पर कालियकी बहिर्मुखता भी अपनी जातिकी एक ही है। वह न जाने रोषप्रतिशोधकी किन-किन लहरोंमें बह रहा है। भक्तवाञ्छाकल्पतरु व्रजेन्द्रनन्दनको अपने मस्तकपर अवस्थित अनुभव करके वह आनन्दसिन्धुमें सदाके लिये निमग्न न हो सका; अपितु वह तो यह सोच रहा है कि कहीं, तनिक-सा भी अवसर मिल जाय और वह इस 'शिशु' को तपनतनयाके प्रवाहमें फेंक दे। इसीलिये रह-रहकर उसके फन उठते हैं; जिस फनमें तनिक भी शक्तिका अनुभव उसे होता है, उसे ही वह ऊपर उठाता है तथा उस साँवरे शिशुको दबोच लेनेका स्वप्न देखता है। सहस्र फन उसके हैं। उनमें एक शत मुख्य हैं तथा उन सौमें ही निरन्तर अत्यन्त उग्र विषका कुण्ड धक्-धक् जलता रहता है और इन्हींमेंसे किसी फनको उठाकर उसका समस्त विष व्रजेन्द्रनन्दनपर उँडेलकर वह उन्हें भस्म कर देना चाहता है; किंतु होता यह है कि जो भी फन नमित नहीं दीखते, ठीक उन्हींपर श्रीकृष्णचन्द्रका पाद-प्रहार होने लगता है। नृत्यके आवेशमें, एक नयी गतिका सृजन करके अपनी अतिशय मनोरम भङ्गिमाको अक्षुण्ण रखते हुए ही, वे उसी फनको बारंबार तालका विरामस्थल बना लेते हैं; वही मस्तक उनकी रङ्गस्थलीमें परिणत हो जाता है और फिर उनके चरण-प्रहारसे टूटकर वह नीचेकी ओर झुक पड़ता है। इस प्रकार एक ओर तो श्रीकृष्णचन्द्र ताण्डवका रस ले रहे हैं, पर साथ ही आनुषङ्गिकरूपसे खल-संयमनकी लीला भी सम्पन्न होती जा रही है। हाँ, कालियके लिये तो अब उसके जीवनदीप बुझते-से दीख रहे हैं। कितनी देरतक वह सह सकता था उनकी ताड़नाको। बार-बारके पदाघातसे उसका एक-एक फन टूट-टूटकर नीचेकी ओर लटकने लगा है। मुखसे, नासाविवरसे अनर्गल रक्तकी धारा बहने लगी है। अत्यधिक व्यथाके भारसे वह मूर्च्छित होने लगा है—

यद् यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २८)

प्रभु तजत उरग के नमित सीस।
जे उन्नत, तिन पर नचत ईस॥
निरतत नंद-किसोर जोर पगतल हनि फन-फन।
गावत अंबर चढ़े अमर-किंनर-गंध्रप-गन॥
फिरि भर तालनि अनक फनिक फिरि फेनहि डारतु।
बमतु रुधिर मुख धार, भार, नहिं अंग सम्हारतु॥

× × ×

जोइ-जोइ फन अहि उन्नत करै।
तहँ तहँ पाँव कान्ह कौ परै॥
पगन कि कूटनि दुखित जु भयौ।
सर्प कौ दर्प सबै गिरि गयौ॥

आकाशसे अभी भी प्रसूनोंकी वृष्टि हो ही रही है। देवद्रोही इस कालियके गर्वको प्रभुने हर लिया— यह दर्शन देव-समाजके कण-कणको आनन्दित कर दे रहा है। उन्हें तृप्ति नहीं हो रही है नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें कुसुमोंका अभिनन्दन समर्पित करनेसे। और क्या पता—शेषशायी पुराणपुरुषके पादारविन्दमें पाद्य, अर्घ्य, सुमन समर्पित करनेका अवसर तो उन्हें कितनी बार मिल चुका है; पर वहाँ इन नृत्यपरायण नीलसुन्दरकी बङ्किम झाँकी कहाँ? और इसी उल्लासमें ही उनके पुष्पवर्षण—पुराण-पुरुषके पूजनका विराम नहीं हो रहा है!—

..........पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २९)

तेहि-तेहि समै देव-गंधर्बा।
किंनर, चारन, मुनिगन सर्बा॥
जसुदानंदन कहँ सब आई।
पूजहिं सुमन सुरभि सुख पाई॥
सेषासन जनु पुरुष पुराना।
पूजेउ एहि बिधि करि सनमाना॥

जो हो, अब कालियका गर्व शमित हो चुका था। उसकी शारीरिक शक्ति तो पूर्णतया क्षीण हो ही चुकी थी; निराश मन भी चिर-निद्रामें प्रविष्ट होने चला। किंतु ठीक यही अपेक्षित क्षण जो है, अवसर है श्रीकृष्णचरण-नख-चन्द्रिकाके आलोकसे अन्तस्तल उद्भासित हो उठनेका। और यही हुआ। कालियके मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं प्राणोंमें एक ज्योति-सी जाग उठी और उसने उसी प्रकाशमें व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके स्वरूपको पहचान लिया। 'पर हाय! शरीरमें तो अब शक्ति नहीं कि वह स्पन्दित भी हो सके, श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-सरोजोंमें न्योछावर हो सके! अब क्या हो! बहुत विलम्ब हो गया····!' फिर भी अन्तिम श्वासकी-सी अवस्थामें कालिय मन-ही-मन पुकार उठा—

सरन-सरन अब मरत हौं, मैं नहिं जान्यौ तोहि॥

× × ×

स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ३०)

साथ ही उस ओर नाग-वनिताओंपर योगमायाके द्वारा प्रसारित वह आवरण भी सहसा हट गया। युग-युगसे जिन व्रजेन्द्रनन्दनको वे अपना मन-प्राण समर्पित कर चुकी थीं, प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये जिनकी प्रतीक्षा कर रही थीं, वे ही जब उनके आवासमें स्वयं पधारे, तब उन सबने—दर्शनसे कृतार्थ होकर भी— उन्हें नहीं पहचाना। हाँ, इस समय अकस्मात् अपने-आप—न जाने कैसे हृत्तल आलोकित हो उठा और उन सबने देख लिया, जान लिया—'हमारे चिरजीवनके आराध्य प्राणाधार ही तो वहाँ विराजित हो रहे हैं।' किंतु पतिदेव—आह! वे तो महाप्रयाणकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। नागवधुएँ तत्क्षण उपस्थित हो जाती हैं श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-प्रान्तमें ही—

गति सबल अबल स्वाँसानि बल, हहरि सुहिय लहरातु घट।
लखि बिकल ब्याल काली सिथिल, तब आईं अबला निकट॥

नागपत्नियोंका भी अपने शिशुओंको लेकर श्रीकृष्णकी शरणमें उपस्थित होना, स्तुति एवं प्रणाम करना और पतिके जीवनकी भिक्षा माँगना; श्रीकृष्णका करुणापूर्वक कालियके फनोंसे नीचे उतर आना

नेत्रोंसे अविरल प्रवाह बह रहा है, अङ्गोंके वस्त्र-भूषण स्खलित हो चुके हैं, वेणी खुल गयी है, आकुलतावश देहकी सुधि छूटती-सी जा रही है, चित्त उत्तरोत्तर विह्वल होता जा रहा है—इस दयनीय दशामें नागवधुएँ अपने छोटे शिशुओंको सामने रखकर, अञ्जलि बाँधकर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंके समीप दण्डवत् गिर पड़ीं। उन्हें बार-बार प्रणाम करने लगीं। वे जानती हैं—समस्त भूतप्राणियोंके पति, प्राणिमात्रके रक्षक ये व्रजेन्द्रनन्दन ही हैं; एकमात्र आश्रयदाता ये नन्दकुलचन्द्र ही हैं। यद्यपि कालियने अपराध इन श्रीचरणोंमें ही किया है, अत्यन्त पापात्मा है यह, फिर भी इन व्रजराजनन्दनके अतिरिक्त अन्य कोई त्राता भी जो नहीं; हम सबोंको अपने पतिके लिये प्राणदानकी भिक्षा भी केवल इन्हींसे प्राप्त हो सकती है। परम करुणामय हमें निराश नहीं करेंगे, हमारी यह कामना अवश्य पूर्ण करेंगे। अतएव एक क्षण भी न खोकर वे श्रीकृष्णचन्द्रकी ही शरण ले लेती हैं—

....

आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः॥
तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तु-
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ३१-३२)

चौ०—छुट्टे लरिकन आगे किऐं।
जैसें दया फुरै हरि हिऐं॥
नैनन तैं जलकन यों परैं।
कमलन तैं जनु मुक्ता झरैं॥
बिगलित कच सु बदन छबि बढ़े।
अहि-सिसु जनु कि ससिन पर चढ़े॥

× × ×

मन-चित अति उदबेग, न थोरा।
हरि कहँ देखि उभय कर जोरा॥
आगे धरि निज बाल अनेका।
करहिं दंडवत छिति सिर टेका॥
प्रभु सरन्य बरदेस अनंता।
सरन गही तिन श्रीभगवंता॥

कालियके द्वारा किये हुए अगणित अपराधोंकी स्मृति तो उनमें किञ्चित् भयका संचार कर रही है; पर साथ ही नीलसुन्दरका वह प्रसन्न वदनारविन्द प्राणोंके कण-कणमें उल्लास भर दे रहा है। इसी अवस्थामें किसी अचिन्त्य प्रेरणासे अभिभूत होकर वे सब-की-सब श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करने लगती हैं—

चौ०—कछु मुद भरी, कछू भय भरी। करि दंडवत स्तुती अनुसरी॥

उनके गद्गद कण्ठका वह अतिशय मधुर स्वर सर्वत्र गूँज उठता है। ह्रदके तटपर अवस्थित समस्त व्रजवासी भी प्रत्यक्ष सब कुछ देख रहे हैं, सुन पा रहे हैं—

ठाढ़े देखत हैं ब्रजबासी।
कर जोरें अहि-नारि बिनय करि, कहतिं धन्य अबिनासी॥

नागपत्नी सुबलाने तो श्रीकृष्णचन्द्रके पदसरोजोंको अपने अञ्जलिपुटमें धारण कर लिया है। अन्य पत्नियाँ अत्यन्त समीपमें हाथ जोड़े खड़ी हैं। तथा उन सबके ही अन्तस्तलके भाव क्रमशः एक-एकके मुखसे बाहर आकर नीलसुन्दरके चारु चरणोंमें समर्पित होने लगते हैं। वे अविराम कहती जा रही हैं—'नाथ! प्रभो! जगत्‌में तुम्हारा आविर्भाव ही होता है दुष्टोंका दमन करनेके लिये। अतएव मेरे स्वामिन्! सर्वथा उचित है कालियके प्रति तुम्हारा यह दण्डविधान,

महान् अपराधी हमारे पतिके लिये यह शासन! अपनेसे निरन्तर शत्रुता रखनेवालेके प्रति तथा दूसरी ओर अपनी संततिके प्रति तुम्हारी नित्य समदृष्टि रहती है, भगवन्! दोनोंके सम्बन्धमें कदापि तुममें भेदभावका उन्मेष नहीं होता। अपराधीको परम कृतार्थ करनेके लिये ही, उसे अपने पादपद्मोंकी शीतल शंतम छायाका दान कर अनन्त अपरिसीम सुखमें सदाके लिये निमग्न करनेके लिये ही तुम्हारा दण्डविधान होता है।

'अहा! करुणावरुणालय! कितना महान् अनुग्रह हुआ है तुम्हारा हम सबोंके प्रति, इस कालियके प्रति! इस दण्डके रूपमें तुम्हारी परम कृपा ही तो व्यक्त हो रही है; क्योंकि यह निश्चित है—तुम्हारे द्वारा विहित दण्ड समस्त पापोंका क्षय कर देता है। देखो सही, स्पष्ट है कि पापोंके परिणामस्वरूप ही तो कालियको सर्पयोनिकी प्राप्ति हुई है; किंतु यह लो प्रभो! तुम्हारे क्रोधमें कालियके वे पाप—नहीं-नहीं, उसकी सम्पूर्ण पापराशि ध्वंस हो गयी! यह केवल देखनेभरको अब सर्प रहा है, वास्तवमें तो यह जीवन्मुक्त हो चुका है। इतना ही नहीं, भक्तिकी अजस्र धारा संचरित हो चुकी है इसके अन्तस्तलमें और यह परम कृतार्थ हो चुका है। इसीलिये, दयामय! तुम्हारा दण्ड, दण्डका हेतुभूत क्रोध सर्वथा तुम्हारे अनुग्रहकी ही परिणति है। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं।

'अवश्य ही अतीतके किसी जन्ममें हमारी बुद्धिसे अगोचर किसी तपका आचरण इसने किया है, स्वयं अभिमानशून्य रहकर एवं दूसरोंको सम्मान-दान करते हुए उस तपमें अचल भावसे यह परिनिष्ठित रहा है। अथवा समस्त भूतप्राणियोंके प्रति दयापरायण रहकर किसी धर्मविशेषका इसने अनुष्ठान किया है; जिसके फलस्वरूप तुम सर्वान्तर्यामी इसपर प्रसन्न हो उठे हो, निग्रहके रूपमें इसे अपने अनुग्रहका परम दान देने आये हो, देव!

'किंतु नहीं, हम सब भूल रही हैं, भगवन्! तपसे, धर्मानुष्ठानसे ऐसे अप्रतिम सौभाग्यकी उपलब्धि कहाँ सम्भव है। यह तो निश्चय ही तुम्हारे अचिन्त्य कृपावैभवका ही चमत्कार है। तुम्हीं सोचो, सर्वेश्वर! तप आदिके द्वारा ब्रह्मा आदि भी जिन लक्ष्मीकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेनेकी अभिलाषा करते हैं, उन स्वयं श्रीदेवीतकने भी तुम्हारी चरणरजको स्पर्श कर लेनेका अधिकार चाहा है और फिर इस अदम्य लालसासे प्रेरित होकर वे तुम्हारे अतिरिक्त अन्य समस्त कामनाओंका परित्याग कर, विविध नियमोंका पालन करती हुई दुश्चर तपमें बहुत समयतक संलग्न रही हैं। ऐसी—इतनी दुर्लभ वस्तु तुम्हारे श्रीचरणोंकी रज है! पर यहाँ तो—बलिहारी है तुम्हारे इस अयाचित कृपादानकी!—इन चरणसरोरुहके धूलिकणोंको स्पर्श कर लेनेका अधिकार अधम कालियको मिल रहा है! अब कौन बताये, कौन जानता है—कालियकी किस साधनाका यह फल है। हम सब तो समझ नहीं पातीं, भगवन्!

'अहा! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणोंकी धूलि! जो इस परम दुर्लभ धूलिकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके मनमें सागरसमन्वित सम्पूर्ण धराका आधिपत्य पा लेनेकी इच्छा नहीं होती। इसकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट, जरा आदि दोषोंसे रहित देहके द्वारा एक मन्वन्तर-कालपर्यन्त भोगनेयोग्य स्वर्गसुखकी भी कामना उन्हें नहीं होती। इससे भी अत्यधिक मात्रामें लोभनीय एवं विघ्न-बाधाशून्य पातालसुख—पाताललोकका आधिपत्य भी उन्हें आकर्षित नहीं करता। इस सुखसे भी अत्यधिक महान् ब्रह्मपदको पा लेनेकी वासना भी उनमें कभी नहीं जागती। ब्रह्मपदसे भी श्रेष्ठ योगसिद्धिकी ओर भी उनका मन नहीं जाता। इससे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्युविहीन मोक्षपदतककी इच्छा उनमें उत्पन्न नहीं होती। यह है तुम्हारी चरणरजकी शरणमें चले आनेका परिणाम, प्रभो!

'अहो! क्या ही आश्चर्य है! उसी चरणरजको इस सर्पराज कालियने बिना किसी प्रयासके ही पा लिया। तमोमय योनिमें उत्पन्न एवं अत्यन्त क्रोधी स्वभावका होनेपर भी इसे उसका स्पर्श प्राप्त हो गया—उस चरणरजका स्पर्श कि जो श्रीदेवी आदितकके लिये परम दुर्लभ है तथा जिसे प्राप्त कर लेनेकी इच्छामात्रसे ही संसारचक्रमें भ्रमण करते हुए जीवको सर्वविध सम्पदा—अपवर्गतककी प्राप्ति अनायास ही

हो जाती है। सचमुच कालिय-जैसे महापराधीके जीवनमें यह अनिर्वचनीय सौभाग्योदय केवल तुम्हारी कृपासे ही सम्भव हुआ है, स्वामिन्!

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्॥
अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः।
यद् दंदशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः॥
तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः॥
कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥
तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ३३—३८)

चौ०—अहो नाथ! यह दंडन जोगू।
न्याय दंड, यह भयौ निरोगू॥
तव अपराध कीन एइ भारी।
जोग्य दंड एहि दियौ मुरारी॥
सुत अरु रिपु एक सरिस तुम्हारे।
तद्यपि खल तुम अमित संघारे॥
खल निग्रह हित यह अवतारू।
हरि महि-भार उतारनहारू॥

छं०—एहि दंड जु दीना अति भल कीना परम अनुग्रह मैं माना।
तव पगतल धूरी भव रुज मूरी लहैं न सूरी श्रुति गाना॥
इन निज सिर धारा पुण्य अपारा, कै ब्रत, दान करेउ ध्याना।
यह सर्प कुजाती अघ भव पाती, सो जरि गौ अब मैं जाना॥
यह नाम जु काली परम कुचाली, परि पूरब तप कृत रासी।
कै तजि मद-माना जप कछु ठाना, कै तीरथ कौ है बासी॥
कै धौं यह दानी जन-सनमानी, कै जानी इन अबिनासी।
याकी सुभ करनी जात न बरनी, पाय धरे सिर भय-नासी॥
हे देव! मुकुंदा! आनँदकंदा! अहि मतिमंदा, कूर महा।
एहि सुकृत पुराना हम नहिं जाना, तव पद-पंकज सीस लहा॥
निति करि तप भारी अज असुरारी चाहत जासु प्रसाद सदा।
सो रमा सदा ही हिय उमगाही, तव पद-पंकज-आस मुदा॥

दो०—रमा आदि जेहि परस हित, करहिं सदा ब्रत-नेम।
अहो सर्प सठ भाग की, परस्यो पद बिनु प्रेम॥

सो०—ऐसी मोहि लखाइ, नहिं तपादि कारन कछू।
तव कृपालुता गाइ, कहत बेद कछु मिति नहीं॥

चौ०—जे तव पद-रज सरन गहाहीं।
ते कछु अपर न सुख ललचाहीं॥
नाक-लोक सुर-ईस-निकेता।
एक चक्र भू, धन-सुख जेता॥
नागलोक-सुख अमित प्रकारा।
जोगसिद्धि-फल कहे अपारा॥
मुक्ति चाह नहिं तिन कहुँ अबहूँ।
तव पद-पंकज में सुख सबहूँ॥
अखिल लोक तेहि तुच्छ समाना।
जिन किय कंज-रसासव-पाना॥
अहि मलीन पति नाथ! हमारा।
बिष अति घोर, मूढ, तम भारा॥
सो रज बिनु प्रयास इन पावा।
तासु भाग्य कौं को कबि गावा॥
जो रज हित करि जतन अनेका।
करत जोग गहि नेम-बिबेका॥

सो इन बिना जतन सिर धरेऊ।
भव-रुज रोग सकल परिहरेऊ॥

नागवधुओंका अन्तस्तल सदाके लिये आलोकित हो चुका है। ज्ञान-विज्ञानकी रश्मियोंमें वे व्रजेन्द्रनन्दनकी अपरिसीम भगवत्ताका दर्शन कर रही हैं। जहाँ, जिस ओर, जिसकी चित्तवृत्ति डूब रही है, उसीका आभास उसकी वाणी ग्रहण कर लेती है, उसीका उल्लेख स्तवनमें होने लगता है और आगे चलकर तो विह्वलतावश, प्रेमवश उन्हें यह भी भान नहीं रहता कि वे क्या कह रही हैं, कहीं व्यक्त हुई भावनाकी ही पुनरावृत्ति तो नहीं कर रही हैं। वे तो, बस, कहती ही चली जा रही हैं और नीलसुन्दरके पादपद्मोंमें बार-बार नमस्कार समर्पण कर रही हैं—

'भगवन्! तुम अनन्त ऐश्वर्य-निकेतन हो, सर्वान्तर्यामी हो, अपरिच्छिन्न हो, सर्वभूताश्रय हो, सबके आदि हो, सर्वकारणकारण हो, कारणातीत हो। तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम है!

'तुम ज्ञान-विज्ञान-निधि हो, सजातीय-विजातीय-भेदरहित हो, अनन्तशक्तिशाली हो, प्राकृत-गुणरहित हो, अविकारी हो, अप्राकृत-गुणगण-समलंकृत हो! तुम्हें नमस्कार है!

'तुम कालस्वरूप हो, कालशक्तिके आश्रय हो, कालके अवयव निमेष आदिके साक्षी हो, विश्वरूप हो, विश्वान्तर्यामी हो, विश्वकर्ता एवं विश्वकारण हो, तुम्हें हमारा वन्दन है!

'विभो! पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, दशेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इन सबके रूपमें तुम्हीं विराजित हो। त्रिगुणसे होनेवाले देहादिमें अभिमानके द्वारा तुमने आत्मतत्त्वज्ञानको आवृत कर रखा है! तुम्हारे श्रीचरणोंमें नमन है।

'तुम अनन्त हो, अज्ञेय हो, उपाधिकृत-विकाररहित हो, सर्वज्ञ हो, विभिन्न मतवादियोंकी भावनाके अनुरूप ही रूप धारण करते हो। तुम्हीं शब्दोंके अर्थके रूपमें हो एवं शब्द भी तुम्हीं हो; इन दोनोंको संधित करनेवाली शक्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हें नमस्कार है!

'तुम समस्त प्रमाणोंके मूलस्वरूप हो, स्वत:सिद्ध-ज्ञानवान् हो, शास्त्रोंके उद्भवस्थान हो, तुम्हीं प्रवृत्तिशास्त्र हो, तुम्हीं निवृत्तिशास्त्र हो, इन दोनोंके मूलस्वरूप निगम—वेद भी तुम्हीं हो। तुम्हें नमस्कार, नमस्कार है, प्रभो!

'तुम्हीं वासुदेव हो, तुम्हीं संकर्षण हो, तुम्हीं प्रद्युम्न हो, तुम्हीं अनिरुद्ध हो—इस प्रकार चतुर्व्यूहरूप एवं भक्तोंके स्वामी, यादवपति श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हें नमस्कार है!

'तुम अन्त:करणके, अन्त:करणकी वृत्तियोंके प्रकाशक हो; उन्हींसे अपने-आपको आवृत भी रखते हो। उन्हींके द्वारा तुम्हारा संकेत भी प्राप्त होता है। तुम उनके साक्षी हो, स्वयंप्रकाश हो। तुम्हें प्रणाम है!

'अतर्क्य महिमा है तुम्हारी, नाथ! समस्त स्थूल-सूक्ष्म जगत्की सिद्धि तुमसे ही है, प्रभो! तुम आत्माराम हो, आत्मारामस्वभाव हो। हृषीकेश! तुम्हें हमारा वन्दन स्वीकार हो!

'तुम स्थूल-सूक्ष्म गतियोंके ज्ञाता हो, सर्वाधिष्ठाता हो; विश्वसे अभिन्न हो, पर साथ ही विश्वातीत हो, विश्वद्रष्टा हो, विश्वहेतु हो। तुम्हें नमस्कार है, स्वामिन्!

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने॥
ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च॥
कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे॥
भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥
नम: प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नम:॥
नम: कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नम:॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने॥

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ३९—४८)

छं०—तव पद नमामि अनंत।
भगवंत कमलाकंत॥
तुम पुरुष परम सुजान।
जेहि महत करि श्रुति गान॥
अग जग सकल तव बास।
सब के परे सुख-रास॥
चर-अचर कहँ तुम हेतु।
निज संत कहँ सुख देतु॥
तुव आदि-अंत न जान।
जेउ निपुन जग महँ ग्यान॥
हम नारि सब बिधि हीन।
तव चरन अब दृग दीन॥
तुम ग्यानरूप जु ईस।
हम नमहिं पद धरि सीस॥

छं०—तुम ग्यान-घन बिग्यान-रूप सरूप ब्रह्म नमामि हे।
तुम अगुन-सगुन-सरूप, सुंदर सकल सक्ति निधान हे॥
प्रभु कालरूप, सरूप अद्भुत, भुवन-संभव-पाल हे।
तुम कालहू के परम साच्छी, बिस्वरूप नमामि हे॥
तव पाद नुति करि बार-बार उदार द्रष्टा जगत के।
तव पद नमामि, बदामि किमि, गुन अखिल-सुखप्रद भगत के॥
छिति आदि पंच प्रपंच रचना सकल तव बपु, नाथ हे।
दस प्रान, इंद्री, बुद्धि, मन, चित—सकल तुम ब्रजनाथ हे॥

चौ०—नमो त्रिगुण सत्वादि स्वरूपं।
नमो अहंकृत ईश अनूपं॥
नमो महत प्रकृतिन के ईसा।
नमो सकल-कर्ता जगदीसा॥
जय कूटस्थ, अनंत, एकरस।
जय सूच्छम सर्बग्य बिस्वबस॥

छं०—षटसास्त्र बिचारि-बिचारि रहे।
तव भूति न तद्यपि कोउ लहै॥
नत बाचक-बाच्य सरूप करं।
जग-बंदित रूप परेस परं॥
दृग आदि सरूप नमामि बिभो।
तिन तें निरपेछिक रूप प्रभो॥
तन स्वास सबै निगमादि हरे।
तिन में द्वै भेद प्रसिद्ध करे॥
जय कृष्न किसोर नमामि पदं।
भव खंडन राम महा बिपदं॥
जय बासुदेव-पद-कंज नमो।
परद्युम्न बिभो! अपराध छमो॥
अनिरुद्ध सुखाकर रूप हरे।
पति-ऐगुन नाथ! छिमा जु करे॥
जय भक्तपते जदुनाथ प्रभो!
पद कंज नमामि नमामि बिभो॥
हिय अंतहकरन चतुर्बिध जो।
तुम कारन रूप सदा सब जो॥

दो०—अग जग के अंतहकरन, सकल प्रकासक नाथ।
सब के साच्छी रूप तुम, मम पति भयौ सनाथ॥

सो०—मन अरु बुद्धि बिचार! नहिं गोचर तव रूप हरि।
अहि कहँ यह अधिकार! तव महिमा कहुँ को लखै॥

इस प्रकार कालियपर किये गये शासनका अनुमोदन एवं श्रीकृष्णचरणसरोजोंमें शत-सहस्र प्रणाम निवेदन करनेके अनन्तर अब अन्तमें नागवधुएँ प्राणियोंकी परतन्त्रताका संकेत करती हुई कालियको क्षमा करनेके लिये, उसे प्राणदान देनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दनसे प्रार्थना करती हैं—

'सर्वेश्वर! तुम अनीह—इच्छारहित हो। तथापि अनादि कालशक्तिको स्वीकार करते हो! और फिर हे अमोघलीलाविहारिन्! सत्यसंकल्प! अपने ईक्षणमात्रसे संस्काररूपमें विद्यमान प्राणियोंके स्वभावको जाग्रत् कर देते हो; जाग्रत् करते हुए इस परिदृश्यमान विश्वका सत्त्वादि त्रिगुणोंके द्वारा सृजन, पालन एवं प्रलय करते हो!

'भगवन्! त्रिलोकीकी तीनों योनियाँ—सत्त्वप्रधान शान्त, रजोगुणप्रधान अशान्त, तमःप्रधान मूढ़—तुम विश्वनिर्माताकी ही लीलामूर्तियाँ तो हैं! तथापि संतजनोंका, धर्मका परिपालन करनेकी इच्छासे तुम अवतरित हुए हो। इसीलिये उनकी रक्षाके लिये आविर्भूत हुए तुम लीलामयको इस समय सत्त्वप्रधान शान्तजन ही प्रिय हैं, अन्य नहीं देव!

'शान्तात्मन्! स्वामीके लिये, पालकके लिये

आखिर एक बार तो अपनी प्रजा, संतानके द्वारा किया हुआ अपराध क्षमाके योग्य है ही। इसीलिये, स्वामिन्! क्षमा कर दो इस मूढ़के द्वारा किये हुए अपराधको भी। तुम्हें यह पहचानता नहीं, नाथ!

'हे परमदयालो! सर्वज्ञशिरोमणे! इस सर्पका प्राणान्त, बस, हो ही चला है। कृपा, कृपा करो, नाथ! साधु पुरुष हम अबलाओंपर सदा ही दयार्द्र रहते हैं। बस, अब, अब विलम्ब मत करो, भगवन्! प्राणतुल्य पतिको हमें भिक्षामें दे दो, दयामय!

'स्वामिन्! हम तुम्हारी दासियाँ तुम्हारे समक्ष उपस्थित हैं; हमारे योग्य सेवाका निर्देश करो, देव! क्योंकि तुम्हारे आदेशका श्रद्धासहित पालन करते ही कोई भी व्यक्ति समस्त भयसमूहोंसे त्राण पा लेता है, प्रभो!—

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो
गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक्।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः
समीक्षयामोघविहार ईहसे॥
तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां
शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां
स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः॥
अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः॥
अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥
विधेहि ते किंकरीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतो भयात्॥

(श्रीमद्भा १०। १६। ४९—५३)

छं०—प्रभु कारन-कारज-रूप नमो।
गोजाल प्रवर्तक नाथ नमो॥
जग-संभव पालन आपु करौ।
पुनि अंत समै निज माहि धरो॥
गुन-ईस नियंता नाथ हरे।
पद-द्वंद नमामि, दया जु करे॥
जग आदि समै पुनि नाथ तुँही।
जस जासु अदिष्ट सच्यौ सब ही॥
प्रतिबोध करावत हौ तुम ही।
पद-कंज नमामि, कृपा कर ही॥
एहि तें जग जीव जहाँ लगि जे।
सब के करता तुम नाथ अजे॥
कोउ सांत, असांत जु मूढ महा।
जस संचित है, तस रूप लहा॥
तव क्रीडा-साधन हैं सिगरे।
सबके तुम रच्छक एक हरे॥
हित साधुन के अवतार स्वयं।
तेहि रच्छक हौ सुख कंदमयं॥
खल-खंडन, मंडन भूमि ब्रजं।
श्रुति-धर्म-परायन त्रान अजं॥

छं०—बिनती प्रभु! मोरी सुनिय बहोरी, नंदसुअन सुखकंदा।
अहिजाति कुजाती अघ मै ख्याती रचेहु मोर पति मंदा॥
यह प्रजा तिहारी छमहु बिचारी सुत पितु इव जदुनंदा।
तुम सीलनिधाना छमा प्रधाना छमहु नाथ यह अति मंदा॥
छं०—तुम दीन दयाला होहु कृपाला, न तरु तजै यह प्रान प्रभो!
हम कहँ बड़ सोचू, तिय मति-पोचू, दीजै पति यह दान बिभो॥
पद-पंकज-दासी, हे अबिनासी! जानि हमैं अब पाहि प्रभो!
तव आग्याकारी रहिहि मुरारी! नाथ! कृपा पति छाड़ि बिभो॥

नागसुन्दरियोंका यह स्तवन समाप्त होते-न-होते नीलसुन्दरके अरुणिम अधरोंपर समुज्ज्वल स्मित भरने लगता है। अन्तर्हृदयमें उठी हुई करुणाकी ऊर्मियाँ श्यामल अङ्गोंको चञ्चल करने लगती हैं। पुनः पीत दुकूल झलमल करने लगता है और देखते-ही-देखते वे कालियके फनोंसे उतर आते हैं—

तिय प्रेम सौं रचि बैन। मुसक्याइ राजिव नैन।
करुना उठी अति अंग। दिय छाँड़ि नाग अभंग॥

कालियद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति और श्रीकृष्णकी उसे ह्रद छोड़कर समुद्रमें चले जानेकी आज्ञा तथा गरुडके भयसे मुक्तिदान; कालिय एवं उसकी पत्नियोंद्वारा श्रीकृष्णकी अर्चना तथा उनसे विदा लेकर रमणक-द्वीपके लिये प्रस्थान

जिन आँखोंमें निरन्तर विषकी ज्वाला जलती रहती, कालियके उन नेत्रोंमें ही एक अतिशय पवित्र दैन्यका संचार होने लगा। क्रमशः इन्द्रियोंकी, प्राणोंकी शक्ति भी लौट आयी। नासाछिद्रोंसे व्यथाभरे दीर्घ निःश्वास अवश्य आ रहे हैं, किंतु भक्तिरसकी आर्द्रता उसे आत्मसात् करती जा रही है। और यह लो, उसके अत्यन्त सुलम्बित भयावह सर्प-शरीरके अन्तरालमें एक सौम्य देवविग्रहकी अभिव्यक्ति हो गयी। पहले भी कालियमें देवोंके अनुरूप अगणित शक्तियाँ वर्तमान थीं, वह इच्छित रूप धारण कर सकता था। और आज तो वह श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंका पावन स्पर्श पाकर परम कृतार्थ हो चुका है। फिर इस समय अञ्जलि बाँधकर आराध्यदेवकी आराधना करनेका सुदुर्लभ अवसर वह क्यों छोड़ दे। इसीलिये अपने दुर्मद-दोषहारी श्रीहरि व्रजराजनन्दनके समक्ष कृताञ्जलि होकर वह अवस्थित हुआ है, उनका स्तवन करने जा रहा है—

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम्।
कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ५५)

सावधान भा छन एक बीते।
इंद्रिय प्रान भए सुखहीते॥
अति दुख लह्यौ, सिथिल सब गाता।
मंद क्रिया, मुख आव न बाता॥
दीरघ स्वास डारि बहु बारा।
जेन-तेन हिय साहस धारा॥
दीन जोरि जुग हाथ महीसा।
बोल्यौ हरि सन बचन अहीसा॥

× × ×

करि आइ कालिय प्रीति, गति मंद-मंद बिनीति।
प्रभु पाँइ मेले सीस, करिये कृपा जगदीस॥

कालिय कहने लगा—'नाथ! महामहेश्वर! हम जन्मसे ही अत्यन्त दुष्ट हैं। परपीड़ा हमारा जन्मसिद्ध स्वभाव है। तमका घन आवरण हमपर नित्य फैला रहता है। विवेकसे सर्वथा शून्य हम हैं, प्रभो! क्रोध हमारा चिरसङ्गी है। हमारी प्रतिशोधकी भावना कभी शान्त होती ही नहीं। क्या करें—किसीके लिये, जीवमात्रके लिये, अपने स्वभावका परित्याग अत्यन्त कठिन जो है, नाथ! और यही कारण है कि जीव अनेक प्रकारके दुरभिनिवेशोंमें रच-पच जाता है; बस तुम्हीं बचा सकते हो, सर्वेश्वर!—

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ५६)

हम निसर्ग तें खल अति घोरा।
तामस अधिक, क्रोध नहिं थोरा॥
नाथ! सुभाव दुसह सब काहू।
तजि न सकै कोउ, भलि मति जाहू॥
आग्रह असत करै सब कोई।
त्यागि न सकै कोऊ किन होई॥

'हे विश्वविधाता! इस स्थावर-जंगम सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत्की रचना तुमने ही की है। तुम्हीं सोचो, स्वामिन्! गुणोंके भेदसे यह विस्तार, नानाविध स्वभाव, देहशक्ति, इन्द्रियशक्ति, मातृशक्ति, पितृशक्ति, वासना, आकृति—इनसे विशिष्ट यह विविध वैचित्र्यमय विश्व तुमसे ही तो सृष्ट है! और तुम्हारी ही सृष्टिमें, तुमसे ही निर्मित हम सर्प भी हैं, सर्वेश्वर! जातिस्वभावसे ही हम अत्यन्त क्रोधी हैं; तुम्हारी मायासे नितान्त मोहित हैं। अब, भला, तुम्हारी कृपाके बिना, स्वयं अपनी शक्तिसे ही तुम्हारी दुस्त्यज मायाको हमारे लिये पार कर लेना कैसे सम्भव है भगवन्?

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम्।

नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥
वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ५७-५८)

नाथ! बिस्व यह गुन कृत कीन्हा।
जस गुन जासु, तासु तस चीन्हा॥
पुनि नाना बिधि जाति सुभाऊ।
बल बिक्रम आकार बनाऊ॥
जस जेहि जोनि, बीज जस जासू।
फल उपजै तैसैं तब तासू॥
हे भगवंत अनंत गोसाईं।
हम पुनि सर्प जाति दुखदाई॥
बिषधर, क्रूर, क्रोध नहिं थोरा।
किमि त्यागहिं निज प्रकृति कठोरा॥
तव माया मोहित हम स्वामी।
अति अतर्क पद कंज नमामी॥
माया दुस्तर नाथ! तव, सो तव सदा अधीन।
माया कृत चर-अचर सब, कैसी करैं प्रबीन॥

× × ×

रिस सर्प में अधिकाइ, तम जोनि, दुष्ट सुभाइ।
मद मोह कोह प्रबंध, फिरि हैं बिरज बिस अंध॥
इन में सदा मन दीन, तव भक्ति में नहिं लीन।
तुम दीनबंधु दयाल, मुहि रच्छ रच्छ क्रपाल॥

'तुमसे छिपा ही क्या है, नाथ! तुम सर्वज्ञ जो ठहरे, जगत्‌के समस्त प्राणियोंके सम्पूर्ण स्वभावको सदा जानते रहते हो। जगन्नियन्ता भी तुम्हीं हो, तुमसे ही तो जगत्‌के समस्त जीवोंके स्वभावोंका सृजन एवं नियन्त्रण होता है। मायाकृत बन्धनमें, तथा मायापाशसे मुक्तिदानमें भी तुम्हीं मुख्य हेतु हो, प्रभो! अब तुम स्वेच्छासे मेरे प्रति अनुग्रह तथा निग्रह—जो भी करना चाहो—वही करो, सर्वेश्वर! हमारे लिये तो तुम्हारी इच्छा ही परम कल्याणमय है, वही शिरोधार्य है, स्वामिन्! बस, आदेश करो, देव!—

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ५९)

तुम सर्वग्य, सुजान, जिमि कोउ पाल बबूर बन।
आँव न फरै निदान, तद्यपि हम आधीन तव॥
कारन-करन-ईस भगवंता।
सब जग के तुम एक, अनंता॥
निग्रह, अनुमोदन—दोउ नाथा।
सकल अहै प्रभु,! तव एक हाथा॥
आग्या देहु, नाथ! तुम जैसी।
हम करिहैं संतत प्रभु तैसी॥

इतना कहकर कालिय स्थिरदृष्टिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखने लगा। सचमुच अन्तस्तलसे ही वह व्रजेन्द्रनन्दनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहा है। तथा नीलसुन्दर भी तुरंत ही उसे अपना निर्णय सुना देते हैं। व्रजपुरवासियोंका वह चिर-परिचित मधुस्यन्दी स्वर ह्रदके वक्षःस्थलपर सर्वत्र गूँज उठता है, वे अतिशय प्रेमभरे कण्ठसे स्पष्ट कह रहे हैं—

नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६०)

'कालिय! देख, अब तुझे यहाँ इस ह्रदमें, व्रजपुरकी सीमामें, मेरे इस लीलाक्षेत्रमें निवास नहीं करना चाहिये। तनिक भी विलम्ब न करके तू आत्मीय कुटुम्ब—पुत्र-भार्या—इन सबके सहित यहाँसे समुद्रमें चला जा तथा जाकर अपने उस पूर्व वासस्थलमें ही बस जा। अब तो यमुना-जलका उपभोग व्रजकी गायें एवं व्रजपुरवासी ही करें!'

सुनि असि बचन, कृष्ण सुखकंदा।
बोले बचन सुखद नँदनंदा॥
इहाँ न तू अब बसहि फनीसा!
जाहि सीघ्र तूँ तट बारीसा॥
जमुना जल पीवैं नर-नारी।
धेनु-बत्सतर होहिं सुखारी॥
सुत-दारादिक कौं लै साथा।
जाहि बेगि अबहीं, अहिनाथा॥

× × ×

सुखसदन मोहन मदन मूरति बदन-ससि मुसक्याइ कैं।
करुना-अगार अपार सोभा दया उर में ल्याइ कैं॥
दुखहरन उर सीतल करन प्रभु बचन कहत सुनाइ कैं।
अहिराज! सकल समाज लै तुम बसहु जलनिधि जाइ कैं॥

नतमस्तक हुए कालियने व्रजेन्द्रनन्दनके इस आदेशको स्वीकार किया। किंतु उन नागवधुओंकी आँखें तो झर-झरकर बह चलीं। 'हाय रे! शत-सहस्र जन्मोंकी अभिलाषा पूर्ण तो हुई, आराध्यदेव श्रीकृष्णचन्द्र मिले अवश्य; पर उनकी लीलास्थलीका अब हमें परित्याग कर देना है!'—इस दुस्सह तापमें ही नाग-रमणियोंका हृदय द्रवित होकर बाहरकी ओर प्रवाहित होने लगता है, सामने अवस्थित नीलसुन्दरके उस श्यामल छबिसिन्धुमें ही विलीन होनेकी आशासे प्रसरित हो रहा है; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष दर्शनका यह अनिर्वचनीय सुदुर्लभ सौभाग्य फिर प्राप्त हो, न हो!

इधर इसी समय बाल्यलीलाविहारीने एक क्षणके लिये आकाशकी ओर देखा। उस अभिनव मुग्धताकी ओटसे झाँकती हुई अनन्त ऐश्वर्यकी छाया—जिसने अभी-अभी कालियको सागर लौट जानेका आदेश किया है—किंचित् और भी गाढ़ी हुई। अन्तरिक्षके वे गन्धर्व, सिद्ध, देव, चारण आदि सचकित होकर उन्हें देखने लगे। प्रतीत हुआ—मानो कालियके मिससे व्रजराजनन्दन उन अन्तरिक्षवासियोंको, सम्पूर्ण जगत्में विस्तारित कर देनेके लिये, एक सुन्दर संदेश-दान करने जा रहे हों! और सचमुच ही उन महामहेश्वरने अपनी असमोर्ध्व महिमाके एक तनिकसे अंशकी घोषणा स्वयं अपने श्रीमुखसे कर ही दी। उनके वे दृग्-सरोज अन्तरिक्षसे मुड़कर पुनः नागराजपर ही पीयूषकी वर्षा करने लगे तथा मेघगम्भीर स्वरमें उन्होंने कहा—

य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।
कीर्तयन्नुभयोः संध्योर्न युष्मद् भयमाप्नुयात्॥
योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६१-६२)

'कालिय! सुनो, जो व्यक्ति सायं-प्रातः तुम्हारे प्रति किये हुए मेरे अनुशासन-वाक्यको उच्चारण करते हुए मेरी इस लीलाका स्मरण करे, अथवा मेरी इस आज्ञाका या मेरे इस सम्पूर्ण चरित्रका स्मरण एवं कीर्तन करे, उसे सर्पोंसे भय न हो! देखो, यह ह्रद मेरा विहारस्थल बन चुका है। जो कोई इसमें विधिवत् स्नान करके, इस ह्रदके जलसे देव, ऋषि एवं पितृगणोंका तर्पण करेगा एवं तीर्थोपवासकी विधिसे उपवास कर मुझे स्मरण करता हुआ मेरी पूजा करेगा, वह समस्त पापोंसे पूर्णतया मुक्त हो जायगा।'

यह प्रसंग गावै जो सुनई।
तुम तें भय सो कबहुँ न लहई॥
एहिं सर जो मज्जन कोउ करिहै।
देव-पितर हित पिंड जु भरिहै॥
ब्रत करि मम सुमिरन अरु ध्याना।
जे करिहै तेहि पाप नसाना॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी यह परम मधुर कल्याणमयी वाणी कालियके कर्णरन्ध्रोंमें भी प्रविष्ट हो रही है; किंतु अब तो उसका भी हृदय भर आया है। अतीतके अगणित वर्षोंकी घटनाएँ, अपने बहिर्मुख जीवनका प्रवाह और अभी-अभी व्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा पाये हुए अनिर्वचनीय सौभाग्य-दानकी निराविल सुखानुभूति—दोनोंके अत्यन्त जीवंत प्रतिचित्र हृत्पटपर झलमल कर रहे हैं। पश्चात्तापकी दुस्सह व्यथा, परमानन्दका अपरिसीम उद्वेलन—दोनों क्रमशः, नहीं-नहीं, एक साथ ही उसके प्राणोंको अभिभूत कर रहे हैं। वह सोच रहा है—'इस महामलिन सर्पदेहमें अध्यस्त रहकर, इससे सम्बद्ध समस्त वस्तुओंमें अपने-परायेकी भावनासे सतत भावित रहकर न जाने कहाँ-से-कहाँ बहता रहा हूँ, अपनी इस तमोमयी जीवन-धारामें बहते हुए न जाने कितनी कोटि-कोटि नृशंस कर्मराशियोंका निर्माण मैंने किया है। फिर भी इन सामने अवस्थित करुणावरुणालय प्रभु व्रजराजनन्दनने मुझे अपने चरणसरोजोंकी शीतल शंतम छायाका दान किया ही! प्राणधारण सफल हो गया मेरा। पर हाय! यह हुआ उस अन्तिम मुहूर्तमें जब कि मैं, बस, तुरंत इस आगेके कुछ क्षणोंमें ही—स्वेच्छा या अनिच्छासे—मृत्युको वरण करने जा रहा हूँ, ह्रदकी सीमाके उस पार कालिय नामसे अभिहित इस शरीरका सदाके लिये अवसान होने जा रहा है! पक्षिराज गरुड प्रतीक्षा ही कर रहे होंगे मेरी! और यद्यपि इस विनश्वर तमोमय सर्प-शरीरकी तो सचमुच अब चिन्ता ही क्या है, मेरी एकमात्र निधि, इन मेरे आराध्यदेव श्रीकृष्णचन्द्रको

पा लेनेके अनन्तर अब क्या भय है; किंतु प्राणोंकी यह नवीन अभिलाषा तो हाय! अपूर्ण ही रह गयी! मेरा कर्मविपाक मुझे शरीर तो दे सकता है, पर ओह! श्रीकृष्णचरणसरोरुहसे स्पृष्ट हुए शरीरकी उपलब्धि मुझे कहाँ होगी? मेरे अनादि अज्ञान-तिमिरका आज सहसा अन्त हो जानेके उपरान्त इन मेरी भक्तिमती पत्नियोंके साथ, ऐसे पावन परिवारसे आवृत होकर, श्रीकृष्णचरणोंकी सेवा मैं आगे कहाँ किस जन्ममें कर पाऊँगा? आह! कदाचित् किसी भी मूल्यमें मैं इतना-सा और पा जाता—अपने इस शरीरको गरुडके मुखसे सुरक्षित अनुभव कर लेता! मेरे प्रभुके ही प्रिय पार्षद गरुडमें कृपालुता भर आती! मुझे कृपापूर्वक वे भी जीवन-दान दे देते। ह्रदकी सीमाका उल्लङ्घन करनेपर भी वे मेरा प्राण हनन न करते! फिर तो अवशिष्ट जीवनकी यह अन्तिम साध भी पूरी हो जाती; शेष आयुका प्रत्येक क्षण श्रीकृष्णचरणसेवामें व्यतीतकर अपना यह मनोरथ भी पा लेता; मुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक स्नेहदान करनेवाली मेरी इन पत्नियोंको चिरवाञ्छित वस्तुका दान करके इनके ऋणका भी किसी अंशमें परिशोध कर लेता; अबतक मेरी बहिर्मुखताको देख-देखकर निरन्तर व्यथित इनका हृदय, इनके अश्रुपूरित नेत्र शीतल हो जाते; मेरे साथ अवस्थित होकर श्रीकृष्ण-चरणोंमें प्रतिक्षण श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते रहनेकी इनकी लालसा पूर्ण हो जाती; हम सभी एक साथ क्षण-क्षणमें श्रीकृष्णचन्द्रके चारु-चरणोंमें न्योछावर होते रहते....! किंतु अब अवकाश नहीं; प्रभुने आज्ञा दे दी, बस, अब तो यहाँसे चलना है! देव! मेरे नाथ! हे परम कृपालो! भक्तवाञ्छाकल्पतरो! अशरणशरण! स्वामिन्! बस, इतनी कृपा हो—तुम्हारा यह कालिय, मृत्युपथका यह पथिक उस अन्तिम क्षणमें कहीं तुम्हें विस्मृत न हो जाय! जन्म-जन्मातरमें भी कभी, किसी कालमें भी, एक क्षणके लिये भी तुम्हारे दिये हुए इस अप्रतिम कृपादानके अधिकारसे वञ्चित न हो जाय! बस, इतनी-सी कृपा, हे करुणार्णव!!..........

कालियके नेत्रोंसे भी बिन्दु झरने लगे। पर व्रजेन्द्र-नन्दनकी वह वीणाविनिन्दित वाणी तुरंत कालियके कण-कणको झंकृत कर उठी। वे कहने लगे—

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पदलाञ्छितम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६३)

'कालिय! सुनो, जिनके भयसे तुम रमणक-द्वीपको छोड़कर वृन्दावनके इस ह्रदमें निवास कर रहे हो, वे गरुड अब, तुम्हारे मस्तकको मेरे पद-चिह्नोंसे चिह्नित देखकर अपने मुँहका ग्रास तुम्हें नहीं बनायेंगे।'

रमनक नामा दीपबर, तहाँ बसौ सुख पाइ।
जासु त्रास तैं इत बस्यौ, सो भय गयौ नसाइ॥
गरुड़ खाइ तो कँह नहिं कबहूँ।
तहाँ बसहु सुत परिजन सबहूँ॥

× × ×

मम चरन चिह्नित फन तिहारे, बिहगपति यह जानि कैं।
करि कैं सुहृदता, हितु करै, मन मित्रता कौं मानि कैं॥

प्रेमविह्वल होकर कालिय श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें ही गिर पड़ा। आँखोंसे अनर्गल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है; किंतु अब उसे नीलसुन्दरके पादपद्मोंकी पूजा भी तो करनी है। इसीलिये किसी अचिन्त्य शक्तिने ही उसे अनुप्राणित कर अग्रिम कृत्यकी प्रेरणा दी, अन्यथा उसमें तो ऐसी सामर्थ्य रही नहीं थी। जो हो, कालिय तुरंत यन्त्रप्रेरित-सा हुआ उठ बैठा, नीलसुन्दरके श्यामल सुकोमल कलेवरकी ओर उसकी दृष्टि गयी और हृदय विदीर्ण होने लगा—'हाय रे! इन्हीं मृदुल अङ्गोंको मैंने वेष्टित किया था, शतसहस्रदंशनसे क्षत-विक्षत करनेका अथक प्रयास किया था।' फिर तो कालिय मानो भूल-सा गया व्रजेन्द्रनन्दनके अपरिसीम ऐश्वर्यको; उसे बस, डँसे हुए उन-उन स्थलोंकी भावना होती और उसके प्राण हाहाकार करने लगते। सहसा झरते हुए नेत्रोंसे ही उसने अपनी पत्नियोंको कुछ संकेत किया। भक्तिरसकी लहरोंपर वे सब स्वयं बह रही थीं। इसीलिये पतिके रसमय प्राणोंका संवेदन उनमें संकेतमात्रसे ही व्याप्त हो गया। वे दौड़ीं, नहीं-नहीं, वहीं—न जाने कैसे—कालियके कोषागारकी सम्पूर्ण सम्पत्ति तत्क्षण उपस्थित हो गयी। कालियने, उसकी पत्नियोंने नीलसुन्दरको सर्वप्रथम एक परम दिव्य आसनपर पधराया; फिर दिव्यातिदिव्य मृगमद, कुङ्कुम, चन्दन

आदिसे उनके समस्त अङ्गोंको विलेपित किया—मानो उनके प्राण अत्यन्त आकुल हो उठे हों इस विलेपनके द्वारा सबसे पहले उन दंशित स्थलोंकी वेदना हर लेनेके लिये! इसके अनन्तर परम दिव्य पीताम्बर धारण कराया। पश्चात् वहीं नाग एवं नागवधुओंके पार्श्वदेशमें रंग-बिरंगे विविध सुरभित कुसुमोंकी राशि एकत्र हो गयी; उनके स्पर्शमात्रसे ही अतिशय सुन्दर पुष्पमालाएँ गुम्फित हो गयीं और उन सबने व्रजेन्द्रनन्दनको एक-एक सौरभमय पुष्पमाला धारण करायी। अब पद्मराग आदि मणियोंका शृङ्गार धराया तथा अमूल्य अलंकारोंसे श्रीअङ्गोंको अलंकृत किया। फिरसे अतिशय शोभामय एक कमलमाला समर्पित की। इसीके साथ क्षणभरमें ही अर्चनाके कितने उपचार अर्पित हुए—यह गणना सम्भव ही नहीं है वहाँ। बस, उनके भावोंकी ऊर्मियाँ जिन-जिन उपचारोंका सृजन कर रही हैं, वे ही मूर्त हो जा रहे हैं और उनसे ही व्रजेन्द्रकुलचन्द्रकी अर्चना सम्पन्न हो रही है। और सच तो यह है कि महामहेश्वरके वे चिदानन्दस्वरूपभूत अलंकार आभूषण आदि ही—जो बाल्यावेश-रसके अनुरूप न होनेके कारण तिरोहित हैं—आविर्भूत होकर उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श लेने आये हैं। इसीलिये तो नित्य कौस्तुभ भी आज उनकी ग्रीवाको, वक्षःस्थलको अलंकृत करने आया है—

तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम्॥
दिव्याम्बरस्त्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६४-६५)

पुनि सादर जुत बिबिध प्रकारा।
प्रभुहि पूजि कीन्हौ सतकारा॥
दिब्य बसन, मनिगन, सुभ माला।
दिब्य गंध सब सौरभ साला॥
दिब्य कंज स्त्रज भूषन आनी।
अरपेउ प्रभु कहँ, अति सुख मानी॥

अस्तु, इस प्रकार जगदीश्वरकी पूजा सम्पन्न हुई; कालियने श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त की। अनुरागभरे हृदयसे उसने देवाधिदेवकी परिक्रमा की; फिर अनेक वन्दन समर्पित किये और रमणक चले जानेकी अनुमति ली—

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम्।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६६)

एहि बिधि प्रभुहि प्रसन्न कराई।
पुनि अति बिनय कर्‌यौ, मन लाई॥
आयसु माँगि प्रदच्छिन कीन्हा।
पुनि निज सिर हरिचरन सु दीन्हा॥

हृदके तटपर अवस्थित व्रजपुरवासी देख रहे हैं; अन्तरिक्षचारी देवगण देख रहे हैं—कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें एक वेगपूर्ण स्पन्दन हो रहा है, नहीं-नहीं, पत्नी-पुत्र-बन्धु-बान्धवके साथ कालिय यमुनाप्रवाहके मार्गसे चला जा रहा है; आगे सुरसरिकी धाराका अनुसरण करते हुए समुद्रके रमणक द्वीपमें चले जानेके उद्देश्यसे उसने इस जलपथका ही आश्रय लिया है—

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह।

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६७)

सुत कलत्र मिलि कैं एक साथा। गए द्वीप रमनक नर नाथा॥

और तपनतनया श्रीयमुनाके हृदका वही जलप्रवाह तत्क्षण निर्विष ही नहीं अपितु सुधा-मधुर बन गया है—

तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६७)

ता दिन ते रबिसुता सुहावनि।
गत-बिष भई सुभग अति पावनि॥

अब विविध शृङ्गारसे सुशोभित श्रीकृष्णचन्द्र तो तटकी ओर अग्रसर हो रहे हैं तथा अन्तरिक्ष एवं वृन्दाकाननका कण-कण देवोंके जयघोषसे नादित हो रहा है—

जय-जय धुनि अमरनि नभ कीन्हौ।
धन्य-धन्य जगदीस गुसाईं अपनौ करि अहि लीन्हौ॥

महाकाय सर्पके चंगुलसे विजयी होकर निकले हुए श्रीकृष्णका क्रमशः सखाओं, मैया रोहिणीजी, बाबा, अन्य वात्सल्यवती गोपियों तथा बलरामजीद्वारा आलिङ्गन; फिर गौओं, वृषभों एवं वत्सोंसे गले लगकर मिलना; सम्पूर्ण व्रजवासियोंका रात्रिमें यमुना-तटपर ही विश्राम

श्रीकृष्णचन्द्र ह्रदकी उस गभीर जल-राशिपर इस प्रकार चरण रखते हुए बाहर निकल आये, जैसे वह स्थल हो और तटपर आते ही श्रीअङ्गोंकी अप्रतिम शोभासे ह्रदका सम्पूर्ण परिसर उद्भासित हो उठा। दिव्य माल्य, चन्दन एवं वस्त्रकी शोभा, अमूल्य रत्नाभरणोंकी छटा, स्वर्णालंकारकी वह चमक-दमक—सब कुछ अनोखी थी।

कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम्।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १३)

तब नँद-नंदन दह तैं निकसे।
मुसकत नवल कमल-से बिकसे॥
अहिपति निज कर पूजे स्याम।
अद्भुत पट, अद्भुत मनि-दाम॥
बन्यौ जु बदन सु को छबि गनौं।
दीनी ओप चंद मधि मनौं॥

× × ×

इत जमुन-दह तैं कढ़े सुंदर स्याम घन छबि छाजहीं।
नव रतन भूषन तन अलंकृत किरन जगमग राजहीं॥

व्रजपुरवासियोंकी दृष्टि तो सदासे उस ओर केन्द्रित थी ही; किंतु अब मानो मृत देहमें सचमुच ही प्राणोंका संचार हो गया हो, इस प्रकार उनकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हो उठीं। उनके कोटिप्राणसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्र उनके सामने पुनः अवस्थित हैं, यह अनुभव करते ही उनका कण-कण परमानन्दसे पूर्ण हो उठा। सबसे पहले सुबल एवं श्रीदाम—दोनों ही विद्युत्-वेगसे दौड़कर नीलसुन्दरके समीप आये। दोनोंने एक ही साथ उन्हें अपने भुजपाशमें भर लिया। इसके अनन्तर वे असंख्य गोपबालक अपने प्राणसखासे मिलने आये। प्राकृत जगत्में तो यह सम्भव नहीं, पर वहाँ तो व्रजेन्द्रनन्दनने एक साथ प्रत्येक सखाका ही प्रेमालिङ्गन स्वीकार कर लिया। स्नेहके उस स्रोतमें श्रीकृष्णचन्द्र एवं सखा डूबने-उतराने लगे, कुछ क्षणके लिये सचमुच ही सुध-बुध भूल गये—

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १४)

देखि कृष्न कहँ सब ब्रजबासी।
हरखि उठे लहि सुख की रासी॥
प्रान पाइ इंद्रीगन जैसैं।
सुखित भए सब एहि बिधि तैसैं॥
गोपन कहँ आनंद अपारा।
मिले परस्पर बारहिं बारा॥

इतनेमें जननी यशोदा आयीं। अघटघटनापटीयसी योगमायाने उनके लिये भी स्थान बनाया। सखाओंके भुजपाशसे नीलसुन्दर सहसा अनावृत हो गये। जननीको अपनी प्राणनिधि अपने सामने अत्यन्त निकटमें ही दीख गयी, किंतु मैया एवं मैयाके लालका वह मिलन—ओह! वाग्वादिनीमें कहाँ सामर्थ्य है कि चित्रित कर दें! केवल उसकी छायामात्र—सो भी न जाने कितने कालके अनन्तर—इतनी-सी झंकृत हो सकी—

मन संग हिय अगवानि करि जननी लए तट आइ कैं।
पय स्त्रवत, आँसू ढरत अंक गुबिंद भेंटे धाइ कैं॥

× × ×

लीन्हौ जननि कंठ लगाइ।
अंग पुलकित, रोम गदगद, सुखद आँसु बहाइ॥

अब श्रीरोहिणीजीने नीलसुन्दरको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया—

लखि अतुल-छबि प्यारे ललन, उर उरकि लागी रोहिनी।

व्रजेश्वर अबतक मानो प्रतीक्षा-सी कर रहे थे। बालकोंको, व्रजरानीको, श्रीरोहिणीको ही प्रथम अधिकार है नीलमणिको अपने वक्षःस्थलपर धारण करनेका—सुप्त चेतनाकी यह भावना उन्हें रोके हुए थी। पर उनका मिलन तो हो चुका। इसीलिये अब धैर्यका बाँध टूटा। परम शीलवान् व्रजेन्द्र प्रेमजनित उत्कण्ठासे अतिशय चञ्चल हो उठे। उनकी गम्भीरता नष्ट हो गयी। विलम्ब असह्य हो गया। व्रजपुरन्ध्रियोंकी अपार भीड़का भी जैसे उन्हें तनिक भान न रहा हो, ऐसे वे उस स्त्री-समूहमें प्रविष्ट हो गये और श्रीकृष्णचन्द्रको अपने अङ्कमें भर लिया—

ततः प्रेमौत्कण्ठ्यचुलुकितगाम्भीर्यो विलम्बासहिष्णुः स्त्रीसम्मर्दमध्य एव प्रविश्य नन्दः।

(सारार्थदर्शिनी)

गहबर गरे उर कहँ भरे, कहि नंद कछुव न आवहीं।
धरि अंक सुत कौं अंग लागे, रंक ज्यौं निधि पावहीं॥

फिर अवसर मिला वात्सल्यवती गोपियोंको। सबने ही श्रीकृष्णचन्द्रको अपने हृदयपर धारणकर प्राण शीतल किये। तथा इसके अनन्तर मिलन हुआ उपनन्द आदिका एवं तरुण व्रजगोपोंका। श्रीकृष्णचन्द्र उनके कण्ठसे लगकर, उनकी ग्रीवामें अपनी भुजाएँ डालकर झूलने लगे—

ततोऽन्या गोप्यो वत्सला गोपाश्चोपनन्दादयः।

(सारार्थदर्शिनी)

और वे तरुणी गोपसुन्दरियाँ, गोपकुमारिकाएँ—व्रजेन्द्रनन्दनको यद्यपि अपने वक्षःस्थलपर प्रत्यक्षरूपसे धारण न कर सकीं, फिर भी अपने दृगञ्चलके पथसे उनका मानस-मिलन संघटित हुआ ही; उनकी इन्द्रियोंमें भी सामयिक शक्तिका संचार हुआ; उनके मनोरथ भी पूर्ण हुए। मृत्युके उस पारसे वे भी मानो लौट आयीं—

पूर्वरागवत्यो गोप्यश्च दूरतो लोचनाञ्चलीभिरेव समेत्य परिष्वङ्गादिभिः संगतीभूय लब्धचेष्टा लब्धवाञ्छिता मृता इव जीवन्त्यो बभूवुः।

(सारार्थदर्शिनी)

इस प्रकार व्रजपुरवासी—व्रजेन्द्रगेहिनी, श्रीरोहिणी, व्रजेश्वर, गोपिकाएँ, गोप, गोपतरुणियाँ, गोपकुमारिकाएँ—नीलसुन्दरसे यथायोग्य मिलकर परमानन्दमें निमग्न हैं। सबका मनोरथ पूर्ण हो गया है। आनन्द-सिन्धुकी लहरें सबको आत्मसात् कर रही हैं—

यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १५)

सुख-पयोधि पय प्रेम कौ उमगि चल्यौ चहुँ ओर।
प्रीति-लहरि लखि-लखि बढ़तु राकारमन किसोर॥

अबतक रोहिणीनन्दन श्रीबलराम दूर अवस्थित रहकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए सबके मिलन-सुखका आनन्द ले रहे थे, किंतु अग्रज-अनुजका मिलन भी तो अनिवार्य है। इसीलिये दाऊ भैया भी दौड़े ही और लपककर अनुजको वक्षःस्थलपर धारण कर लिया। अवश्य ही दाऊ भैयाके नेत्रोंसे अश्रु ढलकनेपर भी मुख-कमलपर एक दिव्य हास्य भरा है, वे हँस रहे हैं। वे क्यों न हँसें, अपने भाईके अनन्त ऐश्वर्यसे वे चिर-परिचित जो ठहरे—

रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्।

(श्रीमद्भा० १०। १७। १६)

मिलि बलदेव हँसे मुसुकाई।
जानत भ्रात-चरित-समुदाई॥

किंतु दूसरे ही क्षण बाल्यलीलारसका उनमें भी आवेश हुए बिना न रहा। रोहिणीनन्दनका वह नित्यसिद्ध

ज्ञान, अपने अनुजके अपरिसीम ऐश्वर्यकी अनुभूति स्नेहरसकी उत्ताल तरङ्गोंमें सहसा विलीन हो गयी। और यह लो, वे नीलसुन्दरको अपने क्रोडमें धारण कर बारंबार देखने लगते हैं—'कहीं दुष्ट कालियके द्वारा उन मृदुल अङ्गोंमें कोई क्षत तो नहीं हो गया है!'—

प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य पुनः पुनरुदैक्षत।

अग्रजसे मिल लेनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टि उस असंख्य धेनुराशिकी ओर जाती है। वे गायें, वृषभ, वत्स अभी भी चित्रलिखे-से हुए निष्पन्द मुग्ध-से अवस्थित हैं, अपलक दृष्टिसे उनकी ओर ही देख रहे हैं। सदा ही वे गायें श्रीकृष्णचन्द्रको देखते ही उनकी ओर दौड़ पड़तीं। पर आज वे स्वयं चलकर नहीं आयीं! कारण स्पष्ट है—वे गोपगोपी-समूहके श्रीकृष्णमिलनमें बाधक बनना नहीं चाहतीं। पशुयोनिमें होनेपर भी उनमें पशुताका अभाव है। वे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिय गायें जो ठहरीं। अस्तु, अब नीलसुन्दर उनकी ओर ही दौड़ पड़ते हैं, जाकर उनके ग्रीवा-देशमें अपनी भुजाएँ डाल देते हैं। एक साथ प्रत्येक गौ, वृषभ, वत्सको ही श्रीकृष्णचन्द्रका परम दिव्य स्पर्श प्राप्त हो जाता है। उस समय उन मूक पशुओंकी दशा—ओह! कोई कैसे बताये! वे गायें अपनी सजल आँखोंसे श्रीकृष्णचन्द्रको मानो पी जाना चाह रही हों, अपने प्रफुल्ल नासापुटोंसे उनके प्रत्येक अङ्गको ही सूँघ रही हों, अपनी रसज्ञा रसनाके द्वारा प्रेमातिरेकवश उन्हें चाट लेना चाह रही हों; प्रेमविह्वलताके कारण मधुर अस्फुट हाम्बारव करती हुई मानो वे नीलसुन्दरका कुशल जान लेना चाह रही हों—'मेरे जीवनाधार! कालियके द्वारा तुम्हें कहीं चोट तो नहीं आयी!'—

धेनुभिरपि सास्रैरेव नयनपुटैः पीयमान इव प्रफुल्लाभिर्घोणाभिर्घ्रायमाण इव रसज्ञाभी रसज्ञाभी रभसेन लिह्यमान इव कलगद्गदेन हम्बारवेण सप्रणयमनामयं पृच्छ्यमान इव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र उस असंख्य धेनुराशिसे मिल रहे हैं, उस समय उनके चरणसरोरुह ह्रदकी उस जली हुई तट-भूमिको, तृणरहित स्थलको स्वाभाविक अपना पावन स्पर्श-दान करते जा रहे हैं और इसका यह तत्क्षण परिणाम हो रहा है—अद्भुत हरितिमा वहाँ व्यक्त होने लगती है। वह जला हुआ स्थल-देश मनोहर तृण-संकुलित श्यामल बन जाता है। इतना ही नहीं, ह्रदकी सीमासे पारके जो वृक्ष विषकी ज्वालासे झुलस गये थे, वे भी नीलसुन्दरकी दृष्टि पड़ते ही तत्क्षण पल्लवित, पुष्पित हो गये—

नगा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम्।

(श्रीमद्भा० १०। १७। १६)

धेनु बृच्छ बछरा ब्रष सारे।
लहे परम आनँद अति भारे॥

इसी समय अपने परिवारको साथ लिये व्रजवासी ब्राह्मण एवं गोपकुल-पुरोहितगण व्रजेन्द्रके समीप आये। ये सभी आये तो वहाँ पहले ही थे। जब सम्पूर्ण व्रज अशकुनका अनुभव कर कालियह्रदकी ओर भाग छूटा था तो ये भी उनके पीछे-पीछे दौड़ आये थे, किंतु आकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे। अब पुनः व्रजेन्द्रनन्दनके दर्शनसे ये भी अतिशय प्रफुल्लित हो उठे एवं व्रजेशसे कहने लगे—'नन्दराय! सुनो, तुम्हारे एवं हम सबके भाग्यसे ही तुम्हारा पुत्र श्रीकृष्ण अक्षत बचकर चला आया, कालिय-जैसे महाविषधर नागसे ग्रस्त होनेपर भी यह छूट आया। एकमात्र श्रीनारायणकी अनुकम्पासे ही यह सौभाग्य हम सबोंके लिये सम्भव हुआ है व्रजेश! शीघ्र ही श्रीनारायणकी अर्चनाके रूपमें महामहोत्सव आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दानसे परितृप्त कर दो।' तथा व्रजेशने भी अतिशय प्रसन्नताका अनुभव करते हुए तत्क्षण इस आदेशका पालन किया। अपरिमित स्वर्णराशि, अगणित गो-दानका संकल्प व्रजेन्द्रने अविलम्ब ग्रहण कर लिया। संकल्पपाठके समय व्रजेश्वरकी आँखें बरस रही हैं एवं मनका प्रत्येक

अंश इस भावनामें निमग्न है—'मेरे प्राणधन नीलमणिको ऐसी कोई विपत्ति छूतक न सके, सदा ही मेरा लाल इन सबसे सर्वथा अक्षत बच निकले।'

नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥
देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे।
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १७-१८)

आए ब्रज के द्विज अनुरागे।
नंद सौं कहन सबै यौं लागे॥

× × ×

बोले भूसुर आइ, अहो नंद तव भाग्य बड़।
पर्‍यौ सर्प-मुख जाइ, दैव बचायौ सुअन तव॥
देहु दान द्विज कौं सनमानी।
अहि तैं छुट्यौ तनय निज जानी॥
सुनि कै नंद बहुत सुख माना।
दिए धेनु, कंचन, मनि नाना॥

× × ×

जु कछु जन्म-उत्सव में कीनौं।
ब्रजपति तातैं दूनौ दीनौ॥

अस्तु, सबका मिलन सम्पन्न होनेके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र पुनः जननीके पास ही चले आये। जननीने भी अपने लालको हृदयसे लगाकर क्रोडमें धारण किया। महाभाग्यवती कृष्णवत्सला मैया यशोदा अपने विनष्टप्राय पुत्र नीलमणिको फिरसे हृदयपर धारण कर सकीं—बस, इससे अधिक उन्हें और कुछ नहीं चाहिये; किंतु उनके आँसू अभी भी थम नहीं रहे हैं। नीलसुन्दरको गोदमें लिये मूर्ति-सी बनी वे बैठी हैं तथा नेत्रोंसे निरर्गल अश्रुप्रवाह बहता जा रहा है—

यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १९)

जसुमति परम भाग्य निधि भूपा।
नष्ट प्राय सुत लह्यौ अनूपा॥
अंक राखि, पुनि-पुनि हिय लाई।
जलज-नयन जल-धार बहाई॥

जननीका यह करुणभाव सबको आर्द्र कर देता है। पुनः सबकी आँखें झरने लगती हैं—

चलत सबन के नैनन नीर।
जनु निकसी जल ह्वै उर पीर॥

बीच-बीचमें व्रजेन्द्रगेहिनी अस्फुट कण्ठसे बार-बार इतना-सा कह उठती हैं—

मैं तुमहिं बरजति रही हरि, जमुन-तट जनि जाइ॥
कह्यौ मेरौ कान्ह कियौ नहिं, गयौ खेलन धाइ॥

श्रीकृष्णचन्द्र मैयाके अङ्कमें विराजित रहकर मन्द-मन्द हँस रहे हैं। अचानक उनके चञ्चल नेत्र किंचित् और भी चञ्चल हो उठे। ताली पीटकर, हँसकर उन्होंने व्रजेशका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और पुकार उठे—'बाबा! बाबा! विलम्ब मत करो, वे कमलपुष्प कंसको भेजने हैं न; शीघ्र भेज दो!'—

तुरत कमल अब देहु पठाइ।
सुनहु तात कछु बिलँब न कीजै, कंस चढ़ै ब्रज ऊपर धाइ॥

फिर तो व्रजेश्वर चौंक उठे, व्रजरानीका वह करुणभाव शिथिल हो गया। अन्य समस्त व्रजवासियोंका ध्यान भी उधर ही जा लगा। ऐसा इसीलिये हुआ कि व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी योजनाके अनुसार ही तो लीलाप्रवाह अग्रसर होगा। उसी योजनासे अबतक सब कुछ हुआ है, आगे अनन्त कालतक होता रहेगा। व्रजेश्वरके समीप सम्राट् कंसका दूत आया था, कालियह्रदके कमलपुष्प सूर्यास्तसे पूर्व सम्राट्के समीप प्रेषित कर देनेकी आज्ञा हुई थी, व्रजेश्वर-व्रजवासी चिन्तामें निमग्न थे तथा उससे पूर्व रात्रिमें श्रीकृष्णचन्द्रने एक स्वप्न देखा था। मैया स्वप्न सुनकर आकुल हो गयी थीं। इन सबकी सर्वथा विस्मृति जिस योजनाके अनुसार हो गयी थी, उसीके अनुसार अब समयपर पुनः स्मृति

भी उदय हो आयी है। जो हो, व्रजेश्वर तो नीलसुन्दरकी बात सुनते ही अग्रिम व्यवस्थाकी बात सोचने लग गये तथा बाल्यलीलाविहारी जननीकी ठोढ़ी छूकर अतिशय मधुकण्ठसे उन्हें प्रबोध देने बैठे—

कंस कमल मँगाइ पठए, तातैं गयउँ डराइ।
मैं कह्यौ निसि सुपग तोसौं, प्रगट भयौ सु आइ॥
ग्वाल सँग मिलि गेंद खेलत, आयौ जमुना तीर।
काहु लै मोहिं डारि दीन्हौ, कालिया-दह-नीर॥
यह कही तब उरग मो सौं, किन पठायौ तोहि।
मैं कही, नृप कंस पठयौ, कमल कारन मोहि॥
यह सुनत डरि कमल दीन्हौ, लियौ पीठि चढ़ाइ।
सूर यह कहि जननि बोधी, देख्यौ तुमहीं आइ॥

जय हो बाल्यलीलारसमत्त प्रभु व्रजेन्द्रनन्दनकी! प्रभुकी शिशुसुलभ परम रसमय सरल वचनावलीकी!!

और वह देखो—वहाँ कालियह्रदकी ओर! जहाँ उस सुविस्तीर्ण ह्रदके जलपर एक तृणका चिह्नतक उपलब्ध न था, वहीं सर्वत्र मानो कमलपुष्पोंका ही आस्तरण आस्तृत हो रहा है, राशि-राशि विकसित पद्मोंसे सम्पूर्ण ह्रद आच्छादित हो रहा है! इतना ही नहीं, ह्रदके स्थान-स्थानपर एकत्र किये हुए पद्मपुष्पोंका अंबार लग रहा है।

दृश्य देखकर व्रजेश्वरका रोम-रोम खिल उठा। व्रजपुरवासियोंके आनन्दका पार नहीं रहा। आदेशभरकी देर थी। सभी सेवक कंस-सम्राट्के लिये आवश्यक उपहार-सामग्री एकत्र करनेमें जुट पड़े। व्रजसे शकटोंका समूह आया। भेंटकी अन्य सामग्रियाँ आयीं। देखते-देखते ही तीन कोटि पद्मपुष्प सहस्र शकटोंमें पूरित कर दिये गये और गोपरक्षकोंके संरक्षणमें शकट मधुवनकी ओर चल पड़े—

सहस सकट भरि कमल चलाए।
अपनी समसरि और गोप जे, तिन कौं साथ पठाए॥
और बहुत काँवरि दधि-माखन, अहिरनि काँधैं जोरि।

व्रजेश्वरने सम्राट् कंसके लिये पत्र भी दिया एवं कुछ मौखिक संदेश भी दिये—

नृप कें हाथ पत्र यह दीजौ, बिनती कीजौ मोरि॥
मेरौ नाम नृपति सौं लीजौ, स्याम कमल लै आए।
कोटि कमल आपुन नृप माँगे, तीनि कोटि हैं पाए॥
नृपति हमहिं अपनौं करि जानौ, तुव लायक हम नाहिं।
सूरदास कहियौ नृप आगैं, तुमहिं छाँड़ि कहँ जाहिं॥

इधर भुवनभास्करका रथ अस्ताचलको स्पर्श करने लगा है। व्रजेन्द्र किंचित् चिन्तित-से हो गये—'इतने बड़े समुदायके साथ व्रजमें पहुँचते-पहुँचते अर्द्ध निशा हो जानेमें संदेह ही क्या है!' किंतु नीलसुन्दरने अपने तातकी यह चिन्ता हर ली, अतिशय सुन्दर समाधान कर दिया—

ब्रजबासिनि सौं कहत कन्हाई।
जमुना-तीर आजु सुख कीजै, यह मेरें मन आई॥
गोपनि सुनि अति हरष बढ़ायौ, सुख पायौ नँदराइ।
घर-घर तैं पकवान मगायौ, ग्वारनि दियौ पठाइ॥
दधि-माखन षट-रसके भोजन, तुरतहिं ल्याए जाइ।
मातु-पिता-गोपी-ग्वालनि कौं, सूरज प्रभु सुखदाइ॥

यमुनातटपर श्रीकृष्णको बीचमें रखकर सोये हुए समस्त व्रजवासियों एवं गायोंको घेरकर दावाग्निके रूपमें कंसके भेजे हुए दावानल नामक राक्षसकी मायाका आधी रातके समय प्रकट होना और सबका भगवान् नारायणकी भावनासे श्रीकृष्ण-बलरामको रक्षाके लिये पुकारना तथा उनका जगते ही फूँकमात्रसे दावाग्निको बात-की-बातमें बुझा देना

रजनीकी वह 'साँय-साँय' ध्वनि कंसको सहस्र-सहस्र सर्पोंके श्वासोच्छ्वास-सी लग रही है। प्रकोष्ठमें एकाकी वह उन आये हुए कमल-पुष्पोंकी चिन्तामें ही निमग्न है; वे उसे असंख्य विषधर नाग-से प्रतीत हो रहे हैं तथा रह-रहकर गूँज उठता है उसके कर्णरन्ध्रोंमें व्रजेन्द्रनन्दनका वह गुप्त रहस्यमय संदेश, जिसे उन्होंने अपने बाबासे, मैयासे, व्रजपुरवासियोंसे—सबसे छिपाकर हँसते हुए, कमल-भारवाहक गोपोंके प्रमुखको दिया था और उस गोपने भी उसे ज्यों-का-त्यों निवेदित कर दिया था। वह इनपर जितना अधिक विचार करता, उतना ही उसका उद्वेग बढ़ता; प्राण उसी अनुपातसे सत्त्वहीन होने लगे थे और शरीरका भान भी विलुप्तप्राय हो चला था—

कमल सकटनि भरे ब्याल मानौ।
स्याम के बचन सुनि, मनहिं मन रह्यौ गुनि,
काठ ज्यौं गयौ घुनि, तनु भुलानौ॥

शूलकी भी इतनी व्यथा नहीं, जितनी इन पंक्तियोंमें थी—

यह कह्यौ स्याम-बलराम, लीजौ नाम,
राज कौ काज यह हमहिं कीन्हौ।
और सब गोप आवत-जात नृप-बात कहत,
सब सूर मोहि नहीं चीन्हौ॥

और इसके उत्तरमें कंसकी बुद्धि बारंबार एक ही निष्कर्षके पास जा पहुँचती—

यासौं मेरौ नहीं उबार।
मोहि मारि, मारै परिवार॥
दैत्य गए, ते बहुरि न आए।
काली तैं ये क्यौं बचि पाए॥
ताही पर धरि कमल लदाए।
सहस सकट भरि ब्याल पठाए॥
एक ब्याल मैं उनहिं बताए।
कोटि ब्याल मम सदन चलाए॥

घड़ीभर पूर्व अपना समस्त साहस, सम्पूर्ण शक्ति बटोरकर, हृदयके दुःखको छिपाते हुए उसने पुष्प लानेवाले गोपोंको आदरके साथ विदा अवश्य किया था, व्रजेशके प्रति भी सम्मानकी वस्तुएँ प्रेषित कीं, मिथ्या प्रेम-संदेश भी भेजा था—

हृदय दुख, मुख हलबली करि, दिए ब्रजहिं पठाइ।
नंद कौं सिरपाव दीन्हौ, गोप सब पहिराइ॥
यह कह्यौ बलराम-स्यामहि देखिहौं, दोउ भाइ।
अतिहिं पुरुषारथ कियौ उन, कमल दहके ल्याइ॥

पर अब उसका धैर्य छूट गया है; क्योंकि असम्भव बात घटित हो गयी है, कालियसे भी नन्दनन्दन बच ही आये!—

भयौ बेहाल, नँदलाल कें ख्याल इहिं,
उरग तैं बाँचि फिरि ब्रजहिं आयौ।

इसी समय अचानक कोष्ठकी नीरवता भङ्ग हुई।

द्वारीने सम्राट्का अभिवादन किया। पश्चात् राक्षसदूतने संवाद बताया—'देव! नवीनतम सूचना यह है—व्रजराज, व्रजराजतनय, समस्त व्रजपुरवासी—सभी यमुनातटपर ही आज विश्राम कर रहे हैं। सूर्यास्त हो जानेके कारण गोपपुरीमें नहीं लौटे!'

और इतनेमें संयोगवश ठीक अवसरपर वहीं आ पहुँचा वह दावानल नामसे अभिहित महामायावी दानव; सो भी अकेला नहीं, सपरिकर!

फिर तो मधुवनका वह अतिशय विषण्ण राजा, अभी-अभी मृतप्राय-सा प्रतीत होनेवाला वह कंस हुंकार कर उठा। उस समय उसकी आँखोंमें स्पष्ट व्यक्त हुई एक विचित्र-सी नृशंस उत्फुल्लता राक्षस सामन्तोंके लिये दर्शनीय वस्तु थी। महाकर्कश स्वरमें अधिपतिका आदेश भी सबने तुरंत ही सुन लिया—

भवन्तस्तत्र प्रविशन्तः समन्ततः प्रबलतया ज्वलनं प्रज्वलनमाचरन्तः स्वयमन्तर्धानमाचरन्तु।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'आप सभी उसी वनमें प्रवेश करते हुए, चारों ओरसे अत्यन्त प्रबलरूपमें अग्निज्वालाकी राशि—महान् राशि धधकाते चले जायँ और फिर स्वयं अन्तर्धान हो जायँ!'

विशेषतः दावानल नामक दैत्यके लिये यह आदेश अट्टहासके साथ इन शब्दोंमें पुनः दुहरा दिया गया—

कह्यौ दावानलहि, देखौं तेरे बलहि,
भस्म करि ब्रज पलहिं, कहि पठायौ।

अब क्या कहना है दावानलके कण-कणसे फूटते हुए अभिमानकी लपटोंका!—

चल्यौ रिस पाइ अतुराइ तब धाइ कै,
ब्रज-जननि बन सहित जारि आऊँ।
नृपति के लै पान, मन कियौ अभिमान,
करत अनुमान चहुँ पास धाऊँ॥
बृंदाबन आदि, ब्रज आदि, गोकुल आदि,
आदि बुन्यादि सब अहिर जारौं।
चल्यौ मग जात, कहि बात, इतरात अति,
सूर प्रभु सहित संघारि डारौं॥

इधर तपन-तनया श्रीयमुनाके शान्त तटपर व्रजेश्वर, व्रजरानी, रोहिणी, व्रजराजकी समस्त प्रजा एवं उनके प्राण-सर्वस्व राम-श्याम तन्द्रित हो चुके हैं। ह्रदसे कुछ दूर हटकर अतिशय मनोहर मण्डलोंकी रचना कर दी गयी है। श्रीकृष्णचन्द्रको मध्यमें विराजित करके उनके चारों ओर, उन्हें वेष्टित करते हुए व्रजराज आदि अवस्थित हैं। कहीं तो सखाओंका दल है, कहीं व्रजेश्वरी आदि विराजित हैं, कहीं अपनी माताओंके निकट कुमारिकाएँ हैं और कहीं सासके समीप गोपवधुएँ। यह प्रथम मण्डल है—

तदेवं श्रीकृष्णं मध्यमध्यवस्थाप्य तमभितोऽभितो व्रजराजादयः क्वचन सखायः क्वचन व्रजेश्वरीप्रभृतयः। क्वचन मातृनिकटस्थाः कुमार्य्यः क्वचन श्वश्रूनिकटस्था वध्वश्च।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस मण्डलसे बाहर चारों ओर गोपसुन्दरियोंके पति—युवक गोपसमूहोंको स्थान मिला है। यह दूसरा मण्डल हुआ। तथा इनके चारों ओर तृतीय मण्डलमें धनुर्धर गोपोंकी टोलियाँ विश्राम कर रही हैं—

परितस्तद्बहिरपि चापरास्तद्बहिरपि चापराः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इनसे बाहर चतुर्थ मण्डलमें धेनु-समूह है एवं इन गायोंको परिवेष्टित करते हुए, पाँचवें मण्डलमें महाशौर्यशाली, विविध-अस्त्रधारी गोपगण अवस्थित हैं—

तद्बहिरपि धेनवः सविधे नवः स विविधास्त्रधारिगणो यासाम्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पहले श्रीकृष्णविरहका तीव्र ताप एवं पश्चात् श्रीकृष्णमिलनका महान् आनन्द—व्रजवासियोंके लिये आजका दिन विचित्र-सा बीता था। इस प्रकार क्षुधा-तृषाकी निवृत्तिके लिये दिनमें तो अवकाश ही कहाँ था आज! व्रजपुरसे सायंकाल विभिन्न भोज्यवस्तुएँ भी आयीं अवश्य, पर तब भी किसीने उस ओर देखातक नहीं; सभीकी आँखें लगी थीं नीलसुन्दरको निहारनेमें ही। और तो क्या, व्रजेन्द्रगेहिनीने अपने नीलमणिको क्षुधित अनुभव कर लेनेपर भी आज गायोंका दूध भी दुहकर उन्हें नहीं पिलाया; क्योंकि

वे अत्यधिक शङ्कित हो चुकी हैं, उन्हें ऐसा लग रहा है कि यहाँकी सभी वस्तुएँ विषसे दूषित हो गयी हैं—

हन्त! हन्त! क्षुद्वन्तं तमपि गवां दुग्धमपि दुग्धं विधाय न पाययामास। सत्यं सर्वमत्रत्यं विषसकलङ्कमिति शङ्कया।

(श्रीगोपालचम्पू:)

इस प्रकार क्षुधा-तृषा एवं परिश्रमसे कर्षित हुए वे व्रजपुरवासी, वे गायें—सभी कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहसे कुछ दूर हटकर सुखकी नींदमें सो चुके हैं, अपनी भाव-समाधिमें लीन हैं—

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः।
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २०)

तेहि निसि सकल रहे तेहि ठामा।
छुधा तृषा श्रम करषित घामा॥
सोए सकल गोप अरु गोपी।
कृष्न-चरन तन-मन जिन रोपी॥

किंतु वह देखो, अर्धनिशा हुई और वह आ पहुँचा महामायावी दानव दावानलका दल। तथा क्षण भी न लगा, ग्रीष्म-ऋतुकी वह शुष्क वनस्थली एक सुन्दर माध्यम बनकर असुरको प्राप्त हो गयी और उसीकी ओटमें दावाग्निके रूपमें व्यक्त हो उठी उसकी माया। उन सम्पूर्ण व्रजपुरवासियोंको सब ओरसे घेरकर सर्वथा भस्म कर देनेके लिये महाघोर दावानल जल उठा—

तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम्।
सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २१)

जमुना तट सुंदर अति कानन।
निद्रा बस सब ह्वै गए राजन॥
ग्रीषम तृन सूखे चहु ओरा।
ता महँ दाव लगेउ बरजोरा॥
निसि निसीथ सोवत ब्रजबासी।
घेरि चहूँ दिसि अग्नि प्रकासी॥

चाहत सबहि जराइ कैं भस्म करौं छन माहि।

× × ×

दसहुँ दिसा तैं बरत दवानल, आवत है ब्रज-जन पर धायौ।
ज्वाला उठी अकास बराबर, घात आपनी सब करि पायौ॥
बीरा लै आयौ सनमुख तैं, आदर करि नृप कंस पठायौ।
जारि करौ परलय छिन भीतर, ब्रज बपुरौ केतिक कहवायौ॥
धरनि अकास भयौ परिपूरन, नैकु नहीं कहु संधि बचायौ।
सूर स्याम बलरामहिं मारन, गर्ब-सहित आतुर ह्वै आयौ॥

व्रजपुरवासी जाग उठे। उन्हें यह पता नहीं कि असुरराज कंसका ही आयोजन है यह भी! उन्होंने तो यह समझा कि दैवकी गति है, आज सचमुच दावाग्नि ही जल उठी है—

वह तौ असुर घात किए आवत, धावत बनहिं समाज।
सूरदास ब्रज-लोग कहत यह उठ्यौ दवानल आज॥

एक तुमुल कोलाहल आरम्भ हुआ, प्राण-रक्षाकी आशा नहीं। कदाचित् रविनन्दिनीकी शीतल धाराके पासतक पहुँचा जा सके। पर वह भी सम्भव नहीं, चारों ओर ही आगकी भीषण लपटें उठ रही हैं—

आइ गई दव अतिहिं निकटहीं।
यह जानत, अब ब्रज न बाँचिहै, कहत चलौ जल-तटहीं॥
करि बिचारि उठि चलन चहत हैं, जो देखैं चहुँ पास।
चकित भए नर-नारि जहाँ-तहँ, भरि-भरि लेत उसास॥
झरझराति, भहराति लपट अति, देखियत नहीं उबार।
देखत सूर अग्नि अधिकानी, नभ लौं पहुँची झार॥

कितना भयंकर दृश्य है!—

बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-काँस, जरि,
उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि,
फटत, लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ॥
अति अगिनि-झार, भंभार धुंधार करि,
उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात, भहरात झहरात
अररात तरु महा, धरनी गिरायौ॥

इसी समय अचानक सबकी मनोवृत्ति एक अद्भुत-सी प्रेरणा पाकर इस भावनासे भावित हो उठी—

'अहा! हमारे प्राणसंकटके समय इसी बालक नन्दनन्दनमें ही तो प्रभु नारायण आविष्ट हो जाते हैं! क्यों न हों, यह उनकी कृपासे ही हमलोगोंके यहाँ उत्पन्न जो हुआ है! आवेशका समुचित पात्र है यह! तथा इस प्रकार इसमें आविष्ट होकर वे हमारी रक्षा करते हैं! बस, बस, अब इस समय भी श्रीनारायणदेवके द्वारा आविष्ट हुए इस बालक श्रीकृष्णमें ही हमलोग नारायणकी भावना कर लें। इसीको नारायणरूप मानकर दावाग्निकी विपत्तिसे पार पहुँचनेके लिये इसीकी शरण ले लें! और यह अग्रज भी तो आज ही अपनी सर्वज्ञताका परिचय दे चुका है; अतएव यह कृष्णभ्राता राम भी देवाविष्ट है, ऐसा अनुमान हो रहा है!'—

अहो अस्माकं प्राणसंकटसमयेऽस्मिन्नेव बालके स्वप्रसादोद्भूते नारायण आविश्यास्मान् पालयति × × × × तमिमं सम्प्रति श्रीनारायणाविष्टं कृष्णमेव नारायणत्वेन विश्रभ्य विपत्तरणार्थं शरणं याम इति विमृश्य × × × × तस्यापि तद्दिने सर्वज्ञत्वदर्शनादयमपि कृष्णभ्राता देवाविष्ट इत्यनुमानात्।

(श्रीसारार्थदर्शिनी)

फिर तो सर्वथा यन्त्र-प्रेरित-से हुए सभी व्रजवासी पुकार उठे—

कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम।
एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः॥
सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २३-२४)

'हे कृष्ण! हे महाभाग श्रीकृष्ण! हे अमित बलशाली बलदेव! तुम्हारे आत्मीयजन हम सबोंको यह महाघोर दावाग्नि निश्चितरूपसे ग्रास बनाने जा रही है! हे सर्वसामर्थ्यशालिन्! इस सुदुस्तर कालाग्निसे हम सब अपने आत्मीयजनोंकी, सुहृद्समुदायकी रक्षा करो। सर्वथा भयरहित तुम्हारे श्रीचरणोंको क्षणभरके लिये भी छोड़नेमें हम सभी असमर्थ हैं, देव!'

माया मानुष रूप, भए तासु की सरन सब।
बोले बचन अनूप, कृष्न कृष्न करुनानिधे॥
हे बलदेव नाथ बल-रासी।
घोर कृसानु लागि चहुँ पासी॥
हम तव किंकर, ग्रसै कृसानू।
पाहि पाहि हे श्रीभगवानू॥
पावक काल रूप अति घोरा।
राखि ताहि तैं तू प्रभु मोरा॥
तव चरनारबिंद छन एकू।
तजि न सकैं, यह अहै बिबेकू॥
तव पद अभय सदा, जदुनंदा!
तासु बियोग छनक दुख-दंदा॥

व्रजराज भी अपने पुत्रमें आविष्ट हुए नारायणदेवकी कृपा-याचना करने चले अवश्य; पर उनकी भाषा सर्वथा बदल गयी, स्वर बदल गया, भाव भी कुछ-के-कुछ हो गये। गद्गद कण्ठसे वे इतना ही कह सके—

शङ्कामहे न मृत्योश्च न च कृच्छ्रप्रवाहतः।
किंतु त्वन्मुखचन्द्रांशुदर्शनाभाववैशसात्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'आह! मृत्युसे डर नहीं; विपत्तियोंका प्रवाह चलता रहे, इससे भी भय नहीं। पर तुम्हारे मुखचन्द्रकी किरणोंके दर्शनका अभाव हो जाय—इस यन्त्रणाका ही भय है!'

तथा व्रजरानी तो नारायणकी भावना करनेसे रहीं। छलछलाती आँखोंसे वे राम-श्यामकी ओर देखती हुई इस चिन्तामें डूबी हैं—

जेंवन करन चली जब भीतर, छींक परी ती आजु सबारे।
ताकौ फल तुरतहिं इक पायौ, सो उबर्‌यौ, भयौ धर्म सहारे॥
अब सब कौ संहार होत है, छींक किए ये काज बिचारे।
कैसैहुँ ये बालक दोउ उबरैं, पुनि-पुनि सोचति परी खभारे॥

अब नींद खुली व्रजेन्द्रनन्दनकी और वे तत्क्षण उठ बैठे। उस समय आलस्यभरे श्रीअङ्गोंकी शोभा देखते ही बनती है—

सुनत जगे, अति नीके लगे।
आलस पगे, उठे रँगमगे॥
करन नैन मींजत छबि पावत।
रुठे कमल मनु कमल मनावत॥

अस्तु, नीलसुन्दरने अपनी जननीकी ओर देखा; उनकी सजल आँखें अपने लालके सलोने दृगोंमें प्रतिबिम्बित हो गयीं, जननीकी अन्तर्व्यथाका असह्य भार भी पुत्रके अन्तस्तलपर ज्यों-का-त्यों सरक आया। फिर क्या था, श्रीकृष्णचन्द्रके नयन-सरोजोंमें एक कम्पन हुआ, होठ भी किंचित् हिल-से गये और जैसे फूँक लगनेसे एक तुच्छ दीप बुझ जाय, इस प्रकार उनके अधरोंसे निस्सृत मन्द सुरभित फूत्कारके द्वारा ही वह महाप्रचण्ड दावाग्नि तत्क्षण शान्त हो गयी—

हरेः फूत्कारमात्रेण निर्ववौ दवदीपकः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और वे व्रजवासी, जिन्होंने नीलसुन्दरमें श्रीनारायणदेवके आविष्ट होनेकी भावनासे नारायणके द्वारा अपनी रक्षा चाही थी, उन्हें ऐसा लगा कि सदाकी भाँति इस बार भी उन श्रीनारायणने हमारी व्याकुल पुकार सुन ही ली, हमारे प्राणसर्वस्व इस नन्दपुत्रमें आविष्ट हो गये वे जगदीश्वर तथा यह लो! वे अनन्त-शक्तिशाली, अनन्तस्वरूपैश्वर्यनिकेतन प्रभु उस दावाग्निको पी गये।

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः।
तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २५)

मम आश्रित किमि घटै कलेसू।
दावानल किय पान नरेसू॥
जगत-ईस प्रभु सक्ति अनंता।
कृष्न देव प्रभु श्रीभगवंता॥

× × ×

लखौ अब नैन भरि, बुझि गई अगिनि-झरि,
चितै नरनारि आनंद भारी।
सूर-प्रभु सुख दियौ, दावानल पी लियौ,
कहत सब ग्वाल, धनि-धनि मुरारी॥

इतना ही नहीं, नीलसुन्दरकी एक दृष्टि उन दग्ध द्रुमवल्लरियोंपर भी पड़ी और वे सभी वैसे-के-वैसे अमित-सुषमाशाली बन गये—

जे द्रुमलता दवानल जरे। अमी-दृष्टि करि तैसेइ करे॥

विस्मयसे भरे व्रजेश तो भ्रमित होने लगे। वे बोले—

किमस्माभिः प्रमत्तैरिवापलपितं कुतो वनाग्निरिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! क्या हम सब प्रमत्तकी भाँति इस प्रकार व्यर्थका बकवाद कर रहे थे? कहाँ है वह दावानल?'

इस प्रकार मथुराधिपति कंसकी यह योजना भी विफल बन गयी। व्रजपुरवासियोंपर आया हुआ यह महाभय दरिद्रके मनोरथकी भाँति, स्वप्नकी भाँति विलीन हो गया। उन्हें सचमुच कहाँ किससे भय है?

जाकैं सदा सहाइ कन्हाई।
ताहि कहौ काकौ डर, भाई॥
बन-घर जहाँ-तहाँ सँग डोलै।
खेलत-खात सबनि सौं बोलै॥
जाकौं ध्यान न पावैं जोगी।
सो ब्रज मैं माखन कौ भोगी॥
जाकी माया त्रिभुवन छावै।
सो जसुमति कें प्रेम बँधावै॥
मुनि-जन जाकौं ध्यान न पावैं।
ब्रज-जन लै-लै नाम बुलावैं॥
सूर ताहि सुर अंबार देखैं।
जीवन-जन्म सुफल करि लेखैं॥

धेनुकासुर-वध

प्रतिदिन गोचारणके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रविष्ट होते थे सायंकाल। किंतु आज वे आ रहे हैं उस समय, जब कि किरणमाली पूर्व क्षितिजकी ओटसे झाँकने लगे हैं। कालियदमनका वह दिन, दावानल-शमनकी वह निशा व्यतीत हो जानेपर व्रजेश्वरने अपने आवासकी ओर प्रस्थान किया तथा गो-गोप-गोपियोंसे परिवृत होकर नीलसुन्दर गोष्ठमें पधारे—

सुख कियौ जमुन-तट एक दिन-रैनि बसि,
प्रातहीं ब्रज गईं गोप-नारी।
सूर-प्रभु स्याम-बलराम नँद-धाम गए,
मातु-पितु घोष-जननी-सुखकारी॥

× × ×

जगत-ईस प्रभु सक्ति अनंता।
कृष्नदेव प्रभु श्रीभगवंता॥
पुनि निज बंधु सहित जदुनाथा।
प्रबिसे ब्रज हरषित एक साथा॥
गोपी मुदित गान कल बानी।
सुनत गेह पहुँचे सुखदानी॥

एक बार यह प्रयास अवश्य किया गया कि गायें वनमें ही रह जायँ, उनके संचारणका समय तो प्रायः हो ही चुका है। पर वे पशु—भले ही वाणीके द्वारा अपने हृदयकी भावना व्यक्त न कर सकें—शरीरसे तो किसी अंशमें स्वतन्त्र हैं ही। वश चलते वे श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वनमें कैसे रह जायँगे? गोपरक्षकोंकी वह चेष्टा सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हुई। सबने स्पष्ट अनुभव कर लिया कि मनुष्योंकी भाँति ही ये पशु भी इस समय व्रजमें प्रवेश करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वनमें नहीं रह सकते—

मनुष्या इव पशवोऽपि तं व्रजं प्रविशन्तं त्यक्तुं नाशक्नुवन्निति। (वैष्णवतोषिणी)

अस्तु, आज गोचारण स्थगित रहा। श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहारिणी क्रीडाएँ नन्द-प्राङ्गणमें, नन्दोद्यानमें एवं व्रजकी वीथियोंमें ही हुईं। वनमें होनेवाले विविध कौतुकोंकी एक झाँकी पाकर पुरसुन्दरियोंने अपने नेत्र शीतल किये। और आठ पहरमें ही अतीत दिवसकी सारी घटनावली उनके स्मृतिपथसे इतनी दूर चली गयी, मानो कुछ हुआ ही न हो! सर्वत्र परमानन्दकी निराविल धारा प्रसरित हो रही है और उसमें अवगाहन करते हुए व्रजवासी अन्य सब कुछ भूल गये हैं; बस, स्मरण रह गया है उन्हें केवल यशोदानन्दनका। उन्हें देखते-देखते ही न जाने कब अंशुमाली अस्ताचलमें चले गये और कब रजनी भी आकर, उषाका आलिङ्गन कर विदा हो गयी—यह भी उन्होंने नहीं जाना। सभीका अनुभव है—हम तो सदा व्रजमें ही थे, व्रजमें ही हैं, नीलसुन्दरकी दैनंदिनी क्रीड़ा भी वैसे ही एकरस चल रही है। और इस समय वह देखो, वहाँ नन्दप्राङ्गणमें गो-चारणके लिये वन जानेसे पूर्व व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको कलेवा करा रही हैं, नीलमणि भी अन्यान्य खाद्य-सामग्रियोंको किञ्चिन्मात्र होठोंसे स्पर्श कराकर अब केवल नवनीतका आस्वाद ले रहे हैं। कर-किसलयपर जननीके द्वारा रखे हुए नवनीत-ग्रासको मुखमें भरकर वे पुनः अपना हस्त-कमल सामने कर देते हैं एवं मैया पुनः उसपर ग्रास सजा देती हैं—

हरि ब्रज-जन के दुख-बिसरावन।
कहाँ कंस, कब कमल मँगाए, कहाँ दवानल-दावन॥
जल कब गिरे, उरग कब नाथ्यौ, नहिं जानत ब्रज-लोग।
कहाँ बसे इक दिवस-रैनि भरि, कबहिं भयौ यह सोग॥
यह जानत हम ऐसेहिं ब्रज में, वैसेहिं करत बिहार।
सूर स्याम जननी सौं माँगत माखन बारंबार॥

इस प्रकार अबसे ग्रीष्मके अवसानतक, पुनः ग्रीष्मके आगमनतक एवं पावसकी अवधि समाप्तप्राय होनेतक श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ा निर्बाध चलती रही। व्रजमें, वृन्दाकाननमें—कहीं भी राक्षसोंके द्वारा कोई उत्पात न हुआ। हाँ, इसी वर्षा-ऋतुके अन्तमें एक

दिन जब मेघ पर्याप्त रूपसे बरस चुके थे, विविध वनक्रीडाओंसे श्रान्त होकर श्रीकृष्णचन्द्र एक वृक्षके नीचे विश्राम कर रहे थे, गायें समीप ही तृण चर रही थीं—गोपशिशुओंने अग्रज बलराम एवं नीलसुन्दरके समीप एक नवीन प्रस्ताव रखा। बलराम एवं श्यामके प्रधान सखा श्रीदाम गोपने तथा सुबल एवं स्तोककृष्ण आदिने हँस-हँसकर, अतिशय प्रेमके सहित समीप आकर अपना मनोभाव बताया—

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। २०)

श्रीदामा एक सखा सयानौ।
सुबल आदि प्रिय अपर सुजानौ॥
बोले बचन बिहँसि सुख मानी।
कृपासिंधु सौं अति सनमानी॥

बालकोंके स्वरमें अद्भुत उत्साह है, पूर्ण आशा भरी है कि उनकी वह योजना उनके बलराम, उनका कन्नू—दोनोंके द्वारा स्वीकृत होकर ही रहेगी और वे अविराम कहते चले जा रहे हैं—'भैया राम, कितना सुख तुम हम सबको देते हो! और ओह! कितना बल है तुम्हारी इन भुजाओंमें। तथा भैया रे श्रीकृष्ण! तुम्हारा तो स्वभाव ही है दुष्टोंका दमन करते रहना। इसीलिये आज एक बात बताता हूँ, तुम दोनों सुन लो। देखो, यहाँसे कुछ ही दूरपर तालवन नामक एक सुविस्तृत वन है, हो! और क्या कहें, उसमें न जाने ताल-वृक्षोंकी कितनी पंक्तियाँ सुशोभित हैं। इतना ही नहीं, तालके पके फल वहाँ गिरते ही रहते हैं, पहलेसे गिरे हुए भी अगणित फल वहाँ पड़े रहते हैं। किंतु यह सब होकर भी क्या हुआ! वहाँ तो एक अत्यन्त हिंस्र-स्वभावका दैत्य रहता है। धेनुक उसका नाम है। उसी दुष्टने सम्पूर्ण फलोंपर ही अपना अधिकार जमा रखा है। बलराम भैया! और प्राणसखा श्रीकृष्ण! सुनो, वह असुर गधेका रूप धारण किये रहता है। महाबलशाली है वह, और उसके साथ ही उसीके समान पराक्रमशाली उसके अन्य असंख्य भाई-बन्धु भी निवास करते हैं। हमारे शत्रुनाशक भैयाओ! मनुष्योंको तो मारकर वह खा जाता है। उस नर-मांसभक्षी राक्षसके भयसे मनुष्य, पशु-पक्षी—सबने ही उस वनको छोड़ दिया; कोई भी वहाँ नहीं जाता, तालफलोंका लाभ नहीं ले पाता; जब कि ऐसे सुस्वादु एवं सद्‌गन्धयुक्त फल आजतक किसीने खाये ही नहीं! बस, स्वयं अभी प्रत्यक्ष अनुभव कर लो—उन फलोंकी मनोहर सुगन्ध सर्वत्र फैल रही है, हम सभीको यहींसे उसकी स्पष्ट गन्ध मिल जो रही है। भैया रे श्रीकृष्ण! इस गन्धसे तो हम सबोंका मन ही लुब्ध हो गया; हमें तुम तालफल अवश्य खिला दो! दाऊ दादा! हमारी प्रबल इच्छा है इन फलोंको पा लेनेकी, भोजन करनेकी! बस, अब देर न करो। यदि हमारा प्रस्ताव तुम्हें रुचिकर लगे तो वहाँ अवश्य चलो, दादा!'

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसंकुलम्॥
फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।
सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥
सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक्।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः॥
तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन्।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसंघैर्विवर्जितम्॥
विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम्।
वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। २१—२६)

राम राम हे यदुकुल भूषन।
अहो कृष्न अघ-दनुज-विदूषन॥
इत तैं निकट ताल-बन सुंदर।
सघन सुहावन फल सुख-मंदिर॥
गिरे-गिरत फल पक्क सुहावन।
छिति छपि रही, अमिय सम पावन॥

है परंतु धेनुक अति घोरा।
रोक्यौ तिन सब फल चहु ओरा॥
अति बिसाल, बल काल समाना।
खर-सरूप तन कुलिस प्रमाना॥
ताहि सरिस बल अपर बहु, ग्याति तासु अति घोर।
नर-अहार संतत करैं, कुमती कठिन कठोर॥
तेहि भय भीत मनुज नहिं जाहीं।
पसु-पंछी नहिं निकट रहाहीं॥
फल अभुक्त-पूरब जदुनंदा।
अति सौरभ फल हैं सुख-कंदा॥
अनिल संग यह सुरभि अनूपा।
मन कहँ खैंचि लेइ सुखरूपा॥
मन लोभित फल चाह विसेषी।
दीजिय नाथ कृपा हिय पेखी॥
हे बलदेव! चाह चित भूरी।
चलिय, नाथ! कीजै रुचि पूरी॥
जो इच्छा प्रभु! होइ तुम्हारी।
चलहु, नाथ! तौ जन सुखकारी॥

× × ×

भारी भूख लगी है, चलौ। भैया, बहुत मानिहैं भलौ॥

गोपशिशुओंका यह निवेदन पूर्ण होते-न-होते राम-श्याम दोनों भाई उठकर खड़े हो गये। उनके नित्य-प्रफुल्ल वदनारविन्दपर एक अभिनव उल्लासकी लहर-सी बह चली। दोनों ही हँसे और उनके उस उन्मुक्त हास्यसे समस्त अरण्यप्रान्त गूँज उठा। फिर बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्ण एवं बलराम तत्क्षण उन अपने सुहृद् बन्धुओंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तालवनकी ओर चल ही तो पड़े। हँसते हुए वे असंख्य बालक भी उनके साथ चले जा रहे हैं। देखते-देखते ही तालवनकी सीमा भी आ पहुँची। यह लो, यह रही तालवनकी समतल, स्निग्ध सुविस्तीर्ण कृष्णवर्ण मृत्तिकामयी भूमि! वे खड़े हैं तालके उत्तुङ्ग वृक्ष! बस, बलराम तो दौड़ पड़े। किसीके पहुँचनेसे पूर्व ही रोहिणीनन्दनने वहाँ जाकर तालवृक्षोंको अपनी भुजाओंमें भर लिया और एक करिशावक मानो कदली वृक्षोंको प्रकम्पित कर रहा हो—इस प्रकार उन्हें बड़े वेगसे हिलाकर क्षणोंमें ही राशि-राशि फल भूमिपर गिरा दिये—

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू॥
बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २७-२८)

सुनतहिं चले सु लागत भले।
ऐसैं दुष्ट किते दलमले॥
आगैं भए बिहँसि बलराम।
पाछैं करि लए मोहन स्याम॥

× × ×

बिहँसत हरि सँग चले गुवाला।
नाचत-गावत गुन गोपाला॥

× × ×

गए ताल-बन राजत दोऊ।
मत्त गयंद सरिस सुठि सोऊ॥
गहन जाइ बल कर गहि ताला।
दियउ हलाइ गिरे फल-जाला॥

× × ×

सो सुनि कै जुग बंधु चले मिलि संग सखा जु प्रमोद भरे रस।
सुंदर रम्य अरन्य लख्यौ, बन पैंठत अग्रज अग्र भये हँस॥
मंजुल पक्क फरे फल-पुंजन, गुंजन भौंर, प्रसून भरे तहँ।
राम कँपावत ब्रच्छ-समूह, झरे फल-फूल, ढरे छिति पै जहँ॥
झरत सुमन-फल, गिरत तहँ, बिथुरत बिपुल रसाल।
भरत गोद हरबर धरत करत कुलाहल बाल॥

समीपमें ही अवस्थित धेनुकके कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ इतने ताल-फलोंके गिरनेका घनघोर शब्द प्रविष्ट हो गया। तुरंत ही उसने अपनी हिंस्र आँखें फिराकर इस ओर देखा और दीख पड़े राम-श्याम तथा आनन्द-कोलाहल करते हुए असंख्य गोपशिशु! अब तो धेनुकके रोषका क्या कहना है! उसके विशाल पर्वताकार गर्दभ-शरीरका रोम-रोम क्रोधसे जल उठा। द्रुतगतिसे वह चल पड़ा उसी ओर, जहाँ बलराम तालके समीप खड़े

हँस रहे हैं। उसे आनेमें भी कितनी देर लगती। जिस वेगसे वह चला है, उससे—उसके पदभारसे पर्वतके सहित सम्पूर्ण पृथ्वीतल प्रकम्पित जो हो रहा है। बस, आधे क्षणसे पूर्व ही मानो एक प्रकाण्ड पर्वत ही उड़ता-सा आया हो—इस प्रकार वह बलरामके पास आ पहुँचा। और आकर तनिक रुके—यह बात भी नहीं, उस महाबलवान् क्रूरस्वभाव दैत्यने अपना मुँह फिराया तथा पीछेके दोनों पैरोंको उठाकर एक भरपूर दुलत्ती रोहिणीनन्दनके वक्षःस्थलपर उसने मार ही तो दी। साथ ही यह प्रहार कर चुकनेपर अत्यन्त कर्कश स्वरमें वह रेंक उठा और रेंकता हुआ ही चारों ओर घूमने लगा। दूसरी दुलत्तीके प्रहारकी ताकमें धेनुकने दुष्टताकी सीमा पार कर ली!—

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः।
अभ्यधावत क्षितितलं सनगं परिकम्पयन्॥
समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। २९-३०)

फल कें गिरत सोर चहुँ ओरा।
धायौ अकनि असुर खल घोरा॥
चलेउ रोष भरि, छोभ करि, गिरि सम काय बिसाल।
कंपित छिति गिरि-द्रुम सहित अतिसै कूर कराल॥
आइ तुरित जहँ हलधर ठाढ़े।
जुगुल पाय उर में हनि गाढ़े॥
करि खर नाद मूढ़ सठ घोरा।
भ्रमत भयौ बल के चहुँ ओरा॥

× × ×

सोर सुनत अति जोर भरौ धेनुक धरि धायव।
रासभ रूप उमंडि मंडि रन सनमुख आयव॥
फल लखि बढ्ढिव रोस, घोस घन रोस सुबोलत।
धमकत धरनि धधाय, भूमि भूधर सब डोलत॥
करि श्रवन-पुच्छ उन्नत, तजतु घ्रान-रंध्र स्वाँसानि सुर।
लखि महाबली बलभद्र कहँ पिछले पग घालत असुर॥

किंतु बलराम तो अभी भी वैसे ही हँस रहे हैं। अवश्य ही गर्दभरूपधारी असुर पुनः आ पहुँचा है उनके अत्यन्त निकटमें ही और क्रोधसे सर्वथा अधीर हो रहा है वह! पुनः उसने उनकी ओर पीठ कर ली और फिर अत्यन्त क्रोधसे पिछले पैरोंकी दुलत्ती भी चला ही दी। पर इस बार अपने वक्षःस्थलपर उसके पैर आनेसे पूर्व ही रामने अपना वामहस्त आगे बढ़ा दिया; बढ़ाकर उसके पैरके अग्रभागको पकड़ लिया। धेनुककी कोई अन्य चेष्टा तो अब होनेसे रही; क्योंकि राम उसे आकाशमें उठाकर अलात-चक्रकी भाँति बारम्बार घुमा रहे थे और वह विवश घूम रहा था। बस, कुछ ही क्षण घूमनेमें उसके प्राण भी घूमकर बाहर निकल आये तथा उसके जीवनशून्य शरीरको रामने तालवृक्षपर फेंक दिया—

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा॥
स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ३१-३२)

पुनि करि क्रोध निकट चलि आवा।
बल सनमुख निज बल देखरावा॥
पिछले जुग पद जोरि गँवारा।
पुनि बल-उर कहुँ करेउ प्रहारा॥
आवत चरन देख बल जबहीं।
पकरि लियौ पग जुग कर तबहीं॥
एक पानि गहि, ताहि घुमाई।
पटकि ताल तरु पै सुख पाई॥
भ्रमतहिं प्रान गयौ चलि तासू।
मर्‌यौ अघी अपनें अघ आसू॥

× × ×

बल-उद्धत बलराम महाबल झपटि धर्‌यौ झुकि असुर कठोर।
कर पर हरबर फेरि फिरावत, उलछारत, झारत झकझोर॥
तरबर-मूल भूमि गहि पटक्यौ, झटक्यौ चट-चट-फटक्यौ फेरि।
झहरत प्रभु, हहरति बसुधा, तहँ भभरि भगे मृग-गन तेहि बेरि॥

उस मृतदेहके प्रबल आघातसे तालका वह उत्तुङ्ग एवं अत्यन्त सुपुष्ट वृक्ष तड़-तड़कर, चूर्ण-विचूर्ण होकर गिर पड़ा। केवल वह गिरा, इतना ही

नहीं, उसने अपने पार्श्ववर्ती सटे वृक्षको भी प्रकम्पित कर तोड़ डाला। पुनः उसने तीसरेको, तीसरेने चौथे पार्श्ववर्ती तालको—इस प्रकार एक-दूसरेको धराशायी करते हुए न जाने कितने तालवृक्ष टूटकर खण्ड-खण्ड हो गये। रोहिणीनन्दनकी तो यह एक क्रीड़ा हुई, एक साधारण-सा खेल खेलते हुए ही रामने उस मृत देहको फेंका था। किंतु वह आघात इतना भीषण था कि उस वनके समस्त तालवृक्ष ही प्रकम्पित हो उठे—मानो किसी अत्यन्त प्रबल झंझावातके वेगसे वे विताड़ित हो गये हों—

तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम्॥
बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ३३-३४)

एहि बिधि नृप! धेनुक बल मार्‌यौ।
गिर्‌यौ तार लै बहु छिति डार्‌यौ।
तार ताल फल गिरे अनेका।
को गनि सक अस काहि बिबेका॥

× × ×

परे जु ताल बिसाल सु ऐसैं।
प्रबल पवनके मारे जैसैं॥

श्रीबलरामके आघातसे ऐसा हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है। इन्हीं सर्वैश्वर्यनिकेतन अनन्त जगन्नियन्तामें ही तो यह सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत् सूत्रमें वस्त्रकी भाँति ओतप्रोत है। क्या महत्त्व बढ़ता है उनका इन तुच्छातितुच्छ घटनाओंको घटित कर देनेसे?

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ३५)

जो हो, इस सम्बन्धमें कुछ क्रीड़ा अवशिष्ट रही थी, वह भी पूरी हो गयी। धेनुकके बन्धु-बान्धव अपने स्वजनका यह आकस्मिक प्राणनाश देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे; प्रतिहिंसाकी आगमें जलते हुए वे राम-श्यामकी ओर अग्रसर हुए। गधोंका दल एकत्र हो गया। फिर तो अग्रज एवं नीलसुन्दरको भी कौतुक करना ही था। खेल आरम्भ हुआ। खेलते हुए दोनों भाई जो भी समीप आता, उसकी पिछली टाँगें पकड़कर तालवृक्षपर दे मारते अथवा अन्य कौतुक करते हुए उनका कचूमर निकाल देते। देखते-देखते वहाँकी सम्पूर्ण भूमि तालफलोंसे, भग्न तालवृक्षोंके अग्रभागसे एवं दैत्योंके मृतदेहोंसे पट गयी। क्षितितलने एक विचित्र-सी शोभा धारण कर ली—वैसी शोभा जो विविध वर्णोंके मेघसे आवृत होनेपर आकाशकी हो जाती है!—

ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः॥
तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु॥
फलप्रकरसंकीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ३६—३८)

राम-स्याम प्रभु लीला बाढ़े, सठ मारे इक भुजा उखार।
तोरत सीस, सीस सौं फोरत, ढोरत धर धरनी के भार॥
इक पग पकरि उच्च गहि पटकत छी मुरकत खल अमर-अगार।
जिमि घन सघन गगन महँ छाए, भ्रमत भयानक इमि अनुहार॥

× × ×

परे बिसाल ताल इमि मही।
बिच-बिच गर्दभ परत न कही॥
ज्यौं रबि अस्त होत आडंबर।
कारे-पियरे बादर अंबर॥

अब अन्तरिक्षसे देवगण कुसुमोंकी वर्षा करने लगते हैं। साथ ही उनके 'जय-जय' घोषसे कानन प्रतिनादित हो उठता है—

हरखत हिय बरखत कुसुमावलि ब्रंदारक के ब्रंद अपार।
जय-जय धुनि जन करत मगन मन अतुल-पराक्रम प्रभुहि निहार॥

बलराम-श्रीकृष्णका किशोरावस्थामें प्रवेश

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रके उन त्रैलोक्यसुन्दर श्रीअङ्गोंपर पौगण्डका साम्राज्य था, उनकी समस्त भाव-भङ्गिमाएँ उसकी छाप लेकर ही व्यक्त होतीं; किंतु उस पौगण्डकी भी सीमित अवधि थी। उसने सोचा—'जब मैं आया था, तब उन श्यामल अङ्गोंपर कौमारका शासन था। अनेक क्रीडाओंकी ओटमें स्थित होकर मैंने क्रमशः उसे यहाँसे निस्सारित किया, शासनसूत्र अपने हाथमें लिया; क्योंकि कौमार इन मनोहर अवयवोंमें अपेक्षित विकास नहीं कर पा रहा था। हाँ, मेरी अपेक्षा भी अधिक योग्यता 'कैशोर' में अवश्य है और वह द्वारपर अपना अधिकार सँभालने आ भी पहुँचा है। मैं इसके लिये कोई त्याग कर रहा हूँ, यह बात नहीं; यह तो अवश्यम्भावी घटना है; निर्धारित समयपर ही वह आया है। एक तो वह उपयुक्त पात्र है, फिर अपने-आप आकर उपस्थित हो गया है। इतना ही नहीं—यह लो, उसके आते ही, उसकी छाया पड़ते ही नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंपर कितना सुन्दर विकास परिलक्षित होने लगा है! अहा! कर्तव्यका कितना गम्भीर ज्ञान है इसे। अपने अस्तित्वकी चरम कृतार्थता व्रजेन्द्रनन्दनके श्रीअङ्ग-स्पर्शसे ही हो सकती है—यह विवेक इसमें है, तभी तो यह आया और ठीक अवसरपर आया तथा आते ही इसने अपनी योग्यताका परिचय भी दे दिया, आवासकी व्यवस्था सँभाल ली, अभी-अभी देखते-देखते इसने कैसा सुन्दर विस्तार कर लिया।' बस, यह विचार आते ही पौगण्डने अपने समस्त वैभव, श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंपर प्राप्त हुए अपने सम्पूर्ण अधिकार कैशोरको समर्पित कर दिये और अलक्षित रूपसे ही वह स्वयं अन्तर्हित हो गया—

राज्यं सम्यगुपेत्य कृष्णवपुषि त्रैलोक्यलक्ष्मीमये
क्रीडाभिर्लघु निर्गमय्य समया नौदार्य्यपर्य्याकुलम्।
पात्राय स्वयमागताय गुणितावासाय सद्वेदिने
कैशोराय निजं प्रदाय विषयं पौगण्डमन्तर्दधे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

फिर तो कैशोरने अपने ढंगसे सब कुछ पूरा-का-पूरा सजाया—नीलसुन्दरके मुखसरोजका सर्वांश विकसित हो उठा, एक अभिनव कान्ति प्रसरित होने लगी। दृगोंमें मनोहर दीर्घता दीख पड़ी और वे नयन-सरोरुह अरुणप्रभासे रञ्जित होने लगे। वक्षःस्थल ऊँचा हुआ, सुन्दर विस्तार भी हो गया उसका। मध्यदेशमें परम रमणीय कृशता परिलक्षित होने लगी। इस प्रकार एक अद्‌भुत अनिर्वचनीय सौन्दर्यसिन्धुका निर्माण कर दिया कैशोरने। तथा जैसे ही उसमें पहली ऊर्मि उठी कि समस्त व्रजपुर प्लावित हो उठा, स्थावर-जंगम सबके नेत्र भर गये इस सौन्दर्यपूरसे सबकी आँखें आकर्षित होकर बरबस बह चलीं उस प्रवाहमें और जाकर आखिर डूब ही गयीं नीलसुन्दरके श्रीअङ्गके समीप उठती हुई उन श्यामल लहरोंमें!—

मुखे पूर्तिः कान्तिर्नयनयुगले दैर्घ्यमरुण-
प्रभा ह्युद्युच्छ्रायः प्रततिरपि मध्ये तु कृशता।
इतीदं सौन्दर्यं यदवधि मनागप्यधिजगे
जगन्नेत्रश्रेणी तदवधि हरौ तेन चकृषे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

कदाचित् किसीकी आँखें कुछ क्षणोंके लिये बाहर उतराने लगतीं तो उस समय उसके प्राण इस प्रकार झंकार करने लगते—'अहा! कैसी शोभा है नीलसुन्दरकी! मानो वसन्तके दिन हों, नव-तमाल-तरुकी शाखाओंमें, शाखाकी प्रत्येक ग्रन्थिमें विविध वर्णमयी नवाङ्कुरश्रेणी फूट पड़ी हो; इन नवाङ्कुरोंसे श्याम-तमालका सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा हो। पर यह शोभा भी सर्वथा तिरस्कृत जो हो रही है नीलसुन्दरके रोम-रोमसे प्रस्फुटित हुए सौन्दर्य-स्रोतकी तुलनामें!'

अधिमधुदिनमनुपर्वकर्बुरितनवाङ्कुरकन्दलदल-
द्रामणीयकनवतमालकडम्बबिडम्बकम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देखो तो सही, अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका आनन्दसूचक यह उच्छलित कैशोरभाव अपनी समस्त मधुरिमा उँड़ेलने जा रहा है और व्रजेन्द्रनन्दनके श्रीअङ्ग भी उस माधुर्यभारको वहन करनेमें सर्वथा समर्थ दीख रहे हैं। अहा! पौगण्डके अन्तरालमें ही सहसा व्यक्त हुए

कैशोरकी कैसी शोभा है! मानो कुसुम अपने हृद्देशमें प्रतिक्षण सृष्ट होते हुए मकरन्द एवं परागका उपहार एकत्रकर मधुकरका प्रीतिभाजन बनने जा रहा हो; अभिनव मुकुलके रूपमें, मुकुलकी कान्ति धारण किये अवस्थित हो।'

प्रत्यङ्गरङ्गितरङ्गितविशेषमाधुरीधुरीणमन्तरुत्पद्यमान-मधुपरागमधुपरागभागभिनवकुड्मलीभावभावहितं कुसुममिव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहा! नीलसुन्दर मानो श्याम लता नामकी लताका वह एक अनिर्वचनीय सुन्दर फल हों, जो अभी परिपक्व तो नहीं हो, फिर भी कसैलेपनसे रहित हो जाय, मृदुता धारण कर ले, मधुर—सुस्वादु रससे पूरित हो जाय, सबकी एकमात्र लोभनीय वस्तु बन जाय!'

अपाकनिष्कषायमृदुमधुरलुलितं श्यामलतालतायाः किमपि फलमिव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस प्रकार भावावेशमें उन व्रजवासियोंके प्राण न जाने क्या-क्या अनुभव करने लगते। विशेषतः उन व्रजवधुओंकी, गोपकुमारिकाओंकी क्या दशा हुई, इसे तो एकमात्र वे ही जानती हैं।

प्रतिदिन—जब भुवनभास्कर प्राचीको रञ्जित करने लगते—नीलसुन्दर वंशीके छिद्रोंमें स्वर भरते हुए गोचारणके लिये वनमें पधारते। उस समय एक विचित्र-सी दशामें अवस्थित हुई वे व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ निर्निमेष दृष्टिसे उनकी ओर देखती रहतीं। क्रमशः नीलसुन्दर उनकी दृष्टिसे ओझल हो जाते। इसके कितनी देर पश्चात् उन्हें बाह्य ज्ञान होता, यह कहना कठिन है। तथा जब उन्हें अपने शरीरका भान होता, तब ऐसी प्रतीति होती कि प्राणोंमें एक वेदना-सी हो रही है, प्राण कुछ चाह रहे हैं! पर वे क्या चाहते हैं, यह वे स्वयं निर्णय नहीं कर पातीं। श्रीकृष्णचन्द्रके मुखसरोजको वे नहीं देख पा रही हैं, वे वनमें पधारे हुए हैं, संध्याके समय लौटेंगे; किंतु उनके इस स्वल्प अदर्शनके समय अन्तस्तल सर्वथा सूना-सा क्यों लगता है, इसे वे समझ नहीं पातीं। पहले ऐसा नहीं होता था, श्रीकृष्णचन्द्र जब भी गोष्ठमें पधारते, वे सर्वथा संकोचशून्य मनसे उनके समीप दौड़ जातीं। पर अब उनके निकट जानेमें एक विचित्र-सी हिचकका बोध क्यों होता है जब कि उस समय भी प्राण श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये अत्यधिक मचले होते हैं—इसका कोई अर्थ उनकी कल्पनामें नहीं आता। फिर भी जैसे संध्या होती, वंशी-रव वनकी ओरसे सुनायी पड़ता, वैसे ही सब-की-सब उधर ही अत्यन्त द्रुतगतिसे चल पड़तीं, दौड़ने लग जातीं तथा दूरसे आते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी दीख ही जाते। उनकी उस समयकी शोभा भी निराली ही होती—'घुँघराली अलकें कपोलोंपर, ललाटके कुछ अंशपर झूलती रहतीं। गोखुरोंसे बिखरे हुए धूलिकण उड़-उड़कर उन अलकोंपर पड़ते रहते। कुन्तलमण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छका मुकुट सुशोभित रहता एवं केशोंमें सुन्दर सुरभित वन्यप्रसून ग्रथित होते। नेत्रोंकी मनोहर चितवन एवं अधरोंपर व्यक्त हुए मृदु स्मितकी शोभा देखते ही बनती, मानो नृत्यपरायण खञ्जनमिथुन अपनी नैसर्गिक भावनामें तन्मय हों, सद्यः प्रस्फुटित नीलसरोरुहसे सुधाविनिन्दित मधुधारा क्षरित हो रही हो! वेणुके छिद्रोंमें वे स्वर भरते रहते तथा उनके असंख्य सखा—गोपशिशु मधुमय कण्ठसे उनके ललित लीलाविहारका गान करते चलते।'—बस, इस अप्रतिम सौन्दर्यको निहारकर उन गोपवधुओंकी, गोपकुमारिकाओंकी क्या अवस्था होती—इसे कोई कैसे बताये। आह! दो-तीन प्रहरका यह व्यवधान उनके लिये कितने युगोंके समान बन गया था, उनकी आँखें न जाने कबसे तरस रही थीं और श्रीकृष्णचन्द्र सहसा मिल गये—उस समय उन्हें कितना आह्लाद होता, उनमें क्या-क्या अनुभाव व्यक्त होते और नीलसुन्दरपर कैसी प्रतिक्रिया होती, इसे वाग्वादिनी तो कह नहीं सकतीं। हाँ, इतना-सा संकेतमात्र कर सकती हैं।

अरे! सुन सको तो सुन लो—वे गोपवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ एक साथ दौड़कर व्रजसे बाहर चली आयीं; नीलसुन्दरके मुखकमलपर उनकी दृष्टि पड़ी और फिर तत्क्षण ही उनके नेत्र मानो भ्रमरके रूपमें

परिणत हो गये। वहाँ श्रीकृष्णमुखारविन्दसे राशि-राशि मधुकी धारा प्रवाहित हो रही थी तथा वे असंख्य नेत्रभ्रमर उसी मकरन्द-रसका पान कर रहे थे। इन भौंरोंसे व्रजसुन्दरियोंके हृदय एवं प्राण संनद्ध थे ही। अतएव वह मधुधारा उसी तन्तुके सहारे झरने लग गयी उनके उत्तप्त हृदयमें भी, प्राणोंमें भी। दिनभरकी वह विरहाग्नि, जो अन्तस्तलके प्रत्येक अंशमें अलक्षितरूपसे ही धक्-धक् जल रही थी, प्रशमित हो गयी। इतना हो लेनेपर पुनः उसी संकोचका आविर्भाव हुआ। मधुकर मानो अत्यधिक मधुपानसे मत्त होकर तन्द्रित-से होने चले—इस प्रकार उनके नेत्र पुनः किञ्चित् नमित-से हो गये। उसी समय रसपूरित हृदयमें एक विशाल लहर-सी आयी। पर लज्जाने प्रायः सम्पूर्ण द्वार रुद्ध कर दिये थे, सबका एक साथ वह नियन्त्रण कर रही थी; इसीलिये केवल लाजभरी पवित्र हँसी एवं अतिशय विनम्र भाव-मुद्राके रूपमें व्यक्त होकर ही वह उन्मादी प्रवाह पुनः पीछेकी ओर लौट गया। हाँ, लौटते-लौटते ही उसने अपने आवेगसे व्रजसुन्दरियोंके, गोपकुमारिकाओंके नेत्रोंको स्निग्ध एवं चञ्चल अवश्य बना दिया; साथ ही उसके उन्मादी प्रभाववश नेत्रोंकी वह चञ्चलता वङ्किम चितवनके रूपमें भी परिणत हो गयी। यों तो वे आयी थीं नीलसुन्दरका दर्शन करने; पर भावावेशवश अपने अन्तस्तलमें संचित सम्पूर्ण आदरकी भेंट भी समर्पित करने लग गयीं। कदाचित् द्वार अनावृत होता, लज्जा सामने खड़ी न होती तो हृदयकी ओरसे आये हुए उस प्रवाहमें बहकर उनका सब कुछ बाहर आ जाता, श्रीकृष्णचरणसरोरुहमें सर्वस्व समर्पित हो जाता। किंतु अचिन्त्य लीलामहाशक्तिके विधानसे ठीक अवसरपर ही लज्जा आकर व्यवधान बन गयी। इसीलिये आदरकी सामग्रियोंमें व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ, श्रीकृष्णचन्द्रको केवल दे सकीं लज्जामिश्रित हास्य एवं विनयसे पूरित स्निग्ध वङ्किम चितवनकी भेंटमात्र। किंतु करुणावरुणालय, गुणनिधान, परम रसमय व्रजेन्द्रनन्दनने इसे ही बहुत-बहुत करके माना; इस सत्कारके उपहारको आन्तरिक उल्लाससे स्वीकार करके तब वे व्रजके देवता, भावग्राही, रसिक, रसनिधान प्रभु गोष्ठमें प्रविष्ट हुए।

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः॥
पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ४२-४३)

स्याम सचिक्कन सौरभ केसा।
गोरज भर्‌यौ सुभग सुठि बेसा॥
मोर-पच्छ, बन सुमन-सुहाए।
अंग-अंग सोभित मन भाए॥
चितवनि ललित-मंद मृदु हासा।
बंसी-रव सब सुख निधि बासा॥
ब्रज-जुवती-दृग भृंग सम, कृष्न-बदन बर कंज।
पान कर्‌यौ मकरंद-मद, बिरह-ताप-भय-भंज॥
ललित कटाच्छ-छेप हरि कीन्हा।
सलज मंद मुसुकनि सुख दीन्हा॥
ब्रजबनिता एहि बिधि सनमानी।
भवन प्रवेस कीन रसखानी॥

× × ×

मंद-मंद गति गाइन पाछे।
चलत ललन छबि पावत आछे॥
गोरज-छुरित कुटिल कच बने।
जनु मधुकर पराग-रस सने॥
मंजुल मोरमुकुट की लटकनि।
कंचन कुंडल गंडनि झलकनि॥
उर बनमाल, सुनैन बिसाल।
बाजत मोहन बेनु रसाल॥
सुनि कै गोपबधू सब निकसीं।
मुद्रित कमलकलीं जनु बिकसीं॥
हरि-मुख-कमल भर्‌यौ रस-रंग।
गोपी-लोचन लंपट भृंग॥
पुनि-पुनि करि कै पान अघाने।
दृगन के बासर बिरह सिराने॥
तब कछु नैनन पूजा कीनी।

लज्जासहित हँसनि रँग भीनी॥
ता पाछे बर कुटिल कटाछे।
चली जु प्रेम रँगीलौ आछे॥
यह तिन की पूजा अभिराम।
लै आए घर मोहन स्याम॥

इस प्रकार जबसे नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके अन्तरालसे कैशोर झाँकने लगा, तबसे व्रजवधुओंकी, गोपकुमारिकाओंकी मन:स्थिति बदली, दिनचर्यामें परिवर्तन हुआ तथा प्रात:-सायं श्रीकृष्णदर्शनके समय उनकी यह उपर्युक्त अवस्था रहती। अवश्य ही अबतक कोई भी इसे जान नहीं सका था। किंतु आज जब श्रीकृष्णचन्द्र धेनुकवधके अनन्तर संध्याके समय गोष्ठमें प्रवेश करने लगे; वंशीका रव गूँज उठा—

वै मुरली की टेर सुनावत।
बृंदाबन सब बासर बसि, निसि-आगम जानि चले ब्रज आवत॥
सुबल, सुदामा, श्रीदामा सँग, सखा मध्य मोहन छबि पावत।
सुरभीगन सब लै आगैं करि, कोउ टेरत, कोउ बेनु बजावत॥
केकी-पच्छ-मुकुट सिर भ्राजत, गौरी राग मिलै सुर गावत।
सूर स्याम के ललित बदन पर गोरज छबि कछु चंद छपावत॥

—उस समय उन्हें देखकर वे व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ एक बार तो उन्मादिनी-सी हो उठीं। कुछ क्षणोंके पश्चात् किसी अचिन्त्य शक्तिने उन्हें प्रकृतिस्थ अवश्य बना दिया; पर उनकी यह विचित्र अवस्था कतिपय वयस्क व्रजपुरन्ध्रियोंके लिये आश्चर्यका विषय तो बन ही गयी। लज्जाके भारसे दबी वे व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ, आज नन्दावासमें भी न जा सकीं। श्रीकृष्णचन्द्रकी स्मृति अपने मनमें धारण किये उस तोरणकी ओर शून्य आँखोंसे देखती रह गयीं, जहाँ पहुँचकर नीलसुन्दर व्रजरानीका लाड़ स्वीकार करते हुए गायोंको यथास्थान पहुँचाते हुए उनके दृष्टिपथसे ओझल हो चुके थे।

इधर व्रजेन्द्रगेहिनी, श्रीरोहिणी आदिके मनमें यह भावना स्पर्शतक नहीं कर सकी है कि उनके नीलमणिमें आयुसम्बन्धी अथवा चेष्टागत कोई विशेष परिवर्तन हुआ है। जननीकी, श्रीरोहिणीकी आँखोंके सामने तो वे अभी भी दुधमुँहे बच्चे-जैसे ही हैं। सच तो यह है—माताओंके लिये नीलसुन्दरका कौमार, पौगण्ड, कैशोर उनकी वात्सल्य-धाराके आवर्त्तमें स्मृतिरूपसे, भविष्यकी सुखमयी कल्पनाके रूपसे सर्वथा प्रत्यक्ष-सा बनकर न जाने कितनी बार घूम जाता है! पर वास्तवमें उनके समक्ष कौन कितनी देर टिकता है, टिकेगा—इसकी मीमांसा आजतक किसीके लिये सम्भव न हो सकी। उनके मनोभाव जितने अंशमें क्रियारूपमें व्यक्त होते हैं, उसके आधारपर कोई सूक्ष्मदर्शी यत्किञ्चित् अनुमान भले कर ले कि मैया अमुक समयमें अपने पुत्रके अमुक वयस्-उचित भावसे भावित हैं। अन्यथा किसीको—अचिन्त्य सौभाग्यवश यदि माताओंको देख सकनेकी आँखें उसके पास हों तो—इतना ही दीख सकता है कि वात्सल्यजनित परम आर्त्ति एवं परम आनन्दकी लहरें उठ रही हैं एवं माताएँ सतत उसीमें बह रही हैं। जननी कभी तो किसी अनिष्ट-आशङ्कासे अत्यन्त विषण्ण हैं, कभी अत्यन्त तत्परतासे पुत्रके लिये खाद्य वस्तुएँ सँजो रही हैं, कभी आकुल चित्तसे प्रतीक्षा कर रही हैं और कभी प्राणोंके उल्लासमें भरकर प्रत्यक्ष लाड़ लड़ानेमें तन्मय हैं इतनी बेसुध-सी कि अपने शरीरका कोई भान ही जैसे न रहा हो। व्रजपुरमें क्या हो रहा है, क्या हुआ है यह कोई उन्हें सुना दे तो भले ही मनोयोगपूर्वक उसे सुन लें वह भी यदि घटना नीलमणिसे सम्बद्ध हो तो। नहीं तो, मनसे, शरीरसे राम-श्यामको लेकर वे अपने भावमें बह रही हैं। वनसे आते हुए नीलमणि, बलराम उन्हें दीख जाने चाहिये अथवा नीलमणि गोचारणके लिये वनमें चले गये, यह भावना उन्हें छू ले। फिर मैयाका, श्रीरोहिणीका मन कहाँ उलझा है—नीलसुन्दरको वे चन्द्र-दर्शन करा रही हैं कि गोचारणके प्रसङ्गमें छाक भोजन करा रही हैं अथवा मण्डप सजाकर नीलसुन्दरके ब्याहकी कल्पनामें तन्मय हैं यह जानना सहज नहीं है। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंके अन्तरालमें वस्तुत: व्यक्त हुआ कैशोर व्रजेन्द्रगेहिनीके लिये कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। उनके लिये तो वह कितनी बार आता है और फिर तत्क्षण ही नीलसुन्दर उन्हें स्तनपान करा देनेके लिये क्रन्दन करते हुए दीखने लग जाते हैं। अस्तु, मैया इस समय भी अपने भावमें मग्न रहकर ही प्रतीक्षामें बैठी हैं। और यह लो, देखो, उनके

कर्णपुटोंमें भी वंशीरव प्रविष्ट हुआ तथा जननी एवं श्रीरोहिणी उधर ही दौड़ चलीं। नहीं-नहीं, राम-श्याम तो उनके भुजपाशमें बँध चुके—

पहुँचे आइ स्याम ब्रजपुर में, घरहिं चले मोहन-बल आछे।
सूरदास प्रभु दोउ जननी मिलि, लेति बलाइ बोलि मुख 'बाछे'॥

प्रतिदिनकी भाँति आज भी जननी एवं श्रीरोहिणीने राम-श्यामका संलालन किया। भवनमें पधार जानेपर समयके अनुरूप एवं दोनों पुत्रोंकी रुचिके अनुसार समस्त वस्तुओंकी व्यवस्था की गयी। परिधेयवस्त्र, भोजनसामग्री, पेयपदार्थ—सभी राशि-राशि एकत्रित कर दिये गये एवं राम-श्यामकी मनुहार आरम्भ हुई। दोनों माताओंने उद्वर्तन लगाकर, स्नान कराकर एवं अन्य विविध उपचारोंसे अपने पुत्रोंकी वनविहारजन्य समस्त श्रान्ति हर ली। अतिशय मनोहर सुन्दर वस्त्र धारण कराये, चन्दनसे श्रीअङ्गोंको चर्चित किया, दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ धारण करायीं। इतना हो जानेके अनन्तर सुन्दर आसनपर उन्हें विराजितकर परम सुस्वादु भोजन-सामग्रियाँ माताओंने अपने हाथों परोसीं तथा राम-श्यामने भी जननीका लाड़ स्वीकार कर एक-एक वस्तुका स्वाद लिया। भोजनसे परितृप्त होकर—होते-होते ही नीलसुन्दरकी, बलरामकी आँखें घुलने लगीं और तब व्रजरानीने दोनोंको ही अतिशय सुन्दर शय्यापर पधराया। बस, फिर तो देखते-देखते राम-श्यामके दृग् निमीलित हो गये। जननीका अङ्क उपधान बना और वे दोनों सुखकी नींद सो गये—

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः॥
गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्त्रग्गन्धमण्डितौ॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ४४—४६)

दोउ जननीं सुत उभय निहारी।
हरषि उठाय अंक बैठारी॥
आसिष दै पुनि बिबिध प्रकारा।
सुत लड़ाइ सुख लहीं अपारा॥
ललित कपूर उबटि अन्हवाए।
श्रम-पथ सकल सुदूरि बहाए॥
नील-पीत पट कटि-तट बाँधी।
एहि बिधि सुत जसुमति आराधी॥
पुनि सुगंध चर्चित करि गाता।
सुमन माल पहिराइ सुहाता॥
भोजन बिबिध प्रकार अनेका।
जसुमति परसे सहित बिबेका॥
भोजन करि हरि प्रीति जुत, जननी-तलप सवारि।
सोए तहँ जदुबंसमनि, अखिल लोक सुखकारि॥

× × ×

जसुमति द्वार आरतौ कियौ।
पौंछि कै बदन सदन मैं लियौ॥
उबटन उबटि फुलेल लगाइ।
स्वच्छ सुगंध सलिल अन्हवाइ॥
सुभग सुस्वाद सुबिंजन आनि।
जननी ज्याँये अपने पानि॥
रितु-रितु के भोजन अनुकूल।
रितु-रितु के बर फूल-दुकूल॥
दुग्ध-फेन सम सेज बनाइ।
पौढ़े तहाँ कुँवर बर जाइ॥

व्रजेन्द्रनन्दनकी यह सुखमयी निद्रा उनके ही चरणसरोरुहकी छायामें सतत विश्राम करनेवाले भक्तोंकी परम निधि होती है। प्रतिदिन उनके प्राण पूर्णतया आश्वस्त होते हैं अन्तमें यह दर्शन कर लेनेपर ही। अतिशय मञ्जुल झाँकी होती है यह यदि किसीकी आँखोंमें इसे देखनेकी क्षमता नीलसुन्दर भर दें तो!—

'नंद' नींद नँद-नंद की, कही जु इहि अध्याइ।
गुनातीत कौ सोइबौ, सब भगतन कौ भाइ॥

गोप-बालकोंके साथ बलराम-श्रीकृष्णकी विविध मनोहारिणी लीलाएँ

शरद्ने राशि-राशि कमलोंके उपहार श्रीकृष्णचन्द्रको समर्पित किये, हेमन्तने नवधान्योंका अम्बार सजाकर नन्दनन्दनकी अर्चना की, शिशिरने ओसकणोंकी असंख्य मालाएँ पिरोकर श्रीचरणोंके लिये पथ सजाया, वसन्तने कुसुमित वल्लरियोंका, मुकुलित आम्रशाखाओंका वितान निर्मितकर, मलयमारुतका व्यजन डुलाकर, भ्रमर-गुञ्जनसे, कोकिलके कुहू-कुहू रवसे नीलसुन्दरका क्षण-क्षणमें अभिनन्दन किया। इस प्रकार धेनुक-वधके अनन्तर चार ऋतुएँ आयीं तथा श्रीकृष्णचन्द्रका आनन्दवर्द्धन कर, उनकी उन-उन लीलाओंके अनुरूप देश-कालका निर्माण कर वृन्दाकाननके सघन कुञ्जोंमें जा छिपीं और अब इनके पश्चात् समयपर ही आया है नन्दनन्दनके सप्तम वर्षका ग्रीष्म। शरीरधारीमात्र इसके स्पर्शसे जलने लगते हैं, इसलिये उन्हें यह बहुत प्रिय नहीं; किंतु वृन्दाकाननका स्पर्श इसे भी मनोरम बना देता है, सर्वथा बदल देता है इसके तपनशील, ज्वालामय स्वभावको। व्रजवासी कालमानसे गणना भले कर लें कि यह ग्रीष्म है, पर ग्रीष्मके दाहक गुण उनके दृष्टिपथमें नहीं आते। वहाँ तो वसन्तकी ही छटा फैली होती है। क्यों न हो, जहाँ अनन्त-ऐश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन एवं उनके अग्रज श्रीबलराम साक्षात् विराज रहे हों, उनकी लीला-मन्दाकिनीकी चिन्मय सरस धारा नित्य प्रसरित हो रही हो, वहाँ ग्रीष्मके जलते हुए नेत्रोंमें वसन्तकी सुषमा क्यों न पूर्ण हो उठे!

....।

ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम्॥
स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।
यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। २-३)

ग्रीषम रितु आपने सुभाइक।
प्रगट्यौ जगत सबन दुखदाइक॥
अति निदाघ तहँ कछु सुधि नाहीं।
दादुर दुरे फनी-फन-छाँहीं॥
सो बृंदाबन मधि जब आयौ।
सरस बसंत समान सुहायौ॥

× × ×

श्रीबृंदाबन गुन करि सोऊ।
मधु रितु सरिस देख सब कोऊ॥

× × ×

आइ ग्रीषम तेज तीषन भानु भीषम देखियै।
मंडि भू नभ खंड मंडल कौं तच्यौ अवरेखियै॥
तप्त बेग प्रचंड ह्वै चलि सो प्रभंजन आइ कैं।
संधि-संधि दिसानि पूरत धूर-धारनि धाइ कैं॥
सूर वोजन की जलाकनि जक्त कौ उर तापही।
बासु जे ब्रज में करहिं, तिन कौं प्रतापु न ब्यापही॥

सचमुच वनकी, इस ग्रीष्मके समय भी, कैसी निराली शोभा है!—अगणित निर्झरोंके मधुर 'झर-झर' शब्दमें झींगुरोंकी कर्णकटु झंकार आच्छादित हो गयी है। उन प्रपातोंसे असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित हो रहे हैं, उनसे सिक्त हुई सम्पूर्ण वनस्थली, वह स्निग्ध हुई समस्त तरुश्रेणी अद्भुत-रूपसे सुशोभित हो रही है। सर्वत्र हरित तृणोंका आस्तरण-सा आस्तृत है। सरिता, सरोवर एवं प्रपातोंकी लहरोंपर बहती हुई वायु अत्यन्त शीतल हो रही है; कुमुद, पद्म, नीलोत्पल आदि अनेक पुष्पोंके किञ्जल्कको अपने अञ्चलमें भरकर वनकी, व्रजपुरकी परिक्रमा कर रही है; मन्द मन्थर गतिसे झुर-झुर कर प्रत्येक वृन्दावनवासीका स्पर्श कर रही है वह। इसीलिये किसी भी काननवासीको ग्रीष्मकालीन सूर्यके, अग्निके तापकी अनुभूति नहीं। सरिताओंका जल क्षीण न हुआ, ह्रद शुष्क न हुए, सरोवरकी श्री म्लान न हो सकी; अपितु सबमें ही अगाध जल भरा है। उनमें अभी भी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं। उन लहरोंसे तट निरन्तर प्लावित हो रहा है। भूमिमें, पुलिनमें सर्वत्र आर्द्रता भरी है। विषके समान उग्र सूर्यकी ये रश्मियाँ तनिक भी काननके, व्रजपुरके धरातलका रस-शोषण न कर सकीं, वहाँकी हरितिमाका

अपहरण न कर सकीं; सर्वत्र हरियाली ज्यों-की-त्यों बनी है। वहाँकी तरुराजि, लताएँ वैसी-की-वैसी राशि-राशि कुसुमोंके भारसे अभी भी नमित हैं। कण-कणसे सौन्दर्यका स्रोत वैसे-के-वैसे प्रसरित हो रहा है। विविध विचित्र विहंगमोंका कलरव, मृगोंका मनोहर संचरण, मयूरोंका सुन्दर रव, भ्रमरोंका मधुर गुञ्जन, कोकिलका, सारसका कूजन—सभी ज्यों-के-त्यों बने हैं। वृन्दाकाननमें निरन्तर परिव्याप्त उस अप्रतिम श्रीका कहींसे तनिक भी ह्रास न हो सका है।

यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम्।
शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम्॥
सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना
कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो
निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले॥
अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभि-
र्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा
भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते॥
वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम्।
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। ४—७)

झरना झरत बिपुल बहु रंगा।
झिल्ली-रव सब ह्वै गए भंगा॥
तरु-राजी तेहि तट-तट सोहति।
जल-कन तें सुभ हरित विमोहति॥
फल-दल-सुमन ललित सब काला।
मुनि-मन-मोहक सुरभि रसाला॥
सरिता-सर-थल सुभग अनूपा।
बिगसे कंज-पुंज बहुरूपा॥
ताहि परसि बह मंद समीरा।
सीतल-सुखद हरै जन पीरा॥
तृन तट हरित सुभग सुखकारी।
ब्रज जन ताप-ओघ-अघहारी॥
तहँ निदाघ ब्यापै नहीं, भानु-कृसानु न जार।
बनबासी मुद जुत रहत, निरखत नंदकिसोर॥
ह्रदनी बारि अगाध, तरल तरंगिनि तट परसि।
तृन सब हरित अबाध, छिति रह संतत पंक-जुत॥
नहिं प्रचंड कर छुअत दिनेसू।
तेहि थल कौ रस कबहुँ नरेसू॥
जाहि रस्मि करि सब जग तापू।
सो ब्रज भू रंचक नहि ब्यापू॥
कुसुमित बन सुंदर अति पावन।
बोलत खग-मृग सुभग सुहावन॥
गावत मत्त मयूर अनेका।
अलि सारस परिभृत सुर एका॥

(एक हस्तलिखित भागवतसे)

× × ×

ठाँ-ठाँ गिरि तैं निर्झर झरैं।
ते वै सलिल सिलन पर परैं॥
तिन तैं बहति जु सरिता गहिरी।
दूरि-दूरि लौं परसति लहरी॥
बहुरि अनेक अगाध जु सरबर।
रस झूमरे, घूमरे तरबर॥
तिन के तर तृन-बीरुध जिते।
हरित-हरित रँग भरित सु तिते॥
तरनि-किरनि जिन नैंक न परसै।
छिन छिन में छबि तिन में सरसै॥
कुसुमित बनराजी अति राजी।
जैसी नहिंन बसंत बिराजी॥
ठौर-ठौर सर सरसिज फूले।
डोलत लंपट अलिकुल भूले॥
कमल पवन अरु चंदन पौन।
मिलि जु बहत, सुख कहियै कौन॥
बोलत सुक, जनु सुक-मुनि पढ़े।
सरसुति सम कल कोकिल रढ़े॥
मधुर-मधुर सुर बोलत मोर।
नंद-सुवन के मन के चोर॥

(नंददास)

× × ×

कुंज कुंज कदंब भूंरुह ब्रंद बेलिनि सौं मिलैं।
फूल झौंरनि भौंरि झौरत दौंरि भौंरन सौं हिलैं॥
चंड अंसन कौं प्रबेसु न ह्वै सकै तिन में तहाँ।

मित्रजा-जल की हिलोरनि के परैं कनिका जहाँ॥
गंधबाहक पौंन जो मधु डारि कंजन कोस कौं।
देखि कै मिटि जातु दग्ध हृदै तृषार्दित जास कौं॥
हंस बंस करैं कलोलनि, कोकिला कल कौं करैं।
स्वच्छ पच्छिय लच्छ लच्छन बोलि कैं मन कौं हरैं॥
मोदकारी है सदा बन, पुष्प सौरभ कौं भरैं।
सक्र कौ बन होतु का, वह नाम नंदन कौं धरै॥

(कृष्णचन्द्रिका)

अस्तु, आज भी सदाकी भाँति श्रीकृष्णचन्द्र सब ओरसे कुसुमित, हरितिमाका पुञ्ज बने हुए इस परम रमणीय वनमें विहार करनेके उद्देश्यसे चले जा रहे हैं। आगे-आगे उछलती-कूदती चली जा रही हैं असंख्य गायें तथा उन्हें सब ओरसे घेरकर अतिशय उल्लासमें भरे फुदकते-से जा रहे हैं वे अपरिमित शिशु। पथका निर्देश उनके पार्श्वमें विराजित अग्रज श्रीबलरामके द्वारा हो रहा है; क्योंकि स्वयं नीलसुन्दर तो आज अधरोंपर वंशी धारण किये हुए विविध रागिनियोंकी तान छेड़नेमें तन्मय-से हुए झूम रहे हैं—

क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः।
वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। ८)

तेहिं बन प्रबिसे कृष्न कृपाला।
भ्रात सहित छबि-धाम गुपाला॥
बेनु बजाइ, गोप लै संगा।
धेनु अग्र लिऐं नाना-रंगा॥
क्रीडा हित तहँ गे जदुनंदा।
जन पालक-हरि आनँद-कंदा॥

× × ×

इहि बिधि बृंदाबन छबि पावत।
तहँ मनमोहन धेनु चरावत॥
बल समेत ब्रजबाल समेत।
श्रीनिकेत सबहिन सुख देत॥

× × ×

उमड़े द्रुम, झुमडे लतनि, सुमड़े सुमन अपार।
निबिड़ छाँह सीतल, जहाँ बिहरत नंद कुमार॥

तथा वनविहार आरम्भ होनेसे पूर्व सबका अपना मनोवाञ्छित शृङ्गार हो जाना भी अनिवार्य है ही। इसके लिये भी सम्पूर्ण व्यवस्था काननकी अधिष्ठात्री पहलेसे ही प्रस्तुत रखती हैं। वह देखो, आगे उस विस्तृत वनखण्डमें वृक्षोंके वितानके नीचे भूमिको स्पर्श करनेवाली उन हरी-हरी लताओंके समीप सभी अपेक्षित सामग्रियाँ एकत्रित कर दी गयी हैं। नव पल्लव झुक-झुककर आह्वान-से कर रहे हैं—'आओ, वनके देवता! मुझे अपने श्रीअङ्गपर, सखाओंके अङ्गोंपर स्थान देकर कृतार्थ कर दो! तुम्हारा आभरण मैं बनूँ, इससे अधिक मेरा और सौभाग्य क्या होगा।' राशि-राशि मयूरपिच्छ विस्फारित-नेत्र-से हुए प्रतीक्षा कर रहे हैं—'कब नन्दनन्दनका, उनके सखाओंका स्पर्श हमें प्राप्त हो जाय।' किसीने जैसे चयन कर पुष्पोंका ढेर लगा दिया है, उनके रूपमें द्रुमवल्लरियोंके हृदयका आह्लाद, आह्लादकी बिखरी हुई लहरें मानो बाट देख रही हैं—'वे आ रहे हैं नीलसुन्दर, हमें धारणकर अलङ्कृत होंगे वे एवं उनके प्राणसखावर्ग!' गैरिक आदि धातुओंने तो जैसे अपने अन्तस्तलका राग समर्पित करनेके उद्देश्यसे वनकी उन पगडंडियोंके समीप ही अपना नित्य आवास बना लिया है—'पता नहीं, कब नीलसुन्दर हमारे द्वारा रञ्जित होनेकी इच्छा कर लें!' इस प्रकार सभी वस्तुएँ एक साथ उपलब्ध हो गयी हैं, तब इनके उपयोगमें विलम्ब क्यों हो। राम-श्यामने, गोपशिशुओंने देखते-देखते ही इन नव किसलयोंसे, मोरपंखोंसे, चित्र-विचित्र कुसुमगुच्छोंसे, विविध वर्णमयी पुष्पमालाओंसे, रंगीन धातुओंसे अपने-आपको भाँति-भाँतिके वेशमें सजा लिया—

प्रवालबर्हस्तबकस्त्रग्धातुकृतभूषणाः।

(श्रीमद्भा० १०। १८। ९)

मोर-पच्छ, स्त्रज, धातु, प्रबाला।
सुमन-गुच्छ किय बेस बिसाला॥

× × ×

कहूँ रचत भूषन, बनमाल।
लै-लै फल-दल-फूल-प्रबाल॥

× × ×

सिर मोरपच्छ बनाइ खसित संगमें।
गिरि-धातु गात लगाइ राजत रंगमें॥

उरमाल स्वच्छ बिसाल गुंजनि की बनी।
कुसुमालि सुष्ठ सुगन्ध सोहति है घनी॥

और तब व्रजेन्द्रनन्दन खेलने चले नृत्यमय, संगीतमय बाहुबलप्रदर्शनमय विविध खेल!—

रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः।
(श्रीमद्भा० १०। १८। ९)

नृत्य-गान करि जुद्ध-बिधानू।
राम-कृष्न मिलि गोप सुजानू॥

× × ×

तहँ निर्त करत अनेक लीलनि कौं धरैं।
गति भेदबर्ति अपार तालनि कौं भरैं॥

किसकी सामर्थ्य है, जो ठीक-ठीक चित्रित कर दे चिदानन्दमयके इस खेलको। सूचीमात्रका निर्माण कर देते हैं वे लोग, जिनके नेत्रोंमें श्रीकृष्णचरणसरोरुहकी रजका अञ्जन लगा होता है। वह भी इतना-सा ही—जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य करने लगते, उस समय अतिशय मधुर कण्ठसे बलराम संगीतकी तान छेड़ते तथा एक मण्डली उनके कण्ठमें कण्ठ मिलाकर उस संगीतमें योगदान करती। सुबल बाँसुरीमें स्वर भरता तथा उसकी गमकका अनुसरण करते हुए कुछ शिशु वंशीवादनमें तत्पर होते। अर्जुन शृङ्ग बजानेका नेता होता एवं उसी लयके साथ एक मण्डली अपने-अपने शृङ्गोंको फूँकती रहती। कुछ शिशु अर्द्ध निमीलित नेत्रोंसे, कुछ अपलक-नेत्र हुए हथेलीके द्वारा ताल देनेमें संलग्न रहते। स्तोककृष्ण एवं उसके समवयस्क शिशुओंकी एक टोली नीलसुन्दरकी गतिभङ्गिमाओंका ठीक-ठीक अनुकरण करनेमें, वैसे ही नृत्य करनेके प्रयासमें तन्मय रहती। इस अवसरपर श्रीदाम सभापतिके आसनपर विराजित होता तथा उसके मुखसे एवं शेष समस्त बालकोंके मुखसे 'वाह-वाह' की अतिशय उल्लासभरी ध्वनि अन्तरिक्षको रह-रहकर निनादित करती रहती। किंतु नीलसुन्दरके उस त्रिभुवनमोहन नृत्यका प्रभाव भी विचित्र ही होता। कुछ ही क्षणोंमें सहचारी नर्त्तक बालक मुग्ध होकर, अपने नृत्यका विराम कर उनकी ओर ही निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लग जाते। रामका एवं उनके सहयोगी गायकोंका कण्ठ भर आता, संगीत-स्वर-लहरी स्थगित हो जाती और मत्त-से हुए वे सब-के-सब देखने लग जाते श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही। वंशीमें स्वर भरनेवाले अर्जुन एवं उसके सहायकोंकी भी यही दशा होती। कब वंशीवादनकी क्रिया छुट गयी, वह भी वे नहीं जान पाते। अँगुलियाँ छिद्रोंसे लगी रहतीं, होठ भी फूँक भरनेकी मुद्रामें ही रहते, पर फूँक भरनेकी क्रियात्मक वृत्ति नृत्यपरायण नन्दनन्दनमें सहसा विलीन हो जाती। शृङ्गवादी बालक भी अपनी सुध-बुध खोकर ज्यों-की-त्यों मुद्रामें व्रजेन्द्रनन्दनकी ओर देखने लग जाते। हथेलीसे ताल देनेवाले शिशु भी विभोर हो जाते, उनके तालका भी विराम हो जाता। श्रीदाम एवं शिशुसभासदोंकी वाणी भी रुद्ध हो जाती। इस प्रकार एक अद्भुत नीरवता-सी छा जाती और इसके बीच अपने ही नूपुर, कङ्कण एवं कटिकिङ्किणीके 'रुन-झुन' तालपर नीलसुन्दरका नृत्य चलता रहता। उस समय अन्तरिक्षचारी देवगणोंको सुन्दर अवसर प्राप्त हो जाता। वे गोपशिशुओंका रूप धारण करते, नीचे उतर आते तथा गोपरूपधारी परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तुति करने लगते—इस भाँति जैसे मञ्चपर विराजित एक नरश्रेष्ठका स्तवन अन्य नट कर रहे हों! इतनेमें शिशु-सभासदोंकी, वंशी-शृङ्गवादकोंकी, तालधारियोंकी, गायकवर्गकी भावसमाधि टूटती और फिर साधुवादके तुमुल रवसे इस नृत्योत्सवकी समाप्ति होती!

अब दूसरी क्रीडाओंका क्रम चलता। कभी दोनों भाई राम-श्याम परस्पर हाथ पकड़कर कुम्हारके चाककी तरह घूमने लगते। उस समय कंधोंपर झूलती हुई उनकी घुँघराली अलकें अद्भुत शोभा धारण करतीं। पुनः साधुवादका स्वर गूँजता और शिशु भी तत्क्षण इस 'घुमरी-परेता' खेलका अनुकरण आरम्भ करते। तबतक राम-श्याममें होड़ लगती—कौन कितनी दूर पृथ्वीको फाँद सकता है। फिर तो दोनों ही साथ-साथ कूदते और कई हाथ लंबी भूमिका लङ्घन कर जाते। कभी यह परीक्षा होती कि क्षेपणयन्त्रसे अथवा हाथके वेगसे ही ढेले, प्रस्तरखण्ड अथवा अमुक मानके फलको कौन कितनी दूर फेंक सकता है। कभी ताल ठोक-ठोककर दोनों भाई दो

दलोंके अधिनायक बन जाते! नीलसुन्दर अपना दुकूल अथवा राम अपना उत्तरीय गोदोहनकी रज्जुमें लपेट देते। इसकी एक छोरको पकड़ लेता रामके सहित रामका दल एवं दूसरे छोरको धारण करता नीलसुन्दरके सहित उनका दल और तब उसे खींचते दोनों अपनी-अपनी ओर। विजय किसकी होती, इसे देखते अन्तरिक्षचारी देवगण अथवा वे देखें, जिन्हें वैसी आँखें प्राप्त हों। शिशुओंमें तो विवाद हो जाता—'जय मेरी हुई। नहीं-नहीं, मेरे दलकी हुई।' अवश्य ही उस समय भी राम-श्याम हँसते होते तथा बलाबलका निर्णय करनेके लिये जब बाहुयुद्धकी परस्पर दोनों दलोंमें चुनौती होती, तब हँस-हँसकर पहला युद्ध दोनों भाइयोंका ही होता।

किंतु अधिक देरतक यह मल्लक्रीडा चल नहीं पाती। सदाकी भाँति स्तोककृष्ण गरज उठता और सभी शङ्कित हो जाते—'अरे! कन्नू श्रान्त हो गया है।' तथा प्रसङ्ग बदलनेके उद्देश्यसे एक मण्डलीका प्रस्ताव अग्रजके समक्ष या नीलसुन्दरके आगे आ ही जाता—'अरे दादा! अरे कन्नू भैया! हमलोग तो नाच ही नहीं सके, कुछ हमलोगोंकी भी कला देखो!' बस, वहीं श्रीकृष्णचन्द्र एवं रोहिणीनन्दनका कार्यक्रम बदल जाता। पुनः छिड़ जाती बाँसुरीकी तान, बह चलती संगीतकी मधुधारा और वे शिशु नृत्य करने लगते। स्वयं श्याम-बलराम राग अलापकर, वंशी-शृङ्ग बजाकर उनमें उत्साह भरते, साथ ही नृत्यके ताल-परिवर्तनके समय—न जाने कैसे, संगीत-स्वरलहरी, वाद्य-झंकृति अक्षुण्ण बनी रहकर ही—दोनों भाइयोंके श्रीमुखसे निर्गत साधुवादका वह सुधास्यन्दी स्वर सखाओंमें आनन्दोन्मादका संचार करने लगता।

अस्तु, यह उद्दाम नृत्य पुनः चञ्चल चेष्टाओंको जाग्रत् करता। देखते-देखते ही बिल्व, जायफल, आमलकी फलोंको परस्पर एक-दूसरेपर फेंकनेकी क्रीडा आरम्भ हो जाती। मार बचानेके उद्देश्यसे पराजित दल कुञ्जोंमें छिपने जाता और इस प्रकार आँख-मिचौनीके खेलका सूत्रपात होता। दौड़-दौड़कर परस्पर स्पर्श करनेकी क्रीडा भी इसके अन्तर्गत ही प्रारम्भ हो जाती तथा आगे चलकर न जाने कितने रूपोंमें यह खेल चलता रहता।

विहंगम एवं पशुओंकी चेष्टानुकृति भी दैनंदिनी क्रीडाका आवश्यक अङ्ग है ही। यह भी होती ही। साथ ही अल्पवयस्क शिशुओंके साथ मेढककी भाँति फुदक-फुदककर चलनेका खेल राम-श्याम न खेलें—यह कैसे सम्भव है। अपने मुँह फुला-फुलाकर, उसे भाँति-भाँतिसे विकृतकर सजाकर सखाओंका आनन्दवर्द्धन भी वे करेंगे ही, करते ही। इसके अतिरिक्त वह स्थावर तरुश्रेणी सेवा समर्पित करनेकी, उनके योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीअङ्गस्पर्शकी प्रतीक्षामें ही तो खड़ी है तथा परमोदार गुणागार प्रभु उसका मनोरथ पूर्ण किये बिना कैसे रहें? इसीलिये उन तरुशाखाओंमें अपने हाथों झूला डालकर श्रीकृष्णचन्द्र झूलने लगते। राज्यशासन, प्रजापालनका खेल हुए बिना भी उन शिशुओंको चैन नहीं। इसलिये इसका भी सम्पूर्ण अनुकरण होता। राजाके पदको या तो सुशोभित करते नीलसुन्दर या बलराम और फिर देखनेयोग्य होती उनकी वह खेल-खेलकी अद्भुत शासन-व्यवस्था! अस्तु, यह है उनकी ग्रीष्मकालीन—विशेषतः आजकी क्रीडाकी एक संक्षिप्त सूचिका—

कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन्।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे॥
गोपजातिप्रतिच्छन्नौ देवा गोपालरूपिणः।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप॥
भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः।
चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्॥
क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ॥
क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया॥
क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः।
कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। १०—१५)

नचत कृष्न जब ता समैं, कोउ गावत सुर बाँधि।
अपर बाद्य बहु बिधि करत, कोउक ताल सुर साँधि॥
धन्य-भाग्य ते गोपबर, जे बिहरत हरि संग।

मिले न थोरे पुन्य बिनु, सपरस प्रभुको अंग॥
गोप जाति करि बेस, बिबुध बृंद मोहैं सकल।
पहिलेहिं कह्यौ नरेस, छिति गइ जब बिधि के निकट॥

कोउक गोप तहँ करैं प्रसंसा।
कोउक सृंग रव पूरहिं बंसा॥
कोउ कह भले-भले जू नटबर।
नचे भली बिधि सौं गति धर बर॥
रीझि रीझि कोउ इमि कह बानी।
जिमि नट कौं नट कहै बखानी॥
क्रीड़त बिबिध भाँति दोउ भ्राता।
काक पच्छ धर सुभग सुगाता॥
ताल ठोकि लंघत अरु गाजत।
आकरषन करि जुग-जुग राजत॥
कबहुँ ग्वाल सँग भिरत बलाई।
कबहुँ हास्य करि हँसत हँसाई॥
अपर ग्वाल कोउ नचत प्रबीना।
गावत दोउ जन राग नबीना॥
बाद्य बजाइ प्रसंसत तिनही।
परम भाग्य मानों जग उनही॥
कबहुँ बिल्व फल सो हरि लरही।
कबहुँक अमलक लै पुनि भिरही॥
कबहुँक कुंभी फल बहु आनी।
भिरत परसपर अति सुख मानी॥
मुष्टि बंध कबहुँक करि ख्याला।
रमे गोप सँग प्रभु गोपाला॥
नेत्र-बंध-लीला पुनि करहीं।
खग-मृग-ईहा पुनि संचरहीं॥
पुनि दादुर-गति चलत-चलावत।
बहुत हास्य करि सखन हँसावत॥

कबहुँक करि स्पंदोलिका, क्रीडत नृप इव ख्याल।
अखिल लोक पति गोपबर, बन्यो नंद कौ लाल॥

× × ×

कहूँ अवधि बदि मेलत डेलन।
कहूँ परस्पर खेलत बेलन॥
कहुँ अँग छुवनि, कहूँ दृग बंधनि।
कहुँ चढ़ि जात द्रुमन के कंधनि॥
कबहूँ निर्तत मोहनलाल।
ताल बजावत गावत ग्वाल॥
कबहूँ बर हिंडोल बनावत।
झूलत मिलि, गावत छबि पावत॥
कबहूँ राज-सिंहासन ठानत।
छत्र, चँवर फूलन के बानत॥
राजा ह्वै रजई दिखरावत।
ग्वाल-बाल दुंदुभी बजावत॥

× × ×

करि गान, तान उचारि मोहन मोहियौ।
सुर बीन बेनु बजाइ सोहन सोहियौ॥
फिरि बाहु-जुद्ध बिसाल आपुस में रचैं।
उत-सर्प, कूदन, बाहुछेपनता सचैं॥
फल-फूल-पत्र नवीन कोमल हेरि कैं।
तहँ जुद्ध-उद्धतता करैं हँसि-मेलि कैं॥
धुनि फेरि जो म्रग आदि पच्छिन की करैं।
सब गोप-ग्वाल उमंगि आनँद सौं भरैं॥

अमित भाव लीला करत, अमित चरित्र बिहार।
अमित ख्याल नाँधत तहाँ, राम-क्रस्न सुकुमार॥

कौन पहचान सकता है इस समय परब्रह्म पुरुषोत्तमको इस वेशमें? एक प्राकृत शिशु और उनमें क्या अन्तर रहा है?—

लौकिक लरिकन की सी नाँईं।
खेलत खेल जगत के साँईं॥

इसीलिये कंसप्रेरित प्रलम्ब दैत्य भी भ्रमित हो गया, प्रत्यक्ष दर्शन पाकर भी नहीं पहचान सका वह अनन्तैश्वर्यनिकेतन प्रभुको और अब गोपशिशुका वेश धारणकर उन विश्वपतिकी वञ्चना करने चला है वह मूढ़!—

असुर-राज प्रलंब आइव। सखा-रूप अनूप ठाइव॥
दनुज-कुल-सिरताज जानहुँ। कंस त्रप कौ मित्र मानहुँ॥
आइ मिलि खल खेल खेलतु। बात नहिं मन में गदेलतु॥
अखिल जगु जिहिनै रमायव। असुर तासौं छल बनायव॥

प्रलम्बासुर-उद्धार

यद्यपि प्रलम्बने वेशका अनुकरण करनेमें कोई कसर नहीं की, बाह्यदृष्टिमें वह सचमुच गोपशिशुके रूपमें ही परिणत हो गया, श्रीकृष्णसङ्गसे दिनभरके लिये वञ्चित हुए, घरमें अभिभावकोंद्वारा रुद्ध उस बालककी सम्पूर्ण मुद्राएँ, चेष्टाएँ सोच-सोचकर उसने अपनेमें व्यक्त कर लीं, और यहाँ आकर इस समाजमें मिश्रित होनेके उद्देश्यसे, इसका ही आश्रय ले लेनेकी इच्छासे वह इसमें हँसता हुआ प्रविष्ट भी हो गया। तथापि सर्वज्ञ, सर्ववित् श्रीकृष्णचन्द्रकी आँखें तो उसपर पड़ ही गयीं—

वेशमस्थितगोपबालविशेषवेषं समुह्य तमेव च व्युह्य मिश्रीभवितुं शिश्रीषन् हसन्नेव तत्र प्रविष्टः परिदृष्टश्च कृष्णेन।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और लीलाविहारी ही तो ठहरे वे, कैसे अनजान-से बन गये और हँसकर बोले—

भद्र! कथं विलम्बमालम्बथास्तथापि भद्रं दुद्यूषासमय एव समयितस्त्वमसीति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे भैया! तुमने देर क्यों कर दी रे! फिर भी बहुत सुन्दर! तुम आ तो गये ठीक खेलनेकी इच्छा करते ही।'

नीलसुन्दरके सलोने दृगोंमें प्रलम्बका यह कृत्रिम सुन्दर गोपशिशुरूप ही नहीं, इसके अन्तरालमें प्रतिष्ठित महाभयंकर असुर-देह तथा इससे भी पूर्व जब वह 'विजय' नामक गन्धर्वके शरीरमें अधिष्ठित था, उस समयकी घटना, विजय गन्धर्वकी भावना—सब कुछ प्रतिचित्रित हो उठा। यह शिशु—नहीं-नहीं, प्रलम्बासुर अभी-अभी तो निराश कंस सम्राट्को क्रोधमें भरकर आश्वासन दे आया है……'घबरायें नहीं, प्रभो! क्या वह सामान्य गोपशिशु नष्ट नहीं होगा? अहो! सर्वविध्वंसी कालकी महिमा बड़ी विचित्र है; हिमाचलको भी वह दग्ध कर देता है, उसके आश्रित नदनदी-तड़ागोंको भी वह सोख लेता है।'

अहो! सर्वंकषज्वालस्य कालस्य महिमा हिमाचलमपि ज्वलयति तदाश्रितांस्तडागांश्च ताडयति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

तथा इस अभिसंधिसे ही वह इस समय यहाँ वनमें आया है—'राम-कृष्ण दोनोंको ही कंधोंपर उठाकर शीघ्र मधुवनकी सीमामें कंसके समीप ले जाऊँगा।'

द्वयमपि प्रक्षिप्य क्षिप्रमेव भोजराजपरिसरं परि समुपहरिष्यामीति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

सर्वथा भूल गया है वह अपने अतीतके जीवनको। वह हूहू गन्धर्वका पुत्र विजय था। कुसुम-चयन करने आया था चैत्ररथ वनमें। यक्षपति कुबेरके शापकी बात उसे ज्ञात न थी—'जो भी मेरे इस उद्यानसे पुष्प ग्रहण करेगा, वह—देव हो, मानव हो—कोई भी हो, असुर बनकर भूतलपर जन्म ग्रहण करेगा।' दैवप्रेरित विजयने अनजानमें ही पुष्पचयन किया और देखते-देखते ही गन्धर्व-पदसे च्युत हो गया। अवश्य ही असुर-देहमें अभिनिविष्ट होनेसे पूर्व उसने कुबेरकी शरण ले ली थी तथा यह वरदान भी वह प्राप्त कर चुका था—'विनीत गन्धर्व! चिन्ता मत करो! तुम विष्णुभक्त हो, तुम्हारी वृत्तियाँ शान्त हैं। जाओ, द्वापरके अन्तमें श्रीबलरामके हस्तकमलोंसे तुम्हें मुक्ति मिल जायगी। भाण्डीरवनमें यमुना-पुलिनपर वे प्रभु तुम्हारे अनादि संसरणको सदाके लिये शान्त कर देंगे, तनिक भी इसमें संदेह नहीं।' पर इन बातोंकी अब उसे तनिक भी स्मृति नहीं रही है, किंतु जगन्नियन्ता कैसे विस्मृत हो जायँ। प्रलम्ब उनके दृष्टिपथमें आया—चाहे कितना भी भ्रान्त होकर क्यों न आया हो, वे करुणावरुणालय प्रभु तो भ्रान्त नहीं हैं। वे तो सम्पूर्ण अतीत-अनागतको वर्तमानके रूपमें

ही नित्य देखते रहते हैं। इसीलिये इस समय यदुवंशविभूषण प्रभुने प्रलम्बकी मैत्रीका अभिनन्दन किया है; उसे इस असुर-देहसे निकालकर दूर—बहुत दूर, प्रकृतिके पार जो ले जाना है उन्हें!—

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। १८)

प्रभु सर्बग्य जानि सब बाता।
ताहि मारिबे कहँ मन राता॥
कर्यौ सखा ता कहँ सब जानी।
मरिहै खल एहि बिधि मन ठानी॥

अस्तु, नीलसुन्दरने शिशुवेशधारी प्रलम्बको स्नेहसे आप्यायित करते हुए यहाँतक कह दिया—

अद्यारम्भ सभ्य! मम परमसुहृद्भवानेव! त्वामहमक्षिगततया स्थापयिष्यामि। श्रीदामा राममेवान्वेतु।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मित्र! आजसे तुम्हीं मेरे परम सुहृद् हुए। तुम्हें मैं अपनी आँखोंमें ही रखूँगा। श्रीदामा अब बलरामदादाका अनुसरण करें।'

प्रलम्ब आया है उनपर अपनी चातुरीका विस्तार करने, जिनसे स्वयं विश्वस्रष्टा ब्रह्मामें भी ज्ञानका संचार होता है। अतएव वह मूढ़ समझ नहीं सका श्रीकृष्णचन्द्रकी इस उक्तिका तात्पर्य। वह तो क्या समझे, स्वयं समीपमें स्थित उनके अभिन्नस्वरूप, साक्षात् शेष, अनन्तदेव श्रीबलराम भी गन्ध न पा सके कि क्यों आज अभी सहसा, उनके अनुज अपने प्राण-प्रतीक श्रीदाम सखाको उनका अनुयायी बना दे रहे हैं तथा इससे पूर्व कि दाऊ दादा कुछ पूछ बैठें, वह नवागत गोपबालक—प्रलम्ब कुछ स्वीकृति या अस्वीकृतिकी मुद्रा भी प्रदर्शित कर सके, नीलसुन्दरका मेघ-गम्भीर स्वर सर्वत्र गूँज उठा, वे अभिनवकौतुकी क्रीडानायक पुकार उठे—'अरे भैयाओ! अब तो पहले हमलोग भलीभाँति बलाबलका निर्णय करके दो दलोंमें बँट जायँ और तब खेलें।'—

तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित्।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। १९)

सकल गोप टेरे जदुनाथा।
क्रीडा रत बोले गहि हाथा॥
अहो मित्र! द्वैद्वै मिलि साथा।
खेल खेलियै, होहु सनाथा॥
बल-बय सरिस आपने जानी।
जुग-जुग मिलि आवहु मन मानी॥

× × ×

कहत कि सुनहु भिया ही हीरी।
अवर खेल खेलहु बटि बीरी॥
द्वै द्वै ह्वै ह्वै आवहु ऐसें।
बल अरु अबल जानि कै जैसें॥

× × ×

सखा सिगरे निकट बोलत।
स्याम तिन सो बचन खोलत॥
सुनहु, सिसु! सब खेल छाँड़हु।
हौं कहतु, सोइ खेल माँड़हु॥

क्या क्रीडा होगी—यह घोषणा तो श्रीकृष्णचन्द्र कर ही देंगे। किसे अवकाश है कि वह पूछे। वहाँ तो नीलसुन्दरके इस आदेशके साथ ही आनन्दकी सहस्र-सहस्र धाराएँ उमड़ चलीं और गोपशिशु उसमें बहने लगे 'कन्नू रे! भैया रे! तुमने हमारी मनचाही कर दी!'—

इस उन्मादी साधुवादके स्वरमें सबने ही समर्थन किया; और तो क्या, स्तोककृष्ण भी—जो सदा दलबंदीका प्रस्ताव आनेपर भयभीत हो जाता, चिढ़ने लगता—किलक उठा; ताल ठोंककर उसने भी अनुमोदन किया। फिर क्या था, सर्वसम्मतिसे गोपशिशुओंने दलके अधिनायकका निर्णय किया; एकका नेतृत्व करेंगे बलराम तथा दूसरेका श्यामसुन्दर। यह हो जानेपर कुछ तो स्वेच्छासे श्रीकृष्णचन्द्रके अनुयायी बन गये और कुछ श्रीरामके! कुछने क्रीडामें विभाग करनेके नियमोंका अवलम्बन लिया

और उसके अनुसार विभक्त हुए। इसके अतिरिक्त शेष बालक विभाग कर देनेका अधिकार भी अपने प्राणसखा 'कन्नू' को ही दे देनेका निश्चय कर उनकी ओर देखने लगे। और यह लो! आज श्रीकृष्णचन्द्रने भी—पता नहीं क्यों—एक-एक शिशुको इस क्रमसे ही अपने पक्षमें लिया जो अपेक्षाकृत अपने प्रतिस्पर्धीसे न्यून बलशाली है। जो हो, श्रीकृष्णचन्द्रके मनोऽभिलषित दो विभाग प्रस्तुत हो गये—

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ।
कृष्णसंघट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। २०)

सुनत सखा सब अति हरषाने।
द्वै मुखिया करि सब बिलगाने॥
बीरी बाटि कीन्ह द्वै जूथा।
राम-कृष्न द्वै जूथप जूथा॥
एक वोर भए कन्हाइय।
एक वोर जु राम भाइय॥
सखा प्रभु सबरे गनावतु।
जुगल जुग जोरिन लगावतु॥

आजके खेलमें कौन किसका प्रतिस्पर्धी है—यह निर्णय भी स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनने ही कर दिया। श्रीबलराम हुए शिशुछद्मधारी प्रलम्बके प्रतिस्पर्धी और स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने अपने लिये वरण किया श्रीदामको—

××× **बलप्रलम्बौ श्रीदामात्मानौ मिथः प्रतिसंघट्टिनौ संघटय्य** ×××।

(श्रीगोपालचम्पूः)

आप श्रीदामहि बुलावतु।
राम अरु असुरहि मिलावतु॥

अब श्रीकृष्णचन्द्रने क्रीडाका नाम एवं विवरण सबको सुना दिया। क्रीडा है 'हरिणाक्रीडन' नामक। दो-दो बालक हिरनकी भाँति चौकड़ी भरते हुए एक निर्दिष्ट स्थानकी ओर चलेंगे। जो पहले उस लक्ष्यको स्पर्श कर ले, वह विजेता है। फिर उस विजेताको वह पराजित बालक अपनी पीठपर चढ़ाकर या तो मुख्य स्थानपर ले आये अथवा एक निर्दिष्ट स्थानतक पीठपर चढ़ाये हुए ले जाय और ले आये।

यह विवरण समाप्त होते-न-होते गोपशिशुओंने तो खेल आरम्भ कर दिया। दो-दोकी अगणित जोड़ियाँ एक साथ उठ गयीं। और फिर तो देखने ही योग्य है उन बालकोंके द्वारा हरिणोंका अनुकरण। इस एक क्रीडाको ही उन सबोंने न जाने कितने विविध रूपोंमें सजा दिया—

हरिणाक्रीडनं नाम बालक्रीडनकं ततः।
प्रकुर्वन्तो हि ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्थितौ॥

(श्रीविष्णुपु० ५। ९। १२)

आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः।

(श्रीमद्भा० १०। १८। २१)

जे जीते ते चढ़ि चले, हारे बहैं सु ताहि।
एहि बिधि क्रीडा रचि तहाँ खेलत अति चित चाहि॥

अधिनायक राम, कृष्ण एवं उनके प्रतिस्पर्धी प्रलम्ब तथा श्रीदामकी बारी पीछे आयेगी। अभी तो शिशुओंके उद्दाम कौतुकका प्रवाह है। वाग्वादिनीको भी उनके कण्ठकी ओटसे अवसर मिल गया है। न जाने कैसी-कैसी अद्भुत विचित्र एवं रसमयी, प्रतिभामयी तुकबंदियोंकी रचना कर वे शिशु अपने आन्तरिक उल्लासको व्यक्त कर रहे हैं—

....।

आवन लागे धरि-धरि नाम॥
कोउ लेउ चंद, कोउ लेउ सूर।
कोउ खजूर, कोउ लेहु बबूर॥

किंतु अब प्रलम्बको त्वरा है—'कैसे इन दोनोंको उठाकर ले भागूँ?' फिर तो तत्क्षण ही अनन्तैश्वर्यनिकेतन व्रजेन्द्रनन्दनके हृत्तलपर भी उसकी यह त्वरा प्रतिचित्रित हो जाती है। वाञ्छाकल्पतरु ही ठहरे वे। तुरंत बोल उठे—'अच्छा श्रीदाम! आओ, तुम मेरे साथ और यह मेरा नवीन मित्र होड़ बद रहा है दाऊ दादासे। देखें, जय किसकी होती है। सामने वह भाण्डीरका विशाल वृक्ष है न? वही अवरोहणस्थान निर्दिष्ट हुआ। विजेताको वहाँतक देखो, इस स्थानसे आरम्भ करते

हुए पीठपर वहन करना होगा! और फिर उस वटकी शाखाका स्पर्श कर यहाँ इसी मुख्य स्थानपर लौटना है, भला! अब चलो, हमलोग चलें; और भैयाओ! तुम सब लोग भी परस्पर अपनी-अपनी जोड़ीके साथ एक बार जमकर खेल लो।'

जो हारै, सो लेइ चढ़ाइ।
बट भंडीर तीर लै जाइ॥

यह कहते-कहते ही उनके बिम्बविडम्बि अधरोंका स्मित किञ्चित् गम्भीर हो उठा। और वह देखो—श्रीदामके साथ ही वे उछल पड़े। प्रलम्ब भी कूदा बलरामके साथ। अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके सहित वे अगणित शिशु भी चौकड़ी भरने लगे—

कृष्णः श्रीदामसहितः पुप्लुवे गोपसूनुना।
संकर्षणस्तु प्लुतवान् प्रलम्बेन सहानघ॥
गोपालास्त्वपरे द्वन्द्वं गोपालैरपरैः सह।

(श्रीहरिवंश १४। १९-२०)

कौन जान सकता है व्रजेन्द्रनन्दनकी गूढ़ अभिसंधिको। इधर तो कौतुकका आनन्द उद्वेलित हो उठा है और उधर नीलसुन्दर—कालियके सहस्त्र फणोंको चूर्ण-विचूर्ण करनेवाले, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र पराजय स्वीकार करने जा रहे हैं। वे तो करेंगे ही। उन्हें प्रलम्बके पीठपर बलरामको चढ़ाना जो है!

तदेवं कुतूहले तु प्रबले बलं प्रलम्बस्कन्धारूढं संधातुं जितभुजगभुजः श्रीबलानुजः पराभवमगणयत्×××

(श्रीगोपालचम्पूः)

केवल वे अकेले हारे हों, सो नहीं; उनके दलका प्रत्येक शिशु ही पराजित हो गया—

लै गए मारि टोल बल प्यारे।
कमल-नयन दिसि के सब हारे॥

और अब आगे—जय हो लीलाविहारीकी! अनन्तब्रह्माण्डभाण्डोदर स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन पराजित होकर विजेता श्रीदामको अपनी पीठपर चढ़ाकर लिये जा रहे हैं भाण्डीर वटकी ओर। साथ ही प्रलम्बके पीठपर आसीन हैं श्रीबलराम एवं भद्रसेन वहन कर रहा है वृषभको। इसी प्रकार अन्य समस्त विजयी बालक भी अपने पराजित प्रतिद्वन्द्वी शिशुकी पीठपर चढ़, आनन्दकोलाहल करते चले जा रहे हैं। तृण चरती हुई असंख्य गोराशि भी उनका अनुसरण कर रही है—

वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम्।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः॥
उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। २२, २४)

बाहत-बहत ग्वाल हरि-संगी।
गोधन-ब्यूह चरत बन रंगी॥
बट भांडीर नाम है जासू।
गए कृष्न-संगी तहँ आसू॥
श्रीदामा कौं पीठि चढ़ाई।
हरि लै चले आपु नरराई॥
अजित-पराजय सुनी न काना।
भक्त-अधीन एक भगवाना॥
बृषभ नाम एक गोप अनूपा।
भद्रसेनि तेहि बह सुखरूपा॥
बलजू के लै चल्यौ प्रलंबू।
चल्यौ सीघ्र, नहिं करेउ बिलंबू॥

× × ×

श्रीदामा हरि पर चढ़ि चले।
को ठाकुर, जो खेल मैं रलै॥
बल प्रलंब पर सोहत ऐसें।
सो उपमा अब कहियत कैसें॥
बट भंडीर तीर लगि चढ़े।
लै गए बालकेलि रस बढ़े॥

इसके पश्चात् तो कुछ क्षणोंमें ही बहुत-सी घटनाएँ घटित हो गयीं—'श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनके दलके समस्त शिशु विजेताओंको पीठपर धारण किये हुए, अवरोहणस्थानका स्पर्श कर पीछेकी ओर लौट चले; किंतु प्रलम्ब नहीं लौटा, अपितु वह अवरोहणकी सीमासे पार चला गया। इतनी देर साथ रहकर प्रलम्बने यह देख लिया था कि नन्दनन्दनका अपहरण उसके

द्वारा सम्भव ही नहीं, इतना दुर्धर्ष है यह श्यामवर्ण शिशु; और इसलिये अत्यन्त द्रुत वेगसे केवल रोहिणीनन्दनको ही ले भागनेके उद्देश्यसे वह आगे बढ़ गया। अवश्य ही कुछ पद बढ़ते ही उसे प्रतीत हुआ—'ओह! इस बालकमें तो सुमेरु पर्वतसे भी अधिक भार है। इस शिशु-वेशसे तो मैं इसे वहन कर ही नहीं सकता।' सचमुच बलरामके भारसे उसकी गति रुद्ध हो चुकी थी। इस प्रकार बाध्य होकर वह तत्क्षण ही अपने सुबृहत् असुररूपमें व्यक्त हुआ। उसका वह काला-काला शरीर स्वर्णाभूषणोंसे अलङ्कृत था और उसपर विराजित थी श्रीबलरामकी शुभ्र छटा। उन गौर-सुन्दरकी संनिधिसे उस दैत्यकी अद्भुत शोभा हुई—मानो विद्युत्प्रभामण्डित मेघ पूर्ण शशधरको धारण किये हुए हो! अब वह पृथ्वी-पथका परित्याग कर आकाशमार्गमें उठ चुका था। बड़े वेगसे जा रहा था वह! उसकी आँखें प्रज्वलित अग्निकी भाँति धक्-धक् जल रही थीं। उग्र दन्तपंक्तियाँ भौंहोंतक पहुँची हुई थीं। सिरपर अग्निज्वालाके समान ऊपर उठे हुए केश थे। हाथ-पैर वलयसे अलङ्कृत थे। सिरपर मुकुट सुशोभित था। कर्ण-छिद्रोंमें कुण्डल जगमगा रहे थे। इन आभूषणोंसे उसके काले शरीरपर एक विचित्र-सी कान्ति फैली थी। एक बार तो प्रलम्बके इस महाभयंकर रूपको देखकर बलराम किञ्चित् भयभीत-से हो उठे और सहसा मुँहसे निकल पड़ा—'कृष्ण! अरे भैया रे ……!' किंतु उन महामहिमको स्वरूपस्मृति होते कितनी देर लगती। वे लीलामय प्रभु तुरंत अपने स्वरूपमें स्थित हो गये। हाँ, बाह्यदृष्टिमें इतना-सा निमित्त अवश्य हुआ—अग्रजके द्वारा वह 'कृष्ण-कृष्ण' का आह्वान अनुजके कर्णपुटोंमें जा पहुँचा था और अनुजने भी अविलम्ब प्रत्युत्तर दिया था—'सर्वात्मन्! सम्पूर्ण गुह्य पदार्थोंमें अत्यन्त गुह्यस्वरूप होकर भी आप यह स्फुट मानव-भावका अवलम्बन क्यों कर रहे हैं?××× अमेयात्मन्! अपने स्वरूपका स्मरण करें आप और फिर इस मानवभावकी ओटमें ही इस दैत्यका विनाश कर दें।' अग्रजने वैसे-के-वैसे अपने छोटे भाईकी बात मान ली। तुरंत उनकी स्वरूपभूत निर्भयता उच्च हास्यके रूपमें बाहर व्यक्त हो उठी और फिर रोषमें भर गये वे प्रभु—'अरे! जैसे धन अपहरणकर चोर उसे लेकर भाग चले, इस प्रकार यह मुझे चुराकर आकाशपथसे भाग रहा है। अच्छा……!' बस, पलक गिरते-न-गिरते प्रलम्बके सिरपर रोहिणीनन्दनने अपनी एक दृढ़ मुट्ठीकी चोट लगा दी। पर उस मुट्ठीका वेग ऐसा था, मानो सुरेन्द्रने किसी पर्वतपर वज्रप्रहार किया हो। इसीलिये इसका स्पर्श होते ही प्रलम्बका सिर चूर्ण-विचूर्ण हो गया, मुखसे रक्तका प्रवाह फूट निकला। चेतना तो लुप्त हो ही चुकी थी, केवल एक महाभयंकर शब्दमात्र—सिरका कचूमर निकल जानेके अनन्तर भी न जाने कैसे—वह व्यक्त कर सका। पर इतनेमें तो उसका वह प्राणशून्य विकराल कलेवर वृन्दावनकी उस पावन धरापर गिर चुका था—मानो सचमुच ही सुरराजका वह वज्रप्रहार सफल हो गया हो और उससे आहत एक महान् पर्वत ही धराशायी हो गया हो।

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुंगवः।
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम्॥
तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं
महासुरो विगतरयो निजं वपुः।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ
तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः॥
निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्
प्रदीप्तदृग् भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम्।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल-
त्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। २५—२७)

किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवावलम्ब्यते।
सर्वात्मन् सर्वगुह्यानां गुह्यगुह्यात्मना त्वया॥
तत् स्मर्यताममेयात्मंस्त्वयाऽऽत्मा जहि दानवम्।

मानुष्यमेवावलम्ब्य………………………………॥

(श्रीविष्णुपु० ५। ९। २३, ३३)

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो
विहायसार्थमिव हरन्तमात्मनः।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा॥
स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। २८-२९)

कान्ह कुँवर की दृष्टि बचाइ।
असुर अवधि तैं आगे जाइ॥
अपने रूपहि आश्रित भयौ।
तब हीं अंबर लौं चढ़ि गयौ॥
ता छिन भयौ भयानक भारौ।
पहिरें कंचन भूषन कारौ॥
ता पर संकर्षन अति सोहे।
ब्रज बालक बिलोकि सब मोहे॥
जो होइ कारी भारी घटा।
बिच-बिच चमकै दमकै छटा॥
ऊपर सरद-चंद होइ जैसें।
सोहैं रोहिनि-नंदन तैसैं॥
बिकट बदन अरु बड्डे दंत।
बिकट भृकुटि, दृग अग्नि बमंत॥
तपत ताम्र-से सिररुह लसे।
दिखि तब हलधर रंचक त्रसे॥
पुनि सुधि आइ तनक मुसुकाइ।
दियौ जु मुठिका मूँड़ बनाइ॥
किरच-किरच ह्वै गयौ लिलार।
मुख तैं चली रुधिर की धार॥
धर्‌यौ प्रलंब न कछु संभार्‌यौ।
गिरि जस गिरत बज्र कौ मार्‌यौ॥

× × ×

अरुन नैन ह्वै गए, साँस छाँड़त रिस रत्तिय।
आय बरन आबेस बीर रस महँ मन मत्तिय॥
महाबाहु बलभद्र! अमित बल विक्रम धारिय।
मुष्टि तौलि तिहि हनिय कोटि बज्रहु ते भारिय॥
खल घात होत आघात इमि जनु पर्बत पर पबि परिव।
सिरु फूटि रुधिरधारा स्त्रवत चीतकार करि महि परिव॥
कहुँ कुंडल मनि, मुकुट मनि, कहूँ बिभूषन माल।
राम बिरोधै फल मिल्यौ, पर्‌यौ म्रतक बेहाल॥

अन्तरिक्षचारियोंने यह भी स्पष्ट देखा—प्रलम्बके शरीरसे एक सुदीर्घ ज्योति निकली और रोहिणीनन्दनके अङ्गोंमें विलीन हो गयी—

तज्ज्योतिर्निर्गतं दीर्घं बले लीनं बभूव ह।

(श्रीगर्गसंहिता)

और जिस समय बलरामका नीलसुन्दर एवं गोपशिशुओंसे मिलन हुआ—ओह! कोई कैसे भर दे वाणीके क्षुद्र पात्रमें उस अपरिसीम आनन्दसिन्धुमें उठी हुई असंख्य ऊर्मियोंको!

मर्‌यौ जिवै, तिमि प्रीति जुत, मिलत हिऐं करि चाव।

× × ×

प्रेम भरे चित आइ, अंक लाइ पुनि-पुनि मिलत।

पारिजातग्रथित मालाओंसे एवं राशि-राशि अन्य स्वर्गीय कुसुमोंसे वनकी धरा आच्छादित हो चुकी है। फिर भी सुरवृन्दोंके द्वारा रोहिणीनन्दनके अभिषेकका, स्तवनका विराम कहाँ हो रहा है!—

सुमन बरषि, झर लाइ, साधु-साधु कहि सब्द पुनि॥
जस गावहिं सुख पाइ, बार-बार बहु बिनय जुत॥

× × ×

अमर-निकर बर अतिसय हरषे।
बल पर सुमन सु-सुंदर बरषे॥

कंसके अनुचरोंका मुञ्जाटवीमें स्थित गोवृन्दको पुनः दावाग्निसे वेष्टित करना और भयभीत गोप-बालकोंका श्रीकृष्ण-बलरामको पुकारना; श्रीकृष्णका बालकोंको अपने नेत्र मूँदनेको कहकर स्वयं उस प्रचण्ड दावानलको पी जाना

खेलमें उलझे हुए गोपशिशु तो गोधनकी सँभालकी बात सर्वथा भूल गये और गौएँ—आश्चर्य है, जो श्रीकृष्णचन्द्रके दृष्टिपथसे ओझल होते ही तृण चरना स्थगित कर देतीं, वे आज क्रमशः सुदूर वनस्थलीकी ओर अपने-आप बढ़ती ही चली गयीं। उनकी आँखोंमें नित्य विराजित नीलसुन्दरके स्थानपर न जाने कैसे हरित तृणोंका लोभ झलमल कर उठा और फिर भ्रान्त-सी बनकर तृण चरती हुई वे आगे-से-आगे चलकर एक गहन वनमें प्रविष्ट हो गयीं—

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १)

खेलत-हँसत ग्वाल मन लाई।
स्वेच्छा चरति धेनु सुख पाई॥
तृन-लोभित गइँ गहन गँभीरा।
गईं दूरि चलिं हे नृप धीरा॥

वृन्दावनका प्रत्येक स्थल ही सदा हरितिमाका पुञ्ज बना रहता है; कहीं भी दृष्टि डालें, श्यामल तृणोंकी प्रचुरता है। इन तृणोंसे गायोंकी उदरपूर्ति होते देर नहीं लगती और उनके पर्याप्त चर लेनेके अनन्तर भी वहाँ, उस स्थलपर ही वैसी-की-वैसी हरियाली, उतनी-की-उतनी मृदुल सुकोमल तृणाङ्कुर-राशि लह-लह करने लगती है। फिर भी आज गायें प्रलुब्ध होकर आगे चली गयीं—वे गायें, जिनके अङ्ग-संस्थानका प्रत्येक कण सच्चिदानन्दमय है, जो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी नित्य-पार्षदभूता हैं, जो सदा श्रीकृष्णचन्द्रकी सहचारिणी हैं, नीलसुन्दरके योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ चारु चरणोंका, मुखारविन्दका नित्य दर्शन करती रहती हैं, व्रजराजनन्दन जिनके अङ्गोंका स्वयं अपने हस्तकमलोंसे सम्मार्जन करते हैं, यशोदा-प्राणधनकी वह ललित त्रिभंगी सुन्दर छबि जिनके पृष्ठ-देशसे संलग्न होकर वनमें विराजित रहती है, जो स्वयं भी व्रजेश-तनयके प्यारसे नित्य-निरन्तर आप्यायित रहकर अपने सद्योजात वत्सतकको भूली रहती हैं—अचिन्त्य लीला-महाशक्तिकी प्रेरणाके अतिरिक्त उसमें और कारण ही क्या हो सकता है? तृण-लोभसे ये मुग्ध हो सकें, यह तो सम्भव ही नहीं; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुमें ये स्वतः अभिनिविष्ट होतीं नहीं, हो सकतीं नहीं। यह तो—वह देखो! विनष्ट हुए प्रलम्ब दैत्यके मित्र कंसके वे अनुचर घातमें बैठे हैं, उनके मलिन मनकी छाया लीलाविहारी व्रजराज-दुलारेके सलोने दृगोंमें अङ्कित हो रही है और फिर उसीके संकेतसे लीला-महाशक्तिने तदनुरूप साज सजाया है।

अस्तु, आगे तो सघन वन है; गायें इससे आगे जा सकतीं नहीं। कलिन्दनन्दिनीकी वह शीतल धारा दूर—अत्यन्त दूर हो गयी है। अब यहाँ तो ग्रीष्मके सूर्य हैं, उनका ताप है। यहाँ जलकी एक बूँद भी नहीं, शीतल-मंद-सुगन्ध समीरका प्रवाह नहीं। और तो क्या, पीछे लौट चलनेका मार्गतक नहीं। सरकंडोंका यह वन है, आगे बढ़ते ही पीछेसे पथको आवृत कर देनेवाले इन मुंजों (सरकंडों)-के जालमें फँसकर वे लौटनेका पथ नहीं पा सकतीं। बेचारी गायें विकल होकर डकराने लगीं—

मुंजारन्य नाम है जहाँ।
अति गहबर, सुधि परत न तहाँ॥
आगे कुंज-पुंज अति भीर।
नहिन नीर परसै न समीर॥
मारग नहिं जु उलटि इत परै।
गोधन-बृंद सु क्रंदन करै॥

और इधर क्रीडामें तन्मय हुए नीलसुन्दरके अधरोंपर हँसी-सी व्यक्त हुई। गोपशिशुओंने उस

हास्यकी ओर देखा। क्रीडाके विरामका संकेत तो उसमें था ही, साथ ही कुछ और नवीनता थी उसमें। इसीलिये बालक चारों ओर देखने लगे तथा लीला-महाशक्तिको जो कुछ उन्हें दिखलाना अभीष्ट था, उसे तुरंत ही देख लिया सबोंने—

खेल छाँड़ि जो इत-उत चहै।
गोधन कहूँ निकट नहिं लहै॥

फिर तो केवल शिशुओंके ही नहीं, राम-श्यामके मुखपर भी गम्भीर चिन्ताकी स्पष्ट रेखा व्यक्त हो उठी। अत्यन्त पश्चात्ताप होने लगा उन्हें अपनी इस असावधानतापर। इधर-उधर दौड़कर उन्होंने गायोंको पर्याप्त ढूँढ़ा भी; पर कुछ भी पता नहीं लग सका कि गायें किधर चली गयीं—

तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। ३)

गोप कृष्न-बलदेव समेता।
खेल तज्यौ जब कृपा-निकेता॥
देखहिं ग्वाल, गाइ नहिं एकू।
खोजन लगे सु सहित बिबेकू॥
इत-उत खोजि, देखि चहुँ ओरा।
नहिन लह्यौ गोधन कौ छोरा॥

व्रजवासियोंकी सम्पत्ति, उनकी जीविकाका एकमात्र साधन ये गौएँ मिल नहीं रही हैं, इससे कितने व्याकुल हो उठे वे शिशु—यह कोई उन्हें प्रत्यक्ष देखकर ही अनुभव कर सकता है। 'भैया रे कन्नू! क्या मुँह दिखायेंगे हमलोग बाबाको, मैयाको!'—शिशुओंकी यह आर्त्तवाणी सर्वत्र अरण्यमें गूँज उठती है। उनका धैर्य छूटने लगता है। किंतु राम-श्यामके प्रोत्साहनसे जैसे भी हो, उन्हें ढूँढ़ लेनेका ही निश्चय किया गया। सब-के-सब गायोंके खुर एवं दाँतोंसे कटे हुए तृणोंके पीछे, एवं स्थान-स्थानपर आर्द्र धरापर बने हुए खुरोंके चिह्नोंका अनुसरण करते हुए आगे बढ़े—

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम्।
मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। ४)

देत खुरन तृन तूटे देखी।
पुनि अंकित पद भू-थल पेखी॥
तेहि मग चले सकल अकुलाई।
अति चिंता गोपन उर छाई॥
धेनु जीविका है सब जासू।
नष्ट-चित्त सब ह्वै गए आसू॥
उभय भ्रात बिनु सब अकुलाने।
ढूँढ़त गोधन सब बिलखाने॥

बहुत दूर चलनेके अनन्तर जब उस मुञ्जाटवीका आरम्भ हुआ, तब गौओंका वह आर्त्तनाद उन्हें सुन पड़ा। किंतु आगे सरकंडोंके गहन वनमें वे प्रविष्ट हो सकें, यह तो सम्भव ही नहीं। श्रान्त हुए वे सब शिशु अपने सखा 'कन्नू' भैयाकी ओर ही देखने लगे—

आगें अति गहबर दिखि चके।
धसि न सके तित ही सब थके॥

तथा उनकी ओर देख लेनेपर अबतक कहाँ किसे निराशा मिली है? फिर शिशु तो उनके प्राण-सखा ठहरे। तत्क्षण लीला-विहारीने गायोंको बुला लेनेकी एक अतिशय सुन्दर युक्ति निकाल दी। जय हो नीलसुन्दरकी, उनकी उस मनोहर भङ्गिमाकी! वह देखो—

तब हरि इक कदंब पर चढ़े।
छाजत तिहि छिन अति छबि बढ़े॥
जनु सब कृत कौ फल रस-पग्यौ।
इहि कदंब एकै यह लग्यौ॥
चँचल दृगन की इत-उत हेरनि।
मधुर-मधुर टेरनि, पट फेरनि॥
मुकट की झलकनि, कुंडल-झलकनि।
कछु-कछु राजति गोरज अलकनि॥
लै-लै नामन गाइन टेरे।
यह छबि सदा बसहु मन मेरे॥

कदम्बकी उस उत्तुङ्ग शाखापर अवस्थित होकर परब्रह्म पुरुषोत्तम प्रभु मेघमन्द्र स्वरमें गायोंका नाम ले-लेकर पुकार रहे हैं—'अरी पिशङ्गि! मणिकस्तनि! री प्रणतशृङ्गि! पिङ्गेक्षणे! अरी, आ जा री मृदङ्गमुखि, धूमले, शबलि हंसि! वंशीप्रिये········।' तथा सहसा अपने नामोंका आह्वान सुनकर, उस करुण-क्रन्दनका अवसान होकर कितनी प्रहर्षित हो उठी हैं वे पथभ्रष्ट असंख्य गायें! उनके पास और तो साधन ही क्या है, हाँ, बारंबार हुंकार कर वे अपने पालकको प्रत्युत्तर दे रही हैं। उनके तुमुल हाम्बारवसे सम्पूर्ण वन

प्रतिनादित हो रहा है—

ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। ६)

लै-लै नाम तासु जगदीसा।
टेरयौ मेघ-गिरा-धुनि ईसा॥
हे गंगे-जमुने, हे धौरी।
हे स्यामा, पीरी, हे गौरी॥
सुनि निज नाम धेनु हुंकारी।
आई दौरत निकट मुरारी॥

सागरकी ओर प्रसरित सुरसरिकी शत-सहस्र धाराके समान वे गायें श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दौड़ चलीं—

बगदीं उत तैं चाइन-चाइन।
हरि-मुख तैं सुनि अपने नाइन॥
प्रेम सहित आवनि, हुंकारनि।
सींचत धरनि दूधकी धारनि॥
आनि जु भईं धेनु इकठोरी।
धौरी-धौरी, प्रति छबि बोरी॥
सब के कंठनि कंचन-माला।
सोहत सुंदर नयन बिसाला॥
घनन-घनन घंटागन गजैं।
अमरराज-गजकी छबि लजैं॥
हरि सनमुख आवति उमहि, उज्ज्वल गोधन-नार।
समुदहि मनहुँ मिलन चली, गंग भई सतधार॥

गोप-शिशुओंने उन्हें एकत्र सम्मिलित किया तथा सबका अब आन्तरिक प्रस्ताव यही है—'चलो, अब गायोंको गोष्ठकी और हाँक दो।' किंतु इससे पूर्व कि यह प्रस्ताव कार्यमें परिणत हो, वहीं अचानक चारों ओरसे एक महाभयंकर दावाग्नि धक्-धक् कर जल उठी। भला, इससे अधिक सुन्दर अवसर कंसके उन अनुचरोंको मिलता जो नहीं। वे समीपमें अवस्थित रहकर देख चुके हैं किस प्रकार बलरामने देखते-देखते ही तनिक-सी देरमें प्रलम्बका अन्त कर दिया। फिर तो अपने स्वजनका वह अन्त उनके लिये असह्य बन गया और अवसरकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे वे। इसीलिये अत्यन्त शीघ्रतासे उन सबोंने सम्पूर्ण मुञ्जाटवीको घेर लिया तथा श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अपना वैर साध लेनेकी दृष्टिसे चटपट ऐसी भीषण अग्नि प्रज्वलित कर दी कि जिसका निवारण किसी प्रकार भी सम्भव न हो!

तदेवं यदालम्भि चास्तम्भि च नैचिकीनिचयस्तदानीमेव च दृष्टं निर्विलम्बप्रलम्बप्रलयचराः कंसचरा लब्धावसरा मुञ्जाटवीमुद्भटचेष्टतया वेष्टयित्वा निर्निव्वारणकृपीटकारणवृष्टिं झटिति××× तस्मिन् प्रतिपक्षताकल्पनया निसृष्टवन्तः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

ओह! कैसी प्रचण्ड है वह वनवह्नि!—

दसौं दिसानि पै कृसानु झार-झार धाइ कैं।
प्रचंड मंडि ब्योम लौं सिखी सिखा बढ़ाइ कैं॥
झँझाइ कैं झकोर झोक उग्र ऊक फूटहीं।
महाभयान भीम रूप सौं भभूक छूटहीं॥
सधूम देखियै अकास धुंध रुंध जाइ कैं।
दिसानि द्वार दाबियौ सगाढ़ बाढ़ छाइ कैं॥
सँसातु पौन साँइ-साँइ सर्बरातु धावहीं।
प्रकोप भौरि भर्भरातु झर्झरातु आवहीं॥
त्रनादि चटचटात पट-पटात बेनु-जाल सौं।
चिरादि चर्चरात तर्तरात हैं तमाल सौं॥
फलादि फूटि-टूटि झूमि भूमि में परैं तहाँ।
उड़े फुलिंग फैलि गैल घेरि कैं फिरैं महाँ॥
समूल भस्मभूत होत अग्नि के अकूत सौं।
अँगार उल्लकादि दारु होत तेज तूत सौं॥
चिहारि चीह घुर्घुरात हैं बराह दाह सौं।
हुँकारि हूँक दै कपीस कूदहीं उछाह सौं॥
गँगाइ ब्याघ्र साँस रूँध धूम्र जोर सौं उठैं।
उछार लेत झार सौं बिहाल भूमि पै लुठैं॥
हकारि रिच्छ खर्भराइ भागि सो दुराइ कैं।
सकाइ सूखि साँस लै ससा चलै सँसाइ कैं॥
हहाइ कै मृगी-मृगनि चौक भूलि कैं गए।
उफाल फाल बाँधि कैं सुनैन मूँदि कैं लए॥
कढ़े सुदौर दर्बराइ हर्बराइ भागि कैं।
बिहंग भर्भराइ कैं चले अकास लागि कैं॥

अब तो बालकोंके भयका पार नहीं। किंतु आश्चर्य है, ऐसे भीषण प्राणसंकटके समय भी उनके अन्तस्तलमें अपनी प्राणरक्षाकी चाह न जगकर व्याकुलता उत्पन्न हुई नीलसुन्दरकी रक्षाके लिये। इसी समय किसी अचिन्त्य प्रेरणासे उन्हें स्मृति हो आयी दो वर्ष पूर्व

तपन-तनयाके तटपर रात्रिके समय प्रज्वलित हुए दावानलकी। उस समय व्रजपुरवासियोंने किस उपायका अवलम्बन लिया था—इसे किसी अलक्षित शक्तिने उनके हृत्पटपर ज्यों-का-त्यों चित्रित कर दिया। साथ ही, अबतकका उनका अनुभव है, ऐसे अनेक अवसरोंपर वे देख चुके हैं—'जब कभी भी हमलोगोंपर संकट उपस्थित हुआ है और हमें बचानेकी तीव्र इच्छा कन्नू भैयामें जाग्रत् हुई है, उस समय कन्हैयामें अत्यधिक शक्तिका संचार हो जाता है।' इस भावनाने भी उनके मनको भावित किया। सबके हृत्तन्त्रीके तार अपने-आप जुड़-से गये, सबने मन-ही-मन स्थिर किया—'कन्नू भैयाकी रक्षाका उपाय तो यही है कि हम सब इससे, इसके सम्बन्धमें कुछ भी न कहकर केवल अपनी रक्षाकी बात ही कहें,—उसी प्रकार, जैसे उस रात्रिको व्रजपुरवासियोंने कहा था—फिर तो निश्चय ही कन्हैयामें हमें बचानेकी तीव्र भावना जाग्रत् होगी और जहाँ उसमें यह इच्छा उत्पन्न हुई कि फिर तो तदनुरूप शक्तिका बारम्बार यथेच्छ प्रकाश भी इसमें होकर ही रहेगा।' अतएव इस प्रकारकी भावना लिये सभी बालकोंने नीलसुन्दरके समक्ष एक स्वरसे अपनी रक्षाकी ही याचना की—

दावाग्निं दृष्ट्वा ते यदपि हरिरक्षापरतया
समीयुर्वैयग्र्यं तदपि निजरक्षामवृणुत।
प्रसक्तिस्तस्येत्थं किल भवति सा चेदुदयते
तदा शक्तिश्चास्य प्रभवति यथेच्छं मुहुरिति॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

इतनेमें तो दावाग्निज्वाला और भी निकट आ पहुँची। नीलसुन्दरकी ओर दृष्टि करके गायें डकराने लगीं—

निहारि धेनु तर्फरैं सँघट्ट बाँधि घेरि कैं।
हुँकार दै रँभा उठैं सुनंद-नंद हेरि कैं॥

फिर तो, अपनी स्मृतिके आधारपर शिशु भी उन पुरवासियोंकी भाँति ही अविलम्ब, कातरकण्ठसे पुकार उठे—

कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामामितविक्रम।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः॥
नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम्।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। ९-१०)

'महाप्रभावशाली श्रीकृष्ण! भैया श्रीकृष्ण! परम बलशाली बलराम! देखो, दावाग्निसे हम सब भस्म होने जा रहे हैं हो! तुम दोनों हम शरणागतोंकी रक्षा कर लो! अहो कृष्ण! भला, तुम जिनके बान्धव हो—तुमपर ही जिनका सर्वस्व अवलम्बित है, उन्हें किसी प्रकारसे भी दुःखभागी नहीं ही होना चाहिये। हमारे लिये एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो, हमारी एकमात्र तुममें ही निष्ठा है। अपना एवं हमारा क्या धर्म—कर्तव्य है, इसे तुम जानते हो। अतएव इस समय भी तुम्हें जो करना है, वह करोगे ही।'

राम-कृष्न हम सरन तिहारी।
राखहु तुम अब, हे दनुजारी॥
दावानल यह प्रबल न थोरा।
जारत नाथ! जीव बरजोरा॥
राखनहार नाथ! तुम अहहू।
अमित पराक्रम गति बल सबहू॥
ग्याति सुहृद तव दास हम, निज करि नंदकिसोर।
तव जन कहँ नहिं दुख घटै, इमि कह सब सिरमौर॥
हमरे तुम इक नाथ, तव पद-पंकज आस एक।
राखहु सब गहि हाथ, करुनासिंधु कृपाल तुम॥
अति सरास तहँ अगिनि ककुभ कोसन कहँ पूरत।
त्रन बन घन संघात जात बरबर कहँ चूरत॥
झपटत लपट लपेट दीह दारुन दव धावत।
उठतु भयंकर भहरि अवनि अंबर कहँ तावत॥
जग जीव बिकल खरभर परे, गोप पुकारत हैं सरन।
जग जानि कान्ह! रक्षा करहु, त्राहि-त्राहि करुना करन॥

अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति नित्य सख्यरससे भावित रहनेवाले उन शिशुओंके मनमें उनकी अपरिसीम भगवत्ताका उन्मेष कभी भी नहीं होता। यह तो लीलाशक्तिकी प्रेरणासे उनमें अनुकरणकी वृत्ति जाग उठी है, 'ऐसा कहनेसे ही मेरे कन्नूमें उस दिन एक विचित्र-सी शक्ति जाग उठी थी, आज भी जाग उठेगी और फिर यह दावानलको शान्त कर देगा'—इस भावनासे परिभावित होकर ही वे ऐसा कह गये हैं। अन्यथा अपनी प्रार्थनाके वास्तविक रहस्यका उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। वे तो, बस, अपने कोटिप्राणप्रिय सखा 'कन्नू' भैयाकी प्राणरक्षाके लिये अपनी जानमें सर्वोत्तम उपायका आश्रय ले रहे हैं, पुरवासियोंकी अनुकृति मात्र कर रहे हैं। हाँ, सर्वथा

उनकी अनजानमें ही उनके मुखद्वारा आनुषङ्गिक रूपसे इसीमें प्रपञ्चके त्रितापदग्ध प्राणियोंके लिये यह परम आश्वासनमय संकेत अवश्य व्यक्त हो जा रहा है—'संसारके जीवो! यदि इस भवाटवीमें धधकती हुई आगसे त्राण पानेकी इच्छा हो तो ऐसे ही 'कृष्ण-कृष्ण..........' पुकार उठना! फिर देखो, क्या-से-क्या हो जाता है।'

अस्तु, उनकी वह पुकार समाप्त होते-न-होते महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके मनमें तदनुरूप संकल्पका भी सृजन हो ही गया। वे महामहिम सोचने लगे—'ओह! अपने आत्मस्वरूपकी अपेक्षा भी मुझे अधिक प्रिय मेरे ये बन्धुजन इस दावानलको देखकर अत्यधिक संतप्त हो रहे हैं। इसलिये इस प्रचण्ड वनवह्निको मैं अब निगल जाऊँ—भले ही यमराज या ब्रह्मा अथवा स्वयं हर ही इस रूपमें व्यक्त क्यों न हुए हों।'

आत्मनोऽप्यलममी मम प्रिया हा! दवं प्रतिदवं सम्प्रियति।
गीर्णमेव करवाण्यमुं ततः को यमः क इह वा भवेद्धरः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'किंतु मेरे द्वारा अग्निभक्षण होते देखकर इसे सह जो नहीं सकेंगे ये मेरे शिशु सखा!'—

किंतु मया वैश्वानरनिगरणं न सोढुं परिवृढा भवेयुरेत इति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

बस, श्रीकृष्णचन्द्रका मधुस्यन्दी स्वर गूँज उठा—'भैयाओ! डरो मत, तुम सभी अपने नेत्र निमीलित कर लो तो!'—

निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत।

(श्रीमद्भा० १०। १९। ११)

और शिशु तो नीलसुन्दरके किसी भी आदेशकी अवज्ञा करना जानते ही नहीं। सबने तत्क्षण अपनी आँखें मूँद लीं। उनकी विशुद्ध सख्य-रस-भावित बुद्धिने एक अत्यन्त सुन्दर यह निर्णय जो दे दिया—'कन्हैया भैयामें अब शक्ति तो अवश्य जागेगी, पर वह भी तो इस शक्ति-उन्मेषके लिये आखिर कुछ-न-कुछ तन्त्र-मन्त्रका आश्रय लेगा ही। कन्नू भैया अग्नि-विष आदिकी शान्तिके सम्बन्धमें मणिमन्त्र-महौषधके अनेक प्रयोग जानता है और इन प्रयोगोंके लिये यह नितान्त आवश्यक है ही कि उस सम्बन्धमें कुछ भी दूसरोंके समक्ष न किया जाय। एकान्त हुए बिना वे सिद्ध ही नहीं होते। अब यहाँ इस जनसमुदायमें हमारे नेत्र मूँद लेनेसे ही वह एकान्तकी विधि पूरी हो जायगी। इसलिये कन्नूने आँखें बंद करनेकी बात कही है। अतः हमलोग दृढ़तासे अपनी आँखें मूँद लें।'

वह्निविषादिनामुपशमकं मणिमन्त्रमहौषधादिकमयं कृष्णो बहुतरं जानातीति तच्च विविक्तं विना न सिद्ध्येदतोऽत्र जनसंघट्टे अस्माकं लोचननिमीलनमेव विविक्तमित्यभिप्रेत्यैवं ब्रूते तद् वयं दृढतरमेव स्वनेत्रे निमीलयाम इति।

(श्रीसारार्थदर्शिनी)

इधर शिशुओंकी आँखें निमीलित होते ही श्रीकृष्णचन्द्रकी अघट-घटना-पटीयसी योगमाया-शक्तिका विकास हुआ। देखते-देखते ही नीलसुन्दरके मृदुल सुकोमल श्रीअङ्गोंके अन्तरालसे तत्क्षण ही महाजलधरतुल्य एक प्रकाण्ड विग्रहका आविर्भाव हुआ। विग्रहके अनुरूप ही उसमें अत्यन्त सुबृहत् मुख है। यह लो, वह मुख खुल पड़ा और वे महामहेश्वर उस मुखके पथसे ही अनायास उस सर्वभक्षक दावानलको पी गये!

निमीलद्विलोचनेषु च तेषु तदावेशवशया कृतप्रवेशया योगमायया तत्कालकल्पितमहाजलधर-कल्पापरशरीरस्तत्रत्येनानल्पेनाननेन तमदुःखत एव सर्वं विभ्रक्षन्तं भक्षितवान्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

अवश्य ही पीते समय वह महाभयंकर वनवह्नि श्रीकृष्णचन्द्रकी अलङ्घनीय इच्छाशक्तिके प्रभावसे सुधामधुर पानीयके रूपमें परिणत हो गयी—

तदिच्छया सुधाचुलुकायमानमिति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

चंदन चंद समान, अनल-तेज सीतल भयौ।
जन हित कीन्हौं पान, को प्रभु दीन-दयाल-सौ॥

दावानल-पानके अनन्तर श्रीकृष्णका व्रजमें लौटना और व्रजसुन्दरियोंका उनका दर्शन करके दिनभरके विरह-तापको शान्त करना

एक क्षण बीतते-न-बीतते नीलसुन्दरने पुकारकर कहा—'भैयाओ! अपनी आँखें खोल लो।' और शिशुओंने पलक उघाड़कर देखा। फिर तो एक साथ सभी विस्मित हो उठे—'अरे! यह तो भाण्डीर-वट है। कहाँ गया वह मुञ्जका वन, क्या हुई वह दावाग्नि, अपने-आप हम सब वहाँसे यहाँ कैसे चले आये? जलने जा रहे थे हम सब, गायें उस भीषण ज्वालासे चीत्कार कर रही थीं; किंतु किसीको कुछ भी न हुआ। हम सभी सुरक्षित यहाँ आ पहुँचे। यह तो विचित्र-सी बात है हो! कन्नूने तो हद कर दी रे!'

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः।
निशाम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १३)

ता छिन नैन उघारि सखा सब देखहीं।
खेलत पूरब खेल तहीं चलि लेखहीं॥
सो थल जाइ निहारि रहे चकचौंधि हैं।
मोहन जानि प्रभाव करे सब चौंधि हैं॥

× × ×

दृग उघारि जो चहहिं अभीर।
ठाढ़े बट भांडीर के तीर॥
कहन लगे अति बिस्मय पाए।
कित हम हुते, कितै अब आए॥

भय तो कुछ रह नहीं गया था अब। अतएव उसी विशाल वटके नीचे शिशुओंकी गोष्ठी आरम्भ हुई, विचार होने लगा—'आखिर यह अत्यन्त आश्चर्यमयी असम्भव घटना संघटित हुई तो कैसे! अधिक-से-अधिक मन्त्र-तन्त्रके प्रभावसे दावानलकी ज्वाला हमें जला नहीं पाती, हम सब उसके बीच रहकर ही उससे बच जाते; किंतु बिना प्रयास एक क्षणमें ही इन असंख्य धेनुसमूहोंके साथ इतनी दूर कैसे आ गये? सोचो, पहले तो वह वनवह्नि-जैसी भयानक थी, उसे देखते मान ही लेना पड़ता है कि साधारण मन्त्रवेत्ताकी शक्तिके बाहरकी बात है उसे शान्त कर देना और हम सबोंको बचा लेना। अब भला, तन्त्रविज्ञानका कितना बड़ा अनुभवी है वह हमारा कन्नू! क्योंकि जो कुछ किया है वह तो सब-का-सब हमारे कन्हैयाने ही किया है! उसीकी अचिन्त्य महाशक्तिके प्रभावसे ही तो हम सबकी रक्षा हुई है और फिर ऐसी रक्षा कि अनजानमें ही हम सभी विपत्तिके उस स्थानतकसे हटकर—उससे बहुत दूर अपनी पूर्व-परिचित सुन्दर समतल भयशून्य भूमिपर भी आ पहुँचे!'—इस प्रकार न जाने कितने संकल्प-विकल्प उन शिशुओंके मनमें उदय हुए तथा अन्तमें सर्वसम्मतिसे यह निर्णय हुआ—'देखो, यह जो हमलोगोंका कन्नू है, वह कोई देवता है!'

कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम्।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १४)

यह जु नंद कौ नंदन आहि।
भिया! मनुज जिनि जानहु याहि॥
देवन में जु देव बड़ कोई।
हम जानहिं कि आहि यह सोई॥

× × ×

निज मोचन लखि अग्नि तें, अति बिसमय चित आनि॥
मान्यौ कृष्ण कृपाल कौं, बिबुध-रिषभ सुख-दानि॥

सखाओंकी बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र हँसने-से लगे। फिर अस्ताचलगामी भुवनभास्करकी ओर अपने दक्षिण हस्तसे संकेत करते हुए बोले—'भैयाओ! उस ओर भी देखो! कितनी चिन्ता हो रही होगी मैयाको। ओह! आज वनमें कितना विलम्ब हो

गया। अब तो क्षणभरका भी अवकाश नहीं। चलो, गायोंको गोष्ठकी ओर हाँक दो!' और यह कहकर नीलसुन्दरने अधरोंपर वंशी रखकर स्वर भरना आरम्भ किया। उनका यह स्वर कितना उन्मादी है—इसे व्रजके कीट-पतङ्ग-भृङ्गतक जानते हैं। अभी-अभी जो शिशु उन्हें देवता मानने लगे थे, सब-के-सब बह चले वंशीके उस मधुमय प्रवाहमें। अचिन्त्य शक्तिमत्ताकी वह भावना, वह देवता-बुद्धि न जाने कहाँ विलीन हो गयी! नीलसुन्दरकी ग्रीवासे झूल-झूलकर स्नेह प्रदर्शित करते हुए उन सबने गायोंको गोष्ठकी ओर प्रेरित किया, साथ ही अपने सुरीले कण्ठोंकी तान भी छेड़ दी। वंशीका स्वर एवं उनके गीतकी स्वर-लहरी—दोनोंका संयोग अद्भुत ही है। एक ओर अत्यन्त स्पष्ट प्रत्येक गायका नाम नीलसुन्दरके वंशीछिद्रोंसे झरता जा रहा है और वे गायें भी उसी क्रमसे गोष्ठकी ओर संचालित होती जा रही हैं तथा दूसरी ओर गोपशिशुओंके संगीतमें प्रलम्बासुरके विनाशका, दावानलपानका सुयशगीत—नीलसुन्दरकी अद्भुत महिमा, भूरि-भूरि प्रशंसा व्यक्त हो रही है तथा उन-उन भावोंसे परिभावित हुए वे शिशु तदनुरूप विविध भङ्गिमाओंका प्रकाश करते हुए नाचते चल रहे हैं। कितनी देर लगती गोष्ठ पहुँचनेमें; क्योंकि अब पथमें क्रीड़ा तो होगी नहीं। बस, यह रहा सामने व्रजपुरका तोरणद्वार और श्रीबलरामके साथ नीलसुन्दर गोष्ठमें प्रविष्ट हो रहे हैं—

गाः संनिवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः।
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १५)

साँझ भएं सब गोपनि-गौवन हेरि कैं।
मंदिर जात सम्हारि सबै धन हेरि कैं॥
स्याम सुबेन बजाइ चले तहँ रंग में।
गावत ग्वाल अनंद भरे सब संग में॥

× × ×

आगें धरि लै गोधन बृंद।
चले सदन ब्रज कदन-निकंद॥
मधुर-मधुर धुनि बेनु बजावत।
बालकबृंद सुकीरति गावत॥

इधर व्रजपुरवासियोंकी विशेषतः गोपसुन्दरियोंकी क्या दशा है, इसे कोई कैसे जाने। वहाँ तो मुञ्जाटवीमें एक दावानल फूटा था। पर यहाँ व्रजके प्रत्येक गृहमें, प्रत्येक गोपसुन्दरीके हृदयका वह भाव-पुष्प-पल्लवमय मनोहर उद्यान विरहाग्निकी भीषण ज्वालासे धक्-धक् जल रहा है। नीलसुन्दरका एक क्षणके लिये अदर्शन उन रागमयी पुर-रमणियोंकी दृष्टिमें शत-सहस्र युगोंका व्यवधान प्रतीत होने लगता है, उनके प्राण जलने लगते हैं। कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्रकी अखण्ड स्मृति रह-रहकर उनमें प्रत्यक्ष संयोगकी भ्रान्ति न उत्पन्न करती रहती तो वे सचमुच उनके वनगमनके अनन्तर सायंकालतक भी जीवन धारण कर पातीं या नहीं—यह निर्णय कर लेना सहज नहीं है। इसीलिये व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रका दर्शन पाकर एक अप्रतिम परमानन्दसिन्धु उच्छलित हो उठा है उन गोपरामाओंके हृद्देशमें। तथा कितनी भाव-विह्वल हो उठी हैं वे, इसे अचिन्त्य सौभाग्यवश कोई देख भले ले; वाग्वादिनी तो इसका एक अल्प-सा अंश भी चित्रण करनेसे रही। अवश्य ही उनके अन्तस्तलकी वही रसमयी अनुभूति तरलित होकर प्रतिफलनके रूपमें इन शब्दोंकी ओटसे किंचिन्मात्र झलमल-सी कर उठी है, इसमें कोई सन्देह नहीं—

प्रभु मुख पंकज स्वेद मधु, गोरज लगिव पराग।
तिय मन मधुकर रमत तहँ, पियत उमगि अनुराग॥

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १६)

अस्तु, नीलसुन्दर तो अपनी जननीके भुजपाशमें जा बँधे और जननी उन्हें लेकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़ीं; किंतु गोपसुन्दरियाँ अब पहलेकी भाँति नीलसुन्दरके समक्ष, उनके साथ जा नहीं पातीं। एक विचित्र-से शील-संकोचका आवरण आ जाता है

उनके मनपर, नेत्रोंपर। इसीलिये आज भी न जा सकीं। यन्त्र-परिचालित-सी हुई सब-की-सब लौट आयीं अपने-अपने गृहमें। पर इससे क्या हुआ? नीलसुन्दर तो उनके समक्ष ही अवस्थित हैं और वे भावनामें तन्मय हो रही हैं—

सुधालावण्यमाधुर्यदलिताञ्जनचिक्कणः ।
इन्द्रनीलमणिः किं वा नीलोत्पलरुचिप्रभः॥
किं वा नव्यतमालोऽपि मेघपुञ्जमनोहरः।
प्रभा मारकतीकान्तिः सुधालावण्यवारिधिः॥
पीतवस्त्रपरीधानो वनमालाविभूषितः।
नानारत्नभूषिताङ्गो नानाकेलिरसाकरः॥
दीर्घकुञ्चितकेशोऽपि बहुगन्धसुगन्धितः।
नानापुष्पमालया च चूडादीप्तिर्मनोहरा॥
श्रीमल्ललाटपाटीरस्तिलकालकशोभितः ।
लीलोन्नतभ्रूविलासकामिनीचित्तमोहनः ॥
घूर्णमानं सुनयनं रक्तनीलोत्पलप्रभम्।
खगेन्द्रचञ्चुलावण्यसुनासाग्रजसुन्दरः ॥
मनोहारिकर्णयुग्मं मणिकुण्डलशोभितम्।
नानामणिकुण्डलाढ्यगण्डस्थलविराजितम् ॥
मुखपद्मं सुलावण्यं कोटिचन्द्रप्रभाकरम्।
नानाहास्यसुमधुरश्चिबुको दीप्तिमान् भवेत्॥
कण्ठदेशः सुलावण्यो मुक्तामालाविभूषितः।
त्रिभङ्गो ललितस्निग्धग्रीवस्त्रैलोक्यमोहनः॥
वक्षःस्थलं च लावण्यै रमणीरमणोत्सुकम्।
मणिकौस्तुभविद्युद्भामुक्ताहारविभूषितम् ॥
आजानुलम्बितभुजौ केयूरवलयान्वितौ।
रक्तोत्पलहस्तपद्मौ नानाचिह्नसुशोभितौ॥
गदाशङ्ख्यवच्छत्रचन्द्रार्द्धाङ्कुशशोभितौ ।
ध्वजपद्मयूपहलघटमीनविराजितौ ॥
उदरं च सुमधुरं लावण्यकेलिसुन्दरम्।
पृष्ठपार्श्वं सुधारम्यं रमणीकेलिलालसम्॥
कटिबिम्बं सुधाम्भोजं कन्दर्पमोहनोत्सुकम्।
रामरम्भे इवोरू द्वौ नारीमोहनकारकौ॥
जानू द्वौ च सुलावण्यौ मधुरौ परमोज्वलौ।
पादपद्मौ सुमधुरौ रत्ननूपुरभूषितौ॥
जवापुष्पसमरुची नानाचिह्नसुशोभितौ।
चक्रार्द्धचन्द्राष्टकोणत्रिकोणयवशोभितौ ॥
अम्बरच्छत्रकलशशङ्खगोष्पदस्वस्तिकौ ।
अङ्कुशाम्भोजधनुषा जाम्बवेन च शोभितौ॥
अङ्गुल्योऽरुणभाः सम्यङ्नखचन्द्रसमन्विताः।
श्रीयुतौ चरणाम्भोजौ नानाप्रेमसुखार्णवौ॥

'अहा! प्रियतम श्रीकृष्ण कितने मनोहर हैं। उनका वर्ण पिसे हुए काजलके समान सुचिक्कण है! परंतु काजलमें सुचिक्कणताके अतिरिक्त कौन-सा गुण है? जो काजल सुधाके समान शीतल, सरस, मादक और प्राणोंको आप्यायित करनेवाला हो, साथ ही लावण्य एवं मधुरतासे युक्त हो, वही श्रीकृष्णके वर्णकी उपमाको पा सकता है। परंतु उसमें प्रकाश कहाँ? हाँ, इन्द्रनीलमणि उसकी इस कमीको पूरा कर सकती है। पर इन्द्रनीलमणिमें प्रकाश होनेपर भी वह है अत्यन्त कठोर। फिर उसमें श्रीकृष्णके वर्णकी समता कैसे आ सकती है। हाँ, नीलकमल उनके अङ्गोंकी कोमलताको किसी अंशमें पा सकता है। अथवा नवीन तमालके साथ उनकी तुलना की जा सकती है। सरसताकी दृष्टिसे हम उनके श्रीअङ्गोंको मेघमालाकी उपमा भी दे सकते हैं। उनके अङ्गोंसे जो कान्तिकी किरणें फूट रही हैं, वे मरकतमणिकी आभाको हेय बना दे रही हैं। परंतु इन सब उपमानोंके गुण परिच्छिन्न हैं, ससीम हैं। हमारे प्राणवल्लभ तो माधुर्य एवं लावण्यके अपरिसीम सागर हैं। उनके श्रीअङ्गोंमें पीताम्बर झलमला रहा है, वक्षःस्थलपर रंग-बिरंगी वनमाला झूल रही है। अङ्ग-अङ्गपर रत्नजटित आभूषण शोभा पा रहे हैं। विविध प्रकारके क्रीड़ा-रसके वे अनुपम आकर हैं। लंबी घुँघराली अलकें हैं, जिनसे विविध प्रकारका सुवास प्रसरित हो रहा है। केशपाश विभिन्न पुष्पमालाओंसे सुशोभित है। ओह कितनी मनमोहक बन गयी है इनसे चूडाकी कान्ति! चमकते हुए ललाटपर चन्दनकी खौर अत्यन्त शोभा दे रही है, बीचमें गोरोचनका सुन्दर तिलक है और दोनों ओर अलकावली झूल रही है।

लीलायुक्त चढ़ी हुई भौंहोंके विलाससे वे हम कामिनियोंका चित्त अपहरण कर रहे हैं। उनके झूमते हुए कमनीय नेत्र बीचमें नील कमल एवं प्रान्तोंमें लाल कमलोंकी छटा धारण किये हुए हैं। गरुड़की चोंचके समान नुकीली नासिकाके अग्रभागमें मुक्ताफल लटक रहा है। इससे उनकी शोभा कितनी बढ़ गयी है! दोनों कान स्वभावसे ही मनोहर हैं, विविध-मणि-जटित मकराकृति कुण्डलोंसे वे और भी भले लगते हैं। उनका प्रतिबिम्ब दर्पण-सदृश कपोलोंपर पड़ रहा है, जिससे वे कपोल और भी चमक उठे हैं। लावण्ययुक्त मुखारविन्द कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्ति बिखेर रहा है। ठोड़ी विविध हास्यरसकी छटासे अत्यन्त मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत हो रही है। कण्ठ-देशमें मुक्ताहार सुशोभित है। अहा! कितना लावण्य भरा है इस कण्ठमें! त्रिभङ्गी मुद्रासे खड़े हुए वे त्रिलोकीको मोहित कर रहे हैं। ग्रीवाकी मरोड़ कैसी मधुर एवं आकर्षक है! वक्षःस्थल तो मानो लावण्यका आकर ही है, हम व्रजाङ्गनाओंको परमानन्द दान करनेके लिये नित्य उत्सुक है यह! मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ तथा विद्युत्के समान चमचम करती मुक्तामाला उसकी शोभाको द्विगुणित कर रही है। घुटनोंतक लटकती हुई दोनों भुजाओंमें केयूर एवं कङ्कण शोभा पा रहे हैं। रक्त कमलके समान लाल-लाल करतल विविध चिह्नोंसे सुशोभित हैं। गदा, शङ्ख, यव, छत्र, अर्द्धचन्द्र, अङ्कुश, ध्वजा, कमल, यूप, हल, कलश एवं मत्स्यके चिह्न कितने मनोहर हैं! उदर अत्यन्त मनोमोहक है, उसपर लावण्य अहर्निश क्रीड़ा करता रहता है। पृष्ठदेश एवं पार्श्वभाग भी अमृतके समान मधुर हैं। हम व्रजरमणियोंके साथ दिव्य चिन्मय विहार करनेके लिये सदा चञ्चल हैं ये। वर्तुल नितम्बभाग सुधा-सम्भृत कमलके समान मादक है। कंदर्प स्वयं मोहित है इसे देखकर। दोनों ऊरु मनोहर कदली-स्तम्भोंकी शोभाको परास्त कर रहे हैं। हम व्रज-सुन्दरियोंका मन मुग्ध हो रहा है इन्हें देखकर। दोनों घुटने कितने लावण्ययुक्त, मनोहर एवं चमकीले हैं! चरणकमल भी परम मनोहर एवं रत्नजटित नूपुरोंसे मण्डित हैं। जवापुष्पके समान लाल-लाल चरणतल अनेक चिह्नोंसे सुशोभित हैं। चक्र, अर्द्धचन्द्र, अष्टकोण, त्रिकोण, यव, आकाश, छत्र, कलश, शङ्ख, गोपद, स्वस्तिक, अङ्कुश, कमल, धनुष एवं जम्बूफलोंकी कितनी मनोहर कान्ति है! अरुण चरणोंकी अङ्गुलियोंके नख चन्द्रमाओंके समान प्रतीत हो रहे हैं। उनकी शोभा अपूर्व है। विलक्षण प्रेम एवं आनन्दके सिन्धु हैं ये!'

अवश्य ही पुरसुन्दरियोंकी इस भावनाका उद्वेलन होनेमें अभी किञ्चित् विलम्ब है। पहले पावसमें रसकी सरिता प्रसरित होगी, उसमें वे अवगाहन करेंगी। फिर क्रमशः शरत्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्ममें उनकी भावना तदनुरूप उद्दीपनोंसे सुसज्जित होगी—वे गोपसुन्दरियाँ विविध भावमय शृङ्गार धारण करेंगी। पुनः पावसका विकास होगा और उसके अवसान होनेपर शारदीय सुषमा व्रजपुरको अलंकृत करेगी और इन ऋतुओंमें गोपरामाओंका भी पुनः भावमय अभिषेक होगा तथा ये नीलसुन्दरके प्रति आत्मसमर्पणके योग्य वेश-भूषासे विभूषित होंगी। इतने दिनों बाद—अबसे लगभग पंद्रह मासके पश्चात्, तब कहीं अवसर आयेगा; इनकी यह भावना अन्तस्तलसे बाहरकी ओर अनर्गल प्रसरित होने लगेगी। इस प्रबल प्रवाहमें लोकलज्जाका बाँध भी टूट पड़ेगा और ये मुक्तकण्ठसे पुकार उठेंगी—

नंदलाल सौं मेरौ मन मान्यौ, कहा करैगौ कोय री।
हौं तौ चरन-कमल लपटानी, होनी होय सो होय री॥

व्रजमें पावसकी शोभाका वर्णन

ग्रीष्मका अवसान हुआ और व्रजपुरकी धराको अलंकृत करने वर्षा-ऋतु आ गयी। जहाँ, जब कभी भी यह आती है, स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंमें ही नवजीवनका संचार होता है, उनकी वंशपरम्परा बढ़ती है। सभी स्वागत करते हैं इसका। दिक्सुन्दरियाँ सौदामिनीका वलय धारण कर इसका अभिनन्दन करती हैं। सूर्य, चन्द्र अपने चारों ओर मण्डलका निर्माण करके इसे सम्मान-दान करते हैं। आकाश बारम्बार गम्भीर नादके रूपमें जयघोष करता है। आनन्दमत्त पवन प्रत्येक गृहद्वारपर, गवाक्ष-जालोंके समीप राशि-राशि बूँदोंकी मुक्ता बिखेरकर अपना उल्लास व्यक्त करता है—

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ३)

प्रथमहिं प्रावृट् प्रगटित तहाँ।
सब जंतुन कौ उद्भव जहाँ॥
छुभित जु गगन पवन संचरै।
रबि अरु ससि कहुँ मंडल परै॥

इस बार यह व्रजेन्द्रनन्दनके अष्टम वर्षकी वर्षगाँठ देखने आयी है। व्रजपुरके आकाशमें वितान तानकर प्रतीक्षा कर रही है। अगणित मनोरथ हैं इसके तथा उन-उन भावोंसे भावित होकर वृन्दाकाननको, नन्दरायके व्रजमण्डलको इसने विभूषित किया है। अब कवियो! तत्त्वदर्शियो! अपने श्रीकृष्णरसभावित मनके निराविल स्रोतमें प्रतिचित्रित उन भावोंका जो जितना अंश लेना चाहो, ले लो और फिर उसको किञ्चिन्मात्र वाणीसे व्यक्त कर दो। उसकी प्रतिच्छायाके दर्शनसे प्रपञ्चके प्राणियोंका अशेष मङ्गल होगा; क्योंकि तुम्हारा वर्णन आश्रित है उस पावसपर, जो व्रजेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाका उपकरण है; तुम्हारी आँखें डूबी हैं नीलसुन्दरके चारु चरण-सरोरुहमें और उसी मकरन्दसे सुवासित होकर ही उपमाएँ व्यक्त होंगी तुम्हारी वाणीके पथसे।

अस्तु, वह देखो व्रजपुरका दिव्यातिदिव्य चिन्मय धाम और उसके आकाशमें छायी हुई निबिड नील अम्बुदराशि! रह-रहकर विद्युत् कौंध उठती है और फिर मेघ-गर्जनका तुमुल नाद परिव्याप्त हो जाता है। सूर्य, चन्द्र एवं तारक-समूह सर्वथा आवृत्त हो चुके हैं, गगनतलसे मानो अन्तर्हित हो गये हों—ठीक उस प्रकार जैसे स्वप्रकाश परमानन्द ब्रह्म-स्वरूप जीव प्रकृतिके त्रिगुण—सत्त्व, रज एवं तमसे आवृत हो जाता है। बस, तडित्-लहरी-सी उसमें सत्त्वकी जागृति रहती है, रजोमय नादका बोल-बाला होता है और तमका घन आवरण तो सतत उसपर रहता है ही। हाँ, वास्तवमें विद्युत्का, मेघ-गर्जनका, मेघोंका ज्योतिष्क-मण्डलसे कोई सम्बन्ध नहीं; ये उसे आवृत कर ही नहीं सकते; आवरण तो दर्शकके दृष्टिपथपर रहता है, अपने स्थानपर ज्योतिष्कमण्डल प्रकाशित है ही। वैसे ही इन गुणोंसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप जीवका वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं, जीवका आवरण इन प्राकृत गुणोंके द्वारा सम्भव ही नहीं; यह तो अज्ञानजन्य प्रतीतिमात्र है, जीव स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप है ही। अवश्य ही अपने ऐसे स्वरूपका भान जीवको तभी होता है, जब उसकी आँखें उन सान्द्र-नीलद्युति व्रजराजतनयकी ओर केन्द्रित हो जाती हैं, उसके सत्त्वके आलोकको नीलसुन्दरकी चरण-नख-चन्द्रिका आत्मसात् कर लेती है, उसकी रजसे भरी 'मैं'-'मेरे' की गर्जना उनके मधुमय कण्ठसे निस्सृत मुरलीके स्वरमें विलीन हो जाती है, उसके तमकी कालिमा उन निरञ्जनकी नीली ज्योतिमें घुलकर उनके नेत्र-सरोजोंका आभरण—सेवाका उपकरण बन जाती है। जगत्के जीवो! कदाचित् व्रजपुरके आकाशमें छायी वर्षा-ऋतुके अन्तरालसे व्यक्त हुए इस संकेतको तुम हृदयंगम कर लेते।

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ४)

नील-बरन नीरद उनए।
गरजि-गरजि नभ छादत भए॥
जैसें सगुन ब्रह्म यह जीय।
सत-रज-तम करि आवृत कीय॥

दिनमनि बिंब ब्योम आच्छादित सघन घननि में देखौ।
मानहुँ ब्रह्म छप्यौ माया में, यह उर अंतर लेखौ॥
बिसद भेस परिबेस रेख ससि गेरि गरद फिरि आई।
मानहुँ ईस-जीव जुग राजत, इहि प्रकार छबि छाई॥

अब देखो, देव अंशुमालीके विशाल हृदयकी भावनाको। अपनी किरणोंके सहारे आठ मासतक—कार्तिकसे आरम्भ करके ज्येष्ठतक— उन्होंने धराकी रसरूपी सम्पदा, सरिता-जलाशयोंका जलरूपी सम्पत्ति ग्रहण की थी; किंतु समय आते ही उन्हें तनिक भी संकोच नहीं हुआ और उन्मुक्त हृदयसे अपनी उस संचित सम्पत्तिको वे प्रत्यर्पित कर दे रहे हैं। उस समय धरा रससे पूरित थी, सरिता एवं जलाशयमें तरंगें उठ रही थीं। इसीलिये किरणमालीने उसका कुछ अंश लेना आरम्भ किया था; ले-लेकर वे उसे मेघके रूपमें संचित करते जा रहे थे। परंतु जब ग्रीष्मके आवेशसे धरणी रसशून्य होने लगी, ग्रीष्मतापसे पीड़ित हो उठी, तब वे तपनदेव तुरंत ही वर्षाके रूपमें वह रस, वह सम्पदा लौटाने लग गये। न्यायी, धर्मनिष्ठ राजा भी तो यही करता है। प्रजाका सम्पत्ति बढ़ जानेपर समुचित राज्य-'कर' के रूपमें ग्रहणकर उसे अपने कोशमें संचित रखता है और जब प्रजाको उसकी आवश्यकता होती है, तब उन्मुक्तभावसे उसे लौटा देता है। प्रजाकी सम्पत्ति पुनः प्रजाजनोंमें ही वितरित हो जाती है। सूर्य भी आज पावसके समय यही कर रहे हैं। लेना होता ही है देनेके लिये—सूर्यदेवका यह इङ्गित कितना स्पष्ट है! सच तो यह है कि यह गुण भुवनभास्करमें संचरित हुआ ही है व्रजेन्द्रतनयसे। वे भी लेते-से दीखते हैं; किंतु कहाँ अपने समीप रखते हैं वे किसीके द्वारा कुछ भी दी हुई वस्तुको। कितना सुन्दर बनाकर और कैसी अपरिसीम मात्रामें परिवर्द्धित करके वे अर्पित वस्तुको लौटा देते हैं—इसे देखना चाहो तो देख लो उनके चारु चरणोंमें न्योछावर हुए प्रत्येक भक्तके जीवनमें। अतएव चिन्तित मत होना; अपितु अहोभाग्य समझना, यदि नीलसुन्दर तुम्हारी कोई-सी वस्तु ले लें। अप्रतिम सुन्दर एवं अनन्त बनकर तुम्हारी वस्तु तुम्हारे पास ही लौट आयेगी, भला!—दिवाकरका यह संकेत समझ रहे हो न?

अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ५)

अष्टमास धर कौ जल जितौ।
रस्मिन करि रबि पीयत तितौ॥
चारि मास पुनि निर्झर झरैं।
सब दुख हरैं, सुखन बिस्तरैं॥
जैसें नृप अपनौ कर लेइ।
समय पाइ पुनि परजहि देइ॥

इन मेघोंके अन्तरालमें एक और रहस्य है—उसे देखो! ये महान् मेघ निरन्तर बरस रहे हैं। क्यों, जानते हो? अच्छा सुनो—इन्होंने अपनी विद्युत्की आँखोंसे दूसरेकी व्यथा—व्याकुलता देख ली। पवनरूपी दयाने इन्हें झकझोर दिया। उसके प्रचण्ड वेगसे परिचालित होकर ये उड़-उड़कर आ गये तथा अपने हृदयका जलरूपी सम्पूर्ण रस उड़ेलने जा रहे हैं। विश्व आप्यायित हो रहा है। सर्वथा दयाशील सत्पुरुषोंका ही स्वभाव व्यक्त हो रहा है इन महामेघोंमें। वे करुण महापुरुष भी तो यही करते हैं। जीवोंका दुःख देखते ही वे कृपापरवश हो उठते हैं तथा अपना सर्वस्व देकर—प्राणतक न्योछावर करके पीड़ितोंको सुख-सुविधाका दान करते हैं। किंतु यह करुणता भी आती है मूलतः उन्हीं नीलसुन्दरके सलोने दृगोंसे झरकर ही। जिनके हृदयका स्रोत 'अहम्' को विदीर्णकर उन करुणासिन्धुकी करुण लहरोंसे संगमित हो पाता है, उसीमें ऐसी दयाशीलता व्यक्त होती है। इन महामेघोंने व्रजराजनन्दनके श्रीअङ्गोंकी नीलिमाको अपनाया। बाहर-भीतर ये रँगे हुए हैं उनके रंगमें। तभी तो ये बरस रहे हैं दूसरोंके ताप-निवारणके लिये और बरसते-बरसते ये विलीन हो जायँगे इस व्रजपुरके आकाशमें, नहीं-नहीं, शरत्-कालीन जलाशयमें विकसित सुन्दरातिसुन्दर सरसिज-कर्णिकाकी सुषमा धारण करनेवाले श्रीकृष्ण-नयनोंमें।

जगत्के जीवो! कदाचित् इन महामेघोंका पाठ तुम भी पढ़ सकते; नीलसुन्दरको हृदयमें बसाकर बाहर-भीतर उनके रंगमें रँग जाते! फिर तो तुम्हारा

अस्तित्व भी विश्वके लिये अशेष मङ्गलकारी होता, करुणाके झकोरोंपर उड़ते हुए तुम भी सदा रस बरसाते होते, जगत्का ताप मिट जाता और अन्तमें तुम्हारा नित्य निवास होता नीलसुन्दरके नेत्रसरोजोंमें!

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ६)

तड़ित-दृगन करि मेघ महंत।
देखे ताप तपे सब जंत॥
प्रेरे पवन सुजीवन बरषै।
सब के दुख करषै, मन हरषै॥
जैसें करुन पुरुष पर हेत।
अपने प्यारे प्रानन देत॥

किंतु यदि तुम इतने महान् नहीं बन सकते, केवल परार्थ जीवन-धारणके लिये तुम प्रस्तुत नहीं हो तो स्वार्थके लिये भी तुम इस धराका आदर्श स्वीकार करो। देखो तो सही, धरणी कैसी हो गयी थी, तप करते-करते इसकी क्या दशा थी। सचमुच अत्यन्त कृश—शुष्क हो गयी थी यह। क्यों न हो, कितने मासोंतक इसने जलकी एक बूँदको भी ग्रहण नहीं किया था। बस, नील जलधरकी आशा लगाये बैठी थी। उसका परिणाम यह हुआ है कि आखिर श्याम जलधर आया ही और जैसे सकाम तपस्वीका शरीर काम्यतपका पूर्ण फल पाकर हृष्ट-पुष्ट हो उठता है वैसे ही धरा भी जलधरकी दी हुई वारिधारासे सिक्त होकर उत्फुल्ल हो उठी है। इसी प्रकार तुम भी तपश्चर्यामें संलग्न हो जाओ, जगत्के सम्पूर्ण भोगोंको त्यागकर एक बार सूख जाने दो अपने-आपको। किसीके द्वारा दिये हुए प्रलोभनका एक कण भी स्वीकार मत करो। बस, एकमात्र आशा लगाये रहो नवनीरदाभ गोकुलेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी। फिर तुम्हारे हृदयाकाशमें भी इन अभिनव श्यामल मेघका उन्मेष होकर ही रहेगा; इनकी दी हुई आनन्द-धारासे सिक्त होकर तुम सदाके लिये खिल उठोगे—चाहे किसी भी उद्देश्यसे तुमने इनकी आशा क्यों न लगायी हो!

तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ७)

ग्रीष्म-ताप करि कृश हुति धरनी।
सरस भई, सोहति बर-बरनी॥
ज्यौं सकाम कोउ फल कौं पाइ।
भोगन भुगति पुष्ट ह्वै जाइ॥

व्रजपुरकी पावस ऋतुमें आयी हुई संध्याके समय आकाशमें तरुवल्लरियोंकी ओटमें चमकते हुए ये खद्योत भी अपनी अनजानमें तुम्हें कुछ संदेश दे रहे हैं। एक विचित्र-सा संकेत प्राप्त हो रहा है इनसे। अवश्य सुन लो; क्योंकि तुम जहाँ हो, वहाँके कालका स्वरूप—जिस कालमें निरन्तर सावधान रहनेमें ही लाभ है—तुम जान लोगे। देखो, इस सांध्य-तिमिरमें सम्पूर्ण व्रज आच्छादित है, चन्द्र एवं शुक्र आदि तारक-मण्डलका प्रकाश सर्वथा लुप्त हो चुका है। हाँ, अगणित खद्योत अवश्य उड़ रहे हैं और उनके पुच्छदेशका प्रकाश भी दीख रहा है। अब कलियुगके समय क्या होता है, जानते हो? अच्छा सुनो, पापका तिमिर अत्यन्त घन हो जाता है। वैदिक सम्प्रदायके दर्शन तो होनेसे रहे। उनके स्थानपर अगणित पाखण्ड-मतोंका प्रचार चलता रहता है। अब तुम्हीं सोचो, जुगनूके प्रकाशमें कहीं व्रजरानीके अन्तःपुरमें विराजित व्रजेन्द्रकुलचन्द्रका दर्शन पा सकोगे! दर्शन तो दूर, नन्दभवन किस ओर है, यह अनुसंधान भी लग सकेगा क्या? इसी प्रकार तुम्हारे मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य पाखण्डमतोंसे सिद्ध हो सकेगा? उसे छोड़ो, लोक-व्यवहारका निर्वाह भी कर सकोगे क्या? अतएव ऐसी भूल मत कर बैठना कि खद्योत-प्रकाशको ही चन्द्रका प्रकाश मान लो। जिनसे प्रकाश लेकर केवल चन्द्र ही नहीं, समस्त ज्योतिष्कमण्डल प्रकाशित है, वे तो व्रजेन्द्रगेहिनीके समीप उनके पर्यङ्कपर विराजित हैं और उनके श्रीअङ्गोंकी नीली ज्योतिसे अभी इस समय भी व्रजेशका आवास, आवासका कण-कण उद्भासित है। अब यदि तुम्हें पथ नहीं दीख रहा है तो चिन्तित मत हो। तुम जहाँ, जैसे अवस्थित हो, वहींसे वैसे ही भावमय अर्घ्य—

उन खद्योतोंके आलोकको लक्ष्य करके नहीं, अपितु व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके उद्देश्यसे—समर्पित करो। फिर देखोगे, घन तिमिरका वह आवरण फट जायेगा, अपूर्व ज्योत्स्नाका विस्तार हो जायगा, खद्योत प्रकाशको आत्मसात् कर लेगी वह ज्योत्स्ना और नन्दभवनके पथके क्या, स्वयं व्रजपुरके चन्द्रमाके ही दर्शन तुम्हें वहींसे हो जायँगे—

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ८)

साँझ समै पटबिजना चमकैं।
घन करि छपे नखतगन दमकैं॥
ज्यौं कलि विषै पाप पाखंड।
नहिन निगमके धरम प्रचंड॥

अब पुनः प्रातः हो चुका है। पावसके शृङ्गारसे सजे हुए व्रजपुरकी शोभा देखो। इन मेढकोंकी टर्र-टर्र भी निराली ही है। मेघोंका मन्द नाद सुनकर उल्लाससे पूर्ण हो उठे हैं ये सब। ऐसा लगता है मानो ये भेकसमूह गुरुकुलके ब्राह्मण बालक हों। अबतक इनके अध्यापक अपने नित्यकर्मानुष्ठानमें निरत थे और जब गुरुदेव शान्त-मौन हों तो शिष्यमण्डली भी शान्त होकर ही आचार्यके आह्वानकी प्रतीक्षा करेगी। किंतु आचार्यके नित्यकर्माचरणका अवसान हुआ। गम्भीर स्वरमें उनके द्वारा आज्ञा हुई अपने-अपने पाठ कण्ठस्थ करनेकी। फिर तो एक साथ छात्रावास गूँज उठेगा ही। मेघरूप आचार्य भी अबतक जैसे किसी नित्यकर्मानुष्ठानमें संलग्न थे। उसकी समाप्ति हुई है और गम्भीर नादसे आदेश हुआ है भेकरूप शिष्य-समुदायको अपने-अपने पाठके लिये। इसलिये इन अद्भुत ब्राह्मण-वटुकोंका अविराम शास्त्र-पाठ चल रहा है, टर्र-टर्रका शब्द थोड़े ही है यह!—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ९)

घन-गरजनि सुनि मुदित जु भेक।
बोले धरनि अनेक-अनेक॥
ज्यौं गुरु आग्या सुनि चटसार।
चटा पढ़ि उठत एकहि बार॥

× × ×

उमँडि उमंडि मंडि मेढुकगन दस दिसि बोलत भारैं॥
जिमि रिषि सिष्य ब्रह्मवेत्ता जुरि बेद-ध्वनि उच्चारैं॥

किसी अचिन्त्य सौभाग्यसे ही वृन्दाकाननमें भेक बनकर टर्र-टर्र करनेका, नीलसुन्दरकी लीलामें उपकरण बननेका अवसर प्राप्त होता है। यह तो दूर, व्रजपुरके रजःकणमें मिल जानेका भी सौभाग्य कहाँ है? पद्मयोनि तरसते ही रह गये; अबतक कहाँ पूर्ण हुई उनकी वह अभिलाषा!—

माधौ मोहि करौ बृंदाबन-रेनु।
जिहिं चरननि डोलत नँद-नंदन, दिन-प्रति बन-बन चारत धेनु॥

वृन्दाकाननके ये स्रोत शुष्कप्राय हो चुके थे। ग्रीष्मके आतपका तो मिस था, वास्तवमें नीलसुन्दर इस दिशामें कुछ दिनोंसे गोचारण करने नहीं पधारे, उन्होंने इनमें अवगाहन नहीं किया, उनके चरण-सरोरुहका स्पर्श इन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिये इनकी लहरियाँ शान्त हो गयी थीं। अपनी सीमामें ये क्रमशः संकुचित होते जा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रके अदर्शनकी ज्वाला इनके हृदयके रसको जला रही थी। अन्यथा वृन्दावनमें ग्रीष्म भी आता है सबका सुखवर्धन करने; प्रपातोंके कलकल-नादका, स्रोतोंकी झर्-झर् झंकृतिका विराम यहाँ कदापि नहीं होता। दूसरे ही नीलसुन्दरका वंशीरव इन्हें उनका आगमन सूचित कर देता है और ग्रीष्मके मध्याह्नमें भी ये हँस-हँसकर अपने प्राणोंके देवताका स्वागत करनेके लिये मनोरम साजसे सज्जित हो उठते हैं। किंतु जब प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आये नहीं, आज नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन भी उनकी वंशीध्वनि काननके इस अंशमें प्रतिनादित नहीं हुई, तब फिर स्रोत किस उद्देश्यसे प्रसरित हों; उनके हृदयकी ऊर्मियाँ किसके चरण-प्रान्तमें न्योछावर हों। वे तो क्रमशः क्षीण होंगे ही।

हाँ, अब जब एक ओर पावसकी घटाएँ अम्बुराशि दान करने आयी हैं, कर रही हैं और इधर नीलसुन्दर उल्लासमें भरकर, वर्षाकी सम्पूर्ण शोभा

निहारनेकी इच्छासे वनके मानो प्रत्येक भागमें ही भ्रमण कर रहे हों, तब फिर इन स्रोतोंमें अपरिसीम उल्लासका संचार क्यों न हो। अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर ये भी व्रजपुरकी वीथियोंकी ओर क्यों न दौड़ चलें! पथ-अपथका विचार तो तभीतक है, जबतक व्रजेन्द्रनन्दन दृष्टिपथमें नहीं आते, उनका वेणुनाद कर्णपुटोंमें प्रविष्ट नहीं होता। जब उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामल कान्ति नेत्रोंमें पूरित हो जाती है, वेणुकी लहरी श्रवणपथसे हृदयको सिक्त करने लगती है, फिर विचारके लिये अवकाश नहीं रहता। इसीलिये अतिशय वेगसे ये भागे जा रहे हैं; कहाँ, किस ओर जा रहे हैं, जाना चाहिये या नहीं, इसका भी भान इन्हें नहीं रहा है। अवश्य ही अपनी जानमें तो ये नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें ही प्रसरित हो रहे हैं। किंतु प्रपञ्चके जीवो! तुम्हारे लिये तो ये कुछ और ही संदेश दे रहे हैं। उसे हृदयमें धारणकर कदाचित् ऊपर उठ सको तो अवश्य उठ जाना, व्रजेशतनयकी ओर बह चलना। देखो, तुम्हारे यहाँ—इस प्रपञ्चमें क्या होता है?

ग्रीष्मके समय क्षुद्र स्रोतस्विनी-स्रोत—सभी क्षीण हो जाते हैं; वह वेग, वह चञ्चलता उनमें नहीं होती। किंतु जब पावसकी अजस्र धाराएँ उनके हृत्तलको परिपूर्ण कर देती हैं, तब वे सहसा उच्छृङ्खल हो उठते हैं, पथकी मर्यादाको तोड़कर वे विपथगामी हो उठते हैं—ठीक उनकी भाँति, जिन्होंने देहको ही अपना स्वरूप मान रखा है, मनके संकेतपर ही जो सतत नाचते रहते हैं, इन्द्रियाँ जिन्हें बरबस विषयोंकी ओर भगाये लिये चलती हैं, कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली बुद्धि जिनकी सोयी रहती है। स्पष्ट देख सकते हो, तनिक भी ध्यान देते ही उन देह-इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले प्राणियोंकी अवस्था सामने आ जायगी। देखो, जबतक उनके शरीरमें शारीरिक शक्तिका, दैहिक ओजका अभाव रहेगा—यौवनके मदसे वे परिव्याप्त नहीं रहेंगे, धन-सम्पत्तिके लाले पड़े रहेंगे, इनके मदसे उनकी आँखें चौंधी हुई न रहेंगी, तबतक उनका जीवन नियन्त्रित रहता है, मर्यादाका उल्लङ्घन वे नहीं करते। किंतु कहीं दैवका विधान परिवर्तित हुआ, शरीरमें बल-वीर्यका संचार हो गया, अनर्गल वन-सम्पत्तिकी प्राप्ति हो गयी, फिर तो क्या कहना है—वे न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। मर्यादा टूट जाती है, सुमार्ग छूट जाता है और निर्बाध—स्वच्छन्द कुमार्गपर अग्रसर होते हैं वे। अपने-आप भी नष्ट होते हैं और न जाने कितनोंके नाशका हेतु बनते हैं। वर्षाकालीन क्षुद्र नदियोंकी भी यही दशा है। ग्रीष्मके आतपमें जलके अभावसे मर्यादामें रहती हैं, जलमदका प्रवाह उनमें नहीं होता; पर पावसका संयोग होते ही उमड़ चलती हैं विपथगामिनी होकर कितनोंको ध्वंस कर देती हैं। नीलसुन्दरके विहारस्थलके स्रोत उमड़कर भी किसीको ध्वंस नहीं करते, अपथसे चलकर भी, अत्यन्त वेगसे बहकर भी वे प्रक्षालित करते हैं व्रजेन्द्रनन्दनके चरणनखचन्द्रको ही। किंतु अपने पुनीत प्रवाहके अन्तरालसे जगत्के देहाभिमानी जीवोंके लिये कितना सुन्दर पाठ दे रहे हैं वे!—

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १०)

पाछे सुकी हुतीं जे सरिता।
उत्पथ चलीं बहुत जल भरिता॥
अजितेंद्रिय नर ज्यौं इतराइ।
देह-गेह, धन-संपति पाइ॥

एक ओर हरित तृणोंका अम्बार लगा है; हरितिमा लह-लह कर रही है। कहीं यूथ-की-यूथ वीरबहूटियोंका साम्राज्य है; उनसे अभिनव लालिमा छायी हुई है। फिर कहीं बरसाती छत्ते असंख्य वितान-से बनकर अगणित विश्रामागारोंके समान उज्ज्वल आभाका दान कर रहे हैं। इस प्रकार हरित, अरुण एवं समुज्ज्वल ज्योतिसे विभूषित धरणीकी छटा निराली बन गयी है—मानो धराके वक्षःस्थलपर किसी सम्राट्की सेना फैली हुई हो, उनके श्वेत-लोहित आदि वर्णोंके अगणित पटगृह सुशोभित हो रहे हों। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दनके स्वागतके लिये ही तो यह साज-सज्जा प्रस्तुत हुई है; उनकी अनन्त श्रीका प्रकाश ही तो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है—

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभृत्॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ११)

बुढ़ी लुढ़ी जु हरित भई धरनी।
उच्छिलींध्र छबि फबि हिय हरनी॥
जनु कोउ भूपति उतर्‍यौ आइ।
छत्र तनाइ, बिछौन बिछाइ॥

× × ×

त्रन-अंकुर-संकुलित भूमितल ललित कलित हरियाहीं।
जिमि सुक्रतिन के पुन्य पुराक्रत दिन प्रतिदिन अधिकाहीं॥
हरित भूमिपर इंद्रबधू छबि छत्रक दंड बिराजै।
जिमि नरनाह राजसी राजति सुंदर सुषमा साजै॥

उधर देखो—गोपकृषकोंका मन कितने उल्लाससे भरा है। उनके खेतोंमें नवधान्यकी सम्पदा जो लहलहा रही है तथा उस ओर कंस नृपतिके उन राक्षस सामन्तोंमें इसे देखकर कैसी ज्वाला फूट रही है, व्रजपुरवासियोंका यह अभ्युदय उनके प्राणोंको कैसे कुरेद रहा है। क्या करें बेचारे; दैवकी गतिसे वे परिचित जो नहीं। वे नहीं जानते—किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन उन गोपोंके स्वामी हैं। वे जहाँ विराजित रहेंगे, वहाँ सर्वथा-सर्वदा आनन्दसिन्धु उद्वेलित रहेगा। और उनका अधिपति है कंस। जहाँ उसकी छत्र-छाया है वहाँ विषाद-वेदनाकी भट्ठी निरन्तर सर्वत्र धक्-धक् जलती ही रहेगी—

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १२)

निपजे क्षेत्र कागुनी धान।
तिनहिं निरखि हरखे जु किसान॥
धनी लोग उपतापहिं जाहीं।
दैवाधीन सु जानत नाहीं॥

इस पावसके समय व्रजपुरके सभी जलज-स्थलज जीव प्रसन्न हो रहे हैं। सबकी मूर्ति प्रफुल्ल हो गयी है; अतिशय सुन्दर रूप धारण किया है सबने ही। कहनेके लिये तो यह है कि इन्होंने वर्षाकालीन नव वारिका पान किया है, इसीलिये इतने उल्लसित हो रहे हैं। संसारतापदग्ध प्राणी जैसे श्रीहरिके चरणोंका सेवन कर उत्फुल्ल हो उठते हैं, उनका बाहर-भीतर—सब कुछ सुन्दर बन जाता है, ऐसे ही ये जलचर-थलचर पावसका नवीन जल पीकर सुन्दर बन गये हैं। पर सच तो यह है कि कब इनके अप्रतिम सौन्दर्यका ह्रास हुआ था? जिनपर नीलसुन्दरकी सलोनी दृष्टि पड़ती है, वे कब म्लान होते हैं? अवश्य ही जैसे श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र-सरोजोंकी सुषमा प्रतिक्षण नवनवायमान रहती है, वैसे ही उनकी सुधादृष्टिसे सिक्त समस्त वस्तुओंका सुन्दर रूप भी नित्य नूतन बनता रहता है। यह तारतम्य भले कोई कर ले। हाँ; यह इङ्गित इनसे अवश्य प्राप्त हो रहा है—'जगत्के जलज-स्थलज प्राणियो! सुनो, मेरी भाँति सुन्दर बनना चाहो तो तुम भी इन नवजलधर श्यामचन्द्रका सेवन करो। संसारकी भीषण ज्वालासे निरन्तर जलनेके कारण तुम्हारा सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, तुम अत्यन्त कुरूप बन गये हो। बस, पान कर लो इन नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके कण-कणसे झरते हुए पीयूषके एक कणको। फिर तुम्हारा रूप नित्य एवं अपरिसीम सुन्दर बन जायगा। देखो, नव वारिके बिना वृक्ष आदिमें सौन्दर्यका विकास असम्भव है; वैसे ही त्रिताप-संतप्त जीव कदापि इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दनके सम्पर्कमें आये बिना शीतल होता ही नहीं, उसमें वास्तविक सुन्दरता आती ही नहीं—

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १३)

जलके, थलके बासी जिते।
जल-सोभा करि सोभित तिते॥
जैसैं हरि-सेवा करि कोई।
रुचिर रूप अति राजत सोई॥

और भी देखो, जानते हो कलिन्दनन्दिनीका प्रवाह किस ओर जा रहा है, क्यों इसमें इतनी ऊँची-ऊँची तरंगें उठ रही हैं? अच्छा सुनो, अन्तर्दृष्टिसे देखो, उद्वेलित प्रवाह पहले सुरसरिसे संगमित हो जाता है। फिर दोनोंकी एकीभूत धारा सागरका आलिङ्गन कर रही है। सागर इस परम पावन स्पर्शसे कृतार्थ हो रहा है। आनन्दातिरेकसे उसके श्वास फूल रहे हैं, बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं उसमें, उसने तपनतनयाके हृदयमें संचित श्रीकृष्णचरणसरोरुहका पराग जो पा लिया, नहीं-नहीं, पावसके इस प्लावनमें व्रजपुरकी

धराके राशि-राशि रज:कण बटोरकर रविनन्दिनी ले आयी हैं। सागरको यह अप्रतिम निधि अपने-आप प्राप्त हो गयी है, वह निधि जिसके लिये पितामह तरसते रहते हैं, स्वयं यमुना जब इन रज:कणोंको बटोरने लगती हैं, मर्यादा तोड़कर जब काननकी उन पगडंडियोंको, निम्नदेशमें अवस्थित पुरवीथियोंको जिनपर व्रजपुरवासी अपना पग रखते हैं—धोने लगती हैं, उस समय उनका आनन्दविवश हृदय—हृदयका सम्पूर्ण रस उच्छ्वलित हो उठता है। यह रस ही तो इनकी विशाल ऊर्मियोंके रूपमें व्यक्त हो रहा है और फिर बड़े वेगसे सागरको भेंट समर्पित करनेके लिये वहन किये जा रही हैं व्रज-पुरवासियोंके, गोपशिशुओंके, व्रजदम्पतिके, व्रजाङ्गनाओंके चरणपद्मोंका पराग। कितना अचिन्त्य सौभाग्य है इनका और सागरका! इसीलिये तो सागर भी उन्मत्त हो उठा है। अब यदि समझ सकते व्रजरजकी महिमाको तो तुम्हें भी भान होता यह आनन्द कैसा होता है। किंतु तुम्हारा मन तो कामना-वासनासे युक्त है, नेत्रोंपर घना आवरण है इनका। कैसे हृदयंगम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्दको। हाँ, अपने अधिकारके अनुरूप इसकी ओटसे एक संकेत प्राप्त कर लो, बड़ा लाभ होगा तुम्हारा। इस पाठको सामने रखकर अग्रसर होना, फिर पथभ्रान्त नहीं होओगे। देखो, सागर स्थिर है, फिर भी वर्षाकालीन नद-नदियोंका उद्दाम प्रवाह, पावसका झंझावात इसे विक्षुब्ध कर देता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे अविशुद्धचित्त योगियोंका विविध वासना-बीजयुक्त चित्त विषयोंके सम्पर्कमें आते ही चञ्चल हो उठता है। कदाचित् वे सावधान होते, विषयोंका सम्बन्ध परित्याग कर, यथायोग्य साधनानुष्ठानमें संलग्न होते तो क्रमश: इन वासनाओंका विनाश हो जाता, नीलसुन्दरकी चरणनख-चन्द्रिकासे उनका अन्तस्तल उद्भासित हो उठता; किंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं होता, मायाके चाकचिक्यमें वे साधनानुष्ठानका पथ भूल जाते हैं, विषयोंका सम्बन्ध होने लगता है। फिर तो आन्तरिक सुप्त वासनाएँ जाग उठेंगी ही, चित्त विक्षुब्ध होकर ही रहेगा। इसके कितने उदाहरण तुम्हारे सामने ही होंगे। परमार्थ-जीवनका आरम्भ कितना त्यागमय था। एक दिन हिमाचलकी शान्त कन्दरामें निवास था, उस अकिंचन जीवनमें कामनाएँ स्वप्नमें भी नहीं स्पर्श करती थीं। उत्कट वैराग्यकी आगमें मानो संसार स्वाहा-सा हो चुका था; किंतु भक्त दर्शन करने आये, उनकी एकान्त प्रार्थनासे उनके गृहकुटीरको पवित्र करनेकी शुद्ध वासना जाग उठी और फिर शैलेन्द्रकी शरण त्यागकर भक्तके उद्यानमें, एक शान्त कुटियामें निवास हुआ। अब भक्तोंकी और भीड़ बढ़ी। प्रत्येक भक्तका मनोरथ पूर्ण करना भगवत्सेवा प्रतीत होने लगी। उनकी मनुहार स्वीकार करना कर्तव्य बोध होने लगा। भू-शयन छूटा, कन्था छूटा, कन्द-मूल-वन-फलका आहार छूटा और उसके स्थानपर आयी मनोरम सुकोमल शय्या, क्षौमनिर्मित उत्तरीय एवं अधोवस्त्र, विविध चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयका सुखद भोग। वहाँ तो अङ्गोंमें शीतजन्य चिह्न अङ्कित हो गये थे, धूलिधूसरित रहते थे वे, और अब कहाँ सम्पूर्ण अवयव सुचिक्कण हो गये। ग्रीवामें भक्तोंके द्वारा अर्पित पुष्पहार सुशोभित हो उठा! ऐसी स्थितिमें पावसके समुद्रकी जो दशा होती है, वही चित्तकी हो जाती है। अतएव सावधान रहना, भला! नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंमें जबतक तुम्हारा चित्त मिल न जाय, व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त कुछ भी स्फूर्ति हो रही हो, तबतक विषय-सम्बन्धसे दूर-दूर रहना। चित्तमें अविराम अङ्कित करते रहना उस इन्द्रनीलद्युति छविको ही! उस नीलिमाके अतिरिक्त बाहरका कुछ भी स्वीकार न करना। कलिन्दनन्दिनी, सुरसरि एवं सागरके संगमकी ओटमें व्यक्त हुआ यह पाठ—शिक्षा क्षणभरके लिये भी भूल न जाना!—

सरिद्भिः संगतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

(श्रीमद्भा० १०।२०।१४)

सरित-संग करि छुभित जु सिंधु।
उमगि ऊरमी ह्वै गयौ अंधु॥
यौं अपक्व जोगी चित धाइ।
बिषयन पाइ भ्रष्ट ह्वै जाइ॥